जयोदय महाकाव्य

(उत्तरांश)

-: रचियता :-

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री

(आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज)

प्रेरक प्रसंग : प. पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीर सागरजी, क्षु. श्री धैर्य सागरजी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियाँ, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

ट्रस्ट संस्थापक : स्व. पं. जुगल किशोर मुख्तार

ग्रन्थमालासम्पादक एवं नियामक : डॉ. दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (मध्य प्रदेश)

संस्करण : द्वितीय

प्रति : 2000

मूल्य : स्वाध्याय
(नोट :- डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मंगा सकते है।

प्राप्ति स्थान :

* **सोनी मंन्दिर ट्रस्ट**
  सोनीजी की नसियाँ,
  अजमेर (राज.)

* **डा. शीतलचन्द जैन**
  मंत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
  १३१४ अजायब घर का रास्ता,
  किशनपोल बाजार, जयपुर

* **श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र**
  मन्दिर संघी जी, सांगानेर
  जयपुर (राज.)

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री

जयोदय महाकाव्य

(उत्तरांश)

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागर जी महाराज एवं

क्षु. श्री गंभीरसागर जी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागर जी महाराज

सौजन्यता :

श्री रतनलाल कंवरीलाल पाटनी (आर. के. मार्बल्स लि.)

मदनगंज – किशनगढ़

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,

अजमेर (राज.)

प्रकाशन :

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टस

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 22291

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल चन्द्र जैन
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं नर-पुंगवों को जन्म दिया है। इन नर-रत्नों ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेकों कीर्तिमान स्थापित किये हैं। जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेकों आचार्यों, मुनियों एवं सन्तों ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये। मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि. स. २०१६, में खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो गये थे। आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन के छाबड़ा कुल में सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था। आपके बड़े भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था। आप स्वयं भूरामल के नाम से विख्यात हुये। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई। साधनों के अभाव में आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बड़े भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये। वहां १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे। लेकिन आपका मन आगे पढ़ने के लिए छटपटा रहा था। संयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये। उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमों को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु वाराणसी जाने के हुए। विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एवं दृढ़ता देखकर आपके बड़े भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एवं निष्ठावान थे। वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और संस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास की। जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एवं प्राकृत ग्रन्थों को जैन सिद्धान्तानुसार पढ़ना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी में समुचित व्यवस्था नहीं थी। आपका मन क्षुब्ध ही उठा, परिणामतः आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुनःजीवित करने का भी दृढ़ संकल्प ही लिया। अडिग विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एवं जैनेन्तर विद्वानों से जैन वाँङ्मय की शिक्षा प्राप्त की। वाराणसी में रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप पं. भूरामल जी नाम से विख्यात हुए। वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया।

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एवं साहित्य लेखन के कार्य में भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही। आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही संकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा में, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया। इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एवं अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त कर लिया। इसी अवधि में आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनायें संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के दिग्गज विद्वानों की प्रतिक्रिया थी "इसकाल में भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती है।" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम में ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये। जैन सिद्धान्त के हृदय को आत्मसात करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थों श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थों का विधिवत् स्वाध्याय किया। "ज्ञान भारं क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मंत्र को जीवन में उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु में सन् १९४७ में आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। ५४ वर्ष की आयु में आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन में लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल में क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए। सन् १९५९ में ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अंगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए। और आपकों आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ। संघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वता एवं सजगता के साथ सम्पन्न किया। रूढ़िवाद से कोसों दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गंभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना में लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन में व्यतीत होता रहा। फिर राजस्थान प्रान्त में ही विहार करने निकल गये। उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी व्रती थे, विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री संभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे। मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एवं तात्विक वक्ता थे। पंथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्‌गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर तथा ब्यावर भी गये। ब्यावर में पंडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं पुस्तकों को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा "जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगों का है"।

जब सन् १९६७ में आपका चातुर्मास मदनगंज किशनगढ़ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था। चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एवं संरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड़-भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया। आचार्य देशभूषण जी की आँखों ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ़ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया। जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एवं ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले

जावोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा । नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढ़ता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया । इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ़-संकल्प को देखते ही रह गये ।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ । योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोड़ी । इसी बीच उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया । ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिमा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कड़ी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी । इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को । ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ़ शुक्ला पंचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनश्वरी दीक्षा प्रदान की गई और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए । उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया । इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया ।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले । आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनों ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने में । आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे । उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी । गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एवं वांगमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी ।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ में आपके संघ का चातुर्मास पुन: नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता । कानों सुनी बात तो एक बार झूंठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पड़ता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एवं क्षीण हो चुके थे । साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीड़ा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे । १६-१७ मई १९७२ की बात है - आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा "विद्यासागर ! मेरा अन्त समीप है । मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी । आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे । वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एवं वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ और ही मंजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रात:काल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर

देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये । अत: अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्याग तथा किसी अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम में विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भंयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति में किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी संभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्तत्तोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को कहा "मेरा शरीर आयु कर्म के उदय से रत्नत्रय- आराधना में शनै: शनै: कृश हो रहा है। अत: मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एवं योग्यतम शिष्य को पदासीन कर दूं। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एवं श्रमण संस्कृति का संरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा संघ का कुशलता पूर्वक संचालन करसमस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।" जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें संकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार को धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है।"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मंथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त में निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होंने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणों से समर्पित करदी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२ नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायिओं को साक्षात् एक अनुपम एवं अद्‌भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज संघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एवं मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे. यह एक विस्मयकारी एवं रोमांचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ठ उदाहरण था । आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एवं आचार्य पद देने की स्वीकृति मांगकर, उन्हें आचार्य पद मे विभूषित किया । जिस बडे पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष मे आकाश और मंदिर का प्रागंण गूंज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रसर होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की संलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एवं समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शांतिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि. स. २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनांक १ जून १९७३ को दिन में १० बजकर ५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मलीन हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख,शांति और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायों का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आरूढ़ हो जाओ, तभी कल्याण संभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृतित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानों का ध्यान उनके महाकाव्यों

की ओर गया है। परिणामत: आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही संघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एवं चमत्कारिक क्षेत्र, सांगानेर (जयपुर) में संगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृतित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त समाज के समक्ष उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है। इस संगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मंथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निग्धता से सम्पूर्ण विद्वत मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतंरग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक संगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्यमय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक संगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्वानों की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावत: कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एवं विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अखिल भारतवर्षीय संगोष्ठी आयोजित की जावे। उसी समय विद्वानों ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुन: प्रकाशित कराकर विद्वानों को, पुस्तकालयों और विभिन्न स्थानों के मंदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय संगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे। इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानों के लिए आलेखित करने हेतु प्रेषित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त संगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें पूज्य मुनि श्री का संरक्षण, नेतृत्व एवं मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एवं उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है। अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गंभीर सागरजी एवं पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एवं उत्साह को देखते हुए इस संघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है। आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओं का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला जो एक मुनि श्री के प्रवचनों को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन-अजैन समुदाय की इतनी भीड़ आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानों पर "क्लोज-सर्किट टी.वी." लगाने पड़ रहे हैं। श्रावक संस्कार शिविर जो पर्यूषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है। अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एवं सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार संस्कारित करेंगे।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एवं प्रभावपूर्ण उद्‌बोधन का इतना प्रभाव पड़ रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावान व्यक्ति आगे बढ़कर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों को मूर्त रुप देना चाहते हैं। अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत-संगोष्ठी का आयोजन भी

एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज का संसघ यहाँ अजमेर में पर्दापण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनों का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावों को भुलाकर जैन शासन के एक झंडे के नीचे आ गये । यहाँ नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुन: प्रकाशन कराने का संकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एवं विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एवं साहित्यक छटा से अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एवं पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओं से हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण संस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणों में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कड़ी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एवं श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणों में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वंदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयांजली समर्पित करता हूँ ।

इन उपरोक्त भावनाओं के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह **जयोदय महाकाव्य** (उत्तरांश) श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री ने लिखा था, यही ब्र. बाद में आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुए।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण वीर निर्माण संवत् २५१५ में श्री ज्ञानोदय प्रकाशन - पिसनहारी, जबलपुर - 3 से प्रकाशित हुआ था । उसी प्रकाशन को पुन: यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अत: पूर्व प्रकाशक का दिगम्बर जैन समाज अजमेर आभार व्यक्त करती है । एवं इस द्वितीय संस्करण में दातारों का एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं ।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम संस्करण से प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत संलग्न हैं ।

विनीत

श्री दिगम्बर जैन समिति

एवं सकल दिगम्बर जैन समाज

अजमेर (राज)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज
सांख्यिकी – परिचय

प्रस्तुति - कमल कुमार जैन

पारिवारिक परिचय :

जन्म स्थान - राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान; **जन्म काल** - सन् १८९१
पिता का नाम - श्री चतुर्भुज जी; **माता का नाम** - श्रीमती घृतवरी देवी
गोत्र - छाबड़ा (खंडेलवाल जैन); **बाल्यकाल का नाम** - भूरामल जी
भ्रात परिचय - पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गंगाप्रसाद/गौरीलाल/एवं देवीदत्त)
पिता की मृत्यु - सन १९०२ में **शिक्षा** - प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के विद्यालय में एवं शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस (उ. प्र.) से प्राप्त की ।

साहित्यिक परिचय :

संस्कृत भाषा में
* दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
* सुदर्शनयोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरंजनाशीति - (चरित्र काव्य)
* सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
* प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में
* ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
* कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
* देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड़ (पद्यानुवाद)
* स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि

चारित्र पथ परिचय :

* सन १९४७ (वि. सं. २००४) में व्रतरुप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की ।
* सन १९५५ (वि. सं. २०१२) में क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५७ (वि. सं. २०१४) में ऐलक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५९ (वि. सं. २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप में मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज । आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
* ३० जून सन् १९६८ (आषाढ़ शुक्ला ५ सं. २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जी के रुप में विराजित है ।
* ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ सं. २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया एवं इस तिथि को विवेकसागर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
* संवत् २०२६ को ब्रह्मचारी जमनालाल जी गंगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा. को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा । बाद में क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये।

* संवत् २०२६ में ब्रह्म. पन्नालाल जी को केशरगंज अजमेर (राज.) में मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* संवत् २०२६ में बनवारी लाल जी को मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद में ब्रह्म. दीपचंदजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, और क्षु. स्वरुपानंदजी नाम रखा जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के संघ में रहे ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलंकृत किया ।
* क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतल सागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।
* पांडित्य पूर्ण, जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल में अनेकों श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावकों को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया। आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी / एवं वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय

* संवत् २०१६ - अजमेर सं. २०१७ - लाडनूं; सं. २०१८ - सीकर (तीनों चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)
* संवत २०१९ - सीकर; २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा); सं. २०२१ - मदनगंज - किशनगढ़ सं. २०२२ - अजमेर; सं. २०२३ - अजमेर, सं. २०२४ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ); सं. २०२६ - अजमेर (केसरगंज); सं. २०२७ - किशनगढ़ रैनवाल; सं. २०२८ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२९ - नसीराबाद।

विहार स्थल परिचय

* सं. २०१२ से सं. २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था में - रोहतक/हासी/हिसार/गुडगाँवा/रिवाड़ी/ एवं जयपुर ।
* सं. २०१६ से सं. २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगंज-किशनगढ़/नसीराबाद/बीर/रुपनगढ़/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरसोली/छप्पा/दूदू/मोजमाबाद/चोरु/झाग/ सांवरदा/खंडेला/हयोढ़ी/कोठी/मंडा-भीमसींह/भींडा/किशनगढ़-रैनवाल/कांस/श्यामगढ़/मारोठ/सुरेरा/दांता/कुली/ खाचरियाबाद एवं नसीराबाद ।

अंतिम परिचय

* आचार्य पद त्याग एवं संल्लेखना व्रत ग्रहण	- मंगसर वदी २ सं. २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२)
* समाधिस्थ	- ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं. २०३० (शुक्रवार १ जून सन् १९७३)
* समाधिस्थ समय	- पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट ।
* सल्लेखना अवधि	- ६ मास १३ दिन (मिति अनुसार) ६ मास १० दिन (दिनांक अनुसार)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणों में श्रद्धेय नमन् । शत् शत् नमन ।

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसंधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं. जुगल किशोर जी मुख्तार ''युगवीर'' ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियों को मूर्त्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरवासा (सहारनपुर) में ''वीर सेवा मंदिर'' नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् 1993, दिनांक 24 अप्रैल 1936 में किया था। सन् 1942 में मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का ''वसीयतनामा'' लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। ''वसीयतनामा'' में उक्त ''वीर सेवा मन्दिर'' के संचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार पं. मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमत: अग्रसारित किया था।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्ण जी दिल्ली, रायसाहब ला. उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु. गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 में श्रद्धेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप में दिल्ली में,उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला.उल्फतरयजी के चैत्यालय में खोला था पश्चात् बा. छोटे लालजी,साहू शान्तिप्रसादजी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागंज दिल्ली में स्थित है और जिसमें ''अनेकान्त'' (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवन में सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गो पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट गंथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है। इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मंत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष डा. दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एवं लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन में ट्रस्ट का संपूर्ण कार्य चल रहा है। अत: उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें।

ट्रस्ट के समस्त सदस्य एवं कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द संगल एटा, तथा संयुक्त मंत्री ला.सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है । एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं ।

संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आर्शीवाद एवं प्रेरणा से दिनांक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी सागांनेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व परअखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध संस्था से किया जाय । तदनुसार समस्त विद्वानों की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय । परम हर्ष है कि पूज्य मूनि 108 सुधासागर महाराज का संसघ चातुर्मास अजमेर में होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संगोष्ठी का दायित्व स्वयं ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया । एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है ।

प्रस्तुत कृति **जयोदय महाकाव्य** (उत्तरांश) के प्रकाशन में जिन महानुभाव ने आर्थिक सहयोग किया तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अन्त में उस संस्था के भी आभारी है जिस संस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था । अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है । अत: ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है । जैन जयतुं शासनम् ।

दिनाङ्क : 9-9-1994

(पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व)

डॉ. शीतल चन्द जैन

मानद मंत्री

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट

1314 अजायव घर का रास्ता

किशनपोल बाजार, जयपुर

प्रथम संस्करण से

प्रकाशकीय

एक दशकसे भी अधिक जैसे दीर्घकालसे प्रतीक्षित 'जयोदय-महाकाव्य' के उत्तरांशको पाठकों तक सौंपकर प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। इसके प्रकाशनमें इतना विलम्ब होनेके कई कारण रहे; यथा—(१) इसकी पाण्डुलिपि ही सुरक्षित नहीं मिल सकी, (२) इसके सम्पादन एवं हिन्दी रूपान्तरणके लिए सुयोग्य विद्वान्का अभाव, (३) पूर्वार्ध प्रकाशित करने वाली संस्थाकी गतिविधियोंमें ह्रास, (४) अन्य प्रकाशन संस्थाओंसे सम्पर्क आदि।

जैसा कि पूर्वार्धके सम्पादक श्रद्धेय पण्डित हीरालालजी शास्त्रीकी भावनानुसार इस ग्रन्थका सम्पादन डॉ० पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्यजीको करना चाहिए, कारण वे इस विषयके अधिकारी एवं सुख्यात विद्वान् हैं। अतः इस उत्तरांशका कार्य उन्हींपर सौंपा गया। पहले तो उन्होंने व्यस्तता एवं अस्वस्थताके कारण असमर्थता प्रकट की, किन्तु कुछ समय बाद जब मैंने स्वयं आग्रह कर सहयोग देनेकी बात की तब कहीं इसके अनुवाद एवं सम्पादनका कार्य आरम्भ हो सका। इस कार्यमें पण्डितजीको अत्यधिक श्रम करना पड़ा। जिसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ और खेद भी कि आज भी समाजमें इस विषयके तज्ञ विद्वान् अन्य नहीं हैं।

इस महाकाव्यके प्रकाशनमें मेरी रुचि होनेका मूलभूत कारण यही रहा कि प्रस्तुत कृतिकी विशिष्टाओंका समीचीन/निष्पक्ष/सार्थक मूल्यांकन हो एवं इसे संस्कृत साहित्य जगत्में उचित स्थान मिले। साथ ही, बीसवीं सदी जैसा दुष्कालमें भी देव भारतीके महाकविके अवतरण एवं उनके साहित्यका संस्कृत समाज आदर और गौरव स्थापित कर सके।

इसे दुर्भाग्य ही कहें कि इस ग्रन्थका प्रकाशन बादको हो पा रहा है। इससे पहले इस पर पी० एच० डी० की उपाधि ग्रहण कर दो शोध छात्रोंने अपनेको गौरवान्वित किया तथा दो अभी भी कार्यरत हैं। कितना सुखद होता कि यदि उन्हें इस ग्रन्थका टीका सहित अवलोकन कर कार्य कर सकनेका अवसर मिलता। इससे अधिक सुखकर तो यह होगा कि इसके अठारहवें सर्ग, जिसमें प्रमुख स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियोंका उल्लेख हुआ है को, विश्वविद्यालय पाठ्यक्रममें सम्मिलित कर जहाँ इस महाकाव्यका भी अन्यों सम पठन-पाठन कार्यों तथा छात्रोंको देशके लिए समर्पित देशभक्तोंकी कुर्बानियोंके प्रति आदर की भावना पैदा करायें। वहीं बीसवीं सदीमें सृजित एकमेव महाकाव्यको लोकख्याति दिला संस्कृत साहित्यके विकासके ऐतिहासिक पृष्ठोंमें अपनेको तथा इस सदीको स्वर्णांकित करें।

विनत हूँ मैं महाकवि भूरामलजीके आश्चर्योत्पादक व्यक्तित्व प्रतिभाके प्रति। जिससे कि आज भी महाकविकी परम्पराका विकास हुआ और संस्कृत-साहित्यकी समृद्धिमें अकल्पनीय घटना घटी। प्रस्तुत कृतिपर प्रस्तावना लेखनके लिए डॉ० भागीरथ-जी त्रिपाठी "वागीश" से निवेदन किया गया। जिसे उन्होंने सहज स्वीकार कर प्रस्तावना लिखने की कृपा की। उनकी इस साहित्याभिरुचिमें उपकृतहोता हुआ मैं उनके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ।

डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्यका आभार किन शब्दोंमें व्यक्त करूँ; इसके लिए मुझमें न तो बुद्धि है और न शब्द। कारण मुझे विवशतावश वृद्धावस्थामें भी उनसे इतना अधिक काम कराना पड़ा। जिसे उन्होंने बिना प्रतिवाद किये सहर्ष किया भी। उनके प्रति विनम्र भावाञ्जलि अर्पित करते हुए कामना करता हूँ कि वे शतायुष्क हों। दीर्घ-काल तक हम सभीका मार्ग प्रशस्त करते रहें। इसके प्रकाशनमें अजमेर निवासी श्री महेन्द्र-कुमारजीका सहयोग भी स्मरणीय है, जिन्होंने योजनानुसार इसकी कुछ प्रतियाँ विद्वानों एवं ग्रन्थालयोंमें भेंट हेतु प्रकाशन-पूर्व ही सुरक्षित करा दी। स्वच्छ एवं शुद्ध मुद्रण हेतु वर्द्धमान मुद्रणालयके अधिकारी एवं सहयोगियोंको भूल पाना मेरे लिए असम्भव है। उन्हें भी हार्दिक साधुवाद। और अन्तमें ज्ञानोदय प्रकाशनकी गतिविधियोंके प्रेरणा-स्रोत परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराजके प्रति विनयाभिभूत हूं जिनके सुस्मरण एवं शुभाशीषसे ही इस कृतिके प्रकाशनका आदिसे अन्त तकका संबल प्राप्त हुआ।

ज्ञानोदय प्रकाशन महाकवि भूरामलजीके इस महाकाव्यको नेहरू जन्मशताब्दी वर्षमें प्रकाशित कर अपनी प्रकाशन शृंखलामें संयुक्त होती इस अभिनव कड़ीको शिरोमणि उपलब्धि रूप मानता हुआ गौरवका सम्पादन|संवेदन कर रहा है।

पिसनहारी, ४८२००३, ०४०४८९ राकेश जैन

जयोदय महाकाव्यका प्रतिपाद्य विषय

१. **प्रथम सर्ग**—भारतवर्षके आदि सम्राट् भरत चक्रवर्तीके प्रधान सेनापति और हस्तिनापुरके अधिपति जयकुमारके अतुल पराक्रमका गुण-गान किया गया है। तदनन्तर जयकुमार वन क्रीड़ा करनेके लिये गये। वहाँ पर उन्हें एक मुनिराजके दर्शन हुए। उनकी स्तुति करके उनसे अपने कर्तव्यका मार्ग पूछा। पृ० १–६०

२ **द्वितीय सर्ग**—मुनिराजने धर्मका माहात्म्य बता करके गृहस्थ धर्मका उपदेश निश्चय और व्यवहारनयके साथ उनकी उपयोगिता और उपादेयता बतलाते हुए दिया, जिसे जयकुमारने सहर्ष विनतमस्तक होकर स्वीकार किया। तत्पश्चात् जब आप राज-भवनको वापिस आ रहे थे तब मार्गमें एक सर्पिणी जो मुनिराजके उपदेशको सुनकर लौटी थी, वह किसी अन्य सर्प पर आसक्त थी। उसे देखकर जयकुमारने उसे झिड़काया। देखा-देखी अन्य लोगोंने भी उसे धिक्कारा और ईट-पत्थर फेंककर उसे आहत कर दिया। वह मर कर व्यन्तरी हुई और उसका पति सर्प जो पहले ही मर कर व्यन्तर देव हुआ था उससे कोई बहाना बनाकर जयकुमार की शिकायत की। तब क्रोधित होकर वह व्यन्तर देव जयकुमारको मारनेके लिए आया। इधर जयकुमार उस सर्पिणीके दुश्चरित्रका सच्चा वृत्तान्त अपनी प्रियाओंसे कह रहे थे। उसे सुनकर देव प्रतिबुद्ध होकर उनका सेवक बन गया और स्त्रियोंके दुश्चरित्रका विचार करता हुआ अपने स्थानको चला गया।

इस सर्गमें जिस अनुपम ढंगसे ग्रन्थकारने मुनिके मुख-द्वारा गृहस्थोचित कर्त्तव्योंका उपदेश दिया है, वह पाठकके हृदय पर अङ्कित हुए बिना नहीं रहेगा। पृ० ६१–१३०

३. **तीसरा सर्ग**—किसी समय जयकुमार राज-सभामें विराजमान होकर राज-कार्यका संचालन कर रहे थे, तभी काशी-नरेश अकम्पन महाराजके दूतने जयकुमारका गौरवपूर्ण शब्दोंके साथ गुण-गान करते हुए आकर नमस्कार किया और काशी-नरेशकी सुपुत्री सुलोचनाके स्वयंवरका समाचार सुनाकर उसमें पधारनेके लिए प्रार्थना की। तब सदल-बल जयकुमार काशी पहुँचे और अकम्पन-महाराजने अपने परिवारके साथ अगवानी करके उनका स्वागत किया तथा उनको उत्तम अतिथि गृहमें ठहराया। पृ० १३१–१९०

४ **चतुर्थ सर्ग**—भरतचक्रवर्तीके ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति भी सुलोचनाके स्वयंवरका समाचार पाकर काशी पहुँचते हैं और स्वागत कर यथोचित स्थान पर उनको ठहराया जाता है। पृ० १९१-२१८

५. **पंचम सर्ग**—और और राजाओंके काशी पहुँचने पर स्वयंवर समारोह के होनेका विस्तृत वर्णन इस सर्गमें किया गया है। पृ० २१९-२६९

६. **षष्ठ सर्ग**—विद्यादेवीके द्वारा सुलोचनाको राजाओंका परिचय कराया गया। उसे सुननेके पश्चात् सुलोचनाने सबसे योग्य समझ कर जयकुमारके गलेमें स्वयंवर माला डाली। पृ० २७०-३३२

७. **सप्तम सर्ग**—अर्ककीर्तिके एक सेवकने उन्हें स्वयंवरके विरुद्ध भड़का दिया, सुमति मन्त्रीके द्वारा समझाये जाने पर भी, अर्ककीर्ति युद्ध करनेको तैयार हो गया और रण-भेरी बजाकर युद्धकी घोषणा कर दी।

पृ० ३३३-३८१

८. **अष्टम सर्ग**—दोनों ओरसे महायुद्ध होने और जयकुमारकी जीतका वर्णन है। पृ० ३८२-४२२

९. **नवम सर्ग**—जयकुमारकी जीत और अर्ककीर्तिकी पराजयसे अकंपन महाराज खुश न होकर प्रत्युत्त अन्मना हो गये और सोचा कि अर्ककीर्ति को किस प्रकारसे प्रसन्न किया जावे। अन्तमें बड़ी अनुनय-विनय करके उन्होंने सुलोचनासे छोटी पुत्री अक्षमालाके साथ विवाह कर दिया और इस बातकी सूचना भरत चक्रवर्तिके पास भेज दी। पृ ४२३-४६१

१०. **दशम सर्ग** जयकुमारके विवाहकी तैयारी होती है, जयकुमारको बुलाया गया और दोनों दुलहा दुलहिनको परस्पर मिलाकर मंडपमें उपस्थित किया गया। पृ० ४६२-५०७

११. **एकादश सर्ग**—जयकुमारके मुखसे सुलोचनाके रूप-सौंदर्यका विस्तृत वर्णन किया गया है। पृ० ५०८-५५८

१२. **द्वादश सर्ग**—उन दोनोंके पाणिग्रहणका, और आयी हुयी बरातके अतिथि-सत्कार एवं जीमनवारका विस्तृत वर्णन है। पृ० ५५९-६२१

१३. **त्रयोदश सर्ग**—जयकुमारने श्वसुरसे आज्ञा पाकर सुलोचनाके साथ अपने नगरके लिए प्रयाण किया और रास्तेमें चलकर गंगा नदीके तट पर पड़ाव डाला। इसका बड़ा सुन्दर और अनुपम वर्णन इस सर्गमें किया गया है। पृ० ६२२-६६०

ॐ

जयोदय-महाकाव्यम्

श्रियाश्रितं सन्मतिमात्मयुक्त्याऽखिलज्ञमीशानमपीतिमुक्त्या ।
तनोमि नत्वा जिनपं सुभक्त्या जयोदयं स्वाभ्युदयाय शक्त्या ॥१॥

वाणीमाविषु देवीषु वाणिमाविभवञ्चिते ।
जयोदयप्रकाशाय जयोदयमयीश्वरि ॥ १ ॥

श्रियेति । श्रिया अन्तरङ्ग-बहिरङ्गात्मिकया लक्ष्म्या, आश्रितं युक्तं, सन्मतिं सम्यग्ज्ञानिनम्, आत्मयुक्त्या, आत्मोपयोगेन कृत्वा, अखिलज्ञं सर्वविदम्, इत्येवं प्रकारेण युक्त्या, ईशानं स्वामिनं, जिनपं कर्मशत्रूञ्जयन्तीति जिनास्तेषां नायकं, सुभक्त्या विनयेन नत्वा प्रणम्य, स्वस्यात्मनो योऽभ्युदयो ज्ञानादिलक्षणस्तस्मै शक्त्या शक्त्यनुसारं जयोदयं नाम महाकाव्यं तनोमि रचयामीति । अथवा—हे स्वाभ्युदय, स्वस्यात्मनोऽभ्युदयो यस्य स तत्सम्बोधनम् अयस्य प्रशस्तविधिविधानस्य, शक्त्या बलेन, उदयमुन्मार्गं जय । यतोऽहं त्वा त्वां श्रिया रुक्मिण्याश्रितं, सन्मतिमा यशोदा तस्या आत्मयुक्त्या कृत्वा अखिलज्ञं लोकमार्गदर्शिनम्, अपि च, ईतिमुक्त्या ईशानं पूतनादिकृतोपद्रवेभ्यो दूरवर्तिनम्, आजिर्युद्धस्थलं तस्य नपं कञ्चुकिनम्, महाभारताख्ये युद्धेऽर्जुनस्य सारथित्वकारित्वात् । इतिविशेषणविशिष्टं कृष्णं त्वामहं न तनोमि जानामि विवृणोमि वा ॥१॥

अन्वय : श्रियाश्रितं सन्मतिम् आत्मयुक्त्या अखिलज्ञम् अपि ईतिमुक्त्या ईशानं जिनपं सुभक्त्या नत्वा स्वाभ्युदयाय शक्त्या जयोदयं तनोमि ।

अर्थ : श्री (अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी) के द्वारा जो आश्रित हैं, अच्छी बुद्धिके धारक हैं, आत्मतल्लीनताके द्वारा जो सर्वज्ञ बन चुके हैं, इसलिए मुक्तिके भी स्वामी हैं, ऐसे जिन भगवान्को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके अपने आपके कल्याणके लिए अपनी शक्तिके अनुसार मैं जयोदय-काव्य लिख रहा हूँ ॥१॥

विशेष : इसमें चौथे चरणका अन्य रूपसे भी अन्वयार्थ बनता है । यथा—'हे स्वाभ्युदय ! अयशक्त्या उदयं जय ।' अर्थात् हे अपने आपका भला चाहनेवाले महाशय ! तुम अपने सदाचारकी शक्तिसे उन्मार्गको जीतो ।

पुरा पुराणेषु धुरा गुरूणां यमीश इष्टः समये पुरूणाम् ।
श्रीहस्तिनागाश्रयणश्रियो भूर्जयोऽथ योऽपूर्वगुणोदयोऽभूत् ।।२।।

पुरेति । अथ पुरा प्राचीनकाले पुराणेषु द्वादशाङ्गरचनारूपशब्देषु गुरूणाम् आचार्याणां धुरा प्रधानभूतेन तेन भगवज्जिनसेनमहानुभावेन पुरूणां श्रीमद्वृषभनाथतीर्थङ्कराणां समयेऽवसरे यमिनां संयतानामीशो गणाधिप इष्ट इच्छाविषयीकृतः सः । जय इत्यनेन नामैकदेशेन नामग्रहणमिति जयकुमारो नाम अपूर्वेषामनन्यसदृशानां गुणानामुदयः प्रादुर्भावो यस्मिन् सः, श्रीहस्तिनागाख्यपुरस्य श्रियो भूः स्थानं हस्तिनागपुरनरेशोऽभूत् ।

अथवा समयेऽस्मदाम्नायशास्त्रे गुरूणां पुरूणामाणेषु ध्वनिषु धुराऽग्रेसरभावं कश्चिदापुः । स ईशः श्रीहस्तिनागपुरनरेशोऽपूर्वगुणवान् जयकुमार इष्टोऽस्माकमिच्छाविषयीकृतः । अथेति प्रस्तावप्रारम्भे । किञ्च, अकारो महादेवः, अपूर्वगुणोदयो महादेवतुल्यगुणसमुदयः । श्रीः पार्वती, हस्ती गणेशः, नागः शेषस्तेषां पुराणि शरीराणि तेषां, श्रियः शोभायाः भूः स्वामीति यावत् । शब्दार्थो रुद्रपक्षे ।। २ ।।

कथाप्यथामुष्य यदि श्रुताराત્तथा वृथा साऽऽर्य सुधासुधारा ।
कामैकदेशक्षरिणी सुधा सा कथा चतुर्वर्गनिसर्गवासा ।। ३ ।।

कथापीति । अथेत्यव्ययं शुभसंवादे । हे आर्य, अमुष्य प्रस्तुतस्य राज्ञो जयकुमारस्य

अन्वय : अथ पुरा पुराणेषु गुरूणां धुरा [तेन] पुरूणां समये यमीशः इष्टः, अपूर्वजयोदयः सः जयः श्रीहस्तिनागाश्रयणश्रियः भूः अभूत् ।

अर्थ : प्राचीन कालमें पुराणों प्रसिद्ध आचार्योंमें प्रधान भगवान् जिनसेनने श्रीवृषभदेव तीर्थङ्करके समय संयमियोंके रूपमें जिसे चाहा, अपूर्व गुणोंसे सम्पन्न वे जयकुमार महाराज हस्तिनागपुरका शासन कर रहे थे। अर्थात् हस्तिनागपुरके नरेश थे ।।२।।

विशेष : 'अ' कारका अर्थ महादेव करने पर यह अर्थ होगा कि वह राजा महादेवके तुल्य गुणोंसे समन्वित था। इसी तरह श्रीः = पार्वती, हस्ती = गणेश, नागः = शेष, तीनोंके पुर अर्थात् शरीरोंकी शोभाके स्वामी, यह रुद्रपक्षमें अर्थ होगा ।

अन्वय : अथ (हे) आर्य अमुष्य कथा यदि श्रुता अपि तथा आरात् सुधासुधारा

कथा यदि चेत् श्रुता तथा पुराणेन सहजेनैव सा प्रसिद्धा सुधायाः सुधारा, अविच्छिन्ना पङ्क्तिरपि वृथा भवति । अथवा सुधासु विषये सुधारा स्तुतिरनुनयविनय-करणम्, यतः किल सा सुधा, कामस्य तृतीयपुरुषार्थस्यैकदेशो रसनासम्बन्धिसुखं तस्य क्षरिणी अम्मदात्री । सा जयकुमारस्य कथा चतुर्वर्गस्य धर्मार्थकाममोक्षाणां निसर्गो रचना,तस्य वासः सद्भावो यस्यां सा । व्यतिरेकोऽलङ्कारः ॥ ३ ॥

तनोति पूते जगती विलासात्स्मृता कथा याऽथ कथं तथा सा ।
स्वसेविनीमेव गिरं ममाऽऽरात् पुनातु नाऽतुच्छरसाधिकारात् ॥४॥

तनोतीति । या जयकुमारस्य कथा विलासाद् विनोदेनापि कृत्वा स्मृता चेत् जगती इहलोक-परलोकद्वयं पूते तनोति पवित्रयति, स्मरणकर्तुरिति शेषः । सा पुनः कथा तथैव स्वसेविनीं तत्कथाया आत्मना सेवाकारिणीमेव मम ग्रन्थकर्तुःगिरं वाणीम् । रसः शृङ्गारादिर्नवप्रकारः; अनुग्रहकरणश्च । स तुच्छोऽतुच्छश्च सरसश्च तस्याधिकरण-मधिकारस्तस्मात् कृत्वा, आरात् समीपादेव कथं न पुनातु पवित्रयत्वेव ॥ ४ ॥

समुन्नतं कूर्मवदङ्घ्रिपद्मद्वयं समासाद्य शिवैकसद्म ।
धरा स्थिराऽभूत्सुतरामराजदेकः पुरा हस्तिपुराधिराजः ॥ ५ ॥

वृथा (भवति) । (यतः) किल सुधा कामैकदेशक्षरणी । सा कथा (पुनः) चतुर्वर्ग-निसर्गवासा (अस्ति) ।

अर्थ : हे सज्जन ! इस जयकुमार राजाकी कथा यदि एकबार भी सुन ली जाय तो फिर उसके सामने अमृतकी अभिलाषा भी व्यर्थ हो जायगी । क्योंकि अमृत तो (चार पुरुषार्थोंके बीच) कामस्वरूप एक पुरुषार्थ ही प्रदान करता है; किन्तु इस राजाकी कथा तो चारों पुरुषार्थोंको देनेवाली है ॥३॥

अन्वय : अथ (यथा) या कथा स्मृता (अपि) विलासात् जगती पूते तनोति, तथा सा (कथा) स्वसेविनीम् एव मम गिरं अतुच्छरसाधिकारात् आरात् कथं न पुनातु ।

अर्थ : जयकुमारकी जो कथा लीलावश स्मरण करनेमात्रसे इहलोक और परलोक दोनों लोकोंकी पवित्र कर देती है, वह उसी कथाकी सेवा करने-वाली मेरी वाणीको नवरसोंके विपुल अनुग्रह द्वारा शीघ्र ही क्यों न पवित्र करेगी अर्थात् अवश्य करेगी ॥४॥

समुन्नतमिति । स जयकुमारनामा हस्तिपुराधिराजः पुरा स्वस्यायुषः प्राग्भागे एकः प्रसिद्धः सन् सुतरां सहजतयैव अनायासेन किल, अराजत राज्यश्चकार । स कीदृशः सन् ? यस्याङ्घ्री चरणौ एव पद्मे कमले सुकोमलत्वात्, तयोर्द्वयमङ्घ्रिपद्मद्वयं शिवं भद्रम्, पद्मपक्षे जलं वा, तदेव एकमनन्यं सद्म स्थानं यस्य तत् । समुच्चं च तन्नतश्च समुन्नतं प्रसन्नतया विनयशीलम्, एवमेव च समुन्नतं सम्यक्प्रकारेण उन्नतिशीलं स्वकर्तव्येऽनपवृत्तितया यथोत्तरं प्रवृत्तिशीलत्वात् । पद्मपक्षेऽपि प्रसन्नतापूर्वकनतिशीलम् । एतादृक् चरणारविन्दद्वितयं समासाद्य प्राप्य इयं धरा पृथ्वी प्रजामयी वा स्थिरा निश्चलाऽभूत् । कूर्मवत् कच्छपतुल्यम्, यथा कच्छपपृष्ठं समासाद्य प्राप्य इयं पृथ्वी तिष्ठतीति लोकसमयख्यातिस्तथा । यद्वा कूर्मवत् समुन्नतमङ्घ्रिपद्मद्वयमिति विशेषणम्, कच्छपपृष्ठवन्मध्ये समुत्थितं सुकृतिनां भवतीति सामुद्रिकम् ॥ ५ ॥

पथा कथाचारपदार्थभावानुयोगभाजाऽप्युपलालिता वा ।
विद्याऽनवद्याऽऽप न वालसत्त्वं संप्राप्य वर्षेषु चतुर्दशत्वम् ॥ ६ ॥

पथेति । यस्य चरणारविन्दद्वयं समासाद्येति शेषः । या अनवद्या निर्दोषा विद् बुद्धिः कथाचारपदार्थभावानुयोगभाजा प्रथमकरणचरणद्रव्यानुयोगरूपेण पथा मार्गेण कृत्वा उपलालिता पालिता सती, वर्षेषु भारतादिषु चतुर्दशत्वं तुर्यप्रकारत्वं सम्प्राप्य लब्ध्वा नवा नवीना भवति आलस्यं नाप न जगाम । यस्य राज्ये चतुरनुयोगद्वारेण विद्याया यथेष्टप्रचारोऽभूदिति । चतुर्दशत्वं चतुरुत्तरदशप्रकारत्वं वा । किञ्च—कथा अल्पाख्यायिवादिकरणम्, चारः सञ्चरणम्, पदार्थाः वस्तूनि क्रीडनकादीनि, भावा

अन्वय : पुरा (यस्य) शिवैकसद्म कूर्मवत् समुन्नतम् अङ्घ्रिपद्मद्वयं समासाद्य धरा सुतरां स्थिरा अभूत्, स एक हस्तिपुराधिराजः अराजत ।

अर्थ : प्राचीनकालमें कल्याणके एकमात्र आश्रय और कछुवेके समान ऊपर उठे जिसके दोनों चरणकमलोंको प्राप्तकर यह पृथ्वी भलीभाँति स्थिर हो गयी, वह एकमात्र हस्तिनापुरका राजा जयकुमार सुशोभित हो रहा है ॥५॥

विशेष : कछुवेके पक्षमें शिवका अर्थ जल लेना चाहिए ।

अन्वय : (यस्य चरणारविन्दद्वयं समासाद्य) अनवद्या विद्या कथाचारपदार्थभावानुयोगभाजा पथा अपि उपलालिता वा वर्षेषु चतुर्दशत्वं सम्प्राप्य नवालसत्वं आप ।

अर्थ : उस राजाकी निर्दोष विद्या प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग और करणानुयोगके अनुसारी मार्गसे उपलालित होती हुई भारतादि चौदह भुवनोंमें व्याप्त होकर आलस्यरहित हो गयी, निरालस हो व्याप्त हो गयी ॥६॥

हास्यविनोदावयवस्तेषु, अनुयोजनमनुयोगः, तद्भाजा यथा कृत्वा विद्या नाम स्त्री, उपलालिता सती वर्षेषु संवत्सरेषु चतुर्दशत्वं समाप्य व्यतीत्य बालसत्वं बाल्यावस्थात्वं नाप, तारुण्यं लेभे इति भावः ॥ ६ ॥

अरिव्रजजप्राणहरो भुजङ्गः किलाऽसिनामा नृपतेः सुचङ्गः ।
स्म स्फूर्तिकीर्ती रसने बिभर्ति विभीषणः सङ्गरलैकमूर्तिः ॥ ७ ॥

अरीति । तस्य नृपतेर्भुजं गच्छतीति भुजङ्गः असिनामा हस्तस्थितः खड्ग इत्यर्थः । स च अरीणां शत्रूणां व्रजः समूहस्तस्य प्राणान् हरतीति अरिव्रजप्राणहरो भुजङ्गः सर्पः । सुचङ्गः चमत्कारकरत्वात्, सर्पपक्षे च दर्पयुतः । विभीषणो भयङ्करः खड्गः सर्पश्च । सङ्गरं युद्धं लातीति संङ्गरला रणकर्त्री, एका मूर्तिर्यस्य स सर्पः । स्फूर्तिश्च कीर्तिश्च त एव रसने जिह्वे बिभर्ति स्म । खड्गधारणे स्फूर्तिश्च कीर्तिश्च भवति, सर्पस्तु जिह्वाद्वयं बिभर्त्येव ॥ ७ ॥

यस्य प्रतापव्यथितः पिनाकी गङ्गामभङ्गां न जहात्यथाकी ।
पितामहस्तामरसान्तराले निवासवान् सोऽप्यभवद्विशाले ॥ ८ ॥

विशेष : समासोक्ति द्वारा इसका एक अर्थ यह भी होता है कि उस राजा की निर्दोष विद्या नामक स्त्री कथा आदि चार तरहके मार्गों द्वारा उपलालित होती हुई चौदह वर्षको आयु प्राप्त करनेसे बचपनको लांघकर युवती बन गयी है ।

तृतीय अर्थ इस प्रकारसे भी होता है कि उसकी एक ही विद्या कथादि चार उपायोंसे लालित होती हुई चौदह प्रकारोंको प्राप्त हो गयी । अर्थात् वह राजा चौदह विद्याओंमें निपुण हो गया ।

अन्वय : किल नृपतेः असिनामा भुजङ्गः सुचङ्गः अरिव्रजप्राणहरः विभीषणः सङ्गरलैकमूर्त्तिः स्फूर्त्तिकीर्ती रसने बिभर्ति स्म ।

अर्थ : उस राजाके हाथमें स्थिति खड्गरूपी सांप अत्यन्त पु ! था । वह वैरियोंका प्राणहारक, भयंकर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल एवं स्फूर्ति और कीर्तिरूप दो जिह्वाओंको धारण करता था ॥७॥

विशेष : सांपके पक्षमें 'संगरलैकमूर्तिः'का अर्थ पूर्णविषभरी मूर्तिवाला लेना चाहिए ।

रसातले नागपतिर्निविष्टः पयोनिधौ पीतपटः प्रविष्टः ।
अनन्यतेजाः पुनरस्ति शिष्टः को वेह लोके कथितोऽवशिष्टः ॥ ९ ॥

यस्येति, रसातल इति । यस्य राज्ञः प्रतापेन तेजसा व्यथितः सन्तप्तः, अत एव अको दुःखीभवन् पिनाकी महादेवः अभङ्गां नित्यं वहन्तीं गङ्गां न जहाति, अद्यापि शिरसा धारयति । रुद्रशिरसि गङ्गा तिष्ठतीति लोकख्यातिः । पितामहो ब्रह्माऽपि विशाले महति तामरसस्य अन्तराले मध्ये निवासवान् अभवत् नागपतिः शेषो रसातले निविष्टो गतवान् । पीतपटः कृष्णः पयोनिधौ क्षीरसमुद्रे प्रविष्टः । एतेषां तत्र तत्र निवासे लोकसमयख्यातः यः स्वभावेन समादिष्टस्तमेव कविः जयकुमारनृपप्रताप-सम्पादितत्वेन उत्प्रेक्षते स्म । उक्तेभ्यः पृथक् को वाऽवशिष्टो यः किल लोके अनन्य-तेजाः अप्रतिहतप्रभावो भवितुमर्हतीति ॥ ८-९ ॥

गुणैस्तु पुण्यैकपुनीतमूर्तेर्जगन्नगः संग्रथितः सुकीर्तेः ।
कन्दुत्वमिन्दुत्विडनन्यचौरैरुपैति राज्ञो हिमसारगौरैः ॥ १० ॥

गुणैरिति । पुण्यस्य सत्कर्मणः एका पुनीता पवित्रा मूर्तिर्यस्य तस्य राज्ञो जयकुमारस्य, इन्दोश्चन्द्रस्य त्विट् कान्तिस्तस्याश्चौराः, अनन्या अद्वितीयाश्च ते चौरास्तैश्चन्द्रतुल्यनिर्मलैः, अत एव हिमस्य सारः प्रशस्तभागस्तत्सदृशगौरैः उज्ज्वलैः गुणैः शौर्यादिभिः सूत्रतन्तुभिर्वा संग्रथितः सम्पादितोऽयं जगदेव नगः सुकीर्तेः

अन्वय : अथ यस्य प्रतापव्यथितः अको पिनाकी अभङ्गां गङ्गां न जहाति । सः पितामहः अपि विशाले तामरसान्तराले निवासवान् न अभवत् । नागपतिः रसान्तराले निविष्टः । पीतपटः पयोनिधौ प्रविष्टः । वा इहलोके कः अनन्यतेजाः कथितः अवशिष्टः शिष्टः अस्ति ।

अर्थ : इस प्रकार हाथमें खड्ग उठानेके अनन्तर महाराज जयकुमारके तेजसे पीडित, अतएव दुःखी हो शङ्कर नित्य प्रवाहित होनेवाली गंगाको कभी नहीं छोड़ते । पितामह ब्रह्मदेवने विशाल कमलमें डेरा जमा लिया । शेषनाग रसातल (पाताल) में जा छिपा । पीताम्बरधारी विष्णु समुद्रमें जाकर सो गये । अथवा इस जगत्में कौन ऐसा बचा हुआ है जो इसकी तरह बेजोड़ तेज-वाला हो ॥८-९॥

अन्वय : पुण्यैकपुनीतमूर्तेः राज्ञः इन्दुत्विडनन्यचौरैः हिमसारगौरैः गुणैः तु संग्रथितः जगन्नगः सुकीर्तेः कन्दुत्वम् उपैति ।

प्रशंसायाः कन्दुरवं कन्दुकभावम् उपैति । यथा कन्दुकेन स्त्री क्रीडति तथा समस्तं जगत् जयकुमारकीर्तेः क्रीडनकं भवतीति भावः ॥ १० ॥

जगत्यविश्रान्ततयाऽतिवृष्टिः प्रतीपपत्नीनयनैकसृष्टिः ।
निरीतिभावैकमदं निरस्य प्रावर्ततामुष्य महीश्वरस्य ॥ ११ ॥

जगतीति । जगति अस्मिन् लोके प्रतीपाः शत्रवस्तेषां पत्न्यः सधर्मिण्यस्तासां नयनानि तेभ्यः कृत्वा एका सृष्टिरुत्पत्तिर्यस्याः सा, अविश्रान्तया निरन्तररूपेण भवित्री, अतिवृष्टिः ईतिः, अमुष्य महीश्वरस्य नृपतेर्जयकुमारस्य, निर्गता ईतिर्यस्मात् सः, निरीतिश्चासौ भावः परिणामस्तस्य एकः प्रधानभूतश्चासौ मदस्तं, निरस्य निराकृत्य प्रावर्तत बभूवेति । अर्थात् जयकुमारेण ईतिरहित-शासनकारिताभिप्रायेण शत्रुमारणे क्रियमाणे सति तेषां स्त्रीणां रोदनेनाऽतिवृष्टिर्जाता, अतो जयकुमारस्य निरीतिभावाभिप्रायो निष्फलो बभूवेति भावः ॥ ११ ॥

नियोगिवन्द्योऽवनियोगिवन्द्यः सभास्वनिन्द्योऽपि विभास्वनिन्द्यः ।
अरीतिकर्तापि सुरीतिकर्ताऽऽगसामभूमिः स तु भूमिभर्ता ॥१२॥

नियोगीति । नियोगिनो दूतामात्यादयस्तेषां वन्द्यो वन्दनीयः, स एव अवनियोगिवन्द्यो न नियोगिवन्द्य इत्यर्थः । अवशब्दस्याभावार्थकत्वात् अवगुणवत् । स एव विरोधाभासः । अवनेर्योगिनो भूमिपतयस्तेषां वन्द्य इति परिहारः । विभासु अप्रभासु, अनिन्द्यः स एव

अर्थ : चन्द्र-किरणोंको भी लजानेवाले, कपूर-से स्वच्छ गुणों (तन्तु और धैर्यादि,) द्वारा गूँथा यह जगत्‌रूप पहाड़ पुण्यकी एकमात्र पवित्र मूर्ति राजा जयकुमारकी कीर्तिका गेंद बन जाता है । अर्थात् जैसे कोई स्त्री गेंदसे खेलती है, वैसे ही जयकुमारकी कीर्ति जगत्‌रूप गेंदसे खेलती है ॥१०॥

अन्वय : जगति अमुष्य महीश्वरस्य निरीतिभावैकमदं निरस्य प्रतीपपत्नीनयनैकसृष्टिः अविश्रान्ततया अतिवृष्टिः प्रावर्तत ।

अर्थ : भूमण्डलपर उस राजाको यह घमंड था कि मेरे राज्यमें किसी प्रकारकी ईति नहीं हो सकती । मानो उसीको दूरकर वैरियोंकी स्त्रियोंकी आँखोंसे निरंतर अतिवृष्टिकी सृष्टि हो चली ॥११॥

अन्वय : सः भूमिभर्ता तु आगसाम् अभूमिः नियोगिवन्द्यः अपि अवनियोगवन्द्यः सभासु अनिन्द्यः अपि विभासु अनिन्द्यः अरीतिकर्ता अपि सुरीतिकर्ता (अभूत्) ।

भासु प्रभासु चापि अनिन्द्यो निन्दारहित इति विरोधाभासः। विभासु विशिष्टासु कान्तिषु अनिन्द्योऽपि सभासु गोष्ठीषु अनिन्द्य इति परिहारः। सुरीतिकर्ता सम्यग्रीति-प्रचारकः सन्नपि अरीतिर्दुर्नीतिस्तस्याः कर्तेति विरोधः। अरिषु शत्रुषु ईतिर्व्यथा तस्याः कर्तेति परिहारः। स जयकुमारो भूमिभर्ता भवन्नपि अभूमिः स्थानरहित इति विरोधः। आगसाम् अपराधानामभूमिरिति परिहारः ॥ १२ ॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारैश्चतुर्दशत्वं गमितात्युदारैः ।
सार्धं सुविद्याऽथ कलाः समस्ता द्वासप्ततिस्तस्य बभुः प्रशस्ताः ॥१३॥

अधीतीति। तस्य शोभना विद्या सुविद्या सा साऽधीतिरध्ययनम्, बोधो ज्ञानम्, आचरणमनुष्ठानम्, प्रचारः सर्वत्र प्रसारणम् तैरत्युदारैः निर्दोषैः विशालैश्च चतुर्दश-प्रकारत्वं चतुः प्रकारत्वं वा गमिता, सार्धं समकालमेव अर्धसहितं गमिता प्रापिता अथ अत एव तस्य समस्ताः प्रशस्ताः प्रशंसायोग्याः कलाः द्वासप्ततिः बभुः। सार्धं चतुर्णां द्वासप्ततिकलावत्त्वं योग्यमेव ॥ १३ ॥

सुरैरसौ तस्य यशःप्रशस्तिसमङ्किता सोमशिला समस्ति ।
कलङ्कमेत्वङ्कदलं तदर्थविभावनायामिह योऽसमर्थः ॥१४॥

अर्थ : वह राजा संपूर्ण भूमिका स्वामी होकर भी अपराधोंका स्थान नहीं था। नियोगी (राजपुरुष) जनों द्वारा वन्दनीय होकर भी अवनियोगी (राजाओं) द्वारा वन्दनीय था। सभाओंमें प्रशंसा-योग्य होता हुआ भी विभाओं (कान्तियों) में प्रशंसनीय अर्थात् अपूर्वकान्तिवाला था। तथा वैरियोंके लिए उपद्रव-कर्ता होनेपर भी उत्तम रीति-रिवाजोंका कर्ता, (चलानेवाला) था ॥१२॥

विशेष : इसमें 'नियोगिवन्द्यः' 'अनियोगिवन्द्यः आदि शब्द परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होते हैं। अतः यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

अन्वय : तस्य सुविद्या अधीतिबोधाचरणप्रचारैः अत्युदारैः चतुर्दशत्वं गमिता सार्धं (वा)अथ तस्य समस्ताः प्रशस्ताः कलाः द्वासप्ततिः बभुः।

अर्थ : उस महाराज जयकुमारकी शोभन-विद्याएँ अध्ययन, बोध (ज्ञान) आचरण और प्रचारस्वरूप निर्दोष एवं विशाल साधनोंसे चार प्रकारकी हुई अथवा साथ ही आधे सहित हो गयीं। इस तरह उसकी सारी प्रशंसनीय कलाएँ भी बहत्तर होकर शोभित होने लगीं ॥१३॥

सुरैरिति । असौ प्रसिद्धा चन्द्राख्यया ख्याता तस्य राज्ञो जयकुमारस्य यशसः प्रशस्तिः ख्यातिस्तया सम्यग् अङ्किता सोमशिला चन्द्रकान्तदृषदेव समस्ति किल । तस्य शिलालेखस्यार्थोऽभिप्रायस्तस्य विभावना सम्बुद्धिस्तस्यां यो जनोऽसमर्थोऽस्ति स इह लोके कमपि कलं चतुरं तदर्थज्ञमेतु प्राप्नोतु । अथवा कलङ्कं लाञ्छनमेतु गच्छतु ॥ १४ ॥

भवाद्भवान् भेदमवाप चङ्गं भवः स गौरीं निजमर्धमङ्गम् ।
चकार चादो जगदेव तेन गौरीकृतं किन्तु यशोमयेन ॥ १५ ॥

भवाविति । चन्द्राख्यसोमशिलायां यशःप्रशस्तिरस्ति, तामेव स्पष्टयति—भवान् जयकुमारनृपतिः भवात् महादेवात् चङ्गमत्यन्तं भेदं विलक्षणत्वमवाप प्राप्तवान् । कथमिति ? स भवो रुद्रो गौरीं पार्वतीं निजमात्मनोऽर्धमङ्गमेव चकार, किन्तु यशोमयेन कीर्तिबहुलेन जयकुमारेण च अदो जगत्समस्तं गौरीकृतं शुक्लीकृतं, गौरीति वा कृतं पार्वतीस्वरूपतो निजस्त्रीसाधर्म्यं नीतमिति शब्दच्छलम् । अथवा भवात् जन्मनोऽनन्तरं भं प्रकाशस्तद्वान् सन् भे भवस्य भस्थाने दं दकारमवाप देवो बभूव । दकारः शुद्धिः, वकारः कुम्भः, वस्य शुद्धताया वः कुम्भोऽर्थान्निधिर्देवो बभूव संशुद्ध आसीदिति भावः । सोऽदो भवः पवित्रतारहितः संसारः गौरीं स्त्रियं निजमर्धमङ्गं चकारेत्यादि । 'वः शुद्धो, वः कुम्भे वरुणे' इति विश्वलोचनः ॥ १५ ॥

अन्वय : असौ सोमशिला सुरैः तस्य यशःप्रशस्तिसमङ्किता समस्ति । इह यः तदर्थविभावनायाम् असमर्थः, सः तस्य अङ्कदलं कलङ्कम् एतु ।

अर्थ : यह चन्द्ररूप शिला देवताओं द्वारा उस राजाकी लिखो यशः-प्रशस्तिसे अङ्कित है । किन्तु यहाँ जो उसका अर्थ नहीं जान पाता, वह किसी विद्वान् चतुर व्यक्तिके पास जाकर उसका रहस्य समझे । अथवा वह उस अङ्कदल (अक्षरसमूह) को कलङ्क (काला अक्षर) समझे ॥ १४ ॥

अन्वय : भवान् भवात् चङ्गं भेदं अवाप । (यतः) स भवः निजम् अर्धम् अङ्गं गौरीं चकार । किन्तु यशोमयेन तेन च अदः जगत् एव गौरीकृतम् ।

अर्थ : यह राजा महादेवसे भी बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ था, क्योंकि महादेव तो अपने आधे अङ्गको ही गौरी (पार्वती) बना सके । किन्तु इस राजाने तो अपने अखण्ड यश द्वारा संपूर्ण जगत्को ही गौरी कर दिया अर्थात् उज्ज्वल बना दिया ॥ १५ ॥

शौर्यप्रशस्तौ लभते कनिष्ठां श्रीचक्रपाणेः स गतः प्रतिष्ठाम् ।
यस्यासतां निग्रहणे च निष्ठा मता सतां संग्रहणे घनिष्ठा ॥१६॥

शौर्येति । श्रीचक्रपाणेः भरतनामचक्रवर्तिनः सकाशात् प्रतिष्ठां गतः प्राप्तः सन् स नृपतिः शौर्यस्य वीरतायाः प्रशस्तिः श्लाघा तस्यां कनिष्ठामङ्गुलिं लभते । वीरपुरुषगणनासमये चक्रवर्तिनोऽग्रे प्रथमस्थानं गतवान् । यस्य निष्ठा श्रद्धा प्रवृत्तिर्वा, असतां निग्रहणे परिहारे मता सती, सतां संग्रहणे आदरणविषये सापि घनिष्ठा महती बभूव ॥ १६ ॥

व्यर्थं च नार्थाय समर्थनं तु पूर्णो यतश्चार्थ्यभिलाषतन्तुः ।
स विश्वतोरोचनमृद्धदेशं कोषं दधौ श्रीधरसन्निवेशम् ॥ १७ ॥

व्यर्थमिति । स नरनाथः श्रीधरः कुबेरस्तस्य सन्निवेशं भाण्डागारमिव विश्वतोरोचनं सर्वेषां रुचिकारकम्, ऋद्धो देशो यस्य तं कथमप्यरिक्तमित्यर्थः । एतादृशं निधानं दधौ । यस्य निधानस्य समर्थनमर्थाय कस्मैचित्प्रयोजनाय व्यर्थं न भवति, यथेष्टवस्तु-प्राप्तिस्ततः सुलभा बभूव । यतो यस्मादर्थिनां याचकानामभिलाषो मनोरथस्तस्य तन्तुः सद्भावः पूर्णः । तथा च श्रीधरो नाम ग्रन्थकर्ताऽऽचार्यस्तेन कृतः सन्निवेशो रचना यस्य तं श्रीधराचार्यनिर्मितमिति, विश्वतोरोचनं 'विश्वरोचनं' नाम कोषं यथेति । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् ॥ १७ ॥

अन्वय : सः श्रीचक्रपाणेः प्रतिष्ठां गतः शौर्यप्रशस्तौ कनिष्ठां लभते। यस्य असतां निग्रहणे निष्ठा मता, च सतां संग्रहणे (सा) निष्ठा घनिष्ठा बभूव ।

अर्थ : भरत चक्रवर्तीसे भी प्रतिष्ठा-प्राप्त वह राजा जयकुमार शूर-वीरताके विषयमें कनिष्ठिका (कानी उँगली) पर गिना जाता था, अर्थात् सर्वोत्तम था । उसकी सारी चेष्टाएँ दुष्टोंके निग्रह करनेमें होती थीं । शिष्टोंको संग्रह करनेमें तो वह और भी तत्परतासे लगा रहता था ॥ १६ ॥

अन्वय : सः श्रीधरसन्निवेशम् ऋद्धदेशं विश्वतोरोचनं कोषं दधौ । यस्य अर्थाय समर्थनम् व्यर्थं न, यतः (सः) अर्थ्यभिलाषतन्तुः पूर्णः (आसीत्) ।

अर्थ : वह राजा विशाल, भरा-पूरा और विश्वके लिए रुचिकर कुबेरके समान कोष (खजाना) धारण किये हुए था, जिसका समर्थन किसी भी प्रयोजनके लिए व्यर्थ नहीं होता अर्थात् उस कोषसे सभी मनचाही चीजें प्राप्त होती थीं । कारण वह याचकोंकी अभिलाषाओंके सद्भावसे पूर्ण था ।

युधिष्ठिरो भीम इतीह मान्यः शुभैर्गुणैरर्जुन एव नान्यः ।
स्याद्वाच्यता वा नकुलस्य यस्य ख्यातश्च सद्भिः सहदेवशस्यः ॥१८॥

युधिष्ठिर इति । स युधिष्ठिरः स एव भीम इति मान्यः, स एव अर्जुनो यस्य नकुलस्य वाच्यता अभिधेयः । स च सहदेव इव शस्यः सहदेवशस्यश्च सद्भिः ख्यातः सज्जनैरक्त इति पञ्चपाण्डवमयो बभूव । यतः स युधि रणस्थले स्थिरः सन् भीमो भयङ्कररूपः, शुभैः प्रशस्तैर्गुणैः कृत्वा अर्जुनो धवलो नान्यो न निर्गुणः, यस्य च कुलस्य वंशस्य वाच्यता निन्दा न बभूव, देवैः शस्यः प्रशंसनीयः सन् सद्भिः सज्जनैः सह ख्यातः ॥ १८ ॥

अहो यदीयानकतानकेन रवेः सवेगं गमनं च तेन ।
सूतोऽपदो येन रथाङ्गमेकं हयाः समापुर्युगतातिरेकम् ॥१९॥

अहो इति । यस्य सम्बन्धी यदीयः, यदीयश्चासौ आनको जयकुमारस्य प्रयाण-वादित्रं, तस्य तानकेन शब्देन भयभीतस्येति तात्पर्यम् । रवेः सूर्यस्य गमनं सवेगं वेगपूर्वकं बभूव । तेन सवेगगमनेनैव तस्य सारथिः अपदोऽनूरुर्भग्नजङ्घो बभूव, रथाङ्गं चक्रम् एकमेवावशिष्टम्, हया घोटका युगता समता तस्या अतिरेकोऽभावस्तं

विशेष : इस पद्यमें समासोक्ति अलंकारद्वारा 'विश्वलोचन'नामक संस्कृत-कोषकी ओर संकेत किया गया है, जो श्रीधराचार्य द्वारा निर्मित है ॥ १७ ॥

अन्वय : (सः) युधिष्ठिरः, भीम इति इह मान्यः, शुभैः गुणैः अर्जुन एव नान्यः, यस्य कुलस्य वाच्यता वा न स्यात्, सः देवशस्यः सद्भिः सह ख्यातः ।

अर्थ : वह राजा युद्धमें स्थिर रहनेवाला और जगत्‌में भयंकर माना जाता था । वह शुभ (शुभ्र) गुणोंसे अर्जुन (निर्मल) ही था, निर्गुण नहीं । उसके कुलकी कभी कोई निन्दा नहीं होती थी । देवों द्वारा प्रशंसित वह सज्जनोंके साथ सुख्यात था ।

विशेष : उपर्युक्त पद्यमें शब्दशः जयकुमारके विशेषणोंके रूपमें पाँचों पाण्डवोंके नामोंका निर्देश किया गया है ॥ १८ ॥

अन्वय : अहो यदीयानकतानकेन रवेः सवेगं गमनं तेन च अमुष्य सूतः अपदः रथाङ्गम् एकं हयाः च युगतातिरेकं समापुः ।

अर्थ : आश्चर्यकी बात है कि जिस जयकुमार राजाके प्रयाणके नगारेकी आवाज सुन सूर्य भी तेजीसे चलने लगा । इसी कारण उसके सारथीकी एक

विषमसंख्यत्वमापुः । लोकसमये सूर्यस्य सारथिरेकजङ्घः, रथाङ्गमेकम्, घोटकाः सप्त श्रूयन्ते । तदादाय कविनेवमुत्प्रेक्षितम् । अनेन जयकुमारस्य राज्ये सन्तुष्टस्य जनसमूहस्य समयः सहजमेव निरगादिति भावः ॥ १९ ॥

यद्दुहृदां देहत एव बाह्यमनिस्सरन्तीमसतीं निगाद्य ।
कीर्तिं सतः स्वैरविहारिणीं ते सतीं प्रतीयन्त्वधिपाः प्रणीतेः ॥२०॥

यदिति । दुहृदां दुष्टानां देहत एव शरीरादपि बाह्यमनिस्सरन्तीं न निर्गच्छन्तीं कीर्तिमसतीं दुःशीलां निगाद्य ज्ञात्वा पुनः सतो जयकुमारस्य स्वैरविहारिणीं यथेच्छं पर्यटन्तीं कीर्तिं सतीं साध्वीं, प्रसिद्धाः प्रणीतेः अधिपा नीतिविदः प्रणयमकारिणश्च जिनसेनादयः प्रतीयन्तु जानन्तु । प्रणीतेरधिपत्वात् निरङ्कुशत्वात् न तेषां रोधनकारकः कोऽपीति । अन्यथा तु पुनः स्वामिनः सङ्गमत्यजन्ती सती स्वैरं गच्छन्ती च असतीति निगद्यते ॥ २० ॥

टाँग नहीं रही, रथका पहिया एक शेष रह गया और घोड़े भी समसे विषम हो गये अर्थात् आठकी जगह सात हो गये।

विशेष : यद्यपि उपर्युक्त बातें सूर्यमें स्वाभाविक हैं, किन्तु कविने उत्प्रेक्षाके द्वारा यह कहा है कि उस राजाके प्रयाणके वाद्यसे भयभीत होकर सूर्य तेजीसे जब दौड़ा तो उसकी यह अवस्था हुई ॥ १९ ॥

अन्वय : (ये) प्रणीतेः अधिपाः ते यद्दुर्हृदां देहतः एव बाह्यम् अनिस्सरन्तीं कीर्तिम् असतीं निगाद्य सतः स्वैरविहारिणीं (कीर्तिं) सतीं प्रतीयन्तु ।

अर्थ : जो नीतिशास्त्रके अधिकारी ज्ञाता या जिनसेनादि आचार्य हैं, वे (महाराज जयकुमारके) शत्रुओंकी देहसे कभी बाहर न निकलनेवाली उनकी कीर्ति (-कामिनी) को असती (व्यभिचारिणी या असत्) जानकर सज्जन जयकुमारकी स्वच्छन्दगामिनी कीर्तिको सती मान लें, तो मानते रहें।

विशेष : लोक-व्यवहार तो यही है कि जो घरसे बाहर नहीं निकलती, वह स्त्री 'सती' कही जाती है और स्वच्छन्द घूमनेवालीको 'असती' कहा जाता है। किन्तु यहाँ कविने शत्रुके शरीरमात्रमें बँधी रहनेवाली कीर्तिको असती बताकर जगभर फैलानेवाली जयकुमारकी कीर्तिको सती बताया है, यह आर्थिक विरोधाभास है। नीतिशास्त्रविदों या जिनसेनादि आचार्योंके निरंकुश होनेसे इसका परिहार हो जाता है ॥ २० ॥

करं स जग्राह भुवो नियोगात् कृपालुतायां मनसोऽनुयोगात् ।
दासीमिवासीमयशास्तथैनां विचारयामास च संहृतैनाः ॥२१॥

करमिति । स महानुभावः कृपालुतायां जीवदयायां मनसश्चित्तस्य अनुयोगात् संलग्नतया कृत्वा पुनः नियोगादधिकारादेव भुवः पृथिव्याः स्त्रियाः करं शुल्कं जग्राह गृहीतवान् । तथा तदनन्तरं च पुनः स संहृतं विनष्टम् एनः पापं यस्य स निष्पापः, असीमं सीमातीतं यशो यस्य स एतादृशो महाभाग एनां भुवं नाम स्त्रीं दासीमिव विचारयामास किल, अन्यमनस्कतया बुभोज ॥ २१ ॥

दिगम्बरत्वं न च नोपवासश्चिन्तापि चित्ते न कदाप्युवास ।
मुक्तो जनः संसरणात्सुभोगस्तस्याद्भुतोऽयं चरणानुयोगः ॥२२॥

दिगम्बरत्वमिति । दिगम्बरत्वमाचलेक्यम्, उपवासोऽनशननाम तपः, चित्ते चिन्ता ध्यानकरणम्, तदेतत्सर्वं मुनिजनाय मुक्त्यर्थमनुष्ठेयतया जिनशासनस्य चरणानुयोगे निगदितमस्ति । किन्तु गृहस्थानां निर्वस्त्रता, निरन्ननिर्वाहश्चित्ते चेष्टवियोगानिष्टसंयोगजनिता चिन्ता भवेत् चेत्तदा दुर्विपाकता स्यात् । तदाश्रित्य सूक्तं यत्किल

अन्वय : कृपालुतायां मनसः अनुयोगात् संहृतैनाः असीमयशाः सः नियोगात् भुवः करं जग्राह । तथा च सः एनां दासीम् इव विचारयामास ।

अर्थ : कृपालुतामें ही मनका झुकाव होनेके कारण सभी प्रकारके पापोंसे रहित, असीम यशशाली उस महाराज जयकुमारने मात्र अपने अधिकारके निर्वाहार्थ भूमिका कर (टैक्स या हाथ) ग्रहण किया। किन्तु वह इस इस भूमिको दासीकी तरह मानता था ।

विशेष : यहाँ 'कर' इस श्लिष्ट पदसे समासोक्तिका यह भाव निकलता है कि जैसे कोई अत्यन्त कृपालु और निष्पाप पुरुष किसी विधान-विशेषसे किसी स्त्रीका हाथ पकड़नेको विवश हो जाता है, किन्तु बादमें उसे दासीकी तरह ही मानता है, वैसे ही यह महाराजा पृथ्वीके साथ व्यवहार करता था। इस अप्रस्तुतके व्यवहारका समारोप उसपर कविने किया है ॥ २१ ॥

अन्वय : तस्य अयं चरणानुयोगः अद्भुतः (यत्) जनः कदापि न दिगम्बरत्वं न उपवासः न च चित्ते चिन्ता अपि उवास । सुभोगः (सन्) संसरणात् मुक्तः ।

अर्थ : भगवान् जिनके 'चरणानुयोग'का यह उपदेश है कि मनुष्य दिगम्बर (वस्त्रहीन) बने, उपवास करे और चित्तमें आत्मचिन्तन करते हुए भोगोंका त्याग करे, तभी वह संसारसे मुक्त हो सकता है। किन्तु राजा जयकुमारके

तस्य चरणानुयोगेन पदारविन्दप्रसादेन कृत्वा प्रजाजनः पूर्वोक्तैर्दुर्गुणैः रहितः सुभोगो भोगसामग्रीपरिपूर्णश्च सन् संसरणात् देशान्तराविगमनात् मुक्तो विनिवृत्तो बभूव ॥ २२ ॥

प्रवर्तते किञ्च मतिर्ममेयं नभस्यभूद् व्याप्ततयाऽप्यमेयम् ।
तेजः सतो जन्मवतोऽग्रवर्ति घनायितं तद्रविताभियर्ति ॥२३॥

प्रवर्तत इति । किञ्च मम ग्रन्थकर्तुरियं मतिर्विचारधारा प्रवर्तते यत्किल सतो जयकुमारस्य तेजः प्रभावः प्रतापो नभसि आकाशदेशे व्याप्ततयाऽपि प्रसरेणापि अमेयमभूत् । निखिलेऽप्याकाशे मातुमशक्यमासीत्, तदेव घनायितं पुञ्जीभूतं भवत् जन्मवतो देहधारिणो जनस्याग्रवर्ति, इदं प्रत्यक्षदृश्यं रवितामियर्ति ॥ २३ ॥

यस्यापवर्गप्रतिपत्तिमत्त्वं महीपतेः सँल्लभते स्फुटत्वम् ।
गतश्चतुर्वर्गबहिर्भवत्वं पुमान् समूहो न किलाप सत्त्वम् ॥२४॥

यस्येति । यस्य महीपतेः नरनाथस्य, अपवर्गप्रतिपत्तिमत्त्वं मोक्षपुरुषार्थज्ञत्वं पफबभमेति पञ्चवर्णात्मक-पवर्गज्ञातृताभावश्च स्फुटत्वं लभते । चतुर्वर्गबहिर्भवत्वं गतो धर्मार्थकाममोक्षाणामनध्ययनशीलः, अथवा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः चतुर्वर्णास्तेभ्यो

चरणोंका समागम ठीक इसके विपरीत था। क्योंकि उनको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिके यहाँ वस्त्रोंकी कमी नहीं होती थी। अन्नकी अधिकता होनेके कारण उसे उपवास नहीं करना पड़ता था। मनमें किसी तरहकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। वह सब तरहके भोगोपभोगोंको प्राप्तकर इधर-उधर भटकनेसे मुक्त हो जाता था ॥ २२ ॥

अन्वय : किं च मम इयं मतिः प्रवर्तते यत् सतः तेजः नभसि व्याप्ततया अपि अमेयं अभूत् । तत् घनायितं सत् जन्मवतो अग्रवर्ति रवितां इयर्ति ।

अर्थ : मेरी (कविकी) बुद्धि तो ऐसा मानती है कि उन राजा जयकुमारका तेज सारे आकाशमें फैलकर भी कुछ शेष बच गया था, जो इकट्ठा होकर सर्वसाधारणके समक्ष दृश्यमान रवि (सूर्य) का रूप धारण कर रहा है ॥ २३ ॥

अन्वय : यस्य महीपतेः अपवर्गप्रतिपत्तिमत्त्वं स्फुटत्वं संलभते । (यतः) किल चतुर्वर्गबहिर्भवत्वं गतः पुमान् समूहः (तत्र) सत्त्वं न आप ।

अर्थ : इस राजाकी मोक्षपुरुषार्थज्ञता भी सुस्पष्ट थी। क्योंकि धर्मादि चतुर्वर्ग या ब्राह्मणादि चार वर्णोंसे शून्य केवल तर्कणाशील मनुष्यको उसके

बहिर्भूतः, वर्गशब्दस्य जात्यर्थकत्वात्, स समूहः सम्यग् वितर्ककारकः पुमान् सत्त्वं स्थितिं नाप । संशब्दस्य इह अप्रशस्तार्थे ग्रहणं महत्तरवत् । किञ्च पुवर्णेन पवर्गस्तद्वान् समूहः शब्दसंग्रह इत्यप्यर्थः ॥ २४ ॥

अहीनलम्बे भुजमञ्जुदण्डे विनिर्जिताखण्डलशुण्डिशुण्डे ।
परायणायां भुवि भूपतेः स शुचेव शुक्लत्वमवाप शेषः ॥ २५ ॥

अहीनेति । विनिर्जिताः पराभूता आखण्डलस्य सुरपतेः शुण्डी हस्ती, ऐरावतस्तस्य शुण्डा येन तस्मिन् । अहीनतया अन्यूनत्वेन, अहीनां सर्पाणामिनः स्वामी तद्वद् वा लम्बे दीर्घे भूपतेः प्रकृतस्य राज्ञो भुजो बाहुरेव मञ्जुर्मनोहरो दण्डः स्थूणाकृतिस्तस्मिन् । भुवि पृथिव्यां परायणायां तल्लीनायां सत्यामिति शेषः । नागपतिः लोकख्यातः स शुचेव चिन्तयेव शुक्लत्वं श्वेतत्वमवाप । लोकसमये सर्वेषां हस्तिनां सर्पाणाञ्च कृष्णरूपतामभिधाय एकः ऐरावतो हस्ती, एकश्च शेषः शुक्लतया ख्यातः; तदाश्रित्य उत्प्रेक्ष्यते ॥ २५ ॥

निःशेषयत्यम्बुनिधीन् स्म सप्त तस्यात्र तेजस्तरणिः सुदृप्तः ।
व्यशेषयन् वा द्रुतमीर्ष्ययार्य तकाञ्छतत्वेन किलारिनार्यः ॥ २६ ॥

निःशेषयतीति । तस्य महीपतेः सुदृप्तः अतिप्रखरः तेज एव तरणिः सूर्यः सप्तापि अम्बुनिधीन् समुद्रान्, लोकख्यातान् निःशेषयति स्म, शोषयामास । अत्र लोके तथा

यहाँ कोई स्थान नहीं था। दूसरा अर्थ यह है कि राजा 'पवर्ग' नहीं जानता था, इसलिए 'कवर्ग' आदि चार वर्गोंसे आगेके 'पकार'से लेकर मकार तकके अक्षरोंका समूह इसके पास बिलकुल नहीं था ॥ २४ ॥

अन्वय : भूपतेः अहीनलम्बे विनिर्जिताखण्डलशुण्डिशुण्डे भुजमञ्जुदण्डे परायणायां भुवि स शेषः शुचा इव शुक्लत्वम् उवाह ।

अर्थ : राजा जयकुमारके भुजदण्ड सर्पराज शेषके समान लम्बे थे और उन्होंने इन्द्रके ऐरावत हाथीको भी जीत लिया। महाराजके ऐसे भुजदण्डोंके भरोसे यह सारी पृथ्वी सुदृढ़ बन गयी। मानो इसी सोचमें शेषनाग सफेद पड़ गया ॥ २५ ॥

अन्वय : हे आर्य अत्र तस्य सुदृप्तः तेजस्तरणिः सप्त अम्बुनिधीन् निश्शेषयति स्म । वा अरिनार्यः किल ईर्ष्यया द्रुतं तकान् शतत्वेन व्यशेषयन् ।

अर्थ—हे आर्य ! देखो कि उस राजाके अत्यन्त देदीप्यमान तेजरूपी सूर्यने सातों समुद्रोंको सुखा दिया था। किन्तु इसके विपरीत उस राजाके शत्रुओंकी

पुनः हे आर्य, श्रवणशील, महाशय शृणु इत्यर्थः। तानेव तकान् अरिनार्यस्तस्य शत्रुस्त्रिय ईर्ष्यया किल द्रुतमेव शीघ्रं शतत्वेन शतशः संख्यात्वेन व्यशेषयन् पूरयामासुः, रोदनेनेत्यर्थः ॥ २६ ॥

निपीय मातङ्गघटास्रगोधं स्पृशन्त्यरीणां तदुरोऽप्यमोघम् ।
वामध्वनामात्ममतं निवेद्य यस्यासिपुत्री समुदाप्यतेऽद्य ॥ २७ ॥

निपीयेति । यस्य राज्ञः असिपुत्री क्षुरिका, आत्मनो मतं स्वकीयाभिमतं वामो वक्र एव अध्वा गमनमार्गः, स एव नाम यस्य तत्। तथा च वाममार्गनाम मतं निवेद्य कथयित्वा सा मातङ्गानां हस्तिनां घटा समूहः। यद्वा मातङ्गश्चाण्डालस्तस्य घटः कुम्भस्तस्य अस्रगोघं रक्तपुञ्जं निपीय पीत्वा पुनः अरीणां शत्रूणां तत् प्रसिद्धम्, उरो वक्षःस्थलमपि अमोघं यथेच्छं यथा स्यात्तथा स्पृशन्ती समालिङ्गन्ती सती। तथा च अरं शीघ्रं गच्छन्तीत्यरिणः चञ्चलाः निर्विचारकारिणस्तेषाम्। 'मातङ्गः श्वपचे गजे' इति विश्वलोचनः ॥ २७ ॥

त्रिवर्गनिष्पन्नतयाऽखिलार्थानमुष्य मेधा लभतामिहार्थात् ।
एकाप्यनेकानि कुलान्यरीणां शक्तिः कुतो ग्रस्तुमहो प्रवीणा ॥२८॥

त्रिवर्गेति । धर्मश्चार्थश्च कामश्च वर्गत्रितयमवस्ततो निष्पन्नतया सम्पादितत्वेन

स्त्रियोंने ईर्ष्यावश हो शीघ्र ही अपने रोदनद्वारा उन्हें सैकड़ोंकी तादादमें भर दिया। तात्पर्य यह कि उस राजाके तेजसे अनायास ही शत्रु लोग कांपते और कितने तो मर ही जाते थे। अतः उनकी रानियोंने रो-रोकर सैकड़ों समुद्र भर दिये ॥ २६ ॥

अन्वय : यस्य असिपुत्री मातङ्गघटास्रगोधं निपीय अरीणां तत् अमोघम् उरः स्पृशन्ती सती अपि वामाध्वनाम आत्ममतं निवेद्य अद्य समुत् आप्यते।

अर्थ : उस राजाकी तलवार अपना 'टेढ़ा मार्ग' यह नाम बताती हुई शत्रुओंके हाथियोंके समूहका रक्त पीकर और शत्रुओंके वक्षःस्थलको स्पर्श करती हुई भी प्रशंसनीय गिनी जाती है, अर्थात् उसकी तलवारको आज भी बड़ाई हो रही है। समासोक्तिके रूपमें इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि उस राजाकी 'असि नामकी पुत्री अपनेको वाममार्गी बताकर चांडालके घड़ेसे रक्त पीकर प्रसन्नतापूर्वक वैरियोंके हृदयका बेरोकटोक आलिङ्गन करती थी। फिर भी प्रशंसनीय होती थी ॥ २७ ॥

अन्वय : अमुष्य मेधा इह त्रिवर्गनिष्पन्नतया अखिलार्थान् अर्थात् लभताम्। किन्तु

कृत्वा अमुष्य राज्ञो मेधा बुद्धिः इह अस्मिल्लोके अखिलार्थान् वाञ्छितानि सम्पूर्णवस्तूनि लभतां प्राप्नोतु। तथा त्रिसंख्याया वर्गः कृतिस्त्रिवर्गो नवसंख्यः, ततो निष्पन्नतयाखिलार्थान् नवापि जीवादिपदार्थान् जीवा-ऽजीवा-ऽऽस्रव-बन्ध-संवरा-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पापानि नवार्था जिनशासने, तांल्लभतामेव। नवस्त्रियो नवजनानङ्गीकुर्वन्त्वेव, किन्त्वेका प्रसिद्धा, एकसंख्याका च तस्य शक्तिरायुधं सा बालिका, अरीणामनेकानि कुलानि ग्रस्तुं प्रहर्तुं स्वीकर्तुञ्च प्रवीणा समर्था बुद्धिमती च कुतोऽभूदित्यहो आश्चर्यम्। एका कुलीनकन्या एकमेव जनं प्रतिगृह्णाति ॥ २८ ॥

दयालुतां चाप्यपदूषणत्वं कुन्दं तु शीर्षे दरिणां हितत्वम्।
गत्वाऽरिरप्यस्य कथोपगामी दम्भं परन्त्वत्र निभालयामि ॥ २९ ॥

दयालुतामिति। अस्य राज्ञोऽरिरपि कथोपगामी, एष 'द' वर्ण-वर्णनीयोऽभूदित्यत्र परं दम्भं प्रतारणं निभालयामि पश्यामि वैरिणं तद्विरुद्धकथनत्वात्। तथा च दमिति भं भकारं जयकुमारवर्णनं आयातं दकारमेव भकारमत्रास्मिन् वृत्ते निभालयामीत्यर्थः। तथैव जयकुमारे दयालुतां शत्रौ तु भयालुताम्। जयस्य अपदूषणत्वं शत्रोरपभूषणत्वम्। जयस्य शीर्षे कुन्दमित्युपलक्षणत्वेन कुन्दादिकुसुमानि, शत्रुमस्तके कुम्भम्। जयस्य दरिणां भयभीतानां विषये हितत्वम् शत्रोश्च भरिणां भारवाहिनां विषये हितत्वम्, सहकारित्वमिति गत्वा ॥ २९ ॥

किन्तु अहो (अमुष्य) एका अपि शक्तिः अरीणाम् अनेकानि कुलानि ग्रस्तुं कुतः प्रवीणा ?

अर्थ : इस राजा जयकुमारकी बुद्धि त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) द्वारा सम्पादित होनेके कारण संपूर्ण वाञ्छित अर्थोंको अर्थात् (अनायास) प्राप्त करे, यह तो ठीक है; कारण तीन वर्गोंका तिगुना नौ होता है, संसारके सभी पदार्थ नौ ही होते हैं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इसकी एक ही शक्ति (नामक आयुध) शत्रुओंके अनेक परिवारोंको, समूहोंको एक साथ ग्रस लेने (ग्रहण करने) में किस तरह प्रवीण हो गयी ॥ २८ ॥

अन्वय : (अस्य) दयालुतां च अपि अदूषणं शीर्षे तु कुन्दं दरीणां च हितत्वं गत्वा अरिः अपि कथोपगामी। किन्तु अत्र दम्भं निभालयामि।

अर्थ : राजा जयकुमारके मनमें दयालुता थी, किसी प्रकारका दूषण नहीं था। मस्तक पर कुन्द (पुष्प) रहता था और वह डरनेवाले लोगोंका हितैषी था अर्थात् उनका भय दूर कर देता था। उसका वैरी भी उन्हींके समान काम करता था। किन्तु अन्तर केवल उसमें दम्भका था, अर्थात् उसमें दकार की जगह भकार था।

महीभृतामेव शिरस्सु सौस्थ्यं सदा दधानो विषमेषु दौस्थ्यम् ।
प्रजासु शम्भुः सविभूतिमत्त्वं बभार च श्रीमदहीनभृत्त्वम् ॥३०॥

महीभृतामिति । स जयकुमारः प्रजासु शम्भुः कल्याणकरः, रुद्रश्च सन् महीभृतां राज्ञां शिरस्सु मस्तकेषु पक्षे पर्वतानां शिखरेषु सौस्थ्यं सस्थितिमत्त्वम्, विषमेषु विरुद्धगामिषु चोरलुण्टाकादिषु दौस्थ्यं दुस्थितिमत्त्वमसहिष्णुतां, पक्षे विषमेषुः कामस्तस्य दौस्थ्यं वैरभावं दधानः सन् विभूतिमत्त्वं वैभवयुक्तता, पक्षे भस्मधारिताम् । श्रीमन्तश्च अहीनाश्च तान् बिभ्राणस्तत्त्वं प्रशंसनीयसज्जनाधिपतां, पक्षे शेषनागधारित्वं च बभार स्वीकृतवान् ॥ ३० ॥

न वर्णलोपः प्रकृतेर्न भङ्गः कुतोऽपि न प्रत्ययवत्प्रसङ्गः ।
यत्र स्वतो वा गुणवृद्धिसिद्धिः प्राप्ता यदीयापदुरीतिऋद्धिम् ॥३१॥

नेति । यदीया पदरीतिश्चरणप्रसादः शब्दसञ्चारणं च, ऋद्धिं सम्पत्तिं चमत्कारकारितां वा प्राप्ता, यत्र वर्णानां ब्राह्मणादीनां पक्षे ककारादीनां, लोपो न भवति ।

विशेष : जयकुमारमें दयालुता थी तो उसके वैरियोंमें भयालुता । उसमें कोई दूषण नहीं था तो वैरियों के पास भूषण नहीं था । जयकुमारके मस्तक पर कुन्द (पुष्प) था तो वैरियों के मस्तकपर भी कुन्द (आयुध) था । और जयकुमार दरवालों (भयभीतों) का हितैषी था तो उसके वैरी भरवालों (बोझ ढोनेवालों) के हितैषी थे ॥ २९ ॥

अन्वय : एषः महीभृतां शिरस्सु सौस्थ्यं विषमेषु दौस्थ्यं च सदा दधानः प्रजासु शम्भुः सविभूतिमत्त्वं श्रीमदहीनभृत्त्वं च बभार ।

अर्थ : यह राजा जयकुमार प्रजाका शम्भु अर्थात् कल्याणकारी था, इसीलिए प्रजामें 'शम्भु' कहलाता था । अतएव वह राजाओंके मस्तकपर सुस्थिति पाये हुए और शत्रुओंमें तो दुःस्थिति फैलानेवाला था । वह वैभवशालिता स्वीकार किये हुए था और श्रीमान् होते हुए कुलीन जनोंका भरण-पोषण करता या उन्हें धारण किये हुए था ।

विशेष : कविने यहाँ राजाका महादेवसे श्लेष किया है । महादेव भी पर्वतोंके शिखरोंपर (महीभृतां शिरस्सु) रहते हैं और कामदेव (विषमेषु—विषम = पाँच संख्याके, इषु = बाणोंवाला) को नष्ट करनेवाले हैं । वे शरीरमें भस्म रमाते हैं (सविभूतिमत्त्वम्) और ऐश्वर्यशाली शेषनाग धारण किये हुए हैं (श्रीमदहीनभृत्त्वम्) ॥ ३० ॥

अन्वय : यदीया पदरीतिः ऋद्धिं प्राप्ता, यत्र न वर्णलोपः प्रकृतेः च भङ्गः न,

प्रकृतेः प्रधानपुरुषस्य मन्त्रिणः, शब्दपक्षे मूलभूतशब्दस्य नाशो न भवति । अयनमयोगमनं प्रत्ययो विरुद्धगमनं तद्वानप्रसङ्गोऽवसरः । यद्वा—उन्मार्गगामिनां प्रसङ्गः संसर्गः, पक्षे सुप्तिङन्तादीनां ठणादीनां वा प्रयोगो न भवति । यत्र च गुणानां शौर्यादीनां वृद्धिरुन्नतिस्तस्याः सिद्धिरुदयः, पक्षे गुण एप् अदेङ्, वृद्धिरैप् आदैग्, तयोः सिद्धिरपि स्वत एव अनायासेनैव सूत्रप्रयोगादिना विनैव भवति । वैयाकरणानान्तु पदरीतिः वर्णलोपवती, प्रकृतिभङ्गयुक्ता प्रत्ययवती च भवति, सूत्रेण गुणं वृद्धिं वा संप्राप्य प्रवर्तते, अतोऽपूर्वत्वम् ॥ ३१ ॥

नटी मुदा मन्दपदाममेयं लास्यं रसा सभ्यजनानुमेयम् ।
प्रसिद्धवंशस्य गुणौघवश्यमुपैतु भूमण्डलमण्डनस्य ॥३२॥

नटीति । मम कवेरियं प्रसङ्गप्राप्ता रसा जिह्वा सैव नटी नर्तकी भूमण्डलस्य मण्डनमलङ्करणं येन राज्ञा तस्य, यद्वा भूमण्डलमेव मण्डनं यस्य । पक्षे नानारूपसंधरणशीलस्येत्यर्थः । प्रसिद्धः ख्यातो वंशो गोत्रं, पक्षे वेणुदण्डो यस्य तस्य गुणः क्षमादिः, पक्षे रज्जुः, तस्यौघः समूहस्तद्वश्यम्, सभ्यजनैः शिष्टैरनुमेयं लास्यं नृत्यम्, अमन्दानि न्यूनतारहितानि प्रशस्तानि च पदानि सुप्तिङन्तानि यस्याः सा, मुदा प्रसन्नतया, उपैति सन्तनोति । स राजा नटवत् पुरुषानुरञ्जनकारीति भावः ॥ ३२ ॥

कुतः अपि प्रत्ययवत् प्रसङ्गः न, गुणवृद्धि-सिद्धिः च स्वतः वा ।

अर्थ : इस राजाके पदकी रीति भी समृद्धिप्राप्त थी अर्थात् अपूर्व थी। कारण उसके राज्यमें ब्राह्मणादि वर्णोंका लोप नहीं था, मन्त्री आदि प्रधान पुरुषों का नाश या अपमान न होता था। कभी विरुद्धगमन (दोषों) का प्रसंग ही न आता था और प्रजामें गुणोंकी वृद्धि स्वतःसिद्ध थी।

विशेष : व्याकरणशास्त्रमें जो सुबन्त या तिङन्त पद होता है, उसमें या तो किसी वर्णका लोप होता है, प्रकृति यानी मूलशब्दमें कुछ भङ्ग यानी हेर-फेर होता है और कहीं कोई प्रत्यय लगता या गुण किंवा वृद्धि नामक आदेश होकर वह पद बनता है। किन्तु उपर्युक्त राजाके राज्यमें ये बातें नहीं थीं ॥ ३१ ॥

अन्वय : मम इयं रसा नाम नटी अमन्दपदा मुदा भूमण्डलमण्डनस्य प्रसिद्धवंशस्य गुणौघवश्यं सभ्यजनानुमेयं लास्यम् उपैति ।

अर्थ : मेरी यह सुन्दर पदोंवाली रसनारूपी नटी प्रसन्नताके साथ भूमण्डलके मण्डनस्वरूप प्रसिद्धवंशी महाराज जयकुमारके वश होकर सभ्यजनोंद्वारा दर्शनीय नृत्य कर रही है।

विशेष : यहाँ नटी-पक्षमें 'वंश' का अर्थ बाँस और 'गुण' का अर्थ डोरी

समुल्वणे यस्य यशःशरीरे निमज्जनत्रासवशेन मीरे ।
गृहीतमेतन्नभसा गभस्तिसोमच्छलात्कुम्भयुगं समस्ति ॥३३॥

समुल्वण इति । यस्य राज्ञो यशःशरीरे मीरे कीर्तिरूपे समुद्रे समुल्वणे, उद्वेलरूपे भवति सति निमज्जनत्रासवशेन बुडनभयभीतेन नभसा आकाशेन गभस्तिः सूर्यः सोमश्चन्द्रः, तयोश्छलात् मिषात् कुम्भयुग्ममेव गृहीतमेतद् दृष्टिपथगतमस्ति ॥३३॥

यस्य प्रसिद्धं करणानुयोगं समेत्य तद्दिव्यगुणप्रयोगम् ।
बभूव तावन्नवतानुयोगचतुष्टये हे सुदृढोपयोग ॥३४॥

यस्येति । यस्य राज्ञः प्रसिद्धं प्रकर्षेण सिद्धं सिद्धिमापन्नं तत्तस्मादेव दिव्यस्य देवसम्बन्धिनो गुणस्य दयादानादेः प्रयोगो यत्र येन वा तम्, प्रकर्षेण योगो मनोनिग्रहाख्यः प्रयोगः, करणानां स्पर्शनरसनादीनामिन्द्रियाणामनुयोगः संसर्गस्तं समेत्य, हे सुदृढोपयोग श्रावक, अनुयोगचतुष्टये प्रथमकरणचरणद्रव्योपनामके शास्त्रचतुष्के नवता नवीनभावो बभूव । तस्य भूपतेरिन्द्रियमनसोः संयोगं लब्ध्वा पठनचिन्तनादिना कृत्वा अनुयोगचतुष्टयं तावन्नूतनमिव चमत्कारकरं बभूव । तथा च करणानुयोगं नाम गणितशास्त्रं दिव्यस्य अश्रुतपूर्वस्य गुणस्य गणनप्रयोगो यस्मिंस्तं समेत्य अनुयोगचतुष्टयस्य नवता नवसंख्यात्मकताऽभूदिति चित्रम् । तथैव करणानि इन्द्रियाणि पञ्च भवन्ति तेन पञ्चानुयोगेन कृत्वा चतुष्टयस्य गुणनकरणेनापि नवतैव नवसंख्यात्मतैव अभूदित्यद्भुतत्वम् । पञ्चतश्चतुष्टयस्य गुणने विंशतिरूपत्वात् ॥ ३४ ॥

या रस्सी लेना चाहिए ॥ ३२ ॥

अन्वय : यस्य यशःशरीरे मीरे समुल्वणे निमज्जनत्रासवशेन नभसा गभस्तिसोमच्छलात् एतत् कुम्भयुगं गृहीतं समस्ति ।

अर्थ : जिस राजा जयकुमारके बे-रोक-टोक बढ़नेवाले यशोमय शरीररूप समुद्रमें डूब जानेके भ्रमसे ही मानो स्वयं आकाशने सूर्य और चन्द्रके व्याजसे दो कुम्भ हो धारण किये दीख रहे हैं ॥ ३३ ॥

अन्वय : हे सुदृढोपयोग तद्दिव्यगुणप्रयोगं यस्य प्रसिद्धं करणानुयोगं समेत्य अनुयोगचतुष्टये तावत् नवता बभूव ।

अर्थ : हे दृढोपयोगके धारक पाठकवर्ग, सुनिये । उस दिव्यगुणोंके धारक महाराज जयकुमारके कर्तव्यका संसर्ग पाकर प्रथमानुयोगादि चार अनुयोगोंमें नवीनता प्राप्त हो गयी है ।

विशेष : इस पद्यमें बताया है कि उस राजाकी पाँचों इन्द्रियोंका समागम

यन्नाभिजातो विधिराविभाति सदा विषादी कुसुमेष्वरातिः ।
हरेश्चरित्रं कृतकं सभीति तस्यानुकूलास्तु कुतः प्रणीतिः ॥३५॥

यदिति, यद् यस्मात्कारणाद् विधिर्ब्रह्मा, स नाभिजातोऽकुलीनः, स्तथा च नाभेरुत्पन्नः । पुराणेषु विष्णुनाभेरुत्पन्नत्वाद्, ब्रह्मणः । विलक्षणत्वेन विभाति शोभते । कुसुमेषुः कामस्तस्या रातिर्महादेवः स सदा विषादी विषादवान् । तथा च विषमत्तीति विषभक्षकः । हरेर्विष्णोश्चरित्रं कृतकं कृत्रिमं ततः सभीति भयपूर्णम्, तथा च कंसस्य भयकारकम् । अतो जयकुमारस्य अनुकूला सदृशी प्रणीतिः कुतोऽस्तु ? तस्य सर्वदोषरहितत्वात् ॥ ३५ ॥

वृद्धिंगतत्वात्पलितोज्ज्वलाद्य कीर्तिर्भुजङ्गस्य गृहं प्रसाद्य ।
हत्वाम्बरं नन्दनमेति चारमहो जरायां तु कुतो विचारः ॥३६॥

वृद्धिमिति । कीर्तिर्जयकुमारस्य यशः ख्यातिः स्त्री वृद्धावस्थां गतत्वात् पलितैः श्वेतकेशैरुज्ज्वला धवला सती अपि भुजङ्गस्य सर्पस्य गृहं पातालम्, अथवा विटस्य

पाकर चार अनुयोग नौ संख्याको प्राप्त हो गये। कारण, राजा जयकुमार ऋषभदेव भगवान्के गणधर थे। अतः उन्होंने अपने प्रयाससे प्रथमादि चार अनुयोगोंका निर्माण किया था ॥ ३४ ॥

अन्वय : यत् विधिनाभिजातः आविभाति, कुसुमेषु अरातिः सदा विषादी आविभाति, हरेः चरित्रं कृतकं सभीति आविभाति । एवम् एतेषां प्रणीतिः तस्य अनुकूला कुतः अस्तु ।

अर्थ : क्योंकि ब्रह्मा नाभिकमलसे उत्पन्न हैं और महादेव सदैव विष खानेवाले (विषादी) है, और विष्णु का चरित्र कंसके लिए भयप्रद हैं, इसलिए तीनोंकी नीति इस राजाके अनुकूल कैसे हो सकती है? कारण यह राजा नाभिजात (नीच) नहीं है, विषादी (कलह-विषाद करनेवाला) नहीं और न उसका चरित्र कृतक (कृत्रिम) या बनावटी होकर सभीति (भयशाली) ही है ॥ ३५ ॥

अन्वय : (तस्य राज्ञः) कीर्तिः च अरम् अद्य वृद्धिगतत्वात् पलितोज्ज्वला भुजङ्गस्य गृहं प्रसाद्य च पुनः अम्बरं हत्वा (अरं) नन्दनम् आप । अहो जरायां तु कुतः विचारः ?

अर्थ : कोई स्वच्छन्द औरत बूढ़ी होनेसे सफेद बालोंवाली होकर भी कामी पुरुषके घर जाती रहती है और वस्त्ररहित हो अपने पुत्र तकको

गृहं प्रसाद्य अलङ्कृत्य पुनः अम्बरं हृत्वा आकाशमुल्लङ्घ्य नन्दनं स्वर्गवनं तनयं च अरमेति, अहो इत्याश्चर्यं। अथवा जरायां वृद्धावस्थायां विचारो विवेकः कुतः स्यात्। जयकुमारस्य कीर्तिर्लोकत्रयमापेति भावः ॥ ३६ ॥

भावैकनाथो जगतां सुभासः सम्प्राप्य भानुश्रितधामतां सः।
भूरञ्जनो यस्य गुणश्च देव इवास्य चारिर्ननु भेद एव ॥३७॥

भावैकनाथ इति। भावानां प्राणिनां विभूतीनां वा, एकोऽद्वितीयश्चासौ नाथः स्वामी जगतां मध्ये लोकत्रयेऽपि सुभासः शोभनः भासः प्रभा यस्य सः। 'भासस्तु भासि गृद्धे च' इति विश्वलोचनः। भानुना सूर्येण श्रितं प्राप्तं धाम तेजस्तत्तां सूर्यतुल्यप्रतापवान्। यस्य गुणः स्वभावो भूरञ्जनो जनतायाः प्रसत्तिकरः। एवं पूर्वोक्तलक्षणलक्षितो देवो राजा जयकुमार आसीत्। अस्यारिश्चैव इव बभूव इत्यत्र ननु भेदोऽत्यन्तमन्तरमेव बभूव। अथवा भस्थाने द एव। यथा दावैकनाथः वननिवासकरः, जगतां सुदासः, दानुश्रितधामतां स संप्राप दानुभिर्दैत्यैः श्रितं धाम तत्तामिति। यस्य जनो गुणश्च दूरं बभूव ॥ ३७ ॥

आलिंगन करती है। ठीक ही है, बुढ़ापेमें मनुष्य प्रायः विचाररहित हो ही जाता है। इसी तरह राजा जयकुमारकी कीर्ति वृद्धिको प्राप्त होनेके कारण पलितके समान सफेद होती हुई नीचे नागलोकमें जाकर और ऊपर आकाश को पारकर इन्द्रके नन्दनवन तक पहुँच गयी। अर्थात् तीनों लोकोंमें फैल गयी ॥ ३६ ॥

अन्वय : देवः भावैकनाथः जगतां सुभासः सः च भानुश्रितधामतां संप्राप, यस्य गुणः च भूरञ्जनः। किन्तु अस्य देवस्य अरिः च देवः इव ननु भेदः एव।

अर्थ : राजा जयकुमार प्राणियों या विभूतियोंका धारक था। तीनों लोकोंमें शोभन कान्तिमान् था। वह सूर्यके समान तेजस्वी था। उसके गुण भी पृथ्वीमंडलको प्रसन्न करनेवाले थे। इतना ही नहीं, किन्तु उसका वैरी भी उसीके समान था, इसमें भेद है। अर्थात् 'भ'कारकी जगह 'द'कार है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

विशेष : राजा 'भावैकनाथ' था तो वैरी 'दावैकनाथ' अर्थात् वनका निवासी था। जयकुमार 'सुभास' था तो उसका वैरी 'सुदास' (अच्छा नौकर)। जयकुमार 'भानुश्रितधाम' था तो उसका वैरी 'दानुश्रितधाम' अर्थात् उनके मकानों में दानव रहने लगे थे। जयकुमारका गुण 'भूरंजन' था तो वैरीका गुण भी ऐसा था कि कुटुम्बीजन भी दूर हो गये थे ॥ ३७ ॥

नदन्ति वाजिप्रमुखाः परश्च येनात्मगोत्रं समलङ्कृतञ्च ।
धात्रीफलं केवलमश्नुवानः कौपीनवित्तोऽरिरिवेशिता नः ॥३८॥

नदन्तीति। नोऽस्माकमीशिता स्वामी चरितनायकः अरिरिव शत्रुसदृशशब्दवाच्यः । यतः कौ पृथिव्यां पीनं पुष्टिमतिशयितामापन्नं वित्तं यस्य स जयकुमारः, कौपीनं खण्डवस्त्रमेव वित्तं यस्य सः शत्रुः । केवलमात्मनि बलकरं धात्रीफलं पृथ्वीविभवमश्नुवानो भुञ्जानो जयकुमारः केवलं धात्रीफलम् आमलकीफलमेव अश्नुवानो वनस्थत्वात् शत्रुः । यस्य द्वारीति शेषः, वाजिप्रमुखा घोटकप्रभृतयो नदन्ति शब्दायन्ते । जयकुमारस्य दन्तिनो हस्तिनश्च वाजिनश्च, तत्प्रभृतयो न भवन्ति शत्रोः । येन जयकुमारेण आत्मनो गोत्रं स्वकुलं समलङ्कृतं विभूषितं, येन शत्रुणा स्वगोत्रं समलं मलिनं कृतमिति ॥ ३८ ॥

त्रिवर्गसम्पत्तिमतोऽत्र मन्तुमदक्षराणां कलनाः क्व सन्तु ।
न वेति वार्थान्निधयो भवन्तु तस्येतिवार्तास्तु लयं व्रजन्तु ॥३९॥

त्रिवर्गेति । 'कु-चु-टु' इति त्रयाणां वर्गाणां समाहारस्त्रिवर्ग तस्य सम्पत्तिमतो राज्ञो जयकुमारस्य अत्र लोके मन्तुमदक्षराणां मवर्ग-तवर्गरूपाणामक्षराणां कलनाः प्ररूपणाः क्व सन्तु इति प्रश्ने जाते सति, अर्थात् सहजतया न वेति वा नैव इत्थमेव

अन्वय : नः ईशिता अरिः इव यतः (तस्य द्वारि) वाजिप्रमुखाः नदन्ति । परं च येन आत्मगोत्रं समलङ्कृतम् । च केवलं धात्रीफलम् अश्नुवानः कौपीनवित्तः इति ।

अर्थ : हमारा चरितनायक अपने वैरीके समान ही था, क्योंकि वैरीके यहाँ हाथी, घोड़े आदि नहीं थे, किन्तु राजाके यहाँ घोड़े हरदम हिनहिनाया करते थे । वैरीने अपने गोत्रको कलंकित कर लिया था, तो राजाने अपने गोत्रको अच्छी तरह अलंकृत कर रखा था। वैरी जंगलोंमें रहनेके कारण केवल आँवलेके फल खाकर निर्वाह करता था, तो राजा पृथ्वीके फलको भोगता था। वैरीका कौपीनमात्र वित्त था तो राजा पृथ्वीभरमें अधिक से अधिक धनवाला था । श्लेषसे दोनों अर्थ निकल आते हैं ॥ ३८ ॥

अन्वय : तस्य त्रिवर्गसंपत्तिमतः मन्तुमदक्षराणां कलनाः क्व सन्तु, अर्थात् वा नव-निधयः भवन्तु तस्य ईतिवार्ताः तु लयं व्रजन्तु ।

अर्थ : वह राजा त्रिवर्ग-सम्पत्तिवाला था, इसलिए उसके यहाँ मन्तुमत् अक्षरों अर्थात् अपराधकारी शब्दोंकी संभावना कैसे हो सकती है ? उसके यहा नौ निधियाँ थीं और अतिवृष्टि आदि ईतियों (उपद्रवों) की बात ही नही थी ।

निषय उत्तराणि भवन्तु । तस्माच्च तस्य राज्ञ इतिवार्ताः परिपूर्णतायाः कथा लय-मभावं व्रजन्तु आश्रयन्तु । तु पुनर्युक्तमेवेति । तथा च त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामत्रिवर्गस्य सम्पत्तिसम्पादनं तद्वतस्तस्याग्रे मन्तुरपराधः, 'मन्तुः स्यादपराधेऽपि मानवे परमेष्ठिनि' इति विश्वलोचनः । मन्तुमन्ति अपराधकारीणि अक्षराणीन्द्रियाणि लान्तीति मन्तुमदक्षर-लास्तेषां मन्तुमदक्षलानां पापिनामिति कलनाः प्रवृत्तयः क्व सन्तु न कुतोऽपीति। अर्थात् इत्यस्मात् पूर्वोक्तकारणादेव नवेति नवप्रकारा निधयो द्रव्यकोशा भवन्तु सन्त्वेव । तस्य ईदृशस्य राज्ञो राज्ये ईतीनां चौरचरटादिकृतानां भीतानां वार्तास्तु पुनराख्यायिका अपि पुनर्लयं व्रजन्तु नाशं यान्तु । ईतिसत्ता तु पुनरतिदूरवर्तिनीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

स धीवरो वा वृषलोमतश्च रतः परस्योपकृतावतश्च ।
तदङ्गजाप्यन्वयनीत्यधीना शक्तिः प्रतीपे व्यभिचारलीना ॥४०॥

स इति। स राजा वृषलोमतः पृथुलोमतो मीनादितः कृत्वा धीवरो दाशो बभूव । अथवा वृषलश्चाण्डाल इति मतः सम्मतः, तस्मात् । परस्य इतरस्य उपकृतौ नाम स्त्रियां रतोऽनुरागवान् । तथा न ज्ञानवान्, किलेति विरुद्धतार्थस्य । ततो धीवरो बुद्धिमान्, वृषं लातीति वृषलो धर्माचरणतत्परश्च मतः । इत्यस्मादेव परस्य उपकारे तत्पर इत्यनुकूलोऽर्थः । तदङ्गजा तच्छरीरसंभवा शक्तिः पराक्रमपरिणतिः, तत्तनया नाम शक्तिर्वा अन्वयनीत्यधीना कुलानुकूलाचरणकर्त्री भवन्ती प्रतीपे वैरिणि व्यभिचारो

इसका दूसरा अर्थ इस तरह से भी है : वह राजा केवल क-च-ट इन तीन वर्गोंको ही जानता था, अतः त से लेकर म तकके अक्षरोंका उसके पास सद्भाव कैसे हो सकता था ? फलतः उसके यहाँ निधियाँ भी नहीं थीं, क्योंकि तवर्ग हो तो निधियाँ हों। इसलिए उसके अक्षराभ्यासकी कभी इतिश्री भी नहीं हो पाती थी।

विशेष : यहां निंदा-स्तुत्यात्मक व्याजस्तुति अलंकार है। मूल अर्थमें प्रशंसा और दूसरे अर्थमें निन्दा है ॥ ३९ ॥

अन्वय : सः धीवरः वा वृषलः मतः, परस्य उपकृतौ रतः ।अ तः तदङ्गजा शक्तिः अपि अन्वयनी इति अधीना प्रतीपे व्यभिचारलीना ।

अर्थ : वह धीवर (मछली पकड़नेवाला) था, अतः वृषल (शूद्र) था। वह दूसरेकी जो उपकृति (स्त्री) में रत हो रहा था, इसलिए उसकी लड़की शक्ति भी अपनी कुल-परम्पराके अनुसार वैरीके साथ व्यभिचार (भ्रष्टाचार) करनेमें लीन हो रही थी, यह एक अर्थ हुआ जो निन्दापरक है।

किन्तु इसका मूलार्थ प्रशंसापरक है, जो इस प्रकार है : वह राजा बुद्धिमान्

दुःशीलाचरणं तल्लीना, इत्यवज्ञायकत्वाद्विरुद्धार्थता, ततो व्यभिचारो मारणकर्म तल्लीनाऽभूदिति ॥ ४० ॥

अनङ्गरम्योऽपि सदङ्गभावादभूत् समुद्रोऽप्यजडस्वभावात् ।
न गोत्रभित्किन्तु सदा पवित्रः स्वचेष्टितेनेत्थमसौ विचित्रः ॥४१॥

अनङ्गरम्य इति । स राजा सदङ्गभावात् प्रशस्तशरीरसद्भावादपि अनङ्गरम्यः अङ्गेन शरीरेण रम्यो मनोहरो न बभूवेति विरोधः ; किन्तु अनङ्गः कामदेव इव रम्यो मनोहरोऽभूदिति । अजलस्वभावात् नीरप्रकृतिविकलत्वादपि समुद्रो जलधिरिति विरोधः । अजडस्वभावात् अमूर्खत्वाद्विज्ञत्वादिति, डलयोरभेदात् । समुद्रो मुद्राभी रूप्यकादिभिः सहितोऽभूदिति । न गोत्रभिद्, पर्वतभेदी न भवन्नपि सदा पवित्रो वज्रधारी इन्द्रो बभूवेति विरोधः । ततो गोत्रभिद् वंशभेदकरो न भवन् सदा पवित्रः सदाचारो बभूवेति परिहारः । इत्थमुक्तप्रकारेण असौ राजा स्वचेष्टितेन आत्माचरणेन विचित्रश्चमत्कारकारको बभूव ॥ ४१ ॥

महाविकाशस्थितिमद्विधानः सदानवारित्वमहो दधानः ।
सुरभ्यसाधारणशक्तितानः शत्रुश्च शश्वत्कृतिनः समानः ॥४२॥

था, इसलिए धर्मको धारण किये हुए था। वह सदैव परोपकारमें तत्पर था, इसीलिए उसके अंगसे उत्पन्न शक्ति भी समन्वय-नीतिसे सम्पन्न हो प्रजाके कण्टकस्वरूप वैरियोंके प्रति व्यभिचारित थी, अर्थात् उन्हें नष्ट कर देनेवाली थी ॥ ४० ॥

अन्वय : यतः सदङ्गभावात् अपि अनङ्गरम्यः, अजडस्वभावात् अपि समुद्रः, न गोत्रभित् किन्तु सदा पवित्रः (आसीत्)। इत्थम् असौ स्वचेष्टितेन विचित्रः (बभूव)।

अर्थ : वह राजा उत्तम अंगोंवाला होनेसे अनंग (कामदेव) के समान सुन्दर था। जड़स्वभाव (मंदबुद्धि) न होनेसे मुद्राओंसे भी युक्त था। वह अपने गोत्र (कुल) को मलिन करनेवाला नहीं, किन्तु सदा पवित्र उज्ज्वल चरित्रवाला था। इस प्रकार वह अपनी चेष्टाओं से विचित्र प्रकारका था।

विशेष : इस श्लोकमें विरोधाभास है, क्योंकि जो अच्छे अंगोंवाला होता है वह अनंगरम्य अर्थात् अंगकी रमणीयतासे रहित नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो अजल-स्वभाव हो, वह समुद्र नहीं हो सकता जो पर्वतका तोड़नेवाला न हो वह पवित्र (वज्रधारी) नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥

महाविकाशेति । कृतिनो बुद्धिमतो राज्ञः शत्रुश्च शश्वत् सततमेव समानस्तुल्यधर्मा बभूव, यतो महाविकासस्य परमोत्कर्षस्य स्थितिमत् सत्तावद् विधानं विधियंस्य सः । पक्षे महान्तश्च तेऽवयोऽजातनयाश्च काशाश्चे तेषां स्थितिमद्विधानं यस्य सः । दानस्य त्यागस्य वारिणा जलेन सहितः सदानवारिस्तत्त्वम्, अभ्यागतेभ्योऽतिथिभ्यो दानार्थं सङ्कल्पकारिजलयुक्तत्वं दधानः । पक्षे सदा सर्वदैव नवारित्वं नित्यनूतनशत्रुत्वं दधानः । सुरभिः शोभमाना असाधारणा अनन्यभवा शक्तिः सामर्थ्यं तत्तानो राजा । पक्षे सुलभ्या सुगमा, अत एव साधारणा शक्तिस्तत्तानः, स्वल्पशक्तियुक्त इत्यहो आश्चर्यम् ॥ ४२ ॥

युगादिभर्तुः सदसः सदस्य इत्यस्मदानन्दगिरां समस्यः ।
हंसः स्ववंशोरुसरोवरस्य श्रीमानभूच्छ्रीसुहृदां वयस्यः ॥४३॥

युगादिभर्तुरिति । युगादिभर्तुः श्रीऋषभनाथतीर्थङ्करस्य सदसः सभायाः सदस्यः । स्ववंशः कुलमेव ऊरुसरोवरो बृहत्तडागस्तस्य हंसः, शोभाकारकत्वात् । श्रीसुहृदां सज्जनानां वयस्यः सखा । इत्यस्मादेव कारणात् स श्रीमान् अस्मदानन्दगिरामस्माकं प्रसन्नवाचां सदस्यो विषयो बभूव ॥ ४३ ॥

अन्वय : अहो कृतिनः शत्रुः च शश्वत् समानः, यतः (सः) महाविकाशस्थितिमद्विधानः सदानवारित्वं दधानः सुरम्यसाधारणशक्तितानः (अस्ति:) ।

अर्थ : आश्चर्य है कि जयकुमारका तो सारा विधान विपुल विकाशवाली स्थितिसे युक्त था । वह हाथमें दानार्थ संकल्पका जल रखता था अर्थात् निरन्तर दान देता था और देवताओंको भयभीत कर देनेवाली असाधारण शक्ति भी धारण किये हुए था । किन्तु उसका शत्रु भी निरन्तर उसीके समान था, क्योंकि वह भी जहाँ बहुतसे भेंड़े और काश आदि होते हैं उस वनमें रहता था । सदैव नये-नये वैरी बनाता था, और वह सुलभ साधारण-सी शक्तिवाला था ॥ ४२ ॥

अन्वय : श्रीमान् युगादिभर्तुः सदसः सदस्यः स्ववंशोरुसरोवरस्य हंसः श्रीसुहृदां वयस्यः अभूत् इति अस्मदानन्दगिरां समस्यः ।

अर्थः वह श्रीमान् जयकुमार भगवान् ऋषभदेवकी सभाका एक प्रसिद्ध सदस्य और सहृदय लोगोंका वयस्य (सखा) एवं अपने वंशरूपी विशाल सरोवरका हंस था । इसलिए हमारी प्रसन्न वाणीका विषय है ॥ ४३ ॥

स वैनतेयः पुरुषोत्तमोऽतिसक्तो नभोगाधिपतिर्न चेति ।
श्रीवीरतामप्यभजद्यथावद्विपत्रभावं जगतोऽनुधावन् ॥ ४४ ॥

स वैनतेय इति । स राजा पुरुषोत्तमे कृष्णेऽतिसक्तो वैनतेयो गरुडः सन्नपि नभोगाधिपतिः पक्षिणां राजा न बभूवेति विरोधः, स च नते नमनशीले पुरुषोत्तमे सज्जनेऽनुरक्तः सन् वै निश्चयेन भोगाधिपतिर्न बभूवेति न, अपि तु भोगसम्पत्तियुक्त एवाभूदिति परिहारः । श्रीविः श्रेष्ठपक्षी लतामप्यभजत् । यथावत् सम्यक्प्रकारेण, तथा जगतो विपत्रभावं पत्ररहितत्वञ्च अनुधावन्, अनुसरन्नपि स इति विरोधः । जगतो विपत्रभावं विपत्परिहारकत्वं दधानः सन् यथावद्वीरतां शक्तिशालितामभजदिति परिहारः ॥ ४४ ॥

कुरक्षणे स्मोद्यतते मुदा सः सुरक्षणेभ्यः सुतरामुदासः ।
बबन्ध माममुष्यपदं रुषेव कीर्तिः प्रियाऽवाप दिगन्तमेव ॥ ४५ ॥

कुरक्षण इति । स सुरक्षणेभ्यः प्रशस्तलक्षणेभ्यः सुतरामुदासः,कुरक्षणे दुर्व्यसनादौ मुदा प्रसन्नतया उद्यतते स्मेति गर्हा । सुराणां देवानां क्षणा उत्सवाः, अथवा क्षणशब्दस्य कालवाचित्वात् सुराणां क्षणा जन्मानि तेभ्योऽप्युदासः सन्, कोः पृथिव्या रक्षणे, उद्यतते स्मेति प्रशंसा । अमुष्य मा जननी रुषेव शिक्षार्थं पदं चरणं बबन्ध निरुद्धवती,

---

अन्वय : स वै नते पुरुषोत्तमे अतिसक्तः यः न भोगाधिपतिः च न, इति जगतः विपत्रभावं अनुधावन् यथावत् श्रीवीरताम् अपि अभजत् ।

अर्थ : वह राजा विनम्र पुरुषोंके प्रति निश्चय ही अत्यन्त प्रेम रखता था और भोगोंका अधिपति नहीं था, ऐसा नहीं अर्थात् भोगाधिपति था। वह जगत्के लोगोंको विपत्तिसे बचाता था, अतः अद्‌भुत वीरताका धारक था ।

इसका दूसरा अर्थ गरुडकी ओर लगता है : वह वैनतेय (गरुड़) था, अतः पुरुषोत्तम अर्थात् नारायणमें आसक्त था, फिर भी पक्षी नहीं था। वह उत्तम पक्षी था, अतएव लताको आश्रय किये हुए था, फिर भी पत्रोंसे दूरवर्ती था। इसमें इस तरह शब्दगत विरोध प्रतीत होता है ॥ ४४ ॥

अन्वय : सः सुरक्षणेभ्यः सुतरां उदासः, कुरक्षणे मुदा उद्यतते स्म । अतः रुषा इव मा अमुष्य पदं बबन्ध । प्रिया कीर्तिः दिगन्तम् एव अवाप ।

अर्थ : वह राजा शुभ-लक्षणोंसे तो दूर था और बुरे स्वभावमें प्रसन्नतापूर्वक लग रहा था, इसीलिए रोषके कारण ही मानो उसकी माँने उसके पैर बाँध दिये और उसकी कीर्तिनामकी अर्धांगिनी रुष्ट होकर दिगन्तमें चली गयी । यह तो निन्दापरक अर्थ है, किन्तु स्तुतिपरक मूलार्थ इस प्रकार है :

प्रिया कीर्तिः स्त्रीः दिगन्तमवाप प्राप्ता इत्यवज्ञा। मा लक्ष्मीरमुष्य पदं प्रतिष्ठां बबन्ध कृतवती, प्रिया शोभना कीर्तिश्च दिगन्तव्यापिनी बभूवेति स्तुतिः ॥ ४५ ॥

इहाङ्गसम्भावितसौष्ठवस्य श्रीवामरूपस्य वपुश्च यस्य।
अनङ्गतामेव गता समस्तु तनुः स्मरस्यापि हि पश्यतस्तु ॥४६॥

इहेति। इह लोकेऽङ्गे शरीरे सम्भावितमापादितं सौष्ठवं सौन्दर्यं यस्य तस्य। श्रिया शोभया वामं मनोहरं रूपं यस्य तस्य। अथवा महादेवरूपस्य यस्य जयस्य वपुः शरीरं पश्यतः साक्षात्कुर्वतः स्मरस्य कामदेवस्य तनुरनङ्गतामेव गता समस्तु, हीति निश्चये। महादेवाग्रे कामो भस्मीभावं गतवानीति लोके ख्यातिः। अस्यापि लोकोत्तर-सौन्दर्यस्याग्रे कामो विरूप इति भावः ॥ ४६ ॥

घृणाङ्घ्रिणाधारि सुधारिणश्चाङ्गजेन पद्मे जडजेऽपि पश्चात्।
एतच्छयच्छायलवोऽप्यहेतुर्निरुच्यते सम्प्रति पल्लवे तु ॥४७॥

घृणेति। शोभना धारा शासनप्रणाली तद्वतः, तथा सुधायाः अली भ्रमरः सुधाली तस्य सुधालिनः, रलयोरभेदात्। तस्य राज्ञोऽङ्गजेन शरीरसम्भवेन अङ्घ्रिणा चरणेन च पदोश्चरणयोर्मा श्रीर्विद्यते तस्य तस्मिन् पद्मे कमले जडजे जडसम्भवे वारिजाते वा, मूर्खस्य पुत्रे वा घृणा ग्लानिरधारि धृता। बुद्धिमतो बालो मूर्खस्य बालके घृणावानेव

वह राजा [देवताओंद्वारा मनाये जानेवाले उत्सवोंसे भी उदास रहकर पृथ्वीके संरक्षणमें उद्यत रहता था। इसलिए लक्ष्मी तो उसके पैरोंको चूमती थी और उसकी प्रिय कीर्ति संसारमें दिगन्तव्यापिनी हो गयी ॥ ४५ ॥

अन्वय : इह अङ्गसम्भावितसौष्ठवस्य यस्य श्रीवामरूपस्य वपुः च पश्यतः तु स्मरस्य अपि हि तनुः अनङ्गताम् एव गता समस्तु।

अर्थ : इस भूतलपर उस राजाके शरीरमें अद्भुत सुन्दरता थी। अतः उसका रूप-सौन्दर्य अपूर्व था। उसके शरीरको देखते हुए ही कामदेवका शरीर भी अनङ्ग हो गया अर्थात् उसके सामने तुच्छ प्रतीत होने लगा ॥ ४६ ॥

अन्वय : सुधारिणः अङ्गजेन अङ्घ्रिणा जडजे पद्मे अपि घृणा अधारि, पश्चात् एतच्छयच्छायलवः अपि संप्रति पल्लवे निरुच्यते सः अहेतुः।

अर्थ : शोभन शासन-प्रणाली चलानेवाले राजा जयकुमारके अंगज पैरोंने जडज (जलज) पद्मके प्रति भी घृणा उत्पन्न कर दी थी। अर्थात् पैरोंके समान शोभावाला, इस उपमाका धारक कमल भी उसके पैरोंको

स्यात्, तथा सुधास्वादकस्य पुत्रो जलावुत्पन्नस्य पुत्रे घृणावानेव स्यात् । अपि प्रकारान्तरे । पश्चात् पुनः सम्प्रत्यश्च पल्लवे तु पत्रे तु पदो लवः पल्लवश्चरणांश इति ख्याते । एतस्य राज्ञः शयो हस्तस्तस्य लवो लेशश्च अहेतुर्निष्कारणक एव निरुच्यते कथ्यते ॥ ४७ ॥

वर्णेषु पञ्चत्वमपश्यतस्तु कुतः कदाचिच्चपलत्वमस्तु ।
सज्जङ्घभावं भजतो नगत्वं जगौ परोऽमुष्य पुनस्तु सत्त्वम् ॥४८॥

वर्णेष्विति । वर्णेषु ककारादिषु ब्राह्मणादिषु ज्ञातिषु वा पञ्चत्वं पञ्चमभावमपश्यतोऽवीक्षमाणस्य तस्य राज्ञः कदाचिदपि चपलत्वं चकारपरत्वं वर्णमालाक्रमेण चकारस्य षष्ठत्वात्, चपलत्वं चाञ्चल्यं वा कुतः कारणादस्तु न कुतोऽपीत्यर्थः । अमुष्य राज्ञः पुनः परः शत्रुजनस्तु सज्जं तल्लीनतायुतं घभावं घकारं भजतः पठतः, तथा सती समीचीना चासौ जङ्घा च तस्या भावं भजतो धारयतः सुदृढजङ्घावत इत्यर्थः । नगत्वं गकाराभावत्वम् अथवा नगत्वं पर्वतत्वमेव सत्त्वं जगौ । गकारपठनानन्तरमेव घकारस्य पाठात् तस्य नगत्वं वदतः शत्रुत्वं युक्तमेव ॥ ४८ ॥

वक्षो यदक्षोभगुणैकबन्धोः पद्मार्थसद्मास्तु सुपुण्यसिन्धोः ।
आसीत्तदाराममललाममञ्चमहो तदन्तःस्फुरदम्बुजं च ॥४९॥

बराबरी नहीं कर सकता था । फिर उस जयकुमारके हाथोंकी शोभाका एक अंश पैरोंकी शोभाके अंशवाले पल्लवमें जो बताया जाता है, वह तो सर्वथा निरर्थक है ॥ ४७ ॥

अन्वय : वर्णेषु पञ्चत्वम् अपश्यतः तु पुनः चपलत्वं कदाचित् कुतः अस्तु । अमुष्य सज्जं घभावम् भजतः तुः पुनः परः सत्त्वं नगत्वं जगौ ।

अर्थ : जो जयकुमार ब्राह्मणादि वर्णोंका अभाव कभी नहीं देख सकता था, उसमें कभी भी चपलता कहाँसे आ सकती थी ? सुदृढ़ जंघाओंके धारक उस जयकुमारको उसका वैरी पर्वतके समान अभेद्य मानता था ।

दूसरा अर्थ : जिस जयकुमारकी दृष्टिमें चार ही वर्ण थे, पाँचवाँ वर्ण नहीं था, वह चकारमें तत्पर हो ही कैसे सकता है ? क्योंकि वह तो घकारको ही रटनेवाला था । इसलिए वैरी लोग उसे नकारकी जानकारीमें उत्सुक कहते थे ॥ ४८ ॥

अन्वय : यत् सुपुण्यसिन्धोः अक्षोभगुणैकबन्धोः वक्षः तत् पद्मार्थसद्म आसीत्, तदन्तःस्फुरदम्बुजं च तदाराममललाममञ्चम् आसीत् अहो ।

वक्ष इति । अक्षोभोऽनुद्विग्नत्वमेव गुणस्तस्यैकोऽद्वितीयो बन्धुस्तस्य कथमप्यनुद्विजतः अत एव सुपुण्यसिन्धोः सदाचारसमुद्रस्य वक्ष उरःस्थलं तस्य पद्मार्थं लक्ष्म्यै सद्म स्थानमस्तु । लक्ष्मीः समुद्रसम्भवा ख्याता, तत्र निवसतीति वा ख्यातिः । स च पुण्यसिन्धुस्तस्मात् लक्ष्मीनिवासार्थं वक्षोरूपस्थानं तत्र च तस्या आरामः शर्मतया ललाम मनोहरं मञ्चं पर्यङ्कश्च स्यात्, तत्तु तदन्तो हृदयान्तर्गतं स्फुरच्छोभनं यदम्बुजं हृदयकमलं तदेवेति ॥ ४९ ॥

स्वर्गात् सुरद्रोः सलिलान्नलस्य लताप्रतानस्य भुवोऽपकृष्य ।
सारं किलालङ्कृत एष हस्तो रेखात्रयेणेत्यथवा प्रशस्तः ॥५०॥

स्वर्गादिति । स्वर्गाद्दिवः सुरद्रोः कल्पद्रुमस्य, सलिलात् पातालसम्भवात् जलान्नलस्य कमलस्य, भुवः पृथ्वीतलात् लतानां प्रतानं विस्तरः पल्लवरूपस्तस्येति त्रितयस्य सारं श्रेष्ठभागमपकृष्य गृहीत्वा, किल उत्प्रेक्षायाम् । एष हस्तोऽलङ्कृतः । अथवा अरं शीघ्रं कृतः, र-लयोरभेदात् । इत्यस्माद्धेतो रेखात्रयेण प्रशस्तः स्तुतो भवति स्म ॥ ५० ॥

यतश्च पद्मोदयसंविधानः सदा सुलेखान्वयसेव्यमानः ।
श्रीपञ्चशाखः सुमनःसमूहेश्वरस्य कल्पद्रुरिवास्मदूहे ॥५१॥

यत इति । अस्मदूहेऽस्माकं विचारे सुमनसां सज्जनानां देवानाञ्च समूहस्तस्येश्वरः

अर्थ : कभी भी क्षुब्ध न होनेवाले और उत्तम पुण्यके समुद्र जयकुमारका वक्षःस्थल तो पद्मा (लक्ष्मी) के लिए बनाया निवासस्थान था । उसके मध्य स्फुरित होता हुआ हृदयरूपी कमल उस लक्ष्मीके विश्राम करनेका सुन्दर मंच ही था ।। ४९ ।।

अन्वय : स्वर्गात् सुरद्रोः सलिलात् नलस्य अथवा भुवो लताप्रतानस्य सारं किल अपकृष्य एष हस्तः अलङ्कृतः इति हस्तः रेखात्रयेण प्रशस्तः ।

अर्थ : स्वर्गसे तो कल्पवृक्षका सार, जलसे कमलका सार और पृथ्वीसे फूलोंका सार ग्रहण करके ही इस राजाका हाथ बनाया गया है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिए ही उस राजाके हाथमें तीन प्रसिद्ध रेखाएँ थीं ।। ५० ।।

अन्वय : सुमनःसमूहेश्वरस्य श्रीपञ्चशाखः इह अस्मदूहे कल्पद्रुः, यतः सः पद्मोदयसंविधानः सदा सुलेखान्वयसेव्यमानः अस्ति ।

अर्थ : सज्जनोंके अधिपति उस राजाका जो पाँच अँगुलियोंवाला हाथ था

स्वामी तस्य, पञ्चशाखा अङ्गुलयो यस्य स हस्तः, स च श्रीपूर्वकत्वादतीव शोभनः करः कल्पद्रुरिव कल्पवृक्षतुल्यो जातः । यतः सदा सर्वदा पद्मायाः लक्ष्म्या उदयः संप्राप्तिस्तस्य संविधानं यत्र सः करः कल्पवृक्षश्च । शोभना लेखाः सुलेखा आयुष्कर्यो रेखाः, पक्षे प्रशंसनीया देवाः तासां तेषां वाऽन्वय आनुकूल्यं तेन सेव्यमानः । शाखाश्च कल्पद्रुमपक्षे प्रसिद्धा एवेति ॥ ५१ ॥

भोगीन्द्रदीर्घाऽपि भुजाभिजातिररिश्रियामेव रुजां प्रजातिः ।
या तिर्यगुक्तार्गलतातिरस्तु वक्षः श्रियोऽमुष्य च वास्तु वस्तुम् ॥५२॥

भोगीन्द्रेति । अमुष्य राज्ञो वक्ष उरःस्थलं श्रियो वस्तुं वास्तु निवासस्थानम्, भुजाभिजातिश्च प्रशंसनीया बाहुप्रकृतिश्च भोगीन्द्रः शेषनागः स एव दीर्घा प्रलम्बमाना या चारिश्रियां शत्रुसम्पत्तीनां मध्ये रुजां प्रजातिः पीडाकरी सा तिर्यगुक्ता तिरःप्रसारिताः अर्गलतातिः निगडपङ्क्तिरस्तु ॥ ५२ ॥

मुदाऽमुकस्येक्षणलक्षणाय नीलोत्पलं सैष विधिर्विधाय ।
रजांसि चिक्षेप निधाय पङ्केऽप्यतुल्यमूल्यं पुनराशु शङ्के ॥५३॥

मुदेति । विधिर्विधाता, अमुकस्य राज्ञ ईक्षणयोर्नेत्रयोः लक्षणं चिह्नं तस्मै नीलो-

---

वह हमारे विचारसे इस धरातलपर अवतरित कल्पवृक्ष ही था। कारण वह कमलके सौभाग्यका विधान करनेवाला और उत्तम रेखाओंसे युक्त था। कल्पवृक्ष भी कमलाके उदयको स्पष्ट करनेवाला और देवताओंके समूहसे सेव्यमान होता है ॥ ५१ ॥

अन्वय : अमुष्य वक्षः श्रियः वस्तुं वास्तु, भुजा च या तिर्यगुक्ता अर्गलतातिः अस्तु, या (भुजा) अभिजातिः भोगीन्द्रदीर्घा अरिश्रियाम् एव रुजां प्रजातिः ।

अर्थ : उस राजाका जो वक्षःस्थल था, वह श्रीके रहनेका स्थान था। उसकी जो भुजाएँ थीं, वे इधर-उधर लटकती अर्गलाओंके समान थीं। वे सुन्दर एवं शेषनागके समान दीर्घ थीं, जो शत्रुओंकी सम्पत्तियोंके लिए बाधा उत्पन्न करती थीं ॥ ५२ ॥

अन्वय : सैष विधिः अमुकस्य ईक्षणलक्षणाय मुदा नीलोत्पलं विधाय पुनः आशु अतुल्यमूल्यं (मत्वा) तत् पङ्के निधाय रजांसि चिक्षेप इति अहं शङ्के ।

अर्थ : लोकप्रिय विधाताने उस राजा जयकुमारके चक्षुओंको लक्ष्यकर प्रसन्नतापूर्वक नीलोत्पलका निर्माण किया। किन्तु फिर उस नीलोत्पलको

त्पलं नीलकमलं विधाय, तदप्यतुल्यमसमानं मूल्यं यस्य तदिति, मत्वेति शेषः, तदाशु पङ्के कर्दमे निधाय निक्षिप्य तस्मिन् रजांसि परागरूपाः धूलीश्चिक्षेपेति शङ्के, इति उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५३ ॥

तपस्यताऽब्जेन पयस्यनूनममुष्य नाप्ता मुखताऽपि यूनः ।
किमन्त्यजस्यादिमवर्णतासौ मौनं तु यस्य द्विजराजराशौ ॥५४॥

तपस्यतेति । पयसि जले अनूनमनल्पं यथा स्यात्तथा तपस्यता, अब्जेन कमलेन, अमुष्य यूनो जयकुमारस्य मुखता मुखरूपता न लेभे । तदेव समर्थयति—अन्ते भवतीत्यन्त्यो जकारो यस्य अब्जस्य, तस्यादौ प्रारम्भे मवर्णो यस्य तस्य भाव आदिमवर्णता किं स्यात् न स्यात् मुखभाव इत्यर्थः । अथवा अन्त्यजस्य चाण्डालस्य अब्जस्य आदिमवर्णता ब्राह्मणवर्णता किमिव स्यात् ? यस्य द्विजराजस्य चन्द्रस्य राशौ रात्रौ मौनं मुद्रणम् । यद्वा, द्विजानां द्विजन्मनां राजराशौ प्रधानसमूहे मौनं मूकभावः, नु वितर्के ॥ ५४ ॥

भालेन सार्धं लसता सदास्यमेतस्य तस्यैव समेत्य दास्यम् ।
सिन्धोः शिशुः पश्यतु पूर्णिमास्यं चन्द्रोऽधिगन्तुं मुहुरेव भाष्यम् ॥५५॥

भालेनेति । एतस्य जयकुमारस्य आस्यं मुखं भां लाति गृह्णाति तेन भास्वरेण, अत एव लसता शोभमानेन ललाटाख्येन सार्धं समन्वितम् । यद्वा अर्धेन खण्डेन सहितं सार्धं

इसकी आँखोंके समान न मानकर उसे कीचड़में पटक दिया और उसपर धूलकी मुट्ठी डाल दी, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५३ ॥

अन्वय : पयसि अनूनं तपस्यता अब्जेन अपि अमुष्य यूनः मुखता न आप्ता । अन्त्यजस्य आदिमवर्णता असौ किम् स्यात्, यस्य नु द्विजराजराशौ मौनम् ।

अर्थ : जलमें रहकर निरन्तर तपस्या करते हुए भी अब्ज (कमल) उस युवक राजा जयकुमारकी मुखरूपताको नहीं पा सका, सो ठीक ही है । कारण जिसके अन्तमें 'ज' कार है, ऐसे अन्त्यजको आदिम-वर्णता अर्थात् प्रारम्भिक 'म' कारतारूप ब्राह्मण-वर्णता कैसे प्राप्त हो सकती है जिस अन्त्यज अब्जके लिए द्विजराजकी राशिमें अर्थात् संस्कार जन्मवाले लोगोंके समूहरूप चन्द्रमंडलके समय मौन बताया गया है ॥ ५४ ॥

अन्वय : लसता भालेन सार्धम् एतस्य आस्यं सत्, सिन्धोः शिशुः एष चन्द्रः भाष्यम् अधिगन्तु तस्य एव दास्यं समेत्य पूर्णिमास्यं पश्यतु ।

अर्थ : चमकनेवाले ललाटके साथ इस राजाका मुख डेढ चन्द्रमाके समान

द्व्यर्धकं भवत् सत् श्लाघ्यम् । अत एव सिन्धोः शिशुः समुद्रपुत्रश्चन्द्रो भाष्यं प्रभामण्डलम्, यद्वा व्याख्यानं भाषणकर्म च अधि न्तुमध्येतुं लब्धुं वा, चन्द्रस्य मूकत्वात् मुखस्य सम्भाषणपटुत्वादित्याशयः । तस्यैव जयकुमारमुखस्य दास्यं शिष्यभावं समेत्य अङ्गीकृत्य मुहुर्वारं वारं पूर्णिमास्यमासान्तं पश्यतु । द्वितीयाचन्द्रोऽष्टमीचन्द्रो वा पूर्णिमाचन्द्रोपरि लङ्घित्वा सम्भाषणशक्तिमपि अधिगच्छेत्तदा तदास्य तुल्यता भवेदित्यभिप्रायः ॥ ५५ ॥

पदाग्रमाप्त्वा नखलत्वधारी भवन्विधुः साधुदशाधिकारी ।
ततस्तदप्राक्सुकृतैकजातिः सपद्मरागप्रवरः स्म भाति ॥ ५६ ॥

पदाग्रमिति । ततस्तस्माद् राज्ञः पदयोश्चरणयोः अग्रं प्रान्तभागमाप्त्वा नखलत्वधारी, अशठतावान् । तथा च नखरत्वधारी नखभावधारकः, रलयोरभेदात् । ततः साधवः समीचीना दशाधिकाराः प्रकरणानि तद्वान् । यद्वा, साधोः सज्जनस्य दशा अवस्थास्तस्या अधिकारी । ततः तस्मादेव न प्राग्भवन्निति अप्राक् च तत्सुकृतं पुण्यञ्च तस्यैका जातिर्यस्य स एतादृशो भवन्, स चन्द्रमाः पद्मरागोऽरुणमणिः स इव प्रवरो बलवान् कान्तिमानिति यावत् । यद्वा, पद्मेषु रागः प्रीतिर्यस्य स पद्मरागस्तस्मिन् प्रवरश्चतुरो भाति स्म ॥ ५६ ॥

आदर्शमङ्गुष्ठनखं च नृपस्य प्रपश्य गत्वा पदमुत्तमस्य ।
मुखं बभारानुसुखं च भूमावशेषभूमानवमानभूमा ॥ ५७ ॥

था । वह बड़ा सुन्दर था । अतः समुद्रका पुत्र यह चन्द्रमा आह्लादनीय प्रभाके भाष्यका अध्ययन करनेके लिए इस राजाके मुँहका शिष्य बनकर बार-बार पूर्णिमाको प्राप्त हो, अर्थात् जयकुमारका मुख 'डेढ़' चन्द्रमाके समान था । उसकी समानता पानेके लिए चन्द्रमा यद्यपि बार-बार पूर्णिमातक पहुँचता था, फिर भी उसकी दासता स्वीकार न करनेके कारण 'एक' चन्द्रमा ही रहकर उसके समान प्रभा न पा सका ॥ ५५ ॥

अन्वय : विधुः (यस्य) पदाग्रम् आप्त्वा नखलत्वधारी साधुदशाधिकारी भवन् ततः तदप्राक्सुकृतैकजातिः सः पद्मरागप्रवरः भाति स्म ।

अर्थ : चन्द्रमा उस राजाके चरणोंके अग्रभागको प्राप्तकर खलतारहित या नाखूनपनेको प्राप्त होता हुआ सुन्दर दश रूपताको प्राप्त करके सज्जन बन गया । इसलिए वह उस समय अपूर्व पुण्यका भागी बनकर पद्मरागमणिकी प्रभा-से युक्त हो सुशोभित होने लगा ॥ ५६ ॥

अन्वय : भूमौ अशेषभूमानवमानभूमा उत्तमस्य नृपस्य पदं गत्वा अङ्गुष्ठनखम् आदर्शं प्रपश्य अनुसुखं मुखं बभार ।

आदर्शमिति । अशेषा चासौ भूः पृथिवी तस्या मानवा नरास्तेषां मानः प्रतिष्ठा तद्भूः तत्र भवा या मा लक्ष्मीः सा सम्पूर्णपृथिवीतलगतमनुष्याणां मान्यतासम्भवा लक्ष्मीः प्रकरणगतस्य उत्तमस्य प्रशंसनीयस्य नृपस्य पदं चरणं गत्वा चरणारविन्दं नत्वेत्यर्थः । अङ्गुष्ठस्य नखमेव आदर्शं दर्पणं प्रपश्य दृष्ट्वा । तथा च आदर्शम् अनुसरणस्थानं प्रपश्य मत्वाऽनुसुखं यथासुखं बभार धृतवती । दर्पणं दृष्ट्वा प्रसन्नमुखत्वं दधतीति स्त्रीजातिः । तथा पुनः सर्वेषां मनुष्याणां प्रतिष्ठाऽस्य पदाङ्गुष्ठदर्शनादेवेति भावः । अशेषभूमानवानां मानभुवो राजानस्तेषां मा सर्वेषामपि राज्ञां प्रतिष्ठेति वा ॥ ५७ ॥

सद्माप पद्मा हृदि नाभिकापि तन्मङ्गलाप्लावनलापि वापी ।
विहारशर्मोपवनं तु दूर्वाः पर्यन्ततो लोममिषाददुर्वा ॥ ५८ ॥

सद्मेति । पद्मा लक्ष्मी हृदि हृदये जयस्येति शेषः, सद्म स्थानमवाप, नाभिका तस्य तुण्डी तस्या मङ्गलाप्लावनं मङ्गलस्नानं तस्य वाप्याऽऽपि । पर्यन्ततोऽभितो लोममिषात् मृदुलबालव्याजाद् दूर्वाः नामकाः हरिताङ्कुराः, विहारस्य पर्यटनस्य शर्म सुखं यत्र तत् सञ्चरणसुखकरमुपवनमेव अदुः दत्तवत्यः ॥ ५८ ॥

छलेन लोम्नां कलयन् शलाका यूनो गुणानां गणनाय वा काः ।
अपारयन् वेदनयान्वितत्वाच्चिक्षेप ता मूर्ध्नि विधिर्महत्त्वात् ॥५९॥

अर्थ : इस धरातलपर स्थित संपूर्ण राजाओंका समूह उस उत्तम राजाके चरणोंको प्राप्तकर उसके अंगुष्ठके नखको आदर्श (दर्पण या आदरणीय) रूपमें देखकर सुखी होता हुआ अपना मुख प्रसन्न रखने लगा ॥ ५७ ॥

अन्वय : (अस्य) हृदि पद्मा सद्म आप । अपि वा नाभिका अपि तन्मङ्गलाप्लावनला वापी, यां पर्यन्ततः लोममिषात् तु दूर्वाः विहारशर्मोपवनं अदुः ।

अर्थ : उस राजाकी हृदयस्थलीमें लक्ष्मीने अपना निवास बना लिया था । अतः उसके मंगलस्नानके लिए जो बावड़ी बनी थी, वह नाभिकाके नामसे प्रसिद्ध थी । उसीके चारों तरफ लोमोंके व्याजसे जो दूर्वाएँ लगी थीं, वे उस लक्ष्मीके विहारके उपवनकी पूर्ति कर रही थीं ॥ ५८ ॥

अन्वय : विधिः यूनोः गुणानां गणनाय वा लोम्नां छलेन काः शलाका कलयन् वेदनया अन्वितत्वात् अपारयन् महत्त्वात् ताः मूर्ध्नि चिक्षेप ।

छलेनेति । विधिर्विधाता, यूनो जयकुमारस्य गुणानां गणनाय संख्यानार्थं लोम्नां छलेन मिषेण का वाऽनिर्वचनीयाः शलाकाः कलयन् सङ्कल्पयन्, एकैकं कृत्वा निक्षिपन् पुनर्वेदनया रुजान्वितत्वाद् व्याकुलीभूतचित्तत्वादित्यर्थः । ताः शलाका महत्वाद् बहुलरूपत्वाद् अपारयन्, अशक्नुवानः सन् मूर्ध्नि चिक्षेप क्षिप्तवान् ॥ ५९ ॥

किलारिनारीनिकरस्य नूनं वैधव्यदानादयशोऽप्यनूनम् ।
तदस्य यूनो भुवि बालभावं प्रकाशयन् मूर्ध्नि बभूव तावत् ॥६०॥

किलेति । अरिनारीनिकरस्य शत्रुस्त्रीसमूहस्य नूनं विधवाया भावो वैधव्यं निष्पतित्वं तस्य दानाद्धेतोः न नूनमनूनं बहुत्वं यदयशस्तदस्य यूनो जयकुमारस्य भुवि पृथिव्यां बालभावं प्रकाशयन् केशत्वं प्रकटयन्, शैशवं च, तावत्तादृशः चञ्चलतायुक्तो मूर्ध्नि बभूव किलेत्युत्प्रेक्षणे । सर्वजनतायाः पतित्वं प्रकाशयन्नपि शत्रुस्त्रीणां निष्पतित्वं चकारस्येतदेव अयशः ॥ ६० ॥

नानारदाह्लादि तदाननं तु व्यासेन संश्लिष्टमुरः परन्तु ।
बभूव नासा शुककल्पनासा करे रतीशस्य पराशराशा ॥६१॥

नानेति । तस्य नृपस्याननं मुखं तु, नाना बहवश्च ते रदा दन्तास्तैः आह्लादि प्रसत्तिमत्, तथा च नारदो दानप्रस्थः स इव वाऽऽह्लादि, न नारदाह्लादीति अनारदाह्लादि न बभूव । परन्तु तस्य उरो वक्षःस्थलं तद् व्यासेन विस्तरेण, व्यासनामतापसेन

अर्थ : विधाताने नवयुवक राजा जयकुमारके गुण गिननेके लिए उसके लोमोंके व्याजसे कुछ शलाकाएँ प्राप्त कीं । किन्तु वेदनासे व्याकुल-चित्त होनेके कारण उसके गुणोंको गिननेमें असमर्थ होकर विपुल संख्यावाली उन शलाकाओंको उसने उसके मस्तकपर धर दिया ॥ ५९ ॥

अन्वय : अरिनारीनिकरस्य किल नूनं वैधव्यदानात् अपि अनूनम् अयशः तत् भुवि अस्य यूनः तावत् बालभावं प्रकाशयन् यूनोः मूर्ध्नि बभूव ।

अर्थ : उस राजा जयकुमारने निश्चय ही अनेक वैरियोंकी नारियोंके समूहको वैधव्य प्रदान किया था । इसलिए उसका वह विपुल अयश इस पृथ्वीतलपर बालभाव (बालकपन और केशपना) को प्रकट करते हुए उसके सिरपर सवार हो गया ॥ ६० ॥

अन्वय : तदाननं तु दा नानारदाह्लादि, परन्तु उरः व्यासेन संश्लिष्टम् । नासा सा शुककल्पनासा रतीशस्य करे परा शराशा बभूव ।

अर्थ : राजा जयकुमारके मुँहमें अनेक सुन्दरदांत थे और उसका वक्षःस्थल

च संश्लिष्टं श्लाघ्यं बभूव । नासा नासिका सा तु शुकस्य कीरस्य नासेव कल्पना यस्याः सा, यद्वा शुकनामको वानप्रस्थस्तस्य कल्पना यस्यामिति सम्भावनेति । तस्य करे हस्ते च रतीशस्य शरो बाणः कुसुमरूपत्वात् जलजादि तस्य आशाऽभिलाषा परा अत्युत्कृष्टा, तथा च पराशरो नामापि वानप्रस्थस्तस्य आशा ॥ ६१ ॥

कण्ठेन शङ्खस्य गुणो व्यलोपि वरो द्विजाराध्यतयाऽधरोऽपि ।
कर्णौ सवर्णौ प्रतिदेशमेष बभूव भूपो मतिसन्निवेशः ॥६२॥

कण्ठेनेति । कण्ठेन कुण्ठात्मकेन गलेन शङ्खस्य कम्बोर्मूर्खस्य वा स्वभावो व्यलोपि लोपमितः । तस्य कण्ठः समादरो न बभूवेति यावत् । अधरोऽधरोष्ठो नीचप्रकृतिरपि द्विजैर्दन्तैः द्विजन्मभिर्वा आराध्यः सेवनीयस्तस्य भावस्तत्ता तया वरः श्रेष्ठ एव, नामतोऽधरः, किन्तु कान्त्या प्रशस्त एवेति भावः । कर्णौ श्रवणौ, कस्य अनिलस्यवर्णं ययोस्तौ चञ्चलावपि सवर्णौ वर्णश्रवणशीलौ पण्डितौ च । इत्येवं कृत्वा, एष भूपः प्रतिदेशं प्रत्यङ्गं मत्या बुद्धेः सन्निवेशो रचना प्रस्तावो यस्य स बभूव ॥ ६२ ॥

रमासमाजे मदनस्य चारौ स्मयस्य चारौ विनयस्य मारौ ।
कुले समुद्दीपक इत्यनूमा कचच्छलात् कज्जलधूमभूमा ॥६३॥

विस्तृत था । उसकी नासिका तोतेके समान सुन्दर थी और उसकी कमरमें रतीश कामदेवके शर अर्थात् कमलको श्रेष्ठ अभिलाषा थी ।

इस श्लोकका दूसरा भी अर्थ श्लेषसे होता है जो इस प्रकार है : उस राजा का मुख तो 'नारद' ऋषिके आह्लादकी तरह युक्त था । उसका उरःस्थल व्यास-ऋषिसे श्लाघ्य था और उसकी नासिका शुकदेवमुनिकी कल्पनाकी तरह थी तो उस रतीशके हाथमें पराशर ऋषिकी आशा (शोभा) थी ॥ ६१ ॥

अन्वय : (तस्य) कण्ठेन शङ्खस्य गुणः व्यलोपि । अधरोऽपि द्विजाराध्यतया वरः । कर्णौ च सवर्णौ । एवं एषः भूपः प्रतिदेशं प्रतिसन्निवेशः बभूव ।

अर्थ : उस राजाके कंठने तो शंखकी शोभा हरण कर ली और उसका अधर प्रशंसनीय दांतोंवाला था । उसके कान अच्छी तरह सुननेवाले थे । इस तरह वह राजा जयकुमार अपने प्रत्येक अंगोंसे सुन्दर होते हुए बुद्धिसे संयुक्त था । कारण उसका कंठ शंखका गुण मूर्खताको नष्ट करनेवाला था, उसका अधर ब्राह्मणोंकी अर्थात् पंडितोंकी संगतिमें रहनेसे श्रेष्ठ था और उसके कान तो स्वयं ही सवर्ण वर्णश्रवणशील अर्थात् विद्वान् थे ॥ ६२ ॥

रमासमाज इति । चारौ मनोहरे रमाणां स्त्रीणां समाजे मदनस्य कामस्य समुद्दीपकः सः, तदवलोकनेन स्त्रियः कामातुरा भवन्तीत्यर्थः । अरौ शत्रौ स्मयस्याऽऽश्चर्यस्य समुद्दीपकः, यस्य अनन्यसम्भवां शक्तिं दृष्ट्वा शत्रवोऽपि साश्चर्या जाता इति । मस्यापराधस्य पापाचारस्यारिः शत्रुस्तस्मिन् साधुजने विनयस्य समुद्दीपकः सत्पुरुषाणां सत्कारपर इति, कुले गोत्रे स मुदो दीपको हर्षकरः । अथवा मारावित्ति प्रत्येकविशेषणम् । यथा मायाः लक्ष्म्या अरौ शत्रौ, निजसौन्दर्येण श्रिया सह स्पर्धाकारकत्वात् । मस्यापराधस्य अलिः पङ्क्तिर्यस्य तस्मिन्नरौ शत्रौ, रलयोरभेदात् । इत्येवं कृत्वा, नु विस्तारस्य उमा कान्तिर्यस्याः सा, कज्जलधूमभूमा कज्जलधूमस्य बाहुल्यमेवास्य कचानां केशानां छलाद् बभूव । स राजा पूर्वोक्तरीत्या स्त्रीसमाजे, शत्रुसमाजे, सज्जनसमाजे च सर्वत्रैव दीपक । तस्माद् दीपकभावतया तत्र कज्जलेनापि भवितव्यमेव । तच्च कचा एव, वर्णसाम्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

मनो मनोजन्मनिदेशि भूपेऽमुष्मिञ्छ्रिया पावनयाऽनुरूपे ।
श्रुतिं गते कम्पनभूपपुत्री ह्युवाह सा रूपसुधासवित्री ॥६४॥

मन इति । अमुष्मिन्नुपर्युक्ते पावनया पवित्रया श्रिया शोभयाऽनुरूपे तुल्यरूपे श्रुतिं गते सति श्रवणपथमागते सति रूपसुधायाः सवित्री, अकम्पनभूपस्य पुत्री सुलोचना सा मनः स्वान्तःकरणं मनोजन्मनिदेशि कामदेवनिर्देशकरमुवाह दधार, तेन सह पाणिग्रहणाभिलाषिणी बभूव ॥ ६४ ॥

अन्वय : चारौ रमासमाजे मदनस्य च अरौ स्मयस्य मारौ विनयस्य च कुले सः मुद्दीपकः इति अनूमा कचच्छलात् कज्जलधूमभूमा ।

अर्थ : वह राजा सुन्दर स्त्रियोंके समूहमें तो कामदेवको, शत्रुओंमें आश्चर्य को, 'म' अर्थात् अपराधीके अरि पुण्यशाली जीवोंमें विनयको बढ़ानेवाला एवं कुलका भी आनन्द-दीपक था । इस अनुमानको सत्य सिद्ध करनेके लिए उसके मस्तकपर बालोंके व्याजसे कज्जलका समूह इकट्ठा हो रहा था ॥ ६३ ॥

अन्वय : अकम्पनभूपपुत्री या रूपसुधासावित्री सा पावनया धिया अनुरूपे अमुष्मिन् भूपे श्रुतिं गते मनः मनोजन्मनिदेशि उवाह ।

अर्थ : महाराज अकम्पनकी पुत्री सुलोचनाने, जो रूपसुधाको जन्म देनेवाली थी, उस राजा जयकुमारकी जब बड़ाई सुनी तो उसने उसे पवित्र शोभाके द्वारा अपने समान पाया । इसलिए उसने उसीके विषयमें अपना मन आकृष्ट किया । अर्थात् जयकुमारके साथ मेरा पाणिग्रहण हो, ऐसा विचार किया ॥ ६४ ॥

जयस्तवास्तामिति मागधेषु पठत्सु बाला पितुरुत्सवेषु ।
आकर्ण्य वर्णावनुसज्जकर्णा सदस्यभूत् सा श्रवणेऽवतीर्णा ॥६५॥

जय इति । सदसि राजसभायामवतीर्णा प्राप्ता सा बाला पितुर्जनकस्य, उत्सवेषु हर्षावसरेषु, हे नृप, तव जयो विजय आस्तामिति पठत्सु मागधेषु स्तुतिपाठकेषु, जयेति वर्णौ आकर्ण्य तस्य श्रवणे समाकर्णने, शब्दसाम्यात् किमेते मम मनोऽभिलषितं जयकुमारमेव गदन्तीति मत्वा अनुसज्जौ कर्णौ यस्याः सा तच्छ्रवणोत्सुकाऽभूदित्याशयः ॥ ६५ ॥

द्वितीयवर्गेन तु विष्टपाङ्कमितेन चान्तःस्थलसद्धिताङ्कः ।
सुखैकसिद्ध्यै सुदृशोऽत्र हेतुः श्रद्धामहो नाधुनिकः स्विदेतु ॥६६॥

द्वितीयवर्गं इति । द्वितीयश्चासौ वर्गः पुरुषार्थोऽर्थस्तेन कीदृशेन विष्टपस्य जगतोऽङ्कमितेन प्राप्तेन सुदृशः सुलोचनाया अन्तःस्थलस्य मनसः सन् प्रशस्तो हितरूपश्च योऽङ्कः चिह्नमन्तःकरणपरिणामः, स सुखैकसिद्ध्यै हेतुः सुखोत्पत्तिकारक इति श्रद्धां विश्वासमाधुनिको ना जन एतु यातु किंस्वित् नैवेत्यर्थः । अर्थात् यथेच्छं विद्यमानापि भोगसामग्री जयकुमारेण विना सुलोचनायाः सुखसाधनाय नाभूत् । किन्तु विष्टपानि भुवनानि तेषामङ्कं त्रिकमितेन गतेन तृतीयस्थानस्थेन द्वितीयवर्गेण चवर्गेण, अर्थात् जकारेण सह अन्तःस्थेषु लसन् शोभमानो हितरूपोऽङ्को यकारः, स एवात्र लोके सुलोचनायाः सुखसिद्धिहेतुरभूदिति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वय : बाला पितुः उत्सवेषु जयः तव आस्ताम् इति मागधेषु पठत्सु सदसि वर्णौ आकर्ण्य अनुसज्जकर्णाश्रवणे अवतीर्णा अभूत् ।

अर्थ : वह बाला अपने पिताद्वारा आयोजित उत्सवोंमें जहाँ बन्दोजन 'आपकी जय हो !' इस प्रकार बार-बार उच्चारण करते थे, तो 'जय' इन दोनों वर्णोंको सुनकर सभामें भी 'जय' इन दोनों वर्णोंको अपने कान लगाकर ध्यानसे सुनती थी । इस प्रकार जयकुमारके विषयमें वह अनुरक्त हो रही थी ॥ ६५ ॥

अन्वय : अहो विष्टपाङ्कमितेन द्वितीयवर्गेन सुदृशः अन्त.स्थलसद्धिताङ्कः सुखैकसिद्ध्यै हेतुः इति श्रद्धाम् आधुनिकः ना एतु स्वित् च (विष्टपाङ्कमितेन द्वितीयवर्गेन अन्तःस्थलसद्धिताङ्कः अत्र सुदृशः सुखसिद्ध्यै हेतुः अभूत्) ।

अर्थ : जयकुमारके बिना जगत्से प्राप्त अर्थरूप पुरुषार्थ यानी समस्त भोग सामग्री उस सुन्दरी सुलोचनाके मनको सुख प्रद हो सकती है, क्या यह कोई आधुनिक पुरुष स्वीकार कर सकता है ?

स्त्रियां क्रियासौ तु पितुः प्रसादाद्‌धिया भिया चैव जनापवादात् ।
ततोऽत्र सन्देशपदे प्रलीना बभूव तस्मै न पुनः कुलीना ॥६७॥

स्त्रियामिति । स्त्रियामसौ पाणिग्रहणात्मिका क्रिया पितुःप्रसादात्, अनुशासनादेव भवतीति कृत्वा, ह्रिया लज्जया जनापवादाद् भिया लोकनिन्दाभयेन च सा कुलीना सत्कुलोत्पन्ना सुलोचनाऽत्र तस्मै जयकुमाराय, सन्देशपदे वृत्तप्रेषणे प्रलीना तत्परा न बभूव ॥ ६७ ॥

श्रीपादपद्मद्वितयं जिनानां तस्थौ स्वकीये हृदि सन्दधाना ।
देवेषु यच्छ्रद्दधतां नभस्या भवन्ति सद्यः फलिताः समस्याः ॥६८॥

श्रीपादेति । सा स्वकीये हृदि जिनानां श्रीपादपद्मद्वितयं चरणारविन्दयुगलं सन्दधाना सम्यग्धारयन्ती सती तस्थौ । यद्यस्मात् कारणाद् देवेषु श्रद्दधतां नभस्याः नभःसंभूता अपि समस्याः सद्यः फलिताः फलवत्यो भवन्ति, किं पुन पार्थिवा इति भावः ॥ ६८ ॥

समङ्गनावर्गशिरोऽवतंसो गुणो गणात् संगुणितप्रशंसः ।
सुलोचनाया अघमोचनायाः कृतः श्रुतप्रान्तगतः सभायाः ॥६९॥

'च' पदके आधारपर इसी श्लोकका श्लेषसे यह अर्थ भी होता है : भुवनोंकी त्रित्व-संख्याको प्राप्त अक्षरोंके द्वितीय चवर्ग (चवर्गके तीसरे वर्ण 'ज'-कार) के साथ अन्तस्थ वर्णों (य-व-र-ल) में शोभमान (प्रथम) अक्षर ('य'कार) ही सुलोचनाके लिए सुखसिद्धिका कारण था । अर्थात् 'जय'-कुमारसे ही उसे सुख मिल सकता था ॥ ६५ ॥

अन्वय : पुनः कुलीना सा स्त्रियाम् असौ क्रिया पितुः प्रसादात् इति ह्रिया जनापवादात् भिया च एव अत्र तस्मै सन्देशपदे प्रलीना न बभूव ।

अर्थ : फिर भी उस कुलीन सुलोचनाने, यह सोचकर कि स्त्रियाँ पाणिग्रहण-रूप क्रिया (विवाह) पिताकी आज्ञासे ही कर पाती हैं, लज्जावश और लोकाप्रवादके भयसे भी उस राजा जयकुमारके पास अपना प्रेम-सन्देश नहीं भेजा ॥ ६७ ॥

अन्वय : सा सुलोचना स्वकीये हृदि जिनानां श्रीपादपद्मद्वितयं सन्दधाना तस्थौ, यत् देवेषु श्रद्दधतां नभस्याः समस्याः अपि सद्यः फलिताः भवन्ति ।

अर्थ : वह सुलोचना अपने चित्तमें भगवान् जिनके चरणयुगलोंको भलीभाँति धारणकर स्थित थी । कारण देवोंपर श्रद्धा रखनेवालोंकी आसमानी समस्याएँ यानी कठिनसे कठिन बातें भी शीघ्र सफल हो जाती हैं ॥ ६८ ॥

तमेव लब्ध्वाऽवसरं हरारिः शरीरशोभाजयहेतुनाऽरिः ।
जयं विनिर्जेतुमियेष तातं तयाऽऽत्मशक्त्या खलु मूर्तया तम् ॥७०॥

समङ्गनेति । समीचीना अङ्गनाः समङ्गनास्तासां वर्गः समूहस्तस्य शिरांसि मस्तकानि तेषु अवतंसो मुकुटरूपो गुणः, अघमोचनायाः पापादपेतायाः सुलोचनायाः सभाया भासहितायाः कान्तिमत्या गणात् प्रधानजनात् संगुणिता समर्थिता प्रशंसा यस्य स तादृशः, श्रुतयोः कर्णयोः प्रान्ते गतः प्राप्तः कृतः श्रवणविषयीकृतः । तमेव अवसरं समयं लब्ध्वा, आत्मोत्कर्षप्रस्तावं मत्वा स हरारिः कामः, शरीरस्य शोभायां जयो विजयो लब्ध इति हेतुतो अरिः स मम शोभां जितवान् इत्यतो वैरपरः कामस्तया सुलोचनया मूर्तया मूर्तिमत्या आत्मशक्त्या तया तं तातं पितृस्थानीयमपि जयकुमारं विनिर्जेतुमियेष चकमे, खलु सम्भावनायाम् । यथा सा जयकुमारेऽनुरागिणि तथा जयोऽपि तस्यामनुरागी बभूवेत्याशयः ॥ ६९-७० ॥

गुणेन तस्या मृदुना निबद्धः स योऽशनेः सन्ततिभित्समृद्धः ।
अलिर्बलाद्दारुविदारकोऽपि किमिष्यते कुड्मलबन्धलोपी ॥७१॥

गुणेनेति । यो जयकुमारोऽशनेर्वज्रस्यापि सन्ततिभित् सन्तानच्छेदकारकः समृद्धः ऐश्वर्यशाली, स तस्याः सुकुमार्या अबलाया मृदुना कोमलेन, पक्षे सत्त्वहीनेन गुणेन सौन्दर्येण निबद्धोऽभूदित्याश्चर्यम् । तद्दृष्टान्तेन निरस्यते—योऽलिर्भ्रमरो बलात् सामर्थ्येन दारुणः काष्ठस्य विदारको भेदकः सोऽपि कुड्मलबन्धं कमलसङ्कोचरूपबन्धनं

अन्वय : (जयकुमारेण) अघमोचनायाः सुलोचनायाः समङ्गनावर्गशिरोवतंसः गुणः सभायाः गणात् संगुणितप्रशंसः श्रुतप्रान्तगतः कृतः । तम् एव अवसरं लब्ध्वा शरीरशोभाजयहेतुना अरिः हरारिः तातं तं खलु तया मूर्तया आत्मशक्त्या विनिर्जेतुम् इयेष ।

अर्थ : राजा जयकुमारने निष्पाप, तेजस्वी सुलोचनाके श्रेष्ठ स्त्रियोंके समूहमें मुकुटमणि गुण अपने दरबारी लोगोंसे सुन रखे थे । इसी अवसरसे लाभ उठाकर अपनी शरीर-शोभासे स्वयंको जीतनेवाले, अतएव अपने शत्रुरूप कामदेवने पितृस्वरूप होते हुए भी उस जयकुमारको सुलोचनारूप अपनी शक्तिसे जीतनेकी सोची ॥ ६९-७० ॥

अन्वय : यः अशनेः सन्ततिभित् समृद्धः सः तस्याः मृदुना गुणेन निबद्धः । बलात् दारुविदारकः अपि अलिः किं कुड्मलबन्धलोपी इष्यते ?

लोपयतीति किमिष्यते ? अपि तु नैवेष्यत इति भावः। तत्र स्नेहयुक्तत्वात् जय-कुमारोऽपि तस्याः स्नेहेन बद्धोऽभूत्, स्नेहबन्धनस्य दुर्भेद्यत्वात् ॥ ७१ ॥

न चातुरोऽप्येष नरस्तदर्थमकम्पनं याचितवान् समर्थः ।
किमन्यकैर्जीवितमेव यातु न याचितं मानि उपैति जातु ॥७२॥

न चातुर इति । एष जयकुमारो नरः पुरुष इति, तथा च न लाति गृह्णातीति नलोऽनादानकरः, दानशीलत्वात्, समर्थः शक्तिमान् असाध्यसाधकः, किञ्च, सम्यगर्थवान् प्रभूतवित्तयुक्तश्चेति । आतुरः सुलोचनाप्राप्त्यभावेन सचिन्तोऽपि अतुलः सर्वसाधारणेभ्यो विलक्षणः सन्, तदर्थमकम्पनं नृपं न याचितवान् । यतोऽन्यकैः इतरैः सुतदारादिभिः किम्, जीवितं स्वजीवनमपि याति चेद् यातु, तथापि मानी याचितं याञ्चां नोपैति नाप्नोति ॥ ७२ ॥

यदाज्ञयार्धाङ्गितया समेति प्रियां हरो वैरपरोऽप्ययेति ।
स्मरं तनुच्छायतयाऽऽत्ममित्रमयं क्षमो लङ्घितुमस्तु कुत्र ॥७३॥

यदाज्ञयेति । वैरपरोऽपि हरो महादेवो यस्य स्मरस्य आज्ञया शासनेन प्रियां पार्वतीमर्धाङ्गितया, एकीभावेन समेति सन्दधाति । अथ पुनस्तनोश्छायेव च्छाया यस्य

अर्थ : जो महाराज जयकुमार वज्रकी सन्तति यानी परम्पराको भी छिन्न-भिन्न करनेमें समर्थ था, वही सुलोचनाकी कोमल-गुणरूप रज्जुसे बँध गया। ठीक ही है, जो भौंरा अपने श्रमसे कठोर काष्ठको भी छेदकर निकल जाता है, वही कमलकी कोमल कलीका बन्धन तोड़नेवाला नहीं देखा जाता। सचमुच स्नेहका बन्धन बड़ा ही दुर्भेद्य देखा जाता है ॥ ७१ ॥

अन्वय : एषः नरः च आतुरः अपि तदर्थम् अकम्पनं न याचितवान् । यतः सः समर्थः अन्यकैः किं जीवितुम् एव यातु, मानी याचितुं जातु न उपैति ।

अर्थ : यद्यपि महाराज जयकुमार सुलोचनाके प्रति आतुर था, फिर भी उसने इसके लिए महाराज अकम्पनसे याचना नहीं की। क्योंकि वह भी समर्थ (असाधारण पुरुष) था। नीति है कि समर्थ अपना गौरव सँभाले रहता है। और तो और, भले ही अपना जीवन भी समाप्त हो जाय, वह कभी किसी से याचना करने नहीं जाता ॥ ७२ ॥

अन्वय : अथ वैरपरः हरः अपि यदाज्ञया प्रियाम् अर्धाङ्गितया समेति तनुच्छायतया आत्ममित्रं तं स्मरं अयं लङ्घितुं कुत्र क्षमः अस्तु ।

अर्थ : जिसका जिस कामदेवके साथ जन्मसिद्ध वैर है, महादेव भी जब उस की आज्ञासे अपनी प्रिया पार्वतीको अपने आधे अंगमें सदैव सटाये रखता है, तो फिर वह जयकुमार उसकी आज्ञाका उल्लंघन कैसे कर सकता है, कारण

तस्य भावस्तत्ता तया तुल्यरूपतया अयं जयकुमारस्तमेव आत्मनो मित्रं स्मरं लङ्घितुं कुत्र कथं क्षमोऽस्तु ? यदाज्ञां शत्रुरपि मनुते तदा पुनर्मित्रजनः कथं न मन्वीतेत्यर्थः ॥ ७३ ॥

गुणावदाता सुवयःस्वरूपाऽस्य राजहंसी कमलानुरूपा ।
सा कौमुदस्तोममयं विशेषरसायितं मानसमाविवेश ॥७४॥

गुणावदातेति । गुणैः सौन्दर्यादिभिः अवदाता निर्मला, शुक्ला च । वयोऽवस्था, पक्षी च तस्य स्वरूपमात्मपरिणामः, शोभनं वयः स्वरूपं यस्याः सा । कमलानुरूपा लक्ष्मीसदृशरूपवती, पक्षे कमलानि, अरविन्दानि, अनु पश्चाद्रूपं शरीरं यस्याः सा, वारिजानुसारिणीति, सा राजहंसी राजकुमारी सुलोचना, पक्षे मराली, कौ पृथिव्यां मुदः प्रसन्नतायाः स्तोमः समूहस्तन्मयम्, विशेषरसायितं विशेषो रसः शृङ्गाराख्यः, पक्षे जलाभिधं तडागादिकं, मानसं हृदयं सरश्च, आविवेश प्राविशत् । यथा हंसी मानसरोवरं प्रविशति तथा सा राज्ञो मनः प्राविशदिति भावः । यद्वा कौमुदोऽस्तोमोऽसमवायस्तन्मयं कौमुदस्तोममयं विरहपीडापरं मानसमविशत् ॥ ७४ ॥

चिरोच्चितासिव्यसनापदे तुक् सोमस्य जायुं निजपाणये तु ।
सुलोचनाया मृदुशीतहस्तग्रहं स्मरादिष्टमथाह शस्तम् ॥७५॥

चिरोच्चितासीति । चिरेण बहुकालेन उच्चितः संगृहीतोऽसिः खड्गस्तस्य व्यसनमभ्यासस्तस्य आपद्विपत्तिर्यस्य तस्मै निजपाणये स्वहस्ताय तु पुनः सोमस्य राज्ञस्तुक् सुतो जयकुमारः सुलोचनाया मृदुः कोमलः शीतश्च हस्तस्तस्य ग्रहणं ग्रहस्तमेव स्मरेण

उसके अपने शरीरकी शोभावाला होनेसे कामदेव उस जयकुमारका मित्र ही जो है ॥ ७३ ॥

अन्वय : राजहंसी सुलोचना या गुणावदाता कमलानुरूपा सुवयःस्वरूपा च सा अस्य कौमुदस्तोममयं विशेषरसायितं मानसम् आविवेश ।

अर्थ : राजहंसीके समान गुणोंसे निर्मल, लक्ष्मीके समान रूपवाली और श्रेष्ठ युवती वह सुलोचना पृथ्वीपर सदा प्रसन्न रहनेवाले और सरसतायुक्त उस जयकुमारके मनमें आ बसी । कमलोंके पास रहनेवाली, रूप-रंगमें स्वच्छ और उत्तम पक्षीरूप राजहंसी भी रात्रि-विकाशी कुमुदोंके समूहसे युक्त विशेष जलके स्थान मानस सरोवरमें रहा करती है ॥ ७४ ॥

अन्वय : सोमस्य तुक् चिरोच्चितासिव्यसनापदे निजपाणये तु स्मरादिष्टं सुलोचनाया मृदुशीतहस्तग्रहं शस्तं जायुम् आह ।

अर्थ : अनन्तर सोमराजाके पुत्र यशस्वी उस जयकुमारने चिरकालसे ग्रहण की हुई तलवारसे होनेवाली पीड़ासे ग्रस्त अपने हाथके लिए कामदेव-द्वारा

आविष्टं कामनिर्दिष्टं शस्तं श्रेष्ठं जायुमौषधमाह कथितवान् । सुलोचनापरिग्रहं विना तस्य मानसो व्याधिर्दुश्चिकित्स्य इति भावः ॥ ७५ ॥

भालानलप्लुष्टमुमाधवस्य स्वात्मानमुज्जीवयतीति शस्यः ।
प्रसूनबाणः स कुतो न वायुर्वेदी त्रिवेदीति विकल्पनायुः ॥७६॥

भालानलप्लुष्टमिति । यः प्रसूनबाणः कामः उमाधवस्य महादेवस्य भालानलेन ललाटस्थनेत्रोद्गताग्निना प्लुष्टं दग्धमात्मानं स्वमुज्जीवयतीति कृत्वा शस्यः श्लाघ्यः, यश्च त्रयो वेदा अस्य सन्तीति त्रिवेदि, त्रिवेदि विकल्पनमेव आयुर्जीवनं यस्य स कामः । यश्च त्रिवेदी स कुतो नवा अस्तु आयुर्वेदी, आयुर्वेदशास्त्रज्ञो भवत्येव, आयुर्वेदस्य त्रिवेदान्तर्गतत्वात् । यश्च आयुर्वेदी स एवात्मनः परस्य च व्याधिप्रतीकारकः सम्भवेत् । एवं पूर्वोक्तरीत्या जयकुमारश्चिन्तापरोऽभूदित्यर्थः ॥ ७६ ॥

कदाचिदाराममुष्य हृष्यत्तमं तमानन्ददृगेकदृश्यम् ।
वसन्तवच्छ्रीसुमनोभिरामस्तपस्विराट् कश्चिदुपाजगाम ॥७७॥

कदाचिदिति । अमुष्य राज्ञोऽतिशयेन हृष्यदिति हृष्यत्तमस्तं मनोहरम्, आनन्ददृशः प्रसन्नदृष्टेरेकोऽनन्यरूपश्चासौ दृश्यो दर्शनीयस्तम् । आराममुद्यानं, श्रिया युक्ताः सुमनसो देवाः पुष्पाणि च तैरभिरामः सत्समन्वितः कुसुमयुक्तश्च कश्चिदज्ञातनामा तपस्विराट्, ऋषिवरः, वसन्तवद् ऋतुराडिव शोभमानः कदाचित् उपाजगाम समागतः ॥ ७७ ॥

बताई गई सुलोचनाके मृदु एवं शीतल हाथका ग्रहण (पाणिग्रहण) ही औषधि बतायी ॥ ७५ ॥

अन्वय : यः उमाधवस्य भालानलप्लुष्टं स्वात्मानम् उज्जीवयति इति शस्यः, त्रिवेदीति विकल्पनायुः स प्रसूनबाणः आयुर्वेदी कुतो वा न ?

अर्थ : जो महादेवके ललाटसे उत्पन्न अग्निकी ज्वालासे भस्म अपने आपको भी पुनः जीवित करलेनेवाला माना गया है और तीन वेदोंकी कल्पना ही जिसकी आयु है वह कामदेव आयुर्वेदका ज्ञाता कैसे कहा जायगा ।

विशेष : स्त्री, पुरुष, नपुंसकजो तीन वेद हैं, वे ही कामदेवकी आयु हैं । पक्षमें अथर्वादि तीनों वेदोंका जाननेवाला व्यक्ति आयुर्वेदका जाननेवाला होता ही है कारण आयुर्वेद अथर्ववेदका उपवेद माना गया है ॥ ७६ ॥

अन्वय : कदाचित् अमुष्य हृष्यत्तमं तम् आराम वसन्तवत् आनन्ददृगेकदृश्यम् श्रीसुमनोऽभिरामः कश्चित् तपस्विराट् उपाजगाम ।

अर्थ : किसी समय जयकुमारके अत्यन्त समृद्ध प्रसिद्ध बगीचेमें वसन्तके समान दर्शन मात्रसे आनन्द देनेवाले और देवोंकी तरह शोभमान, कोई एक तपस्विराज आ पहुँचे ॥ ७७ ॥

तपोधनं भानुमिवानुमातुमुत्का समुत्कामविधाविधातुः ।
बभूव दृङ्मालिककुक्कुटस्य वाचा समाचारविदोद्भटस्य ॥७८॥

तपोधनमिति । तपोऽनशनादि, पक्षे घर्मस्तदेव धनं यस्य तं भानुं सूर्यमिव अनुमातुम् अनुमानविषयीकर्तुम्, उत्काभिलाषवती, उद्गतं मुखं प्रसन्नभावो यस्याः सेति वा, कामो मनोऽभिलषितं रतिपतिश्च तस्य विधा प्रकारविशेषः, मुत्प्रसन्नता तत्सहिता चासौ कामविधा च तस्या विधातुः कर्तुः, ऋष्यागमनसन्देशदानेन मनोऽभिलषितपूर्तिकर्तुः । पक्षे निशाशेषसूचकत्वेन मैथुनान्ते सातिरेकचुम्बनादिचेष्टोपदेष्टुश्च, वाचा भाषया, समाचारः सन्देशः सन्ध्यावन्दनादिसदाचरणं च तस्य विदा निवेदनं तस्यामुद्भटः प्रगल्भस्तस्य, मालिको मालाकारो वनपालः स एव कुक्कुटस्ताम्रचूडस्तस्य दृग्दृष्टिर्बभूव समागमोऽभूत् । अर्थात् हे राजन् ! भवदुद्याने मुनिवरस्य आगमनमभूदित्येवं वनपालेन निवेदितम् ॥ ७८ ॥

अथाभवत्तद्दिशि सम्मुखीन उत्थाय सूत्थानभृतामहीनः ।
गतोऽप्यतो दृष्टिपथं प्रभावस्तस्य प्रशस्यैकविचित्रभावः ॥७९॥

अथेति । अथ प्रकरणे सम्यगुत्थानं सूत्थानं तद्वतां मध्ये योऽहीन उन्नतिशालिनां शिरोमणिर्जयकुमार उत्थाय आसनादुद्भूय तस्यां दिशि सम्मुखीनोऽभवत् महर्षिसंश्लिष्टाशायां जगाम, वन्दनार्थमित्यर्थः । अतोऽपि पुनः प्रशस्यश्चासौ एको विचित्रभावश्च प्रशंसनीयश्चमत्काररूपप्रभावः तस्य दृष्टिपथं गतः तेनाऽवलोकित इति । कोऽसौ प्रभावस्तदेव वर्णयत्यग्रस्तात् ॥ ७९ ॥

पतिं यतीनां सुमतिं प्रतीक्ष्य तदा तदातिथ्यविधानदीक्षम् ।
समुद्भवत्कामशरप्रतान-मङ्गीचकारोपवनप्रधानः ॥८०॥

अन्वय : समाचारविदोद्भटस्य मालिककुक्कुटस्य वाचा कामविधाविधातुः समुत् दृङ् तपोधनं भानुम् इव अनुमातुम् उत्का बभूव ।

अर्थ : तपस्विराजके आगमनका समाचार देनेमें चतुर मालीरूपी मुर्गे द्वारा सन्देश पाकर कामकी वासनाको स्वीकार करनेवाले जयकुमारकी प्रसन्न दृष्टि, भानुके समान उपर्युक्त तपोधनको देखनेके लिए उत्सुक हो गयी ॥ ७८ ॥

अन्वय : अथ सूत्थानभृताम् अहीनः उत्थाय तद्दिशि सम्मुखीनः अभवत्, अतः अपि तस्य प्रशस्यैकविचित्रभावः प्रभावः दृष्टिपथं गतः ।

अर्थ : उन्नतिशालियोंमें शिरोमणि जयकुमार आसनसे उठकर मुनिराजके सम्मुख जानेको रवाना हुआ तो उसका एक प्रशंसनीय विचित्र परिणाम देखनेमें आया (जो आगे वर्णित किया जा रहा है) ॥ ७९ ॥

पतिमिति । यतीनां संयतानां पतिं सुमतिं समीचीनबुद्धिं प्रतीक्ष्य किल तस्य आतिथ्यविधानं स्वागताचरणं तत्र दीक्षा यस्य तत्, समुद्भवतां तत्कालोत्पत्तिशालिनां कामशराणां प्रतानं समूहम् उपवनप्रधान उद्यानमुख्योऽङ्गीचकार ऊरीकृतवान् । तदा तस्मिन्नवसरे ॥ ८० ॥

फुल्लत्यसङ्गाधिपतिं मुनीनमवेक्ष्यमाणो बकुलः कुलीनः ।
विनैव हालाकुरलान् वधूनां व्रताश्रितिं वागतवानदूनाम् ॥८१॥

फुल्लतीति । असङ्गानां परिग्रहरहितानामधिपतिम् अत एव मुनीनामिनं स्वामिनमवेक्षमाणोऽवलोकयन् कुलीनः कुलशाली, कौ पृथिव्यां लीनश्च, अतोऽदूनामहीनां व्रतानां मधुत्यागादीनामाश्रितिं संश्रयं गतवान् बकुलो वृक्षविशेषः, वधूनां हालाया मदिरायाः कुरलान् गण्डूषान् विनैव फुल्लति स्मेति शेषः । बकुलः स्त्रीणां मधुगण्डूषैर्विकसतीति कविसमयः । स इदानीं तानृते विकसितोऽभूदिति मधुत्यागवानेव इत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ८१ ॥

श्रीचम्पका एनमनेनसन्तु तिरःशिरश्चालनतस्तुवन्तु ।
कोशान्तरुत्थालिकदम्बवन्तः पापानि वापायभियोद्गिरन्तः ॥८२॥

अन्वय : तदा उपवनप्रधानः सुमतिं यतीनां पतिं प्रतीक्ष्य तदातिथ्यविधानदीक्षं समुद्भवत्कामशरप्रतानं अङ्गीचकार ।

अर्थ : उस समय राजा जयकुमार क्या देखता है कि) यह प्रसिद्ध उपवन, श्रेष्ठबुद्धि यतिराजको देखकर, उनके आतिथ्यमें संलग्न हो विकसित कामबाण रूप फूलोंके समूहको धारण कर रहा है ॥ ८० ॥

अन्वय : असङ्गाधिपतिं मुनीनम् अवेक्ष्यमाणः कुलीनः बकुलः अदूनां व्रताश्रितिं तवान् (अतः) वधूनां हालाकुरलान् विनैव फुल्लति ।

अर्थ : निर्ग्रन्थोंके अधिपति मुनि महाराजको देखकर कुलीन बकुल मानो निर्दोष मूलगुण व्रतोंको ही प्राप्त हो रहा है। इसलिए वह वधुओं से किये गये मद्यके कुल्लाके बिना ही फूल रहा है। कवि-संप्रदायमें प्रसिद्धि है कि मानिनीके मदभरे मद्यके कुल्लोंसे बकुल वृक्ष खिलता है ॥ ८१ ॥

अन्वय : कोशान्तरुत्थालिकदम्बवन्तः पापानि वा अपायभिया उद्गिरन्तः श्रीचम्पकाः एनम् अनेनसन्तु शिरःतिरश्चालनतः स्तुवन्तु ।

अर्थ : अपने कोशोंमे उड़ते भौंरोंके व्याजसे अपायके भयवश पापोंको ही उगलनेवाले ये चम्पक पापवर्जित इस मुनिराजको अपना सिर तिरछा हिलाकर

श्रीचम्पका इति । कोशान्तरस्थाः कुसुमनालमध्यादुद्गता येऽलय एवालिका भ्रमरास्तेषां बन्धबन्तडकुलकारिणः, अपायस्य प्रत्यवायस्य भिया भयेन पापानि दुष्कृतानि, उद्गिरन्तो वमितवन्तः श्रीचम्पकाः तिरस्तिर्यग्रूपेण शिरश्चालनतः पुनः पुनरग्रभागचालनेन, अनेन सं पापवर्जितमेनं मुनिनाथं स्तुवन्तु इति युक्तमेव । भ्रमराश्चम्पकानामुपरि न तिष्ठन्तीति कविसमयः । तत उद्गच्छत्सु भ्रमरेषु श्यामतासाधर्म्यतः पापारोपः । चम्पकानां शिरश्चालनं स्वाभाविकम्, स्तावकानामेकतानतया शिरश्चालनं जातिः ॥ ८२ ॥

आराम आरात्परिणामधामभूपद्मकच्छद्मदृशाभिरामः ।
त्रिलोकयँल्लोकपतिं रजांसि मुञ्चत्यसौ चानुतरँस्तरांसि ॥८३॥

आराम इति । असौ आराम उपवनमपि परिणमनं परिणामो विकासप्राप्तिस्तस्य धामानि अधिकरणानि च तानि भूपद्मकानि पाटलपुष्पाणि तेषां छद्म छलं यस्याः सा चासौ दृक् दृष्टिश्च तयाऽभिरामो मनोहरः । लोकपतिं नरशिरोमणिं मुनिं विलोकयन् सस्नेहं पश्यन् तथा कृत्वा तरांसि गुणान् अनुतरन् लभमानः सन्नसौ रजांसि कुसुमपांशून् पापानि वा मुञ्चति त्यजति । 'गुणे कोपेऽप्यभिमतं तरः' इति विश्वलोचनः ॥८३॥

अशोक आलोक्य पतिं ह्यशोकं प्रशान्तचित्तं व्यकसत्सुरोकम् ।
रागेण राजीवदृशः समेतं पादप्रहारं स कुतः सहेत ॥८४॥

अशोक इति । अशोकं शोकवर्जितम् अत एव प्रशान्तचित्तं सुखासीनं सुरोकं सम्यग्दीप्तिशालिनं प्रसरत्प्रभामण्डलमित्यर्थः 'रोकस्तु रोचिषी'ति विश्वलोचनः । तं यतिमालोक्य योऽशोकनामा वृक्षो व्यकसत् विकासभावमगच्छत् । सोऽशोको निश्चिन्तो

स्तुति कर रहे हैं, ठीक तो ही है । चम्पेपर भौंरे नहीं आते यह कवि-सम्प्रदायकी प्रसिद्धि है ॥ ८२ ॥

अन्वय : आरात् परिणामधामभूपद्मकच्छद्म दृशाभिरामः असौ आरामः लोकपतिं त्रिलोकयन् तरांसि अनुतरन् रजांसि मुञ्चति ।

अर्थ : इस समय प्रसन्नताके स्थान स्थलपद्मोंके व्याजसे सुन्दर दृष्टिवाला यह उपवन (बगीचा) इस लोकपति मुनिराजको देखकर गुणोंको प्राप्त करता हुआ बार-बार फूलोंका पराग छोड़ रहा है, मानो पापोंको ही त्याग रहा हो ॥ ८३ ॥

अन्वय : अशोकं मुनिम् आलोक्य प्रशान्तचित्तः अशोकः व्यकसन् सः रागेण राजीवदृशः समेतं पादप्रहारं कुतः सहेत !

वृक्षो रागेणाऽनुरागेण राजीववृशः कमलनयनायाः समेतमागतं पादप्रहारं कुतः सहेत ? अशोकः प्रमदापादप्रहारेण विकसतीति कविसमयः । इदानीं तु स स्वयमेव व्यकसत् । तद्विषमाश्रित्य उक्तिरियं महर्षिदर्शनपुण्यशालिनस्तस्य स्त्रीताडनं कथं स्यात्, पुण्य-पुरुषस्य स्त्रिया साध्वीत्वेन तथाकरणासम्भवादित्यर्थः ॥ ८४ ॥

यस्यान्तरङ्गेऽद्भुतबोधदीपः पापप्रतीपं तमुपेत्य नीपः ।
स्वयं हि तावज्जडताभ्यतीत उपैति पुष्टिं सुमनःप्रतीतः ॥८५॥

यस्येति । यस्य महर्षेरन्तरङ्गे चेतसि, अद्भुतोऽन्यजनेभ्योऽसाधारणश्चासौ बोधो ज्ञानमेव दीपः स्वपरप्रकाशकत्वात्, तं पापस्य दुष्परिणामस्य प्रतीपं, शत्रुसंहारकत्वात् । तं पापप्रतीपमुपेत्य नीपः कदम्बः सुमनोभिः सज्जनैः कुसुमैश्च प्रतीतः सन्, जडतया विपरिणामतया निर्विचारतया वाऽभ्यतीतः परित्यक्तः सन् स्वयमेव हि पुष्टिमुपैति हर्षिताङ्गो भवति ॥ ८५ ॥

परोपकारैकविचारहारात्कारामिवाराध्य गुणाधिकाराम् ।
अलङ्करोत्याम्रतरुर्विशेषं सकौतुकोऽयं परपुष्टवेशम् ॥८६॥

परोपकारेति । परेषां सर्वसाधारणानामुपकारो हितसाधनं तस्यैकः प्रधानो

अर्थ : शोकरहित मुनिराजको देखकर प्रशान्तचित्त यह अशोक वृक्ष निःसंकोच स्वयं ही विकसित होता हुआ अनुरागवश कमलनयना कामिनी द्वारा किये जाने-वाले पादप्रहारको कैसे सह सकता है ॥ ८४ ॥

अन्वय : यस्य अंतरङ्गे अद्भुतबोधदीपः तं पापप्रतीपम् उपेत्य नीपः स्वयं हि तावत् जडताभ्यतीतः सुमनःप्रतीतः पुष्टिम् उपैति ।

अर्थ : जिसके अन्तरमें अद्भुत ज्ञानरूपी दीपक जगमगा रहा है उस पापके शत्रु महर्षिको प्राप्त कर यह कदम्बका वृक्ष अपने आप जड़तासे रहित हो फूलोंसे व्याप्त होता हुआ पुष्ट हो रहा है ॥ ८५ ॥

अन्वय : परोपकारैकविचारहारात् गुणाधिकारां काराम् इव आराध्य अयं सकौतुकः आम्रतरुः परपुष्टवेशं विशेषम् अलङ्करोति ।

अर्थ : एक मात्र परोपकार-विचाररूप हारसे भूषित उन ऋषिराजसे गुणयुक्त शिक्षा पाकर ही मानो कौतुकयुक्त यह आम्र-वृक्ष कोयलोंकी विशेषता-को अलंकृत कर रहा है । कोयलकी विशेषता है पर-पुष्टता, उसके अण्डे कौए द्वारा पोषित होते हैं । यह आम्रवृक्ष भी मुनि द्वारा पोषित हो परपुष्ट वेष धारण कर रहा है, यह भाव है ॥ ८६ ॥

विचारस्य हारो हृदयालङ्कारो यस्य तस्मात् महर्षेः सकाशात् कारां कारिकां कौतुकीं गुणाधिकारां गुणानामधिकारोऽधिकरणं यत्र तां गुणभूमिकामित्यर्थः । आराध्य सम्पूज्य, लब्ध्वा वा, कौतुकैर्विनोदभावैः कुसुमैश्च सहितः सकौतुकोऽयं प्रत्यक्षलक्ष्यः आश्रमः परपुष्टानां कोकिलानां परैरन्यैः पोषणकारिता परपुष्टाङ्गतास्तेषां वेशं प्रवेशं विशेष-मलङ्करोति भूषयति पूरयति चेति ॥ ८६ ॥

अमी शमीशानकृपां भजन्ति जनुर्ह्यनूनं निजमामनन्ति ।
पादोदकं पक्षिगणाः पिबन्ति वेदध्वनिं नित्यमनूच्चरन्ति ॥ ८७ ॥

अमीति । अमी दृश्यमानाः पक्षिगणाः शकुनिसमूहाः शमिनां प्रशमभावभाजां यतीनामीशानः स्वामी तस्य कृपामनुग्रहं भजन्ति प्राप्नुवन्ति । ततो ह्येते निजं जनुर्जन्म अनूनं महत्सफलमामनन्ति जानन्ति । एतस्य महर्षेः पादोदकं चरणप्रक्षालनजलं पिबन्ति नित्यं तथा पुनर्वेदस्य, आत्मकल्याणकरस्य द्रव्यानुयोगादिशास्त्रस्य ध्वनिमनूच्चरन्ति महर्षिपठितमनुवदन्तीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

गिरेत्यमृतसारिण्या श्रीवनश्चानुकुर्वतः ।
बभूव भूपतेः क्षेत्रं सकलं चाङ्कुराङ्कितम् ॥ ८८ ॥

गिरेति । इति पूर्वोक्तप्रकारया तवेतिश्लोकादारब्धया गिरा वनपालवाण्या । कथम्भूतया ? अमृतं सञ्जीवनं सारोऽस्यास्तीति तया, सुखावहप्रशस्तिकारिण्या । पक्षे

अन्वय : अमी पक्षिगणाः शमीशानकृपां भजन्ति, निजं जनुः हि अनूनम् आमनन्ति पादोदकं पिबन्ति अनु नित्यं वेदध्वनिम् उच्चरन्ति ।

अर्थ : ये पक्षी गण इस समता-सम्पन्नोंके शिरोमणि ऋषिराजकी कृपा पा रहे हैं अतएव अपना जन्म सफल मानते हैं । ये महर्षिका चरणोदक पीकर निरन्तर वेदध्वनि (आत्म-कल्याणकारी द्रव्यानुयोग-शास्त्र) का उच्चारण कर रहे हैं ॥ ८७ ॥

अन्वय : इति अमृतसारिण्या गिरा श्रीवनं च अनुकुर्वतः भूपतेः सकलं च क्षेत्रम् अङ्कुराङ्कितं बभूव ।

अर्थ : इस प्रकार अमृतवत् जीवनदायिनी वाणी द्वारा बगीचेका अनु-करण करनेवाला जयकुमारका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठा । जैसे अमृत यानी जलको बहानेवाली नालीसे खेत हरा-भरा अंकुरित हो उठता है, वैसे ही वनपालकी इस वाणीसे महाराज जयकुमार भी रोमांचित हो उठा, यह भाव है ॥ ८८ ॥

अमृतं जलमेव सारो यस्यां तया मालिकयेव प्रचुरजलधारिण्या च, श्रीवनमुद्यानमनु-कुर्वत उपवनवत्प्रफुल्लभावं गच्छतो भूपतेर्जयकुमारस्य सकलं समस्तमपि क्षेत्रं वपुः पक्षे स्थानञ्च अङ्कुरैः रोमोद्गमैः हरिततृणैश्च अङ्कितं व्याप्तमभूत् । 'क्षेत्रं शरीरे दारेषु इति विश्वलोचनः ॥ ८८ ॥

कण्टकित इवाकृष्टश्चक्षुर्दिक्षु क्षिपञ्छनैरचलत् ।
छायाच्छादितसरणौ गुणेन विपिनश्रियः श्रीमान् ॥ ८९ ॥

कण्टकित इति । श्रीमान् जयकुमारः कण्टकैः रोमाञ्चैः पक्षे शङ्कुभिर्युक्तः कण्टकितः सन् विपिनस्य वनस्य श्रियः शोभायाः स्त्रिया गुणेन मार्दवादिना, पक्षे रज्ज्वा चाऽऽकृष्टो बलाद्वशीकृत इव, इतस्ततः पंक्तिबद्धतरुच्छायाच्छादितायां सरणौ दिक्षु चक्षुः क्षिपन्, इतस्ततोऽवलोकयन् सन् शनैर्मन्दं मन्दमचलत् ॥ ८९ ॥

आरामरामणीयकमनुवदताऽदर्शि हर्षिताङ्गेन ।
सहसा सह साधुजनैः श्रीगुरुगुणितोऽमुनादेशः ॥ ९० ॥

आरामेति । आरामस्य उद्यानस्य रामणीयकं सौन्दर्यमनुवदता वनपालेन प्रस्तुतं वनस्य सौन्दर्यं हुंहुम् एवमेवेति समर्थयता हर्षिताङ्गेन रोमाञ्चितदेहेन अमुना राज्ञा साधुजनैः शिष्यमुनिजनैः सह तिष्ठता श्रीगुरुणा महर्षिणा गुणितो गुणवत्तामितो देशः स्थानं सहसा अदर्शि, उत्सुकतयाऽदृश्यत ॥ ९० ॥

अन्वय : कंटकित. श्रीमान् विपिनश्रियः गुणेन आकृष्ट इव छायाछादितसरणौ दिक्षु चक्षुः क्षिपन् शनैः अचलत् ।

अर्थ : जैसे शंकाओंसे आहत कोई पुरुष दूसरे द्वारा डोरीसे खींचकर ले जाया जाता हुआ धीरे-धीरे चलता है वैसे ही रोमांचित जयकुमार भी वनश्री के गुणोंसे आकृष्ट होकर सघन वृक्षोंकी छायासे युक्त रास्ते में इधर-उधर दृष्टि डालता हुआ धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा ॥ ८९ ॥

अन्वय : आरामरामणीयकं अनुवदता हर्षिताङ्गेन अमुना सहसा साधुजनैः सह श्रीगुरुगुणितः देशः अदर्शि ।

अर्थ : वनपाल द्वारा किये जा रहे उस बगीचेकी सुन्दरताके वर्णनका 'हुं हुं' कहकर अनुमोदन करनेवाले और रोमाञ्चित देहवाले उस जयकुमारने एकाएक उस स्थानको देखा, जो साधुओंके साथ श्री ऋषिराजके सान्निध्य पाकर सौभाग्यशाली हो रहा था ॥ ९० ॥

प्रागेवाङ्गलतायाः पल्लविता तन्मनोरथलता तु ।
आदर्शदर्शने नृपवरस्य वाग्वल्लरी च पल्लविता ॥ ९१ ॥

प्रागेवेति । आदर्शस्य अनुकरणीयस्य महर्षेर्दर्शनेऽवलोकने जाते सति नृपवरस्य-जयस्य वाग्वाण्येव वल्लरी लता पल्लविता, प्रसरणशीलत्वाविस्यर्थः । यद्वा, पवां सुप्ति ङन्तादीनां लवा अंशाः ककारावयस्तानेतिस्मेति पल्लविताऽभूत् । निम्नाङ्कितेन कुसुम-सत्कुलत इत्यारम्य 'निजवतंसपद' इति वृत्तपर्यन्तं स्तवनेन मुनिवरं स्तुतवानित्याशयः । तस्य जयस्य मनोरथोऽभिलाष एव, लता तु पुनरङ्गलतायाः प्रागेवपल्लविता प्रसार-माप्ताऽऽसीत् । मुनिवरस्य दर्शनार्थं प्रस्थानात्पूर्वं वनपालसमागमे जयकुमारो मनो-वाक्कर्मभिर्मुनिस्तवे तन्मयोऽभूदित्यर्थः ॥ ९१ ॥

कुसुमसत्कुलतः पदपङ्कजद्वयममुष्य समेत्य शिलीमुखाः ।
स्वकृतदोषविशुद्धिविधित्सया समुपभान्ति लवा अथवागसः ॥९२॥

कुसुमेति । कुसुमानां पुष्पाणां सत्समीचीनं कुलं समूहस्तस्मात्, शिलीमुखाः भ्रमरा अमुष्य महर्षेः पदपङ्कजद्वयं चरणारविन्दयुगलं समेत्य प्राप्य, स्वकृतदोषस्य कष्टप्रदान-रूपस्य विशुद्धिः शोधनं क्षमापनमिति यावत्, तस्य विधित्सया समागता आगसः पापस्य लवा अंशा इव समुपभान्ति स्म । अथवेत्युक्त्यन्तरे ॥ ९२ ॥

शिखरतस्तु पतन्ति बृहत्तरोः पदसरोरुहयोश्च जगद्गुरोः ।
सुमचया रुचया च शिवश्रिया इव दृशां नभसो विभवाः प्रियाः ॥९३॥

अन्वय : आदर्शदर्शने नृपवरस्य वाग्वल्लरी च पल्लविता तन्मनोरथलता तु अङ्गलतायाः प्राग् एव पल्लविता ।

अर्थ : आदर्शस्वरूप ऋषिराजके दर्शन होनेपर राजा जयकुमारकी वचन-वल्ली भी पल्लवित होकर फैलने लगी । उसकी मनोरथ लता तो अंगलताके पूर्व ही पल्लवित हो चुकी थी ॥ ९१ ॥

अन्वय : अथ शिलीमुखाः कुसुमसत्कुलतः अमुष्य पदपङ्कजद्वयं समेत्य स्वकृत-दोषविशुद्धिविधित्सया आगसः लवा वा समुपभान्ति ।

अर्थ : भौंरें, जो फूलों के समूह परसे ऋषिराजके चरणकमल-युगल पर आ रहे थे ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो अपने किये दोषों को दूर करने की इच्छासे आये पापोंके अंश ही हों ॥ ९२ ॥

अन्वय : बृहत्तरोः शिखरतः तु जगद्गुरोः पदसरोरुहयोः सुमचया पतन्ति ते रुचया नभसो शिवश्रिया प्रियाः विभवाः इव भान्ति ।

शिखरत इति । बृहत्तरोः अलघुवृक्षस्य आम्रादेः शिखरत उपरिष्टात् नभस आकाशात्, जगद्गुरोर्जगत्त्रयशास्तुः महर्षेः पदसरोरुहयोः चरणकमलयोः ये सुमचयाः पुष्पस्तबकाः पतन्ति ते रुचया शोभया शिवश्रियाः मुक्तिलक्ष्म्याः प्रियाः प्रेमपूर्णा दृशां दृष्टीनां नयनोपभोगानां विभवाः कटाक्षा इव भान्तीति शेषः ॥ ९३ ॥

यतिपतेरचलादरदामरेःसुरुचिरा विचरन्ति चराचरे ।
अगणिताश्चगुणा गणनीयतामनुभवन्ति भवन्ति भवान्तकाः ॥९४॥

यतिपतेरिति । दरदां भयानामरेः शत्रोः संहारकस्यापि यतिपतेर्मुनिनायकस्य, अथ च यतेर्विश्रामस्य पतिः क्रियारहितस्तस्य, यतिपतेरपि संहारकारकस्येति विरोधाभासः । गुणाः क्षमासन्तोषादयस्ते कीदृशा अचला निश्चला अपि चराचरे सम्पूर्णेऽपि जगति विचरन्तीति विरोधाभासः । तथा ते चलाश्चिरकालस्थायिनश्च ते चराचरे विचरन्ति विचारविषया भवन्ति, सर्वेऽपि लोकास्ताननुभवन्तीति परिहारः । तेऽगणिताः संख्यातीता अपि गणनीयतां गणनभावतामनुभवन्तीति विरोधः तस्मात् ते गणैः पूज्यपुरुषसमुदायै र्नीयतां संग्राह्यतां स्वीकुर्वन्तीति परिहारः । सुरुचिरा रुचिकारका जगतां प्रिया अपि भवस्य सुखस्य अन्तका भवन्तीति विरोधः तस्माद् भवस्य जन्ममरणात्मकस्य संसारस्य अन्तकाः नाशकाः भवन्तीति परिहारः ॥ ९४ ॥

भुवि धुतोऽग्रविधिगुणवृद्धिमान् सपदि तद्धितमेव कृतं भजन् ।
यतिपतिः कथितो गुणिताह्वयः सततमुक्तिविदामिति पूज्यपात् ॥९५॥

अर्थ : अत्यन्त ऊँचे आम्रादि वृक्षके शिखरसे त्रिजगद्गुरु ऋषिराजके चरणोंमें जो फूलों के गुच्छ गिर रहे थे, वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो, आकाशसे गिरते हुए मुक्तिलक्ष्मीके सुन्दर कटाक्ष ही हों ॥ ९३ ॥

अन्वय : दरदां अरेः यतिपतेः अचला सुरुचिरा अगणिताश्च गुणाः चराचरे विचरन्ति ते गणनीयतां अनुभवन्ति भवान्तकाः च भवन्ति ।

अर्थ : भयोंके शत्रु अर्थात् अत्यन्त निर्भय ऋषिराजके निश्चल, रुचिपूर्ण तथा अगणित जो गुण इस विश्वमें व्याप्त हैं, वे समादर पाते हैं और संसारका अन्त करते हैं ।

विशेष : यहाँ गणनीयता शब्दके दो अर्थ हैं, एक तो गिनने योग्य और दूसरा आदणीय । गिनने योग्य अर्थ से तो विरोधाभास अलंकार प्रकट होता है अर्थात् 'अगणित गुण' गणनीय या गिनने योग्य कैसे ? और आदरणीय अर्थसे उस विरोधका परिहार होकर उन गुणोंकी विशेषता प्रकट होती है ॥ ९४ ॥

भुवीति । यो यतिपतिर्धुतः परिहृत उग्रविधिः पापकर्म येन स तत एव गुणानां शीलादीनां वृद्धिर्यथोत्तरमुत्कर्षप्राप्तिस्तद्वान् सपदि शीघ्रं तत्प्रसिद्धं स्वपरदुरितक्षपण-रूपं हितं कल्याणं कृतं सम्पादितमेवेति निश्चयेन भजन् सेवमानः, एवं गुणितः, गुण प्रशंसा तामित आह्वयो नाम येन सः, सतता सम्पादनानन्तरमव्ययशीला मुक्तिः संसरण-निवृत्तिस्तद्विदां मोक्षलक्षणज्ञानां पूज्यौ संमाननीयौ पादौ यस्य स कथितः तथा च धुतो धातुतो भूप्रभृतेरग्रे पुरतो विधिर्विधानं प्रत्ययादिप्रदानलक्षणं येन सः । गुणश्च वृद्धिश्च गुणवृद्धी व्याकरणशास्त्रोक्ते संज्ञे तद्वान्, पुनस्तद्धितं संज्ञातः संज्ञान्तरकरणार्थं प्रत्ययविधानम्, कृतं धातुतः संज्ञाकरणार्थं प्रत्ययं भजन् जानन् सन् गुणिताः सम्पादिता आह्वया नामानि वस्तुप्रभृतीनि येन स सततमेव उक्तिविदां वैयाकरणानां पूज्यपादनामा-चार्यवर्यो जैनेन्द्रव्याकरणकर्ता महाशय इव कथितः ॥ ९५ ॥

जगति भास्कर एष नरर्षभो भवति भव्यपयोरुहवल्लभः ।
लसति कौमुदमप्यनुभावयन्नमृतगुत्वयुगित्यपि च स्वयम् ॥ ९६ ॥

जगतीति । एष नरर्षभो नरोत्तमो मुनिनायको जगति लोके प्राणिवर्गस्योपरि वा भास्करः सूर्यः, भा इव भाः प्रभा तत्कारकः प्राणिमात्राय शिक्षादायकस्तस्माद् भव्यानि

अन्वय : भुवि सपदि धुतोऽग्रविधिः गुणवृद्धिमान्, तद्धितम् एवं कृतं भजन् गुणिताह्वयः यतिपतिः सततमुक्तिविदां पूज्यपाद् इति ।

अर्थ : पृथ्वीपर इस समय जिन्होंने पापकर्म नष्टकर दिया है एवं जो गुणोंकी वृद्धि करनेवाले हैं तथा प्राणिमात्रका हित ही करते हैं, वे इस प्रशस्त गुणोंसे सुविख्यात यतिराज मुमुक्षुजनोंके बीच पूज्यपाद हैं।

विशेष : व्याकरणशास्त्रकी दृष्टिसे इसका अर्थ इस प्रकार भी होगा। धातुके आगे गुण और वृद्धि संज्ञाओंकी विधि करनेवाले, तद्धित और कृदन्त प्रकरणोंको स्पष्ट करनेवाले तथा संज्ञात्मक शब्दोंको भी स्पष्ट बतलानेवाले 'पूज्यपाद' नामक आचार्य निरन्तर उक्तिवेत्ता वैयाकरणोंमें प्रमुख हैं ॥९५॥

अन्वय : एषः नरर्षभः जगति भव्यपयोरुहवल्लभः भास्करः (अस्ति) । अपि च कौमुदम् अनुभावयन् स्वयम् अमृतगुत्वयुग् अपि लसति ।

अर्थ : पुरुषों में श्रेष्ठ ये मुनिनायक इस संसारमें सज्जनरूप कमलोंके प्रीति-पात्र और प्राणिमात्रको शिक्षा, ज्ञान देनेवाले हैं। साथ ही भूमण्डल पर हर्ष विस्तारित करते हुए ये अनायास ही अमृतवत् जीवनदायक और मधुर अहिंसा-धर्मोपदेशक भी होकर शोभित हो रहे हैं।

मनोहराणि च तानि पयोरुहाणि यद्वा भवितुं योग्या भव्याः सज्जनास्त एव पयोरुहाणि तेषां वल्लभः प्रेयान् । अपि च, कौमुदं कुमुदसमूहम् यद्वा कौ मुदं हर्षमनुभावयन्, सम्पादयन् स्वयमेव अनायासेनैव वाऽमृतस्य सुधाया गावो रश्मयो यस्य सोऽमृतगुरुचन्द्रः, अमृतवत् जीवनदायिनी गीर्वाणी यस्य सोऽमृतगुः, पीयूषमधुरगिरा अहिंसाधर्मोपदेशक इत्यर्थः । तस्य भावस्तत्त्वं युनक्तीति युग् एतादृगपि लसति । अयं भाव :— यद्यपि सूर्यश्चन्द्रमा भवितुं न शक्नोति तथाप्ययं तु भास्करः सन्नपि अमृतगुत्वयुगिति वैचित्र्यम् ॥ ९५ ॥

अथ धराभवमाशुरसातलं यतिवरेण पुनः सुमनः स्थलम् ।
परमिहोद्धरता तपसोचितं ननु जगत्तिलकेन विराजितम् ॥ ९७ ॥

अथेति । अथेत्यव्ययं शुभसंवादे । ननु चोक्त्यन्तरे । धराभवं शरीरं मध्यलोकश्च । रसातलं जिह्वाग्रभागं पाताललोकञ्च । सुमनः स्थलं पवित्रात्मकं मनोविचारं स्वर्गलोकश्च । आशु अनायासेन परम् अतिशयेन उद्धरता गुप्तित्रयात्मकेन लोकत्रयहितकरेण च यतिवरेण क्षपणकाधिपतिना तपसा अनशनात्मकेन द्वादशरूपेण कृत्वा उचितं युक्तमेव जगत्तिलकेन जगतां शिरोमणिना विराजितं शोभितम् इह एतत्प्रदेशे पुण्यस्वरूपे ॥९७॥

विशेष : इस पद्यमें 'भास्कर'का अर्थ सूर्य भी है और उसके विशेषण 'भव्यपयोरुहवल्लभः'का अर्थ सुन्दर कमलोंका विकास करनेके कारण, प्रीतिपात्र । इसीप्रकार 'अमृतगुत्वयुग्'का अर्थ है अमृतमयी किरणोंसे युक्त चन्द्रमा जो कौमुदम् यानी कुमुदों (रात्रिकमलों)को विकसित करते हुए उनका हर्ष (विकास) बढ़ाता है । इसप्रकार कविने नामतः मुनिनायकको सूर्य और चन्द्र दोनों बना दिया है । ये दोनों कभी एक नहीं होते, यही मुनिराजकी विचित्रता है ॥ ९६ ॥

अन्वय : अथ धराभवं रसातलं पुनः सुमनः स्थलम् आशु तपसा परम् उद्धरता जगत्तिलकेन इह विराजितम्, तत् उचितं ननु ।

अर्थ : शरीर, जीह्वाग्रभाग और पवित्र हृदय (मन)को बिना आयासके तपस्या द्वारा अत्यन्त ऊँचा उठानेवाले इस जगत्के लिए तिलकस्वरूप ये मुनिराज जो इस पुण्य-पवित्र प्रदेशमें विभाजित हैं, वह निश्चय ही उचित है ।

विशेष : यहाँ 'धराभवम्' का अर्थ मृत्युलोक, 'रसातलम्' का पाताल लोक और 'सुमनःस्थलम्' का अर्थ देवलोक या स्वर्ग होता है । मुनिराजने अपनी तपस्या द्वारा तीनोंको ऊँचा उठाया—पवित्र किया, इसीलिए उन्हें 'जगत्तिलक' (तीनों लोगोंको तिलककी तरह भूषण) कहा गया है ॥ ९७ ॥

भुवि महागुणमार्गणशालिना सुविधधर्मधरेण च साधुना ।
अभयमङ्गिजनाय नियच्छता यदपि मोक्षपरस्वतयास्थितम् ॥ ९८ ॥

भुवीति । भुवि पृथिव्यां महान्तो गुणस्थानानि च मार्गणास्थानानि च तैः कृत्वा शालिना शोभनेन यद्वा गुणः प्रत्यञ्चा मार्गणो बाणस्ताभ्यां शालिना । सुविधः सम्यक्-प्रकारकश्चासौ धर्मः सदाचारः चापश्च, तद्धारकेण साधुना । अङ्गिजनाय प्राणिवर्गाय जनशब्दोऽत्र समूहवाचकः । अभयं निर्भयभावं नियच्छता ददता अपि मोक्षो भवान्तराभावो बाणस्य लक्ष्यश्च, तस्मिन् परः स्व आत्मा यस्य, तस्य भावः प्रत्ययस्तया स्थितं मुनिवरेण ॥ ९८ ॥

निजवतंसपदे विनियोज्य तन्मृदु यदीयपदाम्बुरुहद्वयम् ।
सुपरितोषमिताः पुनरात्मनोऽमरगणाश्च वदन्ति महोदयम् ॥९९॥

निजेति । अमरगणाश्च देवनिकाया अपि, पदावेव अम्बुरुहे कमले तयोर्द्वयम् यदीयञ्च तत्पदाम्बुरुहञ्च तत्, मृदु कोमलं निजस्य स्वस्य वतंसपदे मुकुटस्थाने विनियोज्य योजयित्वा, आत्मनः सुपरितोषमिताः सन्तुष्टभावं गताः सन्तो महो व भाग्यशालित्वं वदन्ति । यद्वा—महोदयं तं महर्षिं स्तुवन्ति ॥ ९९ ॥

अथ परीत्य पुनस्त्रिरतः स्थितः समुचितो नवनीतविनीतकः ।
मुकुलितात्मकराम्बुरुहद्वयः पुरत एव स साधुसुधारुचः ॥१००॥

अन्वय : भुवि महागुणमार्गणशालिना सुविधधर्मधरेण च अङ्गिजनाय अभयं नियच्छता अपि साधुना यत् मोक्षपरस्वतया स्थितम् ।

अर्थ : इस भूमण्डल पर ये साधु मुनिराज गुणस्थान और मार्गणाओंकी चर्चासे सम्पन्न हैं, उत्तम विधियुक्त धर्मके धारक हैं तथा प्राणिमात्रको अभय दान देते हैं। फिर भी ये मुक्ति प्राप्त करनेमें तत्परतासे लगे हुए हैं।

दूसरा अर्थ : गुण (प्रत्यञ्चा) और मार्गणों (बाणों)से युक्त, उत्तम धर्म (धनुष)के धारक ये साधुराज प्राणिमात्रको अभयदान देते हुए भी अचूक निशाना लगानेमें भी तत्पर हैं ॥ ९८ ॥

अन्वय : च अमरगणाः तत् यदीयपदाम्बुरुहद्वयं मृदु निजवतंसपदे विनियोज्य सुपरितोषम् इताः पुनः आत्मनः महोदयं वदन्ति ।

अर्थ : और देवता लोग भी उनके कोमल चरण-कमल-युगलको अपने मुकुटके स्थान पर लगाकर सन्तुष्ट हो अपने भाग्योदयको सराहते हैं ॥ ९९ ॥

अथेति । अथानन्तरं तं मुनिं त्रिः परीत्य त्रिवारं प्रदक्षिणीकृत्य, अतः पुनः नवनीतवत् विनीतः क आत्मा यस्य स नवनीतविनीतको हैयङ्गवीनवन्मृदुलतोपेतः, मुकुलितं मिथः संयोगेन कुड्मलतां नीतमात्मनः करुहाम्बुजयोर्द्वयं येन सः, समुचितो निजहस्तपादाविसङ्कोचशीलः सन् स राजा साधुरेव सुधारुक् चन्द्रस्तस्य पुरतोऽग्रे स्थितस्तस्थौ ॥ १०० ॥

श्यामाशयं परित्यज्य राजा हर्षितमानसः ।
संश्रित्य जगतां मित्रं शुक्लं पक्षमिहाप्तवान् ॥ १०१ ॥

श्यामेति । राजा जयकुमारः चन्द्रश्च श्यामश्चासौ आशयस्तं कलुषपरिणामं सङ्कल्पविकल्परूपकम् पक्षेऽन्धकारस्वरूपं कृष्णपक्षं परित्यज्य, जगतां प्राणिनां मित्रं हितकरम्, पक्षे सूर्यं संश्रित्य गत्वा हर्षितमानस आह्लादितचित्तः, पक्षे मानसमित्युपलक्षणीकृत्य प्रसादितमानसादिजलाशयः सन् पक्षे इह भूतले शुक्लं पवित्रं निर्मलञ्च पक्षं साध्यधर्माधारं मासार्धं च आप्तवान् प्राप । चन्द्रः कृष्णपक्षे क्रमशः सूर्यमुपाश्रित्य पुनः शुक्लपक्षमेतीति प्रसिद्धिः ॥ १०१ ॥

वर्द्धिष्णुरधुनाऽऽनन्दवारिधिस्तस्य तावता ।
इत्थमाह्लादकारिण्यो गावः स्म प्रसरन्ति ताः ॥ १०२ ॥

वर्द्धिष्णुरिति । अधुना साम्प्रतमानन्दवारिधिः सुखसमुद्रो वर्द्धिष्णुः वृद्धिशीलोऽ

अन्वय : अथ समुचितः नवनीतविनीतकः सः पुनः त्रिः परीत्य मुकुलितात्मकराम्बुरुहद्वयः सन् साधुसुधारुचः पुरतः स्थितः अभूत् ।

अर्थ : इसके बाद सुन्दर मक्खन के समान कोमल चित्त वह जयकुमार तीन प्रदक्षिणाएँ कर चन्द्ररूप उन साधु महाराजके समक्ष कमलरूप अपने दोनों हाथों को जोड़कर विनयपूर्वक बैठ गया ॥ १०० ॥

अन्वय : हर्षितमानसः राजा श्यामाशयं परित्यज्य जगतां मित्रं संश्रित्य इह शुक्लं पक्षम् आप्तवान् ।

अर्थ : जैसे समुद्रको हर्षित करनेवाला चन्द्रमा कृष्णपक्षको त्यागकर सूर्यके साथ सम्मिलित हो पुनः शुक्लपक्षको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही प्रसन्नचित्त राजा जयकुमार भी अपने मनकी मलिनता त्यागकर जगत्के मित्र ऋषिराजको प्राप्तकर प्रसन्नचित्त हो गया ॥ १०१ ॥

अन्वय : अधुना तस्य तावता आनन्दवारिधिः वर्धिष्णुः । अतः इत्थम् आह्लादकारिण्यः गावः प्रसरन्ति स्म ।

भवत् । तस्य राज्ञस्तावता ता इत्थं वक्ष्यमाणा आह्लादकारिण्यः प्रीत्युत्पादिन्यो गावो वाचः, चन्द्रपक्षे रश्मयश्च प्रसरन्ति स्म प्रसारमापुरिति पूर्वेण योगः ॥ १०२ ॥

कलशोत्पत्तितादात्म्य मितोऽहं तव दर्शनात् ।
आगस्त्यक्तोऽस्मि संसारसागर श्चुलुकायते ॥ १०३ ॥

कलशेति । हे महर्षे ! अहं जयकुमारस्तव दर्शनात्, कलं च तत् शं सुखं शर्म वा, तस्य उत्पत्तिः सम्प्राप्तिस्तया तादात्म्यमेकीभावमितो गतः । तथा च, कलशः कुम्भस्तत उत्पत्तिः प्रादुर्भावस्तस्यास्तादात्म्यमितः । आगसा अपराधेन त्यक्तो विहीनः । अथवा अगस्त्यस्य भाव आगस्त्यं ततः क्तप्रत्ययवान् भवामि । क्तप्रत्ययस्य धातुनामुक्तत्वात् संज्ञासु अप्रसक्तत्वात् अघटितघटनामत्तोऽस्मीति भावः । तत एव संसार एव सागरः, स चुलुकायते प्रसृतिभावमाप्नोतीति ॥१०३॥

ममात्मगेहमेतत्ते पवित्रैः पादपांशुभिः ।
मनोरमत्वमायाति जगत्पूत निलिम्पितम् ॥ १०४ ॥

ममेति । हे जगत्पूत ! जगत्सु प्राणिमात्रेषु पवित्र, ते पादपांशुभिः चरणरेणुभिः निलिम्पितमुपलिप्तं भवत् ममात्मनो गेहमेतत् मदीयं मनः कुटीरकं मनोरमत्वं सुन्दरत्वमायाति ॥ १०४ ॥

अर्थ : उस समय उस राजा जयकुमारका आनन्दरूप समुद्र उमड़ पड़ा । अतः चन्द्रकी किरणोंकी तरह उसकी वक्ष्यमाण (आगे कही जानेवाली) वाणी चारों ओर फैलने लगी अर्थात् वह बोलने लगा ॥ १०२ ॥

अन्वय : तव दर्शनात् अहं कलशोत्पत्तितादात्म्यम् इतः आगस्त्यक्तः अस्मि । (अतएव) संसारसागरः चुलुकायते ।

अर्थ : भगवन् ! आपके दर्शनोंसे आज मैं सुन्दर सुख पाता हुआ पापरहित हो रहा हूँ । अतएव मेरे लिए यह संसारसागर अब चुल्लूभर लगता है, जैसे कि कलशसे उत्पन्न अगस्त्य ऋषिके लिए समुद्र चुल्लूमें समा गया था ॥ १०३ ॥

अन्वय : हे जगत्पूत ! ते पवित्रैः पादपांशुभिः निलिम्पितं मम एतत् आत्मगेहं मनोरमत्वम् आयाति ।

अर्थ : प्राणिमात्रमें पवित्र गुरुदेव ! आपकी परम पवित्र चरणधूलिसे लिप्त यह मनःकुटीर मनोरम हो रहा है ॥ १०४ ॥

त्वं सज्जनपतिश्चन्द्रवत्प्रसादनिधेऽखिलः ।
पादसम्पर्कतो यस्य लोकोऽयं निर्मलायते ॥ १०५ ॥

त्वामिति । हे प्रसादनिधे, हे प्रसन्नताशेवधे, प्राणिमात्रोपरि अनुग्रहपरायणत्वा-दित्याशयः । त्वं चन्द्रवत् सज्जनपतिः, तारकानायकश्च भवसि, यस्य पादसम्पर्कतः चरणस्पर्शेन किरणसंसर्गेण वा, अयं लोको निर्मलायते पवित्रीभवति, धावल्यमुपयातीति वा ॥ १०५ ॥

महतामपि भो भूमौ दुर्लभं यस्य दर्शनम् ।
भाग्योदयाच्चकास्तीति स पाणौ मे महामणिः ॥ १०६ ॥

महतामपीति । भो स्वामिन्, भूमौ पृथिव्यां यस्य दर्शनं विलोकनं महतां पुण्य-शालिनामपि दुर्लभम्, किं पुनरितरेषामित्यर्थः, कष्टसाध्यं भवति । स महामणि-श्चिन्तारत्नं भाग्योदयात् पुण्यपरिणामात् मे पाणौ हस्त एव चकास्ति । भवद्दर्शनेन मम चिन्तामणिवत् मनोरथसिद्धिर्जायत इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

धन्याः परिग्रहाद्यूयं विरक्ताः परितो ग्रहात् ।
नित्यमत्रावसीदन्ति मादृशा अबलाकुलाः ॥ १०७ ॥

अन्वय : प्रसादनिधे ! त्वं चन्द्रवत् सज्जनपतिः, यस्य पादसम्पर्कतः अयम् अखिलः लोकः निर्मलायते ।

अर्थ : हे प्रसन्नताके निधि मुनिराज ! आप चन्द्रमाकी तरह सज्जनोंके शिरोमणि हैं, जिनके चरणोंका सम्पर्क पाकर यह सारा जीवलोक (संसार) निर्मल बन रहा है । चन्द्रकी किरणोंका भी संपर्क पाकर सारा संसार निर्मल प्रकाशवान् बन जाता है ॥ १०५ ॥

अन्वय : भो भूमौ यस्य दर्शनम् महताम् अपि दुर्लभम्, सः महामणिः भाग्यो-दयात् मे पाणौ चकास्ति ।

अर्थ : ऋषिराज ! इस धरातलपर जिसका दर्शन भाग्यशाली महापुरुषोंके लिए भी दुर्लभ है, वह महामणि आज मेरे भाग्योदयसे, सौभाग्यसे मेरे हाथमें शोभित हो रहा है ॥ १०६ ॥

अन्वय : परितो ग्रहात् विरक्ता यूयं धन्याः । अबलाकुलाः मादृशाः (तु) अत्र नित्यम् अवसीदन्ति ।

धन्या इति। परितो ग्रहात् पर्यन्ततो ग्रहस्वरूपात् निलग्नभूताविवद् उद्वेगकारकात् परिग्रहाद् धनधान्यादिस्वीकाराद् विरक्ताः, रागशून्या यूयं धन्याः श्लाघ्या भवथ। मादृशा अबलाभिराकुलाः स्त्रीजनासक्ता जना नित्यमस्मिंल्लोकेऽवसीदन्ति कष्टमनुभवन्ति ॥ १०७ ॥

क्षतकाम महादान नय दासं सदायकम् ।
सत्यधर्ममयाऽवाममक्षमाक्ष क्षमाक्षक ॥ १०८ ॥

क्षतकामेति। हे क्षतकाम ! क्षतः प्रणष्टः कामः स्त्रीसङ्गभावो यस्य सः, तत्सम्बोधने। हे महादान ! सकलदत्तिकारकत्वात्, जगतां निर्भयकरत्वाच्च। हे सत्यधर्ममय सम्यगनुष्ठानतत्पर, हे अक्षमाक्ष अक्षमाणि असमर्थानि अक्षाणि इन्द्रियाणि यस्य, जितेन्द्रियत्यर्थः। हे क्षमाक्षक क्षमायाः सहिष्णुतायाः अक्षः शकट एव क आत्मा यस्य सः तत्सम्बोधने, क्षमानिर्वाहकेत्यर्थः। 'अक्षस्तु पाशके चक्रे शकटे च विभीतके' इति विश्वलोचनः। अवामं सरलस्वभावं मां दासं सेवकं सदायकं सततोदयं सन्मार्गं वा नय प्रापय ॥ १०८ ॥

कर्तव्यमनकाऽस्माकं कथयाऽथ मुनेऽनकम् ।
किमस्ति व्यसनप्राये किन्न धाम्नि विशामये ॥ १०९ ॥

कर्तव्यमिति। हे अनक निष्पाप, मुने ! व्यसनप्राये सङ्कटबहुले इष्टवियोगनिष्टसंयोगतया, धाम्नि गृहे विशां निवसतामस्माकम् अनकं कष्टवर्जितं सरलमित्यर्थः, कर्तव्यमवश्यकरणीयं किमस्ति, किं वा नास्तीति कथय प्रतिपादय। अयेति आदरामन्त्रणार्थमव्ययम् ॥ १०९ ॥

अर्थ : मुने ! चारों तरफसे जकड़ रखनेवाले परिग्रहसे विरक्त, वितृष्ण आप धन्य हैं। इसके विपरीत स्त्रीजनोंमें आसक्त मुझ जैसे व्यक्ति तो सदैव संसारमें दुःख पाते हैं ॥ १०७ ॥

अन्वय : क्षतकाम, महादान, सत्यधर्ममय, अक्षमाक्ष, क्षमाक्षक ! अवामं दासं सदायकं नय।

अर्थ : कामरहित, महादानके दाता, सत्यधर्मके पालक, जितेन्द्रिय और क्षमाके धारक मुने ! सरलचित्त इस दासको सन्मार्गपर लगायें ॥ १०८ ॥

अन्वय : अथ अये अनक मुने ! व्यसनप्राये धाम्नि विशाम् अस्माकम् अनकं कर्तव्यं किम् अस्ति किं (वा)नास्ति इति कथय।

अर्थ : हे निष्पाप मुनिराज ! दुःखपूर्ण घरोंमें रहनेवाले हम गृहस्थोंके लिए कौन-सा कर्तव्य निर्दोष और करणीय है और कौन-सा नहीं, यह (कृपाकर) समझाइये ॥ १०९ ॥

ग्रन्थारम्भमये गेहे कं लोकं हे महेङ्गित ।
शान्तिर्याति तथाप्येनं विवेकस्य कलाऽतति ॥ ११० ॥

ग्रन्थारम्भेति । हे महेङ्गित प्रशस्तचेष्ट, ग्रन्थारम्भसमये परिग्रहव्यापाररूपेऽस्मिन् गेहे शान्तिर्निराकुलता कं लोकं याति, न कमपि प्राप्नोतीत्यर्थः । तथापि पुनरेनं त्वच्चरणनिकटवर्तिनं जनं विवेकस्य विचारस्य कलालेशः प्राप्नोति ॥ ११० ॥

समुत्सवकरस्याऽस्याऽभ्युदयेन रवेरिव ।
श्रीमतो मुनिनाथस्याऽप्युद्भिन्ना मुखमुद्रणा ॥१११॥
भूपालबाल किन्नो ते मृदुपल्लवशालिनः ।
कान्तालसन्निधानस्य फलतात् सुमनस्कता ॥ ११२ ॥
(युग्मम्)

समुत्सवेति । रवेः सूर्यस्येव समुत्सवकरस्य समुत् सहर्षं सवं स्तवनं करोति तस्य, अथवा सम्यगुत्सवकारकस्य । पक्षे मुत्सहित स्तवः संधानं येषामेतादृशाः कराः किरणा यस्य तस्य । अस्य राज्ञोऽभ्युदयेन पुण्यपरिपाकेन, पक्षे उद्गमनेन । श्रीमतः कमलरूपस्य श्रिया सहितस्य मुनिनाथस्यापि मुखमुद्रणा मौनिता, पक्षे कुड्मलरूपता च उद्भिन्ना निरस्ता अभूत् । यथा हे भूपालबाल ! मृदुपल्लवशालिनः मृदुभिः कोमलैः पल्लवैः शब्दांशैः शालिनो मधुरभाषिणः, पक्षे सुकोमलपत्रयुक्तस्य । कान्तया वनितया लसत् शोभमानं निधानं धनाधिकरणं गृहं वा यस्य तस्य, पक्षे रलयोरभेदात् कान्तारं वनमेव सन्निधानं यस्य तस्य । वृक्षस्थे वने सुमनस्कता पवित्रचित्तता, पक्षे उत्तमकुसुमयुक्तता । फलतात् सफला भवत्वित्यर्थः ॥ १११-१२ ॥

अन्वय : महेङ्गित ! ग्रन्थारम्भमये गेहे शान्तिः कं लोकं याति ? तथापि एतं विवेकस्य कला अतति ।

अर्थ : हे प्रशस्त चेष्टावाले मुनिराज ! परिग्रह-व्यापाररूप इस घरमें किसे शान्ति प्राप्त हुई है ? अर्थात् किसीको भी नहीं । फिर भी आपके चरणोंके निकट-वर्ती इस जन (जयकुमार) को विवेकका लेश तो प्राप्त हो ही जाता है ॥११०॥

अन्वय : रवेरिव समुत्सवकरस्य अस्य अभ्युदयेन श्रीमतः मुनिनाथस्य मुखमुद्रणा उद्भिन्ना । हे भूपालबाल ! मृदुपल्लवशालिनः कान्तालसन्निधानस्य ते सुमनस्कता किं नो फलतात् ।

अर्थ : सूर्यकी तरह सहर्ष स्तवन कर रहे इस महाराज जयकुमारके अभ्यु-दय (सौभाग्य, पुण्यपरिपाक या उदय) से शोभायुक्त मुनिनाथ (अथवा कमल) का मौन खुल गया । वे बोलने लगे—हे राजकुमार, स्त्रियोंसे शोभित घरवाले तथा मधुरभाषी तुम्हारा सौमनस्य या पवित्रचित्तता क्या सफल नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी ॥ १११-१२ ॥

जन्मश्रीगुणसाधनं स्वयमवन् संदुःखदैन्याद् बहि-
र्यत्नेनैष विधुप्रसिद्धयशसे पापापकृत् सत्त्वपः ।
मञ्जूपासकसङ्गतं नियमनं शास्ति स्म पृथ्वीभृते,
तेजः पुञ्जमयो यथागममथा हिंसाधिपः श्रीमते ॥११३॥

जन्मेति । एष ऋषिवरः पापापकृत् दुरितापहारकस्सत्त्वपः सत्त्वगुणरक्षकः, तेजस आत्मबलस्य पुञ्जमयोऽहिंसायाः प्राणिरक्षणलक्षणाया अधिपतिः, दुःखतो दैन्याच्च बहिर्गतं दूरवर्ति श्रीगुणानां क्षमासन्तोषादीनां साधनमुपार्जनं यत्र तत् स्वयमात्मनो जन्म मनुष्य-पर्यायात्मकमवन् धारयन् सन् श्रीमते विधुवत्प्रसिद्धं यशो यस्य तस्मै चन्द्रवन्निर्मलयशोधरस्य पृथ्वीभृते तस्मै जयकुमाराय, उपासकेभ्यः श्रावकेभ्यो मध्यवृत्तिधारकेभ्यः सङ्गतं यदुचितं तन्मञ्जु मनोहरं चित्तग्राहि नियमनमाचरणप्रकरणमागममाम्नायशास्त्रमाप्तोपज्ञमनतिक्रम्य यद्भवति तद् यथागमं यथा स्यात् तथा शास्ति स्म यत्नेन सावधानतया । न कदाचिदागमविरुद्धवचनं मुखान्निर्गच्छेदिति विचारपूर्वकमित्यर्थः । उपर्युक्तच्छन्दश्चक्रबन्धे लिखित्वा तस्य प्रत्यग्राक्षरैः षष्ठाक्षरैश्च कृत्वा 'जयमहीपतेः साधुसदुपास्ती'ति सर्गनिर्देशः कृतो भवति ॥ ११३ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेनास्मिन्नुदिते जयोदयनय-प्रोद्धारसाराश्रितो,
नानानव्य-निवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १ ॥

●

अन्वय : अथ एषः पापापकृत् दुरितापहारकः सत्त्वपः तेजःपुञ्जमयः अहिंसाधिपः दुःखदैन्यात् बहिः श्रीगुणसाधनं स्वयं जन्म अवन् सन् श्रीमते विधुवत्प्रसिद्धयशसे पृथ्वीभृते उपासकसङ्गतं मञ्जु नियमनं यथागमं शास्ति स्म ।

अर्थ : इसके पश्चात् पापापहारी, सत्त्वगुणके रक्षक, आत्मबलसे सम्पन्न और अहिंसाके अधिपति उन मुनिराजने दुःख-दैन्यसे शून्य तथा धन एवं क्षमा-सन्तोषादि गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यजन्म धारण करनेवाले, चन्द्रवत् निर्मल-यश महाराज जयकुमारके लिए मध्यवृत्तिधारक श्रावक जनोंके लिए उचित और मनोरम आचार-प्रकरणका आगमशास्त्रानुसार उपदेश दिया ॥ ११३ ॥

विशेष : इस वृत्तको छह आरोंवाले चक्रमें लिखकर उसके प्रत्येक आगेके अक्षर और फिर प्रत्येक छठे अक्षरसे 'जयमहीपतेः साधु-सदुपास्ति' ऐसा पद निकल आता है जो इस सर्गमें वर्णित विषयका निर्देशक है ॥ ११३ ॥

प्रथम सर्ग समाप्त

●

द्वितीयः सर्गः

संहितायमनुयन् दिने दिने संहिताय जगतो जिनेशिने ।
संहिताञ्जलिरहं किलाधुना संहितार्थमनुवच्मि गेहिनाम् ॥ १ ॥

संहितायेति । अहं ग्रन्थकर्ता प्रतिदिनं संहितायमनुयन् हितमार्गमनुसरन्, जगतः संसारस्य संहिताय हितकर्त्रे जिनेशिने जिनेन्द्राय संहितोऽञ्जलिर्येन स बद्धाञ्जलिः सन् सम्प्रति गेहिनां गृहस्थानां संहितोऽर्थो यस्मिन् तत्संहितार्थं सम्यक्कल्याणकारि-कर्तव्य-शास्त्रं वच्मि कथयामि किलेति वाक्यालङ्कारे ॥ १ ॥

भाति लब्धविषयव्यवस्थितिर्धीमतां लसतु लभ्यनिष्ठितिः ।
तद्द्वयेष्टपरिपूरणास्थितिः सञ्जयेत्तु महतामहो मतिः ॥ २ ॥

भातीति । लब्धाः प्राप्ता ये विषयाः पदार्थास्तेषां व्यवस्थितिर्व्यवस्थापनं तु सर्वेषां शोभते, किन्तु धीमतां बुद्धिमतां लब्धुं योग्यानि लभ्यानि तेषु निष्ठितिः प्राप्तव्य-वस्तुषु श्रद्धा शोभताम् । महतां महात्मनां मतिर्बुद्धिस्तु तद्द्वयस्य इष्टपरिपूरणे आस्थितिर्यस्याः सा, अप्राप्तप्राप्ति-प्राप्तरक्षणरूप-योगक्षेमयोरुभयोः सञ्जयेत् सर्वो-त्कर्षेण वर्तेत, इत्यहो आश्चर्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

अन्वय : दिने दिने संहितायमनुयन् जगतः संहिताय जिनेशिने संहिताञ्जलिः किल अहं अधुना गेहिनां संहितार्थम् अनुवच्मि ।

अर्थ : प्रतिदिन हितके मार्गका अनुसरण करता हुआ मैं जगत्का सम्यक्-हित करनेवाले जिन भगवान्के लिए नियमपूर्वक हाथ जोड़कर गृहस्थोंके हितके लिए संहिताशास्त्रका अर्थ कहता हूँ ॥ १ ॥

अन्वय : लब्धविषयव्यवस्थितिः भाति, धीमतां लभ्यनिष्ठितिः लसतु । तु महतां तद्द्वयेष्टपरिपूरणास्थितिः मितिः सञ्जयेत् अहो ।

अर्थ : प्राप्त विषयों (भोगों या पदार्थों) की व्यवस्था करना तो सभीको सुहाता है और विद्वानको अप्राप्तको प्राप्त करनेकी श्रद्धा हुआ करती है। किन्तु इन दोनोंका समुचित रूपसे प्राप्त होते रहना महात्माओंके लिए समीचीन मार्ग है ॥ २ ॥

आत्मने हितमुशन्ति निश्चयं व्यावहारिकमुताहितं नयम् ।
विद्धि तं पुनरदः पुरस्सरं धान्यमस्ति न विना तृणोत्करम् ॥ ३ ॥

आत्मन इति । यद्यपि महात्मानो निश्चयनयमात्मने हितं शुभकरमुशन्ति, वाञ्छन्ति, उत व्यावहारिकनयमात्मनेऽहितमुशन्ति; तथापि हे शिष्य, स निश्चयनयो व्यवहारनयपूर्वक एव भवतीति विद्धि जानीहि । यतो हि तृणानामुत्करः पलालसमूहस्तं विना धान्यमन्नं नोद्भवति यथा, तथैव व्यवहारनयपूर्वक एव निश्चयनय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

नीतिरैहिकसुखाप्तये नृणामार्षरीतिरुत कर्मणे घृणा ।
लोकनिर्गतसुखा विनाऽगदं दद्रुखर्जन उपैति को मुदम् ॥ ४ ॥

नीतिरिति । नृणां नराणां नीतिरैहिकसुखानामवाप्तिस्तस्यै सांसारिकसुखप्राप्तये भवति, उत अथवा आर्षा चासौ रीतिर्वैदिकनियमः कर्मणे घृणामुपेक्षामादिशति । परन्तु लौकिकसुखप्राप्तिमुपेक्षते । वस्तुतः कर्माचरणमन्तरा सुखवाप्तिर्दुर्लभेति अर्थान्तरन्यासेनाह—यथा अगदमौषधं विना दद्रोः खर्जनं दद्रूकण्डूयनं तस्मिन् कः पुरुषो मुदं हर्षमुपैति, न कोऽपीत्यर्थः । एवमेव कर्मान्तरालौकिकसुखप्राप्तिरपि लोकान्निर्गतं सुखं यस्याः सा सुखोत्पादनरहिताऽस्तीति भावः ॥ ४ ॥

तत्त्वभृद् व्यवहृतिश्च शर्मणे पूतिभेदनमिवाग्रचर्मणे ।
तवदूषरटके किलाफले का प्रसक्तिरुदिता निरर्गले ॥ ५ ॥

अन्वय : (महात्मानः) निश्चयनयं आत्मने हितम् उत व्यावहारिकं नयम् अहितम् उशन्ति । पुनः तम् अदः पुरस्सरं विद्धि । यतः तृणोत्करं विना धान्यं नास्ति ।

अर्थ : यद्यपि महात्मा लोग निश्चय-नयको अपना हितकर अथवा व्यवहार-नयको अहितकर कहते हैं। फिर भी हे शिष्य ! यह समझ लें कि निश्चय-नय व्यवहार-नयपूर्वक ही होता है, क्योंकि धान्य भूसेके बिना नहीं होता ॥ ३ ॥

अन्वय : नृणाम् ऐहिकसुखाप्तये नीतिः उत आर्षरीतिः कर्मणे घृणाम् (आदिशति, या) लोकनिर्गतसुखा । यतः अगदं विना दद्रुखर्जने कः मुदम् उपैति ।

अर्थ : मनुष्योंके ऐहलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिए नीति होती है, अथवा आर्षनीति या वैदिक नियम कर्मोंके लिए उपेक्षा करनेका आदेश देते हैं जो लौकिक सुखप्राप्तिकी परवाह नहीं करते। भला औषधिके बिना खुजलाने मात्रसे दादका रोग कैसे दूर हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥ ४ ॥

अन्वय : च तत्त्वभृद् व्यवहृतिः या अग्रचर्मणे पूतिभेदनम् इव शर्मणे भवति । निरर्गले अफले तावत् ऊपरटके प्रसक्तिः का किल उदिता ।

तत्त्वभृदिति। तत्त्वं बिभर्तीति तत्त्वभृद् यथार्था व्यवहृतिर्व्यवहारः शर्मणे सुखाय भवति। यथा पूतेः स्फोटकस्य भेदनं विदारणम्, अग्रं नूतनं च तच्चर्म तस्मै नवचर्मोत्पादनाय जायते। किन्तु ऊषरटके सिकतिले प्रदेशे, कथंभूते ? अविद्यमानफले पुनर्निरर्गलेऽन्नोत्पादनशून्ये, कीदृशी प्रसक्तिः ? बीजवपनादिक्रिया उचिता कथिता, न कापीत्यर्थः ॥ ५ ॥

लोकरीतिरिति नीतिरङ्किताऽऽर्षप्रणीतिरथ निर्णयाश्रिता।
एतयोः खलु परस्परेक्षणं सम्भवेत् सुपरिणामलक्षणम् ॥ ६ ॥

लोकरीतिरिति। लोकस्य संसारस्य रीतिर्व्यवहार एव नीतिशब्देन अङ्किता कथिता। अथ निर्णयेन निश्चयेन अश्रिता युक्ता सा रीतिः आर्षप्रणीतिरार्षनीतिः कथ्यते। एतयोरुभयो रीत्योः परस्परं मिथ ईक्षणमपेक्षा, शोभनः परिणामः सुपरिणामस्तस्य लक्षणं शुभफलजनकं सम्भवेत् ॥ ६ ॥

सद्भिरैहिकसुखोचितं नयाल्लौकिकाचरणमुक्तमन्वयात्।
प्राप्तमेतदनुयातु नात्र कः पैत्रिकाङ्गुलियुगेव बालकः ॥ ७ ॥

सद्भिरिति। सद्भिः सज्जनैरैहिकश्च तत्सुखं तस्योचितं लौकिककल्याणयोग्यं यल्लौकिकमाचरणं नयान्नीतिमार्गादुक्तं मन्वादिभिर्निर्दिष्टम्। अन्वयात् प्राक्तनविद्वत्सम्बन्धात् प्राप्तमागतमेतत्। पैत्रिकीं पितृसम्बन्धिनीमङ्गुलिं युनक्ति गृह्णातीति पैत्रिकाङ्गुलियुगेव बालको यथा चलति तथाऽत्रास्मिन् संसारे कः पुरुषो नानुयातु नानुगच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ : और, यथार्थ व्यवहार ठीक उसी तरह सुखकर होता है जिस तरह फोड़ेका भेदना नवीन चमड़ा पैदा करनेके लिए होता है। किन्तु अन्नोत्पादन शक्तिशून्य ऊसरभूमिमें बीज बोनेसे क्या लाभ हो सकता है ? ॥ ५ ॥

अन्वय : लोकरीतिः नीतिः इति अङ्किता। अथ निर्णयाश्रिता आर्षप्रणीतिः। एतयोः खलु परस्परेक्षणं सुपरिणामलक्षणं सम्भवेत्।

अर्थ : संसारके व्यवहारका नाम ही नीति है। वही निश्चयसे युक्त होनेपर आर्षरीति कहलाती है। दोनोंकी परस्पर अपेक्षा रखना ही सुन्दर परिणाम उपस्थित करता है ॥ ६ ॥

अन्वय : सद्भिः ऐहिकसुखोचितं यत् लौकिकाचरणं नयात् उक्तम्, अन्वयात् प्राप्तम्, एतत् पैत्रिकाङ्गुलियुग् एव। अथ बालकः कः न अनुयातु।

अर्थ : सज्जनोंने इहलोकके कल्याणकी प्राप्तिके लिए मन्वादि-नीति-मार्गद्वारा निर्दिष्ट आचरण किया है। वह पूर्वकालीन विद्वानोंके संबंधसे ही प्राप्त है।

सन्निवेश्य च कुलङ्करैः कुलान्येतदाचरणमिङ्गितं बलात् ।
आचरेत् स्वकुलसक्तिमानियद्वर्त्म सद्भिरुपतिष्ठितं हि यत् ॥ ८ ॥

कुलङ्करैरिति । कुलानि कुर्वन्तीति कुलङ्कराः वंशनिर्मातारस्तैः कुलानि सन्निवेश्य निर्माय बलात् अवश्यकर्तव्यतानिमित्तात् एतदाचरणमिङ्गितं सङ्केतितम् । अतः स्वकुले सक्तिरस्यास्तीति स्वकुलसक्तिमान् स्वकुलमर्यादासक्तः पुमान् इयत् आचरेत् अवश्यमाचरेदित्यर्थः । हि यस्मात्कारणात् यत् सद्भिः सज्जनैरुपतिष्ठितम् उपस्थापितं तदेव वर्त्म सदाचारमार्गोऽस्ति ॥ ८ ॥

इङ्गितं दुरभिमानिसन्ततेस्तत्कदाचरणमेव मन्यते ।
किन्तु काकगतमप्युपाश्रयत्यत्र हंसवदकुञ्चिताशयः ॥ ९ ॥

इङ्गितमिति । दुरभिमानिनी चासौ सन्ततिस्तस्याः दुष्टाहङ्कारसन्तानस्य इङ्गितं चेष्टैव यत् तदेव कदाचरणं कुत्सितमाचरणं मन्यते, जनैरिति शेषः । किमत्र लोके हंसेन तुल्यो हंसवद्, न कुञ्चितोऽकुञ्चित आशयो यस्य स मरालतुल्योदारभावनायुक्तः पुरुषः काकस्य गतं वायसगमनमपि उपाश्रयति, न कदापीत्यर्थः ॥ ९ ॥

आत्रिकस्थितिमती रमारती मुक्तिरुत्तरसुखात्मिका धृतिः ।
काकचक्षुरिव याति तद्द्वयं पौरुषं भवति तच्चतुष्टयम् ॥१०॥

वह नीति पैतृक अंगुलिसे युक्त ही है । बालक जैसे चलता ही है, वैसे इस संसारमें कौन अनुगमन नहीं करेगा ? ॥ ७ ॥

अन्वय : च कुलङ्करैः च कुलानि सन्निवेश्य बलात् एतत् आचरणम् इङ्गितम् । अतः स्वकुलसक्तिमान् इयत् आचरेत् । हि सद्भिः यत् उपतिष्ठितं तत् एव वर्त्म ।

अर्थ : वंश-निर्माताओंने कुलोंका निर्माण कर उन कुलोंके लिए यह अवश्य कर्तव्य निर्दिष्ट किया है । अतः अपने कुलकी मर्यादामें स्थित मनुष्य उसका अवश्य आचरण करे । उसीका नाम सदाचार है ॥ ८ ॥

अन्वय : दुरभिमानिसन्ततेः यत् इङ्गितं तदेव कदाचरणं मन्यते । अत्र यः हंसवत् अकुञ्चिताशयः काकगतम् अपि किं नु उपाश्रयति ।

अर्थ : दुरभिमानियोंकी चेष्टाको ही लोग दुराचरण कहते हैं, क्योंकि क्या हंसकी तरह कोई उदारचेता कभी कौएकी चाल भी ग्रहण करता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥ ९ ॥

अन्वय : रमा रती आत्रिकस्थितिमती, मुक्तिः उत्तरसुखात्मिका । किन्तु धृतिः काकचक्षुः इव तद्द्वयं याति । एवं तत् चतुष्टयं पौरुषं भवति ।

आत्रिकस्थितिरिति । रमा च रतिश्च रमारती, अर्थकामपुरुषार्थौ, अत्र भवा आत्रिकी स्थितिर्ययोस्तौ लौकिकसौख्यसम्पादकौ स्तः । मुक्तिर्मोक्षस्तु, उत्तरसुखमात्मा यस्याः सा पारलौकिककल्याणकर्त्री विद्यते । वृत्तिर्धर्मस्तु काकस्य चक्षुरिव वायसनेत्र-कनिनीकेव लौकिकार्थकामौ मुक्तिञ्च याति प्राप्नोति । एवं धर्मार्थकाममोक्षरूपं तच्चतुष्टयं पौरुषं पुरुषार्थो भवति ॥ १० ॥

सम्मता हि महतां महान्वयाः संस्मरन्तु नियतिं दृढाशयाः ।
आत्रिकेष्टिनिरता पुनर्नवा नान्नतो हि परिपोषणं गवाम् ॥ ११ ॥

सम्मतेति । ये दृढ आशयो येषां ते दृढचित्ताः महतां महापुरुषाणां सम्मता मान्याः, महान् अन्वयो येषां ते श्रेष्ठकुलोत्पन्नास्ते नियतिं दैवं संस्मरन्तु चिन्तयन्तु । पुनर्नवा आत्रिका या इष्टिस्तत्र निरता ये गृहस्थास्ते व्यवहारनयमेव चिन्तयन्तु । यतो गवां धेनूनां पोषणं केवलमन्नत एव न भवति । तत्र घासोऽप्यपेक्षत इत्याशयः ॥ ११ ॥

सन्ति गेहिषु च सज्जना अहा भोगसंसृतिशरीरनिःस्पृहाः ।
तत्त्ववर्त्मनिरता यतः सुचित्प्रस्तरेषु मणयोऽपि हि क्वचित् ॥ १२ ॥

सन्तीति । अहेति प्रसन्नताद्योतकमव्ययम् । गेहिषु गृहस्थेषु अपि क्वचित्, भोगश्च संसृतिश्च शरीरं च तेषु निःस्पृहाः सौख्यसंसरणदेहेष्वनासक्ताः सत्पुरुषा विद्यन्ते, ये

अर्थ : अर्थ-पुरुषार्थ और काम-पुरुषार्थ लौकिक सुखके लिए हैं और जन्मान्तरीय आगामी सुखके लिए मोक्ष-पुरुषार्थ है । किन्तु धर्म-पुरुषार्थकी तो कौएकी आँखमें स्थित कनीनिकाके समान दोनों ही जगह आवश्यकता है । इस प्रकार ये चार पुरुषार्थ होते हैं ॥ १० ॥

अन्वय : ये दृढाशयाः महतां सम्मताः महान्वयाः ते नियतिं संस्मरन्तु । नवाः पुनः आत्रिकेष्टिनिरताः । यतः गवां परिपोषणं अन्नतः हि न भवति ।

अर्थ : महापुरुषोंसे मान्य और उत्तम विचारवाले दृढचित्त लोग देवका स्मरण किया करें । किन्तु नवदीक्षित लोग अर्थात् गृहस्थ व्यावहारिक नीति ही स्वीकार करते हैं । क्योंकि गायोंका पोषण केवल अन्नमात्रसे नहीं हो सकता । उनको घासकी भी आवश्यकता होती है ॥ ११ ॥

अन्वय : अहा गेहिषु च सज्जनाः सन्ति ये भोगसंसृतिशरीरनिस्पृहाः भवन्ति । यतः ते तत्त्ववर्त्मनिरताः । हि सुचित्प्रस्तरेषु अपि क्वचित् मणयः (भवन्ति) ।

अर्थ : प्रसन्नता इस बातकी है कि गृहस्थोंमें भी कोई-कोई सज्जन होते हैं,

तत्त्वस्य वर्त्म तत्र निरताः धर्मज्ञानमार्गतत्पराः सन्ति । हि यतः, क्वचित्प्रस्तरेषु शोभनपाषाणेषु क्वचित् मणयोऽपि भवन्ति ॥ १२ ॥

कर्म यत्सतुषमेति सृष्टिकः शोधयन्ननुकरोति दृष्टिकः ।
बालकः परकरोपलेखकः संलिखत्यथ कुमार एककः ॥ १३ ॥

कर्मेति । सृष्टिकः पाक्षिकः श्रावको यत् सतुषं कर्म एति सदोषं कर्म करोति । दृष्टिको दार्शनिकस्तदेव कर्म शोधयन् निर्दोषं कुर्वन् अनुकरोति । यथा बालकः शिशुः परस्य करेण उपलिखतीति परकरोपलेखकोऽपरपुरुषस्य साहाय्येन लिखति । अथ कुमार एककः केवलो लिखति ॥ १३ ॥

स्वीकृते परमसारवत्तया जायते पुनरसारता रयात् ।
तक्रतो हि नवनीतमाप्यतेऽतः पुनर्घृतकृते विधाप्यते ॥ १४ ॥

स्वीकृत इति । पूर्वं परमश्चासौ सारः परमसारः सोऽस्यास्तीति परमसारवान्, तस्य भावस्तया, अतिस्थिरांशवत्तया स्वीकृतेऽङ्गीकृते सति तत्र पुनः असारता निस्सारता जायते । यथा यदा तक्रतो नवनीतमाप्यते प्राप्यते, तदेव घृतकृते सर्पिर्विधानार्थं पुनः विधाप्यते विलाप्यते ॥ १४ ॥

नैत्र लोकविपरीतमश्चितुं शुद्धमप्यनुमतिर्गृहीशितुः ।
नाम सत्यमिह वार्हतामिति मङ्गले न पठितुं समर्हति ॥ १५ ॥

जो संसार, शरीर और भोगोंसे निःस्पृह होते हैं। कारण वे तत्त्वमार्गमें निरत रहते हैं। ठीक ही है, कहीं-कहीं अच्छे पाषाणमें भी मूल्यवान् रत्न मिल जाया करते हैं ॥ १२ ॥

अन्वय : सृष्टिकः यत् कर्म सतुषम् एति। ननु दृष्टिकः तदेव शोधयन् करोति। अथ बालकः परकरोपलेखकः भवति । किन्तु कुमारः एककः संलिखति ।

अर्थ : पाक्षिक श्रावकके कार्य सदोष होते हैं, किन्तु दार्शनिक उन्हींको निर्दोष रीतिसे किया करता है। जैसे बालक दूसरोंके हाथके सहारे लिखता है, किन्तु कुमार अकेला ही लिखा करता है ॥ १३ ॥

अन्वय : पूर्वं परमसारवत्तया स्वीकृते पुनः रयात् असारता जायते । हि तक्रतः नवनीतम् आप्यते, अतः पुनः तदेव घृतकृते विधाप्यते ।

अर्थ : प्रारंभमें परमसारवान् होनेसे जो बात स्वीकार की जाती है वही कुछ समय बाद असार हो जाती है। जैसे छाछसे जो मक्खन निकाला जाता है, वही बादमें शीघ्र तपाकर घी बना लिया जाता है ॥ १४ ॥

नैवेति । शुद्धमपि लोकस्य विपरीतं विरुद्धमश्चितुं गन्तुं गृहीशितुर्गृहस्थस्य, अनुमतिः स्वीकृतिर्नैवास्ति । यद्यपीह लोकेऽर्हतां जिनेशानां नाम सत्यमस्ति, तथापि अर्हन्नाम सत्यमस्तीत्येवोक्तिः मङ्गलकार्ये गृही पठितुं न शक्नोति ॥ १५ ॥

शक्यमेव सकलैर्विधीयते को नु नागमणिमाप्तुमुत्पतेत् ।
कूपके च रसकोऽप्युपेक्षते पादुका तु पतिता स्थितिः क्षतेः ॥ १६ ॥

शक्यमेवेति । सकलैर्जनैः शक्यं योग्यमेव कार्यं विधीयते क्रियते, न त्वशक्यमित्यर्थः । नागस्य मणिस्तं सर्पशिरोरत्नमाप्तुमादातुं कः पुरुष उत्पतेत् उद्यतो भवेत्, भयजनकत्वान्न कोऽपीत्यर्थः । कूपके च रसकश्चर्मपात्रं तु उपेक्ष्यते, जनैरिति शेषः । किन्तु तत्र पतिता पादुका पदत्राणं तु क्षतेर्हानेः स्थितिर्गण्यत इति शेषः ॥ १६ ॥

लोकवर्त्मनि सकावशस्यवन्निष्ठितेऽरमहितेष्टिदस्यवः ।
स्वोचितं प्रति चरन्तु सम्पदं सर्वमेव सकलस्य नौषधम् ॥ १७ ॥

लोकवर्त्मनीति । कार्वैः सहितश्च तच्छस्यं सकावशस्यं तेन तुल्यं तद्वन्निष्ठिते स्थिते लोकवर्त्मनि लौकिकमार्गे अहिता चासौ इष्टिस्तस्या दस्यवः स्वाहितकार्यहर्तारो

अन्वय : (यत्) शुद्धम् अपि लोकविपरीतं (तत्) अञ्चितुं गृहीशितुः अनुमतिः नैव अस्ति । इह अर्हतां नाम सत्यम् इति, एतत् मङ्गले पठितुं न समर्हति ।

अर्थ : शुद्ध बात भी लोकविरुद्ध होनेपर गृहस्थ लोग स्वीकार नहीं करते । जैसे 'अरहंत नाम सत्य-है' यह उक्ति मंगल-कार्योंमें नहीं बोली जाती है ॥ १५ ॥

अन्वय : सकलैः शक्यम् एव विधीयते, नागमणिम् आप्तु को नु उत्पतेत् । कूपके चरषकः अपि उपेक्ष्यते, किन्तु पादुका पतिता क्षतेः स्थितिः ।

अर्थ : सभी लोगों द्वारा शक्य कार्य ही किया जाता है । नागमणि प्राप्त करनेके लिए भला कौन प्रयत्न करेगा ? कुएँमें पड़े चरसकी सभी उपेक्षा करते हैं, पर यदि जूती गिर जाय तो वह किसीसे भी सह्य नहीं होती, अर्थात् सभी उससे घृणा करते हैं ॥ १६ ॥

अन्वय : सकावशस्यवत् निष्ठिते लोकवर्त्मनि अहितेष्टिदस्यवः अरं स्वोचितं सम्पदं प्रतिचरन्तु । सर्वम् एव सकलस्य औषधं न भवति ।

अर्थ : कंकर सहित धान्यके समान लौकिक-मार्गमें अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि जो बात जिनके लिए जहाँ उपयोगी हो, वहाँ उसीको

निजहिताकाङ्क्षिण इत्यर्थः । अरं शीघ्रम्, स्वस्योचितं स्वयोग्यं सम्यक् सर्वाणि प्रतिचरन्तु विदधतु, यतः सर्वमेव सकलस्य औषधं भेषजं न भवति ॥ १७ ॥

संविरोधिषु जनः परस्परं व्यावहारिकवचस्सु सञ्चरन् ।
तत्समुद्धरतु यद्यथोचितं को नु नाश्रयति वा स्वतो हितम् ॥ १८ ॥

संविरोधिष्विति । जनो लोकः परस्परं मिथः संविरोधिषु विपरीतेषु व्यावहारिकाणि वचांसि तेषु व्यवहारनीतिवाक्येषु सञ्चरन् व्यवहरन् यद्यथोचितं स्वहितयोग्यं तदेव समुद्धरतु स्वीकरोतु । यतः को जनः स्वतः स्वस्य हितमिष्टं वा नाश्रयति न सेवते, अपि तु स्वहितमेव सेवते ॥ १८ ॥

यातु कामधनधर्मकर्मसु सत्सु सम्प्रति मिथोऽपशर्मसु ।
तानि तावदनुकूलयन् बलात् कर्दमे हि गृहिणोऽखिलाञ्चलाः ॥ १९ ॥

यात्विति । गृही, कामश्च धनं च धर्मश्च तेषां कर्माणि तेषु सम्प्रति मिथः परस्परम्, अपगतं शर्म येषु तेषु तथाभूतेषु सत्सु तानि तावद् बलाद् हठादनुकूलयन् स्वहितान्याचरन् यातु व्रजतु । हि यस्माद् गृहिणोऽखिला अञ्चलाः कर्दमे पङ्के सन्ति । धर्मार्थकामाः पुरुषार्था मिथो विरोधिनः सन्ति, अतस्तान् स्वबुद्ध्या अनुकूलान् आचरन्नेव गृही स्वहितमाचरितुमर्हतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

प्रयोगमें लायें, क्योंकि सभी औषधियाँ सबके लिए उपयोगी नहीं होतीं ॥ १७ ॥

अन्वय : जनः परस्परं संविरोधिषु व्यावहारिकवचस्सु सञ्चरन् यत् यदा उचितं तत् तदा समुद्धरतु । वा को नु जनः स्वतोहितं न आश्रयति ।

अर्थ : व्यावहारिक नीति-नियमोंमें कितने ही वचन ऐसे होते हैं, जो प्रायः एक दूसरेके विरुद्ध पड़ते हैं । मनुष्यको चाहिए कि उनमेंसे जिस वचनको लेकर अपने जीवनका निर्वाह हो सके, उस समय उसीको स्वीकार करे; क्योंकि अपना हित कौन नहीं चाहता ॥ १८ ॥

अन्वय : कामधनधर्मकर्मसु सम्प्रति मिथः अपशर्मसु सत्सु तानि तावत् बलात् अनुकूलयन् यातु । हि गृहिणः कर्दमे अखिलाञ्चलाः ।

अर्थ : धर्म, अर्थ, काम ये तीनों गृहस्थके करने योग्य पुरुषार्थ हैं, जो एक साथ परस्पर विरुद्धता लिये हुए हैं । गृहस्थ उनको अपनी बुद्धिमत्तासे परस्पर अनुकूल करते हुए बरताव करे । अन्यथा गृहस्थोके चारों पल्ले कीचड़में हैं अर्थात् उसका कोई भी काम नहीं चल सकता ॥ १९ ॥

वाण्टवद् वृषमपेक्ष्य संहता घासवद्विषयदासतां गताः ।
पाशवद्धनविलासतत्परा गेहिनो हि सतृणाशिनो नराः ॥ २० ॥

वाण्टवदिति । गेहिनो गृहस्था जना वाण्टं पशुभोजनं तद्वद् वृषं धर्ममपेक्ष्य स्वीकृत्य संहताः समुदिता भवन्ति । यथा पशुः स्वपोषणार्थं वाण्टमत्ति, तथैव गृहिणो जना अपि स्वहितार्थमेव धर्माचरणे सङ्कुटिता भवन्ति । तथा घासेन तुल्यं घासवद्, यथा पशवो घासभक्षणे तत्परा भवन्ति तथैव गृहस्था विषयाणां दासता तां रूपरसादिविषयाणामधीनतां गता दृश्यन्ते । पुनर्यथा पशवः पाशबद्धा भवन्ति तद्वद् गृहिणो धनस्य विलासस्तस्मिंस्तत्पराः संलग्ना दृश्यन्ते । हि यस्मान्नरा मानवास्तृणैः सहितं सतृणमश्नन्तीति सतृणाशिनस्तृणभक्षकपशुतुल्या एवेत्याशयः ॥ २० ॥

गेहमेकमिह भुक्तिभाजनं पुत्र तत्र धनमेव साधनम् ।
तच्च विश्वजनसौहृदाद् गृहीति त्रिवर्गपरिणामसंग्रही ॥ २१ ॥

गेहमिति । हे पुत्र, गृहिण एकं गेहं गृहमेव भुक्त्या भाजनं भोगसाधनं भवतीति शेषः । तत्र गृहे धनं वित्तमेव साधनं भोगकारणमस्ति । तद् धनं च विश्वश्चासौ जन इति विश्वजनस्तस्य सौहृदं तस्मात् समस्तलौकिकजनमैत्रीभावादेव संभवति । इत्येवं गृही त्रिवर्गस्य परिणामं संगृह्णातीति त्रिवर्गपरिणामसंग्रही धर्मादित्रिवर्गसंग्राहको भवतीत्याशयः ॥ २१ ॥

अन्वय : गेहिनः वाण्टवत् वृषम् अपेक्ष्य संहताः, घासवत् विषयदासतां गताः, पाशवत् धनविलासतत्पराः । हि नराः सतृणाशिनः ।

अर्थ : गृहस्थ लोग पशुओंके समान सतृणाभ्यव्यवहारी होते हैं, क्योंकि पशु-भोजनकी तरह धर्म स्वीकार कर एकत्र होते हैं । अर्थात् जैसे पशु अपने पोषणके लिए पशु-भोजन खाते हैं, वैसे ही गृहस्थ भी अपने हितार्थ ही धर्माचरणमें संघटित होते हैं । पशु जिस प्रकार घाससे पेट भरता है, उसी प्रकार गृहस्थ भी रूप-रसादि विषयोंके दास दीख पड़ते हैं । साथ ही पशु जिस प्रकार रस्सेसे बँधा रहता है, उसी प्रकार गृहस्थ लोग भी धनके विलासमें बंधे रहते हैं । अतः निश्चय ही मानव तृणभक्षी पशुतुल्य हैं ॥ २० ॥

अन्वय : हे पुत्र ! इह एकं गेहं भुक्तिभाजनम् । तत्र धनम् एव साधनम् । तत् च विश्वजनसौहृदात् (गृहिणः) भवति । इति गृही त्रिवर्गपरिणामसंग्रही ।

अर्थ : वत्स ! संसारमें एकमात्र घर ही गृहस्थके लिए भोगोंका समुचित स्थान है । उस भोगका साधन धन है । वह धन जनतासे मेल-जोल रखनेपर प्राप्त होता है । इसलिए गृहस्थ ही धर्मादि त्रिवर्गका संग्राहक होता है ॥ २१ ॥

कर्मनिर्हरणकारणोद्यमः पौरुषोऽर्थ इति कथ्यतेऽन्तिमः ।
सत्सु तत्स्वकृतमात्रसातनः श्रावकेषु खलु पापहापनम् ॥ २२ ॥

कर्मेति । अन्तिमश्चरमः पुरुषस्यायं पौरुषः पुरुषसम्बन्धी, अर्थः पुरुषार्थो मोक्ष इत्यर्थः । स कर्मणां निर्हरणं कर्मनिर्हरणं तस्य कारणरूपो य उद्यमः सकलकर्मक्षयहेतु-भूतोद्योग एव वर्तत इत्यर्थः । सत्सु त्यागितपस्विषु तु तत्स्वकृतमात्रं सातयतीति स्वकृतमात्रसातनः स्वविहितकर्ममात्रनाशकोऽस्ति श्रावकेषु गृहस्थेषु पापस्य हापनं पाप-नाशकमेव ॥ २२ ॥

प्रातरस्तु समये विशेषतः स्वस्थिताक्षमनसः पुनः सतः ।
देवपूजनमनर्थसूदनं प्रायशो मुखमिवाप्यते दिनम् ॥ २३ ॥

प्रातरिति । स्वस्थिताक्षमनसः स्वस्मिन् स्थितानि अक्षाणि मनश्च यस्य सस्तस्य, आत्मवशीभूतेन्द्रियचित्तस्य सतः शोभनगृहिणः पुनः प्रातःसमये विशेषतः प्रकृष्टरूपेण, अनर्थं सूदयतीत्यनर्थसूदनम् अनिष्टनाशनं देवानां पूजनं देवपूजनम् इष्टदेवार्चनमस्तु भवतु । यतः प्रायशो बाहुल्येन मुखमिव प्रारम्भ इव दिनमहं आप्यते प्राप्यते । प्रातः-समये यादृशं शुभाशुभं कर्म विधीयते तादृशमेव दिनं व्यतेतीति प्रसिद्धिः ॥ २३ ॥

मङ्गलं तु परमेष्ठिपूर्जितं दिव्यदेहिषु नियोगपूजितम् ।
पार्थिवेषु पृथुताश्रितं पदं प्रत्ययं चरति देव इत्यदः ॥ २४ ॥

अन्वय : अन्तिमः पौरुषः अर्थः कर्मनिर्हरणकारणोद्यमः इति कथ्यते । सत्सु तत् स्वकृतमात्रसातनः । किन्तु श्रावकेषु पापहापनं खलु ।

अर्थ : पुरुषार्थोंमें अन्तिम मोक्ष-पुरुषार्थ कर्मोंके अभावका कारणरूप उद्यम है । वह त्यागी तपस्वियोंमें तो अपने किये विहित कर्ममात्रका नाशक है । किन्तु श्रावकोंके लिए निश्चय ही वह पापोंका नाशक है ॥ २२ ॥

अन्वय : स्वस्थिताक्षमनसः सतः पुनः प्रातःसमये विशेषतः देवपूजनम् अस्तु, तत् अनर्थसूदनं भवति । प्रायशः मुखम् इव दिनम् आप्यते ।

अर्थ : प्रातःकालके समय गृहस्थकी मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं, अतः उस समय प्रधानतया सब अनर्थोंका नाश करनेवाला देवपूजन करना चाहिए, ताकि सारा दिन प्रसन्नतासे बीते । प्रसिद्ध है कि दिनके प्रारंभमें जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है, वैसा ही सारा दिन बीतता है ॥ २३ ॥

मङ्गलमिति । दीव्यतीति देव इति अद पदं परमेष्ठिषु पञ्चपरमेष्ठिषु प्रयुक्तं सदूर्जितं मङ्गलं बलवत्कल्याणरूपं प्रत्ययमर्थं चरति गमयति । दिव्याश्च ते देहिनः सुरेन्द्रादयस्तेषु प्रयुक्तं सत् नियोगेन पूजितं पूजनीयत्वमात्रं प्रत्ययमर्थं गमयति । पृथिव्या ईश्वराः पार्थिवास्तेषु प्रयुक्तं सत् पृथोर्भावः पृथुता तस्या आश्रितं पृथुताश्रितं महत्त्वरूपार्थं गमयतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

साम्प्रतं प्रणदितानघानकं देवशब्दमिममुत्तमार्थकम् ।
स्वीकरोति समयः पुनः सतामग्निरध्वरभुवीव देवता ॥ २५ ॥

साम्प्रतमिति । साम्प्रतमिदानीं पुनः सतां समयः सम्प्रदायः प्रणदितोऽनघानको येन स तं प्रकटितनिर्दोषरूपार्थमिमं देवशब्दम्, उत्तमोऽर्थो यस्य स तं श्रेष्ठार्थकं स्वीकरोति, यथा अध्वरभुवि यज्ञस्थले अग्निर्देवता देवरूपेण श्रेष्ठः कथ्यते ॥ २५ ॥

कुत्सितेषु सुगतादिषु क्रमाद्वा कपोलकलितेषु च भ्रमात् ।
पद्मयोनिप्रभृतिष्वनेकशो देवतां परिपठन्ति सैनसः ॥ २६ ॥

कुत्सितेष्विति । एनसा सहिताः सैनसः पापिनः क्रमात् कपोलकलितेषु मिथ्या-

---

अन्वय : देव इति अदः पदं परमेष्ठिषु ऊर्जितं मङ्गलम् । दिव्यदेहिषु नियोगपूजितम् । पार्थिवेषु तु पृथुताश्रितं प्रत्ययं चरति ।

अर्थ : 'देव'-पद पंचपरमेष्ठियोंके लिए प्रयुक्त होनेपर बलवान् कल्याणरूप अर्थका बोधक है। इंद्रादि देवोंके लिए प्रयुक्त होनेपर वह नियोगमात्र (पूजनीय मात्र) अर्थको बोधित करता है और राजाओंके लिए प्रयुक्त होनेपर महत्त्वरूप अर्थको बताता है ॥ २४ ॥

अन्वय : पुनः सतां समयः साम्प्रतं प्रणदिताऽनघानकम् इमं देवशब्दम् उत्तमार्थकं स्वीकरोति, अध्वरभुवि अग्निः देवता इव ।

अर्थ : इसी तरह सत्पुरुषोंका सम्प्रदाय इस 'देव' शब्दको निर्दोषरूप अर्थ बतानेवाला मानता है, जैसे कि यज्ञस्थलमें अग्निदेव 'देव'शब्दसे, अर्थात् श्रेष्ठ, निर्दोष माना जाता है ॥ २५ ॥

अन्वय : सैनसः क्रमात् कुत्सितेषु सुगतादिषु कपोलकलितेषु पद्मसंभवमुखेषु अपि भ्रमात् अनेकशः देवतां परिपठन्ति ।

अर्थ : पापी पुरुष इस 'देव' शब्दको क्रमशः मध्यममार्गका अवलंबन करने-

कल्पितेषु सुगतादिषु बुद्धादिषु तथा पद्मयोनिः प्रभृतिर्येषां ते तेषु ब्रह्मादिषु च भ्रमाद् अनेकशो मुहुर्मुहुर्दैवतां देवभावं परिपठन्ति, हेति खेदे ॥ २६ ॥

सर्वतः प्रथममिष्टिरर्हतो देवतास्वपि च देवता यतः ।
मङ्गलोत्तमशरण्यतां श्रितो देहिनां तदितरोऽस्तु को हितः ॥ २७ ॥

सर्वत इति । सर्वतः सर्वेभ्यः प्रथमं पूर्वमर्हत इष्टिः पूजा, विधेयेति शेषः । यतो यस्मात् सोऽर्हन् मङ्गलेषु उत्तमश्चासौ शरण्य इति मङ्गलोत्तमशरण्यस्तस्य भावस्तामुत्तममङ्गलशरणागतवत्सलतां श्रितः । सः देवतास्वपि देवता श्रेष्ठदेवोऽस्तीति शेषः । अतो देहिनां शरीरिणां तस्मादितरस्तद्भिन्नः को हितः कल्याणकरोऽस्तु, न कोऽपीत्यर्थः ॥ २७ ॥

यत्पदाम्बुजरजो रुजो हरत्याप्लवाम्बु तु पुनाति सच्छिरः ।
साम्प्रतं धनिविमोचितं पटाद्यन्यतः श्रणति भूषणच्छटाम् ॥ २८ ॥

यत्पदेति । यथा साम्प्रतं धनिना विमोचितमाढ्यपरित्यक्तं पटादि, अन्यतो निर्धनस्य भूषणस्य छटामलङ्कारशोभां श्रणति वितरति, तथैव यस्य पदमम्बुजमिव तस्य रजोऽर्हच्चरणकमलधूलिर्जनानां रुजो रोगान् हरति, यस्यार्हत आप्लवस्य अम्बु स्नानजलं सतां शिरोमस्तकं पुनाति पवित्रीकरोतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

वाले सुगत (बुद्ध) आदिके विषयमें और कपोलकल्पित पद्मयोनि (ब्रह्मा) आदिके विषयमें भी भ्रमवश अनेकशः प्रयोग किया करते हैं ॥ २६ ॥

अन्वय : सर्वतः प्रथमं अर्हतः इष्टिः (विधेया) । यतः सः मङ्गलोत्तमशरण्यतां श्रितः, देवतासु अपि देवता । तदितरः देहिनां कः हितः अस्तु ।

अर्थ : गृहस्थोंको सर्वप्रथम भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वे ही भगवान् अरहंत मंगलोंमें उत्तम और शरणागत-वत्सल हैं । वे देवताओंसे भी श्रेष्ठ देव हैं । उनके समान शरीरधारियोंका हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ २७ ॥

अन्वय : (यथा) साम्प्रतं धनिविमोचितं पटादि अन्यतः भूषणच्छटां श्रणति, (तथा) यत्पदाम्बुजरजः रुजः हरति, आप्लवाम्बु तु सच्छिरः पुनातु ।

अर्थ : वर्तमानमें हम देखते हैं कि जैसे धनवानों द्वारा उतारकर फेंके गये भी वस्त्रादि निर्धनोंके लिए अलंकारके समान आदरणीय हो जाते हैं, वैसे ही भगवान् अरहंत देवके चरणोंकी रज हम जैसोंके भव-रोगोंको दूर करती हैं । उनके स्नानका जल भले-भले लोगोंके मस्तकोंको पवित्र बनाता है ॥ २८ ॥

भूरिशो भवतु भव्यचेतसां स्वस्वभाववशतः समिष्टिवाक् ।
मूलसूत्रमनुरुद्ध्य नृत्यतः प्रक्रियावतरणं न दोषभाक् ॥ २९ ॥

भूरिश इति । भव्यं चेतो येषां ते तेषां भक्तानां समिष्टेर्वाक् पूजावाक्यं स्वस्य स्वभावस्तस्य वशतो रुचिभेदकारणाद् भूरिशो बहुविधा भवति । किन्तु मूलसूत्रमनुरुद्ध्य आश्रित्य नृत्यतो लास्यं कुर्वतः प्रक्रियावतरणं नर्तनकार्यं यथा दोषभाग् न भवति, तथैव भगवत्पूजारूपमूलोद्देश्यमाश्रित्य पद्धतिभेदे दोषो नास्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

देवमप्रकटमप्ययात्मनो यातु तत्प्रतिमया गृही पुनः ।
सत्यवस्तुपरिबोधने विशो भान्ति क्रीडनकतो यतः शिशोः ॥ ३० ॥

देवमिति । अथ गृही पुरुष आत्मनः स्वस्य अप्रकटमपि देवं, तस्य प्रतिमा तत्प्रतिमा तया देवमूर्त्या यातु तत्स्वरूपमवगच्छत्वित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—यतो यथा शिशोर्बालस्य सत्यवस्तूनां परिबोधनं तस्मिन् वास्तविकहस्त्यश्वादिज्ञाने क्रीडनकान्येवेति क्रीडनकतस्तत्पदार्थप्रतिमारूपाणि विशो वस्तूनि भान्ति शोभन्ते । तत्तत्प्रतिमावलोकनेन बालो यथा वास्तविकवस्तूनि विजानाति तथा देवप्रतिमया गृही देवस्वरूपं जानातीत्याशयः ॥ ३० ।

सम्भवेज्जिनवरप्रतिष्ठितिः शान्तये भवभृतां सतामिति ।
शालिको हि परवारभीमुषं सन्निधापयति कूटपुरुषम् ॥ ३१ ॥

अन्वय : भव्यचेतसां समिष्टिवाक् स्वस्वभाववशतः भूरिशो भवति । किन्तु मूलसूत्रम् अनुरुद्ध्य नृत्यतः प्रक्रियावतरणं दोषभाक् न भवति ।

अर्थ : भक्त लोगोंकी पूजा करनेकी पद्धतियाँ उनकी स्वाभाविक अभिरुचिवश भिन्न-भिन्न हुआ करती है। किंतु उनका उद्देश्य मूलतः भगवान्‌की पूजा होनेपर उसमें कोई दोष नहीं। जैसे नर्तकी मूलसूत्र रस्सीका आश्रय लेकर तरह-तरहसे नाचती है तो उसका नाचना दोषयुक्त नहीं माना जाता ॥ २९ ॥

अन्वय : अथ गृही आत्मनः अप्रकटम् अपि देवं पुनः तत्प्रतिमया यातु। यतः शिशोः सत्यवस्तुपरिबोधने क्रीडनकतः विशः भान्ति ।

अर्थ : गृहस्थ अपने लिए अव्यक्त देवके स्वरूपको उनकी प्रतिमाओंद्वारा समझ ले। कारण बालकको हाथी, घोड़े आदिका परिज्ञान उन वस्तुओंके खिलौनोंद्वारा हुआ ही करता है ॥ ३० ॥

सम्भवेदिति । जिनवरस्य प्रतिष्ठितिः जिनेन्द्रमूर्तिप्रतिष्ठा भवं बिभ्रतीति भवभृतः सांसारिकजनास्तेषां सतां सज्जनानां शान्तये शान्तिप्राप्त्यै भवति । यथा शालिकः कृषकः स्वक्षेत्रे परेषां वारः परवारस्तस्य भियं मुष्णातीति तं पशुपक्ष्याद्याक्रमणभय-नाशकं कूटप्रासौ पुरुषस्तं कृत्रिमपुरुषं सन्निधापयति स्थापयति ॥ ३१ ॥

बिम्बके जिनवरस्य निर्घृणा सूक्तिभिर्भवति तद्गुणार्पणा ।
माषकादि मरणादिकृद्भवेत् किन्न मन्त्रितमितः समाहवे ॥ ३२ ॥

बिम्बक इति । जिनवरस्य बिम्बके प्रतिबिम्बे सूक्तिभिर्मन्त्रैः निर्घृणा निर्दोषा तस्य गुणानामर्पणा तद्गुणारोपो भवति, तत्सार्थकमेव भवति । इतो लोके समाहवे संग्रामे मन्त्रितं माषकादि मरणादि करोतीति मरणविक्षेपादिकारकं न भवेत्किम्, अपि तु भवेदेवेति भावः ॥ ३२ ॥

तत्र तत्र कलितं जिनार्चनं व्याहृतं भवति तत्तदर्चनम् ।
वार्षिकं जलमपीह निर्मलं कथ्यते किल जनैः सरोजलम् ॥ ३३ ॥

अन्वय : जिनवरप्रतिष्ठितिः भवभृतां सतां शान्तये संभवेत् इति । हि शालिकः परवारभीमुषं कूटपुरुषं सन्निधापयति ।

अर्थ : जिन भगवान्के बिंबकी प्रतिष्ठा भी हम संसारी आत्माओंके लिए शांतिदायक होती है । देखें, किसान पशु-पक्षियोंकी बाधाओंसे खेतको बचाये रखनेके लिए बनावटी पुतला बनाकर खेतके बीच खड़ा कर देता है । इससे वह अपने उद्देश्यमें प्रायः सफल ही होता है ॥ ३१ ॥

अन्वय : जिनवरस्य बिम्बके सूक्तिभिः निर्घृणा तद्गुणार्पणा भवति । इतः समाहवे मन्त्रितं माषकादि मरणादिकृत् किं न भवेत् ।

अर्थ : सूक्तियोंद्वारा जिन भगवान्के प्रतिबिंबमें जो उनके गुणोंका आरोपण किया जाता है, वह सर्वथा निर्दोष ही है । क्या युद्धमें मंत्रित कर फेंके गये उड़द आदि शत्रुके लिए मरण, विक्षेप आदि उपद्रव करनेवाले नहीं होते ॥ ३२ ॥

अन्वय : तत्र तत्र कलितं जिनार्चनं तत् तदर्चनं व्याहृतं भवति । यथा किल इह वार्षिकं निर्मलं जलम् अपि जनैः सरोजलं कथ्यते ।

तत्रेति । तत्र तत्र तत्तदवसरे कलितमनुष्ठितं जिनस्य अर्चनं जिनपूजनं तत्तन्नामभिर्व्याहृतं कथितं भवति । यथा, विवाहसमये कृता भगवत्पूजा विवाहपूजा कथ्यते । एवमेव यथेह वर्षासु भवं वार्षिकं निर्मलं जलं जनैः सरोजलं कथ्यते, किलेति प्रसिद्धौ ॥ ३३ ॥

योजनं हि जिननामतः पुनः स्वोक्तकर्मणि समस्तु वस्तुनः ।
पूजनं क्वचिदुदारसम्मति स्वस्तिकं सपदि पूज्यतामिति ॥ ३४ ॥

योजनमिति । स्वोक्तञ्च तत्कर्म तस्मिन् निजकथितकार्ये क्वचित् कुत्रचिद् वस्तुनः पदार्थस्य जिननामतो जिननाम्ना योजनम्, उदाराणां सम्मतिर्यस्मिंस्तत् महापुरुषानुमतं पूजनं भवति । यथा, 'स्वस्तिकं सपदि पूज्यताम्' अस्यायमर्थः भगवन्नाम गृहीत्वा स्वस्तिकं लिख्यतामिति ॥ ३४ ॥

भूमिकासु जिननाम सूच्चरंस्तत्तदिष्टमधिदैवतं स्मरन् ।
कार्यसिद्धिमुपयात्वसौ गृही नो सदाचरणतो व्रजन् बहिः ॥ ३५ ॥

भूमिकास्विति । गृही गृहस्थो भूमिकासु कार्यारम्भेषु जिनस्य नाम सुष्ठु उच्चरन्

अर्थ : उस-उस अवसरपर जो जिन भगवान्की पूजा की जाती है, वह उस-उस नामसे कही जाती है। जैसे विवाहके प्रारंभमें की गयी भगवान्की पूजा ही 'विवाहकी पूजा' कहलाती है। जैसे वर्षाका निर्मल जल (तालाबमें) एकत्र होनेपर लोग उसे 'तालाबका जल' ही कहते हैं ॥ ३३ ॥

अन्वय : पुनः स्वोक्तकर्मणि क्वचित् वस्तुनः जिननामतः योजनं हि उदारसम्मति पूजनं समस्तु, (यथा) सपदि स्वस्तिकं पूज्यताम् इति ।

अर्थ : कहीं-कहीं जिन भगवान्के नामोच्चारणपूर्वक उस वस्तुको अपने काममें लेना भी उनकी पूजा कही जाती है, ऐसा महापुरुषोंका कहना है। जैसे 'स्वस्तिकं पूज्यताम्' इस कहनेका अर्थ हुआ कि भगवान्का नाम लेकर स्वस्तिक लिखें ॥ ३४ ॥

अन्वय : गृही भूमिकासु जिननाम सूच्चरन् पुनः तत्तदिष्टम् अधिदैवतं स्मरन् असौ सदाचरणतो बहिः नो व्रजन् कार्यसिद्धिं उपयातु ।

अर्थ : गृहस्थ किसी कार्यके प्रारंभमें भगवान् जिनेन्द्रका नाम लेकर

पुमस्तत्सविष्टदैवतं स्वेष्टदेवतां स्मरन् कार्यसिद्धिं कर्मसाफल्यमुपयातु प्राप्नोतु, किन्त्वसौ सदाचरणतः सदाचाराद्बहिः व्रजन् सिद्धिं नोपयातु ॥ ३५ ॥

यद्वदेव तपनातपोऽन्नकृच्छ्रीजिनानुशय इष्टसिद्धिभृत् ।
नूनमप्रकटरूपतो मतंस्तत्त्रिसायमनुजायतामतः ॥ ३६ ॥

यद्वदेवेति । यद्वद् यथा तपनस्य आतपस्तपनातपः सूर्यघर्मः अन्नं करोतीत्यन्नकृद् धान्यपाचको भवति, तद्वन्नूनं श्रीजिनस्य अनुशयश्चिन्तनमिष्टसिद्धिकारकं जायते । अप्रकटरूपेण चिन्तनमपि मनोरथसाधकं मन्यते, किं पुनः प्रकटरूपेणेत्यर्थः । तत्तच्चिन्तन-मतस्त्रिसायं तिसृषु सन्ध्यासु अनुजायतामनुष्ठीयतां भक्तजनैरिति शेषः ॥ ३६ ॥

इष्टसिद्धिमभिवाञ्छतोऽर्हतां नामतोऽपि भुवि विघ्ननिघ्नता ।
व्येति काककलितां किलापदं तीरमित्यरमितोरयन् पदम् ॥ ३७ ॥

इष्टसिद्धिमिति । भुवि लोके, इष्टसिद्धिं मनोरथसाफल्यमभिवाञ्छतोऽभिलषतः पुरुषस्य, अर्हन्नाम्नापि विघ्नानां निघ्नता वशीभावाऽभाव इत्यर्थः, जायत इति शेषः । यथा, पुरुषः काकेन कलिता तां वायसजनितां बाधां तीरमिति पदमरं शीघ्रमीरयन् पुनः पुनः कथयन् व्येति नाशयति ॥ ३७ ॥

अपने-अपने इष्टदेवका स्मरण करें तो निश्चय ही अपने अभीष्ट धर्मकी सिद्धि प्राप्त करेगा । किन्तु यदि वह सदाचारका पालन न करे तो कभी सिद्धि न पायेगा ॥ ३५ ॥

अन्वय : यद्वत् एव तपनातपः अन्नकृत् भवति (तद्वत्) नूनम् अप्रकटरूपतः श्रीजिनानुशयः इष्टसिद्धिकृत् इति मतम् । अतः तत् त्रिसायं अनुजायताम् ।

अर्थ : जैसे सूर्यका आतप किसानके अन्नको पकाता है, वैसे ही अप्रकट रूपसे भी जिन भगवान्का चिन्तन अवश्य ही इष्टसिद्धि करनेवाला माना गया है । इसलिए भक्तजन तीनों संध्याओंमें जिन भगवान्का स्मरण करते रहें ॥३६॥

अन्वय : भुवि इष्टसिद्धिम् अभिवाञ्छतः अर्हतां नामतः अपि विघ्ननिघ्नता भवति । यथा किल तीरम् इति पदम् अरम् अपि ईरयन् काककलिताम् आपदं व्येति ।

अर्थ : पृथ्वीतलपर इष्टसिद्धि चाहनेवाले पुरुषके लिए अरहंत भगवान्के नामोच्चारणसे भी आनेवाली सारी विघ्न-बाधाओंका अभाव यानी नाश हो जाता है । जैसे कौएकी बाधासे बचनेके लिए 'तीर-तीर' बार-बार कहनेपर कौआ उड़ जाया करता है ॥ ३७ ॥

श्रीजिनं तु मनसा सदोन्नयेत्तं च पर्वणि विशेषतोऽर्चयेत् ।
गेहिने हि जगतोऽनपायिनी भक्तिरेव खलु मुक्तिदायिनी ॥ ३८ ॥

श्रीजिनमिति । गेहीजनस्तु सदा मनसा श्रीजिनमुन्नयेत् चिन्तयेत्, पर्वणि पर्वदिने तु तं जिनं विशेषरूपेण पूजयेत् । हि यस्मात्कारणाद् जिनस्य अनपायिनी विच्छेदरहिता भक्तिरेव गेहिने गृहस्थाय जगतः संसारान्मुक्तिं ददातीति मुक्तिदायिनी मोक्षप्रदाऽस्ति, खल्विति निश्चयार्थे ॥ ३८ ॥

आत्रिकेष्टहतिहापनोद्यतः साधयेत् स्वकुलदैवताद्यतः ।
हेलया हि बलवीर्यमेदुरः साधयत्यनरगोचरं सुरः ॥ ३९ ॥

आत्रिकेति । अतः, अत्र भवमात्रिकम् आत्रिकञ्च तदिष्टं तस्य हृतेर्हापने उद्यतो लौकिकेप्सितक्षतिनाशतत्परः पुरुषः स्वकुलदैवतादि साधयेद् उपासनादिभिः प्रसादये-दित्यर्थः । हि यस्माद् बलञ्च वीर्यञ्च बलवीर्यं ताभ्यां मेदुरः पुष्टः सुरो देवो हेलयाऽना-यासेन, नराणां गोचरं न भवतीति अनरगोचरमतिमानुषं कार्यं साधयति सम्पाद-यतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

शिष्टमाचरणमाश्रयेदनावश्यकं च खलु तत्र तत्र ना ।
श्रीपतिं जिनमिवार्चितुं पुरा स्नान्ति दिव्यतनवोऽपि ते सुराः॥ ४० ॥

अन्वय : गेही मनसा तु सदा श्रीजिनम् उन्नयेत् । पर्वणि च तं विशेषतः अर्चयेत् । हि गेहिने अनपायिनी भक्तिरेव मुक्तिदायिनी खलु ।

अर्थ : गृहस्थको चाहिए कि वह मनसे सदैव जिन भगवान्‌का स्मरण किया करे । पर्वके दिनोंमें तो उनकी विशेष रूपसे सेवा-भक्ति करे । क्योंकि गृहस्थके लिए निर्दोष रूपसे की गयी जिन भगवान्‌की भक्ति ही मुक्ति देनेवाली हुआ करती है ॥ ३८ ॥

अन्वय : (अतः) आत्रिकेष्टहृतिहापनोद्यतः स्वकुलदैवतादि साधयेत् । हि बलवीर्य-मेदुरः सुरः अनरगोचरं हेलया साधयति ।

अर्थ : इसलिए लौकिक कार्योंमें निर्विघ्न सफलता चाहनेवाले गृहस्थको चाहिए कि वह अपने कुलदेवता आदिको उपासना-साधना द्वारा प्रसन्न करे । क्योंकि देवता लोग मनुष्यकी अपेक्षा अधिक बल-वीर्यवाले होते हैं । जिस कामको मनुष्य नहीं कर सकता, उसे वे लीलावश कर दिखाते हैं ॥ ३९ ॥

शिष्टमिति । ना नरस्तत्र तत्र तस्तत्सरेऽनावश्यकमपि शिष्टं शिष्टाचारविहित-माचरणम् आश्रयेत् सेवेत खलु निश्चयेन। यथा ते प्रसिद्धा दिव्यतनवो भव्यशरीरा अपि सुरा देवाः श्रीपतिं जिनमर्चितुं पुरा स्नान्ति, अस्नान् स्नानमकुर्वन् । 'यावत्पुरानिपा-तयोर्लट्' इति भूते लट् ॥ ४० ॥

श्रीमतीं भगवतीं सरस्वतीं स्रागलङ्कृतिविधौ वपुष्मतीम् ।
राधयेन् मतिसमाधये सुधीः शाणतो हि कृतकार्य आयुधी ॥ ४१ ॥

श्रीमतीमिति । सुधीः बुद्धिमान् पुरुषः स्राक् शीघ्रमेव मतेः समाधिस्तस्मै बुद्धि-स्थैर्याय, अलङ्कृतीनां विधिस्तस्मिन्, आभरणधारणे वपुष्मतीं दिव्यदेहसम्पन्नां श्रीमतीं कान्तिमतीं भगः ऐश्वर्यमस्या अस्तीति भगवतीं सरस्वतीं वागधिष्ठात्रीं शारदां राधयेत् आराधयेत् । हि यस्माद् आयुधान्यस्य सन्तीत्यायुधी शस्त्री पुरुषः शाणतः शस्त्रो-त्तेजनपाषाणात् कृतकार्यः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

संविचार्य खलु शिष्यपात्रतां शास्तुरेव मनुयोगमात्रताम् ।
शास्त्रमर्थयतु सम्पदास्पदं यत्प्रसङ्गजनितार्थदं पदम् ॥ ४२ ॥

अन्वय : ना तत्र तत्र खलु अनावश्यकम् अपि शिष्टम् आचरणम् आश्रयेत् । दिव्य-तनवः अपि सुराः श्रीपतिं जिनम् अर्चितुं पुरा स्नान्ति इव ।

अर्थ : मनुष्यको चाहिए कि उस-उस कार्यमें दीखनेवाले शिष्टोंके आचरणोंका, वे भले ही अनावश्यक प्रतीत हों, अनुकरण करे। देवता, दिव्य शरीरवाले होते हैं, वस्तुतः उन्हें स्नान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। फिर भी वे जिन भगवान्की पूजा करते हैं तो उससे पहले स्नान अवश्य कर लेते हैं ॥ ४० ॥

अन्वय : सुधीः स्राक् मतिसमाधये श्रीमतीम् अलङ्कृतिविधौ वपुष्मतीं भगवतीं सरस्वतीं राधयेत् । हि आयुधी शाणतः कृतकार्यः ।

अर्थ : समझदारको चाहिए कि शीघ्र ही अपनी बुद्धि ठिकाने रखनेके लिए अलंकार-धारणके योग्य दिव्य-देहकी धारिणी श्रीमती भगवती सरस्वतीकी आराधना करे, क्योंकि आयुधका धारक मनुष्य अपने शस्त्रको शाणपर चढ़ा-कर ही उसके द्वारा कार्यकुशल हो पाता है ॥ ४१ ॥

अन्वय : सम्पदास्पदं शास्त्रं खलु शिष्यपात्रतां संविचार्य एव शास्तु। अनुयोगमात्रतां संविचार्य अर्थयतु । यत् पदं प्रसङ्गजनितार्थदं भवति ।

संविचार्येति । सम्यवामास्पदं समीचीनवाक्यसमूहरूपं शास्त्रं शिष्यस्य पात्रता तां छात्रयोग्यतां संविचार्य विविच्य शास्तु शिक्षयतु । एवमनुयोगस्य मात्रता तां ग्रन्थकर्तु-रुद्देश्यभावं संविचार्य तदर्थमाचरतु, यतः पदं प्रसङ्गेन जनितश्चासौ अर्थस्तं ददाति प्रसङ्गानुरूपार्थप्रतिपादकं भवति ॥ ४२ ॥

शस्तमस्तु तदुताप्रशस्तकं व्याकरोति विषयं सदा स्वकम् ।
पारवश्यकविचारवेशिनी संहिता हि सकलाङ्गदेशिनी ॥ ४३ ॥

शस्तमिति । शास्त्रं द्विविधं, संहिता सूक्तञ्च । तत्र संहिता परवशे भवाः पारवश्यका ये विचारास्तान् विशतीति सर्वसाधारणविचारप्रवेशिनी तथा सकलान्यङ्गानि विशतीति साङ्गोपाङ्गनिर्देशिनी भवति । स्वविषयः शस्तो भवतु अथवाऽप्रशस्तो वा, तमेव व्याकरोति विशदीकरोतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

यत्तरामवहरन्नशस्तकं शस्तमेव मनुते किलाऽनकम् ।
सूक्तमेतदुपयुक्ततां गतं शर्मणे सपदि सर्वसम्मतम् ॥ ४४ ॥

यत्तरामिति । यत्सूक्तमेतत् सर्वेषां सम्मतं मान्यम्, उपयुक्तस्य भावस्तां गतमुप-

---

अर्थ : समीचीन वाक्योंके समूहरूप शास्त्र शिष्यकी योग्यता देखकर ही उसे पढ़ाया जाए। साथ ही शास्त्र बनानेवालेके अनुयोग या उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर ही उसका अर्थ बताया जाय। क्योंकि पद प्रसंगोपात्त अर्थके ही प्रतिपादक हुआ करते हैं ॥ ४२ ॥

अन्वय : तत्र हि सकलाङ्गदेशिनी पारवश्यकविचारवेशिनी संहिता (अतः सा) सदा स्वकं विषयं तत् शस्तम् उत अप्रशस्तकम् अस्तु व्याकरोति ।

अर्थ : शास्त्र प्रधानतया दो प्रकारके होते हैं—एक तो संहिताशास्त्र और दूसरा सूक्तशास्त्र। चूँकि संहिता जनसाधारणके विचारोंको लक्ष्यमें रखकर सांगोपांग वर्णन करनेवाली होती है, इसलिए वह अपने विषयको, चाहे वह प्रशस्त या अप्रशस्त हो, सदैव स्पष्ट करती है ॥ ४३ ॥

अन्वय : यत् सूक्तं एतत् सपदि शर्मणे सर्वसम्मतम् उपयुक्ततां गतम् तत् किल अशस्तकं अवहरन् शस्तमेव अनकं मनुतेतराम् ।

अर्थ : सूक्त-शास्त्र वह है, जो सर्वसम्मत होता है। वह हर समय हितकर बातें ही कहता और परमोपयोगी होता है। अतः वह अपने विषयके अप्रशस्त

योगभावमाप्तं सपदि शीघ्रं शर्मणे कल्याणाय भवति । तत्किल, अप्रशस्तकमप्रशस्तमवहरन् गौणतां नयन् शस्तं प्रशस्तांशमेव अनकं निर्दोषं मनुते ॥ ४४ ॥

सम्पठेत् प्रथमतो ह्युपासकाधीतिगीतिमुचितात्मरीतिकाम् ।
अज्ञता हि जगतो विशोधने स्यादनात्मसदनावबोधने ॥ ४५ ॥

सम्पठेदिति । गृही प्रथमत उचिता आत्मरीतयो यस्यां सा ताम् उपयुक्तस्वकुलाचारनियमोपेताम् उपासकानामधीतिश्च गीतिश्च ताम् उपासकाध्ययनशास्त्राण्येव सम्पठेत् । हि यस्माद् आत्मनः सदनं तस्यावबोधनमात्मसदनावबोधनं नात्मसदनावबोधनं तस्मिन् स्वगृहाचारज्ञानाभावे जगतः संसारस्य विशोधनेऽन्वेषणेऽज्ञतैव मूढतैव स्यात् ॥ ४५ ॥

भूतले तिलकतामुताञ्चतां श्रीमतां चरितमर्चतः सताम् ।
दुःखमुच्चलति जायते सुखं दर्पणे सदसदीयते मुखम् ॥ ४६ ॥

भूतल इति । भूतले पृथिव्यां तिलकस्य भावस्तां श्रेष्ठतामञ्चतां प्राप्तवतां श्रीमतां महापुरुषाणां चरितमर्चतः स्तुवतः पुरुषस्य दुःखमुच्चलति दूरीभवति सुखं च जायते । यतो दर्पणे मुकुरे सच्च असच्च सदसद् मुखमीयते ॥ ४६ ॥

अंशको गौण करते हुए सदैव प्रशस्त अंशका ही प्रधानतया वर्णन किया करता है ॥ ४४ ॥

अन्वय : गृही प्रथमतः उचितात्मरीतिकाम् उपासकाधीतिगीतिं सम्पठेत् । हि अनात्मसदनावबोधने जगतः विशोधने अज्ञता स्यात् ।

अर्थ : गृहस्थ व्यक्तिको चाहिए कि वह सबसे पहले जिसमें अपने आपके करने योग्य कुलागत रीति-रिवाजोंका वर्णन हो, ऐसे उपासकाध्ययन-शास्त्रोंका ही अध्ययन करे । क्योंकि अपने घरकी जानकारी न रखते हुए दुनियाको खोजना अज्ञता ही होगी ॥ ४५ ॥

अन्वय : उत भूतले तिलकताम् अञ्चतां श्रीमतां सतां चरितम् अर्चतः दुःखं उच्चलति, सुखं जायते । (यथा) सद वा असद् वा मुखं दर्पणे ईक्ष्यते ।

अर्थ : अथवा इस भूतलपर श्रेष्ठ प्रसिद्धिको प्राप्त श्रीमान् सत्पुरुषोंके जीवनचरितका स्तवन करनेपर गृहस्थका दुःख दूर होता और सुख प्राप्त होता है । क्योंकि अपना स्वच्छ या मलिन मुख दर्पणमें देखा जा सकता है ॥ ४६ ॥

सुस्थितिं समयरीतिमात्मनः सङ्गतिं परिणतिं तथा जनः ।
द्रष्टुमाशु करणश्रुतं श्रयेत् स्वर्णकं हि निकषे परीक्ष्यते ॥ ४७ ॥

सुस्थितिमिति । जनः शोभना स्थितिस्तां शोभनावस्थां, समयस्य रीतिस्तां कालनियमम्, आत्मनः स्वस्य सङ्गतिं सहावस्थानं शुभगतिं वा परिणतिं शुभाशुभपरिवर्तनञ्च द्रष्टुमाशु करणश्रुतं करणानुयोगशास्त्रं श्रयेत् शिक्षेत । हि यतः स्वर्णकं निकषे परीक्षोपले परीक्ष्यते ज्ञायते ॥ ४७ ॥

सञ्चरेत्　　सुचरणानुयोगतस्तावदात्महितभावनारतः ।
नित्यशोऽप्रतिनिवृत्त्य सत्पथात्सम्भवेत्पथि गतस्य का व्यथा ॥४८॥

सञ्चरेदिति । तावत् आत्मनो हितमात्महितं तस्य भावनायां रतः स्वकल्याणानुसन्धानतत्परः सन् सुचरणानुयोगतः सुचरणानुयोगानुसारं सञ्चालो पन्थाः सत्पथस्तस्माद् अप्रतिनिवृत्त्य, सन्मार्गमपरित्यज्य नित्यशः सञ्चरेदाचरेत् । यतः पथि सन्मार्गे गतस्य का व्यथा कष्टं सम्भवेत्, न काऽपीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

किं किमस्ति जगति प्रसिद्धिमत्कस्य सम्पदथ कीदृशी विपद् ।
द्रव्यनाम समये प्रपश्यतां नो वितर्कविषया हि वस्तुता ॥ ४९ ॥

अन्वय : जनः सुस्थितिं समयरीतिम् आत्मनः सङ्गतिं तथा परिणतिं द्रष्टुम् आशु करणश्रुतं श्रयेत् । हि स्वर्णकं निकषे परीक्ष्यते ।

अर्थ : मनुष्य समीचीन अवस्था, कालके नियम, अपनी संगति, शुभगति या शुभाशुभ परिवर्तनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए करणानुयोग-शास्त्रोंका अध्ययन करे। क्योंकि सुवर्णके खरे-खोटेपनकी परीक्षा कसौटीपर ही की जाती है ॥ ४७ ॥

अन्वय : तावत् आत्महितभावनारतः सुचरणानुयोगतः नित्यशः सत्पथात् अप्रतिनिवृत्त्य सञ्चरेत् । पथि गतस्य का व्यथा संभवेत् ।

अर्थ : इसके बाद अपना भला चाहनेवाले मनुष्यको चाहिए कि वह चरणानुयोगका अध्ययन कर सन्मार्गको न छोड़ता हुआ सदैव सदाचरण करे। क्योंकि सन्मार्गपर चलनेवालेको क्या कष्ट होगा ? ॥ ४८ ॥

अन्वय : अथ जगति किं किं प्रसिद्धिमत् अस्ति । कस्य कीदृशी सम्पद् विपद् (वा) (इति) द्रव्यनाम समये प्रपश्यताम् । हि वस्तुता वितर्कविषया नो भवति ।

किं किमिति । अथ जगति किं किं प्रसिद्धिरस्यास्तीति प्रसिद्धिमत् प्रशंसनीयमस्ति, कस्य वस्तुनः कीदृशी सम्पत् सुपरिणमनमस्ति, कस्य विपरिणमनमस्तीति विज्ञानार्थं समये द्रव्यनाम द्रव्यानुयोगशास्त्रं प्रपठ्यतामधीयताम् । हि यस्माद् वस्तुता वस्तुभावो वितर्को विषयो यस्याः सैवंभूता नास्ति ॥ ४९ ॥

एतकैर्निजहितेऽनुयोजनमस्ति सूक्तिसुभिदाऽऽत्मनः पुनः ।
हस्तयन्त्रकशिताख्यसीवनं वाससो हि भुवि जायतेऽवनम् ॥ ५० ॥

एतकैरिति । एतैरेव एतकैः पूर्वोक्तप्रथमानुयोगादिशास्त्रैः सूक्तिसुभिदा शोभनकथनप्रकारभेदेन, आत्मनो निजहिते आत्मकल्याणे योजनं प्रवर्तनमस्ति । हि यतो भुवि लोके हस्तश्च यन्त्रश्च कशितश्च आख्या यस्य तद् एवम्भूतं सीवनं वाससो वस्त्रस्य, अवनं रक्षणार्थं परिधानानुकूल्यार्थमेव वा जायते । यथा हस्तयन्त्रकशिताख्यैः प्रकारैर्वस्त्रस्य सीवनं भवति तत्सर्वं तस्य संरक्षणमेव तथा प्रथमकरणचरणद्रव्यनामकैः निजहिते योजनमेतकैश्चतुर्भिः भवतीति ज्ञातव्यम् ॥ ५० ॥

विश्वविश्वसनमात्मवञ्चितिः शङ्किनः स्विदभिदः कुतो गतिः ।
योग्यतामनुचरेन्महामतिः कष्टकृद्भवति सर्वतो ह्यति ॥ ५१ ॥

विश्वविश्वसनमिति । विश्वस्य विश्वसनं विश्वासः क्रियते चेत्तदात्मनो वञ्चितिर्वञ्चना भवति । स्वित् किन्तु अभितः सर्वतो विशङ्किनः शङ्काशीलस्य कुतो गतिः निर्वाहो

अर्थ : इसके बाद जगत्‌में क्या-क्या चीजें हैं और किस-किस चीजका कैसा सुन्दर या असुन्दर परिणाम होता है, यह जाननेके लिए द्रव्यानुयोगशास्त्रका अध्ययन करें, क्योंकि वस्तुकी वस्तुता वितर्कका विषय नहीं है ॥ ४९ ॥

अन्वय : एतकैः पुनः सूक्तिसुभिदा आत्मनः निजहिते अनुयोजनम् अस्ति । हि भुवि हस्तयन्त्रकशिताख्यसीवनं वाससः अवनं जायते ।

अर्थ : इन उपर्युक्त प्रथमानुयोगादि शास्त्रोंमें कथनकी अपनी-अपनी शैलीके भेदोंसे आत्मकल्याणकी ही बात कही गयी है । हम पृथ्वी पर देखते हैं कि सीनेकी मशीनसे सीना और कसीदा निकालना ये सब कारीगरियाँ उस वस्त्रको पहननेयोग्य बनानेके लिए ही होता है ॥ ५० ॥

अन्वय : विश्वविश्वसनम् आत्मवञ्चितिः स्वित् । (किन्तु) अभिदः शङ्किनः गतिः कुतः ? महामतिः योग्यताम् अनुचरेत् । हि अति सर्वतः कष्टकृत् भवति ।

अर्थ : बिना कुछ विचार किये सभी पर विश्वास कर बैठना अपने

भवेत् । अतो महामतिर्बुद्धिमान् जनो योग्यतामनुसरेत् स्वीकुर्याद् विचारशीलो भवेदित्यर्थः । ततो विश्वासयोग्यस्यैव विश्वासः कार्य इति भावः । सर्वत्रातिकरणं कष्टकृद् इत्याशयः ॥ ५१ ॥

उद्धरन्नपि पदानि सन्मनः शब्दशास्त्रमनुतोषयञ्जनः ।
श्रीप्रमाणपदवीं व्रजेन्मुदा वाग्विशुद्धिरुदितार्थशुद्धिदा ॥ ५२ ॥

उद्धरन्नपीति । जनः पुरुषः शब्दशास्त्रमधीत्येति शेषः । पदानि सुप्तिङन्तात्मकानि, उद्धरन् प्रकृति-प्रत्ययादिनिरुक्त्या शोधयन्, सतां विदुषां मनश्चित्तमनुतोषयन् रञ्जयन्, श्रीप्रमाणपदवीं व्याकरणज्ञतां मुदाऽनायासेन व्रजेत् प्राप्नुयात् । यतो वाचां विशुद्धिर्वाग्विशुद्धिः शुद्धवचनोच्चारणमेव, अर्थस्य शुद्धिरर्थशुद्धिस्तां ददातीति अर्थशुद्धिदा शुद्धार्थप्रतिपादिका भवतीति शेषः ॥ ५२ ॥

दूषणानि वचनस्य शोधयेत्तच्च भूषणतया भुवो वहेत् ।
छान्दसं समवलोक्य धीमतां प्रीतये भवति मञ्जुवाक्यता ॥ ५३ ॥

दूषणानीति । वचनस्य दूषणानि तु शोधयेत् मार्जयेदेव, अपि तु तद्वचनं भुवो भूषणतयाऽनुरञ्जकतया वहेद् धारयेत् । यतश्छन्द एव छान्दसं छन्दःशास्त्रं सम्यगवलोक्य मञ्जुवाक्यानां भावो मञ्जुवाक्यता मनोहरवचनता धीमतां विदुषां प्रीतये प्रसादाय भवति ॥ ५३ ॥

आपको ठगाना है । सब जगह शंका ही शंका करनेवाला कुछ कर नहीं सकता । इसलिए समझदारको चाहिए कि वह योग्यतासे काम लें, क्योंकि 'अति' सर्वत्र दुखदायी ही होता है ॥ ५१ ॥

अन्वय : अपि च जनः पदानि शब्दशास्त्रम् उद्धरन् सन्मनः अनुतोषयन् श्रीप्रमाणपदवी मुदा व्रजेत् । (यतः) वाग्विशुद्धिः अर्थशुद्धिदा उदिता ।

अर्थ : फिर मनुष्यको चाहिए कि शब्दशास्त्र पढ़कर उसके अनुसार प्रत्येक शब्दकी निरुक्ति और सज्जनोंके मनको रंजित करते हुए अनायास व्याकरणशास्त्रका ज्ञान प्राप्त करे। क्योंकि वचनकी शुद्धि ही पदार्थकी शुद्धिकी विधायक होती है ॥ ५२ ॥

अन्वय : (पुनः) वचनस्य दूषणानि शोधयेत् । तत् च भुवो भूषणतया वहेत् । (यतः) छान्दसं समवलोक्य मञ्जुवाक्यता धीमतां प्रीतये भवति ।

इसी तरह अपने वचनके दूषणोंको दूर हटाकर उसे सबके लिए रंजक बनानेकी चेष्टा करे; क्योंकि छन्दःशास्त्रका सम्यक् अध्ययन कर मधुर वाक्यविन्यास ही विद्वानोंकी प्रीतिके लिए होता है ॥ ५३ ॥

यातु वृद्धसमयात्किलोपमाऽपह्नुतिप्रभृतिकं च बुद्धिमान् ।
भूरिशो ह्यभिनयानुरोधिनी वागलङ्करणतोऽभिबोधिनी ॥ ५४ ॥

यात्विति । यतः किल वाग् वाणी भूरिशः प्रायस्तावद अभिनयानुरोधिनी प्रसङ्गानुसारिणी भवति । अतोऽलङ्कारत एव स्वाभिप्रायस्य अभिबोधिनी यथोचितबोधदा भवति । ततो वृद्धसमयात् काव्यशास्त्राद् उपमाऽपह्नुत्याद्यलङ्कारश्च यातु प्राप्नोतु बुद्धिमान् मनुष्य इति ॥ ५४ ॥

व्याकृतिं शुचिमलङ्कृतिं पुनश्छन्दसां ततिमिति त्रयं जनः ।
साभिधेयमभिधानमन्वयप्रायमाश्रयतु तद्धि वाङ्मयम् ॥ ५५ ॥

व्याकृतिमिति । शुचिं निर्दोषां व्याकृतिं व्याकरणमलङ्कृतिमलङ्कारशास्त्रं छन्दसां वृत्तानां ततिं पङ्क्तिञ्च एतत्त्रयम् अभिधेयो वाच्यार्थस्तेन सहितं साभिधेयम् अभिधानवाचकशब्दस्तयोरन्वयः सम्बन्धस्तद्रूपं वाङ्मयमसौ जन आश्रयतु सेवताम् ॥ ५५ ॥

तानवं श्रुतमुपैतु मानवः स्यान्न वर्त्मनि मुदोऽघसम्भवः ।
प्रीतमस्तु च सहायिनां मन आद्यमङ्गमिह सौख्यसाधनम् ॥ ५६ ॥

तानवमिति । मानवस्तन्वा इदं तानवं शरीरसम्बन्धि शास्त्रमायुर्वेदशास्त्रमपि उपैतु प्राप्नोतु, पठत्वित्यर्थः । यतः किल मुदो वर्त्मनि स्वास्थ्येऽघसम्भवो रोगाद्युत्पत्तिर्न

अन्वय : च बुद्धिमान् किल वृद्धसमयात् उपमापह्नुतिप्रभृतिकं यातु । हि वाक् भूरिशः अभिनयानुरोधिनी, अलङ्करणतः च अभिबोधिनी भवति ।

अर्थ : इसी प्रकार बुद्धिमान्‌को चाहिए कि काव्यशास्त्रका अध्ययन करके उपमा,-अपह्नुति, रूपक आदि अलंकारोंका भी ज्ञान प्राप्त करे। चूँकि वाणी प्रायः प्रसंगानुसारिणी होती है, अतः अलंकारोंद्वारा ही वह अपने अभिप्रायका यथोचित बोध करा पाती है ॥ ५४ ॥

अन्वय : जनः शुचि व्याकृतिम् अलङ्कृतिं पुनः छन्दसां ततिम् इति त्रयम् अन्वयप्रायं साभिधेयम् अभिधानम् आश्रयतु । हि तत् वाङ्मयम् ।

अर्थ : गृहस्थको चाहिए कि उत्तम व्याकरण शास्त्र, अलंकार शास्त्र और छन्दःशास्त्र, जो कि परस्पर वाच्य-वाचकके समन्वयको लिये हुए होते हैं और जो वाङ्मय के नामसे कहे जाते हैं, उनका अच्छी तरहसे अध्ययन करे ॥ ५५ ॥

अन्वय : मानवः तानवं श्रुतम् उपैतु, यतः मुदः वर्त्मनि अघसम्भवः न स्यात् । च सहायिनां मनः प्रीतम् अस्तु । इह हि अङ्गम् आद्यं सौख्यसाधनम् (अस्ति) ।

स्यात् । सहायिनां सहयोगिनां मनश्च प्रीत प्रसन्नमस्तु । यतोऽङ्गमेव आद्य सौख्यसाधन-मस्ति ॥ ५६ ॥

कामतन्त्रमतियत्नतः पठेद्यद्युपस्थितिरुपादिमन्मठे ।
तत्र तत्र हतिरन्यथा पुनः शिक्षते च हयराडुदञ्चनम् ॥ ५७ ॥

कामतन्त्रमिति । उपाधिमन्मठे द्वितीयाश्रमे यद्युपस्थितिरस्ति तदा कामतन्त्रमपि कामशास्त्रमपि पठेत् । अन्यथा पुनस्तत्र तत्र कुत्र केन सह सम्पर्कं कार्यं, केन सह कदा न कार्यं इत्यादिप्रसङ्गे हतिः प्रवञ्चना स्यात् । यतो हयराड् उदञ्चनमपि शिक्षत एव ॥ ५७ ॥

श्रीनिमित्तनिगमं प्रपश्यता भाविवस्तु तदपेक्ष्यते मता ।
स्रागशक्यमपि शक्यते ततः सगडेन हि शिलासृतिः स्वतः ॥ ५८ ॥

श्रीनिमित्तनिगममिति । श्रीनिमित्त निगमं ज्योतिःशास्त्र प्रपश्यता सता अनेन तद्भाविवस्तु अनागतमप्यपेक्ष्यते दृश्यते । तत स्राक् शीघ्र सावधानतयाऽशक्यमपि शक्यते । हि यत सगडेन साधनेन स्वतोऽनायासेन शिलाया सृतिश्चालन भवति ॥ ५८ ॥

अर्थ इसके बाद गृहस्थ मनुष्यको चाहिए कि वह आयुर्वेदशास्त्रका भी अध्ययन करे, जिससे अपनी सुख सुविधाके मार्गमे स्वास्थ्यसे किसी तरहकी बाधा न होने पाये और अपने सहयोगियोंका मन भी प्रसन्न रहे। क्योकि शरीर ही सभी तरहके सौख्योका मूल है ॥ ५६ ॥

अन्वय : यदि उपाधिमन्मठे उपस्थिति तदा अतियत्नत कामतन्त्र पठेत्। यत हय-राट् उदञ्चनम् च शिक्षते । अन्यथा पुन तत्र तत्र हति स्यात् ।

अर्थ : जैसे कि घोड़ेको उछलकूद भी सीखनी पडती है, वैसे ही गृहस्थाश्रममे रहनेवाले मनुष्यको कामशास्त्रका अध्ययन भी यत्नपूर्वक करना चाहिए। अन्यथा फिर अनेक प्रसंगोमें धोखा खाना पडता है ॥ ५७ ॥

अन्वय (यतः) श्रीनिमित्तनिगम प्रपश्यता सता तत् भाविवस्तु अपेक्ष्यते । ततः स्राक् अशक्यम् अपि शक्यत । हि सगडेन शिलासृति. स्वतः भवति ।

अर्थ गृहस्थको निमित्त-शास्त्र या ज्योतिष-शास्त्रका अध्ययन भी करना चाहिए, जिससे यथोचित भविष्यका दर्शन हो सके। फिर उसके सहारे असंभव भी संभव बनाया जा सकता है। कारण, सागडे द्वारा बडी-से-बडी शिलाको भी हिलाया-चलाया जाता है ॥ ५८ ॥

अर्थशास्त्रमवलोकयन्नृराट् कौशलं समनुभावयेत्तराम् ।
श्रीप्रजासु पदवीं व्रजेत्परां व्यर्थता हि मरणाद्भयङ्करा ॥ ५९ ॥

अर्थशास्त्रमिति । नृराट् सज्जनपुरुषोऽर्थशास्त्रमवलोकयेत् पठेदित्यर्थः । येन श्रीप्रजासु लोकेषु कौशलं चातुर्यमनुभावयेत्तराम् अतिशयेन चातुर्यं प्रबोधयेत् । किञ्च परामुत्कृष्टां पदवीञ्च व्रजेत् । हि व्यर्थता दरिद्रता मरणादपि भयङ्करा भीतिकरी वर्तत इति शेषः ॥ ५९ ॥

यातु ताललयमूर्च्छनादिभिर्जैनकीर्तनकलाप्रसादिभिः ।
गीतिरीतिमपि तच्छ्रुतात्पुनर्मञ्जुवाक्त्वमिह विश्वमोहनम् ॥६०॥

यात्विति । पुनर्जैनकीर्तनस्य कलां प्रसादयन्तीति तैः जैनकीर्तनकलाशोभाकरैः तालतयमूर्च्छनादिभिः सङ्गीताङ्गैस्तच्छ्रुताद् गीतिशास्त्राद् गीतीनां रीतिः प्रकारस्तामपि यातु शिक्षताम् । यत इह मञ्जुवाक्त्वं मधुरवचनत्वं विश्वस्य संसारस्य मोहनं वशीकरणमस्तीति शेषः ॥ ६० ॥

कृच्छ्रसाध्यमिव सुष्ठुकार्यकृन्मन्त्रतन्त्रमपि चेत्स्वतन्त्रहृत् ।
तन्निवेदिपुरतः परिश्रमात् साधयेदघविराधये पुमान् ॥ ६१ ॥

कृच्छ्रसाध्यमिति । यद्यपि मन्त्रतन्त्रं मन्त्रशास्त्रं कृच्छ्रेण साध्यं कष्टसाधनीय-

---

अन्वय : नृराट् अर्थशास्त्रम् अवलोकयेत् येन श्रीप्रजासु कौशलं समनुभावयेत्तराम्, च परां पदवीं व्रजेत् । हि व्यर्थता मरणात् भयङ्करा भवति ।

अर्थ : सज्जन पुरुषको चाहिए कि अर्थशास्त्रका भी अध्ययन करे, जिससे आम लोगोंमें रहते हुए कुशलतापूर्वक जीवनयापन कर सके और प्रतिष्ठा पा सके। अन्यथा धनहीनता मरणसे भी बढ़कर भयंकर दुःखदायिनी होती है ॥ ५९॥

अन्वय : पुनः जैनकीर्तनकलाप्रसादिभिः तालतयमूर्च्छनादिभिः तच्छ्रुतात् गीतिरीतिम् अपि यातु । इह मञ्जुवाक्त्वं विश्वमोहनं (भवति) ।

अर्थ : इसके बाद जिन भगवान्‌की कीर्तन-कलाके लिए शोभाप्रद ताल, लय, मूर्च्छना आदि संगीतके अंगोंके साथ गीतिके प्रकार भी संगीतशास्त्रसे सीख लें। क्योंकि मधुरवाक्यता विश्वको वश करनेवाली होती है ॥ ६० ॥

अन्वय : मन्त्रतन्त्रं कृच्छ्रसाध्यम् इव, (तथापि) सुष्ठुकार्यकृत् । अतः पुमान् स्वतन्त्रहृत् (चेत्) अघविराधये परिश्रमात् तन्निवेदिपुरतः तदपि साधयेत् ।

अर्थ : यद्यपि मंत्रशास्त्र कष्टसाध्य प्रतीत होता है, फिर भी है वह उतना

मिव प्रतीयत इति भावः । तथापि तत्सुष्ठु कार्यं करोतीति शोभनकर्मकरम्, अस्तीति शेषः । अतः स्वतन्त्रं स्वाधीनं हृद्वयं यस्य स पुमान् पुरुषोऽध्यानां विराधिस्तस्यै पाप-नाशाय तन्निवेदयतीति तन्निवेदी तस्य पुरतस्तज्ज्ञपुरुषसमीपे परिश्रमात् तदपि साधयेत् ॥ ६१ ॥

वास्तुशास्त्रमवलोकयेन्नरो नास्तु येन निलयो व्यथाकरः ।
अन्यदप्युचितमीक्षमाणकः सम्भजेच्छ्रियमभिप्रमाणकः ॥ ६२ ॥

वास्तुशास्त्रमिति । वास्तुशास्त्रं गृहनिर्माणशास्त्रमपि नरोऽवलोकयेत्, येन निलयो निवासगृह व्यथां करोतीति व्यथाकरो बाधाकारको नास्तु । एतेभ्यो लोकशास्त्रेभ्यो-ऽन्यदपि यदुचितं ज्ञातुं भवेत् तत्तवीक्षमाणको गृही अभिप्रमाणकः प्रमाणानुसारी सर्वच्छ्रियं संभजेत् ॥ ६२ ॥

आर्षवाच्यपि तु दुःश्रुतीरिमाः किन्न पश्यतु गृहे नियुक्तिमान् ।
आममन्नमतिमात्रयाऽशितं चास्तु भस्मकरुजे परं हितम् ॥ ६३ ॥

आर्षवाचीति । इमा उपर्युक्ताः श्रुतय आर्षवाचि यद्यपि दुःश्रुतीरुक्तास्तथापि गृहे नियुक्तिमान् गृही पुरुषः किं न पश्यति, अपि तु अवश्यं पश्यत्वित्यर्थः । यथाऽतिमात्रया

जो उपयोगी, शोभन-कार्यकारी भी है। पुरुष यदि स्वतन्त्रचेता हो तो उसे चाहिए कि अपने अभीष्ट कार्योंमें आयी बाधाओंको दूर करनेके लिए मन्त्र-शास्त्रके जानकार पुरुषोंके पास रहकर परिश्रमपूर्वक उसकी भी जानकारी प्राप्त करे ॥ ६१ ॥

अन्वय : नरः वास्तुशास्त्रम् अपि अवलोकयेत्, येन निलयः व्यथाकरः न अस्तु । तथैव अन्यत् अपि उचितं शास्त्रम् ईक्षमाणकः अभिप्रमाणकः श्रियं संभजेत् ।

अर्थ : गृहस्थको चाहिए कि वास्तुशास्त्रका भी अध्ययन करे, ताकि उसके द्वारा अपना निवासस्थान किसी तरह बाधाकारक न हो। इसके अतिरिक्त और जो लौकिक कला-कुशलताके शास्त्र हैं, उनका भी अध्ययन करनेवाला मनुष्य सबमें चतुर कहलाकर अपने जीवनको संपन्नतासे बिता सकता है ॥ ६२ ॥

अन्वय : (यद्यपि) इमाः आर्षवाचि दुःश्रुतीः, अपि तु गृहे नियुक्तिमान् किं न पश्यति । अतिमात्रया अशितम् अन्नम् भस्मकरुजे परं हितम् अस्तु ।

अर्थ : यद्यपि ये सब उपर्युक्त शास्त्र ऋषियोंकी भाषामें दुःश्रुति नामसे कहे गये हैं अर्थात् न पढ़नेयोग्य माने गये हैं; फिर भी इन्हें गृहस्थ भी न पढ़े, ऐसा

अतिमात्रम् आमरोगकरं भवति, किन्तु तदेव भस्मकदशे भस्मकरोगिणे परं हितं भवति ॥ ६३ ॥

नानुयोगसमयेष्विवादरः स्यान्निमित्तकमुखेषु भो नर ।
वाक्तया समुदितेषु चार्हतां मूर्धवत् क्व पदयोः सदङ्गता ॥ ६४ ॥

नानुयोगसमयेष्विति । भो नर, अर्हतां वाक्तया समुदितेषु निमित्तकमुखेषु शास्त्रेषु, अनुयोगसमयेष्विव आदरो न स्याद् यथाऽङ्गत्वेऽपि सति पदयोश्चरणयोः मूर्धवत् सदङ्गता न भवति ॥ ६४ ॥

ज्ञाप्यमाप्यमथ हाप्यमप्यदः श्रीगिरोऽपि समियाद्वशंवदः ।
मातुरुच्चरणमात्रतो बुचीत्यादि सङ्कलितुमेति किन्तुचित् ॥ ६५ ॥

ज्ञाप्यमिति । वशंवदो ज्ञानवाञ्जनः श्रीगिरो जिनवाण्या अपि ज्ञाप्यं ज्ञानयोग्यम्, आप्यं स्वीकार्यम्, अथ च हाप्यं हानयोग्यमित्यदस्त्रिप्रकारं कथनं समियात् प्राप्नुयात् । यथा मातुरुच्चारणमात्रत एव बुचीत्यादिपदं सङ्कलितुं संग्रहीतुं बुद्धिरेति किन्तुचित्, अपि तु नैति । बुचीत्यादिपदं तु केवलं शिशोः सम्भालनाय कथ्यते ॥ ६५ ॥

नहीं। क्योंकि अतिमात्रामें भोजन करना आमरोगकारक होनेसे निषिद्ध कहा गया है; फिर भी जिसे भस्मक-रोग हो गया है, उसके लिए तो वह हितकर ही होता है ॥ ६३ ॥

अन्वय : भो नर ! अर्हतां वाक्तया समुदितेषु निमित्तकमुखेषु अनुयोगसमयेषु इव आदरः न स्यात् । हि पदयोः मूर्धवत् सदङ्गता क्व ?

अर्थ : भाई ! निमित्तशास्त्र आदि भी भगवान्की वाणीके भीतर हो आये हुए हैं, फिर भी उनमें प्रथमानुयोगादि शास्त्रोंके समान आदरणीय नहीं है। देखो, मस्तक भी शरीरका अंग है और पैर भी; फिर भी मस्तकके समान पैरोंकी सदङ्गता नहीं होती ॥ ६४ ॥

अन्वय : वशंवदः श्रीगिरः अपि ज्ञाप्यम् आप्यम् अथ हाप्यम् अपि अदः समियात् । मातुः उच्चरणमात्रतः बुचि इत्यादि सङ्कलितुं (बुद्धिः) किन्तुचित् एति ।

अर्थ : समझदार पुरुषको याद रखना चाहिए कि भगवान् अरहंतकी वाणीमें भी जाननेयोग्य, प्राप्त करनेयोग्य और छोड़नेयोग्य ऐसा तीन तरहका कथन आता है। देखें, माताएँ अपने छोटे बच्चोंको डरानेके लिए 'बुचि आयी' आदि शब्द कहा करती हैं तो वहाँ माताकी कही बात मानकर क्या कभी वह संग्रह करनेयोग्य होती। उसका प्रयोजन बच्चेको डरानामात्र ही होता है ॥ ६५ ॥

जातु नात्र हितकारि सन्मनो भ्रंशयेदपि तु तत्त्ववर्त्मनः ।
तत्कुशास्त्रमवमन्यतामिति कः श्रयेदवहितं महामतिः ॥ ६६ ॥

जात्विति । यत्किल परत्र अत्र च जातु कदाचित् हितकारि हितकारकं न भवति, किञ्च सतां मनः तत्त्वस्य वर्त्म तस्मात् सन्मार्गाद् भ्रंशयेद् दूरीकुर्यात्, तत् कुशास्त्रं कथ्यते । अतस्तदवमन्यतां त्यज्यताम् । महामतिर्बुद्धिमान् सन् कोऽवहितं हितरहितं श्रयेत् आश्रयेत्, न कोऽपीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

ना महत्सु नियमेन भक्तिमानस्तु कस्तु पुनरत्र पवित्रमा ।
चेद्भवेन्महदनुग्रहपृषद् यैर्मतो हि भुवि पूज्यते दृषद् ॥ ६७ ॥

नेति । ना मनुष्यो महत्सु महापुरुषेषु भक्तिमानस्तु । महत्सु भक्तितोऽन्यत्र पुनरत्र भूतले कः पवित्रमा भव्यभावः । चेदपि महतामनुग्रहस्य पृषदंशस्तदाऽस्त्येव पवित्रमा । यैर्महद्भिर्मतः सम्मतो दृषत् पाषाणखण्डोऽपि भुवि पूज्यते ॥ ६७ ॥

सन्निपातगुणतो निवर्तिनश्चापवर्गिकपथाग्रवर्तिनः ।
यस्य कामपरिवादसादुरो मङ्गलं श्रयतु दर्शनं गुरोः ॥ ६८ ॥

सन्निपातगुणत इति । संसारे पतनं सन्निपातस्तस्य गुणो विषयसेवनं ततो

अन्वय : (यत्) अत्र जातु हितकारि न, अपि तु सन्मनः तत्त्ववर्त्मनः भ्रंशयेत्, तत् कुशास्त्रम् इति अवमन्यताम् । कः महामतिः अवहितं श्रयेत् ।

अर्थ : जो शास्त्र यहाँ लौकिक कार्योंमें हितकर न हो और सज्जनोंके मनको तत्त्वके मार्गसे भ्रष्ट करनेवाला हो, (अतः परलोकके लिए भी अनुपयोगी हो,) वह दोनों लोकोंको बिगाड़नेवाला शास्त्र कुशास्त्र है । उसे नहीं पढ़ना चाहिए । जिससे कोई लाभ नहीं, उसे कौन समझदार पुरुष स्वीकार करेगा ? ॥ ६६ ॥

अन्वय : ना महत्सु नियमेन भक्तिमान् अस्तु । महदनुग्रहपृषत् चेत् भवेत् अत्र तु पुनः कः पवित्रमा । हि यैः मतः दृषत् भुवि पूज्यते ।

अर्थ : मनुष्य महापुरुषोंके प्रति नियमतः भक्तिमान् बने । महापुरुषोंके अनुग्रहका बिन्दु भी हो तो यहाँ उससे बढ़कर भव्यता क्या है ? कारण, इन महापुरुषों द्वारा आदृत पाषाण भी इस भूतल पर पूजा जाता है ॥ ६७ ॥

अन्वय : सन्निपातगुणतः निवर्तिनः च आपवर्गिकपथाग्रवर्तिनः यस्य उरः कामपरिवादसात् (तस्य) गुरोः मङ्गलं दर्शनं श्रयतु ।

निर्वर्तितः पराङ्मुखस्य, तथा आपवर्गिकः पन्था मोक्षमार्गस्तस्याग्रे वर्तते, तस्य मोक्षमार्गाग्रेसरस्य। यद्वा अनात् मोक्षमार्गे प्रवर्तनशीलस्य, यस्य उरो हृदयं कामपरिवादवशात् मैथुनसेवनविरोधकरं स्यादेतादृशस्य गुरोर्दर्शनं मङ्गलं कल्याणकरं भवति। नरस्तच्छ्रयतु सेवताम् ॥ ६८ ॥

बोधवृत्तसुवयःसमन्वयेष्वाश्रयन्ति　गुरुतां　जनाश्च　ये।
तान् प्रमाणयतु ना यथोचितं लोकवर्त्मनि समाश्रयन् हितम् ॥ ६९ ॥

बोधवृत्तेति। लोकवर्त्मनि नीतिमार्गे गृहस्थाश्रमे वा हितं समाश्रयन् ना जनः, बोधो ज्ञानं, वृत्तं चारित्रं, सुवयोऽवस्था, समन्वयः सुकुलमेतेषु च ये जना गुरुतामाश्रयन्ति तानपि प्रमाणयतु यथोचितं वृद्धबुद्ध्या स्वीकरोतु ॥ ६९ ॥

पार्थिवं समनुकूलयेत्पुमान् यस्य राज्यविषये नियुक्तिमान्।
शल्यवद्रुजति यद्विरोधिता नाम्बुधौ मकरतोऽरिता हिता ॥ ७० ॥

पार्थिवमिति। पुमान् यस्य राज्ये नियुक्तिमान् तं पार्थिवं नृपं समनुकूलयेत् अनुकूलमाचरेत्। यस्य विरोधिता प्रतिकूलता शल्येन तुल्यं शल्यवच्छूलमिव रुजति पीडयति। यथा अम्बुधौ समुद्रे मकरतो ग्राहस्य अरिता शत्रुता हिता शुभा न भवति ॥ ७० ॥

अर्थ : सांसारिक विषयोंके सेवनसे सर्वथा दूर रहनेवाले और मोक्षमार्गपर निरंतर आगे बढ़नेवाले जिनका मन कामवासनासे सर्वथा दूर रहता है, उन गुरुदेवका मंगलमय दर्शन सदा करते रहना चाहिए ॥ ६८ ॥

अन्वय : ये जनाः बोधवृत्तसुवयःसमन्वयेषु च गुरुतां आश्रयन्ति, तान् लोकवर्त्मनि हितं समाश्रयन् ना यथोचितं प्रमाणयतु।

अर्थ : जो लोग ज्ञान, चारित्र्य, आयु और कुलपरम्परामें बड़े हों, उन लोगोंका भी लौकिक मार्गमें हित चाहनेवाला पुरुष यथायोग्य रीतिसे आदर करता रहे ॥ ६९ ॥

अन्वय : पुमान् यस्य राज्यविषये नियुक्तिमान् (तं) पार्थिवं समनुकूलयेत्, यद्विरोधिता शल्यवत् रुजति। अम्बुधौ मकरतः अरिता हिता न (भवति)।

अर्थ : मनुष्यको चाहिए कि जिस राजाके राज्यमें निवास करता है, उसको प्रसन्न बनाये रखनेकी चेष्टा करे। उसके विरुद्ध कोई काम न करे, क्योंकि उसके विरुद्ध चलना शल्यके समान हर समय दुःख देता रहता है। समुद्रमें रहकर मगर-मच्छसे विरोध करना हितावह नहीं होता ॥ ७० ॥

सर्वतो विषयतर्षपाशिनो हन्त संसृतिविलासवासिनः ।
व्यर्थमेव गुरुताप्रकाशिनः के श्रयन्तु किल शर्मनाशिनः ॥ ७१ ॥

सर्वत इति । सर्वतः पूर्णरूपेण विषयाणां तर्ष एव पाशोऽस्ति येषां ते तान् विषयतृष्णारज्जुबद्धान्, संसृतेर्विलासास्तेषु वसन्ति तान् विविधारम्भपरिग्रहासक्तान्, व्यर्थं निष्प्रयोजनं गुरुतां प्रकाशयन्ति तान् गौरवप्रकाशकान्, शर्म कल्याणं नाशयन्ति यान् स्वपराहिततत्परान् जनान् के श्रयन्तु सेवन्तां किल, न कोऽपीत्यर्थः । हन्तेति खेदे ॥ ७१ ॥

दानमानविनयैर्यथोचितं तोषयन्निह सधर्मिसंहतिम् ।
कृत्यकृद्विमतिनोऽनुकूलयन् संलभेत गृहिधर्मतो जयम् ॥ ७२ ॥

दानमानविनयैरिति । कृत्यं करोतीति कृत्यकृत् कर्तव्याचरणशीलो गृही, इह संसारे सधर्मिणां संहतिं समुदायं दानं च मानश्च विनयश्च तैर्यथोचितं तोषयन्, विमतिनोऽन्यधर्मावलम्बिनश्च अनुकूलयन् प्रसादयन् गृहिणो धर्मस्तस्मात् जयमुत्कर्षं संलभेत ॥ ७२ ॥

अन्तरङ्गबहिरङ्गशुद्धिमान् धर्म्यकर्मणि रतोऽस्तु बुद्धिमान् ।
श्रीर्यतोऽस्तु नियमेन संवशा मूलमस्ति विनयो हि धर्मसात् ॥ ७३ ॥

अन्वय : हन्त सर्वतः विषयतर्षपाशिनः संसृतिविलासवासिनः व्यर्थम् एव गुरुता प्रकाशिनः शर्मनाशिनः किल के श्रयन्तु ।

अर्थ : इन उपर्युक्त पारलौकिक और लौकिक गुरुओंके अतिरिक्त जो विषय-वासनाके फन्देमें फँसे हुए हैं, विविध आरम्भ-परिग्रहोंमें आसक्त हैं तथा व्यर्थ ही अपने आपको 'गुरु' कहलवाना चाहते हैं, अपने आपके और औरोंके भी सुखको नष्ट करनेवाले उन कुगुरुओंपर कौन पुरुष विश्वास करेगा ? ॥ ७१ ॥

अन्वय : इह कृत्यकृत् जनः सधर्मिसंहतिं दानमानविनयैः यथोचितं तोषयन् विमतिनः अपि अनुकूलयन् गृहिधर्मतः जयं संलभेत ।

अर्थ : भूतलपर किसी भी अपने अभीष्ट कार्यको कुशलतापूर्वक करना चाहनेवाले मनुष्यको चाहिए कि यथायोग्य रीतिसे दान-सम्मान और विनय द्वारा न केवल समानधर्मी लोगोंको संतुष्ट रखे, बल्कि विधर्मी लोगोंको भी अपने अनुकूल बनाये रहे और इस तरह अपने गृहस्थ-धर्मसे विजय प्राप्त करे ॥ ७२ ॥

अन्तरङ्गेति । अन्तरङ्गा मानसी बहिरङ्गा शारीरिकी शुद्धिरस्यास्तीति तद्वान् धर्मे हितं धर्म्यं च तत्कर्म तस्मिन् रतस्तत्परः सन् पुरुषो बुद्धिमानस्तु । यतः श्रीर्लक्ष्मी नियमेन निश्चयेन संवशा सम्यग्वशीभूताऽस्तु । हि यस्मात् धर्मसात् धर्मयुक्तो विनय विनयो मूलमस्ति ॥ ७३ ॥

धीमता हृदयशुद्धये सताऽऽस्तिक्यभक्तिधृतिसावधानता ।
त्यागिताऽनुभविता कृतज्ञता नैष्प्रतीच्छ्यमिति चोपलभ्यताम् ॥ ७४ ॥

धीमतेति । धीरस्यास्तीति तेन बुद्धिमता सता सज्जनपुरुषेण हृदयस्य शुद्धिस्तस्मै चित्तशोधनाय, आस्तिक्यम् ईश्वरपरलोकादौ विश्वासः, भक्तिर्धृतिर्धैर्यं सावधानता विचं कारता, त्यागिता निःस्वार्थता, अनुभवित्वं, कृतज्ञभावः, नैष्प्रतीच्छ्यमप्रतिग्रहश्च उप लभ्यतां प्राप्यतामित्यर्थः ॥ ७४ ॥

भावनाऽपि तु सदावनाय ना किन्तु भोगविनियोगभृन्मनाः ।
आचरेत् सदिह देशना कृता श्रीमता प्रथमधर्मता मता ॥ ७५ ॥

भावनेति । अपि तु तावद् भावना मनोवृत्तिरेव सदाऽवनाय रक्षणाय भवति

अन्वय : बुद्धिमान् अन्तरङ्गबहिरङ्गशुद्धिमान् सन् धर्मकर्मणि रतः अस्तु । यत श्रीः नियमेन संवशा अस्तु । हि विनयः धर्मसात् मूलम् अस्ति ।

अर्थ : बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि अंतरंग और बहिरंग शुद्धिको संभ लते हुए धर्मकार्यमें सदैव संलग्न रहे, जिससे लक्ष्मी सदा वशमें बनी रहे क्योंकि धर्मका मूल विनय ही है ॥ ७३ ॥

अन्वय : धीमता सता हृदयशुद्धये आस्तिक्यभक्तिधृतिसावधानता त्यागिता अ भविता कृतज्ञता नैष्प्रतीच्छ्यं च इति उपलभ्यताम् ।

अर्थ : बुद्धिमान्‌को चाहिए कि अपने अंतरंगको शुद्ध रखनेके लिए आस्तिक (नरक-स्वर्गादिक हैं, ऐसी श्रद्धा), भक्ति (गुणोंमें अनुराग), धृति, सा धानता, त्यागिता (दानशील होना), अनुभविता (प्रत्येक बातका विचा करना), कृतज्ञता और नैष्प्रतीच्छ्य (किसीका भी भला करके उसका बदल नहीं चाहना) आदि गुणोंको प्राप्त करे ॥ ७४ ॥

अन्वय : अपि तु भावना सदा अवनाय भवति, किन्तु भोगविनियोगभृन्मनाः ना सद् आचरेत् । (यतः) देशनाकृता श्रीमता सदाचारे प्रथमधर्मता मता ।

किन्तु भोगानां विनियोगं विशति तादृशं मनो यस्य स भोगासक्तचित्तो वा गृहस्थो हृदयं निर्विषयं कर्तुमशक्तोऽपि सद् यथा स्यात्तथा इह आचरेत्, शरीरवाङ्मनोभि-र्लोकानुकूलमाचरेदित्याशयः । यतो देशनाकृता श्रीमताऽर्हता सदाचारे प्रथमधर्मता मता स्वीकृता ॥ ७५ ॥

भस्मवह्निसमयाम्बुगोमया नैर्जुगुप्स्यसुसमीरणाशयाः ।
ऐहिकव्यवहृतौ तु संविधाकारिणी परिविशुद्धिरष्टधा ॥ ७६ ॥

भस्मेति । ऐहिका व्यवहृतिस्तस्यां लौकिकव्यवहारे संविधाकारिणी सौविध्यविधा-यिनी परिविशुद्धिः पवित्रता भस्म-वह्नि-समय-जल-गोमय-ग्लान्यभाव-शुद्धवायु-शुद्ध-चित्तताभेदैः अष्टधाऽष्टप्रकारा, मतेति शेषः ॥ ७६ ॥

शोधयन्तु सुधियो यथोदितं वर्तनादि परिणामतो हितम् ।
भस्मना किममुना परिष्कृतं धान्यमस्त्यघुणितं न साम्प्रतम् ॥ ७७ ॥

शोधयन्त्विति । अमुना भस्मना परिष्कृतं संसृष्टं धान्यं गोधूमादिकमघुणितं कीटाद्युपद्रवरहितं साम्प्रतमुचितं न भवति किम्, अपि तु भवत्येव । अतः सुधियो बुद्धि-मन्तोऽमुना यथोदितं परिणामतो हितं शुद्धिसम्पादकं वर्तनादि पात्रादि शोधयन्तु मार्जयन्तु ॥ ७७ ॥

अर्थ : यद्यपि भावनाकी पवित्रता सदा कल्याणके लिए ही कही गयी है; फिर भी भोगाधीन मनवाले गृहस्थको चाहिए कि वह कमसे कम सदाचारका अवश्य ध्यान रखे अर्थात् भले पुरुषोंको अच्छी लगनेवाली चेष्टा, आचरण किया करे । क्योंकि देशना करनेवाले भगवान् सर्वज्ञने सदाचारको ही प्रथम धर्म बताया है ॥ ७५ ॥

अन्वय : ऐहिकव्यवहृतौ तु संविधाकारिणी परिविशुद्धिः भस्मवह्निसमयाम्बु-गोमयाः नैर्जुगुप्स्यसुसमीरणाशयाः इति अष्टधा (मता) ।

अर्थ : लौकिक व्यवहारमें सुविधा लानेवाली पवित्रताएँ भस्म, अग्नि, काल, जल, गोबर, ग्लानिका न होना, हवा और भाव शुद्ध होना इस तरह आठ प्रकारकी बतायी गयी हैं ॥ ७६ ॥

अन्वय : सुधियः परिणामतः हितं यथोदितं वर्तनादि भस्मना शोधयन्तु । साम्प्रतं अमुना परिष्कृतं धान्यं किम् अघुणितं नास्ति ।

अर्थ : विद्वानोंको चाहिए कि अपने उच्छिष्ट बरतन आदिको यथोचित

गोमयेन खलु वेदिलिम्पनप्रायकर्म लभतामितो जनः ।
नास्तु पाशविकविट्तयाऽन्वयः किन्तु गव्यमिव चाविकं पयः ॥ ७८ ॥

गोमयेनेति । जनो लोक इतः खलु गोमयेन वेदिलिम्पनप्रायकर्म लभतां प्राप्नोतु । यत्र गोमये पाशविकश्चासौ विट् तस्य भावस्तया पशुपुरीषतयाऽन्वयः सम्बन्धो नास्तु । किम् आविकं मेषसम्बन्धि पयो गव्यं गोदुग्धमिव भवति ? ॥ ७८ ॥

शुद्धिरस्ति बहुशः क्षणोद्भवा ग्राह्यतामनुभवेत्पयो गवाम् ।
स्वोचितात्समयतः परन्तु वा काल एव परिवर्तको भुवाम् ॥ ७९ ॥

शुद्धिरिति । क्षणोद्भवा शुद्धिः कालशुद्धिर्बहुशोऽनेकविधा भवति । गवां पयः प्रसूतिसमय एव ग्राह्यं न भूत्वा पश्चादुत्तरं ग्राह्यं भवति । काल एव भोगभूमि-कर्मभूमि-भेदाद् भुवां परिवर्तको भवतीत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अम्भसा समुचितेन चांशुकक्षालनादि परिपठ्यतेऽनकम् ।
सम्प्रपश्यति हि किन्न साधुचिद्वारिचारितमुदूखलं शुचि ॥ ८० ॥

रीतिसे भस्म द्वारा मांजकर शुद्ध कर लें। क्योंकि भस्म द्वारा संस्कारित किया धान्य भी घुनता नहीं, यह हम प्रत्यक्ष देखते ही हैं ॥ ७७ ॥

अन्वय : जनः इतः खलु गोमयेन वेदिलिम्पनप्रायकर्म लभतां यत्र पाशविकविट्तया अन्वयः नास्तु। किन्तु आविकं पयः गव्यम् इव।

अर्थ : मनुष्यको चाहिए कि वेदीके लिम्पन आदि कार्योंमें गोमयका उपयोग करे। गोमय भी पशुकी विष्टा है, ऐसा समझकर उसे अस्पृश्य न समझें। कारण, गायका दूध भी दूध है और भेड़का दूध भी दूध है, फिर भी दोनों समान नहीं हैं ॥ ७८ ॥

अन्वय : क्षणोद्भवा तु शुद्धिः बहुशः अस्ति। गवां पयः स्वोचितात् समयतः परं ग्राह्यताम् अनुभवेत्। कालः एव भुवां परिवर्तकः।

अर्थ : कालशुद्धि तो अनेक प्रकारकी होती है, जैसे कि रजस्वला स्त्री चौथे दिन शुद्ध होती है। देखिये, गायका दूध बच्चा जननेके साथ ही मनुष्यके ग्रहणयोग्य नहीं हो जाता। यदि कोई भूलसे उसी समय उसका दूध पीने लगे तो वह उसके स्वास्थ्यके लिए हानिकारक होता है। अतः उसे दस-पन्द्रह दिनोंके बाद ग्रहण किया जाता है, यह स्पष्ट है। इसी तरह काल प्रत्येक पदार्थमें परिवर्तन लानेवाला माना गया है ॥ ७९ ॥

अम्भसेति । समुचितेन निर्मलेन, अम्भसा जलेन क्षालनाविप्रक्षालितमंशुकं वस्त्र-मनकं मलवर्जितं परिपठ्यते कथ्यते । किञ्च वारिणि चारितं जलनिक्षिप्तमुदूखलं काष्ठोदूखलं साधूनां चित् सज्जनबुद्धिः शुचि निर्दोषं न सम्प्रपश्यति किम्, अपि तु पश्यति ॥ ८० ॥

किट्टिमादिपरिशोधनेऽनलं　संवदेदधिपदं　समुज्ज्वलम् ।
शेमुषी श्रुतरसिन् सुराज ते स्वर्णमग्निकलितं हि राजते ॥ ८१ ॥

किट्टिमादीति । हे श्रुतरसिन् शास्त्ररसिक, हे सुराज ते शेमुषी तव मतिरधिपदं यथास्थानं किट्टिमादेः परिशोधनं तस्मिन् मलापहरणे समुज्ज्वलं निर्दोषं संवदेत् स्वीकुर्यात् । हि यतः स्वर्णमग्निकलितं वह्नितापितमेव राजते शोभते, नान्यथेति भावः ॥ ८१ ॥

शौकिकैणमदकादिकेष्वितः　प्राशुकत्वमथनैर्जुगुप्स्यतः ।
को न संवदति सङ्ग्रहे पुनर्नो घृणोद्धरणमात्रवस्तुनः ॥ ८२ ॥

अन्वय : च समुचितेन अम्भसा अंशुकक्षालनादि अनकं परिपठ्यते । हि साधुचिद् वारिचारितं उदूखलं शुचि किं न सम्प्रपश्यति ।

अर्थ : निर्मल जलसे धोये वस्त्रादिक निर्दोष माने जाते हैं। क्या सभी सज्जनोंकी बुद्धि यह स्वीकार नहीं करती कि जलमें कुछ दिन पड़ा उदूखल निर्दोष होता है, अर्थात् उसे पुनः धोनेकी आवश्यकता नहीं होती।

विशेष : गृहस्थोंके यहाँ लकड़ीका जो ऊखल होता है, उसे बनवाकर तत्काल काममें ले लिया जाय तो वह बीध जाता है। अतः उसे दस-पन्द्रह दिनों-के लिए किसी जलाशयमें रखकर बादमें काममें लाया जाता है, ताकि वह बीधता नहीं ॥ ८० ॥

अन्वय : हे श्रुतरसिन् सुराज ! ते शेमुषी किट्टिमादिपरिशोधने अनलम् अधिपदं समुज्ज्वलं संवदेत् । हि स्वर्णम् अग्निकलितं राजते ।

अर्थ : हे शास्त्राध्ययनमें रस लेनेवाले भव्य पुरुष ! तुम्हारी बुद्धि कीट आदिके हटानेके लिए उज्ज्वल अग्निको समुचित स्वीकार करेगी। कारण, अग्निके द्वारा तपाया गया सुवर्ण ही चमकदार बनता है ॥ ८१ ॥

अन्वय : अथ शौकिकैणमदकादिषु इतः नैर्जुगुप्स्यतः प्राशुकत्वं पुनः (अस्ति) । नः घृणोद्धरणमात्रवस्तुनः सङ्ग्रहे कः न संवदति ।

शौक्तिकेति । शुक्तिकायां भवं शौक्तिकं मौक्तिकम्, एणस्य मद एणमदकः एतौ आदौ येषां ते तेषु, इतो लोके निर्जुगुप्साया भावो नैर्जुगुप्स्यं तस्माद् ग्लानिरहितत्वादेव प्रासुकत्वं निर्दोषत्वमस्ति, पुनर्नोऽस्माकं मध्ये घृणोद्धरणमात्रवस्तुनः सङ्ग्रहे को न संवदति ? सर्व एव संवदतीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

स्यातुमिष्टफलकादि शोच्यते कीदृगेतदिति केन वोच्यते ।
वाति किन्तु दुरितावधीरणः सर्वतोऽपि पवमान ईरणः ॥ ८३ ॥

स्यातुमिति । इष्टफलकादि काष्ठपाषाणादि यदा स्थातुमिष्यते तदैतत् कीदृगिति केन शोच्यते विमृश्यते, केन वोच्यते कथ्यते, न केनापीत्यर्थः । किन्तु दुरितमवधीरयतीति दुरितावधीरणः पापप्रलोपकः पवमानः पवित्रताकर ईरणो वायुः सर्वतो वाति वहति ॥ ८३ ॥

भो यदा स्ववशमीक्षितं सदान्नादिशुद्धमिति विद्धि संविदा ।
भाव एव भविनां वरो विधिः सर्वतो ह्यपरथाऽऽगसां निधिः ॥ ८४ ॥

भो यदेति । भो सज्जन, अन्नादिखाद्यवस्तु यथा स्ववशं शक्त्यनुसारमीक्षितं सत् शुद्धं भवति, इति संविदा सम्यग्बुद्ध्या विद्धि जानीहि । यतो भाव एव भविनां छद्मस्थानां

अर्थ : फिर मोती, कस्तूरी आदि पदार्थोंमें तो घृणाभावरूप निर्जुगुप्साको कारण निर्दोषता स्पष्ट ही है। हम लोगोंके बीच कौन ऐसा व्यक्ति है जो निर्घृण वस्तुओंके संग्रहका समर्थन नहीं करता ॥ ८२ ॥

अन्वय : स्यातुं एतत् इष्टफलकादि कीदृक् इति केन शोच्यते, केन वा उच्यते ? किन्तु दुरितावधीरणः पवमानः ईरणः सर्वतः अपि वाति ।

अर्थ : जब हम लोग कहीं भी ईंट, पत्थर आदि पर बैठना चाहते हैं तो वह ईंट, पत्थर आदि बैठने योग्य है या नहीं, यह कौन विचार करता है या कौन कहता है ? सब वस्तुओंको पवित्र करनेवाली वायु सर्वत्र बहती ही रहती है ॥ ८३ ॥

अन्वय : भो ! यथा स्ववशम् ईक्षितम् अन्नादि संविदा शुद्धं विद्धि । हि भावः एव भविनां वरः विधिः । अपरथा सर्वतः आगसाम् निधिः ।

अर्थ : भाई ! जहाँतक अपना वश चले, वहाँतक अपनी जानकारीमें अपनी शक्तिभर देखी-समझी अन्नादि वस्तुओंको शुद्ध ही समझो। कारण संसारी आत्माओंके लिए भाव ही श्रेष्ठ विधि है—कुल करनेयोग्य है। नहीं तो फिर

स्थानां वरो विधिः, अपरथा पुनः सर्वतो हि किलाऽऽगसामपराधानां निधिः स्थानं स्यात् । शोधनानन्तरमपि तत्र जन्तुसम्भवात् ॥ ८४ ॥

आगमोक्तपथतो यथापदं सावधानक उपैति सम्पदम् ।
कोऽथ तत्र किमितीक्षणक्षमो यत्न एव भविनां शुभाश्रमः ॥ ८५ ॥

आगमेति । आगमोक्तपथतः शास्त्रकथितमार्गतो यथापदं यथास्थानं सावधानको जनः सम्पदं पुण्यरूपामुपैति । अथ पुनस्तत्र कर्तव्यकार्ये किं जीवादि स्याद्वा न वेति ईक्षणक्षमः कश्छद्मस्थो जनः स्यात् । अतो भविनां छद्मस्थानां यत्न एव शुभस्याश्रमः स्थानमस्ति ॥ ८५ ॥

किं क्व कीदृगिति निर्णयो बृहत्संशयादिकृतकौशलं दधत् ।
दिक्षु चान्धतमसायते जगच्चक्षुरत्र परमागमो महत् ॥ ८६ ॥

किं क्वेति । संशयादिना मिथ्याज्ञानेन कृतं सम्पादितं कौशलं सामर्थ्यं दधत् जगत्, दिक्षु दशसु, अन्धं तमोऽन्धतमोऽन्धतमसं तद्वदाचरतीति अन्धतमसायते सन्तमसाच्छन्नं भवति । अतस्तस्मै पुनः किं क्व कीदृगिति निर्णयो बृहत् कर्तुमशक्यः । अतोऽत्र परमागम एव महच्चक्षुरस्ति, नान्यत् किञ्चिदिति भावः ॥ ८६ ॥

सर्वत्र पाप ही पापकी आशंका है । अन्यथा पापका अवसर तो सर्वत्र ही संभव रहता है ॥ ८४ ॥

अन्वय : आगमोक्तपथतः यथापदं सावधानकः सम्पदम् उपैति । अथ तत्र किम् इति ईक्षणक्षमः कः । (अतः) भविनां यत्न एव शुभाश्रमः ।

अर्थ : जैसा आगममें बताया गया है, तदनुसार यथावसर सावधानतापूर्वक काम करनेवाला पुरुष पुण्य-संपत्ति प्राप्त करता है । पुनः उस कर्तव्य-कार्यमें क्या जीवादि हैं या नहीं, इस बातको छद्मस्थ संसारी आत्मा क्या जान सकता है ? उसके लिए तो यत्नाचार ही कल्याणका स्थान है । उसीके द्वारा वह अशुभसे बचकर शुभकर्ता होता है ॥ ८५ ॥

अन्वय : संशयादिकृतकौशलं दधत् जगत् दिक्षु अन्धतमसायते । क्व किं कीदृक् इति निर्णयः बृहत् । (अतः तस्मै) अत्र परमागमः (एव) महत् चक्षुः ।

अर्थ : संशयादि-मिथ्याज्ञानकृत सामर्थ्यशाली यह जगत् दसों दिशाओंमें गाढ अन्धकाराच्छन्न है । अतः कहाँ कौन-सी चीज कैसी है, इसका निर्णय करना सर्वसाधारण के लिए बहुत अशक्य है । इसलिए यहाँ परमागम ही महान्

धेनुरस्ति महतीह देवता तच्छकृत्प्रस्रवणे निषेवता ।
प्राप्यते सुशुचितेति भक्षणं हा तयोस्तदिति मौढ्यलक्षणम् ॥ ८७ ॥

धेनुरिति । इह लोके धेनुर्गौः महती देवताऽस्ति, अतस्तस्याः शकृच्च प्रस्रवणञ्च तच्छकृत्प्रस्रवणे गोमयगोमूत्रे सेवमानेन नरेण सुशुचिता पवित्रता प्राप्यते, इति मत्वा यत्तयोर्भक्षणं तन्मौढ्यलक्षणमस्ति, हेति खेदे ॥ ८७ ॥

न त्रिवर्गविषये नियोगिनी नापवर्गपथि चोपयोगिनी ।
श्राद्धतर्पणमुखा समुद्धता भूरिशो भवति लोकमूर्खता ॥ ८८ ॥

न त्रिवर्गेति । श्राद्धञ्च तर्पणञ्च मुखं यस्याः सा श्राद्धतर्पणप्रमुखा क्रिया अर्हन्मतेन त्रिवर्गविषये धर्मादिविषये नियोगिनी न, च अपवर्गपथि मोक्षमार्गे उपयोगिनी न, न च त्रिवर्गमार्गे समुपयोगिनी । अतः सा भूरिशः समुद्धता लोकमूर्खता भवति ॥ ८८ ॥

सम्पठन्ति मृगचर्म शर्मणे चौर्णवस्त्रमथवा सुकर्मणे ।
इत्यनेकविधमत्यघास्पदमस्ति मौढ्यमिह शुद्धिसम्पदः ॥ ८९ ॥

सम्पठन्तीति । ये जना मृगचर्म शर्मणे कल्याणाय भवति अथवा और्णवस्त्रं सुकर्मणे

चक्षु है । अर्थात् आगममें जो काम जिस तरह करना बताया है, उसे उसी तरह विवेकपूर्वक किया जाय ॥ ८६ ॥

अन्वय : इह धेनुः महती देवता अस्ति । तच्छकृत्प्रस्रवणे निषेवता सुशुचिता प्राप्यते इति (मत्वा) तयोः (यत्) भक्षणं तत् मौढ्यलक्षणम् ।

अर्थ : इस भूतलपर गाय बहुत उत्तम देवता है, इसलिए उसके गोमय और गोमूत्रका सेवन करनेवाला पुरुष पवित्रताको प्राप्त होता है । किन्तु ऐसा मानकर यदि कोई गोमय और गोमूत्रका भक्षण करता है, तो खेद है कि वह अविचारिताका लक्षण है ॥ ८७ ॥

अन्वय : श्राद्धतर्पणामुखा (क्रिया) न त्रिवर्गविषये नियोगिनी, न च अपवर्गपथि उपयोगिनी । सा भूरिशः समुद्धता लोकमूढता भवति ।

अर्थ : श्राद्ध, तर्पण आदि क्रियाएँ अर्हत्-मतसे धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गके लिए विधेय नहीं हैं और न वे अपवर्गके लिए ही उपयोगी हैं । ऐसी सारी क्रियाएँ बहुत बड़ी, सर्वाधिक लोकमूढता है ॥ ८८ ॥

अन्वय : (ये) मृगचर्म शर्मणे अथवा और्णवस्त्रं सुकर्मणे संपठन्ति, इति अनेकविधम् अत्यघास्पदम्, इह शुद्धिसम्पदः मौढ्यं (च) अस्ति ।

भवतीति सम्पठन्ति, इत्यनेकविधम् अत्यघास्पदं पापस्थानमस्ति । किञ्च शुद्धिसम्पदः पावित्र्यसम्पत्तेर्मौढ्यं जाड्यमस्ति ॥ ८९ ॥

यत्त्वनिष्टमृषिभिर्निषेधितं देशितं हृदयहारवद्धितम् ।
अन्यदप्यनुमतादुरीकुरु लोक एव खलु लोकसंगुरुः ॥ ९० ॥

यत्त्वनिष्टमिति । यत्किञ्चिदृषिभिः निषेधितमस्ति तदनिष्टं हानिकरम्, अतः कदापि न कर्तव्यम् । यत्तु देशितं विधेयस्वरूपेण निर्दिष्टं तद् हृदयस्य हारवद्धितकरमिति मत्वा स्वीकार्यम् । ततोऽन्यदपि सतामनुमतादुरीकुरु, यतो लोकस्य गुरुर्लोक एवेति सूक्तिः ॥ ९० ॥

विश्वसाद्विशदभावनापरः स्वं यथोचितमथार्पयेन्नरः ।
वर्त्मनि स्थितिविधौ धृतादरः श्वोदरं च परिपूरयत्यरम् ॥ ९१ ॥

विश्वसादिति । स्थितेर्निर्वाहस्य विधिर्यत्र तस्मिन् स्थितिविधौ वर्त्मनि धृत आदरो येन स गृहीतविनयो नरो विश्वस्य सम्पूर्णसमाजस्य हितं स्यादिति विश्वसाद् विशदा भावना निर्दोषभावना तस्यां परस्तल्लीनः सन् यथोचितं यथाशक्यं स्वं न्यायोपार्जितं वित्तमर्पयेत् दद्यात्, अथेति शुभसंवादे । उदरं तु पुनः श्वाप्यरं शीघ्रं परिपूरयति ॥९१॥

अर्थ : जो मृगछाला बिछाकर बैठना कल्याणकारी बताते हैं अथवा देव-पूजनादि जैसे सत्कर्ममें ऊनका वस्त्र पवित्र कहते हैं, इस प्रकारकी विचारधारा अनेक प्रकारके अत्यन्त पापोंका स्थान है। वह पवित्रतारूप सम्पत्तिके लिए भारी जड़ता है ॥ ८९ ॥

अन्वय : यत् तु ऋषिभिः निषेधितं तत् अनिष्टम्, (यत्तु) देशितं च तत् हृदय-हारवत् हितम् । अन्यदपि अनुमतात् उरीकुरु । यतः खलु लोकः एव लोकसंगुरुः ।

अर्थ : जिसका ऋषियोंने निषेध किया है, वह हमारे जीवनके लिए अनिष्टकर है और जिसका उन्होंने विधान किया है, वह हृदयके हारकी तरह हमारे लिए उपयोगी है। इसके अतिरिक्त और भी जो सज्जनोंद्वारा सम्मत हो, उसे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि लोकका गुरु लोक ही है ॥ ९० ॥

अन्वय : अथ विश्वसात् विशदभावनापरः नरः स्थितिविधौ वर्त्मनि धृतादरः (सन्) यथोचितं स्वम् अर्पयेत् । उदरं च श्वा अरं परिपूरयति ।

अर्थ : विश्वहितकी पवित्र भावनाको रखनेवाला और स्थितिकारी

मिष्टभाषणपुरस्सरं यथा स्वं सदन्नजलदानसम्पथा।
संविसर्जनमथागतस्य तु धर्मकर्मणि मुखं गृहीशितुः ॥ ९२ ॥

मिष्टभाषणमिति। अथ आगतस्य गृहे प्राप्तस्य प्राघूर्णिकस्य अभ्यागतस्य वा मिष्टभाषणपुरस्सरं मधुरवचनपूर्वकं यथास्ववित्तानुसारं, सत्समीचीनं सद्यः सम्पादितमन्नञ्च जलञ्च तयोर्दानमेव सम्पन्था यस्यां सा संविसर्जनस्य सम्प्रेषस्य वार्ता तु गृहीशितुर्धर्मकर्मणि मुखं मुख्यत्वेन सम्मताऽस्ति ॥ ९२ ॥

प्रत्तमेव नृप विद्धि सृष्टये स्वस्य साम्प्रतमभीष्टपुष्टये।
यद्वदेव परिषेचनं भुवस्तुष्टये भवति तद्धि भूरुहः ॥ ९३ ॥

प्रत्तमेवेति। हे नृप, सृष्टये प्रत्तं दत्तमेव किल साम्प्रतमधुना स्वस्याभीष्टपुष्टये वाञ्छितसिद्धये विद्धि जानीहि। यद्वदेव भुवः परिषेचनं पृथिव्या आर्द्रीकरणं तद् भूरुहो वृक्षस्य तुष्टये प्रसत्तये पुष्टये वा भवति ॥ ९३ ॥

धर्मपात्रमघमर्षकर्मणे कार्यपात्रमथवाऽत्र शर्मणे।
तर्पयेच्च यशसे स्वमर्पयेद् दुर्यशाः किमिव जीवनं नयेत् ॥ ९४ ॥

मार्गका आदर करनेवाला गृहस्थ यथाशक्ति अपने न्यायोपार्जित द्रव्यका दान भी करता रहे। यों पेट तो कुत्ता भी शीघ्र भर ही लेता है ॥ ९१ ॥

अन्वय : अथ मिष्टभाषणपुरस्सरं यथा स्वं सदन्नजलदानसम्पथा आगतस्य संविसर्जनं तु गृहीशितुः धर्मकर्मणि मुखम्।

अर्थ : मधुरसंभाषणपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार योग्य अन्न और जलका दान करते हुए अपने घर पर आये अतिथिका समीचीन रूपसे विसर्जन करना अर्थात् उसे प्रसन्न कर भेजना गृहस्थके धर्मकार्योंमें सबसे मुख्य है ॥ ९२ ॥

अन्वय : हे नृप! सृष्टये प्रत्तम् एव साम्प्रतं स्वस्य अभीष्टपुष्टये विद्धि। हि यद्वत् भुवः परिषेचनं भूरुहः तुष्टये एव भवति।

अर्थ : राजन्! यह जान लो कि सृष्टिके लिए किया हुआ दान ही आज अपने अभीष्टके पोषणके लिए होता है। जैसे जमीनमें सींचा हुआ जल वृक्षके संवर्धनके लिए ही होता है ॥ ९३ ॥

अन्वय : अथवा धर्मपात्रम् अघमर्षकर्मणे कार्यपात्रम् अत्र शर्मणे तर्पयेत्। पुनः यशसे च स्वं अर्पयेत्। दुर्यशाः जनः किम् इव जीवनं नयेत्।

धर्मपात्रमिति । धर्मपात्रं दिगम्बरसाध्वादि, अघमर्षकर्मणे पापापनोदाय, कार्यपात्रं भृत्यादि, तदथवाऽत्र शर्मणे लौकिकहितसम्पत्तये तर्पयेत् । तथा यशसे कीर्तये स्वमर्थमर्पयेत् दद्यात् । यतो दुर्यशा अपकीर्तिमान् जनो जीवनं किमिव कथमिव नयेत् ॥ ९४ ॥

भोजनोपकृतिभेषजश्रुतीः श्रद्धया स नवभक्तिभिः कृती ।
पूरयेद्यतिषु सन्मना गुणगृह्य एव यतिनामहो गणः ॥ ९५ ॥

भोजनेति । स कृती कुशलः सन्मनाः शुद्धचित्तो गृही, यतिषु श्रद्धया नवधाभक्तिभिः भोजनमशनमुपकृतिः वस्त्रपात्राद्युपकरणं, भेषजमौषधं श्रुतिः शास्त्रम् एतान् पदार्थानर्पयेत् । अहो यतिनां साधूनां गणः समूहो गुणैर्गृह्यते विनयादिगुणैरेव प्राप्यते ॥ ९५ ॥

तर्पयेदृषिवरान् सुदृक्पथा मध्यमानपि तटस्थितांस्तथा ।
श्रीवरं स्विदवरं च सत्रपः स्वप्रजाङ्कमभिवीक्षते नृपः ॥ ९६ ॥

तर्पयेदिति । गृहीजन ऋषिवरान् शास्त्रज्ञानयुक्तान्, मध्यमान् सामान्यान्, तटस्थानुदासीनान् विरक्तसाधून् शोभनो दृशः पन्था तेन सादरदृष्ट्या तर्पयेत् प्रसादयेत् । यथा सत्रपः सलज्जो नृपः श्रीवरं श्रीमन्तं स्विदथवाऽवरं निर्धनञ्च स्वप्रजाया अङ्कमभिवीक्षते ॥ ९६ ॥

अर्थ : अथवा गृहस्थ अपने संचित पापकर्मको दूर हटानेके लिए धर्मपात्र (दिगम्बर साधु आदि) का संतर्पण करे और ऐहिक जीवन प्रसन्नतासे बितानेके लिए कार्यपात्रों (भृत्यादि) की आवश्यकताएँ भी यथोचित पूरी करता रहे। इसके अतिरिक्त अपना यश भूमण्डल पर फैले, इसके लिए दान भी देता रहे, क्योंकि अपयशी पुरुष जीवन ही कैसे बिता सकेगा ? ॥ ९४ ॥

अन्वय : सः कृती सन्मनाः नवभक्तिभिः यतिषु श्रद्धया भोजनोपकृतिभेषजश्रुतीः पूरयेत् । अहो यतिनां गणः गुणगृह्यः एव ।

अर्थ : कुशल और शुद्धचित्त गृहस्थ यतियोंमें श्रद्धा रखते हुए नवधा भक्तिद्वारा उनके लिए भोजन, वस्त्र, पात्रादि उपकरण, औषधि और शास्त्रका दान करता रहे; क्योंकि यतियोंका गण तो विनयादि गुणोंसे ही प्राप्त होता है ॥ ९५ ॥

अन्वय : ऋषिवरान् मध्यमान् तथा तटस्थितान् (अपि) सुदृक्पथा तर्पयेत् । सत्रपः नृपः श्रीवरं स्वित् अवरं च स्वप्रजाङ्कम् अभिवीक्षते ।

अर्थ : गृहस्थको चाहिए कि वह जिस प्रकार गुणवान् ऋषिवरोंका आदर

कार्यपात्रमवताद्यथोचितं वस्तु वास्तुमुखमर्पयन् हितम् ।
येन सम्यगिह मार्गभावना का गतिर्निशि हि दीपकं विना ॥ ९७ ॥

कार्यपात्रमिति । गृही यथोचितं वास्तु गृहं मुखं प्रधानं यत्र तादृशं हितं निर्वाहोपयोगि वस्तु अर्पयन् यच्छन् कार्यपात्रं भृत्यमवताद् रक्षेत् । येनेह सम्यङ् मार्गस्य जीवननिर्वाहस्य भावना सौविध्यं स्यात् । हि यतो निशि रात्रौ दीपकं विना का गतिः स्यात् ॥ ९७ ॥

श्रीत्रिवर्गसहकारिणो जनानात्रिकेष्टिपरिपूर्तितन्मनाः ।
तान्नयेच्च परितोषयन् धृतिं कुम्भकृत्युपरते क्व वाःस्थितिः ॥ ९८ ॥

श्रीत्रिवर्गेति । अत्र भवा आत्रिका येष्टिः सुखसम्पत्तिस्तस्याः परिपूर्तौ तन्मनाः परायणः पुरुषः यदि त्रिवर्गस्य सहकारिणः सहायकान् जनानपि परितोषयन् सन्तोषयन् धृतिं नयेत् । यतः कुम्भकृत्युपरते वारः स्थितिर्वाःस्थितिः क्व स्यात्, घटाभाव इति शेषः ॥ ९८ ॥

करे उसी प्रकार समीचीन मार्गको अपनानेवाले मध्यम साधुओं और तटस्थ साधुओंको भी संतर्पित करता रहे। कारण, पानीदार आंखोंवाला राजा श्रीमानों तथा गरीबोंको भी अपनी प्रजाका अङ्ग भी मानना है ॥ ९६ ॥

अन्वय : (गृही) यथोचितं वास्तुमुखं हितं वस्तु अर्पयन् कार्यपात्रम् अवतात्, येन इह मार्गभावना सम्यक् स्यात् । हि निशि दीपकं विना का गतिः ।

अर्थ : गृहस्थका कर्तव्य है कि यथायोग्य मकान आदि उपयोगी वस्तुएँ देकर कार्यपात्र यानी नौकर-चाकर आदि की भी संभाल करता रहे, जिससे जीवन-निर्वाहमें सुविधा बनी रहे। कारण, रात्रिमें दीपकके बिना गति ही क्या है। अर्थात् रात्रिमें दीपकके बिना जैसे निर्वाह कठिन होता है, वैसे ही ऐसा न करनेपर गृहस्थ-जीवन भी दूभर बन जाता है ॥ ९७ ॥

अन्वय : आत्रिकेष्टिपरिपूर्तितन्मनाः तान् श्रीत्रिवर्गसहकारिणो जनान् च परितोषयन् धृतिं नयेत् । कुम्भकृति उपरते वाःस्थितिः क्व ?

अर्थ : ऐहिक जीवन सुख-सुविधासे बितानेकी इच्छावाले गृहस्थको चाहिए कि अपने त्रिवर्गके साधनमें सहायता करनेवाले लोगोंको भी संतुष्ट करते हुए उन्हें निराकुल बनाये। अगर कुंभकार न हो तो हमें बरतन कौन देगा और फिर हम अपने पीनेका पानी कहाँसे किसमें लायेंगे ॥ ९८ ॥

नष्टमस्तु खलु कष्टमङ्गिनामेवमार्द्रतरभावभङ्गिना ।
देयमन्नवसनाद्यनल्पशः स्यात् परोपकृतये सतां रसः ॥ ९९ ॥

नष्टमस्त्विति । अङ्गिनां प्राणिनां कष्टं नष्टमस्तु खल्वेवम् आर्द्रतराभावस्य भङ्गिर्यस्य तेन दयातिकोमलभावरचनेन गृहिणा अनल्पशो बहुवारमन्नवस्त्रादि देयम् । हि सतां सज्जनानां रसः सम्पत्त्यादिः परोपकृतये परोपकाराय स्यात् ॥ ९९ ॥

स्वं यथावसरकं सधर्मणे संविधाकरमवश्यकर्मणे ।
कन्यकाकनककम्बलान्विति निर्वपेद्धि जगतां मिथः स्थितिः ॥ १०० ॥

स्वमिति । अवश्यकर्मणे जीवननिर्वाहाय संविधाकरं सुव्यवस्थादायकं यत्किञ्चित् स्वं निजं कन्यकाकनककम्बलान्विति, अत्रान्वितिशब्द आदिवाचकोऽस्ति, सधर्मणे समानधर्मशीलाय गृहस्थाय निर्वपेद् दद्यात् । हि यस्माज्जगतां जनानां मिथः परस्परं स्थितिनिर्वाहो भवति ॥ १०० ॥

स्वर्णमेव कलितं सुकृताय स्यादिहेति दशधा दुरुपायम् ।
दानमुज्झतु भवार्णवसेतुर्योग्यतैव सुकृताय तु हेतुः ॥ १०१ ॥

अन्वय : अङ्गिनां कष्टं नष्टम् अस्तु खलु, एवम् आर्द्रतरभावभङ्गिना अनल्पशः अन्नवसनादि देयम् । यतः सतां रसः परोपकृतये स्यात् ।

अर्थ : निश्चय ही प्राणीमात्रका कष्ट दूर हो जाय, इस प्रकार करुणाकी कोमल भावना रखते हुए गृहस्थ समय-समयपर लोगोंको अन्न, वस्त्र आदि देता रहे। क्योंकि भले पुरुषोंका वैभव तो परोपकारके लिए ही हुआ करता है ॥ ९९ ॥

अन्वय : यथावसरकं सधर्मणे अवश्यकर्मणे संविधाकरं कन्यकाकनककम्बलान्विति स्वं निर्वपेत् । यतो हि जगतां स्थितिः मिथः भवति ।

अर्थ : गृहस्थ अवसरके अनुसार समानधर्मा गृहस्थको उसके लिए आवश्यक और गृहस्थोचित कार्योंमें सुविधा उत्पन्न करनेवाले कन्या, सुवर्ण कम्बल आदि धन-सम्पत्ति भी दे। क्योंकि संसारमें जीवोंका जीवन-निर्वाह परस्परके सहयोगसे ही होता है ॥ १०० ॥

अन्वय : इह स्वर्णम् एव कलितं सुकृताय स्यात्, इति दशधा दुरुपायं दानं तत् भवार्णवसेतुः उज्झतु । यतः योग्यतैव सुकृताय हेतुः ।

स्वर्णमिति । इह अस्मिन् प्रसङ्गे स्वर्णमेव कलितं दत्तं सुकृताय पुण्यप्राप्तये भवति किल, इत्याविकल्पेण यद्गाथा दशप्रकारं दानं प्रोक्तं तद् दुरपायं स्वार्थभावनया प्रतिपादितम् । तद्दानं भवार्णवसेतुः संसारसमुद्रादुत्तितीर्षुः मनुष्य उज्झतु त्यजतु, यतो योग्यतैव सुकृताय पुण्याय हेतुः ॥ १०१ ॥

नैव वर्त्मपरिहासिणे ददात्युद्धताय तु कदात्मने कदा ।
प्राणहारिणमहो स्फुरन्नयः कोऽत्र सर्पमुपतर्पयेत् स्वयम् ॥ १०२ ॥

नैवेति । वर्त्मपरिहासिणे सन्मार्गविद्वेषिणे, उद्धताय उद्दण्डाय कदात्मने कृतघ्नाय कदापि नैव ददाति । स्फुरन्नयो नीतिमान् यथा प्राणहारिणं सर्पमत्र स्वयं क उपतर्पयेत् न कोऽपीत्यर्थः । अहो इति विस्मये ॥ १०२ ॥

यत्र यन्निरुपयोगि तत्र तद्दानमप्यनुवदामि पापकृत् ।
नार्दिताय तु सदर्चिषे घृतं सुष्ठु हीह सुविचारतः कृतम् ॥ १०३ ॥

यत्रेति । यत्र यन्निरुपयोगि तत्र तद्दानमपि पापकृत् पापकारकमनुवदामि । यथा अर्दिताय रुग्णाय कृतं घृतं नोचितम्, किन्तु सदर्चिषे प्रदीप्ताग्नये दत्तं तदेव घृतं सुविचारतः कृतम् ॥ १०३ ॥

अर्थ : यहाँ तो सुवर्णका ही दान देना चाहिए, तभी पुण्य होगा, इस तरहकी विचारधारा लेकर दस प्रकारके दान जो लोकमें प्रसिद्ध हैं, संसारसे पार होना चाहनेवाले मनुष्यको उनसे दूर ही रहना चाहिए । क्योंकि पुण्यका कारण तो योग्यता ही होती है ॥ १०१ ॥

अन्वय : वर्त्मपरिहासिणे उद्धताय कदात्मने कदाचित् अपि तु नैव ददाति । अहो अत्र प्राणहारिणं सर्पं स्वयं कः उपतर्पयेत् ।

अर्थ : जो सन्मार्गकी हँसी उड़ाता और उससे द्वेष करता है, जो उद्धत स्वभाव और कृतघ्न है, ऐसे पुरुषको कभी कुछ भी नहीं देना चाहिए । देखो, अपने प्राणोंका नाश करनेवाले साँपको कौन समझदार स्वयं जाकर दूध पिलायेगा ? ॥ १०२ ॥

अन्वय : यत्र यत् निरुपयोगि तत्र तत् दानम् अपि (अहं) पापकृत् अनुवदामि । यतो हि इह सुविचारतः कृतं सदर्चिषे घृतं सुष्ठु, न तु अर्दिताय ।

अर्थ : जहाँ जो वस्तु अनुपयोगी है, प्रत्युत हानिकर है, वहाँ उसे देना भी पापकारी होता है । क्योंकि जिसकी जठराग्नि प्रज्वलित है, उसीको विचारपूर्वक

स्वान्वयस्य तु सुखस्थितिर्भवेत् सन्निराकुलमतिः स्वयं भवे ।
सर्वमित्थमुचिताय दीयतां हीङ्गितं स्वपरशर्मणे सताम् ।। १०४ ।।

स्वान्वयस्येति । अस्मिन् भवे सन् सज्जनः स्वयं तु निराकुला मतिर्यस्य स्वस्य-बुद्धिर्भवेत्, स्वान्वयस्य स्ववंशस्य तु सुखस्थितिर्भवेदिति मनसिकृत्य सर्वं स्वपरिकरमुचिताय सत्पात्राय दीयताम् । हि सतामिङ्गितं स्वपरशर्मणे भवति ।। १०४ ।।

स्वं यशोऽग्रजननामसंस्मृतिरित्यनेकविधकारणोद्धृतिः ।
कल्प्यतां भविषु भावनोच्छ्रितिस्तावतैव हि पथः प्रतिष्ठितः ।। १०५ ।।

स्वमिति । स्वमात्मीयं यशः स्यात्, अग्रजनानां पितृणां नाम्नः संस्मृतिर्भवेत्, भविषु लोकेषु भावनाया उच्छ्रितिः सद्भाववृद्धिर्भवत्विति अनेकविधानां कारणानां जिन-मन्दिर-धर्मशालादीनां निर्माणकपोद्धृतिः कल्प्यतां रच्यताम् । हि यतस्तावतैव पथः सन्मार्गस्य प्रतिष्ठितिर्मर्यादा सम्भवेत् ।। १०५ ।।

नित्यमित्यनुनयप्रयच्छने स्तोऽथ पर्वणि विशेषतोऽङ्गिने ।
कर्मणी च परमार्थशंसिने शीलसंयमवते सुजीविने ।। १०६ ।।

दिया हुआ घी ठीक होता है । रोगीके लिए ।दिया वही घृत हानिकर ही होता है ।। १०३ ।।

अन्वय : स्वान्वयस्य तु सुखस्थितिः भवेत्, स्वयं च अनः अस्मिन् भवे सन् निराकुल-मतिः भवेत्, इत्थम् उचिताय सर्वम् अपि दीयताम् । हि सताम् इङ्गितं स्वपरशर्मणे भवति ।

अर्थ : मनुष्यको चाहिए कि अपने कुलका सुखसे निर्वाह होता रहे और स्वयं इस संसारमें निराकुल होकर परमात्माकी आराधना कर सके, यह ध्यानमें रखकर जीवनभर सुयोग्य पुरुषके लिए अपना सब कुछ देता रहे । क्योंकि सत्पुरुषोंकी चेष्टाएँ तो अपने और पराये दोनोंके कल्याणके लिए ही होती हैं ।। १०४ ।।

अन्वय : स्वं यशः अग्रजननामसंस्मृतिः भविषु भावनोच्छ्रितिः इति अनेकविध-कारणोद्धृतिः कल्प्यताम् । हि तावता एव पथः प्रतिष्ठितः (भवेत्) ।

अर्थ : इसके अतिरिक्त गृहस्थको चाहिए कि अपना तो यश हो और पूर्वजोंकी याद बनी रहे तथा सर्वसाधारणमें सद्भावनाकी जागृति हो, इसलिए जिन-मंदिर, धर्मशाला आदि परोपकारके अनेक साधन भी जुटाता रहे, जिससे सन्मार्गकी प्रतिष्ठा बनी रहे ।। १०५ ।।

नित्यमिति। इति पूर्वोक्तप्रकारेण परमार्थं शंसति तस्मै धर्माचरणशीलाय, शील-संयमयुक्ताय, सुजीविने शुद्धजीवनायाङ्गिने सद्गृहस्थाय नित्यमनुनयश्च प्रयच्छनञ्च पूजनं दानञ्च द्वे कर्मणी कर्तव्ये। अथ पर्वणि पर्वदिने तु विशेषत एव कर्तव्ये ॥ १०६ ॥

तानवोपमिति मानवोचितं सज्जनैः सह समत्तु रोचितम् ।
उद्भवेत् सममरिक्तभाजनस्तद्धि सङ्ग्रहणता गृहीशिनः ॥ १०७ ॥

तानवोपमितीति। तनोरियं तानवी या उपमितिर्यत्र आयुर्वेदशास्त्रसम्मतमित्यर्थः। मानवोचितं मांसादिरहितं वर्णगन्धादिभिः प्रशस्तं तादृशमन्नं सज्जनैर्बन्धुमित्रादिभिः सह पङ्क्तिबद्धो भूत्वा समत्तु भक्षयतु। पुनः अरिक्तभाजनोऽनिःशेषिताम्नभाजन एव सर्वैः सममुद्भवेत् उत्तिष्ठेत्। तद्धि गृहीशिनो गृहस्थस्य सङ्ग्रहणता सामाजिकताऽस्ति ॥ १०७॥

देवसेव्यमवगाढहृन्नर आर्षवर्त्मनि तु यो धृतादरः ।
सोऽपपङ्क्त्यनवशेषमाहरत्वत्रिवर्गपरिपूर्तितत्परः ॥ १०८ ॥

देवसेव्यमिति। यस्तु पुनर्नर आर्षवर्त्मनि धृतादरो नैष्ठिक इत्यर्थः। तथा च

अन्वय : इति परमार्थशंसिने शीलसंयमवते सुजीविने अङ्गिने नित्यम् अनुनय-प्रयच्छने कर्मणी स्तः। अथ पर्वणि तु विशेषतः स्तः।

अर्थ : इस प्रकार परमार्थकी श्रद्धा रखनेवाले और शील-संयमसे युक्त तथा भली आजीविकावाले मनुष्यके लिए आचार्योंने यह देवपूजन और दानरूप जो दो काम बताये हैं, वे नित्य ही करने चाहिए। फिर पर्व आदि विशेष अवसरों-पर तो इन दोनों कार्योंका विशेष रूपसे सम्पादन करना चाहिए ॥ १०६ ॥

अन्वय : गृही तानवोपमिति मानवोचितं रोचितं सज्जनैः सह समत्तु। पुनः अरिक्त-भाजनः समम् उद्भवेत्। तद्धि गेहिनः सङ्ग्रहणता अस्ति।

अर्थ : दान और पूजाके अनन्तर गृहस्थको चाहिए कि वह मनुष्योचित (जिसका कि समर्थन आयुर्वेदशास्त्रसे होता हो) तथा अपने आपके लिए रुचिकर निरामिष भोजन अपने कुटुम्बवर्गके साथ एक पंक्तिमें बैठकर किया करे। थालमें कुछ छोड़कर ही सबके साथ उठे। यह गृहस्थकी सामाजिक सभ्यता है ॥ १०७ ॥

अन्वय : यः तु आर्षवर्त्मनि धृतादरः अवगाढहृत् नरः अत्रिवर्गपरिपूर्तितत्परः, सः अपपङ्क्ति अनवशेषं देवसेव्यम् आहरतु।

योऽत्रिवर्गपरिपूर्तितत्परो गौणीकृतत्रिवर्गमार्गोऽपवर्गमार्गाभिमुखः सोऽपपङ्क्ति पङ्क्तिवर्जं यथा स्यात्तथा अवशेषं शेषैर्न्यूर्षिभिः सेव्यं ग्रहणयोग्यं तदनवशेषमन्नम् आहरतु भक्षयतु ॥ १०८ ॥

राक्षसाशनमुपात्ततामसं नाशि पाशविकमप्युतावशम् ।
तद्द्वयं परिहरेत्तु दूरतः कः किलास्तु सुजनोऽपदे रतः ॥ १०९ ॥

राक्षसाशनमिति । राक्षसानामशनं किल उपात्ततामसं तमोगुणयुक्तं तन्नाशि मनुष्यताया नाशकं तथा पाशविकं पशुभक्षणीयं तदवशमिन्द्रियलम्पटतापूर्णं तदपि नाशि, अतस्तद्द्वयं दूरतः परिहरेत् । यः कः सज्जनो योऽपदे अयोग्यस्थाने रतोऽनुरक्तः स्यात्, न कोऽपीत्यर्थः ॥ १०९ ॥

सर्वस्यार्थकुलस्य साधकतया सार्थीकृतात्मप्रथं
निष्कादर्यतदात्वमूलहरणं तीर्थाय सम्यक्कथम् ।
अर्थं स्वोचितवृत्तितो ह्यनुभवेदर्थानुबन्धेन यः
स श्रीमान् मुदमेति तावदभितः शश्वत्प्रतिष्ठाश्रयः ॥ ११० ॥

अर्थ : इन्हीं गृहस्थोंमें जो आर्ष-मार्गका आदर करनेवाला हो, जिसका हृदय सुदृढ़ हो और त्रिवर्ग-मार्गकी ओरसे हटकर जिसका झुकाव मोक्षमार्गकी ओर हो गया हो, ऐसा व्यक्ति पंक्ति-भोजन न करके अकेला ही शुद्ध भोजन करे और जूठन न छोड़े ॥ १०८ ॥

अन्वय : उपात्ततामसं राक्षसाशनं नाशि, उत पाशविकम् अपि अवशम्, तद्द्वयं तु दूरतः परिहरेत् । कः सुजनः किल अपदे रतः अस्तु ।

अर्थ : तामसता रखनेवाला राक्षसाशन (मद्य-मांसादिरूप भोजन) मानवताका नाशक है और पाशविक भोजन, जो इन्द्रिय-लम्पटताको लिये होता है, वह भी अपने आपका बिगाड़ करनेवाला, नाशक है। इन दोनों तरहके भोजनोंको मनुष्य दूरसे ही छोड़ दे, क्योंकि समझदार मनुष्य अयोग्य स्थानमें प्रवृत्ति कैसे कर सकता है ? ॥ १०९ ॥

अन्वय : सर्वस्य अर्थकुलस्य साधकतया सार्थीकृतात्मप्रथं निष्कादर्यतदात्वमूलहरणं तीर्थाय सम्यक्कथम् अर्थं यः स्वोचितवृत्तितः अर्थानुबन्धेन अनुभवेत्, हि सः श्रीमान् शश्वत्-प्रतिष्ठाश्रयः सन् तावत् अभितः मुदम् एति ।

सर्वस्येति । अर्थाः प्रयोजनानि तेषां कुलं समुदायस्तस्य सर्वस्य साधकतया सार्थीकृता सफलतां नीताऽऽस्मनः स्वस्य प्रथा संज्ञा येन तम्, कादर्यं कृपणत्वं तदात्वं तत्काल एव निःशेषीकरणं, मूलहरणं सर्वस्वविनाशनं, एतैस्त्रिभिर्दोषैर्वर्जितं, तीर्थाय धर्मक्षेत्राय सम्यक् समीचीना कथा यस्य तं संविभागीकृतमित्यर्थः । तमर्थम् अर्थानुबन्धेन भविष्यदर्थार्जनसाधकत्वेन, स्वोचितवृत्तितो निजकुलपरम्परायातव्यवहारेण अनुभवेत् । हीति निश्चयेन । स श्रीमान् शश्वत्प्रतिष्ठाश्रयः निरन्तरगौरवाधारो भवन्, अभितः सर्वथा मुदमेति प्रसन्नतामनुभवति । तावदिति वाक्यालङ्कारे ॥ ११० ॥

शस्त्रोपजीविवार्ताजीविजनाः सन्त्यथो द्विजन्मानः ।
कारुकुशीलवकर्मणि रतेषु संस्कारधारा न ॥ १११ ॥

शस्त्रोपजीवीति । शस्त्रोपजीविनः क्षत्रियाः, वार्ताजीविनो वैश्यजनाः सन्ति । अथो पुनर्द्विजन्मानो विप्राश्च सन्ति । कारुः शिल्पी, कुशीलवो नटस्तस्य कर्म नर्तनम् । एतद्विद्याकर्मण उपलक्षणम्, तस्मिन् रतेषु शिल्पविद्योपजीविशूद्रेषु संस्कारधारा नास्ति, परम्परागत-गर्भाधानादिक्रिया न विद्यते ॥ १११ ॥

अस्तु सर्वजनशर्मकारणं जीविका भुजभुवोऽसिधारणम् ।
निर्बलस्य बलिना विदारणमन्यथा सहजकं सुधारण ॥ ११२ ॥

अर्थ : जो मनुष्यकी सब तरहकी अभिलाषाओंका साधन है, अत एव जिसने अपने 'अर्थ' नामको सार्थक कर बताया है और जो १. कंजूसी, २. जितना खाना उतना ही कमाना और ३. मूलसे भी खर्च कर देना इन तीन दोषोंसे रहित है तथा तीर्थस्थानोंके लिए सहजमें लगाया जाता है, ऐसे अर्थका मनुष्य अर्थानुबन्धद्वारा अपने कुलयोग्य आजीविका चलाते हुए उपार्जन करे। निश्चय ही ऐसा करनेवाला मनुष्य दुनियामें निरन्तर प्रतिष्ठाका पात्र बनकर सर्वथा प्रसन्नता का अनुभव करता है ॥ ११० ॥

अन्वय : अथ शस्त्रोपजीविवार्ताजीविजनाः द्विजन्मानः सन्ति । कारुकुशीलवकर्मणि रतेषु संस्कारधाराः न भवन्ति ।

अर्थ : प्रजामें जो शस्त्रोंसे आजीविका करनेवाले हैं तथा खेती और व्यापार करनेवाले हैं एवं जो द्विज लोग हैं, उनका दूसरा जन्म (संस्कार-जन्म) भी होता है। किन्तु शिल्पी, नट आदि विद्याओंसे आजीविका चलानेवाले शूद्रोंमें गर्भाधानादि संस्कारोंकी धारा नहीं हुआ करती ॥ १११ ॥

अस्त्विति । हे सुधारण, प्रशस्तधारणाशक्तिमन्, भुजाभ्यां स्वबाहुभ्यामेव भवति स्वास्तित्वं रक्षतीति भुजभूस्तस्य क्षत्रियस्य असिधारणं जीविकाऽस्ति, साऽस्त्वेव । यतः सा सर्वजनानां शर्मकारणमस्ति । अन्यथा तु निर्बलस्य बलिना विदारणं सहजकं स्यात् ॥ ११२ ॥

कृषिकृत्परिपोषणेन राज्ञां दधदायव्ययलेखनप्रतिज्ञाम् ।
नयनानयनैश्च वस्तुनो वा निगमो विश्वविपन्निवारको वा ॥ ११३ ॥

कृषिकृदिति । कृषिकृतां कृषकाणां परिपोषणसंरक्षणं तेन सह राज्ञां नृपाणाम् आयव्यययोर्लेखनस्य प्रतिज्ञां दधद्धारयन् निगमो वणिग्जनो वस्तुनो जीवनोपयोगिपदार्थस्य अन्नादेरितस्ततो नयनानयनैर्बहुप्रकारैः प्रेषणप्रापणैर्विश्वस्य विपदां निवारको भवति ॥ ११३ ॥

करकौशलेन च कलाबलेन कुम्भादिनर्तनादिबला ।
शुश्रूषणं हि शूद्राजीवा खलु विश्वतोमुद्रा ॥ ११४ ॥

करकौशलेनेति । करस्य कौशलं चातुर्यं तेन, कलाया बलं सामर्थ्यं तेन च कुम्भादि-करणं नर्तनादिसम्पादनञ्च बलं यस्याः सा, तथा सर्ववर्णानां शुश्रूषणं सेवनमित्यादि

अन्वय : हे सुधारण! भुजभुवः जीविका असिधारणं यत् सर्वजनशर्मकारणम् अस्तु। अन्यथा बलिना निर्बलस्य विदारणं सहजकम् ।

अर्थ : हे अच्छी धारणावाले जयकुमार ! क्षत्रिय लोगोंकी आजीविका शस्त्र धारण करना माना गया है, जो आम प्रजाके लिए कल्याणका कारण होता है। क्योंकि उसके न रहनेपर बलवान्‌द्वारा निर्बलका मारा जाना स्वाभाविक हो जाता है ॥ ११२ ॥

अन्वय : निगमः वा कृषिकृत् परिपोषणेन राज्ञाम् आयव्ययलेखनप्रतिज्ञां दधत् वस्तुनः च नयनानयनैः विश्वविपन्निवारकः (भवति) ।

अर्थ : वैश्य या कृषक लोगोंका पोषण करनेके साथ-साथ राजाओंके आय-व्ययका हिसाब भी रखता है और जीवनोपयोगी वस्तुओंको यहाँसे वहाँ पहुँचाता है । अतएव वह आम प्रजाकी विपत्तिको दूर करनेवाला है ॥ ११३ ॥

अन्वय : करकौशलेन कलाबलेन च कुम्भादिनर्तनादिबला शुश्रूषणं शूद्राजीवा या, सा हि विश्वतोमुद्रा खलु ।

शूद्राणामाजीवा जीविका विश्वतः सर्वेषां मुदं हर्षं राति ददात्येवंभूता खलु ॥ ११४ ॥

निजनिजकर्मणि कुशलाः परथाऽमी मूर्ध्नि संपतन्मुशलाः ।
किमु मस्तकेन चरणं पद्भ्यामथवा समुद्धरणम् ॥ ११५ ॥

निजनिजेति । अमी सर्वे निजनिजकर्मणि कुशलाः सन्तु, अन्योऽन्यजीविकासु आक्रमणं न कुर्वन्त्वित्यर्थः । परथाऽन्यथा पुनः सर्वे स्वहस्तेन मूर्ध्नि मस्तके सम्पतन्मुशलं येषां ते तथा स्युः । यतो मस्तकेन चरणं गमनं अथवा पद्भ्यां समुद्धरणं भारोत्थापनं भवति किमु ॥ ११५ ॥

स्वान्वयकर्मकृदस्मादस्तु समारब्धपापपथभस्मा ।
क्वचिदाश्रमे समुचिते निरतोऽसावात्मने रुचिते ॥ ११६ ॥

स्वान्वयेति । अस्मात्कारणात् जनः स्वान्वयस्य स्वकुलस्य कर्म करोति तादृशोऽस्तु । किञ्च, समारब्ध आरब्धः पापपथस्य भस्म येन सः दुरितनाशतत्परः स्यात् । असौ क्वचिद् आत्मने रुचिते प्रिये समुचिते आश्रमे निरतस्तत्परः स्यात् ॥ ११६ ॥

अर्थ : घड़ा आदि बनानेरूप शिल्पकलाद्वारा अथवा नाचना-गाना आदि कला-कौशलद्वारा प्रजाकी सेवा करना और उसे प्रसन्न करते रहना शूद्रोंकी आजीविका है, जो निश्चय ही सबको हर्ष-सुख देनेवाली है ॥ ११४ ॥

अन्वय : अमी निजनिजकर्मणि कुशलाः (सन्तु) । परथा पुनः मूर्ध्नि संपतन्मुशलाः । (यतः) मस्तकेन चरणम् अथवा पद्भ्यां समुद्धरणं किमु ।

अर्थ : ये सभी लोग अपने-अपने कुलके अनुसार आजीविका चलानेमें कुशल बने रहें, एक दूसरेकी आजीविका पर आक्रमण करनेका विचार न करें । नहीं तो फिर अपने हाथसे ही अपने सिरमें मूसल मारनेवाला हिसाब हो सकता है । क्योंकि क्या कभी मस्तकसे चलना अथवा पैरोंसे बोझा ढोना बन सकता है ॥ ११५ ॥

अन्वय : अस्मात् (जनः) स्वान्वयकर्मकृत् समारब्धपापपथभस्मा आत्मनः रुचिते क्वचित् समुचिते आश्रमे निरतः (स्यात्) ।

अर्थ : इसीलिए मनुष्यको चाहिए कि वह अपने कुलक्रमसे आयी हुई आजीविकाको चलाता रहे और पाप-पाखण्डसे बचता रहे एवं जैसा अपने आपको रुचे, उसी समुचित आश्रममें निरत रहकर अपना जीवन बिताये । लेकिन जिस आश्रमको जब तक अपनाये रहे, तबतक उस आश्रमके नियमोंका उल्लंघन कभी न करे ॥ ११६ ॥

वर्णिगेहिवनवासियोगिनामाश्रमान् परिपठन्ति ते जिनाः ।
नीतिरस्त्यखिलमर्त्यभोगिनी सूक्तिरेव वृषभृन्नियोगिनी ॥ ११७ ॥

वर्णिगेहीति । ते लोकख्याता जिना आश्रमान् वर्णि-गेहि-वनवासि-योगिनां भेदेन चतुर्धा पठन्ति । तत्र नीतिस्तु तत्तदाश्रमगतान् निखिलान् मर्त्यान् भुनक्तीति । किन्तु सूक्तिस्तत्तदाश्रमगतानां मध्ये वृषभृतां तदाश्रमगतनियमपालकानामेव नियोगिनी ॥ ११७ ॥

स्वस्वकर्मनिरताँस्तु धारयन् तद्गतोपनियमान् सुधारयन् ।
सारयन् पथि निजं परानथाऽऽधारयेन्नृपतिरीतिहृत्कथाः ॥ ११८ ॥

स्वस्वकर्मेति । अथ नृपतिः शासकस्तद्गतान् वर्णाश्रमगतान् उपनियमान् सुधारयन्, आश्रमस्थान् स्वस्वकर्मतत्परान् धारयन् निजमथ परान् प्रजाजनान् धारयन् संस्थापयन् सन्, ईतिं हरतीति ईतिहृत्कथाः पुरातनपुरुषाणामुपद्रवहराः कथाः आधारयेत्, यतः किल निराकुलता भवेदिति शेषः ॥ ११८ ॥

अन्वय : ते जिनाः वर्णिगेहिवनवासियोगिनाम् आश्रमान् परिपठन्ति । तत्र नीतिः अखिलमर्त्यभोगिनी (अस्ति) । किन्तु सूक्तिः वृषभृन्नियोगिनी एव ।

अर्थ : ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ-आश्रम और संन्यास-आश्रमके भेदसे आश्रम चार तरहके बताये हैं। वहाँ नीति तो उस-उस आश्रममें रहनेवाले सभी लोगोंको उस आश्रम वाला मानती है। किन्तु सन्तोंकी सूक्ति जिस आश्रममें वह पुरुष है, उस-उस आश्रमके नियमोंका पूर्ण पालन करनेपर ही उसे उस आश्रमवाला कहती है।

विशेष : सामान्य नीति तो सभी साधुओंको 'साधु' कहती है। किन्तु संतोंकी वाणीमें तो आत्महितके साधक तथा साधुओंके योग्य कर्तव्योंमें निरत रहनेवाले साधु ही 'साधु' कहे जाते हैं। ऐसे ही अन्य आश्रमोंके विषयमें भी समझना चाहिए ॥ ११७ ॥

अन्वय : अथ नृपतिः (तान्) स्वस्वकर्मनिरतान् धारयन् तद्गतोपनियमान् च सुधारयन् निजं परान् (च) पथि सारयन् ईतिहृत्कथाः आधारयेत् ।

अर्थ : अब जो राजा है, उसका कर्तव्य है कि प्रत्येक आश्रमवासीको उस-उस आश्रमके कर्मों, नियमोंपर चलाता रहे। समय-समयपर उनके लिए जिस तरह वे ठीक चल सकें, वैसे उपनियम बनाता रहे। स्वयं सन्मार्गपर चले तथा दूसरोंको भी सन्मार्ग पर लगाये रहे तथा एतदर्थ ईति-भीति आदि दूर करनेवाले उपाय भी करता रहे ॥ ११८ ॥

सर्वतो विनयताऽसतीं सतीं भूरिशोऽभिनयता समुन्नतिम् ।
तन्यते तनयवन्महीभुजाऽऽदर्शवर्त्मपरिणाहिनी प्रजा ॥ ११९ ॥

सर्वत इति । असतीं दुष्टां प्रजां सर्वतः समन्ताद्यथा स्यात्तथा विनयतां नम्रतां नयता, सतीं शोभनां प्रजां भूरिशोऽनेकप्रकारेण समुन्नतिमभिनयता महीभुजा राज्ञा तनयवत् पुत्रवत् आदर्शवर्त्मपरिणाहिनी प्रशस्तमार्गगामिनी प्रजाः तन्यते विधीयते ॥ ११९ ॥

धर्मार्थकामेषु जनाननीतिं नेतुं नृपस्यास्तु सदैव नीतिः ।
त्रयीह वार्ताऽपि तु दण्डनीतिः प्रयोजनीयाथ यथाप्रतीति ॥ १२० ॥

धर्मार्थेति । जनान् धर्मार्थकामेषु त्रिषु अनीतिमीतिवर्ज्यं यथा स्यात्तथा नेतुं प्रवर्तयितुं नृपस्य नीतिः सदैवास्तु । अथात इह त्रयी, वार्ता अपि तु पुनर्दण्डनीतिः यथाप्रतीति यत्र यथासम्भवं तथा प्रयोजनीया ॥ १२० ॥

वारितुं तु परचक्रमुद्यतः सामदामपरिहारभेदतः ।
प्राभवाभिबलमन्त्रशक्तिमान् शास्ति सम्यगवनिं पुमानिमाम् ॥ १२१ ॥

अन्वय : असतीं सर्वतः विनयता सतीं च भूरिशः समुन्नतिम् अभिनयता महीभुजा तनयवत् आदर्शवर्त्मपरिणाहिनी प्रजाः तन्यते ।

अर्थ : उद्दण्ड हो जानेवाली प्रजाको तो हर तरहसे दबाकर, किन्तु समीचीन मार्गपर चलनेवाली प्रजाको अनेक तरहके उपायोंद्वारा उन्नति पथपर ले जाते हुए राजाको चाहिए कि वह अपने पुत्रके समान उसे आदर्श-मार्गका अनुसरण करनेवाली बनाये रखे ॥ ११९ ॥

अन्वय : नृपस्य नीतिः सदैव जनान् धर्मार्थकामेषु अनीतिं नेतुम् अस्तु । अथ इह यथाप्रतीति त्रयी वार्ता अपि तु दण्डनीतिः प्रयोजनीया ।

अर्थ : राजाका कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजाके लोगोंको धर्मार्थ-कामरूप त्रिवर्ग-मार्गमें अनीतिसे बचाते हुए लगाये रखे । इसके लिए उसे चाहिए कि यथासमय वह त्रयी, वार्ता और और दण्डनीतिसे काम लेता रहे ।

विशेष : लौकिक सदाचरणोंके नियमोंका संग्रह करना 'त्रयी' कहलाती है । वर्णाश्रमोंके नियमोंके अनुसार आजीविकाका विधान करना 'वार्ता' और अपराधियोंको यथायोग्य दण्ड देना 'दण्डनीति' कहलाती है ॥ १२० ॥

अन्वय : प्राभवाभिबलमन्त्रशक्तिमान् सामदामपरिहारभेदतः परचक्रं वारितुम् उद्यतः पुमान् इमाम् अवनिं सम्यक् शास्ति ।

वारितुमिति । प्रभावोत्साहमन्त्रशक्तिमान् पुमान् नृपतिः सामदानदण्डभेदरूपैरुपायैः परचक्रं शत्रुसमूहं वारितुमुपरोद्धुमुद्यतः सन्नद्धः सन् इमामवनिं सम्यक्प्रकारेण शास्ति ॥ १२१ ॥

इत्थमात्मसमयानुसारतः सम्प्रवृत्तिपर आप्रदोषतः ।
प्रार्थयेत् प्रभुमभिन्नचेतसा चित्स्थितिर्हि परिशुद्धिरेनसाम् ॥ १२२ ॥

इत्थमिति । इत्थमुपर्युक्तप्रकारेण, आत्मसमयानुसारतः आप्रदोषतः सायं यावत् संप्रवृत्तिपरः कर्तव्यनिरतः सन्नथात्र सन्ध्यासमयेऽभिन्नचेतसा परमात्मनि मनःप्रणिधानेन प्रभुं प्रार्थयेत्। हि यस्मात् चिति परमात्मनि स्थितिरेनसां पापानां परिशुद्धिः शोधनकारिणी भवति ॥ १२२ ॥

स्वस्थानाङ्कितकाममङ्गलविधौ निर्जल्पतल्पं क्रमे-
न्नित्यद्योतितदीपकेऽपि सदने पत्न्या समं विश्रमेत् ।
प्रेमालापपरः समर्थनकरश्चर्तुप्रदानस्य स
यावत्तुष्टि सुभावपुष्टिविषये निर्णीतरेवारसः ॥ १२३ ॥

स्वस्थानेति । स्वस्थानेऽङ्किता, उपस्थापिता काममङ्गलानां विधिर्यत्र तस्मिन् नित्यमविच्छिन्नरूपेण द्योतितो दीपको यस्मिंस्तस्मिन् सदने गृहेऽपि पत्न्या वनितया समं प्रेमालाप-

---

अर्थ : प्रभुशक्ति, बलशक्ति और मंत्रशक्ति इन तीनों शक्तियोंसे सम्पन्न राजा साम, दाम, भेद, दण्डरूप उपायोंद्वारा परचक्रके भयको दूर करता हुआ इस पृथ्वीका सम्यक् शासन कर सकता है ॥ १२१ ॥

अन्वय : इत्थम् आत्मसमयानुसारतः आप्रदोषतः सम्प्रवृत्तिपरः (गृही अथ अत्र) प्रभुं चेतसा प्रार्थयेत् । हि चित्स्थितिः एनसां परिशुद्धिः ।

अर्थ : इस प्रकार अपने देश-कालानुसार सायंकालतक समुचित प्रवृत्ति करनेवाले गृहस्थको चाहिए कि सायंकालके समय चित्तको स्थिर करके परमात्माका स्मरण करे, क्योंकि चित्तकी स्थिरता ही पापोंसे बचानेवाली होती है ॥ १२२ ॥

अन्वय : स्वस्थानाङ्कितकाममङ्गलविधौ नित्यद्योतितदीपके सदने निर्जल्पतल्पं क्रमेत् । च प्रेमालापपरः ऋतुप्रदानस्य समर्थनकरः सुभावपुष्टिविषये निर्णीतरेवारसः पत्न्या समं सः यावत्तुष्टि विश्रमेत् ।

अर्थ : गृहस्थको चाहिए कि इसके बाद जहाँ भोगके सभी साधन यथा-

परो मधुरसम्भाषणतत्परः । तथा च ऋतुप्रदानस्य समर्थनकरः सुभावपुष्टिविषये गृहस्थभावस्य पोषणावसरे निर्णीतोऽनुभूतो रेवाया रते रस आनन्दो येन स यावत्तुष्टि यथा स्यात्तथा विश्रमेत् ॥ १२३ ॥

न दर्पतो यः समये समर्पयेत् कुवित्सुबीजं सुविधाप्रबुद्धये ।
किमस्य मूर्खाधिभुवो भवेत् स्थितिर्विनाङ्गजेनेति सतामियं मितिः ॥१२४॥

न दर्पत इति । यः कुविद् दुर्बुद्धिः समये ऋतुकालेऽपि सुविधायाः वंशपरम्परायाः प्रबुद्धये प्रवृत्तये दर्पतो दुरभिमानतः सुबीजं न समर्पयेत्, अस्य मूर्खाधिभुवो निर्विचारशिरोमणेरङ्गजेन सुतेन विना किं स्थितिः कुत्सिता स्थितिर्भवेदिति सतां सज्जनानां मिति सम्मतिः ॥ १२४ ॥

द्यूत-मांस-मदिरा-पराङ्गना-पण्यदार-मृगया-चुराश्च ना ।
नास्तिकत्वमपि संहरेत्तरामन्यथा व्यसनसङ्कुला धरा ॥ १२५ ॥

द्यूतमांसेति । ना नरो द्यूतमक्षक्रीडादि, मांसभक्षणम्, मदिरापानं, परस्त्री-वेश्यादिगमनम्, मृगाणां हिंसनम्, चुरा चौर्यम्, नास्तिकत्वमीश्वर-परलोकादिषु अविश्वासं संहरेत्तरामतिशयेन परित्यजेत् । अन्यथा धरा पृथिवी व्यसनैर्विविधकष्टैः संकुला व्याप्ता भवेदिति शेषः ॥ १२५ ॥

स्थान उपस्थित हों, जिसमें अखण्ड दीपक देदीप्यमान हो रहा हो, ऐसे भवनमें पत्नीके साथ प्रवेश करे । वहाँ आवाज न करनेवाली शय्यापर उसके साथ बैठकर प्रेमवार्ता करे । फिर ऋतुदानका समर्थन करनेवाला वह गृही अपने आपको तथा पत्नीको भी किसी प्रकारका कोई विशेष कष्ट न हो, इस प्रकार तुष्टिपर्यन्त रतिरसका सेवनकर पश्चात् विश्राम करे ॥ १२३ ॥

अन्वय : यः कुवित् दर्पतः समये अपि सुविधाप्रबुद्धये सुबीजं न समर्पयेत्, अस्य मूर्खाधिभुवः अङ्गजेन विना किं स्थितिः भवेत्, इयं सतां मितिः ।

अर्थ : जो विचारहीन गृहस्थ व्यर्थके घमंडमें आकर संतानोत्पत्तिके लिए अपनी सहधर्मिणीके साथमें उचित समयपर भी समागम नहीं करता, उस मूर्खशिरोमणि गृहस्थकी बिना पुत्रके बुरी स्थिति होगी, ऐसा सन्तों, सज्जनोंका कहना है ॥ १२४ ॥

अन्वय : ना द्यूत-मांस-मदिरा-पराङ्गना-पण्यदार-मृगया-चुराः च नास्तिकत्वम् अपि संहरेत्तराम्, अन्यथा धरा व्यसनसङ्कुला स्यात् ।

कुत्सिताचरणकेष्वशङ्किताकारिता स्फुटमवादि नास्तिता ।
हाऽखिलव्यवहृतेर्विलोपिनीतीह सङ्कटघटोपरोपिणी ॥ १२६ ॥

कुत्सितेति । नास्ति किलात्मा, न स्वर्ग-नरकौ, न परलोकः, न पुनर्जन्मेत्यादि-विचाररूपा नास्तिता नास्तिकता कथ्यते । सा कुत्सिताचरणकेषु निन्दितव्यभिचारादिकर्मसु अशङ्किताकारिता निरर्गलप्रवृत्तिकारिणी स्फुटं स्पष्टमवादि कथिता, विद्वद्भिरिति शेषः । हेति खेदे । यतः साऽखिलाया व्यवहृतेर्व्यवस्थाया विलोपिनी, इत्यत इहैव सङ्कटघटायाः कष्टपरम्पराया उपरोपिणी प्रवर्तिनी, किं पुनरमुत्रेति भावः ॥ १२६ ॥

होढाकृतं द्यूतमथाह नेता संक्लेशितोऽस्मिन्विजितोऽपि जेता ।
नानाकुकर्माभिरुचिं समेति हे भव्य दूरादमुकं त्यजेति ॥ १२७ ॥

होढाकृतमिति । जयस्य विजयस्य वा होढया नारद-पर्वतवद्यत् कृतं भवति तद् द्यूतं कथ्यते । अस्मिन् कर्मणि विजितः पराजितोऽपि जेताऽपि दर्पेण नानाकुकर्मसु चुरा-व्यभिचारादिषु अभिरुचिं प्रवृत्तिं समेति, इत्यतो हे भव्य, अमुकं दूरादेव त्यज जहाहि॥१२७॥

त्रसानां तनुर्मांसनाम्ना प्रसिद्धा यदुक्तिश्च विज्ञेषु नित्यं निषिद्धा ।
सुशाकेषु सत्स्वप्यहो तं जिघांसुर्धिगेनं मनुष्यं परासृक्पिपासुम् ॥ १२८ ॥

अर्थ : मनुष्यको चाहिए कि जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, परस्त्री-सङ्गम, वेश्यागमन, शिकार और चोरी तथा नास्तिकपना इन सबको भी त्याग दे। अन्यथा यह सारा भूमण्डल तरह-तरहकी आपदाओंसे भर जायगा ॥ १२५ ॥

अन्वय : स्फुटं कुत्सिताचरणकेषु अशङ्किताकारिता (विद्वद्भिः) नास्तिता अवादि, या इह अखिलव्यवहृतेः विलोपिनी इति सङ्कटघटोपरोपिणी ।

अर्थ : निःशंक होकर कुत्सित आचरण करनेको विद्वानोंने नास्तिकता बताया है, जो सभी प्रकारके व्यवहारोंका लोप कर देती है। वह अनेक संकटों-को परम्परा खड़ी कर देती है। अतः उससे सदैव दूर रहना चाहिए ॥ १२६ ॥

अन्वय : अथ नेता होढाकृतं द्यूतम् आह, अस्मिन् विजितः अपि तथा जेता अपि संक्लेशितः सन् नानाकुकर्माभिरुचिं समेति । इति हे भव्य ! अमुकं दूरात् त्यज ।

अर्थ : महापुरुषोंने शर्त लगाकर कोई भी काम करना द्यूत कहा है। इसमें हारने और जीतनेवाले दोनों संक्लेश पाते हुए नाना प्रकारके कुकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिए हे भव्य ! राजन् ! तुम इसे दूरसे ही छोड़ दो ॥ १२७॥

त्रसानामिति । त्रसानां चरजीवानां या तनुः कलेवरततिः, सा मांसनाम्ना प्रसिद्धाऽस्ति, तद्भक्षणं तु दूरमेवास्ताम्, तस्य मांसस्य उक्तिर्नामोच्चारणमपि विज्ञेषु जनेषु नित्यं निषिद्धा, यतोऽशनकाले तन्नाम श्रुत्वाऽपि अशनं त्यज्यते तैः । किन्तु सुशाकेषु वास्तुकादिषु सत्स्वपि तं जिघांसुः बुभुक्षुर्मनुष्यः स्यादित्यहो महदाश्चर्यम् । अत एनं परेषामसृजं रक्तं पिपासुं पातुमिच्छुं पुरुषं धिक् ॥ १२८ ॥

लोके घृणां समुपयन् मदकृद्भिरस्मिन्
भङ्गा-तमाखु-सुलमादिभिरङ्ग वच्मि ।
धीभ्रंशनं परवशत्वमुपैति दैन्य-
मस्मान्मदित्वमुपयाति न सोऽस्ति धन्यः ॥ १२९ ॥

लोक इति । अस्मिल्लोके अङ्ग हे भद्र, भङ्गातमाखुसुलमादिभिः मदकृद्भिर्मदन्मत्तता-कारिभिः वस्तुभिः मनुष्यो घृणां निर्लज्जतां समुपयन् स्वीकुर्वन् धियो बुद्धेर्भ्रंशनं विनाशनं परवशत्वं दैन्यञ्च उपैति । अस्मात्कारणाद् यो मदित्वमुपयाति स धन्यो नास्ति, अपि तु निन्द्योऽस्तीत्याशयः ॥ १२९ ॥

माक्षिकं मक्षिकाव्रातघातोत्थितं तत्कुलक्लेदसम्भारधारान्वितम् ।
पीडयित्वाऽप्यकारुण्यमानीयते सांशिभिर्वंशिभिः किन्नु तत्पीयते ॥१३०॥

अन्वय : त्रसानां तनः मांसनाम्ना प्रसिद्धा, च विज्ञेषु यदुक्तिः नित्यं निषिद्धा । अतः सुशाकेषु सत्सु अपि तं जिघांसुः अहो । परासृक्पिपासुम् एनं मनुष्यं धिक् ।

अर्थ : त्रसों, चर-जीवोंके शरीर 'मांस' नामसे प्रसिद्ध है, जिसका खाना तो दूर, नाम लेना भी विद्वानोंके बीच सर्वथा निषिद्ध माना गया है। इसलिए उत्तम शाक, फलादिके रहते हुए मनुष्य उस मांसको खाना चाहता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। दूसरेके रक्तके प्यासे उस मनुष्यको धिक्कार है ॥ १२८ ॥

अन्वय : अङ्ग अस्मिन् लोके मदकृद्भिः भङ्गा-तमाखु-सुलमादिभिः घृणां समुपयन् (नरः) धीभ्रंशनं परवशत्वं दैन्यं च उपैति । अस्मात् यः मदित्वं उपयाति, सः धन्यः न अस्ति इति वच्मि ।

अर्थ : इस भूतलपर भाँग, तमाखू, सुलफा, गाँजा आदि वस्तुओंको निर्लज्ज हो स्वीकार करनेवाला मानव बुद्धि-विकार, परवशता और अत्यन्त दीनता प्राप्त करता है। इसीलिए जो इन मदकारी पदार्थोंसे मत्त हो जाता है, वह धन्य नहीं, अर्थात् निन्द्य है, ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १२९ ॥

माक्षिकमिति । मक्षिकाणां सरघाणां व्रातस्य समूहस्य यो घातो नाशस्तस्मादुत्थितमुत्पन्नं, तासां कुलस्य यः क्लेदसम्भारः तन्मूत्पन्नमेवःसमूहस्तस्य धाराभिरन्वितं माक्षिकं मधु जायते, अतस्तदपि मदजनकत्वाद् वर्जनीयमित्याशयः । यतस्तन्मक्षिकाः पीडयित्वा लभ्यते, तेन च तदुत्पादकेऽकारुण्यं निर्दयत्वमानीयते प्राप्यते । किन्नु अथवा तत् सांशिभिः म्लेच्छैः वंशिभिर्व्याधकुलजैः वा पीयते, न तु सभ्यैरिति भावः ।। १३० ।।

श्वेव विश्वे जनोऽसौ तनोतीङ्गितं भोक्तुमुच्छिष्टमन्यस्य वा योषितम् ।
स प्रतिद्वारमाराधनाकारकं धिङ् नरं तञ्च रङ्कं कदाचारकम् ।।१३१।।

श्वेवेति । असौ जनः विश्वे संसारेऽन्यस्य उच्छिष्टं योषितं वा भोक्तुं श्वेव कुक्कुर इवेङ्गितं चेष्टां तनोति करोति । प्रतिद्वारं द्वारं द्वारं प्रति आराधनाकारकं परसेवातत्परं कदाचारकं कुत्सिताचरणं तं नरं धिक् ।। १३१ ।।

मातुः स्वसुश्च दुहितुरुपर्यपरदारदृक् ।
किमुद्यमपथो गुह्यलम्पटः सञ्चरत्यपि ।। १३२ ।।

मातुरिति । अन्यत् किमुद्यं किं वक्तव्यं यद् गुह्यलम्पटो गुह्यरूपेण विषयलोलुपोऽपरेषां दारान् पश्यत्येवंभूतोऽपथ उत्पथगामी भवन् कुपुरुषो मातुः स्वसुर्दुहितुश्च उपरि सञ्चरति समारोहति ।। १३२ ।।

अन्वय : यत् मक्षिकाव्रातघातोत्थितं तत्कुलक्लेदसंभारधारान्वितं माक्षिकम्, अकारुण्यं पीडयित्वा तत् आनीयते । किं नु (तत्) सांशिभिः वंशिभिः पीयते ।

अर्थ : शहद शहदकी मक्खियोंके समूहके घातसे उत्पन्न और उन मक्खियोंके मेदेकी धाराओंसे भरा होता है। वह निर्दयतापूर्वक मक्खियोंके छत्तेको निचोड़कर लाया जाता है। उसे सांसी लोग, म्लेच्छ और व्याधे पीते हैं। भले पुरुष उसे कभी नहीं पीते ।। १३० ।।

अन्वय : असौ जनः विश्वे अन्यस्य उच्छिष्टं योषितं वा भोक्तुं श्वा इव इङ्गितं तनोति । प्रतिद्वारं आराधनाकारकं च कदाचारकं तं रङ्कं नरं धिक् ।

अर्थ : इस संसारमें मनुष्य कुत्तेकी तरह दूसरेका झूठन और वैसे ही परस्त्रीके सेवनकी चेष्टा करता है। दरवाजे-दरवाजे भटकनेवाले, उस रंक, भ्रष्टाचारी पुरुषको भी धिक्कार है ।। १३१ ।।

अन्वय : किम् उद्यं (यत्) गुह्यलम्पटः अपरदारदृक् अपथः (सन्) मातुः च स्वसुः दुहितुः अपि उपरि सञ्चरति ।

गणिकाऽऽपणिका किलैनसां मणिका चत्वरगेव सर्वसात् ।
कणिकाऽपि न शर्मणस्तनोर्झणिकाऽस्यां प्रणयो नयोज्झितः ॥ १३३ ॥

गणिकेति । गणिका वेश्या अखिलानामेनसां पापानामापणिका विक्रयस्थानम्, तथा चत्वरगा चत्वरे स्थिता मणिका जलपात्रमिव सर्वसात् सकलजनाधीना भवति । किञ्च शर्मणः कल्याणस्य कणिकाऽपि लेशमात्रमपि न । पुनस्तनोः झणिका शरीरस्य शोषिकाऽस्ति, अतोऽस्यां प्रणयो नयेन उज्झितो नीतिरहितोऽस्ति ॥ १३३ ॥

घ्नन्ति हन्त मृगयाप्रसङ्गिनः कौतुकात् किल निरागसोऽङ्गिनः ।
अन्तकान्तिकसमात्तशिक्षिणस्तान् धिगस्तु सुत विश्ववैरिणः ॥ १३४ ॥

घ्नन्तीति । हे सुत, मृगयाऽऽखेटस्तत्र प्रसङ्गो येषां ते व्याधकर्मकारिणो ये जनाः कौतुकाद् विनोदवशात् किल निरागसो निरपराधान् अङ्गिनो जीवान् घ्नन्ति विनाशयन्ति, तेऽन्तकस्य यमस्यान्तिके समात्ता शिक्षा यैस्ते वैवस्वतार्पितदण्डभाजो भवन्ति । हन्तेति खेदे । अतो विश्वस्य प्राणिवर्गस्य वैरिणः शत्रून् तान् धिक् ॥ १३४ ॥

प्राणादपीष्टं जगतां तु वित्तं हर्तुर्व्यपायि स्वयमेव चित्तम् ।
स्वनिर्मितं गर्तमिवाशु मर्तुं चौर्यं तदिच्छेत् किल कोऽत्र कर्तुम् ॥ १३५ ॥

अर्थ : अधिक क्या कहें, गुप्तरूपसे विषयलोलुप और परायी स्त्रियोंको घूरनेवाला मनुष्य माता, बहन और पुत्रीतक भी गमन करता है ॥ १३२ ॥

अन्वय : गणिका अखिलैनसां आपणिका, चत्वरगा मणिका इव सर्वसात् । शर्मणः कणिका अपि न, (किन्तु) तनोः झणिका । अतः अस्या प्रणयः नयोज्झितः ।

अर्थ : वेश्या मानो सम्पूर्ण पापोंका हाट है, चौराहेपर रखी जलकी मटकी-के समान सभीके लिए भोग्या है । उसके उपभोगमें कल्याणका लेशमात्र नहीं होता । किन्तु इसके विपरीत वह शरीरकी शोषक है, अनेक प्रकारके उपदंश आदि रोग होकर शरीरका नाश करती है । अतः उसके साथ प्रणय सर्वथा अनैतिक है ॥ १३३ ॥

अन्वय : हे सुत ! हन्त मृगयाप्रसङ्गिनः कौतुकात् किल निरागसः अङ्गिनः घ्नन्ति । (ते) अन्तकान्तिकसमात्तशिक्षिणः । विश्ववैरिणः तान् धिग् अस्तु ।

अर्थ : हे वत्स ! खेदकी बात है कि जो लोग शिकार खेलते हैं, वे विनोदवश निरपराध प्राणियोंका संहार करते हैं । वे यमराजके निकट कठोर दण्डके भागी बनते हैं । प्राणिमात्रके शत्रु उन लोगोंको धिक्कार है ॥ १३४ ॥

प्राणादपीति । जगतां प्राणिनां प्राणादपीष्टमधिकं श्रेष्ठं वित्तं भवति । तु पादपूरणे । तद्धर्तुश्चौरस्य चित्तं स्वयमेव व्यपायि विशेषेण अपाययुक्तं भवति । तदाशु शीघ्रं मर्तुं स्वनिर्मितगर्तमिव चौर्यं कर्तुमत्र क इच्छेत् किल, न कोऽपीच्छेदित्याशयः ॥ १३५ ॥

आर्यकार्यमपवर्गवर्त्मनः　कारणं　त्विदमुदारदर्शन ।
स्वैरिता पुनरनार्यलक्षणं नो यदर्थमिह किञ्च शिक्षणम् ॥ १३६ ॥

आर्यकार्यमिति । हे उदारदर्शन हे प्रशस्तज्ञानिन्, इदमपवर्गवर्त्मनो मोक्षमार्गस्य कारणं हेतुरूपमार्यञ्च तत्कार्यं श्रेष्ठकर्म, मया वर्णितमिति शेषः । स्वैरिणो भावः स्वैरिता स्वेच्छाचारः पुनरनार्यस्य नीचस्य लक्षणमस्ति, यदर्थमिह किमपि शिक्षणं नो नास्तीत्यर्थः ॥ १३६ ॥

नयवर्त्मेदं　निर्णयवेदं　प्राप्तुमखेदं　स्पष्टनिवेदम् ।
सुमतिसुधादं विगतविषादं शमितविवादं जयतु सुनादम् ॥ १३७ ॥

नयवर्त्मेति । इदं नयवर्त्म नीतिमार्गो वर्तते, यदखेदं खेदवर्जितं निर्णयवेदं प्रमाणभूतज्ञानं प्राप्तुं लब्धुं स्पष्टनिवेदमसंदिग्धकथनकरम् । सुमतिरेव सुधाऽमृतं तां ददातीति तत् विगतविषादं विषादरहितम्, शमितविवादं विसंवादरहितम् सुनादं शोभनध्वनियुक्तं जयतु ॥ १३७ ॥

अन्वय : वित्तं तु जगतां प्राणाद् अपि इष्टम् । तत् हर्तुः चित्तं स्वयम् एव व्यपायि । तत् आशु मर्तुं स्वनिर्मितं गर्तम् इव चौर्यं कर्तुं कः अत्र इच्छेत् किल ।

अर्थ : धन तो संसारभरके प्राणियोंको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है । उसका अपहरण करनेवालेका चित्त स्वयं ही भयभीत हुआ करता है । अपनी शीघ्र मृत्युके लिए अपने हाथों खोदे गये गड्ढेके समान इस चौर्य-कर्मको कौन समझदार करना चाहेगा ? ॥ १३५ ॥

अन्वय : हे उदारदर्शन अपवर्गवर्त्मनः कारणम् इदम् आर्यकार्यं (मया वर्णितम्) । स्वैरिता पुनः अनार्यलक्षणं यदर्थम् इह नो किं च शिक्षणम् ।

अर्थ : हे प्रशस्तज्ञानी! परम्परया अपवर्ग या मोक्षपथका कारण, आर्यजनोंद्वारा अनुष्ठीयमान यह श्रेष्ठ कर्म मैंने तुम्हें बताया । इसके अतिरिक्त जो अपनी मनमानी करता है, वह तो अनार्य-पुरुषका लक्षण है । उसके लिए यहाँ कुछ भी शिक्षणीय नहीं है ॥ १३६ ॥

अन्वय : इदं नयवर्त्म (यत्) अखेदं निर्णयवेदं प्राप्तुं स्पष्टनिवेदम् सुमतिसुधादं विगतविषादं शमितविवादं सुनादं तत् जयतु ।

इत्यवाप्य परिषेकमेकतो गात्रमङ्कुरितमस्य भूभृतः ।
नम्रतामुपजगाम सच्छिरस्तावता फलभरेण वोद्धुरम् ॥ १३८ ॥

इत्यवाप्येति । इति परिषेकमिव उपदेशतः प्राप्य एकतोऽस्य भूभृतो जयस्य गात्रं शरीरमङ्कुरितं, तावता तत्कालमेव फलभरेण फलानां समूहेन वोद्धुरं विशिष्टं सच्छिरो नम्रतामुपजगाम ॥ १३८ ॥

सन्निपीय वचनामृतं गुरोः सन्निधाय हृदि पूततत्पदे ।
प्राप्य शासनमगादगारिराडात्मदौस्थ्यमयमीरयँस्तराम् ॥ १३९ ॥

सन्निपीयेति । गुरोर्वचनामृतं सन्निपीय हृदि हृदये पूते पवित्रे तस्य गुरोः पदे चरणे सन्निधाय धृत्वाऽयं प्रकरणप्राप्तो जयकुमारो योऽगारिराड् गृहस्थशिरोमणिः गुरोः शासनं प्राप्य आत्मनः स्वस्य दौस्थ्यमारम्भपरिग्रहवत्त्वमीरयंस्तरामतिशयेन मुहुर्मुहुः कथयन् जगाम, निजगृहमिति शेषः ॥ १३९ ॥

स सर्पिणीं वीक्ष्य सहश्रुतश्रुतामथैकदाऽन्येन बताहिना रताम् ।
प्रतर्जयामास करस्थकञ्जतः सहेत विद्वानपदे कुतो रतम् ॥ १४० ॥

अर्थ : यह जो मैंने नीतिमार्ग बतलाया है, वह खेदसे रहित, प्रमाणभूत ज्ञान प्राप्त करनेके लिए असन्दिग्ध कथन है। सद्बुद्धिरूपी सुधाको देता और विषादको मिटाता है। यह विसंवादको हटाता है। शोभन ध्वनियुक्त इस कथनका जयजयकार हो ॥ १३७ ॥

अन्वय : इति परिषेकम् अवाप्य एकतः अस्य भूभृतः गात्रं अङ्कुरितम्। तावता फलभरेण वोद्धुरं सच्छिरः नम्रताम् उपजगाम।

अर्थ : इस प्रकार उपदेशरूपी जलसे सिंचित होकर उस राजा जयकुमारका शरीर अंकुरित हो गया अर्थात् हर्षसे उसके शरीरमें रोमांच हो उठे। तभी फलभारसे बोझिल उसका सिर भी गुरुचरणोंमें झुक गया ॥ १३८ ॥

अन्वय : अयम् अगारिराट् गुरोः वचनामृतं सन्निपीय हृदि पूततत्पदे सन्निधाय च शासनं प्राप्य आत्मदौस्थ्यम् ईरयंस्तराम् अगात्।

अर्थ : इसके बाद गृहस्थोंका शिरोमणि राजा जयकुमार गुरुदेवके वचनामृतका पानकर हृदयमें गुरुदेवके पवित्र चरणोंको प्रतिष्ठित करता हुआ उनकी आज्ञा लेकर गृहस्थ-जीवनमें आनेवाली कठिनाइयोंको भलीभाँति विचारता हुआ अपने घरकी ओर लौटा ॥ १३९ ॥

स सर्पिणीमिति । अथैकदा स जयकुमारः सहश्रुतं श्रुतं यया सा ताम्, स्वेन सहाऽऽकर्णितधर्मोपदेशां सर्पिणीं, बतेति खेदे, अन्येन भिन्नजातीयेन अहिना सर्पेण सह रतां क्रीडयन्तीं वीक्ष्य करस्थं यत्कञ्जं तेन प्रतर्जयामास, भीषयामास । यतो विद्वान् अपदे अयोग्यस्थाने रतं कुतः कस्मात् सहेत ? ॥ १४० ॥

गतानुगत्याऽन्यजनैरथाहता मृता च साऽकामुकनिर्जरावृता ।
गतेर्ष्यया नाथचरामराङ्गना भवं बभाणोक्तमुदन्तमुन्मनाः ॥ १४१ ॥

गतानुगत्येति । अथ गतं पूर्वजननमनु पश्चाद् गतिस्तया अन्यजनैः जयकुमारसहगामिभिराहता प्रस्तरादिना ताडिता च मृता सती सा अकामुकनिर्जरया शान्तिपूर्वककष्टसहनहेतुना आवृताऽलङ्कृता नाथचरस्य अमरस्य अङ्गना भवदेवीरूपपर्यायं गता प्राप्ता तत्र पुनरुन्मना विषण्णचित्ता सति ईर्ष्यया जयकुमारस्य उपरि विद्वेषेण उक्तमुदन्तं वृत्तान्तं बभाण उवाच ॥ १४१ ॥

स च विमूढमना निजकामिनीकथनमात्रकविश्वसितान्तरः ।
नहि परापरमत्र विचारयन् तमनुमन्तुमवाप्य चचाल सः ॥ १४२ ॥

अन्वय : अथ एकदा सः सहश्रुतश्रुतां सर्पिणीं बत अन्येन अहिना सह रतां वीक्ष्य करस्थकञ्जतः प्रतर्जयामास । यतः विद्वान् अपदे रतं कुत सहेत ।

अर्थ : फिर किसी समय उस जयकुमार राजाने एक सर्पिणीको, जिसने उसीके साथ धर्मश्रवण किया था, किसी अन्य जातिके सर्पके साथ रति-क्रीड़ा करती देखकर हाथमें स्थित क्रीड़ा-कमलसे उसे डराया। ठीक ही है, विद्वान् पुरुष अयोग्य स्थानमें की जानेवाले रति-क्रीडा कैसे सहन कर सकता है ? ॥ १४० ॥

अन्वय : अथ गतानुगत्या अन्यजनैः आहताः च मृता सा अकामुकनिर्जरावृता नाथचरामराङ्गनाभवं गता । ईर्ष्यया उन्मनाः सती उक्तम् उदन्तं बभाण ।

अर्थ : जब जयकुमारने उसकी कमलसे तर्जना की तो उसके अनुगामी अन्य लोगोंने भी उसे कंकड़-पत्थरोंसे आहत कर डाला। अन्तमें वह अकामनिर्जरापूर्वक मरी। इसलिए वह अपने पतिके पास देवांगना बनकर पहुँच गयी। वहाँ पुनः एकबार अनमनी-सी हो जयकुमारके प्रति ईर्ष्या रखती हुई उस सर्पिणीने पतिदेवको अपना उपर्युक्त सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १४१ ॥

अन्वय : सः विमूढमनाः निजकामिनीकथनमात्रकविश्वसितान्तरः अत्र परापरं नहि विचारयन् तम् अनुमन्तुं अवाप्य चचाल ।

स चेति । विमूढं मनो यस्य स जडान्तःकरणः निजकामिन्याः कथनमात्रेण विश्वसितमन्तरं चित्तं यस्य सः जातविश्वासः सर्पचरोऽमरस्तमनुमन्तुम् अपराधमवाप्य प्राप्य परापरं पूर्वापरमविचार्य जयकुमारं प्रति क्रोधं कृत्वा चचाल ॥ १४२ ॥

अभूद् दारासारेऽखिलमपि वृत्तं त्वनुवदन्
समालीनः सम्यक् सपदि जनतानन्दजनकः ।
तदेतच्छ्रुत्वाऽसौ विघटितमनोमोहमचिरात्
सुरश्चिन्तां चक्रे मनसि कुलटाया कुटिलताम् ॥ १४३ ॥

अभूदिति । इतः सपदि शीघ्रं जनताया लोकसमूहस्य आनन्दं जनयतीत्यानन्दजनकः सम्मदकरः स जयकुमारः, दाराणां स्त्रीणामासारे समूहे समासीन उपविष्टोऽखिलमपि वृत्तमुदन्तं सम्यगनुवदन्नभूत् । तदेतच्छ्रुत्वाऽसौ सुरोऽचिरात् तत्कालमेव विघटितः प्रणष्टो मनसो मोहोऽज्ञानान्धकारो यस्मिन् यथा स्यात्तथा मनसि कुलटायाः स्वैरिण्याः कुटिलतां वक्रतां चिन्ताञ्चक्रेऽचिन्तयत् ॥ १४३ ॥

दोषा योषास्यतः सद्यः प्रभवन्ति मृषादयः ।
युक्तमुक्तमिदं वृद्धैर्वरं दोषाकरादपि ॥ १४४ ॥

अर्थ : वह मूढबुद्धि अपनी देवीके कहने मात्रपर ही विश्वासकर आगे-पीछेका कुछ भी विचार न करते हुए क्रुद्ध हो जयकुमारपर आक्रमण करनेके लिए चल पड़ा ॥ १४२ ॥

अन्वय : सपदि जनतानन्दजनकः दारासारेषु सम्यक् समासीनः सः अखिलम् अपि वृत्तं तु अनुवदन् अभूत् । तदेतत् श्रुत्वा असौ सुरः अचिरात् विघटितमनोमोहं मनसि कुलटायाः कुटिलतां चिन्तां चक्रे ।

अर्थ : सारी जनताको शीघ्र आनन्द देनेवाला, अपनी रानियोंके बीच प्रसन्नतासे बैठा जयकुमार उपर्युक्त सही-सही वृत्तान्त जैसे-का-तैसा उन्हें सुना रहा था। उस वृत्तान्तको सुनकर उस देवरूपधारी सर्पका सारा अज्ञान शीघ्र दूर हो गया और वह अपने मनमें अपनी कुलटा स्त्रीको कुटिलतापर सोच-विचार करने लगा ॥ १४३ ॥

अन्वय : योषास्यतः मृषादयः दोषाः सद्यः प्रभवन्ति । अतः वृद्धैः इदं युक्तम् उक्तं (यत् एतत्) दोषाकरात् अपि वरम् ।

दोषा इति । मृषानद्योऽलीकभाषणप्रमुखा दोषा दोषाया आस्यतः स्त्रीमुखात् सद्यः शीघ्रं प्रभवन्ति जायन्ते । अतो वृद्धैः कविभिर्यदुक्तं स्त्रीणां मुखं दोषाकरात् चन्द्रादपि वरं तदिदं युक्तमेव । यतस्तत् किल दोषाणामृषावादादीनामाकरः खनिरुत्पत्तिस्थानम् । अतस्तस्मादपि वरमिति अव्यच्छलमाश्रित्योक्तिः ॥ १४४ ॥

मृषासाहसमूर्खत्वलौल्यकौटिल्यकादिकान् ।
सर्वानवगुणाँल्लातीत्यबला प्रणिगद्यते ॥ १४५ ॥

मृषेति । यतः स्त्री, मृषा मिथ्योक्तिः, साहसमविचारकारित्वम्, मूर्खत्वं जडता, लौल्यं चापल्यं, कौटिल्यकं वक्रस्वभावियेषां ते तान् सर्वान् अवगुणान् लाति गृह्णातीत्यबला प्रणिगद्यते ॥ १४५ ॥

अन्तर्विषमया नार्यो बहिरेव मनोहराः ।
परं गुञ्जा इवाभान्ति तुलाकोटिप्रयोजनाः ॥ १४६ ॥

अन्तरिति । नार्यः स्त्रियोऽन्तरभ्यन्तरे विषमयाः केवलं बहिरेव मनोहरा यथा गुञ्जाः, ताः केवलं तुलाकोटिप्रयोजनास्तुला तराजूरिति भाषायां तस्याः कोटिरग्रभाग एव प्रयोजनं यासां ताः स्वर्णादिप्रमाणार्थं तुलायां स्थाप्यन्ते । स्त्रीपक्षे, तुलाकोटिर्नूपुरं तद्धारणं प्रयोजनं यासां ताः ॥ १४६ ॥

अर्थ : स्त्रीके मुखसे झूठ बोलना आदि दोष तत्काल हुआ करते हैं। इसीलिए प्राचीन कवियोंने ठीक ही कहा है कि स्त्रीका मुख दोषाकर (चन्द्रमा) से भी श्रेष्ठ है ॥ १४४ ॥

अन्वय : इयं मृषा साहसमूर्खत्वलौल्यकौटिल्यकादिकान् सर्वान् अवगुणान् लाति इति अबला प्रणिगद्यते ।

अर्थ : स्त्री झूठ बोलना, दुस्साहस करना, मूर्खता, चंचलता और कुटिलता आदि जितने भी अवगुण हैं, उन सभीको ग्रहण किया करती है। इसीलिए इसे 'अबला' कहा है ॥ १४५ ॥

अन्वय : नार्यः बहिः एव मनोहराः, किन्तु अन्तः विषमयाः गुञ्जा इव परं तुलाकोटि-प्रयोजनाः आभान्ति ।

अर्थ : स्त्रियाँ बाहरसे ही मनोहर दिखाई देती हैं। किन्तु भीतरसे तो विषसे ही भरी होती हैं। वे गुंजाकी तरह यानी तौलनेके काम आती हैं। यहाँ

प्रियोऽप्रियोऽथवा स्त्रीणां कश्चनापि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवारण्येऽभिसरन्ति नवं नवम् ॥ १४७ ॥

प्रिय इति । स्त्रीणां प्रियः स्निग्धो, अप्रियोऽस्निग्धो वा कश्चनापि पुरुषो न विद्यते । गावो यथाऽरण्ये नवं नवं तृणमभिसरन्ति तथा स्त्रियोऽपि नवं पुरुषमिच्छन्ति ॥ १४७ ॥

न सौन्दर्ये न चौदार्ये श्रद्धा स्त्रीणां चलात्मनाम् ।
रमन्ते रमणं मुक्त्वा कुब्जान्धजडवामनैः ॥ १४८ ॥

न सौन्दर्यं इति । चलश्चपल आत्मा यासां तासां स्त्रीणां सौन्दर्ये रामणीयके, औदार्ये, उदारभावे श्रद्धा न भवतीति शेषः । ताः स्वकीयं रमणं कान्तं मुक्त्वा कुब्जान्धजडवामनैः सह रमन्ते ॥ १४८ ॥

अनल्पतूलतल्पस्थं स्त्रियस्त्यक्त्वाऽनुकूलकम् ।
रमन्ते प्राङ्गणेऽन्येनाहो विचित्राऽभिसन्धिता ॥ १४९ ॥

अनल्पेति । स्त्रियोऽनल्पं तूलं यस्मिन् तादृशं यत्तल्पं शयनं तत्र स्थितमनुकूलकं स्वाभीष्टं पतिं त्यक्त्वा अन्येन इतरेण पुरुषेण सह प्राङ्गणेऽनाच्छादिते स्थलेऽपि रमन्ते, इयं विचित्राऽभिसन्धिता वञ्चकतेत्यहो आश्चर्यम् ॥ १४९ ॥

स्त्रीपक्षमें तुलाकोटिका अर्थ है नूपुर, उसका धारण है प्रयोजन जिसका, यह अर्थ है ॥ १४६ ॥

अन्वय : स्त्रीणां प्रियः अथवा अप्रियः अपि कश्चन न विद्यते । (ताः) अरण्ये गावः तृणम् इव नवं नवम् अभिसरन्ति ।

अर्थ : स्त्रियोंके लिए न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय । वे वनोंमें नयी-नयी घास चरनेवाली गायोंकी तरह नवीन-नवीन पुरुषोंकी ओर अभिसरण किया करती हैं ॥ १४७ ॥

अन्वय : चलात्मनां स्त्रीणां न सौन्दर्ये श्रद्धा, न च औदार्ये । (ताः) रमणं मुक्त्वा कुब्जान्धजडवामनैः सह रमन्ते ।

अर्थ : चंचल चित्तवाली स्त्रियोंकी न तो सुन्दरतापर श्रद्धा रहती है और न उदारतापर । वे तो अपने मनोहर पतिको भी छोड़कर कुबड़े, अन्धे, मूर्ख और बौने पुरुषोंके साथ रमण करती हैं ॥ १४८ ॥

अन्वय : अहो स्त्रियः अनल्पतूलतल्पस्थम् अनुकूलकं त्यक्त्वा । अन्येन सह प्राङ्गणे एव रमन्ते इति एषा विचित्रा अभिसन्धिता ।

हत्वा हस्तेन भर्तारं सहाग्निं प्रविशन्त्यहो ।
वामा गतिर्हि वामानां को नामावैतु तामितः ॥ १५० ॥

हत्वेति । एताः स्त्रियः स्वहस्तेन भर्तारं हत्वा पुनः तेनैव सहाग्निं प्रविशन्त्यहो आश्चर्यम् । अतो वामानां स्त्रीणां गतिर्वामा विरुद्धा भवति, हि निश्चये । अत इतोऽस्मिंल्लोके ताम्, कः पुरुषोऽवैतु जानातु, न कोऽपीत्यर्थः ॥ १५० ॥

प्रत्ययो न पुनः कार्यः कुलीनानामपि स्त्रियाम् ।
राजप्रियाः कुमुद्वत्यो रमन्ते मधुपैः सह ॥ १५१ ॥

प्रत्यय इति । इतरासां स्त्रियां तु का वार्ता, कुलीनानां स्त्रियामपि प्रत्ययो विश्वासो न कार्यः, यतो राज्ञश्चन्द्रमसः, पक्षे भूपतेः प्रिया वल्लभाः कुमुद्वत्यः कैरविण्यो मधुपैर्भ्रमरैः, पक्षे मद्यपैः सह रमन्ते ॥ १५१ ॥

रूपवन्तमवलोक्य मानवं तत्पितृव्यमथवोदरोद्भवम् ।
योषितां तु जघनं भवेत्तथा ह्यामपात्रमिव तोयतो यथा ॥ १५२ ॥

अर्थ : आश्चर्य तो यह है कि स्त्रियाँ विपुल रूईके गद्देपर अपने अनुकूल व्यवहार करनेवाले पतिको भी छोड़कर किसी दूसरेके साथ जहाँ-कहीं, आँगनमें भी रमण करने लग जाती हैं, यह उनकी बड़ी भारी वंचकता है ॥ १४९ ॥

अन्वय : अहो (एताः) हस्तेन भर्तारं हत्वा तेन सह अग्निं प्रविशन्ति, इति वामानां वामा गतिः । कः नाम ताम् इतः अवैतु ।

अर्थ : आश्चर्य है कि ये स्त्रियाँ अपने भर्ताको अपने हाथों मार डालती और फिर उसीके साथ अग्निमें सती होने जाती हैं । निश्चय ही वामाओं यानी स्त्रियोंकी चेष्टाएँ वामा यानी विपरीत, परस्पर विरुद्ध होती हैं । इस संसारमें कौन पुरुष उनका रहस्य जान सकता है ॥ १५० ॥

अन्वय : पुनः कुलीनानाम् अपि स्त्रियां प्रत्ययः न कार्यः । राजप्रिया कुमुद्वत्यः मधुपैः सह रमन्ते ।

अर्थ : फिर और स्त्रियोंकी बात ही क्या, कुलीन स्त्रियोंका भी विश्वास नहीं करना चाहिए । देखिये, राजा चन्द्रमाकी प्यारी कुमुदिनियाँ भी भौरोंके साथ रमण किया करती हैं । यहाँ किन्हीं राजरानियोंके मनचलोंके साथ रमण व्यवहारका चन्द्र-कुमुदिनीपर आरोप कविका तात्पर्य-विषय है ॥ १५१ ॥

रूपवन्तमिति । रूपमस्यास्तीति रूपवान्, तं सुन्दराकृतिं मानवं पुरुषं, तस्याः पितुर्भ्राता पितृव्यस्तमथवा उदराद्दुद्भवतीत्युदरोद्भवं स्वतनयं सुरूपमवलोक्य योषितां स्त्रीणां जघनमूलस्थलं तथा भवेत् तथा चञ्चलं स्यात् तदुपभोक्तुमित्यर्थः । यथा तोयतः सलिलेन आमपात्रमपक्वमृण्मयभाजनं विगलितं भवति, भिद्यत इति यावत् ॥ १५२ ॥

अनङ्कुरितकूर्चकं ससितदुग्धमुग्धस्तवं
भुनक्त्यपि सकूर्चकं लवणभावभृत्तक्रवत् ।
न लोकयति फाण्टवद्धवलकूर्चकं वाञ्छती-
त्यहो पुरुषमेककं क्षितितले त्रिधा साञ्चति ॥ १५३ ॥

अनङ्कुरितेति । सा स्त्री क्षितितले पृथिव्याम् अनङ्कुरितकूर्चकमश्मश्रुमन्तं किशोरवयसं पुरुषं, सितया सहितं ससितञ्च तद्दुग्धं ससितदुग्धमिव स्तवः स्तुतिः प्रशंसा वा यस्य स तं प्रीतिपूर्वकं भुनक्ति । कूर्चकेन सहितं सकूर्चकं तमेव लवणभावं बिभर्तीति लवणभावभृच्च तत्तक्रं तद्वदरुचितो भुनक्ति । किन्तु धवलकूर्चकं वृद्धावस्थापन्नं तमेव फाण्टवद् विकृततक्रवत् न लोकयति न च भोक्तुं वाञ्छति । इत्यमेककमेकमेव पुरुषं त्रिधा-ऽञ्चति स्वीकरोति, अहो इत्याश्चर्यं ॥ १५३ ॥

अन्वय : रूपवन्तं मानवं तत्पितृव्यम् अथवा उदरोद्भवं वा अवलोक्य योषितां जघनं तथा उच्चलेत् यथा इह तोयतः आमपात्रम् ।

अर्थ : मनुष्य रूपवान् होना चाहिए, फिर चाहे वह उनका चचा या पुत्र ही क्यों न हो, उसे देखकर स्त्रियोंका मन उपभोगार्थ उस तरह चंचल (द्रवित) हो उठता है, जिस तरह जलद्वारा कच्चा मिट्टीका बर्तन ॥ १५२ ॥

अन्वय : सा अनङ्कुरितकूर्चकं सितदुग्धमुग्धस्तवं भुनक्ति । अपि च सकूर्चकं लवणभावभृत्तक्रवत् भुनक्ति । किन्तु धवलकूर्चकं फाण्टवत् द्रष्टुम् अपि न वाञ्छति । इति एककम् पुरुषं त्रिधा अञ्चति अहो ।

अर्थ : स्त्रियोंका स्वभाव ऐसा होता है कि वे सोलह वर्षके युवा पुरुषको जिसे दाढ़ी-मूँछ भी न आयी हो, देख मिश्री-मिले दूध-सा भोगती हैं । दाढ़ी-मूँछ आ जानेपर उसीका खट्टी छाछकी तरह अरुचिभावसे सेवन करती हैं । किन्तु सफेद दाढ़ी-बाल हो जानेपर तो उसे फटी छाछकी तरह देखना भी नहीं चाहतीं । आश्चर्य है कि इस तरह वे एक ही पुरुषको तीन प्रकारोंसे देखा करती हैं ॥ १५३ ॥

मुकुरार्पितमुखवद् यदन्तरङ्गस्य हि तत्त्वं
शिखरिवराङ्कितगूढमार्गसदृशं विषमत्वम् ।
गगनोदितनगरप्रकल्पमिह यासु महत्त्वं
प्रत्ययमत्ययकरं विद्धि यदि विद्धि नर त्वम् ॥ १५४ ॥

मुकुरार्पितेति । हे नर, यासामन्तरङ्गस्य मनसस्तत्त्वं स्वरूपं मुकुरे दर्पणेऽर्पितं यन्मुखं तद्वदत्यन्तगुप्तं भवति । शिखरिवरे पर्वतराजेऽङ्कितः प्रकल्पितो गूढो यो मार्गस्तत्सदृशं यासु विषमत्वं वक्रत्वं भवति । किन्तु यासु महत्त्वं तु गगनोदितनगरप्रकल्पम् आकाशे प्रकटितपुरवन्निस्सारं व्यर्थं भवति । अतो यदि त्वं विद् विद्वानसि तदा हीति निश्चयेन तासु प्रत्ययं विश्वासमत्ययकरं हानिकरं विद्धि जानीहि ॥ १५४ ॥

स्मितरुचिताधरदलमनल्पशो जल्पन्ती मनुजेन केनचित्
तरलितनयनोपान्तवीक्षणैः श्रणति क्षणमपरत्र च क्वचित् ।
अनुसन्धत्ते धिया हि या पुनरपरं रूपबलोपहारिणं
विदितमिदं युवतिर्न भूतले या बिभर्ति परमेकताकिणम् ॥ १५५ ॥

स्मितेति । स्त्री स्मितेन मन्दहास्येन रुचिरं मनोहरमधरदलं रदच्छदं यत्र तद्यथा स्यात्तथा, अनल्पशो वारं वारं केनचिदेकेन मनुजेन सह जल्पन्ती भाषमाणा तरलितयो-

---

अन्वय : यदि हे नर ! त्वं हि वित् तदा तासां प्रत्ययम् अत्ययकरं विद्धि । यदन्तरङ्गस्य तत्त्वं मुकुरार्पितमुखवत् हि । इह शिखरिवराङ्कितगूढमार्गसदृशं यासु विषमत्वम् । (किन्तु तासु) महत्त्वं गगनोदितनगरप्रकल्पम् ।

अर्थ : हे भद्र ! यदि तुम समझदार हो तो स्त्रियोंपर विश्वास करना सदैव हानिकर मानो । क्योंकि स्त्रियोंका अन्तरका तत्त्व, रहस्य पाना दर्पणमें पड़े प्रतिबिंबकी तरह अत्यन्त गुप्त होता है । उनमें पर्वतीय मार्गोंकी तरह भारी वक्रता टेढ़ा-मेढ़ापन होता है । उनमें जो भलापन दिखाई देता है, वह गन्धर्व-नगरके समान वास्तव नहीं होता ॥ १५४ ॥

अन्वय : (स्त्री) केनचित् मनुष्येन स्मितरुचिराधरदलं तथा अनल्पशः जल्पन्ती तरलितनयनोपान्तवीक्षणैः क्वचित् अपरत्र क्षणं श्रणति । पुनः धिया या अपरं रूपबलोपहारिणम् अनुसन्धत्ते । हि इदं विदितं किल भूतले सा युवतिः (नास्ति) या परं एकताकिणं बिभर्ति ।

श्चञ्चलयोः नयनयोरुपान्तवीक्षणैः कटाक्षविक्षेपैः क्वचिदपरस्मै जनाय क्षणमुत्सवं क्षणति ददाति, या पुनर्धिया स्वमनीषयाऽपरं कञ्चिद् रूपञ्च बलञ्च तयोरुपहारो विद्यते यस्मिंस्तं रूपबलोपहारिणं, हीति निश्चयेन अनुसंधत्तेऽन्वेषयति तत एवं विदितं भवति यत्किलास्मिन् भूतले सा युवतिर्नास्ति या परं केवलमेकतायाः किणं गुणं बिभर्ति धारयति ॥ १५५ ॥

अहह पार्श्वमिते दयिते द्रुतं नतदृशाऽवनिकूर्चनतोऽद्भुतम् ।
वदति यद्यपि भावि वधुजनो न तु मनः प्रतिबुद्धयति कामिनः ॥ १५६ ॥

अहहेति । दयिते प्रिये पार्श्वं निकटमागते सति द्रुतं शीघ्रमेव नतदृशा नीचैर्दृष्ट्याऽवनेः पृथिव्याः कूर्चनतः क्षोदनतो वधूजनो यद्यपि किलाद्भुतं भाविनरकगमनरूपं वदति, तथापि कामिनो मनश्चित्तं न प्रतिबुद्धयतीत्यहह आश्चर्यम् ॥ १५६ ॥

साक्षात्कुरुते हन्त युवतिभुजपाशनिबद्धं किञ्चा-
ज्ञातिगमोहनिगडवर्तितमपि न स्वं वेत्ति विकारी ।
रङ्कः पापपवेरपभीतिर्स्तिष्ठति किमुत विचित्रं
त्रस्तिमसाववगाह्य च रतिराट् चापाल्लालितगात्रः ॥ १५७ ॥

अर्थ : स्त्री किसी युवकके साथ स्मितयुक्त सुन्दर अधरोंसे बार-बार बातचीत करती है, तो अपने नेत्र-कटाक्षोंका सौभाग्य किसी औरको ही बिखेरती है। फिर उसके मनमें तो कोई और ही रूपवान् बसा रहता है। निश्चय ही यह सुप्रसिद्ध है कि कोई ऐसी स्त्री नहीं, जो एकनिष्ठताका गुण धारण करती है, अर्थात् किसी एककी बनी रह सकती है ॥ १५५ ॥

अन्वय : अहह ! वधूजनः पार्श्वमिते दयिते नतदृशा अवनिकूर्चनतः यद्यपि भावि अद्भुतं वदति, किन्तु कामिनः मनः न प्रतिबुद्धयति ।

अर्थ : आश्चर्यकी बात है कि जब स्त्रियोंके पास उनका प्रिय आता है, तो वे नीचा मुँह करके जमीनको खुरचने लगती हैं और संकेतद्वारा यह गूढ आशय प्रकट करती हैं कि यदि हमारे प्रेममें फँसोगे तो अधोगति प्राप्त करोगे। फिर भी कामांध पुरुष जागृत नहीं होता ॥ १५६ ॥

अन्वय : असौ विकारी स्वं युवतिभुजपाशनिबद्धं साक्षात्कुरुते। किं च अज्ञातिगमोहनिगडवर्तितम् अपि स्वं न वेत्ति। रङ्कः रतिराट् चापात् लालितगात्रः त्रस्तिम् अवगाह्य च पापपवेः अपभीतिः तिष्ठति। किम् उत विचित्रम् ।

साक्षादिति । विकारी जनः स्वं युवतिपाशनिबद्धं साक्षात्कुरुते पश्यति । किञ्च, अङ्कातिगस्य शरीरवर्जितस्य मोहस्य निगडे शृङ्खलायां पतितमपि स्वं न वेत्ति न जानाति । रङ्कः सन्नपि पापपवेः अघवज्राद् अपभीतिः भयवर्जितस्तिष्ठति । रतिराजः कामस्य चापाद् धनुषो लालितं स्वीकृतं गात्रं शरीरं यस्य सोऽसौ स्पष्टतया यः अस्ति वेपथुमवगाह्य च निर्भयस्तिष्ठतीति किमुत विचित्रम् ॥ १५७ ॥

नानैवमित्यभिधाय नागः समभिगम्य महीपतिं
गजपत्तनस्य शशंस गर्हितभार्यकः श्लाघापरः ।
परमार्थवृत्तेरथ च गद्गदवाक्तया भूत्वा शुभ-
भक्तोऽधुना समगच्छतोपसम्मतिं प्राप्य रतिप्रभः ॥ १५८ ॥

नानैवमिति । इत्येवं नाना अभिधाय कथयित्वा स नागो गर्हिता भार्या येन स निन्दितस्त्रीको गजपत्तनस्य महीपतिं समभिगम्य गत्वा परमार्थवृत्तेः सत्यस्य श्लाघापरः सन् तं गजपत्तनपतिं शशंस । अथ गद्गदवाक्तया शुभभक्तो भूत्वा अथ चाधुना जयस्य उपसम्मतिं प्राप्य स रतिप्रभो नागदेवः स्वस्थानं समगच्छत ॥ १५८ ॥

(नागपतिलम्भदचक्रबन्धः) ।

अर्थ : विकारी मनुष्य स्वयंको स्त्रीके बाहुपाशोंमें बँधा देख अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता है । किन्तु दूसरी ओर वह कामदेवके मोहमाया-पाशमें बँधता जाता है, इसे नहीं जानता । कामदेवके धनुषसे लालित यह बेचारा काँपता हुआ भी पाप-वज्रसे निडर हो बना रहता है, यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥ १५७ ॥

अन्वय : रतिप्रभः नागः इति एवं नाना अभिधाय गजपत्तनस्य महीपतिं समभिगम्य गर्हितभार्यकः परमार्थवृत्तेः श्लाघापरः तं शशंस । अथ च गद्गदवाक्तया शुभभक्तः भूत्वा अधुना उपसम्मतिं प्राप्य समगच्छत ।

अर्थ : रतिप्रभ नामक सर्पदेव इस प्रकार नाना प्रकारकी उक्तियाँ कहता हुआ गजपत्तनके राजा जयकुमारके पास पहुँचा और अपनी स्त्रीकी बुराईका वर्णन करता हुआ परमार्थवृत्ति यानी सत्यकी श्लाघा कर उस राजाकी प्रशंसा करने लगा । फिर गद्गद वाणीसे उसका कल्याणकारी भक्त बन गया । पश्चात् जयकुमारकी आज्ञा पाकर वह अपने घरके लिए लौट पड़ा ।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
श्रीमत्सन्मतिसम्मतामृतरसै - र्निस्यूतहास्याङ्कुरे
सागाराचरणोक्तिकस्तदुदिते सर्गो द्वितीयो वरे ॥ २ ॥

॥ इति जयोदयमहाकाव्ये सागारमार्गवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

●

विशेष : यह श्लोक नागपति-लम्ब नामक चक्रबन्ध है ॥ १५८ ॥

द्वितीय सर्ग समाप्त

●

तृतीयः सर्गः

धर्मकर्मणि मनो नियोजयन् वित्तवर्त्मनि करौ प्रयोजयन् ।
नर्मशर्मणि शरीरमाश्रयन् स व्यभात् समयमाशु हापयन् ॥ १ ॥

धर्मकर्मणीति । सः जयकुमारो धर्मस्य कर्मणि कार्ये यज्ञानुष्ठानादौ मनश्चित्तं नियोजयन् कुर्वन्, मनसा कृतं फलवद्भवतीति सूक्तेः । वित्तस्य नाणकादेर्धनस्य वर्त्मनि उपार्जन-संरक्षण-व्ययीकरणरूपे मार्गे करौ हस्तौ प्रयोजयन्, स्वहस्तेन धनोपार्जनादेः उत्तम-पुरुषलक्षणत्वात् । नर्म हास्यविनोदादि, शर्म च स्त्रीप्रसङ्गादिरूपं सुखं, तयोः समाहार-स्तस्मिन्, शरीरं निजवपुः आश्रयन् अनत्यासक्त्या संसारसुखमनुभवन्नित्यर्थः । एवंभूत आशु समयं जीवनकालं व्यत्ययन् व्यभात् शुशुभे । परस्पराविरोधेन त्रिवर्गं सेवमानो व्यराजतेत्यर्थः । पर्यायाख्यो यथासङ्ख्यं वाऽत्र अलङ्कारः ॥ १ ॥

जिह्वया गुणिगुणेषु सञ्चरञ्चेतसा खलजनेषु संवरम् ।
निर्बलोद्धृतिपरस्तु कर्मणा स्वौक एकमभवत्तु शर्मणाम् ॥ २ ॥

जिह्वयेति । प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तमेव व्याख्याति—गुणिनां पूज्यपुरुषाणां गुणेषु शीलेषु जिह्वया रसनया कृत्वा सञ्चरन् पर्यटन्, स्वमुखेन साधुजनानां गुणान् गायन्नित्यर्थः । चेतसा मनसा खलजनेषु दुष्टमनुष्येषु संवरं निरोधं सञ्चरन् चिन्तयन्, केनोपायेन खलताया

अन्वय : सः धर्मकर्मणि मनः नियोजयन् वित्तकर्मणि करौ प्रयोजयन् नर्मशर्मणि शरीरम् आश्रयन् आशु समयं हापयन् व्यभात् ।

अर्थ : वह राजा जयकुमार धर्मकर्म यानी यज्ञानुष्ठान आदि धर्मकार्योंमें मन लगाता हुआ, अपने हाथों (पुरुषार्थके साथ) अर्थार्जन करता हुआ तथा शरीरसे (निरासक्त होकर) हास्य-विनोद और स्त्री-सहवास आदि सांसारिक सुख भोगता हुआ सहजभावसे जीवन बिता रहा था। वह परस्पर अविरोध-पूर्वक धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गका सेवन करता था, यह भाव है ॥ १ ॥

अन्वय : (सः) जिह्वया गुणिगुणेषु सञ्चरन् चेतसा खलजनेषु संवरं (सञ्चरन्) कर्मणा तु निर्बलोद्धृतिपरः शर्मणाम् एकं स्वौकः अभवत् ।

अर्थ : वह राजा जीभसे गुणियोंके गुणोंको गाता हुआ, मनसे दुष्टोंकी

निर्मूलनं भवेदिति । कर्मणा कर्तव्येन पुनर्निर्बलानाम् उद्धृतिरुद्धारस्तस्यां परस्तत्परः सन्, शर्मणां स्वस्य परेषाञ्च कल्याणानामेकमद्वितीयम् ओकः स्थानमभूत् । अत्रापि यथासङ्ख्यमलङ्कारः ॥ २ ॥

प्रातरादिपदपद्मयोर्गतः श्रीप्रजाकृतिनिरीक्षणे न्वतः ।
नक्तमात्मवनिताक्षणे रतः सर्वदैव सुखिनां स सम्मतः ॥ ३ ॥

प्रातरिति । पुनरपि भङ्ग्यन्तरेण तदेव व्याख्याति—प्रातःकाले आदिपुरुषस्य ऋषभतीर्थकरस्य पदपद्मयोः चरणकमलयोः प्रान्तं गतः, प्रातःकालस्य धर्माराधनमूलकत्वात् । अतो नु पुनः श्रीप्रजायाः चतुर्वर्णात्मिकाया जनतायाः कृतिः कर्तव्यं तस्य निरीक्षणे कः कीदृक् कार्यपरायण इत्यवलोके संलग्नः । नक्तं रात्रौ चात्मनो वनिताः स्त्रियस्तासां क्षणो विलासविभ्रमादिलक्षण उत्सवस्तस्मिन् रतो निमग्नः सन् स जयकुमारः सर्वदैव सुखिनां सम्मतोऽभूत् । उल्लेखो नामालङ्कारः ॥ ३ ॥

मत्स्यरीतिरिपुरेष धीवरः सत्समागमतया कलाधरः ।
यः समायसमयो महेन्द्रवन्नित्यमित्युचितकृच्छुभाश्रवः ॥ ४ ॥

मत्स्यरीतीति । एष जयकुमारो धीवरो बुद्धिमान् दाशो वा, मत्स्यरीतिः बलवान् अबलं ग्रसतीति, तस्या रिपुः। पक्षे मत्स्यानां रीतिर्हलनचलनादिरूपा चेष्टा, तस्या रिपुर्जले

दुष्टता दूर करने, मिटानेकी सोचता हुआ और शरीरसे निर्बलोंकी रक्षा, उद्धार करता हुआ अपने और दूसरोंके कल्याणका अद्वितीय निवासस्थान बन गया था ॥ २ ॥

अन्वय : सः प्रातः आदिपदपद्मयोः गतः, अतः नु श्रीप्रजाकृतिनिरीक्षणे (गतः) । नक्तम् आत्मवनिताक्षणे रतः सन् सर्वदा एव सुखिनां सम्मतः (अभूत्) ।

अर्थ : महाराज जयकुमार प्रातःकाल तो आदिजिनेश्वर ऋषभदेवके चरणोंकी सेवा-पूजामें लगा रहता था । उसके बाद दिनमें चारों वर्णोंकी प्रजाके कार्योंका निरीक्षण किया करता था । रात्रिमें अपनी स्त्रियोंके साथ विलासादि उत्सवमें निमग्न रहता था । इस प्रकार वह सर्वदा सुखी जनोंमें श्रेष्ठ माना जाता था ॥ ३ ॥

अन्वय : एष धीवरः मत्स्यरीतिरिपुः सत्समागमतया कलाधरः यः महेन्द्रवत् समायसमयः इति उचितकृत् नित्यं शुभाश्रवः अभूत् ।

अर्थ : वह राजा जयकुमार 'धीवर' यानी बुद्धिमान् था, इसलिए मत्स्यरीति

प्लवनाविलतया मत्स्येभ्यो भयकारकत्वात् । एव च कलाधरश्चातुर्ययुक्तः, चन्द्रश्च, सत्समागमतया सज्जनसहवासित्वेन नक्षत्रयुक्तत्वेन वा । यश्च महेन्द्रवत् इन्द्रजालिक इव समायसमयः सम्यगाय आजीवनं यस्मिन्, स चासौ समयः कालो यस्य सः । पक्षे मायया छलपूर्णया चेष्टया सहितः समायः, स समयः शास्त्रज्ञानं यस्य सः । इत्येवं कृत्वा उचितं करोतीत्युचितकृत्, शुभस्य पुण्यकर्मण एवाश्रवो वशंवदो नित्यमभूत् पापरहितोऽभूदित्यर्थः । अत्र श्लेषालङ्कारः ॥ ४ ॥

भूतले स्वयमनागसेवितः सम्बभौ सपदि नागसेवितः ।
वारिदेषु विनयाश्रयोऽपि सन् योऽत्र वारिदगणं रुषा रिषन् ॥ ५ ॥

भूतल इति । भूतले यो नागसेवितोऽपि सपदि स्वयमनागसेवितःसम्बभाविति विरोधः । तत्र नागैः सत्पुरुषैः सेवित आराधितः सन् अनागसे निरपराधजनाय अवितः संरक्षित इति परिहारः । स्वयं परप्रेरणं विनैवेत्यर्थः । वारिदगणं रुषा रिषन् वारिदेषु विनयाश्रय इति विरोधः । तत्र वारि धर्मोपदेशं ददतीति वारिदा आप्तपुरुषास्तेषु विनयाश्रयो विनम्रो भवन् यो वारिदगणं मेघडम्बरं रुषा रोषेण रिषन् संहरन् सम्बभौ शुशुभे । चक्रवर्तिनो

या मात्स्य-न्यायका दुश्मन था। उसकी बुद्धिमानीसे वहाँ बलवान् निर्बलको सता नहीं पाता था। वह 'सत्समागम' यानी सज्जनोंका सहवासी होनेसे 'कलाधर' अर्थात् परम चतुर था। 'महेन्द्र' यानी जादूगरकी तरह उसके राज्यमें आजीविकाका समुचित अवसर सभीको सुलभ था। इस तरह उचित कर्तव्य-कर्म करता हुआ वह नित्य शुभकर्मोंके ही अधीन था। उसके हाथों कभी पापकर्म नहीं होते थे।

विशेष : यहाँ 'धीवर' का अर्थ मछुवा भी होता है, वह मत्स्य यानी मछलियोंकी रीति या हलचलका दुश्मन होता ही है, उन्हें मारता है। 'कलाधर' का अर्थ चन्द्र भी होता है जो 'सत्' यानी नक्षत्रोंसे युक्त होता है। 'महेन्द्र' यानी जादूगर 'समाय-समय' अर्थात् मायायुक्त (छलपूर्ण) चेष्टाके शास्त्र (जादूगरी) को जानता ही है ॥ ४ ॥

अन्वय : अत्र भूतले यः सपदि नागसेवितः अपि स्वयम् अनागसेवितः (च) वारिदेषु विनयाश्रयः अपि वारिदगणं रुषा रिषन् संबभौ ।

अर्थ : इस भूतलपर जो हर समय सत्पुरुषोंसे सेवित होकर भी स्वयं निरपराध लोगोंकी रक्षा हुआ शोभित हो रहा था। इसी तरह धर्मोपदेशक

दिग्विजयकाले म्लेच्छखण्डप्रवेशावसरे म्लेच्छकुलदेवताभिः कृतं मेघडम्बरं संहृतवान् जयकुमार इति विरोधपरिहारः । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ५ ॥

बन्धुबन्धुरमनो विनोदयन् दीनहीनजनमुन्नयन्नम् ।
वै रिषन् रसिति वैरिसंग्रहमव्यथेऽकथि पथि स्थितोऽन्वहम् ॥ ६ ॥

बन्धुबन्धुरिति । बन्धूनां कुटुम्बिनां बन्धुरमुन्नतावनतं मनोभिस्तं विनोदयन् प्रसादयन् तथा दीनहीनजनं दीनानां निःस्वानां हीनानामपाङ्गानाञ्च जनं समूहम् उन्नयन्नुन्नतिं प्रापयन्, वैरिसंग्रहं शत्रुसमूहं रसिति शीघ्रं रिषन् मारयन् सन् वै निश्चयेन, अन्वहं नित्यमेव अयं जयकुमारोऽव्यथे व्यथारहिते पथि मार्गे कष्टवर्जिते नीतिवर्त्मनि स्थितोऽकथि कथाश्रयः कृतो वृद्धैरिति शेषः ॥ ६ ॥

राजतत्त्वविशदस्य या स्वतः क्षीरनीरसुविवेचनावतः ।
साथ मानसमयं स्म रक्षति संस्तवं सुखगतात पक्षतिः ॥ ७ ॥

राजतत्त्वेति । स्वतः स्वभावेनैव राजतत्त्वेन राजसभावेन विशदस्य प्रख्यातस्य । पक्षे रजतस्य दुर्वर्णस्येदं राजतं वस्तु, तस्य भावस्तत्त्वं तेन । विशदस्य निर्मलस्य । क्षीरनीरशब्दाभ्यामत्र गुणदोषौ गृह्येते, तयोः सुविवेचना विचारकारिता तद्वतः । पक्षे क्षीरनीरयो-

---

आप्तपुरुषोंके प्रति विनय रखनेवाला होकर भी गर्विष्ठ म्लेच्छोंके कुलदेवोंद्वारा छाये जानेवाले मेघाडम्बरको संहार करता हुआ शोभित हो रहा था ।

विशेष : इस श्लोकके शब्दोंमें आपाततः परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है, जो विरोधाभास अलंकार है । अर्थात् नागसेवित अनागसेवित कैसे और वारिद-विनयाश्रय वारिदगणका संहारक कैसे हो सकता है ? ॥ ५ ॥

अन्वय : अयं बन्धुबन्धुरमनः विनोदयन् दीनहीनजनं उन्नयन् रसिति वैरिसङ्ग्रहं रिषन् वै अन्वहं अव्यथे पथि स्थितः अकथि ।

अर्थ : यह राजा कुटुम्बियोंकी उन्नतिमें मन लगाता हुआ, दीन-हीन जनोंका उद्धार करता हुआ और शीघ्र ही शत्रुओंका नाश करता हुआ सदा निर्दोष मार्गपर स्थित था, ऐसा वृद्धजनोंने वर्णन किया है ॥ ६ ॥

अन्वय : अथ स्वतः क्षीरनीरसुविवेचनावतः राजतत्त्वविशदस्य या सुखगतायपक्षतिः सा मानसमयं संस्तवं रक्षति स्म ।

अर्थ : जैसे 'सुखगतायपक्षतिः' यानी सुन्दर खगताप्राप्तिके साधन पंखका मूल राजहंसकी मानससरोवरकी घनिष्ठताकी रक्षा किया करता है, उन्हीं

दुग्धजलयोः सुविवेचना पृथक्करणं तद्वतः, राजहंसस्येव तस्य भूपतेः सुखागतायपक्षतिः सुखेन गतं गमनं जीवननिर्वहणं तस्मै पक्षतिः सभा सा, मानस्य पदप्रतिष्ठानस्य समयः सङ्केतो यस्मिंस्तं संस्तवं रक्षति स्म। हंसपक्षे शोभना खगता पक्षिभावः सुखगता, तस्या आय आगमनं सम्प्राप्तिर्यस्य स सुखगतायस्तस्य पक्षतिर्नभसि उड्डयनसाधनं नाम सा, मानसमयं मानसाख्यसरोवररूपं संस्तवं रक्षति स्म। श्लेषोपमालङ्कारः ॥ ७ ॥

ह्रासमेति जडताप्रतिष्ठितिः किन्तु यत्र बहुधाऽन्यनिष्ठितिः।
श्रीशरत्समनुयायिनीत्यभाद् राजहंसपरिवारिणी सभा ॥ ८ ॥

ह्रासमिति। या सभा श्रीशरत्समनुयायिनी शरदृतोरनुकरणशीला अभाच्छुशुभे। तद्यथा—यत्र जडताया मूर्खभावस्य, पक्षे जलबाहुल्यस्य प्रतिष्ठितिः स्थापना, ह्रासमेति प्रणश्यति, किन्तु यत्र बहुधाऽन्येषां सर्वसाधारणानां तिष्ठतिरुपस्थितिः। पक्षे बहुधान्यानां व्रीह्यादीनां निष्ठितिः खलेषु भवति। राजहंसा भूपवरास्तेषां परिवारोऽस्यामस्तीति सा, शरच्च राजहंसपरिवृता भवति। अथवा राजहंसैः परिगतं वारि नयति धारयतीति राजहंसपरिवारिणीति बोध्यम्। पूर्वोक्त एवालङ्कारः ॥ ८ ॥

पंखमूलोंके बदौलत गगनमें उड़कर वह मानसविहारकी अपनी प्रसिद्धि बनाये रखता है, वैसे ही महाराज जयकुमारकी 'सुखागतायपक्षतिः' अर्थात् सुखसे जीवन-निर्वाहके लिए संघटित शासन-परिषद् उसके सम्मानपूर्ण परिचयकी रक्षा करती थी, वह सम्मानदृष्टिसे ही परिचित हुआ करता था। जैसे राजहंस स्वभावतः दूधका दूध और पानीका पानी कर देता है, वैसे ही यह राजा भी स्वभावतः गुण और दोषका विवेक करनेवाला था। इसी तरह जैसे राजहंस चाँदीके पात्रकी तरह शुभ्र-श्वेतवर्णका होता है, वैसे ही यह राजा भी राजतत्त्व या राजनीतिका पण्डित (राजतत्त्वविशदस्य) है ॥ ७ ॥

अन्वय : तस्य सभा राजहंसपरिवारिणी श्रीशरत्समनुयायिनी अभात् यत्र जडता-प्रतिष्ठितिः ह्रासम् एति, इति बहुधान्यनिष्ठितिः भवति।

अर्थ : उस राजाकी सभा शरद्-ऋतुका अनुसरण करती हुई शोभित हो रही थी। कारण, शरद्-ऋतुमें राजहंसोंका संचार होने लगता है तो राजाकी सभामें भी अनेक प्रसिद्ध राजा बैठते थे। जैसे शरद्में जल कम हो जाता है वैसे ही राजाकी सभामें भी जड़ता या अविचारिताका अभाव था। शरद्-ऋतुमें बहुत-सा धान्य इकट्ठा होता है तो सभामें भी अधिकतर आये हुए सर्वसाधारण लोगोंकी प्रतिष्ठा होती थी ॥ ८ ॥

पल्लवैरभिनवैरथाञ्चिता सर्वतोऽपि सुमनःसमन्विता ।
या फलोदयभृदिङ्गिताश्रिता किन्न सत्कृतलता तथा मता ॥ ९ ॥

पल्लवैरिति । अथ च या सभाऽभिनवैर्नूतनैः पदांशैरञ्चिता पूजिता, यत्रा अवसरानुकूला वाक्यप्रयुक्तिरासीदित्यर्थः । तथा या सभा सर्वतोऽपि सुमनोभिः सहृदयैः समन्विताऽऽसीत् । या च फलं सार्थकत्वं तस्योदयः सम्प्राप्तिस्तद्वता इङ्गितेन चेष्टितेन आश्रिताऽधिकृता सती सत्कृतस्य पुण्यकर्मणो लता परम्परेव प्रसवित्री किन्न मता सम्मता ? अथवा सत्कृता सत्कारविषयीकृता चासौ लता वल्लरीव मताऽभूत् । पुण्यपरम्पराऽपि नवैर्नवैः पल्लवैः शृङ्गारैरञ्चिता भवति । वल्लरी च नवनवैः पल्लवैः किसलयैर्युक्ता भवति । पुण्यपरम्परा प्रसन्नेन मनसा सम्पादिता, लता च सुमनोभिः पुष्पैर्युक्ता भवति । पुण्यपरम्परा फलोदयकारिणा स्वर्गदायकेन इङ्गितेनाधिकृता, लता च फलानां कूष्माण्डादीनामुदयकारिणा इङ्गितेन युक्ता भवतीति । 'फलानामुदये लाभे त्रिदिवेऽपि फलोदयः' इति विश्वलोचनः । 'पल्लवः शब्दविस्तारे शृङ्गारेऽपि बले पुनरि'ति च । पूर्वोक्त एवालङ्कारः ॥ ९ ॥

सज्जलक्षणविभङ्गदेशिनी या मलापहरणोपदेशिनी ।
जैनवागिव सरित्सुवेशिनी तीर्थसम्भवपथानुवेशिनी ॥ १० ॥

सज्जेति । या सभा जैनवागिव जिनवाणीतुल्या सरित्सुवेशिनी नदीरूपवती वाऽऽसीत् । सभा जडानां मूर्खाणां क्षणस्य उत्सवस्य विभङ्गदेशिनी निषेधकर्त्री । जिनवाणी सज्जं

अन्वय : अथ या सभा अभिनवैः पल्लवैः अञ्चिता सर्वतः अपि सुमनःसमन्विता तथा फलोदयभृदिङ्गिताश्रिता सा सत्कृल्लता किं न मता ।

अर्थ : क्या उस राजाकी सभा पुण्यलताके समान सुशोभित नहीं थी ? बल्कि अवश्य सुशोभित थी । कारण लता पल्लवों (पत्तों) से युक्त होती है तो यहाँ नये-नये पदोंके लवों (अंशों) का उच्चारण होता है । लता फलोंसे युक्त होती है तो यहाँ अच्छे-अच्छे विद्वान् पाये जाते हैं । लतामें फल लगे होते हैं तो यहाँ स्वर्गदायक (अच्छे परिणामसूचक) बातें होती हैं । यहाँ श्लेषगर्भ सांग रूपक अलंकार है ॥ ९ ॥

अन्वय : या जैनवाक् इव सज्जलक्षणविभङ्गदेशिनी मलापहरणोपदेशिनी तीर्थसंभवपथानुवेशिनी सरित्सुवेशिनी (आसीत्) ।

अर्थ : वह सभा किसी नदीकी तरह जिन-वाणीका अनुकरण कर रही थी । कारण, जिस प्रकार नदी उत्तम जलसे भरी, तरंगोंसे युक्त होती है अथवा जिन-

पवित्रं लक्षणं स्वरूपं येषां ते च ते विभङ्गा वितर्काः 'स्यादस्ति स्यान्नास्ती'त्यादिरूपा-स्तद्देशिनी तेषां प्ररूपिका। नदी च जलस्य क्षणे समये विभङ्गदेशिनी तरङ्गधारिणी भवति। सभा मलापहरणस्य प्रायश्चित्तस्य उपदेशिनी। जिनवाक्, मलापहरणस्य पापनाशनस्य उपदेशिनी। नदी च मलापहरणस्य किट्टादिदोषनाशनस्य उप समीपे देशिनी, यस्यास्तटे मलापहरणं क्रियते जनैरिति भावः। सभा तीर्थसम्भवेन यथा वृद्धपरम्परायातेन मार्गेण। यद्वा उपायसञ्जातेन वर्त्मनाऽनुवेशिनी प्रवेशवती, वाण्या आप्तोपज्ञेन वर्त्मनाऽनुवेशिनी, नदी च तीर्थमवतारस्तत्सम्भवेन मार्गेण अनुवेशिनी गम्येत्यर्थः। पूर्वोक्त एवालङ्कारः ॥ १० ॥

सम्पदादरणकारिणीत्यलं कालमाश्रितवती मुदादरम्।
मञ्जुवृत्तविभवाधिकारिणी कामिनीव कवितानुसारिणी ॥ ११ ॥

सम्पदेति। सा सभा कवितामनुसरतीति कवितानुसारिणी, कविकृतेरनुकर्त्री कामिनी-वाऽभूत्। तद्यथा—सभा सम्यग् रूपेण पदेन प्रतिष्ठानेन आदरणकारिणी। यद्वा सम्पदस्य सम्यक् प्रतिष्ठावतो मनुष्यस्यादरणकारिणी। कामिनी सम्पदः सम्पत्तेरादरणकर्त्री। कविता च सम्यग्रूपाणां सुप्तिङन्तानां पदानां शब्दानां सङ्ग्राहिणी। सभा, मुदः प्रसन्नताया आदरो यस्मिंस्तं कालमाश्रितवती, योग्यसमये सम्पद्यमानेत्यर्थः। कामिनी अलङ्कारमाश्रितवती, कविता च उपमा-रूपकाद्यलङ्कारधारिणी। सभा मञ्जुवृत्तस्य मनोहराचरणरूपस्य आख्या-नादेर्विभवस्याधिकारिणी। कामिनी मञ्जुलस्य सुन्दरस्य मनोमोहकस्य वृत्तस्याचरणस्य यो विभवस्तस्याधिकारिणी। कविता च मञ्जूनां निर्दोषाणां वृत्तानां छन्दसां विभवस्य आनन्दस्य अधिकारिणी भवत्येव। श्लेषोपमालङ्कारः ॥ ११ ॥

वाणी पवित्र लक्षणवाले सप्तभंगोंसे युक्त होती है, वैसे ही सभा भी नीतिमय धाराएँ धारण करती थी। नदी शारीरिक मल दूर करती और जिनवाणी मानसिक मल दूर करती है, उसी प्रकार सभा भी मनुष्यके अपराधोंका संशोधन करती थी। नदी किसी तीर्थस्थानसे निकलती है और जिनवाणी तीर्थंकर भगवान्से प्रसूत होती है, उसी प्रकार सभा भी लोगोंका भला करनेका उद्देश्य लेकर संघटित थी ॥ १० ॥

अन्वय : (सा सभा) कामिनी इव कवितानुसारिणी, यतः सम्पदादरकारिणी मुदा-दरम् अलं कालम् आश्रितवती मञ्जुवृत्तविभवाधिकारिणी (आसीत्)।

अर्थ : वह सभा कामिनीकी तरह कविताका अनुसरण कर रही थी। क्योंकि जिस प्रकार कवितामें सम्यक् शुद्ध पद होते हैं अथवा कामिनी सुन्दर पैरोंवाली होती है, उसी प्रकार सभा लोगोंके पद-प्रतिष्ठाका समीचीन आदर करती थी।

कामवत् स्मृतिसमुद्भवत्वतश्चाबलोद्धृतिसमाश्रयत्वतः ।
निर्णयः खलु समुन्नतत्वतः कस्य वा रतिकरो न तत्त्वतः ॥ १२ ॥

कामवदिति । यस्यां सभायां सञ्जातो निर्णयः प्रकरणनिष्कर्षः कामवत् मनोभूसदृशः । तद्यथा—निर्णयस्य स्मृतिर्नाम संहिताख्यः शास्त्रविशेषस्ततः समुद्भवत्वतो नीतिशास्त्रमवलम्ब्य निर्णयकारित्वात् सभायाः। कामस्य स्मृतेः स्मरणात् समुद्भवस्येव। निर्णयः किल अबलानां बलहीनानामुद्धृतिरुद्धारस्तस्याः सम्यगाश्रयोऽधिकरणं तस्य भावस्तत्त्वात् । राजसभाया दुर्बलानां परिरक्षणात्मकत्वात् । कामस्त्वबला स्त्री तस्या उद्धृतिरङ्गीकरणं तस्याः समाश्रयो भवत्येव। निर्णयस्य समुन्नतत्वाद् उदारभावतया उत्तमत्वात्, कामस्य च मुत्सहितः समुच्चासौ नतो नम्रो येन स समुन्नतस्तस्य भावस्तत्त्वात् । प्रसन्नतापूर्वकानुनयविनयाविकारकत्वावित्यर्थः । एवं कामस्य तुल्यतया निर्णयः कस्य वादिनः प्रतिवादिनोऽपि रतिकरः प्रीतिकरः । पक्षे रागसम्पादकः । न खलु इति काकौ, तस्मात् सर्वस्यापि रतिकर इति । तस्यां सभायां सञ्जातस्य निर्णयस्य यथार्थतया उभयपक्षस्यापि रुचिकरत्वमासीदित्यर्थः। तत्त्वतो वस्तुतः यद्वा न तत्त्वतो मृदुत्वाद्धेतोः कस्य वाऽरतिकरः अप्रीतिदायको न कस्यापीत्यर्थः । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ १२ ॥

कविता सुन्दरतायुक्त उपमादि अलंकारोंसे समन्वित होती है या स्त्री नूपुरादि सुन्दर आभूषणोंसे युक्त होती है, उसी प्रकार सभा भी समुचित और परिमित कालतक होती थी। कवितामें अच्छे-अच्छे छन्द हुआ करते हैं या स्त्री समीचीन आचरणशील होती है, उसी प्रकार सभा भी समीचीन चरित्रवाले लोगोंके वैभवसे संपन्न थी ॥ ११ ॥

अन्वय : (तत्सभायाः) स्मृतिसमुद्भवत्वतः अबलोद्धृतिसमाश्रयत्वतः समुन्नतत्वतः तत्त्वतः कस्यचित् रतिकरः न बभूव ।

अर्थ : कामदेवके समान उस भव्य सभाका निर्णय पक्ष या विपक्ष किसे यथार्थतः रुचिकर नहीं होता था ? अर्थात् सभीको रुचिकर होता था। निर्णय निश्चय ही कामवत् था, क्योंकि जिस प्रकार काम स्मृतिसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस सभाका निर्णय भी स्मृतिशास्त्रके आधारपर होता था। काम अबलाओंका समादर करनेवाला होता है तो उस सभामें भी निर्बलोंके उद्धारकी बात सोची जाती थी। इसी तरह जैसे काम प्रसन्नतायुक्त नम्रताका उत्पादक होता है, वैसे ही वहाँका निर्णय भी उच्च आदर्शको लिये हुए होता था ॥ १२ ॥

भास्वतः समुदयप्रकाशिनः क्षौद्रलेशपरिमुग्विकाशिनः ।
यत्र वारिजतुलाविलासिनः श्रीयुताः खलु सभानिवासिनः ॥ १३ ॥

भास्वत इति । यत्र सभायां सभ्या वारिजस्य कमलस्य तुला तुलना तस्या विलासो रसस्तद्वन्तः । तदेवम्—भास्वतस्तेजस्विनो मनुष्यस्य समुदयो यशोलाभस्तस्य प्रकाशिनः, पक्षविभवाश्च भास्वतः सूर्यस्य समुदयप्रकाशिनो भवन्ति । सभ्यजनाः क्षौद्रलेशं क्षुद्रभावांशं परिमुञ्चतीति परिमुक् क्षुद्रतातिगतश्चासौ विकाशस्तद्वन्तः । पक्षविभवाश्च क्षौद्रं मधु तस्य लेशो बिन्दुस्तं परिमुञ्चतीति परिमुग् विकाशशीला भवन्ति । सभ्याः श्रीयुताः शोभासहिताः पक्षविभवाश्च तथा । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ १३ ॥

मन्त्रिणः खलु विषादनाशिनश्चाक्षिवच्चरनराः सुदर्शिनः ।
इष्टिमान् सुकृतवत्पुरोहितः प्रक्रमश्च सकलो यथोचितः ॥ १४ ॥

मन्त्रिण इति । यत्र सभायां मन्त्रिणो मन्त्रवादिन इव मन्त्रिणः सचिवास्ते विषादस्य शोकस्य, पक्षे विषभक्षणपरिणामस्य विनाशिनः । चरनरा दूतजनाश्च सुदर्शिनः सम्यगन्वेषणकारिणः, अक्षिवद् यथा नेत्रं सुदर्शि भवति । पुरोहितो धर्मकर्माध्यक्षः सुकृतवत् पुण्यकर्मसदृश इष्टिमान् यज्ञकर्ता । पक्षे, इष्टसमागमकर्ता । यद्वाऽभिलाषाविषयः । एवं सकलः सर्व एव प्रक्रमः कार्यारम्भो यथोचितः सुन्दर आसीत् ॥ १४ ॥

अन्वय : यत्र श्रीयुताः भास्वतः समुदायप्रकाशिनः वारिजतुलाविलासिनः सभानिवासिनः खलु क्षौद्रलेशपरिमुग्-विकाशिनः (आसन्) ।

अर्थ : वहाँके सभासद कमलके समान विलासशाली होते थे, क्योंकि जिस तरह कमल सूर्यको देखकर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार सभासद भी विद्वानोंको देखकर प्रसन्न होते थे। कमल जब खिलते हैं तब मधुके कणोंको प्रकट करते हैं, वैसे ही वहाँके सभासद स्वार्थपरायणता त्यागकर विकासयुक्त थे ॥ १३ ॥

अन्वय : यत्र मन्त्रिणः खलु विषादनाशिनः चरनराः अक्षिवत् सुदर्शिनः च पुरोहितः सुकृतवत् इष्टिमान् । एवं सकलः प्रक्रमः यथोचितः (आसीत्) ।

अर्थ : जैसे जादूगर, विषवैद्य विषका प्रभाव दूर कर देता है वैसे ही वहाँके मंत्री भी सभीका खेद दूर करते थे, प्रजाके दुःख-दर्दकी बातें सुनते थे। गुप्तचर लोग आँखोंके समान दूर तककी बातको देखते थे। पुरोहित पुण्यके समान इष्टिमान् था, अर्थात् जिस प्रकार पुण्य वांछित सिद्ध कर देता है उसी प्रकार पुरोहित भी समयानुसार भगवान्की पूजा-भावना करके अभीष्ट सिद्ध कर देता था। इस प्रकार वहाँकी सभाके सभी प्रबन्ध यथोचित थे ॥ १४ ॥

गुप्तिभागिह च कामवत्तु नः पक्षपाति च शीतरश्मिवत्पुनः ।
कोऽन्वति श्रुतिरितो दृगन्तवत् साऽखिलाङ्गसुलभा सभाऽभवत् ॥ १५ ॥

गुप्तिभागिति । इह सभायां नोऽस्माकं मध्ये गुप्तिरुत्कोचस्तं भजतीति गुप्तिभाग् उत्कोचभागी को नु प्रश्ने, न कोऽपीत्यर्थः । क इव कामवद् यथा कामो गुप्तिभाग् गोपनभागी भवतीति व्यतिरेकदृष्टान्तः । यत्र च पक्षपाती दुरुपयोगसमर्थश्च कः ? न कोऽपीत्यर्थः । क इव शीतरश्मिवत्, यथा चन्द्रः पक्षे पतनशीलो भवति । शुक्लपक्षे वृद्धिमवाप्य पुनः कृष्णपक्षे क्रमशो हीयते इति यावत् । श्रुतिं धर्मप्रतिपादकशास्त्रमत्येतीति अतिश्रुतिर्जनश्च कः ? न कोऽपीत्यर्थः । क इव दृगन्तवत् कटाक्षो यथा श्रुतिं श्रवणमत्येति एवं सा सभाऽखिलाङ्गसुलभा, सर्वाङ्गपूर्णाऽभवत् । व्यतिरेकोपमालङ्कारः ॥ १५ ॥

दूतवत्तु चरकार्यतत्पराः श्रोत्रिया इव च सुश्रुतादराः ।
यत्र ते नटवदिष्टवाग्भटाः स्मावभान्ति भिषजोऽद्भुतच्छटाः ॥ १६ ॥

दूतवत्त्विति । यत्र सभायां ते भिषजो वैद्या अवभान्ति स्म, शुशुभिरे, ये चरकार्यतत्पराः चरकश्चासौ आर्यश्च तस्मिंस्तत्परा अनुरागिणो दूतवद् भवन्ति । चरस्य कार्ये तत्पराः परायणा भवन्ति, 'चरश्चारे चलेऽपि च'ेति प्रमाणात् । ये च सुश्रुते धन्वन्तरौ आदरो विनयभावो येषां ते, श्रोत्रिया इव नित्यहोत्रिणो वैदिकब्राह्मणा इव । पक्षे सुश्रुत आयुर्वेदिककर्मकाण्डप्रतिपादकशास्त्रेऽनुरागिण आसन् । पुनरिष्टो मान्यतामितो वाग्भट-

---

अन्वय : इह नः कामवत् तु गुप्तिभाग् । पुनः शीतरश्मिवत् पक्षपाति । (च) दृगन्तवत् अतिश्रुतिः को नु ? (एवं) सा सभा अखिलाङ्गसुलभा अभवत् ।

अर्थ : जिस प्रकार काम गुप्तांगोंका भोक्ता होता है, उस प्रकार इस सभामें हमारे बीच गुप्तिभागी अर्थात् घूस लेनेवाला कौन था ? जैसे चन्द्रमा एक पक्षमें प्रकाश करता है, वैसे ही वहाँ पक्षपाती कौन था ? इसी तरह जैसे कटाक्ष कानोंको उल्लंघन कर जाते हैं, वैसे वहाँ आगमका उल्लंघन करनेवाला कौन था ? अर्थात् कोई नहीं था। इस प्रकार वह सभा सभी अंगोंसे सुसंगत थी ॥१५॥

अन्वय : यत्र अद्भुतच्छटाः भिषजाः अवभान्ति स्म । (यतः) ते: तु नटवत् इष्टवाग्भटाः श्रोत्रियाः इव सुश्रुतादराः च दूतवत् चरकार्यतत्पराः (आसन्) ।

अर्थ : वहाँके वैद्य अपूर्व छटावाले थे । क्योंकि वे नटकी तरह इष्ट-वाग्भट थे अर्थात् जैसे नट बोलनेमें बड़ा चतुर होता है वैसे ही ये वैद्य भी लोग 'अष्टांग-हृदय'-ग्रन्थकार वाग्भटाचार्यको मानते थे । जिस प्रकार श्रोत्रिय उत्तम आगम-

नाम आयुर्वेदशास्त्रनिर्माता आचार्यो वैस्ते । नटवत्, नटा यथा किल दृष्टवाचि यथेच्छवचनभावणे चतुरा भवन्ति तथाऽपूर्वा छटा विचारधारा येषां ते प्राणाचार्या बभूवुः । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ १६ ॥

चारणा गुणगणप्रचारणास्ते कुविन्दवदुदारधारणाः ।
स्मोद्भवत्सुपदवेमपाकया सञ्जयन्ति विलसच्छलाकया ॥ १७ ॥

चारणा इति । चारणाः स्तुतिपाठकास्ते कुविन्दवत् तन्तुवायतुल्या भवन्तः सञ्जयन्ति सर्वोत्कृष्टभावेन वर्तन्ते स्म । यस्मात्ते गुणानां शौलादीनां, पक्षे तन्तूनां गणः समूहस्तस्य प्रचारणा मुहुर्मुहुः प्रकटीकरणं, पक्षे क्रमशः प्रसारणं येषां ते । उदाराऽतिविस्तीर्णा धारणा स्मरणशक्तिः, पक्षे तानितवृत्तिर्येषां ते । उद्भवतां शोभनानां पदानां शब्दानां प्रतिष्ठानानां वा वेमपाकः ओजस्वितापरिणामो यस्यां सा, पक्षे शोभनं पदं व्यवसायो यस्य तस्यैतादृशस्य, उद्भवतः समुच्चलतः सुपदस्य वेम्नस्तन्तुवायहस्तसाधनस्य पाकः परिणामो यस्यां तया विलसन्ती चासौ शलाका तया, पक्षे लोहकीलकं नाम सा तया कृत्वा जयन्ति स्म । यत्र चारणा वंशपरम्परोद्घाटनपूर्वकं भूपतेर्यशो गायन्ति स्म । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ १७ ॥

देशनेव दुरितापवर्तिनी भावनेव सुकृतप्रवर्तिनी ।
कल्पनेव सुकवेः सदर्थिनी तस्य संसदभवत् समर्थिनी ॥ १८ ॥

देशनेवेति । तस्य भूपस्य संसत् सभा समर्थिनी समर्थनकर्त्री, भवता यदुक्तं तद्युक्त-

---

का आदर करते हैं, उसी प्रकार वहाँके वैद्य 'सुश्रुत-संहिता'कार सुश्रुताचार्यका आदर करते थे । जिस प्रकार दूत चर-कार्यमें तत्पर रहता है उसी प्रकार यहाँ वैद्य भी 'चरक-संहिता'कार चरकाचार्यके प्रति अनुराग रखते थे ॥ १६ ॥

अन्वय : ते चारणाः कुविन्दवत् उद्भवत्सुपदवेमपाकया विलसच्छलाकया गुणगणप्रचारणाः उदारधारणाः सञ्जयन्ति ।

अर्थ : वहाँके चारण (भाट) भी जुलाहेके समान सर्वोत्कृष्ट विराजते थे । जैसे जुलाहे समुचित लम्बाई-चौड़ाईवाले वेमा-यंत्रके साथ शलाका फैलाते हुए अपने ताने-बानेके धागोंको वस्त्ररूप देते हैं, वैसे ही चारण भी सुन्दर शब्दों या प्रतिष्ठानोंके ओजस्वी परिणामोंसे शोभनीय शलाकासे महाराजके कुलका यशःपट बुना करते हैं ॥ १७ ॥

अन्वय : तस्य संसद् देशना इव दुरितापवर्तिनी, भावना इव सुकृतप्रवर्तिनी, सुकवेः कल्पना इव सदर्थिनी (एवम्) समर्थिनी च अभवत् ।

वेवेति कथयिष्यभवत् । या सभा देशना धर्मोपदेशस्तद्वद् दुरितस्य दुराचारस्य अपवर्तिनी निषेधयित्री । भावना च अनित्यादिरूपाऽनुप्रेक्षा तद्वत्सुकृतस्य पुण्यस्य प्रवर्तिनी सम्पादिका, सुकवेः कल्पनेव या सदर्थिनी शोभनाभिप्रायवती, कवितापक्षे सम्यग्वाच्यवती चेति मननीयम् । उपमालङ्कारः ॥ १८ ॥

संसदीह नियतो नृपासने सोऽजयज्जयनृपः कृपाशनेः ।
दुर्मदाचलभिदः सदा स्वतो धारकः क्षणलसच्चमत्कृतः ॥ १९ ॥

संसदिति । इह उपरिवर्णितायां संसदि सभायां नृपासने राजसिंहासने नियतो नियुक्तः सन् सोऽजयत् सर्वोत्कर्षेण रराज । कीदृशो जयनृपतिः, दुर्मदो दुरभिमानः शत्रुनृपाणामिति शेषः, स एवाचलः पर्वतस्तं भिनत्तीति तस्य, क्षणे लसद् दृश्यमानं चमत्करोतीति तस्य, कृपा सर्वसाधारणेषु उत्पद्यमाना दयैव अशनिर्वज्रस्तस्य सदा स्वत आत्मना धारको न तु परप्रेरणयेति भावः । अत्र रूपकालङ्कारः ॥ १९ ॥

संसदीह नतवर्गमण्डितेऽथापवर्गपरिणामपण्डिते ।
श्रीत्रिवर्गपरिणायके तथा तिष्ठतीष्टकृदसावभूत्कथा ॥ २० ॥

संसदीति । इति पूर्वोक्तप्रकारायां सभायां श्रीत्रिवर्गाणां धर्मार्थकामानां यद्वा, त्रिवर्गाणां कुचुट्टनामेव परिणायकेऽधिकारिणि जयकुमारे तिष्ठति सति । कीदृशे ? नतानाम्

अर्थ : उस राजाकी वह सभा भगवान्‌की देशनाकी तरह पापोंको नष्ट करनेवाली थी। वैराग्य-भावनाकी तरह सुकृतमें प्रवृत्ति करानेवाली थी और सुकविकी कल्पनाकी तरह उत्तम अर्थको देनेवाली थी। इस तरह वह सब तरहसे समर्थ थी ॥ १८ ॥

अन्वय : इति संसदि नृपासने नियतः स जयनृपः अभवत् यः क्षणलसच्चमत्कृतः दुर्मदाचलभिदः कृपाशनेः सदा स्वतः धारकः ।

अर्थ : इस प्रकारकी इस सभामें जयकुमार महाराज राज्यासनपर विराजमान थे, जो क्षणभरमें अपूर्व चमत्कार दिखानेवाले और मदान्ध लोगोंके दुर्मदरूपी पर्वतको सदाके लिए छिन्न-भिन्न करनेवाले सर्वसाधारणपर कृपास्वरूप वज्र स्वाभाविक रूपमें धारण किये हुए थे ॥ १९ ॥

अन्वय : इह संसदि नतवर्गमण्डिते अपवर्गपरिणामपण्डिते श्रीत्रिवर्गपरिणायके तस्मिन् तथा तिष्ठति सति असौ इष्टकृत् कथा अभवत् ।

अर्थ : इस सभामें विनयशील जनोंसे मंडित, मोक्षमार्गके विचारमें चतुर

अमात्यादीनां वर्गः समूहस्तेन मण्डिते सेविते । किं वा तवर्गेण युक्तो न भवतीति मतवर्गमण्डितस्तस्मिन् । तथा च अपवर्गस्य मुक्तिरूपचतुर्थपुरुषार्थस्य परिणामो विचारस्तत्र पण्डितस्तस्मिन् त्रिवर्गं सेवमानेऽपि, अपवर्गाविस्मारके तस्मिन्नित्यर्थः । किञ्च पवर्गपरिणामस्य पण्डितो ज्ञाता न भवतीति तस्मिन्, एवंभूते तस्मिंस्त्रिवर्गाधिपतौ भूपे शोभमाने अथाऽसौ अधोवक्ष्यमाणा कथा वार्ताऽभूद् य इष्टमभिलषितं नृपस्य वाञ्छितं करोतीति इष्टकृच्चासीत् । श्लेषालङ्कारः ॥ २० ॥

प्रतीहारमतः कश्चित् प्रतीहारमुपेत्य तम् ।
नमति स्म मुदा यत्र न मतिः स्मरतः पृथक् ॥ २१ ॥

प्रतीहारमत इति । प्रतीहारेण द्वारपालेन मतोऽनुज्ञातः कश्चिदपरिचितः पुरुष इह सभायामरं शीघ्रमुपेत्य तं जयकुमारनृपं मुदा प्रीत्या नमति स्म, अनमत् । कीदृशं नृपं यत्र यस्मिन् विषये स्मरतः कामदेवात् पृथक् भिन्ना मतिर्नासीत् । रतिपतिरेवायमिति सम्भ्रमोत्पत्तिरासीत्, अतिसुन्दरत्वादिति भावः । अत्र यमकालङ्कारः ॥ २१ ॥

ततः किमभूदिति वर्णयति—

दृशाऽऽसिकाऽदायि नृपस्य हे चित् सशम्मुचा दन्तरुचाऽभ्यसेचि ।
रसा गिरः खण्डमदात्तदास्मा यातिथ्यचातुर्यमभूञ्च कस्मात् ॥ २२ ॥

और श्रीयुक्त त्रिवर्गमार्गसे गमन करनेवाले महाराज जयकुमार राज्यसिंहासनपर विराजमान थे कि उस समय राजाके लिए अभीष्ट, निम्नलिखित बातचीत चल पड़ी।

विशेष : सम्पूर्ण व्यंजनोंमें पाँच वर्ग होते हैं : कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग। उनमेंसे जब कि राजा तवर्ग और पवर्गसे युक्त भी नहीं था (उसके नामके आरंभमें तवर्ग या पवर्ग न था) तो वह अपने आप त्रिवर्गवाला (कवर्ग, चवर्ग, टवर्गवाला) बन गया ॥ २० ॥

अन्वय : कश्चित् प्रतीहारमतः जनः इह तं प्रति अरम् उपेत्य मुदा नमति स्म यत्र स्मरतः पृथक् मतिः न ।

अर्थ : जिस राजाको देख कामदेवके सिवा दूसरी बुद्धि या भावना ही उत्पन्न नहीं हो पाती, प्रस्तुत सभाके बीच उस जयकुमारके समीप प्रतीहार (द्वारपाल) द्वारा अनुमति प्राप्त कर पहुँचे। किसी अपरिचित पुरुषने उन्हें नमस्कार किया। इस पद्यमें लाटानुप्रास अलंकार है ॥ २१ ॥

दृशेति । हे चित् हे प्रत्यक्षस्थित बुद्धिमच्छ्रोतः; यद्वा चिदिति मनः, शृणु । तदा तस्मिन्नागमनसमय एव तस्मै समागताय नृपस्य दृशो दृष्ट्या परिचारिकयेव आसिकाऽऽसनमदायि दत्तं, दृष्टिप्रसादेन भूपस्तमुपावेशयदित्यर्थः । तथा शमानन्दं मुञ्चतीति शम्मुक् तया शम्मुचा दन्तरुचा दशनकान्त्या स आगतजनोऽभ्यसेचि, अभिषिक्तः । तथा नृपस्य रसा रसना चास्मै गिर वाच एव खण्डमिक्षुविकारमदाद् दत्तवती । एवं कृत्वा तदातिथ्येऽतिथिसत्कारविषये नृपस्य चातुर्यं प्रगल्भत्वं कथं नाभूत् अभूदेवेत्याशयः । 'सर्वस्याभ्यागतो गुरुरि'त्युक्तिमाश्रित्य स दूतोऽपि नृपवरेण तत्कालं पूजित इति ध्वनितार्थः । अतिथिसत्कारे च आसनदानस्नानाशनानि सम्पादनीयानीति शिष्टाचारः । अतो दृष्टिप्रसादनलाभपूर्वकमुपविष्टे सति दूते प्रथमत एव राजा वक्ष्यमाणमुवाच, प्राग्भावी भवेदिति नीतेः ॥ २२ ॥

यशो विशिष्टं पयसोऽपि शिष्टं बिभर्ति वर्णौघमहो कनिष्टम् ।
तरां धराङ्के तव नामकामगवी च विद्वद्वर संवदामः ॥ २३ ॥

यश इति । हे विद्वद्वर, बुद्धिमदग्रेसर, तव नामैव कामगवी कामधेनुः साऽस्मिन् धराया मातृस्थानीयाया अङ्के क्रोडे यशोविशिष्टं प्रख्यातमिति यावत्, तस्माच्छ्रुतौ मधुरं पयसो दुग्धादपि शिष्टं प्रशंसनीयं किमुत तोयादेरिति अपिशब्दार्थः । इष्टम् इच्छाविषयीकृतं कं वर्णौघमक्षरसमूहं बिभर्तितरां धारयतितरामिति वयमपरिचयापन्ना संवदामः । अत्र रूपकं छेकानुप्रासश्चालङ्कारः ॥ २३ ॥

अन्वय : हे चित् ! तदा अस्मै नृपस्य दृशा आसिका अदायि, सः (तस्य) शम्मुचा दन्तरुचा अभ्यसेचि । (च) रसा गिरः खण्डम् अदात् । (इति तस्य) आतिथ्यचातुर्यं कस्मात् न अभूत् ।

अर्थ : समझदार पाठको ! उस समय किसी परिचारिकाकी तरह राजाकी दृष्टिने उस अपरिचित अतिथिको आसन प्रदान किया और प्रसन्नतासूचक राजाकी दन्तकान्तिने उसे अभिषिक्त किया । राजाकी जिह्वाने मधुरवाणीरूपी मीठा रस पिलाया । इस प्रकार उस राजाकी आतिथ्य-कुशलता कैसे प्रकट नहीं हुई ॥ २२ ॥

अन्वय : विद्वद्वर ! वयं संवदामः तव नामकामगवी धराङ्के अहो ! कम् इष्टं वर्णौघं बिभर्तितरां (यत्) यशोविशिष्टं पयसः अपि शिष्टम् ।

अर्थ : महाराज जयकुमारने उस आगन्तुकसे कहा : हे विद्वद्वर ! हम आपसे पूछना चाहते हैं कि आपकी नामरूपी कामधेनु इस धरातलपर कौन-से आश्चर्य-

मरालमुक्तस्य सरोवरस्य दशां त्वयाऽनायितमां प्रशस्यः ।
कश्चिन्नु देशः सुखिनां मुदे स विशुद्धवृत्तेन सता सुवेश ॥ २४ ॥

मरालमुक्तस्येति । हे सुवेश शोभनाकार ! सुखिनां मुदे निश्चिन्तानामपि प्रसत्तये विनोदाय, किं पुनः सचिन्तानां, दुःखितानां सुखाय तु स्वल्पसुन्दरमपि वस्तु, सुखितानां च सुखाय यद्भवति तदुत्तमादप्युत्तमं स्यादिति तादृग् यो भवति स कश्चिन्नु नाम देशः प्रशस्यः प्रशंसायोग्यः यो विशुद्धं निर्दोषं विमलं च वृत्तमाचरणं यस्य तेन सता सज्जनेन त्वया मरालेन हंसेन मुक्तस्य परित्यक्तस्य सरोवरस्य दशामवस्थामनायि नीतोऽभूदिति । हंसविहीनसरोवरो यथा शोचनीयतामाप्नोति तथा को देशो भवन्तमपेक्षत इति वयं ज्ञातुमिच्छामः । अत्र अनुप्रासालङ्कारः ॥ २४ ॥

शिरीषकोषादपि कोमले ते पदे वदेति प्रघणं तदेते ।
अस्माकमश्माधिकहीरवीरपूर्णं कुतोऽलङ्कुरुतोऽथ धीर ॥ २५ ॥

शिरीषकोषादिति । हे धीर धृतिशालिन् शिरीषस्य कोषादपि मालकादपि कोमलेऽतिमृदुले दृग्देशं गते ते पदे चरणे अस्माकं भूपालानामश्मभ्यः पाषाणेभ्योऽप्यधिकैः संख्यायां गुणेऽपि च विशिष्टैस्तैः हीरवीरैर्वज्रवरैः पूर्णं व्याप्तं प्रघणमलिन्दं द्वाराग्रभागं कुतः कस्मात्कारणात् अलङ्कुरुत इति वद । अथेति शुभसंवादे । कथं भवानागत इति जिज्ञासमाना वयमिति भावः । छेकानुप्रासः ॥ २५ ॥

जनक अभीष्ट वर्णसमूहको धारण करती है, जो यशोविशिष्ट यानी प्रख्यात तथा दूधसे भी स्वादिष्ट है अर्थात् आपका सुन्दर नाम क्या है ? ॥ २३ ॥

अन्वय : हे सुवेश ! विशुद्धवृत्तेन सता त्वया कश्चित् नु देशः सुखिनां मुदे प्रशस्यः मरालमुक्तस्य सरोवरस्य दशाम् अनायितमाम् ।

अर्थ : हे भले वेषवाले अतिथिवर ! विमल आचरण एवं सज्जनशिरोमणि आपने सुखियोंको भी आनन्द देनेमें प्रशंसनीय किस प्रदेशको हंसविहीन सरोवरकी दशामें पहुँचा दिया है अर्थात् आप कहाँसे पधारे हैं ? ॥ २४ ॥

अन्वय : अथ हे धीर शिरीषकोषात् अपि कोमले एते ते पदे अस्माकं अश्माधिकहीरवीरपूर्णं प्रघणं कुतः अलङ्कुरुतः तत् वद ।

अर्थ : हे धीर ! आपके चरण शिरीषके फूलसे भी कोमल हैं । वे क्योंकर श्रेष्ठतम वज्र (हीरे) से जड़ी, हमारी इस कठोर देहलीको आकर अलंकृत कर रहे हैं, कृपया यह बतलाइये ॥ २५ ॥

भवादृशां कष्टमदुष्टदैवश्रियां क्व सम्भाव्यमहो सदैव ।
अथो यथायाततया तथापि न क्षेमपृच्छाऽनुचितास्तु सापि ॥ २६ ॥

भवादृशामिति । भवादृशां त्वत्तुल्यानां न दुष्टं च तद्दैवं भाग्यं पुण्यकर्म तस्य श्रीः शोभा येषां तेषां पुण्यात्मनामित्यर्थः । सदैव नित्यमेव कष्टं दुःखं क्व सम्भाव्यं न कदाचिदपीति भावः। तथापि यथायाततया वृद्धपरम्परासम्मततया सा क्षेमस्य कुशलस्य पृच्छा तव कुशलमस्ति नवेति जिज्ञासा नानुचिता अस्तु ॥ २६ ॥

पद्भ्यामहो कमलकोमलतां हसद्भ्यां
किं कौशलं श्रयसि कौशलमाश्रयद्भ्याम् ।
वैरीश - वाजि - शफराजिभि-रप्यगम्यां
श्रीदेहलीं नृवर नः सुतरामरं यान् ॥ २७ ॥

पद्भ्यामिति । हे नृवर, वैरीशानामरिनृपाणां ये वाजिनोऽश्वास्तेषां शफराजयः खुरलेखास्ताभिरपि अगम्यामनुल्लङ्घनीयां नोऽस्माकं श्रीदेहलीं कौ पृथिव्यां मार्गसंभूतायां शरं तेजनकमाश्रयद्भ्यामिताभ्यां कमलकोमलतामपि हसद्भ्यां तिरस्कुर्वद्भ्यां पद्भ्यां चरणाभ्यां सुतरामत्यन्तम् अरमविलम्बेन यान् गच्छन् सन् किमिति ह्यनिर्वचनीयं कौशलं चातुर्यं श्रयसि सेवसे । अहो इत्याश्चर्ये । अपरिचितायापि ईदृक् सम्भाषणं भूपतेराभिजात्यं व्यनक्ति ॥ २७ ॥

अन्वय : अहो सदा एव अदुष्टदैवश्रियां भवादृशां कष्टं क्व संभाव्यम्? तथापि अथो यथायाततया सा क्षेमपृच्छा अपि अनुचिता न अस्तु ।

अर्थ : यद्यपि आपसदृश पुण्यवानोंको सदैव किसी भी प्रकारके कष्टकी संभावना नहीं होती। फिर भी अब यह पूछना कि यात्रामें किसी प्रकारकी कोई कष्ट तो नहीं हुआ, अनुचित नहीं होगा, क्योंकि ऐसा पूछनेकी परम्परागत पद्धति जो है ॥ २६ ॥

अन्वय : हे नृवर ! अहो कमलकोमलतां हसद्भ्यां पद्भ्यां कौशलम् आश्रयद्भ्यां वैरीशवाजिशफराजिभिः अपि अगम्यां नः श्रीदेहलीं सुतराम् अरं यान् किं कौशलं श्रयसि ।

अर्थ : हे मनुष्यश्रेष्ठ ! हमें आश्चर्य होता है कि कमलकी कोमलताको भी हँसनेवाले सुकोमल चरणोंसे रास्तेमें काँटोंपर चलकर आनेवाले आप, शत्रुओंके घोड़ोंके खुरोंसे भी अगम्या हमारी वज्रमयी द्वार-देहलीपर शीघ्रतापूर्वक

दर्शयित्वा सुवर्णोत्थपदान्यतिथये मुदा ।
द्रुतं कुरुनरेशस्य विनिवृत्तेत्यभूद्रसा ॥ २८ ॥

दर्शयित्वेति । इति उक्तप्रकारेण अतिथयेऽभ्यागताय जनाय मुदा प्रीत्या सुवर्णोत्थपदानि ललिताक्षरसम्पन्नशब्दान्, यद्वा कनकनिर्मितस्थानानि दर्शयित्वा प्रकटीकृत्य सा कुरुनरेशस्य जयकुमारस्य रसा जिह्वा द्रुतमेव शीघ्रमेव विनिवृत्ताऽभूत् । आगन्तुकाय सोत्सुकतया निजसुवर्णाकाराणां हर्म्यावीनामुद्घाटनं कृत्वा पुनस्त्वरितमेव विनिवर्तनं स्त्रीजातेः स्वभावत्वात् जिह्वा विनिवृत्तेति भावः । अत्र श्लेषः ॥ २८ ॥

वाग्मिताऽपि सिता यावद्रसिता वशिताभृतः ।
भाष्यावली च दूतास्याल्लालेव निरगादियम् ॥ २९ ॥

वाग्मितेति । वशिताभृतो जितेन्द्रियस्य, यद्वा वशितेन्द्रत्वं तद्वतः स्वर्गे शक्रवद् भूमौ अस्याद्वितीयत्वात्, 'वशी सुगतशक्रयोरि'ति कोषसद्भावात् । तस्य जयकुमारस्य सिता शुद्धा सात्त्विकसम्भूता या वाग्मिता भाषणपटुता, यद्वा मिता परिमितापि वाक् सिता शर्कराविकृतिः, 'मिश्री'ति लोकभाषायाम्, सा यावद्रसिताऽऽस्वादिता श्रुता तावदेव दूतस्य आस्यात् आननात् लालेव निष्ठीवनमिव इयं भाष्यावली निरगान्निर्जगाम । भाष्यस्यभाषणार्हस्य आवली पङ्क्तिः, यद्वा प्रकृतविषयस्य स्पष्टीकरणाद् भाष्यावलीति । उपमालङ्कारः ॥ २९ ॥

आसानीसे चलकर आ पहुँचे, ऐसी कौन-सी कुशलता रखते हैं ? ॥ २७ ॥

अन्वय : अतिथये मुदा इति सुवर्णोत्थपदानि दर्शयित्वा कुरुनरेशस्य रसा द्रुतं विनिवृत्ता अभूत् ।

अर्थ : इस प्रकार राजाकी जीभ अतिथिके लिए अपने सुवर्णोत्थ (सुन्दर वर्णों या सोनेसे बने) पदों (अथवा स्थानों) को दिखाकर प्रसन्नतापूर्वक चुप हो गयी । स्त्रियोंका यह स्वभाव होता है कि आये हुए अतिथिको वे अपना सुन्दर मकान सर्वप्रथम दिखाती हैं । जिह्वा स्त्रीजाति है ही ॥ २८ ॥

अन्वय : वशिताभृतः मिता अपि सिता वाक् यावत् रसिता, (तावत्) दूतास्यात् च लाल इव इयं भाष्यावली निरगात् ।

अर्थ : उस जितेन्द्रिय राजाकी वाणी परिमित होनेपर भी मिश्रीके समान मीठी थी । ज्योंही दूतने उसे चखा, त्योंही उसके मुँहसे लारके समान भाष्यावली टपक पड़ी । अर्थात् दूतने वक्ष्यमाण प्रकारसे उत्तर दिया ॥ २९ ॥

सुमना मनुजो यस्यां महिला सारसालया ।
श्रीधरोऽधीश्वरो यस्याः सा काशी रुचिरा पुरी ॥ ३० ॥

सुमना इति । हे राजन्, यस्यां नगर्यां मनुजो नरवर्गः सुमनाः शोभनमनस्कत्वयेव सुमना देव एव । महिला स्त्रीजातिः पुना रसालया शृङ्गाररसपरिपूर्णा । किञ्च, सारसं कमलमेव आलयः स्थानं यस्याः सा लक्ष्मीरेवेत्यर्थः । 'सारसं पङ्कजे क्लीबमि'ति कोषः । यस्याश्चाधीश्वरः स्वामी श्रीधर एतन्नामकः कुबेर एव । एवम्भूता सा लोकप्रख्याता काशी नाम रुचिरा पुरी नगरी वर्तत इति शेषः । सा च कस्यात्मन आशीः शुभाशंसनं वर्तते यस्यां सा काशीः स्वर्गपुर्येव वर्तते । श्लेषालङ्कारः ॥ ३० ॥

तदधीशाज्ञयाऽऽयातः कुशलं वः पदाब्जयोः ।
विसारसन्ततेः किं स्याज्जीवनं जीवनं विना ॥ ३१ ॥

तदधीशाज्ञयेति । तस्या अधीशस्य नरनाथस्याज्ञया शासनेन अहमायातोऽस्मि, मम कुशलं च कल्याणं पुनर्वो युष्माकं पदाब्जयोः चरणकमलयोरधिकरणभूतयोरेवास्ति, भवच्चरणौ विना न मम कुशलमित्यर्थः। तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—जीवनं जलं विना विसारसन्ततेर्मीनसन्तानस्य जीवनं प्राणनं किमिति कथं स्यात्, न कथमपीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३१ ॥

अन्वय : (राजन् !) यस्यां मनुजः सुमना महिला सारसालया यस्याः अधीश्वरः श्रीधरः सा काशी रुचिरा पुरी (अस्ति) ।

अर्थ : हे राजन् ! जिस नगरीके मनुष्य तो सुमन अर्थात् अच्छे मनवाले देवता हैं; महिलाएँ श्रृंगाररससे परिपूर्ण, कमलवासिनी लक्ष्मी ही हैं; जहाँका स्वामी राजा श्रीधर लक्ष्मीधारक कुबेरके समान है । वह लोकविश्रुत काशी बड़ी लुभावनी नगरी है । वहाँ 'क' यानी आत्माके लिए 'आशी' या शुभाशंसन होता है । मानो वह स्वर्गपुरी ही हो ॥ ३० ॥

अन्वय : तदधीशाज्ञया (अहम्) आयातः (अस्मि) । वः पदाब्जयोः (नः) कुशलम् । जीवनं विना विसारसन्ततेः किं जीवनं स्यात् ।

अर्थ : उस नगरीके स्वामीकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ । मेरा कुशल तो आपके चरणोंमें है, क्योंकि जलके बिना मछलीका जीवन कैसे ? ॥ ३१ ॥

महीमघोनः सुतरामघोनः समागमो नर्मसमागमो नः ।
भवादृशो भात्यथवा दृशोऽपि यतोऽधुना निष्फलता व्यलोपि ॥ ३२ ॥

महीमघोन इति । हे राजन्, भवादृशस्त्वत्सदृशस्य महीमघोनः पृथ्वीन्द्रस्य, अघोनः पापवर्जितः समागमः संसर्गः स एव नोऽस्माकं भवच्चरणप्रेक्षकाणां नर्मसमागमो भाति विनोदाय भवति । यतः किलाधुना दृशो दृष्टेरपि निष्फलता व्यर्थीभावो व्यलोपि, लुप्तप्राया जातेत्यर्थः । 'साफल्यं चक्षुषोरस्ति महतामेव दर्शने' इति सूक्तेः । यमकालङ्कारः ॥ ३२ ॥

भवादृशामेव भुवीह नाम वयञ्च यच्छासनमुद्धरामः ।
समुत्सरामः कुतलेऽभिराम नैकञ्च नो ग्राम इवास्ति धाम ॥ ३३ ॥

भवादृशामिति । हे अभिराम, सुन्दर, इहास्यां भुवि नाम तु पुनर्भवादृशामेव भवति, न पुनरस्माकमप्रख्यातत्वात्, भवतामेव लोकैः संस्तुतत्वात् । वयं च पुनर्येषां शासनमाज्ञामुद्धरामः शिरसा वहामः । कुतले चामुष्मिन् कुत्सिते तलभागेऽरण्यादौ समुत् सहर्षं यथा स्यात्तथा सरामो गच्छामः प्रवासेऽपि कष्टं न गणयामः । यतोऽस्माकमिह जगत्यामेकोऽपि ग्रामो न चाप्येकं धाम गृहमस्ति । शश्वत् भवनवस्थानानुसरणादिति भावः । अत्र छेकानुप्रास. ॥ ३३ ॥

अन्वय : भवादृशः महीमघोनः अघोनः समागमः नः सुतरां नर्मसमागमः भाति । यतः अधुना दृशः अपि निष्फलता व्यलोपि ।

अर्थ : पृथ्वीके इन्द्र आपसरीखे महानुभावका पापरहित, पापोंको नष्ट करनेवाला समागम ही हम लोगोंके लिए अत्यन्त प्रसन्नता देनेवाला, मनोविनोदकारी होता है । कारण इस समय दृष्टिकी भी सारी निष्फलता लुप्तप्राय हो गयी है ॥ ३२ ॥

अन्वय : हे अभिराम इह भुवि भवादृशाम् एव नाम, वयं यच्छासनम् उद्धरामः च कुतले समुत्सरामः । (नः) ग्रामः इव (च) एकं धाम न अस्ति ।

अर्थ : राजन् ! नाम तो इस भूतलपर आपसरीखे लोगोंका ही होता है, जिनके शासनको हम जैसे लोग सिर-आंखों धारण करते हैं और कुतल अरण्य आदिमें भी बड़ी प्रसन्नताके साथ चलते रहते हैं । प्रवासका कष्ट न गिनते हुए हम लोग तो पृथ्वीपर घूमते ही रहते हैं । कारण, हमारा न कोई एक गाँव है और न एक घर ॥ ३३ ॥

प्रस्थितस्य कुशलं शिरस्यनु स्मोपभाति पथि पादयोस्तनुः ।
साम्प्रतं कुशल तेऽवलोकनादञ्चनैः कुशलतेव चामनाक् ॥ ३४ ॥

प्रस्थितस्येति । हे कुशल, चतुरनर, प्रस्थितस्य प्रस्थानमितस्य गन्तुमुद्यतस्य मम कुशलं मस्तके एवोपभाति लसति शिरस्येव कुशप्रक्षेपणात् किल, कुशांल्लाति गृह्णातीत्यन्वयात् । ततो नु पुनः पथि मार्गे गच्छतो मम पादयोश्चरणयोरेव कुशलं बभूव, तत्रैव कुशसद्भावात् । साम्प्रतं तु तेऽवलोकनात्तव दर्शनादञ्चनैः प्रमोदरोमाञ्चैः कृत्वा सम्पूर्णतनुरेव कुशलता कुशलतिरिव । यद्वा कुशलस्य भावः कुशलता क्षेमपूर्णतास्ति, तव दर्शनादहं प्रसन्नोऽस्मीति भावः । मनागिति स्वल्पार्थेऽव्ययं, न मनागित्यमनाक्, परिपूर्णभावेनेत्यर्थः । उल्लेखोऽलङ्कारः ॥ ३४ ॥

विपत्त्रेऽपि करे राज्ञः पत्रमत्रेति सन्ददत् ।
अपत्रपतयाप्यासीत् स दूतो मञ्जुपत्रवाक् ॥ ३५ ॥

विपत्त्रेऽपीति । पूर्वोक्तरीत्या कुशलप्रश्नानन्तरं स दूतो विपत्रे पत्ररहितेऽपि, तथा च विपन्निवारकेऽपि राज्ञः करे भुजाग्रे पत्रं समाचाराधारं सन्ददत् सन्, स्वयं तु पत्रं पातीति पत्रयो न पत्रपोऽपत्रपस्तस्य भावस्तया युक्तोऽपि सन् पत्ररहितोऽपि भवन् मञ्जुपत्रवाक् सुन्दरपत्रवाचक इति विरोधस्तस्मादपत्रपतया निर्लज्जतया सङ्कोचवर्जितः सन् मञ्जूनि पदानि त्रायन्ते समुद्घ्रियन्ते यस्यामेतादृशी ललिताक्षरवती वाग् यस्येत्येवमभूत् । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

अन्वय : हे कुशल प्रस्थितस्य (मे) कुशलं शिरसि, अनु पथि पादयोः, अधुना च ते अवलोकनात् तनुः अञ्चनैः कुशलतेव अमनाक् उपभाति स्म ।

अर्थ : हे कुशल यानी चतुर नरपते ! जब मैंने प्रस्थान किया तो उस समय कुशल मेरे सिरपर रहा, मांगलिक कुश मेरे सिरपर रखे गये । बादमें जब मैं चलने लगा तो कुशल मेरे चरणोंमें था, कुशोंपर पैर रखता हुआ आया । किन्तु इस समय तो आपके अवलोकनसे रोमाञ्च हो जानेसे सारे शरीरमें ही परिपूर्ण रूपमें कुशलता है ॥ ३४ ॥

अन्वय : इति सः दूतः अत्र राज्ञः विपत्त्रे अपि करे पत्रं सन्ददत् अपत्रपतया अपि मञ्जुपत्रवाक् आसीत् ।

अर्थ : इस प्रकार वह दूत आपत्तिसे त्राण करनेवाले राजाके हाथमें निःसंकोच भावसे पत्र देता हुआ मंजुल पदोंसे युक्त वाणी बोला ।

निष्ठाप्य सूत्रवत्पत्रं व्याख्याप्याख्यातसंकथा ।
तद्वाणी रमणीयाऽऽसीद्रमणीव हि कामिनः ॥ ३६ ॥

निष्ठाप्येति । सूत्रं कार्पासतन्तुस्तद्वद् यत्पत्रं माङ्गलिकसूत्रवेष्टितं पत्रं निष्ठाप्य स्थापयित्वा पुनः व्याख्यया आप्या स्फुटीक्रियया प्राप्या आख्यातस्योदितस्य संकथा यस्यां सा तस्य दूतस्य वाणी तद्वाणी रमणीया हृदयग्राह्याऽऽसीत्, कामिनस्तस्य नरपते रमणीव कामनीतुल्या रमणी च विशिष्टयाऽऽख्यया संज्ञया आप्या प्रापणीया, तथा ख्याता प्रसिद्धा संकथा कीर्तिर्वार्ता यस्याः सा, सूत्रवत्पत्रं दुकूलादिकं निष्ठाप्य उपहारीकृत्य रमणीया भवति। तथा च सूत्रं सूचनात्मकं वाक्यं तद्वत्पत्रं सिद्धान्तशास्त्रं निष्ठाप्य प्रतिष्ठाप्य पुनराख्यातस्य सूत्रे सामान्यतयोदितस्य संकथा विशेषकथनं यस्यामेतादृशी व्याख्या टीकापि तस्य सूत्रस्य वाणीव वाणी यस्यां सा सूत्रानुसारिणी चेद्रमणीया भवति । कामिनो यथेष्टार्थस्याभिलाषिणः तस्य कामिनो वाणीव वाणी यस्याः कामिनोऽभिप्रायपुष्टिकरीति यावत् । यद्वा मा माधुर्यादिप्रसिद्धा वाणी यस्याः सा तद्वाणीति व्याख्यातं रमणीपक्षेऽपि । अनुप्रासोपमालङ्कारौ ॥ ३६ ॥

तस्यैका तनया राज्ञो राजते कौमुदाश्रया ।
सुप्रभाकुक्षितो जाता चन्द्रिकेव सुरोचना ॥ ३७ ॥
विचक्षणेक्षणाक्षुण्णं वृत्तमेतद्गतं मतम् ।
क्षणदं क्षणमाख्यानात् कर्णालङ्करणं कुरु ॥ ३८ ॥

विशेष : यहाँ आपाततः 'विपत्रे करे पत्रं सन्ददत्' और 'अपत्रपतया मञ्जुपत्रवाक् आसीत्' यह विरोध दीखता है, जो विरोधाभास अलंकार है ॥ ३५ ॥

अन्वय : सूत्रवत् पत्रं निष्ठाप्य आख्यातसंकथा व्याख्या अपि तद्वाणी कामिनः रमणी इव रमणीया आसीत् ।

अर्थ : सूत्रकी तरह या (मांगलिक सूत्रसे वेष्टित उस) पत्रको राजाके आगे रखकर प्रसंगिक कथाको प्रकट करनेवाली व्याख्यात्मक उस दूतकी मनोहर वाणी विलासी महाराज जयकुमारके लिए कामिनी-सी रमणीय हुई ॥ ३६ ॥

अन्वय : हे विचक्षणेक्षण तस्य राज्ञः एका तनया सुप्रभाकुक्षितः जाता, चन्द्रिकेव कौमुदाश्रया सुलोचना राजते । एतद्गतम् अक्षुण्णं वृत्तं क्षणदं मतम् । अतः क्षणं आख्यानात् कर्णालङ्करणं कुरु ।

तस्येति । विचक्षणेति युग्ममिदम् । हे विचक्षणेक्षण, विचक्षणे मनोहरे ईक्षणे नेत्रे यस्य स तत्सम्बोधने हे सुन्दरनेत्र ! राज्ञः श्रीधरस्यैका तनया पुत्री सुप्रभाराज्ञ्याः कुक्षितो जाता, कौ पृथिव्यां मुदाश्रया प्रसन्नताधारा सुरोचनेति यथार्थनाम्नी राजते । कीदृशी ? चन्द्रिकेव ज्योत्स्नेव । चन्द्रिकापि भूमौ प्रसादकारिणी रुचिरा भवति । किञ्च कुमुदानां समूहः कौमुदं कैरवसमूहस्तस्याश्रया विकासकारिणी भवति । एतद्गतमुक्तकन्याविषयकं वृत्तमक्षुण्णमभिनवं क्षणदमानन्दप्रदं मतम् । अतः क्षणं मुहूर्तमाध्यानावधानपूर्वकं कर्णयो-रलङ्करणं भूषणं कुरु रुचिपूर्वकमाकर्णयेत्यर्थः । अनुप्रासोपमालङ्कारौ ॥ ३७–३८ ॥

स्मरस्य वागुरा बाला लावण्यसुमनोलता ।
शाटीव सुभगा भाति गुणैः संगुणिता शुभैः ॥ ३९ ॥

स्मरस्येति । या बाला शुभैः प्रशस्तैर्गुणैः सौकुमार्यादिभिः संगुणिता युक्ता, लावण्यं सौन्दर्यं, तदेव सुमनसः पुष्पाणि तेषां लता वल्लीरूपा, परम्पराधिकारिणी वा, शमानन्द-मटतीति शाटीव शर्मसम्पन्नेत्यर्थः । सुभगा सुन्दरी सौभाग्यशालिनी वा तस्मात् स्मरस्य कामदेवस्य वागुरा बन्धनवध्रीव भाति शोभते । वागुरापि शुभैर्दृढैः गुणैः रज्जुभिः संगु-णिता निर्मिता, अवाराऽनिवार्या शं हिंसामटतीति शाटी बधकर्त्री, लावण्यस्य लवणभावस्य सुमनोलता समनस्कता यत्र सा, वसु श्यामं भगं ज्ञानं यत्र यया वा सा, वसुभगा मलिन-ज्ञानकर्त्रीति । तथा सा शाटीव भाति । स्त्रीणामाभरणवस्त्रं नाम शाटी, सापि शुभैरभङ्गै-र्गुणैः कार्पासतन्तुभिः संगुणिता उत्पादिता, सा वाऽबाला अलघ्वी सुदीर्घा । यद्वा आवारा आवरणकर्त्री सुभगा सुन्दराकारा । अथवा वसूनां रत्नानां भगं ज्ञानमवलोकनं यस्यां सा, मध्ये मध्ये रत्नैरङ्कितेत्यर्थः । लावण्यसुमनसां कृत्रिमाणां शोभाकारिपुष्पाणां लता परम्परा यस्यां सा । स्मरस्य स्मरणस्य वाऽगुरखण्डो ला समागमो यस्याः साऽगुला चिरस्मृतिदात्री कामोत्पत्तिकर्त्रीति, वाऽव्ययं विकल्पोत्पत्तौ । 'गौः पुमान् वृषभे स्वर्गे खण्डवज्रहिमांशुषु । ला तु दाने किलादलेष' इति कोषात् व्याख्या कार्या । रूपकगर्भितश्लेषोपमालङ्कारः ॥३९॥

अर्थ : हे चतुर-सुन्दर नेत्रवाले राजन् ! उस राजाके एक कन्या, जो महा-रानी सुप्रभाकी कुक्षिसे उत्पन्न और चन्द्रिकाकी तरह पृथ्वीपर प्रसन्नताकी धारा बहानेवाली है, सुरोचना या सुलोचना नामसे शोभित हो रही है। इस कन्याका सारा वृत्तान्त जो मैं सुनाने जा रहा हूँ, वह आनन्द देनेवाला है। इस-लिए क्षणभर ध्यानसे सुनो ॥ ३७–३८ ॥

अन्वय : (एषा) बाला शुभैः गुणैः संगुणिता सुभगा शाटी इव लावण्यसुमनोलता स्मरस्य वागुरा भाति ।

इक्षुयष्टिरिवैषाऽस्ति प्रतिपर्वरसोदया ।
अङ्गान्यनङ्गरम्याणि क्वास्या यान्तूपमां ततः ॥ ४० ॥

इक्षुयष्टिरिति । एषा बाला सुलोचना, इक्षुयष्टिरिव पौण्ड्रविटपिकेव, यस्मात्, पर्वेति अवयवसन्धिर्ग्रन्थिर्वा, पर्वं पर्वं इति प्रतिपर्वं रसस्य शृङ्गारस्य मधुरस्योदय उत्पत्तिर्यस्यां सा । ततः सरसावयवत्वादेव अस्या बालाया अङ्गानि अनङ्गाय कामायाऽतिरम्याणि मनोहराणि । यद्वा, अङ्गमुपायस्ततोऽनङ्गरम्याणि निरुपायरमणीयानि सहजसुन्दराणि, ततस्तानि । किलोपमां क्व यान्तु, न क्वापीत्यर्थः । सुन्दरं तुल्यस्वभावेन सुन्दरेणोपमीयते । अस्या अङ्गानि तु सुन्दरतमानि, अतः केनापि प्रतिमानं न लभन्त इति भावः । उपमाश्लेषः ॥४०॥

अथासौ चन्द्रलेखेव जगदाह्लादकारिणी ।
नित्यनूत्नां श्रियं भाति बिभ्राणा स्मरसारिणी ॥ ४१ ॥

अथेति । अथ च वृद्धमार्गमनुसृत्य वर्ण्यते । अथासौ बाला नित्यनूत्नां प्रतिदिनं नवां नवां श्रियं बिभ्राणा दधाना सती जगतामाह्लादकारिणी प्रसत्तिविधायिनी स्मरस्य कामस्य सारिणी विस्तारिणी चन्द्रलेखेव भाति राजते । द्रष्टॄणां दर्शनरुचिमुत्पादयतीत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ४१ ॥

उत्क्रान्तवती कौमारमेषा चञ्चललोचना ।
स्नेहादिव तथाप्येनां नैव मारः स बाधते ॥ ४२ ॥

अर्थ : वह बाला साड़ीकी तरह उत्तम गुणों (सूत्रों) से युक्त, सौन्दर्यरूप पुष्पोंकी लता और कामदेवकी बन्धन-रज्जुकी तरह शोभित होती है ॥ ३९ ॥

अन्वय : एषा इक्षुयष्टिः इव प्रतिपर्वरसोदया अस्ति । (अस्याः) अनङ्गरम्याणि अङ्गानि क्व उपमां यान्तु ।

अर्थ : वह सुलोचना प्रतिदिन उत्तरोत्तर सरसता सरसाये रहती है, इसीलिए ईखकी यष्टिके समान पोर-पोरपर रसभरी है । कामदेवके लिए अत्यन्त रमणीय उसके अङ्गोंका सादृश्य कहाँ मिल सकता है ? ॥ ४० ॥

अन्वय : अथ असौ जगदाह्लादकारिणी नित्यनूत्नां श्रियं बिभ्राणा स्मरसारिणी चन्द्रलेखा इव भाति ।

अर्थ : वह जगत्को प्रसन्न करनेवाली एवं नित्य नवीन शोभा धारण करनेवाली कामदेवको प्रकट करनेवाली चन्द्रलेखाकी तरह है ॥ ४१ ॥

अन्वय : एषा चञ्चललोचना कौमारम् उत्क्रान्तवती, तथापि एनां स्नेहात् मारः न एव बाधते स्म ।

उत्क्रान्तवतीति । एषा बाला, चञ्चले हावभावपरिपूर्णे लोचने यस्या एवम्भूता कौमारं कुमारभावमुत्क्रान्तवती लङ्घितवती, नवयौवनाऽभवदित्यर्थः । किञ्च कौ पृथिव्यां मारं कामदेवमुत्क्रान्तवती भर्त्सितवती, तथापि पुनर्मारस्त्वेनां तिरस्कर्त्रीमपि न बाधते स्म, न मनागप्यपीडयत्, कुतः स्नेहादिव प्रेमभावादिव । प्रेमीजनोऽपि निरादरमुपेक्षते । यौवनवती सत्यपि निर्विकारचेष्टास्तीति । स्नेहादिवेत्यत्र इवशब्दः स्वाभाविकस्यापि कौमारोल्लङ्घनादेः प्रकारान्तरोत्प्रेक्षार्थकः । श्लेषगर्भोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४२ ॥

सा तनुस्तानि चाङ्गानि किन्त्वभूद्रामणीयकम् ।
यौवनेनाद्भुतं तस्याः स्यात्कारेण यथा गिरः ॥ ४३ ॥

सा तनुरिति । बालाया यौवनारम्भेऽधुना हे भूपाल, यद्यपि सा पूर्वोदितैव तनुः शरीरं तानि पूर्वसम्भूतान्येवाङ्गानि, किन्तु यौवनेन कृत्वा पुनस्त्या अद्‌भुतमभूतपूर्वमेव रामणीयकं सुन्दरत्वमभूत् । यथा गिरो वाण्या वाच्योऽर्थः स एक एव, पुनरपि स्यात्कारेण अनेकान्तोद्योतकेन कृत्वा सा रमणीयतमा भवति, तथाऽसावपि यौवनेन रमणीयतमा जातेत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४३ ॥

सुकृतैकपयोराशेराशेव सुरसा तया ।
पद्मोऽपि चेज्जितः पद्भ्यां पल्लवे पत्त्रता कुतः ॥ ४४ ॥

सुकृतेति । हे राजन्, सा कुमारी सुकृतं पुण्यमेवैकमद्वितीयं पयो जलं तस्य राशिः समुद्रस्तस्याशेव वेलेवाऽस्ति । यतः सुरसा रसपरिपूर्णा वर्तते तया । कुमार्याः पद्भ्यां

अर्थ : हाव-भावभरे चञ्चल नेत्रोंवाली यह बाला कौमार-अवस्था पार कर चुकी है, पृथ्वीपर कामदेवको भी तिरस्कृत कर रही है। फिर भी मानो स्वाभाविक स्नेहके वश कामदेव उसे जरा भी कष्ट नहीं दे रहा है। अर्थात् युवावस्थामें भी वह निर्विकार चेष्टावाली है ॥ ४२ ॥

अन्वय : तस्याः सा तनुः तानि च अङ्गानि, किन्तु यौवनेन अद्‌भुतं रामणीयकं अभूत् यथा स्यात्-कारेण गिरः ।

अर्थ : यद्यपि उसका शरीर वही है जो कि बचपनमें था और वे ही अंग-प्रत्यंग हैं। फिर भी युवावस्थाके कारण उनमें अनोखा सौन्दर्य आ गया है, जैसे कि स्यात्कार (स्याद्वाद) से वाणीमें विचित्रता आ जाती है ॥ ४३ ॥

अन्वय : सा सुकृतैकपयोराशेः आशा इव सुरसा (अस्ति) । तया पद्‌भ्यां पद्मः अपि जितः चेत् पल्लवे पत्त्रता कुतः ।

पादाभ्यां पद्मे मा शोभा यस्य स पद्मोऽपि जितः पराजितश्चेत्पुनः पल्लवे पदांश इति नामार्थके पत्त्रतापि पद्भाव एव कुतः स्याद् यतः स तस्याः पदतुल्यतामाप्नुयात् । श्लेषोपमानुप्रासालङ्कारः ॥ ४४ ॥

सभमस्याः पदस्याग्रं नखमाहुः सदा जनाः ।
नभस्तु खमिति ख्यातिं लेभे श्रीपूज्यपादतः ॥ ४५ ॥

सभमिति । अस्या अनन्यरमणीयायाः पदस्याग्रं प्रान्तभागं भया भान्त्या सहितं, यद्वा भैर्नक्षत्रैः सहितं सभमिति । जनाः साधारणलोकाः सदा खं न भवतीति नखमाहुर्जगुः । कान्त्या व्याप्ततया खवर्जितमवकाशरहितमित्युक्तवन्तः, किन्तु न कोऽपि जनस्तत्रावकाशमाप्तवान् । नभस्तु पुनर्भशून्यतया निष्प्रभतया च खमिति ख्यातिमाख्यां श्रीपूज्यपादतो मुनिनायकाल्लेभे । अथवा श्रिया लक्ष्म्याः कान्त्या च पूज्यश्चासौ पादश्च सुलोचनायास्ततः खमभावरूपं भाभावादेव नभ आकाशमिति नाम लेभे किल । यतो विहायसः समागत्य भान्येव तस्याः पदाग्रे नख-नामधारकाणि भवन्ति चमत्कृतिवन्ति ॥ ४५ ॥

अर्थ : राजन्, वह बाला सुलोचना सुरसा (रसपूर्ण) है। इसीलिए वह पुण्यरूप समुद्रकी वेलाकी तरह सुन्दर है। उसने अपने चरणोंसे पद्मों (कमलों) को जीत लिया। तब पल्लवमें पत्रता कहाँ हो सकती है ?

विशेष : 'पदयोः मा शोभा यत्र स पद्मः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पैरोंकी शोभा रखनेवाले पद्मको ही जब उसके चरणोंने जीत लिया, तब पल्लव तो (पद् + लव) पैरोंके अंशमात्र होनेसे उनमें पैरोंकी बराबरी करनेकी बात (पदका भाव) सम्भव ही कहाँ ? ॥ ४४ ॥

अन्वय : अस्याः सभं पदस्य अग्रं जनाः सदा नखम् आहुः। नभः तु खम् इति श्रीपूज्यपादतः आख्यां लेभे।

अर्थ : प्रभो ! उसका चरणाग्र तो 'सभ' अर्थात् कान्तिसहित और नक्षत्ररहित है जिसे साधारण लोग 'नख' अर्थात् 'ख = आकाश नहीं' इस रूपमें कहते हैं। इसीलिए पूज्य पुरुषोंने 'ख' को 'नभ' बतलाया। भाव यह कि परस्पर परिवर्तन हो गया। चरण तो 'ख' यानी अवकाशसे युक्त थे, किन्तु 'नभ' (नक्षत्ररहित) थे; वे 'सभ' यानी प्रकाशसहित और नक्षत्रसहित बन गये। उधर जो 'सभ' (नक्षत्रसहित) आकाश था, वह 'नभ' (कान्तिविहीन) होनेसे 'ख' (न + ख नहीं) बन गया ॥ ४५ ॥

अबालभावतो जङ्घे सुवृत्ते विलसत्तनोः ।
मनः सुमनसां हर्तुं भजतो दीव्यतामितः ॥ ४६ ॥

अबालभावत इति । विलसत्तनोः सुन्दरशरीरायाः सुलोचनाया जङ्घे बालानामभावत्वादित्यबालभावतो निर्लोमत्वात् सुमनसां सज्जनानां मनस्विनामपि मनो हर्तुं वशीकर्तुमितो भूतले दीव्यतां सुन्दरतमतां भजतः । यतस्ते सुवृत्ते सम्यग्गोलाकारे स्तः । तथा च ते सुवृत्ते सदाचरणशीले । बालो मूर्खः, न बालोऽबालस्तद्भावतो मूर्खत्वाभावाद् हेतोः सुमनसां देवानामपि मनो हर्तुमाक्रष्टुमितो भूभागादपि दीव्यतां देवरूपतां भजतो लभेते । तस्या जङ्घे दृष्ट्वा देवा अपि सस्पृहा भवन्ति, किं पुनर्मनुष्या इति भावः । श्लेषः ॥ ४६ ॥

नाभिस्तु मध्यदेशेऽस्याः सरसा रसकूपिका ।
लोमलाजिच्छलेनैतत्पर्यन्ते शाड्वलावलिः ॥ ४७ ॥

नाभिरिति । अस्याः प्रसङ्गप्राप्ताया मध्यदेशे, उदराधोभागे या नाभिस्तुण्डी वर्तते सा गाम्भीर्याद्धेतो रसस्य कूपिकेव रसकूपिका, सरसा सजला सारवती वास्ति । तत्कथमित्याह—यत एतत्पर्यन्ते प्रान्तभागे लोम्नां सूक्ष्मकेशानां, लाजिः पङ्क्तिस्तस्याश्छलेन शाड्वलानां हरिताङ्कुराणामावलिस्ततिः आभाति । अपह्नुतिरलङ्कारः ॥ ४७ ॥

अन्वय : विलसत्तनोः सुवृत्ते जङ्घे अबालभावतः सुमनसां मनः वशीकर्तुम् इतः दीव्यतां भजतः ।

अर्थ : सुन्दर शरीरवाली उस बालाकी सुन्दर गोलाकार या सदाचरणशील दोनों जंघाएँ लोमरहित होनेसे मनस्वी सज्जनों या देवोंके भी मनको वश करनेके लिए इस भूतलपर सुन्दरतमता धारण करती हैं । भूतलपर इसकी इन जंघाओंको देख स्वर्गस्थ देव भी कामकलामें मूर्ख न होनेसे जब सस्पृह हो उठते हैं तो मनुष्योंकी बात ही क्या, यह भाव है ॥ ४६ ॥

अन्वय : अस्याः मध्यदेशे नाभिः तु रसकूपिका सरसा । (यतः) एतत्पर्यन्ते लोमलाजिच्छलेन शाद्वलावलिः (भाति) ।

अर्थ : इस सुलोचनाके मध्यदेश (उदर) में जो नाभि है, वह तो रसभरी बावड़ी ही है । इसीलिए उसके चारों ओर रोमराजिके ब्याजसे हरी-हरी घास, बालतृण लगे हुए हैं ॥ ४७ ॥

विधिर्येनाभ्युपायेन नाभिवापीं निखातवान् ।
लोमलाजिच्छलात्सैषा कुशिकैवाऽथवा भवेत् ॥ ४८ ॥

विधिरिति । अथवा विकल्पान्तरे, विधिः धाता अदृष्टविशेषो येन केनाभ्युपायेन साधनेन नाभिरेव वापी दीर्घिका तां निखातवान् चखान । लोमलाजिच्छलाद् रोमपङ्क्ति-व्याजात् सा चैषा कुशिका कुद्दालिकैव भवेदिति सम्भाव्यते । यतः कुशिकामन्तरा एतादृश्या गभीरनाभ्याः खातुमशक्यत्वात् । रूपकोत्प्रेक्षालङ्कारौ ॥ ४८ ॥

व्यञ्जनेष्विव सौन्दर्यमात्रारोपावसानकौ ।
विसर्गौं स्तनसन्देशात् स्मरेणोद्देशितावितः ॥ ४९ ॥

व्यञ्जनेष्विति । इतः सुलोचनायाः शरीरे व्यञ्जनेष्ववयवेषु स्मरेण कामेन सौन्दर्य-मात्रारोपेऽवसानं ययोस्तौ रमणीयतारोपणपरिणामौ, स्तनसन्देशात् पयोधरयुग्मभिषात् सौन्दर्यमात्रारोपावसानकालिकौ विसर्गौ बिन्दुद्वयात्मकौ, उद्देशितौ निर्दिष्टौ । अयं भावः— निर्माणं तु पूर्वमेव जातम् । अधुना यौवनारम्भमपेक्ष्य रतिपतिना सौन्दर्यमेव दीयत इति मात्राशब्दार्थः । किञ्च, व्यञ्जनेषु ककारादिषु सौन्दर्यपूर्वकं मात्रारोपः कृतोऽकारादि-स्वराणां संयोगः कृत इति । यथा बालः प्रथमं वर्णमालामभ्यस्य पुनर्व्यञ्जनेषु स्वरान् योज-

---

अन्वय : अथवा विधिः येन अभ्युपायेन नाभिवापीं निखातवान्, लोमलाजिच्छलात् सा एषा कुशिका एव भवेत् ।

अर्थ : अथवा ब्रह्मदेवने जिस साधनसे इसकी नाभिरूप बावड़ीको खोदा, रोमराजिके व्याजसे यह वह कुदाली ही वहाँ पड़ी रह गयी हो । बिना कुदालीके ऐसी गहरी नाभि खोदना संभव नहीं, यह भाव है ॥ ४८ ॥

अन्वय : इतः स्मरेण स्तनसन्देशात् व्यञ्जनेषु सौन्दर्यमात्रारोपावसानकौ इव विसर्गौं उद्देशितौ ।

अर्थ : इस बालाके शरीरमें कामदेवने स्तनद्वयके व्याजसे व्यञ्जनों (स्वर-रहित अक्षरों या अवयवों) में सौन्दर्यमात्रके आरोपणके अवसानसूचककी तरह दो विसर्ग निर्दिष्ट कर दिये हैं । अर्थात् जैसे सौन्दर्यविहीन व्यञ्जनोंमें सौन्दर्यके आधानके लिए मात्राएँ (अ, आ आदि) लगायी जाती हैं और उन मात्राओं-का अन्त विसर्ग (:) में हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मदेवने बनाये इस बालाके शरीरके अवयवों (व्यञ्जनों) में सौन्दर्यकी मात्राएँ भरते हुए उसकी समाप्ति-

यति तथैव कामेन कुचमिषाद् बिन्दुद्वयात्मकौ विसर्गौ निर्दिष्टौ। स्तनयोः स्फुटीभाव आरब्धः, तस्मात् स्मरेण शिक्षणमारब्धमिति व्यज्यते । अपह्नुत्यलङ्कारः ॥ ४९ ॥

समुत्कीर्य करावस्या विधिना विधिवेदिना ।
तच्छेषांशैः कृतान्येव पङ्कजानीति सिद्ध्यति ॥ ५० ॥

समुत्कीर्येति । विधिवेदिना विधानज्ञेन विधिना ब्रह्मणा प्रथमत एव तस्याः सुलोचनायाः करौ हस्तौ यथावदुपपाद्य पुनस्तयोः शेषैरवशिष्टैरंशैः उत्करह्वपैः निःसारभागैः पङ्कजानि कृतानि, पङ्कादवकरात् जातानि पङ्कजान्येवमन्वर्थाभिधानत्वात् । अन्यथा तु तेषां पङ्कजत्वं कुतः समायातम् । अतस्तत्करौ अवशिष्टभागकृतत्वादेव कमलानां पङ्कजत्वं सिद्धयतीति भावः । हेत्वलङ्कारः ॥ ५० ॥

असौ कुमुदबन्धुश्चेद्धितैषी सुदृशोऽग्रतः ।
मुखमेव सखीकृत्य बिन्दुमित्यत्र गच्छतु ॥ ५१ ॥

असाविति । असौ कुमुदानां बन्धुः कैरवविकासकारकश्चन्द्रः सुदृशः सुलोचनाया अग्रतः सम्मुखे हितैषी स्वहितवाञ्छकश्चेद्भवति तदैतस्या मुखमाननमेव नान्यदन्यत्र सामर्थ्याभावात् सखीकृत्य अनेन सह मैत्रीमासाद्यात्र भूतले बिन्दुं सारवत्त्वं गच्छतु लभताम् । अथवा मुखमात्मनामगतस्य मुकारस्य खमभावमेव सखीकृत्य आत्मसात् कृत्वात्र तत्स्थाने

रूप विसर्ग ही दो स्तनोंके रूपमें रख दिये। ये दो स्तन नहीं, सौन्दर्य-मात्राओंकी समाप्तिके सूचक विसर्ग हैं, यह अपह्नुति-अलंकार यहाँ कविको अभिप्रेत है ॥ ४९ ॥

अन्वय : विधिवेदिना विधिना अस्याः करौ समुत्कीर्य तच्छेषांशैः कृतानि एव पङ्कजानि इति सिद्ध्यति ।

अर्थ : विधिके ज्ञाता विधाताने इस सुलोचनाके दोनों हाथोंको भलीभाँति बनाकर उसके बचे कूड़े-करकटसे कमलोंको बनाया। इसीलिए उनका कीचड़से पैदा होनेवाला 'पंकज' नाम सार्थक सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

अन्वय : असौ कुमुदबन्धुः सुदृशः अग्रतः हितैषी चेत् (तदा) अत्र (अस्याः) मुखं सखीकृत्य बिन्दुम् इति गच्छतु ।

अर्थ : यह कुमुदबन्धु (कुमुद नामक कमलका विकासक चन्द्रमा) यदि सुलोचनाके सम्मुखमें अपना भला चाहता हो तो यहाँ इसके मुखको मित्र बनाकर उससे कुछ भी बिन्दु अर्थात् सारभूत कांति प्राप्त कर ले। अथवा—चन्द्र

बिन्दुमनुस्वारमाप्नोतु, कुमुदबन्धुस्थाने कुन्दबन्धुरिति भवतु । कुन्दकुसुमवदस्या मुखस्याग्रे निष्प्रभस्तिष्ठताविति तात्पर्यार्थः ॥ ५१ ॥

बहुशस्य वृत्तिता वाऽधरबिम्बस्य दृश्यताम् ।
साध्व्या यतोऽधरं बिम्बनामकं च फलं परम् ॥ ५२ ॥

बह्वीति । साध्व्याः सुशीलायास्तस्या अधरबिम्बस्य ओष्ठमण्डलस्य बहुतिशयेन शस्या प्रशंसनीया वृत्तिस्तस्या भावः श्लाघनीयसत्ताभावो दृश्यतामवलोक्यताम् । प्रशंसनीयस्तस्या अधरोष्ठो रमणीयभावात् । तथा चाधरबिम्बशब्दमाश्रित्यापि बहुशस्यवृत्तितैव बहुव्रीहिसमासवत्तैवास्तु, अधरमप्रशस्यं बिम्बं बिम्बिकाफलं यस्मात् सोऽधरबिम्ब इत्यर्थाश्रयणात् । तस्या ओष्ठो बिम्बफलादप्यधिकारुणिमवानित्याशयः ॥ ५२ ॥

पुष्पाभं हसितं यस्या भ्रूयुगं चापसन्निभम् ।
दृश्यते तनुरेतस्याः पुष्पचापपताकिनी ॥ ५३ ॥

अपने 'कुमुदबन्धु' नामसे 'मु' को हटाकर (अभाव कर) उसके स्थानपर बिन्दुको स्वीकार कर लें। अर्थात् 'कुंदबन्धु' बन जाय, तभी कुशल है। अन्यथा सुलोचनाके कुन्दकुसुमवत् मुखके सामने चन्द्रमा बिलकुल फीका पड़ जायगा, यह भाव है ॥ ५१ ॥

अन्वय : साध्व्याः अधरबिम्बस्य बहुशस्यवृत्तिता वा दृश्यताम् । यतः बिम्बनामकं फलं च परम् अधरम् ।

अर्थ : सुशीला सुलोचनाका अधरबिम्ब (बिम्बफलवत् अधरोष्ठ) अत्यन्त प्रशंसनीय सत्तावाला देखिये । अर्थात् उसकी सुन्दरता बेजोड़ होनेसे वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। कारण उसके उपमानमें दिया जानेवाला बिम्बफल अत्यन्त अधर या निम्न है। वह उसकी अरुणिमाको कभी पा ही नहीं सकता ।

विशेष : यहाँ 'वा' शब्दसे 'बहुशस्यवृत्तिता' का दूसरा अर्थ भी कविको अभिप्रेत है। 'बहु' पदके बाद 'शस्य' पदका पर्यायवाची शब्द 'व्रीहि' लेकर उस नामकी 'वृत्ति' यानी समास (बहुव्रीहि-समास) ही इस 'अधरबिम्ब' पदका करना चाहिए, उपमित-समास नहीं। अर्थात् 'अधरं बिम्बं यस्मात् तस्य अधरबिम्बस्य' (निम्न है बिम्बफल जिससे—ओष्ठसे) ऐसा समास करें ॥५२॥

अन्वय : यस्याः हसितं पुष्पाभम्, (च) भ्रूयुगं चापसन्निभम् । एतस्याः तनुः पुष्पचापपताकिनी दृश्यते ।

पुष्पामिति । यस्या कुमार्या हसितं हास्यं कुसुमतुल्यमस्ति परितः प्रसत्तिकृत्-उज्ज्वलकृत्वेत्यर्थः । यस्या भ्रुवोर्युगं चापसन्निभं भङ्गुराकारं वर्तते । एतस्यास्तनुर्देहयष्टिः पुष्पचापस्य कामदेवस्य पताकिनी सेनारूपा दृश्यते । यद्वा पुष्पचापस्य पताका ध्वजा अस्याः सा पुष्पचापपताकिनी कामध्वजवती दृश्यते । मनोहरां तस्यास्तनुमवलोक्य रसिकजनमनांसि मोमुह्यन्ते इति भावः ॥ ५३ ॥

दृष्टिः सृष्टिरपूर्वैवाकृष्टिर्विश्वस्य चेतसाम् ।
इतीवैनोमयत्वेन कज्जलैरपि लाञ्छिता ॥ ५४ ॥

दृष्टिरिति । अस्याः कन्याया दृष्टिर्दृक् तु विश्वस्य लोकसमूहस्य चेतसां हृदयानामासमन्तात् आकृष्टिराकर्षणरूपा अपूर्वैव सृष्टिर्वर्तते । यद्वा पूर्वाकारपूर्विका सृष्टिरस्य संहारकारकस्य महादेवस्येव सृष्टिर्वर्तते । अत एव एनोमयत्वेन पापात्मकत्वेन हिंसाहेतुत्वात् या कज्जलैरञ्जनैः अथ कलङ्कैरपि लाञ्छिताऽस्तीति शोभार्थं ध्रियमाणं कज्जलं कलङ्कत्वेन कथ्यते, इतीवशब्दार्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५४ ॥

श्रेणीति कालबालानां वेणी चेणीदृशो भृशम् ।
वक्ष्यते वीक्षमाणेभ्यः पन्नगीव विपन्नगी ॥ ५५ ॥

श्रेणीति । एण्या मृग्यादृशाविव दृशौ यस्यास्तस्या वेणी केशततिः कालानां श्यामलानां बालानां श्रेणी पङ्क्तिरस्ति । तस्याः केशा अतिशयेन श्यामा इत्यर्थः । अथवा, कालस्य बाला इव बालास्ते कालबालास्तेषां श्रेणी पङ्क्तिरस्ति सर्पशावकसन्ततिः, या भृशं

अर्थ : इस कन्याका हास्य पुष्पकी तरह प्रसन्नता एवं उज्ज्वलताकारक है। इसकी दोनों भौंहे (कामदेव के) धनुषाकार बाँकी हैं। इसकी देहयष्टि कामदेवकी सेना अथवा पताकाकी तरह है ॥ ५३ ॥

अन्वय : (अस्याः) विश्वस्य चेतसाम् आकृष्टिः सृष्टिः अपूर्वा एव, इति इव या एनोमयत्वेन, कज्जलैः अपि लाञ्छिता (अस्ति) ।

अर्थ : सुलोचनाकी विश्वभरके चित्तोंको आकृष्ट करनेवाली दृष्टि (ब्रह्मदेव) की अपूर्व सृष्टि है। मानो इसीलिए (इसे नजर न लगे इस हेतु) यह पापकी तरह काले काजलसे चिह्नित है, काजल मानो डिठवन लगाया गया है ॥ ५४ ॥

अन्वय : एणीदृशः वेणी कालबालानां श्रेणी इति । (या) भृशं वीक्षमाणेभ्यः विपन्नगी पन्नगी इव (अस्माभिः) वक्ष्यते ।

वीक्षमाणेभ्यो मुहुर्वर्शकेभ्यो लोकेभ्यो विपदामापदां नगीव स्थलीव पन्नगी सर्पिणी वर्तते, इत्यस्माभिर्बक्यते । छेकानुप्रासंसंवलित उपमालङ्कारः ॥ ५५ ॥

इङ्गितेनोभयोः श्रेयस्करीहामुत्र पक्षयोः ।
दुहिता द्विहिता नामैतादृशी पुण्यपाकतः ॥ ५६ ॥

इङ्गितेति । इङ्गितेन आचरणेन कृत्वा पूता सती इह लोकेऽमुत्र परलोके च, यद्वा पितृगृहे श्वशुरगृहे चोभयपक्षयोः, श्रेयस्करी कल्याणकर्त्री भवति । एतादृशी दुहिता नाम द्विहितैव द्वयोर्हितं यया भवतीति द्विहिता । मुहुर्मुहुरुक्ता सती लोके दुहिताऽभूत् । इत्येवं च पुण्यपाकत एव सुकृतोदयादेव भवति । लोके पुत्र्युत्पत्तेरनिष्टसम्भावनामाशङ्क्य अनेन सूक्तेन परिहारः क्रियते । श्लेषपूर्वकोत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥

चन्द्रोदये विभावर्या वसन्ते कुसुमश्रियाः ।
भाति स्म यौवनारम्भस्तस्या यद्वच्छरद्यपाम् ॥ ५७ ॥

चन्द्रोदय इति । तस्याः कन्यकाया अधुना यौवनारम्भो भाति स्म शोभते स्म, यद्वत् शरदि, अपां जलानामथवा वसन्ते कुसुमश्रियाः प्रसूनशोभायाः, तथा चन्द्रोदये विभावर्या रात्र्या यौवनारम्भो जायते, तथैवास्यास्तारुण्यारम्भः शोभत इत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५७ ॥

अर्थ : इस मृगनयना सुलोचनाकी वेणी (केशपाश) काले-काले बालोंकी पंक्ति है । अथवा सर्पशावकोंकी पंक्ति है । यह बार-बार देखनेवालोंके लिए विपत्तिकी स्थली सर्पिणीकी तरह है, ऐसा हम लोग कहते हैं ॥ ५५ ॥

अन्वय : इङ्गितेन इह अमुत्र च उभयोः पक्षयोः श्रेयस्करी एतादृशी दुहिता नाम द्विहिता पुण्यपाकतः (भवति) ।

अर्थ : वह कन्या अपने पवित्र एवं आदर्श आचरण द्वारा इहलोक और परलोकमें पितृपक्ष और पतिपक्ष दोनों कुलोंके लिए कल्याण करनेवाली ऐसी दुहिता यानी 'कन्या'नामिका द्विहिता (दोनों पक्षोंका कल्याणकारिणी) पूर्व-पुण्यके प्रभावसे ही सुलभ होती है ॥ ५६ ॥

अन्वय : चन्द्रोदये विभावर्याः वसन्ते कुसुमश्रीः शरदि च अपां तद्वत् तस्या यौवनारम्भः भाति स्म ।

अर्थ : जैसे चन्द्रका उदय होनेपर रात्रि, वसन्त ऋतुमें कुसुमश्री और शरत्कालमें जल-लेखाके यौवनका आरम्भ निखर उठता है, वैसे ही सुलोचनाके

सुभगा हि कृता यत्नाद्विधिनाऽथ प्रियंवदः ।
दत्त्वा स्मरो विलासादि सुवर्णं सुरभीत्यदः ॥ ५८ ॥

सुभगेति । सा कुमारी, विधिना वेधसा यत्नात् परिश्रमात् सुभगाऽतिसुन्दरी कृता सम्पादिता, अथ च स्मरः कामदेवो विलासो नेत्रविभ्रमादि आदिर्यस्य तद्विलासादि दत्त्वा अर्पयित्वा सुवर्णं च सुरभि चेत्यदः प्रियं वदतीत्येवंशीलः सञ्जायत इत्युपरिष्टात् । यथा सुवर्णं सुगन्धयुक्तं भवेत्तदा अत्युत्तमं भवति । तथा चेयं कन्या सुन्दरी सती विलासादियुक्ता अधुनाऽतीव श्लाघनीयेत्यर्थः । तद्गुणालङ्कारः ॥ ५८ ॥

सुवर्णमूर्तिः प्रागेव यौवनेनाधुनाऽञ्चिता ।
अद्भुतां लभते शोभां सिन्दूरेणेव संस्कृता ॥ ५९ ॥

सुवर्णमूर्तिरिति । सुवर्णा शोभनाकारा मूर्तिस्तनुर्यस्याः सा, सुवर्णमूर्तिस्तु तावदेषा प्रागेव बाल्य एव सञ्जाता, अधुना पुनर्यौवनेन अञ्चिता पूजिता सती किल अद्‌भुतामभूतपूर्वां शोभां लभते । यथा सौभाग्यसूचकेन सिन्दूरेण संस्कृताऽनुभाविता काञ्चनस्य मूर्तिः परमां शोभां लभते तथैवेत्यर्थः । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ ५९ ॥

एवं पृथक् पृथगुक्त्वा अधुना तदुपसंहारः क्रियते—

भी यौवनका आरम्भ निखर उठता था ॥ ५७ ॥

अन्वय : विधिना सा यत्नात् सुभगा कृता । अथ स्मरः विलासादि दत्त्वा सुवर्णं सुरभि इति अदः प्रियंवदः (सञ्जायते) हि ।

अर्थ : विधाताने उस कुमारीको अतिसुन्दरीके रूपमें बनाया । फिर कामदेव तो निश्चय ही उसमें विलासादि स्त्री-विभ्रमोंको अर्पणकर 'सोनेमें सुगंध' इस प्रिय सूक्तिको बोलनेवाला बन जाता है, अर्थात् सुन्दर युवतीमें विभ्रमादि देकर कामदेवने 'सोनेमें सुगन्धि' यह कहावत चरितार्थ कर दी ॥ ५८ ॥

अन्वय : (या) प्राग् एव सुवर्णमूर्तिः (सा) अधुना यौवनेन अञ्चिता सिन्दूरेण संस्कृता इव अद्‌भुतां शोभां लभते ।

अर्थ : जो सुलोचना प्रारम्भसे ही सुवर्ण (अच्छी शोभावाली या सोने-) की मूर्ति है, वह इस समय तो सिन्दूरसे संस्कृत होकर अपूर्व ही शोभा धारण कर रही है ॥ ५९ ॥

श्रोणी महती सैव मोदकौ संकुचरूपौ
त्रिवलिर्जवलेविका कपोलौ घृतवरभूपौ ।
अधरलता रसगुल्गुलेति परिणामसुरम्या
स्मितपयसा मधुरेण रसवतीयं बहुगम्या ॥ ६० ॥
ग्राहकान् समाह्वयति सैष कन्दर्पकान्दविक
इमकां संक्रीणातु सुकृतवित्ती नृपनाविक ।
सम्पन्ना गुणवती व्यञ्जनैरखिलैः पूर्णा
दर्शनेन तनुभृतां सङ्कुलितमूर्धनिघूर्णा ॥ ६१ ॥

श्रोणीति । श्रोणी जघनस्य जगती सा महती बृहत्परिणाहा । महती बृहतीति नाम मिष्टान्नविशेषश्च । संकुचरूपौ शोभनौ कुचावेव रूपे ययोस्तौ संकुचरूपौ, तथा च संकुचति सङ्कोचमञ्चति रूपं ययोस्तौ, मोदकौ लड्डुकौ । त्रिवलिर्नाम उदराधःस्थितं रेखात्रयं, सा जवलेविका नाम वर्तुलभङ्गविभङ्गाकारो मिष्टान्नभेदः । कपोलौ गण्डमण्डलौ तौ, घृतेन कान्त्या वा वरौ श्रेष्ठौ भूस्थानं पातौ रक्षत इति घृतवरभूपौ, घृतवराभिधौ व्यञ्जनविशेषौ । अधरलता ओष्ठततिः, सा रसगुल्गुला नाम खाद्यं सरसत्वादेवं कृत्वा स्मितरूपेण पयसा दुग्धेन तेन मधुरेण हृदयग्राह्येण परिणामतः स्वभावेनैव सुरम्या रमणीयाऽनुभवनीया रसवती शृङ्गाररसयुक्ता भोज्यसामग्रीयुक्ता वा, या च बहुगम्या, अनेकजनापेक्षिता । तस्मात् हे नृपनाविक, हे राजकर्णधार, सैव कन्दर्पकान्दविकः कामापूपिकः, इयमखिलैर्व्यञ्जनैरङ्गैः

अन्वय : (अस्याः) श्रोणी महती । संकुचरूपौ मोदकौ । त्रिवली जललेविका । कपोलौ घृतवरभूपौ । अधरलता रसगुल्गुला इति । अतः परिणामसुरम्या मधुरेण स्मितपयसा रसवती इयं बहुगम्या (अस्ति) । अतः हे नृपनाविक ! सः एषः कन्दर्पकान्दविकः समाह्वयति किल (यत्) यः सुकृतवित्ती सः इमकां संक्रीणातु । इयं दर्शनेन तनुभृतां सङ्कुलितमूर्धनिघूर्णा अखिलैः व्यञ्जनैः सम्पन्ना गुणवती (अस्ति) ।

अर्थ : यह सुलोचना स्वभावतः रमणीय, अनुभवनीय एवं शृङ्गार-रससे सराबोर होनेसे अनेक जनोंद्वारा अभिलषणीय है । इसकी श्रोणी (नितम्बका अग्रभाग) तो महती है, उभरी हुई है और कुचयुगल दृढ एवं उत्तुङ्ग हैं । त्रिवली आँटेवाली है और दोनों कपोल परम कान्तिके धारक हैं । इसकी अधर-लता (अधर, होंठ) सरस और अत्यन्त मृदुल हैं और यह हास्यरूपी दूधको धारण करती है ।

स्वाद्यैर्वा पूर्णा गुणवती विलासविभ्रमादिवती । पक्षे रुचिकारकत्वात् स्वाद्योचितगुणवती वा सम्पन्नाऽभूत् । या दर्शनेन अवलोकनमात्रेणैव, किं पुनरास्वादनेन तनुभृतां प्राणिनां मनस्विनां वा संकलितः सम्पादितो मूर्ध्नो मस्तकस्य निघूर्णना यया सा संकलितमूर्धनिघूर्णा । यां दृष्ट्वा प्रसन्नभावेन शिरश्चालनं क्रियते जनैरित्यर्थः । एतादृशीमिमकां यः सुकृतवित्ती पुण्यधनो जनः सम्पादितपुण्यधनो नरः संक्रीणातु, इत्येवं कृत्वा ग्राहकान् समाह्वयति । रूपकालङ्कारः ॥ ६०-६१ ॥

द्वितीयमुत्पाद्य पदादिकस्यापहृत्य धात्राऽनुपमत्वमस्याः ।
समोदनस्यात्र भवादृशस्य प्रयुक्तये सूपमताऽऽपि शस्य ॥ ६२ ॥

द्वितीयमिति । हे शस्य प्रशंसनीय, अस्या राजकुमार्याः पदादिकस्य अवयवस्य द्वितीयमपरमुत्पाद्य निर्माय धात्रा वेधसा, अस्या अनुपमत्वमपहृत्य, यदि पदप्रभृतेरपरमङ्गं न स्यात्तदा पुनः क्वोपमानं लभेतेति । अथवा, उपमा प्रशंसा, अनुपमत्वमप्रशस्यत्वमपहृत्य तावदस्मिल्लोके भवादृशस्य समोदनस्य मोदसहितस्य सम्यगोदनस्य भक्तस्य वा प्रयुक्तये प्रयोगार्थं सुन्दर्युपमा यस्य स सूपमः, तस्य भावः सूपमता, अत्र बालायामपि आपि प्राप्ता । यद्वा सूपस्य दालिकाख्यस्य व्यञ्जनस्य मतं सिद्धान्तो यस्याः सा सूपमता सा वाऽपि प्राप्ता ।

दूसरा अर्थ : सुलोचन मिष्टान्नका भण्डार है । इसकी श्रोणी तो 'महती' नामक मिठाई है । कुचयुगल मोदक (लड्डू) हैं । त्रिवली जलेबी है । कपोल-घेवर है । अधर रसगुल्ला है और हास्य दुग्ध है ।

इसलिए हे राजाओंके कर्णधार जयकुमार ! विश्वविश्रुत यह कामरूपी हलवाई पुकार रहा है कि जिसके पास पुण्यरूप धन हो, वह इस मिठाईरूप कुमारीको खरीदे । यह दर्शनामात्रसे देहधारी मानवोंके सिरोंको घूर्णित किये देती है और अखिल व्यञ्जनों (पक्वानों और सुन्दर अवयवों) से सम्पन्न, अतएव गुणवती है ॥ ६०-६१ ॥

अन्वय : हे शस्य अस्याः पदादिकस्य द्वितीयम् उत्पाद्य धात्रा अनुपमत्वम् अपहृत्य अत्र समोदनस्य भवादृशस्य प्रयुक्तये सूपमता आपि ।

अर्थ : हे प्रशंसनीय राजन्, विधाताने इस राजकुमारीके पैर, हाथ आदिके जोड़े बनाकर इसकी अनुपमताका गर्व खर्व कर दिया और तुम जैसे मोदसम्पन्न महापुरुषके प्रयोगके लिए उपमा देनेका अवसर प्राप्त कर लिया ।

दूसरा अर्थ : तुम्हारे सदृश सुन्दर भातके लिए (सम् + ओदनस्य) सुलोचना दालका काम करनेवाली (सूप = दाल + मता = सिद्धान्त जिसका) है ।

यथौदनस्य शोभा सूपसंयोगे भवति तथैव उक्तबालासंयोग एव भवादृशः शोभेति भावः। अत्र रूपकालङ्कारः ॥ ६२ ॥

तवापि भूमावपि रूपराशावाशाधिकर्त्र्यो बहुलास्तु तासाम् ।
का सावरम्या स्मरसारवास्तु सुरोचना नाम सुरोचनाऽस्तु ॥ ६३ ॥

तवापीति । हे भूपाल, रूपराशौ सौन्दर्यसमुद्रे, आशाधिकर्त्र्यो वेलाया अधिकारिण्यः स्त्रियस्तवापि बहुला अनल्पाः सन्ति, भूमावपि बहुला भवन्ति । पुनस्तासु च का स्त्री याऽसौ इह अरम्या रमणीया न भवति, अपि तु स्त्रीनामापि रमणीयैव। स्मरसारस्य कामचेष्टितस्य वास्तु वासस्थानम् । तथापि पुनः हे सज्जन, इयं प्रकृतवर्णनापन्ना सुरोचना तु सुरोचनैव, सूत्तमतया रोचना रुचिकरी विलसतु । न किल काचनापि स्त्री समकक्षतामेतस्या उपढौकतामिति । अनन्वयालङ्कारः ॥ ६३ ॥

एतादृशीं समिच्छन्तु सर्वेऽपि रमणीमणिम् ।
स्पृहयति न कं चन्द्रकलाप्यविकलाशया ॥ ६४ ॥

एतादृशीमिति । एतादृशीं पूर्वोदितवृत्तान्तां रमणीमणिं स्त्रीरत्नं सर्वेऽपि जना गार्हस्थ्याभिलाषिणः समिच्छन्तु एव, ये समिच्छन्ति, ते नायुक्तं कुर्वन्ति, यतोऽविकलोऽन्यूनो

अर्थात् जैसे दालके संयोगसे भातकी शोभा बढ़ती है, वैसे ही उस बालाके संयोगसे आप भी निखर उठेंगे ॥ ६२ ॥

अन्वय : (हे भूपाल) रूपराशौ तव अपि आशाधिकर्त्र्यः भूमौ अपि बहुलाः । तु तासां का असौ या अरम्या ? स्मरसारवास्तु । (किन्तु) सुरोचना नाम सुरोचना (एव) ।

अर्थ : हे राजन् सौन्दर्य-सागर आपको आशा लगानेकी अधिकारिणी स्त्रियाँ इस भूमण्डलपर भी बहुत-सी हैं । उनके बीच कौन ऐसी है जो रमणीय, विहार योग्य न हो ? प्रत्युत सभी कामचेष्टाओंकी वास्तुरूप हैं । फिर भी सुरोचना सुन्दर रुचिकर 'सुलोचना' नामक काशिराज-पुत्री तो सुरोचना ही है ।

विशेष : कविने 'सुरोचना' ही पद रखा है जो काशिराज-पुत्री सुलोचनाका बोधक समझना चाहिए । साहित्यशास्त्रमें 'र' और 'ल' का अभेद माना गया है । 'ल' की जगह 'र' का भी प्रयोग देखा जाता है ॥ ६३ ॥

अन्वय : एतादृशीं रमणीमणिं सर्वे अपि समिच्छन्तु । अविकलाशया चन्द्रकला अपि कं न स्पृहयति ।

निर्दूषण आशयो यस्याः सा चन्द्रस्य कला कं नाम जनं न स्पृहयति सस्पृहं करोति ? सर्वमेव स्पृहयतीत्यर्थः । तथैव सा बालापीति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ६४ ॥

संश्रयेत् कमथैकं साऽवस्थातुं स्थानभूषणा ।
निराश्रया न शोभन्ते वनिता हि लता इव ॥ ६५ ॥

संश्रयेदिति । अथ स्थानमेव स्वानुकूलपत्यादिरेव भूषणमलङ्कारो यस्याः सा सुलोचनाऽवस्थातुमाश्रयितुं कमेकमुपयुक्तपतिं संश्रयेत् सेवेत, इति तदभिभावकैश्चिन्त्यत इत्याशयः । हि यस्मात् कारणाद् वनिता योषिल्लतेव निराश्रया निरालम्बा न शोभते । अत्र उपमासंवलितोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६५ ॥

समं समालोच्य स आत्ममन्त्रिभिस्तदेवमापृच्छ्य निमित्ततन्त्रिभिः।
ततोऽनवद्यप्रतिपत्तिवन्मतिः स्वयंवरोद्धारकरत्वमिच्छति ॥६६॥

सममिति । स राजा श्रीधर इयं विवाहयोग्या मे सुता कथमात्मानुरूपं योग्यवरमाप्नुयादिति विषये, आत्ममन्त्रिभिः स्वामात्यैः समं समालोच्य परामृश्य, यदेव तैरुक्तं तदेव दृढीकर्तुं पुनर्निमित्ततन्त्रिभिः गणकैरापृच्छ्य शास्त्रानुमोदितानुमतिमादाय, नावद्याऽनवद्या निर्दोषा चासौ प्रतिपत्तिरिति कर्तव्यताज्ञानं यस्या अस्तीत्येवम्भूता मतिर्बुद्धिर्यस्य स

अर्थ : ऐसे रमणी-रत्नको गृहस्थताके इच्छुक सभी चाहें तो वह अनुचित नहीं। कारण, निर्दोष आशयवाली चन्द्रकला भी भला किसे स्पृहणीय नहीं होती ? ॥ ६४ ॥

अन्वय : अथ स्थानभूषणा सा अवस्थातुं कम् एकं संश्रयेत् ? हि वनिताः लता इव निराश्रया न शोभन्ते ।

अर्थ : अब अपने अनुकूल पति ही जिसका भूषण है, वह सुलोचना अपने आश्रयरूपमें किस एक अद्वितीय पतिका सहारा ले ? कारण स्त्रियाँ लताओंकी तरह आश्रय-विहीन होकर कभी सुशोभित नहीं हुआ करतीं। अतएव उसके अभिभावक ऐसे ही अद्वितीय वरकी खोजमें चिन्तित हैं, यह भाव है ॥ ६५ ॥

अन्वय : ततः स आत्ममन्त्रिभिः समं तत् समालोच्य (च) निमित्ततन्त्रिभिः तत् एव आपृच्छ्य अनवद्यप्रतिपत्तिवन्मतिः स्वयंवरोद्धारकरत्वम् इच्छति ।

अर्थ : सुलोचनाका पिता महाराज श्रीधर अपने मंत्रियोंसे इसी विषयमें सलाह-मशवरा करके और साथ ही निमित्त-ज्ञानियोंसे (ज्योतिषियों) से भी

स्वयंवरस्य स्वयं बालामुखेनैव वरनिर्वाचनरूपस्य उद्धारकरत्वं समुचितसमाधानविधायकत्वमिच्छति ॥ ६६ ॥

भाति चातिहितं तेन शान्तिवर्मतयेहितम् ।
तत्त्वार्थभाष्यमेवास्यं यस्य देवागमस्थितिः ॥ ६७ ॥

भातीति । तेन राज्ञा श्रीधरेण यदीहितं वाञ्छितं स्वयंवरोद्धरणं तच्चातिहितमतिशयेन हितरूपमुत्तममाभाति शोभते । शान्तिवर्मा नाम नृपस्य ज्येष्ठभ्राता यः स्वर्गतस्तस्य भावस्तया । देवागमस्थितिः, देवस्यागमनं देवागमस्तस्य स्थितिरवस्थानं सैव यस्या आस्यं मुखरूपं प्रथमत एव भावात्, तच्च तस्य तत्त्वार्थभाष्यं तत्त्वार्थस्य वास्तविकार्थस्य भाष्यं स्पष्टीकरणं भवति । अर्थाद् देवेनागत्य यस्य प्रक्रमः समारभ्यते तन्माङ्गलिकमेव अत्र कीदृक् सन्देहः । किञ्च शान्तिवर्मा नाम समन्तभद्र आचार्यस्तस्य भावस्तया । अथवा शान्तेर्वर्म कवचं तस्य भावस्तया, कृतं तत्त्वार्थनामकस्य शास्त्रस्य भाष्यं बृहट्टीकरणं, यस्य आस्यं मुखं नाम देवागमेत्यादिशब्दप्रारब्धस्य स्तोत्रस्य स्थितिर्निष्ठापनं तद् यथा मङ्गलरूपं भाति भास्यति वेति तद्वदिदमपि, हे सुन्दर । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ ६७ ॥

स मायातः समायातः स्राग् दिवश्चादिबन्धुवाक् ।
कौतुकं कौ तु कस्मान्न कृतवान् कृतवाञ्छनः ॥ ६८ ॥

स मायात इति । स आदिः प्रथमजातश्चासौ बन्धुर्भ्राता चेति वाङ् नाम यस्य सः, कौ पृथिव्यां कृतं वाञ्छनं येन सः, मायातो विक्रियया कृत्वा स्राक् शीघ्रमेव दिवः स्वर्गात्

परामर्श करके अपने निर्दुष्ट कर्तव्यका निर्धारण करते हुए उसका स्वयंवर-विधान करना चाहते हैं ॥ ६६ ॥

अन्वय : तेन ईहितं शान्तिवर्मतया अतिहितं तत्त्वार्थभाष्य यस्य देवागमस्थितिः भाति ।

अर्थ : जिस स्वयंवरको वह करना चाहता है, वह स्वयंवर-मण्डप शांतिवर्मा द्वारा बनाया हुआ है और तत्त्वार्थ-भाष्यके समान सुन्दर द्वार रखता है। देवागम हो उसकी स्थिति है। अर्थात् तत्त्वार्थ-भाष्य देवागम-स्तोत्र द्वारा प्रारम्भ होता है और यह भी देवताओंके आगमन-सहित है॥ ६७ ॥

अन्वय : सः आदिबन्धुवाक् स्राग् दिवः मायातः कृतवाञ्छनः समायातः कौ तु कौतुकं कस्मात् न कृतवान् ।

इस राजाका बड़ा भाई वह देव इस मंडपको बनानेके लिए अपनी महिमा

समायात आगतवान् सन् कौतुकं मनोरञ्जनं कस्मान्न कृतवान् उत्पादितवानेव, यं दृष्ट्वा लोकसमूहः कौतुकवानेवाभवदित्यर्थः । यमकालङ्कारः ॥ ६८ ॥

तस्या मानसपक्षी भवेद्भवेऽस्मिन्नरेश सुरसायाः ।
कस्य करक्रीडनकं निश्चेतुमितीहमानः सः ॥ ६९ ॥
भूपतेरीप्सितं सर्वं प्रक्रमते यथोचितम् ।
देवराडेव बान्धव्यात् सहभावो हि बन्धुता ॥ ७० ॥

तस्या इति । तस्याः सुरसायाः शोभनो रसः शृङ्गारो यस्याः सा तस्याः, यद्वा सुजलायाः । मानसं चित्तमेव पक्षी, यद्वा मानसपक्षी हंसः । हे नरेश, अस्मिन् भवे जन्मनि कस्य अपरिचितनामधेयस्य जनस्य करक्रीडनकं हस्तविनोदसाधनं भवेदिति निश्चेतुमेव ईहमान इच्छन् स देवराड् बान्धव्याद् बन्धुभावादेव न स्वपरकारणाद् भूपतेः काशीनरेशस्य सर्वमपि ईप्सितं यथोचितं प्रक्रमते । यतः सहभावो हि सहकारितैव बन्धुताऽस्ति । अर्थान्तरन्यासः ॥ ६९-७० ॥

देवांशे स्फुरदेव देवदिगभिद्वारं प्लवालम्बने
स्वश्रीशानदिशो नरेश्वरविशो वै भाविशोभावने ।
तेनैवोपपुरे सुरेण रचितं सम्यक् सभामण्डपं
दीव्ये वास्तुनि वास्तुनीतिनिपुणे श्रीसर्वतोभद्रकम् ॥ ७१ ॥

सहित स्वर्गसे आया है । अतः उसने पृथ्वीपर आकर आश्चर्य कैसे उत्पन्न नहीं कर दिया ? अपितु कर ही दिया ॥ ६८ ॥

अन्वय : (हे नरेश,) अस्मिन् भवे तस्याः सुरसायाः मानसपक्षी कस्य करक्रीडनकं स्यात् इति निश्चेतुम् ईहमानः सः देवराट् एव भूपतेः सर्वम् ईप्सितं यथोचितं बान्धव्यात् प्रक्रमते । हि सहभावः बन्धुता (भवति) ।

अर्थ : आखिर इस जन्ममें सुलोचनाका मनोरूपी हंस-पक्षी किसके हाथका खिलौना होगा ? इसके निश्चयकी कामनासे वह स्वर्गसे आया हुआ बड़ा भाई-रूप देव ही राजाके सभी मनचाहे कार्योंको यथोचित पूरा कर रहा है । ठीक ही है, साथ देना ही बन्धुता होती है ॥ ६९-७० ॥

अन्वय : तेन सुरेण नरेश्वरविशः वै भाविशोभावने स्वश्रीशानदिशः प्लवालम्बने उपपुरे दिव्ये वास्तुनीतिनिपुणे वास्तुनि देवांशे स्फुरत् एव देवदिगभिद्वारं श्रीसर्वतोभद्रकं सम्यक् सभामण्डपं रचितम् ।

देवांश इति। हे नीतिनिपुण नरेश्वर! विभः काश्मीरराजसद्मनो भाविशोभावने भविष्यच्छोपरिरक्षणे स्वस्य श्रीशानदिशः ईशानकोणतः प्लवमालम्बनं यस्य तस्मिन् किञ्चिन्निम्नरूपे, उपपुरे पुरसमीपभागे दीव्ये मनोहरे वास्तुनि स्थाने तेनैव शान्तिवर्मणा देवेन देवांशे स्फुरद् विभमानमुद्दिश्यमानस्थलस्य राक्षस-देव-मानव-ब्रह्मीत्येवं मुहुर्विभक्तस्य देवांशे श्रीमण्डपं कार्यमिति संहितासद्भावात्, श्रीसर्वतोभद्रनामकं सम्यक् सभामण्डपं रचितम्। छेकानुप्रासः ॥ ७१ ॥

कलत्रं हि सुवर्णोरुस्तम्भं कामिजनाश्रयम् ।
मण्डपं सुतरामुच्चैस्तनकुम्भविराजितम् ॥ ७२ ॥

कलत्रमिति। यन्मण्डपं कलत्रं हि स्त्रीसदृशं भातीत्यर्थः। कीदृशं, सुवर्णस्य कनकस्य ऊरवो दीर्घाः स्तम्भा यस्य तत्, कलत्रं च सुवर्णे शोभनरूपे ऊरू एव स्तम्भौ यस्य तत्। मण्डपमुच्चैस्तने उच्चस्थाने स्थितः कुम्भो मङ्गलकलशस्तेन विराजितं शोभितं, कलत्रं चो उच्चैरुन्नतौ स्तनावेव कुम्भौ ताभ्यां विराजितं भवति। मण्डपं स्वयंवरमण्डपं कलत्रं च कामिजनानामाश्रयस्थानं भवत्येव। श्लिष्टोपमा ॥ ७२ ॥

हिरण्यगर्भवत् ख्यातं कस्याश्चित् सुभ्रुवो भुवि ।
कामकर्म समुद्दिश्य चतुर्मुखतया स्थितम् ॥ ७३ ॥

अर्थ : उसी देवने वास्तुनीतिसे निपुण दिव्यस्थानपर एक नया उपनगर बसाकर सर्वतोभद्र नामका सुन्दर सभामण्डप बनाया है। वह उपपुर भूमिके देवांशमें है, जिसका मुख्य द्वार पूर्वदिशामें है और अपनी ईशान-दिशाको ओर उसका ढलाव है। वह ऐसे स्थानपर बनाया गया है, जो उस राजाकी भावी शोभाका परिरक्षण करनेवाला है ॥ ७१ ॥

अन्वय : सुवर्णोरुस्तम्भं सुतराम् उच्चैस्तनकुम्भविराजितं कामिजनाश्रयं (तत्) मण्डपं कलत्रं हि।

अर्थ : अच्छे और आकर्षक रंगोंवाले, सुवर्णके अत्यन्त परिपुष्ट खंभोंसे युक्त तथा ऊपरी भागमें मंगल-कलश-द्वयसे विराजित और कामी (विषय-भोगी) जनोंके आश्रय-योग्य वह नवनिर्मित मण्डप निश्चय ही कोई परिणेया स्त्री ही लग रहा था। कारण किसी परिणेया युवती स्त्रीकी जंघाएँ सुवर्ण-वर्णकी होती हैं, उसके वक्षपर दो स्तन समुन्नत हो विराजते रहते हैं और वह कामिजनोंको प्रिय भी होती है ॥ ७२ ॥

अन्वय : भुवि कस्याश्चित् सुभ्रुवः कामकर्म समुद्दिश्य स्थितं तत् चतुर्मुखतया हिरण्यगर्भवत् ख्यातम्।

हिरण्यगर्भेति । हिरण्यगर्भेण तुल्यं हिरण्यगर्भवद् ब्रह्मवत्, क्ष्मातलं प्रसिद्धं, चतुर्णां मुखानां समाहारश्चतुर्मुखं, तस्य भावस्तया चतुर्मुखतया स्थितम् । यथा ब्रह्मा मुखचतुष्टयेन तिष्ठति तथैवेदं मण्डपमपि चतुर्द्वारमासीदित्यर्थः । पुनः कथम्भूतं, कस्याश्चित् सुभ्रुवः शोभने भ्रुवौ यस्याः तस्याः सुलोचनायाः कामकर्म विवाहकार्यमुद्दिश्य स्थितम् । उपमालङ्कारः ॥ ७३ ॥

> शृङ्गोपात्तपताकाभिराह्वयन् स्फुटमङ्गिनः ।
> मरुदावेल्लिताग्राभिरुत्कानिति समन्ततः ॥ ७४ ॥

शृङ्गोपात्तेति । शृङ्गेषु शिखरेषु उपात्ता आरोपिता याः पताकास्ताभिः । कीदृशीभिः, मरुता वायुना आवेल्लितो लुलितोऽग्रभागो यासां ताभिः पताकाभिः कृत्वा समन्ततश्चतुर्दिग्भ्य उत्कान् उत्कण्ठितान्, अङ्गिनः पुरुषान्, स्फुटम् आह्वयत् आमन्त्रयदिति । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ७४ ॥

> मुकुरादिसमाधारं मौक्तिकादिसमन्वितम् ।
> नवविद्रुमभूयिष्ठमुद्यानमिव मञ्जुलम् ॥ ७५ ॥

मुकुरादीति । यन्मण्डपम् उद्यानमिव मञ्जुलं मनोहरमस्ति, यतो मुकुरो दर्पणः, पक्षे रलयोरभेदात् मुकुलं कुड्मलमादिर्येषाम्, आदर्शानां कुसुमकलिकानां चाऽऽधारभूतम् । किञ्च मौक्तिकं मुक्ताफलं, पक्षे कुसुमविशेष आदिर्येषां, तैः समन्वितं माणिक्यादिरत्नैः जाति-मालती-स्थलपद्मादिपुष्पैश्च युक्तम् । नवैर्विद्रुमैः प्रवालैः पल्लवैर्वा भूयिष्ठं व्याप्तप्रायं मण्डपमुद्यानमिव सुन्दरमस्ति । श्लिष्टोपमा ॥ ७५ ॥

अर्थ : किसी सुन्दर भौंहोंवाली कामिनीका कामचेष्टा (विवाह-कर्म) को लक्ष्यकर चार मुख (द्वारों) वाला वह मण्डप पृथ्वीपर ब्रह्मदेवकी तरह प्रख्यात हो गया ॥ ७३ ॥

अन्वय : यत् मरुदावेल्लिताग्राभिः शृङ्गोपात्तपताकाभिः उत्कान् अङ्गिनः समन्ततः स्फुटं आह्वयत् भाति ।

अर्थ : वह स्वयंवर-मंडप अपने शिखरोंपर लगी पताकाओं द्वारा, जिनके छोर हवासे हिल रहे हैं, अभिलाषी लोगोंको चारों ओरसे बुला रहा है ॥ ७४ ॥

अन्वय : तत् मुकुरादिसमाधारं मौक्तिकादिसमन्वितं नवविद्रुमभूयिष्ठम् उद्यानम् इव मञ्जुलम् ।

अर्थ : वह मण्डप किसी बगीचेकी तरह परम सुन्दर है । कारण जैसे कोई

कर्बुरासारसम्भूतं पद्मरागगुणान्वितम् ।
राजहंसनिषेव्यं च रमणीयं सरो यथा ॥ ७६ ॥

कर्बुरेति । कर्बुरस्य सुवर्णस्य य आसारः प्रसारस्तेन सम्भूतं सम्पन्नम् । पद्मरागमणेः गुणैरन्वितं सहितम् । राजान एव हंसास्तैर्निषेव्यं सेवनीयञ्च तन्मण्डपं रमणीयं सर इव, यथा सरः कर्बुरस्याम्बुन आसारयुक्तं, 'जले हेम्नि च कर्बुर'मि'ति कोशात् । तथा पद्मानां रागगुणेन अनुरागेणाक्रान्तं राजहंसैः पक्षिभिः सेव्यञ्च भवति । श्लिष्टोपमा ॥ ७६ ॥

सा देवागमसम्भूता सेवनीया सुदृष्टिभिः ।
अकलङ्ककृतिः शाला विद्यानन्दविवर्णिता ॥ ७७ ॥

सेति । सा पूर्वोक्ता मण्डपशाला देवस्यागमेन सम्भूता सुरसम्पादिता, सुदृष्टिभिर्जनैः शोभननेत्रैः सुन्दरैर्जनैर्वा सेवनीया अकलङ्का कलङ्कवर्जिता कृतिर्निर्मितिर्यस्याः सा, यस्माद्विद्याया आनन्देन विवर्णिता । अनेन अष्टसाहस्रीनाम-न्यायपद्धतिश्च समस्यते । सापि देवागमनाम-स्तोत्रस्योपरि कृता, अकलङ्कनामकस्याचार्यस्य पूर्विकापि विद्यानन्दस्वामिना व्यावर्णितास्ति, सुदृष्टिभिः सज्जनैश्च सेव्यत इति । श्लिष्टोपमा ॥ ७७ ॥

बगीचा मुकुर या 'मुकुल' अर्थात् कलियोंसे भरा-पूरा होता है, वैसे ही इस मण्डपमें चारों ओर दर्पणादि लगे हुए हैं । बगीचेमें मोतिया आदि पुष्पोंके पौधे होते हैं तो इसमें भी सर्वत्र मोती लटक रहे हैं । बगीचेमें नयी कोंपलें दिखायी देती हैं तो यह मण्डप भी मूँगोंकी झालर आदिसे व्याप्त है ॥ ७५ ॥

अन्वय : तत् रमणीयं कर्बुरासारसम्भूतं पद्मरागगुणान्वितं राजहंसनिषेव्यं च रमणीयं यथा सरः अस्ति ।

अर्थ : वह मंडप सरोवरके समान रमणीय है, क्योंकि सरोवरमें तो कर्बुर अर्थात् जलका आसार (समूह) होता है, तो मंडप भी कर्बुर या सुवर्णसे बना हुआ है । सरोवरमें पद्म अर्थात् कमल होते हैं, तो यह मण्डप भी पद्मराग मणिसे युक्त है । सरोवरमें राजहंस होते हैं तो यह मण्डप भी श्रेष्ठ राजाओंसे सेवित है ॥ ७६ ॥

अन्वय : सा शाला देवागमसंभूता सुदृष्टिभिः सेवनीया अकलङ्ककृतिः विद्यानन्दविवर्णिता (अस्ति) ।

अर्थ : वह मण्डपशाला देवके आगमनसे बनी है, अर्थात् देवने आकर बनायी है । यहाँ सुन्दर नेत्र या शुभदृष्टिवाले लोग रहते हैं । यह कलंकरहित यानी

विशालापि सुशाला सा नगरी सगरीत्यभूत् ।
वसुधा महिता तावद्युक्ता नवसुधान्वयैः ॥ ७८ ॥

विशालेति । या सगरी च नगरी सम्पूर्णाऽपि पुरीत्यर्थः । विशाला शालारहिताऽपि सुशालाऽस्तीति विरोधः, विशाला विस्तीर्णेति परिहारः । वसुधायां पृथिव्यां महिता माननीयाऽपि वसुधाया अन्वयैः युक्ता नेति विरोधः, तस्मान्नवैर्नूतनैः सुधाया अनुलेपनैर्युक्तेति परिहारः । यद्वा, वसूनां हाटकानां धाम्नां गृहाणां हितमनुवासनं यस्यां सा वसुधामहिताऽस्तीति । विरोधाभासः ॥ ७८ ॥

सर्वत्रैव सुधाधाराऽथ चित्रादिमनोहरा ।
सुरतार्थिभिराराध्याऽमरेवासौ पुरी पुरी ॥ ७९ ॥

सर्वत्रेवेति । या पुरी, अमरा पुरीव भाति, यतः सर्वत्रैव सर्वावयवेषु सुधायाः श्वेतमृत्तिकाया आधारभूता, पक्षे सुधाया अमृतस्य धारा प्रवाहो यस्यामेवम्भूता । अथ चित्रादिभिर्मनोहरा चित्राणि नानाकाराणि पदार्थप्रतिबिम्बानि, आदौ येषां तानि काच-कनक-मणि-मुक्ताकलशादीनि तैर्मनोहरा रमणीया । यद्वा चित्राभिरप्सरोभिः मनोहरा । सुरतस्य

निर्दोष है। कारण यह विद्याके आनन्दसे विवर्णित है।

विशेष : *यहाँ श्लेष द्वारा शालाके उपमानरूपमें जैनन्यायके ग्रंथ अष्टसाहस्रीका संकेत किया गया है, जो विद्यानन्द आचार्य द्वारा रचित है। इस अष्टसाहस्रीका मूलाधार (जिसपर यह बनायी गयी है) देवागम-स्तोत्र है, जिसपर अकलंकदेवकी कृति है अष्टशती और अष्टसाहस्री उसीकी व्याख्या है। वह अष्टसाहस्री विज्ञजनों द्वारा सेवनीय है ॥ ७७ ॥*

अन्वय : *या सगरी च नगरी विशाला अपि सुशाला । वसुधामहिता अपि नवसुधान्वयैः तावत् युक्ता ।*

अर्थ : यह सारी काशीनगरी सुन्दर शालाओंसे युक्त होकर भी विशाल है। इसी तरह वसुधा या पृथ्वीपर माननीय होकर वह नगरी भी सफेद कलो, नये चूनेसे पुती हुई है। यहाँ 'विशालापि सुशाला' और 'वसुधान्वयैः युक्ता' यह शाब्दिक विरोध प्रतीत होता है, जो एक अलंकार है ॥ ७८ ॥

अन्वय : अथ असौ पुरी अमरापुरी इव भाति । यतः सर्वत्र एव सुधाधारा चित्रादिमनोहरा सुरतार्थिभिः आराध्या (अस्ति) ।

अर्थ : वह काशीपुरी ठीक अमरपुरी (स्वर्ग) के समान है, क्योंकि अमर-

रतेरर्थिभिः आराध्या सेव्या, नगर्यां प्राधान्येन सस्त्रीकाणामेव निवासात् । पक्षे सुरतास्या-देवत्वस्यार्थिभिः आराध्येति । श्लिष्टोपमालङ्कृतिः ॥ ७९ ॥

वर्णसाङ्कर्य - सम्भूत - विचित्र - चरितैरिह ।
जनानां चित्तहारिण्यो गणिका इव भित्तिकाः ॥ ८० ॥

वर्णसाङ्कर्येति । इह प्रकरणप्राप्तायां नगर्यां भित्तिकाः श्रीमत्सप्तकुड्यानि गणिका वेश्या इव भान्ति । यतो वर्णानां शुक्ल-नील-पीतादीनां साङ्कर्येण मिश्रभावेन, पक्षे वर्णानां ब्राह्मणादीनां व्यत्ययेन सम्भूतैरुत्पन्नैः विचित्रैर्विविधप्रकारैः चरित्रैरिङ्गितैः चाकचिक्या-दिभिश्चेष्टादिभिश्च चित्तहारिण्यश्चित्ताकर्षिण्यः सन्तीति शेषः । श्लेषोपमालङ्कारः ॥८०॥

वर्णाश्रमच्छवित्राणा मत्तवारणराजिताः ।
नृपा इव गृहा भान्ति श्रीमत्तोरणतः स्थिताः ॥ ८१ ॥

वर्णाश्रमेति । गृहास्तत्रत्या नृपा इव भान्ति शोभन्ते, यतो वर्णानां शुक्ल-कृष्णादीना-मासमन्तात् श्रमः प्रयत्नो यासु तासां छवीनां प्रतिमूर्तीनां, पक्षे वर्णा ब्राह्मणादय आश्र-

---

पुरी जिस प्रकार अमृतका आधार, चित्रा आदि अप्सराओंसे युक्त एवं देवताओंके समूह द्वारा सेव्य होती है उसी प्रकार काशीपुरी भी कलीसे पुती और सर्वत्र चित्र आदिसे मनोहर और श्रृंगारप्रिय लोगों द्वारा सेव्य है ॥ ७९ ॥

अन्वय : इह वर्णसाङ्कर्यसंभूतविचित्रचरितैः जनानां चित्तहारिण्यः गणिकाः इव भित्तिकाः (भान्ति) ।

अर्थ : वहाँकी भित्तियाँ वेश्याओंके समान प्रतीत होती हैं, क्योंकि जैसे वेश्याएँ ब्राह्मणादि वर्णसंकरताके कारण उत्पन्न अपने चित्र-विचित्र चाकचिक्य एवं चेष्टाओं द्वारा लोगोंका मन हर लेती हैं, वैसे ही वहाँकी भित्तियाँ रंगोंके मिश्रणसे अंकित विविध प्रकारके चित्रोंसे कामी लोगोंका चित्त बरबस लुभा लेती हैं ॥ ८० ॥

अन्वय : (तत्र) वर्णाश्रमच्छवित्राणाः मत्तवारणराजिताः श्रीमत्तोरणतः स्थिताः गृहाः नृपाः इव भान्ति ।

अर्थ : वहाँके भवन राजाओंके समान शोभित होते, हैं, क्योंकि जैसे राजा-लोग वर्णाश्रमकी शोभनीय परम्पराके संरक्षक होते हैं, मत्त हाथियोंपर बैठकर चलते हैं और प्रशंसनीय रण-संग्राममें धैर्यके साथ सुस्थिर रहते हैं, वैसे ही भवन भी अनेक रंगोंवाले चित्रोंसे युक्त हैं, खिडकियों-बंदनवारोंसे सुशोभित

माश्च महार्णवायस्तेषां छविः शोभा तस्या त्राणं परिरक्षणं येषु ते । मत्तवारणैर्वरण्डमवारैः पक्षे मत्तहस्तिभी राजिताः शोभिताः । श्रीमन्ति यानि तोरणानि पुरद्वाराणि ततोऽत्र तसिलप्रत्ययः, पक्षे श्रीमत एव श्रीमत्तोरणतः सङ्ग्रामतः स्थिताः स्थितिमन्तो न तु पलायनशीला इत्यर्थः । श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥ ८१ ॥

पयोधरसमाश्लिष्टा ध्वजाली विशदांशुका ।
तलुनीव लुनीते या विभ्रमैः श्रममङ्गिनाम् ॥ ८२ ॥

पयोधरेति । यत्र ध्वजाली पताकाततिः सा तलुनी युवतिरिव भवति, यतः सा पयोधरैः मेघैः समाश्लिष्टा स्पृष्टा अत्युच्छ्रितत्वात्, पक्षे पयोधराभ्यां स्तनाभ्यां समाश्लिष्टा युक्ता । विशदं निर्मलमंशुकं वस्त्रं यस्याः सा । विभ्रमैश्चलभावैः, पक्षे विलासैः स्त्रीस्वभावजातैः अङ्गिनां समागतप्राणिनां श्रमं लुनीतेऽपहरति । यां दृष्ट्वाऽपश्रमास्ते भवन्तीत्यर्थः । सानुप्रासा श्लिष्टोपमा ॥ ८२ ॥

यत्र गन्धोदसंसिक्ताः कीर्णपुष्पाश्च वीथयः ।
हर्षोत्कर्षतया स्विन्ना रोमाञ्चैरिव मण्डिताः ॥ ८३ ॥

यत्रेति । यत्र पुरे गन्धोदकेन सुगन्धिजलेन संसिक्ता उक्षिताः, कीर्णानि इतस्ततः क्षिप्तानि पुष्पाणि यासु ता एतादृश्यो वीथयो मार्गोपमार्गगता गृहतटीपङ्क्तयो हर्षस्य प्रमोदस्योत्कर्षो वृद्धिभावो यस्य तस्य भावस्तया प्रसन्नतयेत्यर्थः । स्विन्नाः स्वेदयुक्ता

हैं और शोभनीय तोरणवाले हैं ॥ ८१ ॥

अन्वय : यत्र या ध्वजाली पयोधरसमाश्लिष्टा विशदांशुका (वर्तते) सा विभ्रमैः तलुनी इव अङ्गिना श्रमं लुनीते ।

अर्थ : वहाँके भवनोंपर फहराती हुई सफेद वस्त्रकी बनी और बादलोंको छूती जो ध्वजाओंकी पंक्ति है, वह तरुणीको तरह अपने फहराने या अपने साथ चलनेवाले पक्षियोंके भ्रमणके सहित प्राणियोंकी परिश्रम दूर कर देती है। तरुणी भी सफेद साड़ी पहने और सघन कुचोंवाली होती है एवं अपने हाव-भाव द्वारा लोगोंके मन लुभाती और श्रम-शान्ति करती रहती है ॥ ८२ ॥

अन्वय : यत्र गन्धोदसंसिक्ताः च कीर्णपुष्पाः वीथयः हर्षोत्कर्षतया स्विन्नाः (च) रोमाञ्चैः मण्डिताः इव (भान्ति) ।

अर्थ : जहाँकी गलियाँ सुगंधित जलसे सिंचित हैं, वहाँ चारों ओर फूल बिखेरे गये हैं। इसलिए ऐसी लगता है, मानो हर्षके अतिरेकसे पसीनेमें तर हो

रोमाञ्चैर्हर्षाङ्कुरैश्च मण्डिता अलङ्कृता भान्ति । गन्धोदकं स्वेदसदृशं पुष्पाणि च रोमाञ्च-तुल्यानीति । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ८३ ॥

विशदाक्षतयातान्ता सुभाषेव सुलोचना ।
दर्शनीयतमा काशी साशीर्वा व्यक्तमङ्गला ॥ ८४ ॥

विशदेति । सुलोचना च काशी च सुभाषातुल्या, विशदाक्षतया पवित्रात्मत्वेन यातमन्तं स्वरूपं यस्याः सा पवित्रात्मरूपवती सुलोचना, विशदं चाक्षतमखण्डं च यातस्य प्रकरणस्यान्तं निर्बहणं यस्याः सा, प्रसन्नाखण्डाधिकारवती सुभाषा भवति, विशदमसङ्कीर्णमक्षतमत्रुटितं च यातस्य मार्गस्यान्तं यस्यां सा । विस्तृता व्यापन्नवर्त्मवती काशी । विशदैरुज्ज्वलैरक्षतैस्तण्डुलैर्यातं लब्धं प्रान्तं यस्याः सा विशदाक्षतयातान्ता यदन्ते मङ्गलाक्षतप्रक्षेपः क्रियते साशीः । दर्शनीयतमा सुतरां दर्शनार्हा सुलोचना, वाणी काशी चाशीश्च व्यक्तमङ्गला मङ्गलस्वरूपाश्च ताश्चतस्रोऽपि, तथा व्यक्तमङ्गलानाम-देवतापि भवति, ततस्तामपि विशेष्यत्वेनानुमन्यपूर्वोक्तरीत्या विशेषणसंयोजना कर्तव्या । एवं स्वोचितमुपसंहृत्याऽधुना जयकुमारकर्तव्यं समर्थयति दूतः । अत्र श्लेषोपमा ॥ ८४ ॥

मतिं क्व कुर्यान्नरनाथपुत्री भवेद्भवान्नैवमखर्वसूत्री ।
इष्टे प्रमेये प्रयतेत विद्वान् विधेर्मनः सम्प्रति को नु विद्वान् ॥ ८५ ॥

वे रोमांचित हो रही हों ॥ ८३ ॥

अन्वय : काशी साशीः वा सुलोचना इव सुभाषा विशदाक्षतयातान्ता व्यक्तमङ्गला दर्शनीयतमा च (अस्ति) ।

अर्थ : वह काशीनगरी आशीर्वादोक्ति और सुलोचनाकी तरह है । क्योंकि आशीर्वादोक्ति जिस प्रकार अच्छी भाषा लिये और विशद अक्षतोंसे युक्त तथा मंगलको अभिव्यक्त करनेवाली होनेसे दर्शनीय होती है, किंवा जिस प्रकार सुलोचना भी अच्छी भाषा बोलनेवाली एवं उज्ज्वल इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे युक्त अन्तःकरणवाली और मंगल-कामना व्यक्त करती हुई दर्शनीया है, उसी प्रकार नगरीमें भी सुन्दर भाषाका प्रयोग हो रहा है । वहाँके मार्ग विस्तृत हैं और अक्षत हैं, टूटे-फूट नहीं हैं और न संकरे ही हैं । वहाँ मंगल-कामनाएँ मनायी जा रही है, अतएव वह दर्शनीय है ॥ ८४ ॥

अन्वय : नरनाथपुत्री क्व मतिं कुर्यात् इति भवान् अखर्वसूत्री न एव भवेत् । यतः विद्वान् इष्टे प्रमेये प्रयतेत । विधेः मनः तु संप्रति को नु विद्वान् ।

मतिमिति । हे सुन्दर, नरनाथपुत्री सा न जाने क्व कस्मिन् राजकुमारे मतिमनुमतिं कुर्यादिवं विचार्य पुनर्भवान् अखर्वसूत्री दीर्घविचारवान् न भवेत् । यतः किलेष्टे प्रमेयेऽभीष्ट-वस्तुनि विद्वान् विवेकशाली जनः प्रयतेतैव, विधेर्भाग्यस्य मनस्तु किं स कुर्यादिति सम्प्रति कश्छद्मस्थात्मा विद्वान् ज्ञातवान् । किन्नु इति प्रश्ने, अर्थान्न कोऽपि जानीयादिति । अत्र हेत्वलङ्कारः ॥ ८५ ॥

सौन्दर्यमात्रा त्वयि भो सुमात्रा प्रसूत मे सच्छकुनैस्तु यात्रा ।
श्रीमन्तमन्तःशयवैजयन्ती त्यक्त्वान्यमिच्छेन्न धियो जयन्ति ॥ ८६ ॥

सौन्दर्येति । भो सुमात्रा श्रेष्ठजनन्या प्रसूत उत्पादित, त्वयि भवति सौन्दर्यस्य रामणीयकस्य मात्रा महती सत्ता, विद्यत इति शेषः । पुनर्मे यात्रापि सच्छकुनैः शोभनलक्षणैः जाताऽभूत् । इति कृत्वा सा कुमारी, अन्तःशयः कामस्तस्य वैजयन्ती पताका सुलोचना श्रीमन्तं भवन्तं त्यक्त्वाऽन्यमितरम् इच्छेदभिलषेद् इत्यर्थं धियो बुद्धयो न जयन्ति न स्वीकुर्वन्ति, यतो बाला सौन्दर्यार्थिन्यो भवन्ति, शकुनानि च फलन्त्येवेति ॥ ८६ ॥

सुकन्दशम्पे च कलङ्किरात्री विषादिदुर्गे स्मरशर्मपात्री ।
विधेश्च संयोजयतोऽभ्युपायः परस्परं योग्यसमागमाय ॥ ८७ ॥

अर्थ : वह सुलोचना न जाने किसे वर ले, आप ऐसी दीर्घ विचारधारामें, सोच-विचारमें मत पड़िये । क्योंकि विद्वान्‌का कार्य है कि वह अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिए प्रयत्न करता रहे । इसके बाद दैवकी रुख क्या है, इसे आज कौन जानता है ॥ ८५ ॥

अन्वय : भो सुमात्रा प्रसूत त्वयि सौन्दर्यमात्रा (विद्यते) । तु मे यात्रा सच्छकुनैः (जाता) । ततः सा अन्तःशयवैजयन्ती श्रीमन्तं त्यक्त्वा अन्यम् इच्छेत् इति धियः न जयन्ति ।

अर्थ : हे श्रेष्ठ जननीके लाल ! देखो, पहली बात तो यह है कि आपमें सौंदर्यकी मात्रा अद्भुत है । दूसरी बात मैं जब वहाँसे रवाना हुआ तो अच्छे-अच्छे शकुन हुए । इसलिए बुद्धि यह माननेको तैयार नहीं कि कामदेवकी पताका वह सुन्दर राजकुमारी आपको छोड़ दूसरेको चाहती है । कारण स्त्रियाँ सौन्दर्यार्थिनी होती हैं और शुभ-शकुन भी फलते ही हैं ॥ ८६ ॥

अन्वय : सुकन्द-शम्पे कलङ्कि-रात्री विषादि-दुर्गे च स्मर-शर्मपात्री संयोजयतः विधेः च परस्परं योग्यसमागमाय अभ्युपायः (अस्ति) ।

सुकन्दशम्पे इति । पुनर्हे सुन्दर, परस्परं सुकन्द-शम्पे, कं जलं ददातीति कन्दो मेघः; शम्पा तडित्—शं शर्माणि पातीति शम्पा, तद्द्वितयं संयोजयतः । कलङ्कोऽस्यास्तीति कलङ्की चन्द्रः, रात्रिरन्धकारपूर्णा तमिस्रा च, तयोः सम्बन्धं विदधतः । किञ्च विषमत्ति विषादी रुद्रः, दुःखेन गम्यत इति दुर्गा, तौ संयोजयतः । एवञ्च स्मरः स्मरणयोग्यः कामः, शर्मपात्री रतिः, तयोः सम्बन्धं घटयता । विधेर्भाग्यस्यापि पुनरभ्युपायः प्रबन्धो योग्यसमागमाय भवतीति कृत्वा भवताऽधिकविचारणा न कार्याऽस्मिन् प्रसङ्गे । यद्यपि स्मरशर्मपात्रीत्यत्र द्विवचनमपेक्षते, तथापि छन्दोऽलङ्कारानुरोधात् तथा पठितं कविना । समालङ्कारः ॥ ८७ ॥

अदृश्यरूपा वितनो रतिर्व्यभादभूत् सुभद्रा भरतस्य वल्लभा ।
वरिष्यति त्वां तु सतीति सत्तम चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः ॥ ८८ ॥

अदृश्यरूपेति । वितनोस्तनुरहितस्य अनङ्गस्य स्त्री रतिश्चादृश्यरूपा न दृश्यते रूपं मूर्तिर्यस्याः सा व्यभात् शुशुभे । तथा च भरतस्य भेषु नक्षत्रेषु चमत्कारकेषु रतस्यानुरक्तस्य तस्य भरतस्य चक्रवर्तिनो वल्लभा पत्नी सुभद्राऽभूत् । तथैव हे सत्तम, सज्जनोत्तम, सती सुलोचना त्वामेव वरिष्यति, यतो योग्येनैव योग्यसङ्गमश्चकास्ति शोभते । समालङ्कारः ॥ ८८ ॥

अर्थ : देखा जाता है कि विधाताने 'कन्द' (जल देनेवाले) यानी मेघके साथ 'शम्पा' (सुख देनेवाली) यानी बिजलीका, कलंकी चन्द्रके साथ काली रात्रिका, विषादी (विषभक्षक) महादेवके साथ दुर्गा (दुःखसे गम्या) पार्वतीका और 'स्मर' (स्मरण-योग्य) कामदेवके साथ शर्मकारिणी रतिका समागम कराया है । इसलिए हम समझते हैं कि उसका प्रबन्ध सदैव योग्योंके ही परस्पर समागमके लिए हुआ करता है । अतएव आप इस विषममें अधिक विचार न करें ।। ८७ ।।

अन्वय : हे सत्तम वितनोः अदृश्यरूपा रतिः व्यभात् । भरतस्य सुभद्रा वल्लभा अभूत् । इति त्वां तु सा सती वरिष्यति । हि योग्येन योग्यसङ्गमः चकास्ति ।

अर्थ : हे सज्जनोत्तम ! शरीररहित कामदेवसे ही अदृश्यरूपा रतिका संबंध सुशोभित होता है । सुभद्राका सम्बन्ध चक्रवर्ती भरत (नक्षत्र, चमत्कारोंमें रत) महाराजसे हुआ । इसे देखते हुए निश्चय ही वह सती आपको ही वरेगी । क्योंकि योग्यके साथ योग्यका सम्बन्ध ही सुशोभित हुआ करता है ।। ८८ ।।

प्रस्थिते मयि सुदृक्कुसुमस्रक्क्षेपणी पथि पदोः प्रघणस्पृक् ।
साशिकापि भवती भवतीशदिक्सदिष्टशकुनैश्च गुणीश ॥ ८९ ॥

प्रस्थित इति । हे गुणीश, गुणवच्छिरोमणे, मयि प्रस्थिते भवन्तमुद्दिश्य गन्तुमुद्यते सति सुदृशः सुदृष्टय एव कुसुमानि तेषां स्रजं मालां क्षिपतीति क्षेपणी क्षेपणकर्त्री मुहुर्मुहुरीक्षमाणेत्यर्थः । पदोश्चरणयोः पथि मार्गे मम पुनः प्रघणं स्पृशतीति प्रघणस्पृग् आगत्य द्वारोपर्युपस्थिता सती, ईशदिशि सद्भिः सम्भवद्भिरिष्टशकुनैः अभीष्टसूचकैश्चिह्नैः भवति त्वयि साशिका आशावती मङ्गलवादिनी च भवती सा सुलोचना, मया प्राप्तेति शेषः ॥ ८९ ॥

सुरोचनाऽन्याय सुरोचनेति समिच्छतः का पुनरभ्युदेति ।
विधा विधातुस्तरिरुत्तरीतुमवर्णवादाख्यपयोनिधिं तु ॥ ९० ॥

सुरोचनेति । हे सुरोचन, परमसुन्दर, सा सुरोचना नाम कुमारी, अन्याय साधारणाय जनाय स्पृहावती स्यादिति किलैवं समिच्छतो वाञ्छतः पुनर्विधातुः सा का विधा कः प्रकारोऽस्ति योऽसाववर्णवादो व्यर्थमेवोत्थिता निन्दा, स एवाख्या संज्ञा यस्यैवंविधो यः पयोधिः समुद्रस्तमुत्तरीतुमुल्लङ्घितुं या विधा तरिर्नौका स्यात्, अर्थाद् भवन्तमृते सुलोचनायाऽन्येन सह विवाहे सति विधेरपि निन्दा स्यादेवेति भावः ॥ ९० ॥

अन्वय : हे गुणीश मयि प्रस्थिते सुदृक्-कुसुमस्रक्क्षेपणी पदोः पथि प्रघणस्पृक् ईशदिक्सदिष्टशकुनैः भवति साशिका अपि भवती (मया प्राप्ता) ।

अर्थ : हे गुणिवर, जब मैं रवाना हुआ था तो मार्गमें अपनी सुन्दर दृष्टि-रूप फूल बरसानेवाली वह सुलोचना दरवाजेपर आकर मेरे पैरोंके नीचेकी देहलीपर खड़ी हो गयी । मैंने उसे शुभसूचक शकुनोंसे आपका मङ्गल चाहती और आपके प्रति आशावती पाया ॥ ८९ ॥

अन्वय : सुरोचन ! अन्याय सुरोचना इति समिच्छतः पुनः विधातुः तु का विधा (या) अवर्णवादाख्यपयोनिधिम् उत्तरीतुं तरिः अभ्युदेति ।

अर्थ : हे परमसुन्दर, इतना होनेपर भी विधाता यदि सुलोचना दूसरेको देनेकी सोचता हो, तो घोर-निन्दारूप सागर पार करनेके लिए उसके पास कौन-सी नाव यानी उपाय शेष रह जायगा । अर्थात् सुलोचनाको आप जैसे सुलोचनको छोड़ दूसरेको ब्याह देनेपर विधाताके पास उस घोर निन्दासे बचनेका कोई उपाय नहीं रहेगा ॥ ९० ॥

यात्रा तवात्रास्तु तदीयगात्रावलोकनैर्लब्धफला विधात्रा ।
वामेन कामेन कृतेऽनुकूले तस्मिन् पुनः श्रीः सुघटा न दूरे ॥ ९१ ॥

यात्रेति । हे सुन्दर, अत्रास्मिन् प्रसङ्गे तव यात्रा गमनमवश्यमेवास्तु, यतो वामेन प्रतिकूलेन विधात्रा विधिना सतापि त्वदीया यात्रा तदीयस्य सुलोचनासम्बन्धिनो गात्रस्य सुन्दरतमशरीरस्य अवलोकनैः दर्शनोत्सवैर्लब्धफला फलवती भविष्यत्येव । अथ पुनः कामेन रतिपतिना त्वदेकाभिलाषुकेन अनुकूले भवदिच्छानुवर्तिनि कृते सति श्रीः सफलतारूपा सम्पत्तिः सुघटा घटितैव भविष्यति, न तु दूरेचरा, ततो भवताऽवश्यमेव प्रस्थातव्य-मित्याशयः ॥ ९१ ॥

इत्थं वारिनिवर्षैरङ्कुरयन् संसदं तथैव रसैः ।
मुदिरो मानसमुच्छिलमस्य कुर्वन् स विरराम ॥ ९२ ॥

इत्थमिति । इत्थमुक्तरीत्या वारेर्वाचो निवर्षैर्वर्षाभिरुत जलवर्षणैरिव कृत्वा संसदं समस्तां सभामेव, अङ्कुरयन् अङ्कुरितां कुर्वन्, तथैव रसैरुत्तरोत्तरं प्रवर्धमानैरानन्दैः जलैर्वा अमुष्य जयकुमारस्य मानसं चित्तं सरोवरमिव उच्छिलमुद्वेलमतिक्रान्तवेलप्रसक्तियुक्तं कुर्वन् स मुदिरो मुदं हर्षमीरयति प्रेरयतीति मुदिरो मेघ इव वचोहरो विरराम विराम-माप्तवान् ॥ ९२ ॥

अन्वय : अत्र तव यात्रा विधात्रा वामेन (सता अपि) तदीयगात्रावलोकनैः लब्धफला अस्तु । पुनः कामेन तस्मिन् अनुकूले कृते श्रीः सुघटा, न दूरे ।

अर्थ : फिर, यदि विधाता प्रतिकूल रहे, तो भी आपकी यह यात्रा उसका सुन्दरतम शरीर देख सफल हो ही जायगी । और यदि कहीं कामदेव-ने आपकी इच्छाके अनुकूल वर्तन लिया, तो फिर सफलतारूप सम्पदा आपके हाथ लग ही जायगी, दूर नहीं रहेगी। इसलिए आप अवश्य यात्रा करें ॥ ९१ ॥

अन्वय : इत्थं वारिनिवर्षैः संसदं अङ्कुरयन् तथा एव रसैः अमुष्य मानसं उच्छिलं कुर्वन् सः मुदिरः विरराम ।

अर्थ : इस प्रकार वचनरूप जलवर्षासे सारी सभाको अंकुरित करता हुआ और राजाके मानसरूपी सरोवरको आनन्द-जलसे असीम उद्वेलित करता, पूर्ण भरता हुआ मेघकी तरह वह आनन्दप्रेरक दूत मौन हो गया ॥ ९२ ॥

आर्द्रं भूमिपतेर्मनस्थलमलं काशीति संस्रोतसा
तस्यैकादिनिपूरपूरितमभूत् क्षेत्रं पुनः साङ्कुरम् ।
तस्या मानसपक्षि एव मुदितात् सम्फुल्लनेत्रोदरे
सञ्जातानि मनोहराणि शतशो मुक्ताफलानि स्वयम् ॥ ९३ ॥

आर्द्रमिति । काशीत्यादिना दूतस्योक्तिप्रवाहेण भूमिपतेर्जयकुमारस्य मनःस्थलं चित्त-क्षेत्रमलं पर्याप्तमार्द्रमभूत्, द्रवीभूतमजनि, काशीत्यादिश्रवणेन समुत्कण्ठितमभूत् । पुनस्त-स्यैका तनया इत्यादिनिपूरेण शब्दप्रवाहेण जलप्रवाहेण पूरितं सम्भृतं भूपतेः क्षेत्रं शरीरं स्थलमिवाङ्कुरितं रोमाञ्चितमभवत् । पुनस्तस्या मानसपक्षीत्यादुदितेन, सम्फुल्लयोः विक-सितयोः प्रसादमाप्तयोरित्यर्थः, नेत्रयोरुदरेऽभ्यन्तरे मनोहराणि सुन्दराणि मुक्ताफलानि मौक्तिकानीव अश्रुपदानि संजातानि । यथा प्रथमाभिषेकेण भूतलमार्द्रतां ततोऽङ्कुरिततां ततश्च फलवत्तामाप्नोति, तथा भूपतेरवस्थाऽभूदिति भावः ॥ ९३ ॥

हारं हृदोऽनुकूलं स समवाप्य महाशयः ।
जयः समादरात्तस्मा युपहारं वितीर्णवान् ॥ ९४ ॥

हारमिति । महाशय उदारचेताः स जयकुमारो हृदोऽनुकूलं हृदयग्राह्यं हारं दूतोक्त्य-भिप्रायेण मनोऽभिलषितमवाप्य तस्मै दूताय तमेव बुद्धिमाप्तमित्युपहारं पारितोषिकं वितीर्ण-

---

अन्वय : भूमिपतेः मनःस्थलं काशी इति संस्रोतसा अलम् आर्द्रम् (अभूत्) । तस्यै-कादि-निपूरपूरितं क्षेत्रं साङ्कुरम् (अभूत्) । पुनः तस्याः मानसपक्षि एवम् उदितात् सम्फुल्लनेत्रोदरे शतशः मुक्ताफलानि स्वयं मनोहराणि सञ्जातानि ।

अर्थ : दूत द्वारा 'काशी' आदि उक्तिका प्रवाह बहानेसे यानी वह प्रसंग छेड़नेसे जयकुमारका मन भलीभाँति आर्द्र अर्थात् उत्कण्ठित हो गया । फिर 'उसकी सुलोचना नामक एक पुत्री' आदि शेष जलप्रवाहसे पूरित उसका शरीर-रूपी खेत अंकुरित हो उठा । पश्चात् जब दूतने यह कहा कि 'उसका मनरूपी पक्षी किसीमें अनुरक्त है' तो राजाके पुलकित नेत्रोंके उदरमें प्रसन्नके सेकड़ों सुन्दर आँसूरूपी मोती भर आये ॥ ९३ ॥

अन्वय : महाशयः सः जयः हृदः अनुकूलं हारं समवाप्य समादरात् तस्मै उपहारं वितीर्णवान् ।

अर्थ : हृदयको भानेवाले हारसदृश वृत्तान्तको सुनकर उदार-आशय उस

वान् । लघुनोपहारीकृतं वस्तुजातमेव वर्धयित्वा प्रत्युपहरन्ति महान्त इति रीतिस्तथैव जयोऽपि हारमवाप्य उपहारं दत्तवानित्याशयः । परिवृत्त्यलङ्कारः ॥ ९४ ॥

स पुनः परमानन्दमेदुरो मानवाग्रणीः ।
गन्तुमुत्सहते स्मैव नारीणां हितसाधनः ॥ ९५ ॥

स पुनरिति । मानवानामग्रणीर्नायकः, नारीणां योषितां हितं साधयति वस्त्रालङ्करणोपभोगादिनेति हितसाधनः स जयकुमारः परमस्यासाधारणस्यानन्दो महामोदस्तेन मेदुरः परिपुष्टः सन् पुनः सुलोचनापरिग्रहार्थं काशीं प्रति गन्तुमुत्सहते स्म उत्कण्ठितोऽभूदित्यर्थः ॥९५॥

विषमेषुहितेनैव समेषु हितकारिणा ।
सन्देहधारिणाप्यारात् सन्देहप्रतिकारिणा ॥ ९६ ॥
तदा सन्मूर्ध्निरत्नेन मूर्ध्नि रत्नं तदापि सत् ।
सुदृग्गुणानुसारेणा - ऽसुदृक्सिद्धान्तशालिना ॥ ९७ ॥

विषमेष्विति । समेषु मित्रबान्धवादिषु हितकारिणापि विषमेषु वैरिषु हितकारिणेत्येवं विरोधः, विषमेषोः कामस्य हितकर्त्रेत्यभिप्रायेण परिहारः । सन्देहप्रतिकारिणा संशयनिवारकेणापि सन्देहधारिणेति विरोधः, समिति सम्यग्रूपस्य देहस्य शरीरस्य धारकेणेति परिहारः । सुदृशः सुलोचनायाः गुणाः सौन्दर्यादयस्तेषामनुसारेणापि तुल्यभावेनापि

उस जयकुमारने उस दूतके लिए आदरपूर्वक यथेष्ट उपहार दिया । अर्थात् लिये तो दो अक्षर 'हार' और दिये चार अक्षर 'उपहार', यह भाव है ॥ ९४ ॥

अन्वय : मानवाग्रणीः नारीणां हितसाधनः सः परमानन्दमेदुरः पुनः गन्तुं उत्सहते स्म ।

अर्थ : मानवोंका नायक और वस्त्राभूषण, उपभोगादिसे नारियोंका हितकारी वह जयकुमार आनन्दसे फूलकर पुनः सुलोचना-परिग्रहार्थ काशी चलनेके लिए उत्कण्ठित हो गया ॥ ९५ ॥

अन्वय : समेषु हितकारिणा विषमेषुहितेन एव आरात् सन्देहप्रतिकारिणा अपि सन्देहधारिणा सुदृग्गुणानुसारेण असुदृक्सिद्धान्तशालिना तदा सन्मूर्ध्निरत्नेन मूर्ध्नि तत् सत् रत्नम् आपि ।

अर्थ : जो कामदेवके समान सुन्दर है और भले आदमियोंका हित करनेवाला है, जो अच्छे शरीरका धारक और सन्देहका निवारक है, जो सुलोचनाके सौन्दर्यादि गुणोंके अनुकूल यानी तुल्य होता हुआ भी प्राणोंके दर्शनका अभि-

सुलोचनायाः सिद्धान्तविरोधिनेति विरोधः, अधुनां प्राणानां वृक् वर्जनं तस्याः सिद्धान्त-शालिनाऽभिप्रायधारकेण सुलोचनोपलम्भेनैव जीविष्यामीति विचारवतेति परिहारः । तदा सतां मूर्ध्नि रत्नेन सत्पुरुषशिरोमणिना जयकुमारेण मूर्ध्नि मस्तके सन्मनोहररत्नं मणिमयं किरीटमापि समारोपितम् । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ९६-९७ ॥

नत्वार्हतां पदाम्भोजे प्रोन्नतेन मनीषिणा ।
प्रस्थितं सहसोत्थाय श्रीमतामग्रगामिना ॥ ९८ ॥

नत्वेति । अर्हतां श्रीतीर्थङ्करपरमेष्ठिनां पदाम्भोजे चरणकमले नत्वा नमस्कृत्य प्रोन्न-तेन प्रशस्ताभिप्रायधारकेण मनीषिणा विद्वद्वरेण, पुनः श्रीमतामग्रगामिना सभ्यसत्तमेन तेन जयकुमारेण सहसैवोत्थाय प्रस्थितम् ॥ ९८ ॥

तस्य भूतिलकस्यापि सम्भुवा तिलकोऽञ्चितः ।
समाधेयस्य तत्त्वस्य बाधरहितता कृता ॥ ९९ ॥

तस्येति । तस्य समाधेयस्य समाधानार्हस्य तत्त्वस्य बाधारहिततां कृतेति तेन सम्भुवा पूज्यपुरुषेण पुरोहिताविना तस्य भूतिलकस्यापि तिलको विशेषकोऽञ्चितः चर्चितः, तिल-कोऽपि तदाधारोऽपीति समासाह्वये बाधे यस्य तत्त्वस्य आधारस्यापि हिततां करोति तेना-धेयतत्त्वस्यापि आधारताप्रातपादकेनेति भावः । अनेकान्तपक्षपातिनेति यावत् ॥ ९९ ॥

प्राय ('सुलोचना मिलनेपर ही जो सकूँगा' इस प्रकार) रखनेवाला है, सज्जनोंके शिरोमणि उस जयकुमारने अपने मस्तकपर मनोहर मणिमय मुकुट धारण किया । यहाँ शाब्दिक विरोध प्रतीत होता है ॥ ९६-९७ ॥

अन्वय : प्रोन्नतेन मनीषिणा श्रीमताम् अग्रगामिना तेन अर्हतां पदाम्भोजे नत्वा सहसा उत्थाय प्रस्थितम् ।

अर्थ : श्रीमानोंमें अग्रणी, उन्नत विचारोंको रखनेवाला और बुद्धिमान् वह जयकुमार भगवान् तीर्थंकर परमेष्ठीके चरण-कमलोंको नमस्कार करके सहसा उठकर रवाना हुआ ॥ ९८ ॥

अन्वय : तस्य भूतिलकस्य अपि सम्भुवा तिलकः अञ्चितः । समाधेयस्य तत्त्वस्य बाधरहितता च कृता ।

अर्थ : उस भूतिलक जयकुमारके भालपर पुरोहितद्वारा तिलक करवाया और प्राप्त करने योग्य तत्त्वको बाधारहित कर दिया ॥ ९९ ॥

प्रवालजलजाताभ्यां चरणौ च रणोत्सुकौ ।
मिषेणोपानहोस्तस्याप्यभूतां वर्मितावितः ॥ १०० ॥

प्रवालेजलेति। प्रवालजलजाभ्यां किसलयपङ्कजाभ्यां सह रणोत्सुकौ युद्धाभिलाषिणौ तौ तस्य चरणौ, उपानहोः मिषाद् व्याजेन इतोऽधुना वर्मितौ कवचितौ अभूताम् । युद्धार्थिनः कवचधारणं समाचारः। अत एव तच्चरणावपि कवचस्थानीये पादत्राणे पर्यधाताम्, यतस्तौ युद्धार्थिनौ स्वप्रतिद्वन्द्विभ्यां प्रवालपङ्कजाभ्याम् ॥ १०० ॥

अमानवचरित्रस्य महादर्शं किलेक्षितुम् ।
सूर्याचन्द्रमसावास्यं रेजाते कुण्डलच्छलात् ॥ १०१ ॥

अमानवेति । न मानवोऽमानवो देवस्तस्य चरित्रमिव चरित्रं यस्य तस्य अमानवचरित्रस्य महादर्शमनुकरणीयमास्यं मुखमीक्षितुम्, आगतौ इति शेषः । सूर्याचन्द्रमसौ किल कुण्डलच्छलाद् अपदेशाद् रेजाते, महाप्रभावत्वात् तन्मुखस्य । पुनः अमा च अमावास्यातिथिस्तस्या नवं नूतनं चरित्रमिव चरित्रं यस्य तस्य अमानवचरित्रस्येति वा। महांश्चासौ दर्शश्च तं महादर्शममावास्यातिथिमेवास्याऽऽस्यं मुखं द्रष्टुमिति । यतः किल अमावास्यायां सूर्येन्दुसङ्गमो भवतीति ख्यातिः । यद्वा, मा लक्ष्मीः न मा भवतीत्यमा, ततो नवं नवीनमद्भुतं चरित्रं यस्य तस्य श्रीयुक्तस्य महादर्शं दर्पणमिव मुखं सुविशदत्वात् । तद्दृष्टात्मगतान् दोषानपहर्तुमित्यप्यर्थः ॥ १०१ ॥

अन्वय : च प्रवालजलजाताभ्यां रणोत्सुकौ-तस्य चरणौ अपि इतः उपानहोः मिषेण वर्मितौ अभूताम् ।

अर्थ : और उसके चरण मानो प्रवाल (कोंपल) तथा कमलोंके साथ रण करनेके लिए उद्यत थे । इसीलिए उन्होंने उस समय पादुकाके व्याजसे कवच ही धारण लिये हों ॥ १०० ॥

अन्वय : अमानवचरित्रस्य महादर्शम् आस्यम् ईक्षितुं कुण्डलच्छलात् सूर्याचन्द्रमसौ रेजाते किल ।

अर्थ : अमावस्याको सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक जगह होते हैं, इस लोकप्रसिद्धिको लेकर कहा गया है कि जयकुमार अमानव-चरित्र था, अर्थात् मनुष्योंमें असाधारण चरित्रवाला था । अतः उसके मुँहको महादर्श (या महान् दर्पण) समझकर निश्चय ही उसमें अपनी आकृति देखनेके लिए चन्द्र और सूर्य दोनों आकर कुण्डलोंके व्याजसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १०१ ॥

सज्जीकृतं स्वीचकार परं परिकरं नृपः ।
शोभते शोचिषां सार्थैस्तेजस्वी तपनोऽपि चेत् ॥ १०२ ॥

सज्जीकृतमिति । नृपो राजा सज्जीकृतं सम्यक्संपादितं परं श्रेष्ठं परिकरं भृत्यकार्यद्यादिसाधनसामग्रीं स्वीचकार स्वेन सह नीतवानित्यर्थः । चेद्यतस्तेजस्वी तपनोऽपि सूर्योऽपि शोचिषां किरणानां सार्थैः समूहैः शोभते । अर्थान्तरन्यासः ॥ १०२ ॥

स्वर्गश्रियः प्रेममुक्तापाङ्गसन्तानमञ्जुलः ।
पतन् पार्श्वे मुहुर्यस्य चामराणां चयो बभौ ॥ १०३ ॥

स्वर्गश्रिय इति । यस्य पार्श्वे पक्षभागाभ्यां समागत्य पुरोभागे मुहुः पतञ्चामराणां चयः समूहः स्वर्गश्रियः सुरपुरलक्ष्म्याः प्रेम्णा मुक्तः प्रेषितोऽपाङ्गानां कटाक्षाणां यः सन्तानोऽविच्छिन्नप्रवाहस्तद्वत् मञ्जुलो मनोहरो बभौ रेजे ॥ १०३ ॥

स्वर्णदीसलिलस्यन्दः स्वर्णशैलतटे यथा ।
स्फुरत्कान्तिचयो हारस्तस्योरसि लुठन् बभौ ॥ १०४ ॥

स्वर्णदीति । तस्योरसि जयकुमारवक्षःस्थले लुठन्नितस्ततः परिलसन्, स्फुरन्चमत्कुर्वन् कान्तीनां चयः समूहो यस्य स हारः कण्ठाभरणं तथा बभौ, यथा स्वर्णशैलतटे सुमेरुपर्वतशिलातले पतन् स्वर्णदीसलिलस्य आकाशगङ्गाया जलस्य स्यन्दो निर्झरः शोभते । उपमालङ्कारः ॥ १०४ ॥

अन्वय : नृपः सज्जीकृतं परं परिकरं स्वीचकार । चेत् तपनः अपि तेजस्वी शोचिषां सार्थैः शोभते ।

अर्थ : प्रस्थान करते समय जयकुमारने अपने साथ उच्चकोटिके कुछ आवश्यक नौकर-चाकर भी ले लिये थे । क्योंकि यद्यपि सूर्य स्वयं तेजस्वी है, फिर भी किरणोंके बिना उसकी शोभा नहीं होती ॥ १०२ ॥

अन्वय : यस्य पार्श्वे मुहुः पतन् चामराणां चयः स्वर्गश्रियः प्रेममुक्तापाङ्गसन्तानमञ्जुलः बभौ ।

अर्थ : चलते समय उसके दोनों ओर चँवर ढल रहे थे । वे ऐसे मालूम पड़ रहे थे कि स्वर्गश्रीके प्रेमपूर्ण कटाक्षोंका समूह हो हो ॥ १०३ ॥

अन्वय : तस्य उरसि लुठन् स्फुरत्कान्तिचयः हारः यथा स्वर्णशैलतटे स्वर्णदीसलिलस्यन्दः (तथा) बभौ ।

साधु प्रसाधनं तस्य समालोक्य विशांपतेः ।
दधुर्नार्योऽरयश्चैव कन्दर्पं स्विदपत्रपाः ॥ १०५ ॥

साध्विति । तस्य विशांपतेर्महाराजस्य साधु मनोहरं प्रसाधनं वस्त्राभूषणालङ्करणं समालोक्य नार्यः स्त्रियोऽपगता त्रपा यासां ता निर्लज्जाः सत्यः कन्दर्पं कामभावं वपुरवपुः । स्वित् पुनः अरयः शत्रवोऽप्यपत्रपाः सन्तः कं दर्पमभिमानं दधुर्न कमपीत्यर्थः । यस्य चाप-परिवेषमालोक्य योषितः कामातुरा जाताः, शत्रवश्च गतदर्पा बभूवुरित्याशयः । श्लेषो-ऽलङ्कारः ॥ १०५ ॥

प्रसत्तिर्मनसो वक्ति कार्यसम्पत्तिमत्र वै ।
इत्यनन्यमनस्कारैः प्रस्थानं कृतवाञ्जवात् ॥ १०६ ॥

प्रसत्तिरिति । अत्र लोके मनसश्चित्तस्य प्रसत्तिः प्रसादः कार्यसम्पत्तिं प्रयोजनसिद्धिं वक्ति, इत्यतः स राजाऽनन्या वृथा निश्चिता ये मनस्काराश्चित्ताभोगास्तैः जवात् प्रस्थान-मकरोत् ॥ १०६ ॥

पुरन्ध्रीजनदत्ताशीर्विकासिकुसुमाञ्जलिम् ।
श्रयन् गोपपतिः प्राप गोपुरं स शनैः शनैः ॥ १०७ ॥

अर्थ : उसके वक्षस्थलपर अत्यन्त दीप्तिमान् हार था। वह ऐसा शोभित हो रहा था, जैसे सुमेरुपर्वतके तटपर देवगंगाके जलका प्रवाह शोभित हो रहा हो ॥ १०४ ॥

अन्वय : यस्य विशांपतेः साधु प्रसाधनं समालोक्य नार्यः कन्दर्पं दधुः एव । स्वित् अरयः च अपत्रपाः कंदर्पं दधुः ।

अर्थ : महाराज जयकुमारके सुन्दर सौन्दर्य-प्रसाधनको देख स्त्रियाँ निर्लज्ज हो कामाविष्ट ही हो गयीं। इसी तरह उसके समुचित युद्ध-प्रसाधन देख उसके शत्रुगण भी निर्लज्ज बन कैसा अभिमान धारण कर सकते थे ? किसी तरहका नहीं, यह भाव है ॥ १०५ ॥

अन्वय : अत्र मनसः प्रसक्तिः कार्यसम्पत्तिं वक्ति, इति अनन्यमनस्कारैः जवात् (सः) प्रस्थानं कृतवान् ।

अर्थ : इस लोकमें मनकी प्रसन्नता कार्यसिद्धिकी सूचक होती है, इसलिए उस राजा जयकुमारने मानसिक प्रसन्नताके साथ शीघ्र प्रस्थान किया ॥ १०६ ॥

अन्वय : सः गोपपतिः पुरन्ध्रीजनदत्ताशीः विकासिकुसुमाञ्जलिं श्रयन् शनैः शनैः गोपुरं प्राप ।

पुरन्ध्रीति । पुरन्ध्रीजनेन पौरनारीसमूहेन बत्ता याऽऽशीः शुभाशंसा, तन्निमित्तो यो विकासिकुसुमानामञ्जलिः प्रसृतिस्तं श्रयन् सेवमानो गोपपतिर्नृपवरो गोपुरं पुरद्वारं शनैः शनैः प्राप प्राप्तवान् । यथा गोपपतिर्धेनुरक्षको वृद्धस्त्रीजनसमर्पितां कुसुमाञ्जलिशब्देन आक्षिप्तां हरिताङ्कुरततिमादाय शनैर्गोपुरं धैनुकं प्राप्नोतीति ॥ १०७ ॥

अत्याक्षीद् दूरतः सद्भिः सेवितः सदनाश्रयम् ।
अनीतिप्रथितं राजा नीतिमान् पुरमप्यसौ ॥ १०८ ॥

अत्याक्षीदिति । असौ राजा जयकुमारः पुरमपि दूरतोऽत्याक्षीत्, नगरं विहाय दूरमगादित्यर्थः । तत्र हेतुत्वेनोच्यते—यतो राजा नीतिमान् न्यायमार्गानुयायी, पुरं पुनरनीतिप्रथितं दुराचारयुक्तम्, अतोऽत्याक्षीत् । पुरं तु तत्त्वतस्तावदीतिभिरतिवृष्ट्यादिभिः प्रथितं न भवतीत्यनीतिप्रथितम् । तथा च राजा सद्भिः सज्जनैः सेवित आराधितो युक्त आसीत् । पुरं सदनाश्रयं सतामनाश्रयमिति कृत्वाऽत्याक्षीत्, यत्पुरं किल सदनानां गृहाणामाश्रयभूतं वर्तते । विरोधाभासः ॥ १०८ ॥

समुदङ्गः समुदगाद् मार्गलं मार्गलक्षणम् ।
नरराट् परराड्वैरी सत्वरं सत्त्वरञ्जितः ॥ १०९ ॥

समुदङ्ग इति । नरराट् स नरनाथः । कीदृशः, यः परराजानां शत्रुभूपानां वैरी नाशकः । तथा सत्त्वेन बलेन रञ्जितः शोभितः । अत एव मुत्सहितमङ्गं यस्य सः प्रफुल्लितशरीरो मार्गलक्षणं वर्त्मस्वरूपं मायाः मनोऽभिलषितायाः लक्ष्म्या अर्गलं प्रति-

---

अर्थ : वृद्धा स्त्रियों द्वारा दिये गये आशीर्वादरूपी कुसुमांजलिको ग्रहण करता हुआ वह जयकुमार धीरे-धीरे चलकर नगरके द्वारपर पहुँचा ॥ १०७ ॥

अन्वय : असौ सद्भिः सेवितः नीतिमान् राजा सदनाश्रयम् अनीतिप्रथितं पुरम् अपि दूरतः अत्याक्षीत् ।

अर्थ : इसके बाद राजा जयकुमारने पुरको भी छोड़ दिया, क्योंकि राजा तो सत्पुरुषोंसे सेवित और नीतिमान् था और पुर 'सदनाश्रय' अर्थात् सज्जनों-के आश्रयसे रहित था। दूसरे अर्थमें वह अच्छे मकानोंसहित था और पुर तो अनीतियुक्त भी था, अर्थात् ईति-भीतियोंसे रहित, सुखी था ॥ १०८ ॥

अन्वय : परराड्वैरी नरराट् सत्त्वरञ्जितः समुदङ्गः सत्वरं मार्गलक्षणं मार्गलं समुदगात् ।

अर्थ : प्रसन्नचित्त, दूसरे राजाओंका शत्रु, साहसी और बलवान् वह जय-

रोचकं निगडायमानमिव दृश्यमानं तत्सत्वरमेव यथा स्यात्तथा समुत्तुङ्गाद् उल्लङ्घितवान्। यमकालङ्कारः ॥ १०९ ॥

अस्मत्खरखुराघातैः खिन्ना किमिति मेदिनीम् ।
आलिङ्गन् प्रययौ सप्तिसमूहोऽनुनयन्निव ॥ ११० ॥

अस्मदिति । तस्य राज्ञः सप्तिसमूहोऽश्वसमुदायः, हे मातस्त्वमस्माकं खरास्तीक्ष्णा ये खुराः शफास्तेषामाघातैः खिन्ना व्यापन्ना किमित्येवमनुनयन् अनुकूलां कुर्वन्निव मेदिनी-मालिङ्गन्निव प्रययौ । नम्रभावतया गमनं प्रशस्तघोटकानां स्वभाव एव, तदाश्रयेणेय-मुक्तिः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ११० ॥

उपांशुपांसुले व्योम्नि ढक्काढक्कारपूरिते ।
बलाहकबलाधानान्मयूरा मदमाययुः ॥ १११ ॥

उपांश्विति । उपांशुपांसुलेऽतिशयरेणुपरिव्याप्ते व्योम्न्याकाशे, ढक्काया भेर्या ढक्कारेण प्रचण्डगर्जनेन पूरिते संभृते सति मयूराः शिखण्डिनो बलाहकानां मेघानां बलाधानात् मेघगर्जनभ्रमाद् मदमुन्मत्तभावमाययुः प्रापुः । अनुप्रासः ॥ १११ ॥

सुमन्दमरुदावेल्लत्केतुपङ्क्तिः समुज्ज्वला ।
इलां क्षालयितुं रेजेऽवतरन्तीव स्वर्णदी ॥ ११२ ॥

कुमार काशी-गमनरूप वांछितसिद्धिरूप लक्ष्मीके बाधक मार्गको शीघ्र ही पार कर गया ॥ १०९ ॥

अन्वय : अस्मत्खरखुराघातैः खिन्ना किम् इति मेदिनीम् अनुनयन् इव आलिङ्गन् तस्य सप्तिसमूहः प्रययौ ।

अर्थ : उस राजाके घोड़ोंने सोचा कि हमारे कठोर खुरोंके आघातसे कहीं यह पृथ्वी खेदखिन्न तो नहीं हो रही है ! मानो इसीलिए वे पृथ्वीका अनु-नयरूप आलिगन करते हुए चले ॥ ११० ॥

अन्वय : उपांशुपांसुले ढक्काढक्कारपूरिते व्योम्नि बलाहकबलाधानात् मयूराः मदम् आययुः ।

अर्थ : उस समय उड़ी हुई धूलसे व्याप्त आकाश जब नगारेकी आवाजसे पूरित हो गया, तो मेघ-गर्जनके भ्रमसे मयूर मतवाले हो उठे ॥ १११ ॥

अन्वय : समुज्ज्वला सुमन्दमरुदावेल्लत्केतुपङ्क्तिः इलां क्षालयितुम् अवतरन्ती स्वर्णदी इव रेजे ।

सुमन्देति । सुमन्देन मरुता वायुनाऽऽवेल्लन्ती सञ्चलन्ती केतूनां ध्वजपल्लवानां समुज्ज्वला शुक्लवर्णा पङ्क्तिः श्रेणी, इलां भुवं क्षालयितुं पवित्रीकर्तुमवतरन्ती समागच्छन्ती स्वर्णदीव व्योमगङ्गेव बभौ ॥ ११२ ॥

सविभ्रमां च विटपैरुपश्लिष्टपयोधराम् ।
तत्याज तरसा भूपः स्निग्धच्छायां वनावनिम् ॥ ११३ ॥

सविभ्रमामिति । भूपो नृपः, वीनां पक्षिणां भ्रमोः पर्यटनं विभ्रमस्तेन सहितां विटपैस्तरुशाखाभिः उपश्लिष्टाः पयोधरा मेघा यया सा ताम् । स्निग्धा कोमला छाया शोभाऽनातपो वा यस्याः सा तां वनावनिं काननभूमिम् । समासोक्त्या पक्षान्तरे विभ्रमैर्विलासैः सहितां, विटपैः कामुकैरुपश्लिष्टौ पयोधरौ यस्याः सा ताम्, स्निग्धा कोमला छाया कान्तिर्यस्याः सा तां नायिकामिव तरसा तत्याज, वेगेन तादृशीमपि सहसा विजहौ । यतः स सुलोचनानुरक्तः, अतोऽन्या तस्मै नारोचतेति भावः । अत्र समासोक्त्यलङ्कारः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशगुणस्थानमुखेन शिवपूर्गता ।
शुक्लेन वाजिना तेनारात्रिमार्गानुगामिना ॥ ११४ ॥

अर्थ : मन्द वायुके द्वारा हिलती निर्मल ध्वजपंक्ति उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो भूमिको प्रक्षालित करनेके लिए स्वर्गङ्गा ही जमीनपर उतर आयी हो ॥ ११२ ॥

अन्वय : भूपः सविभ्रमां च विटपैः उपश्लिष्टपयोधरां स्निग्धच्छायां वनावनिं तरसा तत्याज ।

अर्थ : राजा जयकुमारने वनभूमिको बड़े वेगसे पार कर त्याग दिया । वह वनभूमि पक्षियोंकी उड़ने-घूमनेसे विलासयुक्त थी । वहाँके वृक्ष मेघोंको छूते थे । वहाँ बड़ी घनी छाया थी । समासोक्ति अलंकारसे वनावनीको कोई सुन्दर नायिका मानें तो सुलोचनामें अत्यन्त अनुरक्त होनेसे राजाने उसे भी तेजीसे दुतकार दिया, त्याग दिया । यह वनावनीरूपा नायिका भी स्त्री विलासोंसे युक्त थी । उसके पयोधर कामुकों द्वारा आश्लिष्ट थे तथा उसकी कान्ति भी अत्यन्त स्निग्ध, कोमल-चिक्कण रही ॥ ११३ ॥

अन्वय : चतुर्दशगुणस्थानमुखेन त्रिमार्गानुगामिना शुक्लेन वाजिना आरात् शिवपूः गता ।

चतुर्दशेति । शिवपूः काशी मुक्तिश्च सा तेन राज्ञा जयकुमारेण आराच्छीघ्रमेव गता लब्धा । किं कृत्वा, शुक्लेन धवलवर्णेन निष्कषायेणेति च, वाजिना घोटकेन ध्यानेन च, न जायत इत्यज आत्मा, स यस्मिन् भवति तेनाजिना, वा च पृथक्, एवं कृत्वा । कीदृशेन तेन वाजिना ध्यानेन चेति चेत् ? त्रिमार्गानुगामिना । घोटकस्य गतयस्त्रिधा भवन्ति, मुक्तिवर्त्म च रत्नत्रयात्मकमिति त्रिमार्गपथिकेनेति कथ्यते । तथा चतुर्दशगुणस्थानमुखेन, घोटकमुखे चतुर्दशप्रकारा गुणा वल्गाना भवन्ति, मुमुक्षुजनेन लभ्यानि च चतुर्दशगुणस्थानानि कथितान्यागमे । ततश्चतुर्दशगुणानां स्थानं मुखं यस्येति घोटकपक्षे, चतुर्दशगुणस्थानानि मुखं द्वारं यस्येति ध्यानपक्षे । श्लेषालङ्कारः ॥ ११४ ॥

नवा नवाऽथवा वर्त्मभवा सविभवा च भूः ।
श्रीसमागमहेतुत्वाद्राज्ञा कविभवापि वाक् ॥ ११५ ॥

नवेति । राज्ञा तेन जयकुमारेण वर्त्मभवा भूः मार्गभूता पृथिवी सविभवा, वीनां पक्षिणां भवेन सत्त्वेन सहिता सविभवा पक्षिणां मनोमोहककलरवेण युक्ता । अथवा विभवेन सहजेन निष्कण्टकाविकल्पकेण विभवेन सहिता सविभवा सा । श्रियः सौभाग्यसम्पत्तेः समागमः प्राप्तिस्तस्य हेतुत्वात् । नवा नवा नैव नैवेत्येवंरूपा आपि प्राप्ता, अर्थात् सुलोचनादर्शनोत्सुकेन तेन तन्मनस्कतया चैषा मार्गस्था न किमपीति विचारेण शीघ्रमेवाऽलङ्घि । यथा कविभवा वाक् सत्कविसमुदिता वाणी नवा नवा नूतना नूतनाऽपूर्वकल्पनात्मिका, तथापि वर्त्मभवा वृद्धपरंपरात्मिका, अत एव सविभवा आनन्ददायिनी, विभवशब्दस्य आनन्दवाचकत्वात् । श्रीयुक्तः सम्यगागम आप्तोपज्ञो ग्रन्थस्तस्य हेतुत्वात् । किं वा स ग्रन्थ

अर्थ : चौदह लगामोंवाले मुखके धारक और जल, स्थल तथा आकाशरूप तीनों मार्गोंसे गमन करनेवाले सफेद घोड़ेद्वारा महाराज जयकुमारने शीघ्र ही काशीपुरीको वैसे प्राप्त कर लिया, जैसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन मार्गों-से गमन करनेवाले एवं चतुर्दश गुणस्थानोंको पार करनेवाले शुक्ल ध्यान द्वारा शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर ली जाती है ॥ ११४ ॥

अन्वय : राज्ञा वर्त्मभवा भूः सविभवा श्रीसमागमहेतुत्वात् नवा कविभवा वाक् इव आपि ।

अर्थ : महाराज जयकुमारने मार्गकी भूमि भी, जो पक्षियोंके मनोमोहक रव-से युक्त है, सुलोचना-दर्शनरूप लाभके कारण 'नहीं, नहीं चाहिए' इस प्रकार प्राप्त की । अर्थात् उसका शीघ्र अतिलंघन कर दिया । जैसे कि कविद्वारा उक्त

एव हेतुर्यस्याः सा तस्य भावत्वात् । आप्तोक्तिपरम्परायातत्वात् आप्तोक्तिविशेषस्यैव प्रतिपादकत्वाद्वा । अनुप्रासश्लेषोपमालङ्काराः ॥ ११५ ॥

स्वप्रेष्ठं स्मरसोदरं जयनृपं तत्रागतं सादरं
यत्नाद्गोपुरमण्डलात् स्वयमथोत्सर्गस्वभावाधिपः ।
वप्ताऽऽनीय सुपुष्कराशयतनोर्धामप्रभृत्युज्ज्वलं
रक्त्याऽदात् स्वपुरेऽयमात्तवरदोऽरं कृत्यपः श्रीधरः ॥ ११६ ॥

स्वप्रेष्ठमिति । सुपुष्कराशयतनोः श्रेष्ठकमलगर्भशरीरायाः सुलोचनाया वप्ता पिता श्रीधर आत्ता वरदा कन्या येन सः, कन्याया जनकत्वादेव कृत्यं स्वकर्तव्यं पाति पालयतीति कृत्यपः, गृहागतातिथीनां सत्काराचरणं कन्यापितुः कार्यमेवेति कृत्वा तत्रागतमुपस्थितं स्मरस्य कामस्य सोदरमिव स्वप्रेष्ठमतिशयप्रेमाधिकरणं गोपुरमण्डलात् पुरद्वाराग्रभागादेव यत्नात् सावधानतया आनीय लात्वा स्वयमेवान्यप्रेरणमन्तरेव, पुनरुत्सर्गस्वभावस्याधिपोऽधिकारी स स्वपुरे काशीनाम्नि रक्त्याऽनुरागेण तस्मै जयकुमाराय उज्ज्वलं दीप्तिमद् धामप्रभृति प्रासादादिकमरं द्रुतमेव अदात् दत्तवान् । एतच्छन्दश्चक्रबन्धे षडरात्मके लिखित्वा, अग्राक्षरैः 'स्वयंवरपल' इति ध्येयम् ॥ ११६ ॥

स श्रीमान् सुषुवे चतुर्भुजवणिक् शान्तेः कुमाराह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरीदेवी च यं धीचयम् ।
नव्यां पद्धतिमुद्धरत्सुकृतिभिः काव्यं मतं तत्कृतं,
सर्गस्य द्वितयेतरस्य चरमां सीमानमेतद् गतम् ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीजयोदयकाव्ये तृतीयः सर्गः ॥

नवीन अपूर्व कल्पनात्मिका आनन्दप्रदा वाणी भी सम्यक् आप्तोपज्ञ परम्परागत वाणी प्राप्त की जाती है ॥ ११५ ॥

अन्वय : अथ उत्सर्गस्वभावाधिपः सुपुष्कराशयतनोः वप्ता अयम् आत्तवरदः श्रीधरः स्वयं यत्नात् गोपुरमण्डलात् स्वप्रेष्ठं स्मरसोदरं जयनृपं तत्र आगतं सादरं आनीय रक्त्या उज्ज्वलं धामप्रभृति अदात् ।

अर्थ : काशीपुरीके स्वामी, कमलगर्भशरीरा सुलोचनाके पिता कृत्यको जाननेवाले राजा श्रीधर यत्नपूर्वक स्वयं पुरके द्वारपर पहुँचकर वहाँ आये और परमप्रिय कामदेवके सहोदरके समान जयकुमार राजाको सादर अपने नगरमें लिवा लाये तथा बड़े प्रेमके साथ उन्होंने उनके रहनेके लिए योग्य स्थान आदिका प्रबन्ध किया ॥ ११६ ॥

चतुर्थः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् काशिकानरपतिर्निजकेन्द्रात् ।
आदिराज इदमाह सुरम्यमर्ककीर्तिमचिरादुपगम्य ॥ १ ॥

यावदिति । अथानन्तरं काशिकानरपतिः अकम्पनो यावत् नरेन्द्रान् अखिलदेशवासिनो भूपालान् निजकेन्द्रात् स्वस्थानादागमयते, काशीं प्रतीति शेषः । तावत् आदिराजोऽचिरात् शीघ्रमर्ककीर्तिमुपगम्य गत्वा इदं सुरम्यं मनोहरं वृत्तमाह कथितवान् ॥ १ ॥

तात शातकरमेव निवेद्यं कौतुकेन समुदाह्रियतेऽद्य ।
श्रूयतां श्रवणयोरनुजेन न श्रुतं च भवता मनुजेन ॥ २ ॥

तातेति । हे तात, हे पूज्य, अद्याधुना मया कौतुकेन विनोदेन यत्समुदाह्रियते कथ्यते, तन्निवेद्यं शातकरं प्रसन्नतादायकमेव, अतः श्रूयताम् । यत्किल अनुजेन, भवतामिति शेषः । न श्रुतम्, भवता श्रीमता मनुजेन च न श्रुतं नाकर्णितम् ॥ २ ॥

यत्स्वयंवरविधानकनाम कर्तुमिच्छति मुदा गुणधाम ।
सोऽप्यकम्पननृपस्तनुजाया या मनु स्वयमिहातनुजाया ॥ ३ ॥

अन्वय : अथ काशिकानरपतिः यावत् निजकेन्द्रत् नरेन्द्रान् आगमयते तावत् आदिराजः अचिरात् अर्ककीर्तिम् उपगम्य इदं सुरम्यम् आह ।

अर्थ : इसके अनन्तर काशिराज महाराज अकम्पन जबतक कि देशान्तरके राजा लोगोंको बुलाकर काशीमें इकट्ठा करवाता है, तबतक अकंपन देशके आदिराज अर्ककीर्तिके पास जाकर कहने लगे ॥ १ ॥

अन्वय : तात अद्य कौतुकेन (मया) यत् समुदाह्रियते (तत्) निवेद्यं शातकरम् एव श्रूयताम्, (यत् किल) भवताम् अनुजेन (मया) भवता च न श्रुतम् ।

अर्थ : हे तात ! आज मैं जो कुछ कौतुकवश कह रहा हूँ, वह बड़ी प्रसन्नताकी बात है, उसे सुनो । इसे आपके भाई मैंने और आपने अबतक निश्चय ही सुना नहीं है ॥ २ ॥

अन्वय : हे गुणधाम सः अकम्पननृपः तनुजायाः स्वयं अतनुजाया अपि इह याम् अनु तस्याः स्वयंवरविधानकनाम मुदा कर्तुम् इच्छति ।

यविति । हे गुणधाम, सोऽकम्पननृपस्तनुजायाः स्वपुत्र्याः स्वयमतनुजाया कामदेवपत्नी रतिरपि इह या मनु न्यूना तस्याः स्वयंवरविधानकनाम यद्वरणं तन्मुदा हर्षेण कर्तुमिच्छति ॥ ३ ॥

वीक्षितुं यदधुनाऽखिलकायः प्रस्थितः सुमनसां समुदायः ।
श्रीवसन्तमिव किं पुनरेष मानवाङ्गभवपल्लवलेशः ॥ ४ ॥

वीक्षितुमिति । श्रीवसन्तमिव मनोहरं यद्वीक्षितुं द्रष्टुमखिलकायः सम्पूर्ण एव सुमनसां कुसुमानां वा सुराणां समुदायोऽधुना साम्प्रतं प्रस्थितः समागतः, किं पुनरेष भूतलगतो मानवाङ्गभवो मनुष्यो यः पल्लवलेशश्छदस्थानीयश्चलस्वभावः, 'चलेऽप्यस्त्री तु किसलये विटपेऽपि च पल्लव' इति विश्वलोचनः । मा इति पृथग्वा कृत्वा किं मा यातु, किन्तु यात्वेव यतो नवाङ्गभव इति ॥ ४ ॥

उक्तपत्ररसनो रविरीतिस्तावता स्म स समुद्गिरतीति ।
गम्यतां किमिति सम्प्रति तत्रास्माकमङ्ग विधिना गुणिभर्त्रा ॥ ५ ॥

उक्तेति । उक्तं पत्रं शब्दसमूहं रसति स्वीकरोतीत्युक्तपत्ररसनो रविरीतिरर्ककीर्तिः स तावता तत्कालमिति समुद्गिरति स्म कथयामास । हे अङ्ग वत्स, गुणी गुणवान् भर्ता स्वामी यस्य तेन गुणिभर्त्राऽस्माकं विधिना विधानेन सम्प्रति किमिति तत्र गम्यताम् ॥ ५ ॥

अर्थ : हे गुणधाम, महाराज अकम्पन अपनी पुत्री सुलोचना, जो कि कामदेवकी स्त्री रतिको भी अपने पीछे (न्यून) करती है, स्वयंवर-नामक विवाह कार्य कर रहे हैं ॥ ३ ॥

अन्वय : श्रीवसन्तम् इव यत् वीक्षितुम् अधुना अखिलकायः सुमनसां समुदायः प्रस्थितः, किं पुनः एषः मानवाङ्गभवपल्लवलेशः ।

अर्थ : वसन्तऋतुकी तरह उस स्वयंवर-सभाको देखनेके लिए इस समय फूलोंके समूहकी तरह देवताओंका समूह भी वहाँके लिए रवाना हो गया है, तो पत्तोंकी तरह चंचल-स्वभाव मनुष्यके वहाँ पहुँचनेकी बात ही क्या है ॥ ४ ॥

अन्वय : उक्तपत्ररसनः रविरीतिः तावता इति समुद्गिरति स्म यत् अङ्ग गुणिभर्त्रा अस्माकं विधिना सम्प्रति किम् इति तत्र गम्यताम् ।

अर्थ : उपर्युक्त बात सुनकर अर्ककीर्ति उसी समय बोला कि क्या इस समय वहाँ हम गुणवानोंको भी चलना चाहिए ? ॥ ५ ॥

आह कोऽपि विनिशम्य रसालां वाचमाचलितचित्त इवारात् ।
का स्वयंवरनुमा खलु शाला यं कमेव वृणुते खलु बाला ॥ ६ ॥

आहेति । इमां रसालां सरसां वाचं विनिशम्य श्रुत्वा कोऽपि आसमन्ताच्चलितं चित्तं यस्य स आचलितचित्तो विक्षिप्त इव आराच्छीघ्रमाह कथितवान्, का खलु स्वयं-वरनुमा नाम यस्याः सा शाला । यत्र बाला कन्या स्वयं यं कमेव यदृच्छया वृणुते खलु सा ॥ ६ ॥

आस्तदा सुललितं चलितव्यं तन्मयाऽवसरणं बहु भव्यम् ।
श्रीचतुष्पथक उत्कलिताय कस्यचिद् व्रजति चिन्न हिताय ॥ ७ ॥

आस्तदेति । यदि चेदुपर्युल्लिखिता वार्ता तदा आः सुललितं बहुसुन्दरं चलितव्यं तन्मयापि चलितव्यमेव् इदमवसरणं बहुभव्यं मनोहरं श्रीचतुष्पथके समन्तमार्गं उत्कलिताय परिक्षिप्ताय हिताय उपयोगिपदार्थाय कस्यचिज्जनस्य चिद् बुद्धिर्न व्रजति ॥ ७ ॥

फेनिलेन परिशोध्य शरीरं सन्निवेश्य भगवत्पदतीरम् ।
देवदानवबलायितकस्य स्यात्परीक्षणमहो किल कस्य ॥ ८ ॥

फेनिलेनेति । फेनिलेन शरीरं परिशोध्य भगवतः प्रभोः पदतीरं चरणाग्रभागं सन्नि-

---

अन्वय : इमां रसालां वाचं विनिशम्य कः अपि आचलितचित्तः इव आरात् आह । का खलु स्वयंवरनुमा शाला (यत्र) बाला (स्वयम्) यं कम् एव वृणुते ।

अर्थ : इस रसभरी बातको सुनकर अत्यन्त उत्सुक हो कोई व्यक्ति शीघ्र बोला कि वह स्वयंवर-नामक शाला कौन-सी है जहाँ बाला अपनी इच्छानुसार जिस किसीका वरण करेगी ॥ ६ ॥

अन्वय : आः तदा सुललितं तत् मया अपि चलितव्यम् । यतः अवसरणं बहुभव्यं श्रीचतुष्पथके उत्कलिताय हिताय कस्यचित् चित् न व्रजति ।

अर्थ : यदि ऐसी बात है तो फिर मुझे भी चलना ही चाहिए, अर्थात् मैं भी चलूँगा । कारण यह अवसर तो बहुत सुन्दर है । चौराहेपर धरे हुए रत्नको लेनेके लिए किसका मन नहीं चाहता ? ॥ ७ ॥

अन्वय : फेनिलेन शरीरं परिशोध्य भगवत्पदतीरं सन्निवेश्य च देवदानवबलायितकस्य किल कस्य परीक्षणं स्यात् अहो ।

देव प्रार्थनीकृत्य पूजयित्वा पुनर्देवानां दानवानाञ्च मध्ये बलस्यायित अधीनः क आत्मा यस्य तस्य किल कस्य सम्भाव्यमानस्य परीक्षणं स्यादहो इदमाश्चर्यं ॥ ८ ॥

हे महीशमहनीय नयन्तु दृक्पथं भुवि धियाऽभिनयन्तु ।
श्रीमतः प्रथम इत्यधिकारः किं विधोः शरदि नाप्युपचारः ॥ ९ ॥

हेमहीशेति । हे महीशमहनीय भूपतीनां पूज्यकीर्ते भुवि धरायां जातमिति शेषः । अभिनयं आश्चर्यस्थानं श्रीमतो धियो बुद्धयोऽपि दृक्पथं नयन्तु पश्यन्तु । श्रीमतोऽत्र प्रथमोऽधिकारः । शरदि वर्षावसानसमये विधोश्चन्द्रस्यापि उपचारः सङ्क्रमो नास्तु किम्, सर्वप्रथम एवास्तु ॥ ९ ॥

यास्यतीव हि भवान् स्विददीनं भोज्यमस्तु लवणेन विहीनम् ।
वञ्चिताः स्म किमुपायपदे ते श्रीमतामनुचरा वयमेते ॥ १० ॥

यास्यतीति । भवान् यास्यतीव, हि यतोऽदीनमुत्तमं भोज्यं लवणेन विहीनं रहितमस्तु स्वित् किमिति काकुरूपम् । यथा चैते वयं श्रीमतामनुचरा आज्ञाकारिणस्ते चास्मिन्नुपायपदे समालब्धुं योग्यस्थाने वञ्चिताः स्म भवाम ? लोटोऽस्मत्पुरुषबहुवचनम् । किमिति प्रश्ने ॥ १० ॥

अर्थ : साबुनसे स्नानकर और भगवान्‌के चरणमें प्रार्थना करके देव और दानवोंके बीच बलके अधीन आत्मावाले किसकी परीक्षा होगी, यह आश्चर्यकी बात है ॥ ८ ॥

अन्वय : हे महीशमहनीय ! भुवि (जातम्) अभिनयं तु श्रीमतः धियः अपि दृक्पथं नयन्तु । श्रीमतः अत्र प्रथमः अधिकारः । शरदि विधोः अपि किम् उपचारः न ।

अर्थ : हे महीशोंमें आदरणीय महाराज, पृथ्वीपर होनेवाले इस उत्सवको तो आपकी बुद्धि भी देखे । इस विषयमें आपका तो सबसे प्रथम अधिकार है । क्या शरद्‌ऋतुमें चाँदकी पूछ नहीं होती ? होती ही है ॥ ९ ॥

अन्वय : भवान् यास्यति इव । हि अदीनं भोज्यं लवणेन विहीनं स्वित् अस्तु ? एते वयं श्रीमताम् अनुचराः अस्मिन् उपायपदे किं वञ्चिताः स्म ।

अर्थ : आप तो अवश्य चलेंगे ही, क्योंकि उत्तम भोजन लवणसे रहित थोड़े ही होता है ? भला आपके अनुचर हम लोग इस उत्सवको देखे बिना कभी रह सकते हैं ? ॥ १० ॥

यामि यात यदिवश्चिदुदेति भूपविसु जनतावशगेति ।
सानुकूलवचनं निजगाद चक्रवर्तितनयोऽपि यदाऽदः ॥ ११ ॥

यामीति । इति श्रुत्वा चक्रवर्तितनयोऽर्ककीर्तिरपि यदाद इदं यदि वो युष्माकं चिदुदेति मनीषाऽस्ति तदा यात यामि गच्छामि । भूपविसु जनताया वशगा भवति, यथा जनतायाः प्रसत्तिः स्यात्तथा करोति, इति सानुकूलमनुकूलतात्मकं वचनं निजगाद कथितवांस्तदा ॥ ११ ॥

साम्प्रतं सुमतिराह निशम्य स्वामिभाषितमिवेदसम्यक् ।
निर्निमन्त्रणतया न भवद्भिर्यातुमेवमुचितं गुणवद्भिः ॥ १२ ॥

साम्प्रतमिति । स्वामिभाषितमिदम् असम्यग् अशोभनमिव निशम्य श्रुत्वा साम्प्रतमधुना सुमतिर्नाम मन्त्री स आह । गुणवद्भिर्भवद्भिरेवं निर्निमन्त्रणतया विना निमन्त्रणं यातुमुचितं न भवति ॥ १२ ॥

तत्र दुर्मतिरुपेत्य जगाद शङ्कुशोधननिभं सहसाऽदः ।
ईदृशेऽभिनयके प्रतियाति किन्न तस्य हि निमन्त्रणतातिः ॥ १३ ॥

अन्वय : इति चक्रवर्तितनयः यदा अदः यदि चित् उदेति, तदा यात यामि । भूपविसु जनतावशगा इति सानुकूलवचनं निजगाद ।

अर्थ : चक्रवर्तिका पुत्र अर्ककीर्ति कहने लगा कि यदि तुम लोगोंकी इच्छा है तो चलो, चलेंगे। क्योंकि राजाके विचार तो प्रजाके मन-पसन्द होने चाहिए। इस प्रकार उसने हाँमें हाँ मिला दी ॥ ११ ॥

अन्वय : स्वामिभाषितम् असम्यक् इव निशम्य साम्प्रतं सुमतिः इदं आह । निर्निमन्त्रणतया भवद्भिः गुणवद्भिः एवं यातुम् उचितं न ।

अर्थ : यह बात सुनकर 'सुमति' नामका मंत्री कहने लगा कि आपने यह तो ठीक नहीं कहा; क्योंकि आप गुणवान् हैं, अतः आपको बिना निमंत्रण नहीं जाना चाहिए ॥ १२ ॥

अन्वय : तत्र दुर्मतिः उपेत्य सहसा अदः शङ्कुशोधननिभं निजगाद, यत् ईदृशे अभिनयके यः कः अपि प्रतियाति, तस्य हि निमन्त्रणतातिः किं न ?

तत्रेति । तत्र उपेत्य दुर्मतिर्नामसचिवः शङ्कुशोधननिभं शल्योद्धरणकल्पं सहसा साहसेनाव इदं जगाद यदीदृशे सार्वजनिकेऽभिनयके समारोहे य एव प्रतियाति तस्य हि निमन्त्रणतातिः आमन्त्रणपत्रिका किन्न भवति, अपि तु भवेदेव ॥ १३ ॥

गम्यतां पुनरितीह निरुक्तिः सोऽष्टचन्द्रनरपो ग्रहयुक्तिः ।
स्वं वरं प्रचरितुं धृतसत्तां गन्तुमेष च सभामभवत्ताम् ॥ १४ ॥

गम्यतामिति । गम्यतां पुनरित्येवं निर्णयात्मिकोक्तिर्यस्य स निरुक्तिः सोऽष्टचन्द्रनरपो यः स्वं वरं प्रचरितुं निश्चेतुं धृता सत्ता यया तां सभां गन्तुमेव ग्रहयुक्तिः अनुकूलग्रहाणां युक्तिः सम्प्राप्तिर्यत्र स इवाभवत् । च पादपूरणे ॥ १४ ॥

गच्छतां तु तरुणाहितसक्तिश्छायया‌ऽभिदधतीत्यनुरक्तिम् ।
पद्धतिर्ननु सुलोचनिके वाऽऽमोददा सफलकौतुकसेवा ॥ १५ ॥

गच्छतामिति । अथ गच्छतां तेषां पद्धतिः मार्गततिः सा सुलोचनिकेव पद्धतिस्तरुणा वृक्षेण आहिता प्राप्ता सक्तिः प्रसन्नता यस्याम्, तरुशब्दस्य जातावेकवचनम् । पक्षे तरुणैर्युवकैः आहिता प्राप्ता सक्तिर्यस्यां सा । छायया‌ऽऽतपाभावेन, पक्षे शोभया‌ऽनुरक्तिमभिदधती, तथा फलानि कौतुकानि पुष्पाणि च तेषां सेवया उपलब्ध्या सहिता । पक्षे सफला सम्पन्ना कौतुकस्य विनोदस्य सेवा यस्याः सा । आमोददा सुगन्धदात्री, पक्षे

अर्थ : इसपर दुर्मति नामका मंत्री काँटा निकालनेके समान इस प्रकार कहने लगा कि ऐसे सार्वजनिक अवसरोंपर तो जो जाता है, उसीके लिए निमंत्रण रहता है ॥ १३ ॥

अन्वय : गम्यताम् इति निरुक्तिः अष्टचन्द्रनरपः सः एषः स्वं वरं प्रचरितुं धृतसत्तां तां सभां गन्तुं ग्रहयुक्तिः अभवत् ।

अर्थ : इसके बाद तो 'अवश्य चलिये !' ऐसा कहनेवाला वह अष्टचन्द्रनरपति स्वयंवरार्थ संगठित सभामें जानेके लिए अनुकूल ग्रहप्राप्तिकी तरह चलनेको तैयार हो गया ॥ १४ ॥

अन्वय : गच्छतां तु तेषां पद्धतिः तरुणाहितसक्तिः ननु सुलोचनिका इव छायया अनुरक्तिम् अभिदधति इति सफलकौतुकसेवा आमोददा ।

अर्थ : जब वे लोग चले, तो उन्हें सड़क सुलोचनाके समान प्रतीत हुई । क्योंकि सुलोचना तो किसी तरुणमें आसक्त होनेवाली है तो सड़ककी भी दोनो

आसमन्तात् मोदं हर्षं ददातित्यामोदवा, इति प्रकारेण । ननु नियमतः, तु पादपूरणे ॥ १५ ॥

पाणिनीयकुलकोक्तिसुवस्तु पूज्यपादविहितां सुदृशस्तु ।
सर्वतोऽपि चतुरङ्गततामिः काशिकां ययुरमी धिषणाभिः ॥ १६ ॥

पाणिनीयेति । अमी सर्वे अर्ककीर्त्यादय काशिकां नगरीं तथा काशिकानामाष्टाध्याय्या उपरि कृतां वृत्तिं सर्वतोऽपि समन्तादपि धिषणाभिर्बुद्धिभिः ययुः प्रापुः । कथम्भूताभिः बुद्धिभिः ? तुरङ्गघोटकैस्तताभिः व्याप्ताभिः । च पादपूरणे । पक्षे चतुर्भिरङ्गैः अध्ययनाध्यापनाचरणप्रचारणैस्तताभिः । कीदृशीं काशिकाम् ? पाणिना हस्तेन नीया प्रापणीया यासौ कुलकोक्तिः श्रेष्ठोक्तिः इयमतिसन्निकटप्राप्तेति रूपा तस्याः । सुवस्तु तु पुनः सुदृशः सुलोचनायाः पूज्याभ्यां पादाभ्यां विहितां प्रकाशिताम् । पक्षे पाणिनीया पाणिनि-सम्बन्धिनी या कुलकोक्तिः सैव सुवस्तु, तदुपरि पूज्यपादेन विहिताम् । 'कुलकस्तु कुलश्रेष्ठे' इति विश्वलोचनः । सुदृशो मनोहराक्षा अमी जना ययुरिति भावः ॥ १६ ॥

आगतं भरतभूपतुजं तं चैत्यकाशिपतिरुत्तमसन्तम् ।
सोपहारकरणः प्रणनाम प्रोक्तवानपि यदेव ललाम ॥१७॥

आगतमिति । उपहारस्य करणमुपहारकरणं तेन सहेति सोपहारकरणः सोपायनसाधनः चैत्यकाशिपतिरागतं समायातमुत्तमसन्तं श्रेष्ठसज्जनं भरतभूपस्य तुजं पुत्रमर्ककीर्ति

ओर तरु लगे हुए हैं। सुलोचना प्रसन्नता देनेवाली है तो यह सड़क भी वृक्षोंकी छायाके कारण सुगंधित है। सुलोचना विनोदवाली है तो सड़कपर भी फल और फूल लगे हैं ॥ १५ ॥

अन्वय : अमी सर्वतः अपि चतुरङ्गततामिः धिषणाभिः पाणिनीयकुलकोक्तिसुवस्तु सुदृशः तु पूज्यपादविहितां काशिकां ययुः ।

अर्थ : ये लोग अपने घोड़ोंकी पंक्तिद्वारा सर्वत्र चार तरहसे विस्तारको प्राप्त होनेवाली अपनी बुद्धिसे सुलोचनाके आदरणीय चरणोंसे युक्त काशिका-नगरीको हाथके इशारेमात्रमें, शीघ्र पहुँच गये। समासोक्तिमें इसका दूसरा अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि अध्ययन, बोध, आचरण और प्रचारण इन चार रूपोंसे सर्वत्र फैलनेवाली अपनी बुद्धिद्वारा पूज्यपादाचार्यकी पाणिनीय-व्याकरण-पर बनायी 'काशिका'-वृत्तिको इन लोगोंने प्राप्त किया ॥ १६ ॥

अन्वय : सोपहारकरणः काशिपतिः आगतम् उत्तमसन्तं भरतभूपतुजं एत्य प्रणनाम । अपि च यदेव ललाम, तत् प्रोक्तवान् ।

तं प्रणनाम प्रणतवान् । अपि च यदेव ललाम रमणीयं वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रोक्तवान् ॥ १७ ॥

पादपद्मरुचयः शुचयोऽपि ह्याव्रजन्तु भवतोऽनुनयोऽपि ।
सेवकस्य च कुटीं रमयन्तु सौरभाश्रयणमाशु नयन्तु ॥ १८ ॥

पादपद्मेति । भवतः श्रीमतः शुचयः पवित्राः पादपद्मयो रुचय आव्रजन्तु समागच्छन्तु । अपि पुनरनुनयोऽपि विनयोऽपि, श्रूयतामिति शेषः । सेवकस्य मम कुटीं च रमयन्तु भवतां पादपद्मरुचयस्तथा कृत्वा सौरभस्य सुगन्धस्याश्रयणम् । पक्षे सूरस्याऽसौ सौरा, सा चासौ भा च, तस्याः श्रयणमाशु नयन्तु ॥ १८ ॥

यौवनादिमसरिद्भवदूर्मेः स्यात्स्वयंवरविधिर्दुहितुर्मे ।
श्रीमतां नयनमीनयुगस्यानन्दहेतुरियमत्र समस्या ॥ १९ ॥

यौवनादिमेति । यौवनस्यादिमा नवयौवनरूपा या सरिन्नदी तस्यां भवन्ती ऊर्मिर्यस्याः सा तस्याः, मे दुहितुस्तनयायाः स्वयंवरविधिः श्रीमतां भवतां नयनमीनयुगस्य नेत्रमत्स्ययुग्मस्य आनन्दहेतुः स्यादियमत्र समस्या समाचारो वर्तत इति ॥ १९ ॥

इत्थमुक्तवति काशिनरेशे दुग्धवन्मृदुवचः श्रुतिदेशे ।
दूषणं स विचचार जलौका एव दुर्मतिरुदर्थितमौकाः ॥ २० ॥

अर्थ : भरतके पुत्र अर्ककीर्तिको आया जानकर अकम्पनने हाथमें भेंट लेकर उनकी अगवानी (स्वागत) की और वह समयोचित सुन्दर वचन बोला ॥ १७॥

अन्वय : भवतः शुचयः पादपद्मरुचयः आव्रजन्तु । अपि (च) सेवकस्य कुटीं रमयन्तु । आशु सौरभाश्रयणं नयन्तु इति अनुनयः अपि अस्ति ।

अर्थ : आपके पवित्र चरणकमल पधारें और मुझ दासकी कुटीको सौरभसे युक्त तथा देवताओंके रमण योग्य बना दें ॥ १८ ॥

अन्वय : यौवनादिमसरिद्भवदूर्मेः मे दुहितुः स्वयंवरविधिः स्यात्, इयं समस्या अपि श्रीमतः नयनमीनयुगस्य आनन्दहेतुः स्यात् ।

अर्थ : मेरी पुत्रीका, जो कि यौवनरूपी नदीकी प्रथम तरंग है, स्वयंवर होनेवाला है, यह सुवृत्त भी आपके नयनरूपी मीनोंको प्रसन्न करनेवाला हो ॥ १९॥

अन्वय : इत्थं श्रुतिदेशे दुग्धवत् मृदु वचः उक्तवति काशिनरेशे उदर्थितमौकाः सः दुर्मतिः जलौकाः दूषणस्य इव विचचार ।

इत्थमिति । इत्थं श्रुतिवेशे कर्णप्रदेशे दुग्धवन्मृदु सुकोमलं वच उक्तवति काशिनरेशे सति, उदर्पितं व्यर्थीकृतं मायया लक्ष्म्या ओकः स्थानं येन स दुर्मतिर्नाम नरो जलौका एव, यतो दूषणं हानिकरं विचचार चिन्तयामास ॥ २० ॥

दत्तमस्त्यपि निमन्त्रणपत्रमत्र येन च भवान् गिरमत्र ।
दुग्धतो हि नवनीतमुदेति गौस्तृणानि हि समादरणेऽत्ति ॥२१॥

दत्तमिति । स इत्यमुक्तवान्—अपि किं निमन्त्रणपत्रं दत्तमस्ति भवता येन भवान् अत्रावसरे गीर्वागमत्रं पात्रं यस्य स एवम्भूतः सन्नेवमुदाहरति ? हि यस्माद् गोः समादरणे कृते सति तृणान्यत्ति, तस्या दुग्धतो नवनीतमुदेति ॥ २१ ॥

काशिकापतिरितो नतिमाप वायुनाङ्घ्रिप इवायमपापः ।
तत्र तस्य सचिवेन सदुक्तं वाच्यमेव समये खलु युक्तम् ॥२२॥

काशिकेति । वायुनाऽङ्घ्रिप इव वृक्ष इव, अपापः कुटिलतारहितः काशिकापतिः अकम्पन इतः कथनात् नतिमाप लज्जितोऽभूत् । तत्र तस्य सचिवेन मन्त्रिणा सत्प्रशस्यमुक्तम्, यतः समये यत् युक्तं तद् वाच्यमेव ॥ २२ ॥

अर्थ : सुननेमें दूधके समान उज्ज्वल काशीनरेशने ये जो मीठे वचन कहे, उनपर भी दुर्मति जोंककी तरह अवगुण ही विचारने लगा ॥ २० ॥

अन्वय : (किम्) भवता निमन्त्रणपत्रम् अपि दत्तम् अस्ति, येन च अत्र भवान् गिरम् उदेति । हि गौः समादरणे तृणानि अत्ति । (तस्याः) दुग्धतः नवनीतम् उदेति ।

अर्थ : दुर्मति कहने लगा कि हे राजन् ! आप आग्रह तो करते हैं, किंतु क्या आपने हमें निमंत्रणपत्र भी दिया था, जिससे आप ऐसा कहनेके अधिकारी हों ? सोचिये तो सही कि मक्खन गायके दूधसे ही निकलता है और बिना आदरके गाय भी घास नहीं खाती ॥ २१ ॥

अन्वय : अपापः अयं काशिकापतिः वायुना अङ्घ्रिपः इव इतः नतिम् आप । तत्र तस्य सचिवेन सत् उक्तम् । समये खलु युक्तं वाच्यम् एव ।

अर्थ : यह सुनकर जैसे वायुसे वृक्ष झुक जाता है, वैसे ही सरलहृदय अकम्पन महाराज तो झुक गये । किंतु वहाँ उनके मंत्रीने निश्चय ही समयोचित और समुचित सुंदर वचन कहा, जो कहना ही चाहिए ॥ २२ ॥

सन्निमन्त्रणमिहान्यकृतिभ्यः कार्यकार्यपि तु मन्त्रणमिभ्य ।
स्वात्मना सह किलेति भवद्भ्यः प्रार्थ्यते सपदि भो निजसद्भ्यः ॥ २३ ॥

सन्निमन्त्रेति । इह लोके हे इभ्य, बुद्धिमन्, निमन्त्रणमन्यकृतिभ्यः सर्वसाधारणेभ्यो दत्तं सद् भवत् कार्यकारि सार्थकं भवति । अपि तु स्वात्मना स्वकीयेन अनेन सह मन्त्रणं परामर्शकरणमित्यतः सपदि साम्प्रतं भो सज्जन निजसद्रूपो भवद्भ्यः प्राथ्यंते ॥ २३ ॥

यच्च कुङ्कुमितपत्रपदेनाऽऽमन्त्र्यते स्वयमथाय मनेनाः ।
श्रीमतां चरणयोः समुपेतः स्वामि एवमनकिन् सहसेतः ॥ २४ ॥

यच्चेति । हे अनकिन्, अन्यच्छृणु, यच्च कुङ् कुमितपत्रस्य पदेन मिषेणाऽऽमन्त्र्यते । अथ श्रीमतां चरणयोरितोऽयं सहसा भक्त्या स्वामी स्वयमेव समुपेतोऽस्ति, अतोऽनेना निष्पापोऽस्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

विज्ञभाषितमिदं सुमनोभिराश्रितं हृदयतो बहुशोभि ।
इत्यनेन रविरुल्लसितोऽभूत्साम्प्रतं न स मनाक् तमसो भूः ॥ २५ ॥

विज्ञेति । विज्ञेन विदुषा भाषितं कथितमिदं पूर्वोक्ति सुमनोभिर्विचारशीलैः बहुशोभि प्रशंसनीयमिदमुक्तमिति समर्थनपूर्वकमाश्रितं स्वीकृतं हृदयतः, इत्यनेन हेतुना रविरर्ककीर्तिरपि

अन्वय : हे इभ्य ! निमन्त्रणपत्रं अन्यकृतिभ्यः सत् कार्यकारि । अपि तु स्वात्मना सह तु मन्त्रणम् । इति सपदि भोः निजसद्भ्यः भवद्भ्यः (तत् एव) प्रार्थ्यते ।

अर्थ : हे विज्ञ ! आपने जो निमन्त्रणकी बात कही, सो तो सर्वसाधारण समझदार लोगोंको दिया जाता है । किन्तु आप तो हमारे खास हैं, आपसे तो मंत्रणा करनी चाहिए । तो आपसे इसीकी प्रार्थना की जा रही है ॥ २३ ॥

अन्वय : हे अनकिन् यत् च कुङ्कुमितपत्रपदेन आमन्त्र्यते तत् अथ श्रीमतां चरणयोः इतः अयं सहसा स्वामी स्वयम् एव समुपेतः । अतः अनेनाः (अस्ति) ।

अर्थ : हे निष्पाप ! दूसरी बात यह कि निमंत्रण कुंकुमितपत्र द्वारा दिया जाता है । किन्तु यहाँ आप श्रीमानोंके चरणोंमें तो स्वयं हमारे स्वामी आकर उपस्थित हैं । अतः ये कथमपि निमंत्रण न भेजनेके पापके भागी नहीं ॥ २४ ॥

अन्वय : विज्ञभाषितं इदं बहुशोभि सुमनोभिः हृदयतः आश्रितम्, इति अनेन पुनः रविः साम्प्रतम् उल्लसितः अभूत् । स मनाक् तमसः भूः न (अभूत्) ।

सांप्रतमुल्लसितोऽभूत् प्रसन्नो जातः। स मनाग् जातुचिदपि तमसो रोषस्य स्थानं नाभूत् ॥ २५ ॥

राजकीयसदनं मतिमद्भ्यः प्राह सत्तनुपिताऽथ भवद्भ्यः।
संविहाय हृदयं न गुणेभ्यः स्थानमन्यदुचितं खलु तेभ्यः ॥ २६ ॥

राजकीयेति। अथ सत्तनोः सुलोचनायाः पिता मतिमद्भ्यो भवद्भ्यस्तेभ्योऽर्ककीर्त्यादिभ्यो राजकीयसदनं स्वनिवासयोग्यं हर्म्यं प्राह निवासाय प्रोक्तवान्। तेभ्यः क्षमादिभ्यो गुणेभ्यो हृदयं मनः संविहाय अन्यत्स्थानं न खलूचितम् ॥ २६ ॥

स्नानसंभजनभोजनपानानन्तरं मतिमुवाह निदानात्।
अर्ककीर्तिरनुयोजनमात्रमागता वयमनर्थतयाऽत्र ॥ २७ ॥

स्नानेति। स्नानं च संभजनं च भोजनं च पानं चैतेषामनन्तरमर्ककीर्तिः, वयमत्रानर्थतया व्यर्थमेवानुयोजनमात्रं समागच्छतु भवानिति कथनमात्रं यथा स्यात्तथा आगता इत्येवंरूपां मतिं निदानात् निरादरात् मनोमालिन्यादुवाह स्वीचकार ॥ २७ ॥

याम एव सदसीह परन्तु भिन्नभिन्नरुचिमद् गुणतन्तुः।
सत्तनुर्ननु परं जनमञ्चेत् का दशा पुनरहो जनमञ्चे ॥ २८ ॥

अर्थ : विद्वान् सुमतिका यह समुचित कथन विचारशीलोंने प्रशंसनीय कहकर हृदयसे मान लिया। अतएव अर्ककीर्ति भी पुनः प्रसन्न हो गया। उसके मनमें जरा-सा भी मैलापन नहीं रहा ॥ २५ ॥

अन्वय : अथ सत्तनुपिता मतिमद्भ्यः भवद्भ्यः राजकीयसदनं प्राह। तेभ्यः गुणेभ्यः हृदयं संविहाय अन्यत् उचितं स्थानं न खलु।

अर्थ : सुलोचनाके पिताने उन बुद्धिमानोंके निवासार्थ अपना राजभवन ही बता दिया। ठीक ही है, क्षमादि गुणोंके लिए हृदयको छोड़ दूसरा कौन-सा स्थान उचित हो सकता है ? ॥ २६ ॥

अन्वय : अर्ककीर्तिः स्नानसम्भजनभोजनपानानन्तरं निदानात् इमां मतिम् उवाह यत् वयम् अत्र अनुयोजनमात्रम् अनर्थतया आगताः।

अर्थ : स्नान, भजन, भोजनादिके अनन्तर अर्ककीर्तिने मनोमालिन्य और निरादरके कारण सोचा कि हम लोग व्यर्थ ही कहनेमात्रसे यहाँ आ गये ॥ २७ ॥

अन्वय : इह सदसि याम एव, परन्तु गुणतन्तुः भिन्नभिन्नरुचिमत् (भवति)। अतः ननु सत्तनुः परं जनम् अञ्चेत् तदा पुनः जनमञ्चे का दशा स्यात् अहो।

याम इति । इह सदसि स्वयंवरसभायां तु याम गच्छामैव, परन्तु गुणतन्तुः प्राणिनां भाववर्तनं भिन्नभिन्नरुचिमद्भवति, ननु वितर्के । यदि सत्तनुः सा सुलोचना परमपरं जन्यमन्वेत् स्वीकुर्यात्तदा पुनर्जनमध्ये मानवसमुदाये का दशा स्यादिति । अहो इत्याश्चर्ये खेदे वा ॥ २८ ॥

सन्निशम्य वचनं निजभर्तुर्मानसं मुदितमेव हि कर्तुम् ।
प्राह भो प्रतिभवाम्यपहर्तुं तिष्ठतान्मदनु कः खलु मर्तुम् ॥२९॥

सन्निशम्येति । निजभर्तुः स्वस्वामिनो वचनं सन्निशम्य श्रुत्वा तदनुगामिनां मानसं तत्कर्तुं सभायां गन्तु मुदितमेव प्रसन्नमेवाभूत् । तदा अर्ककीर्तिः प्राह—भो अहं राजकन्यामपहर्तुं प्रतिभवामि समर्थोऽस्मि । मदनु मया सार्धं कः खलु मर्तुं प्राणत्यागार्थं तिष्ठतात् तिष्ठतु, न कोऽपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अन्वमानि रविणेदमयोग्यमित्यतोऽपयश एव हि भोग्यम् ।
तत्र चोक्तमितरेण जनेन संवदाम्ययनमेकमनेनः ॥३०॥

अन्वमानीति । इदं रविणा अर्ककीर्तिना अयोग्यमनुचितमन्वमानि निश्चितम्, इत्यतोऽस्मादपयश एव भोग्यमनुभवनीयं स्यात् । तत्र इतरेण जनेनोक्तं यदहमेकमनेनो निर्दूषणमयनं मार्गं संवदामि ॥ ३० ॥

अर्थ : चूँकि आये हैं, तो स्वयंवर-सभामें जायँगे ही । किन्तु लोगोंके भाव तो भिन्न-भिन्न रुचिके हुआ करते हैं । सो यदि सुलोचना मुझे छोड़कर किसी दूसरेका वरण कर लेगी तो खेद है कि उतने जनसमूहके बीच हमारी क्या दशा होगी ? ॥ २८ ॥

अन्वय : निजभर्तुः वचनं सन्निशम्य मानसं कर्तुं मुदितम् एव, (अभूत्) हि । तदा अर्ककीर्तिः प्राह भो अहम् अपहर्तुं प्रतिभवामि । मदनु मर्तुं कः खलु तिष्ठतात् ।

अर्थ : इस प्रकार अपने स्वामीका वचन सुन उनके अनुयायी प्रसन्नमन हो जानेको तैयार हुए । तब अर्ककीर्ति बोला : 'यदि ऐसा हो जाय तो फिर मैं उसे पलटनेके लिए समर्थ हूँ । मेरे साथ मरनेके लिए कौन आयेगा ? मैं सुलोचनाका अपहरण कर लूँगा' ॥ २९ ॥

अन्वय : इदं रविणा अयोग्यं अन्वमानि इति । हि अतः अपयशः एव भोग्यम् । तत्र च इतरेण जनेन उक्तम् अहम् एकम् अनेनः अयनं संवदामि ।

अर्थ : अर्ककीर्तिने यह अपहरण करनेका कार्य ठीक नहीं सोचा ।

स्याद्यदीदमहमस्मदुपायाद् दामनाम विकरोमि यथाऽयात् ।
तच्च नैकहृदि येन पुनः स्यादुत्थिताऽतिविकटैव समस्या ॥ ३१ ॥

स्याद्यदीदमिति । यदीदमस्मदुपायात् प्रयत्नाद् अयाद् भाग्यात् स्यात् यद्योचितं स्यात् तर्ह्यहं दामनाम उपायं विकरोमि, तच्चैकहृदि न येन पुनर्विकटैव समस्या उत्थिता स्यात् ॥ ३१ ॥

तत्तदाप्य निगले हि विभूनामर्पणीयमिति युक्तिरनूना ।
एवमन्यमनुजेन निरुक्तं दुर्मतिस्तु स बभाण न युक्तम् ॥ ३२ ॥

तत्तदाप्येति । अन्यपुरुषेणैवं निरुक्तमुक्तं यत्तत्दाम आप्य विभूनां नृपाणां निगले कण्ठभागेऽर्पणीयं क्षेपणीयमियमनूना महती युक्तिरस्ति । अतः सः दुर्मतिर्युक्तं न बभाण, तदुक्तमसम्भवमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

तत्करोमि किल सा सहजेनारोपयेद्विभुगले तदनेनाः ।
चिन्तयेत पुरुमित्यभिराध्यं धीमतामपि धिया किमसाध्यम् ॥ ३३ ॥

तत्करोमीति । तत्तस्मात्कारणादहं किलेत्थं करोमि येन सहजेन सरलतया, अनेना निर्दोषा सा सुलोचना विभुगले तद्दाम आरोपयेन्निक्षिपेत् । पुरुः पुरं श्रेष्ठमभिराध्यमुपायं चिन्तयेत्, धीमतां विपश्चितां धिया किमसाध्यमसम्भवमस्ति ? न किमपीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इससे तो अपयश ही होगा । तब फिर दूसरा सेवक बोला कि मैं एक दूसरा निर्दोष उपाय बतलाता हूँ ॥ ३० ॥

अन्वय : यदि इदं स्यात् (तदा) अहं अस्मदुपायात् दामनाम विकरोमि। यथा तत् च नैकहृदि अयात्, येन पुनः अतिविकटा एव समस्या उत्थिता स्यात् ।

अर्थ : यदि ऐसा हो गया तो मैं उस मालाको बिखेर दूँगा, ताकि माला अनेक पुरुषोंके हृदयपर चली जाय और उससे विसंवाद खड़ा हो जाय ॥ ३१ ॥

अन्वय : तत् एवं चेत् अन्यमनुजेन निरुक्तं तत् आप्य विभूनां निगले हि अर्पणीयम् इति युक्तिः तु अनूना । पुनः सः दुर्मतिः तदपि युक्तं न बभाण ।

अर्थ : तब तीसरा बोला कि फिर तो तुम उस मालाको अपने उपायसे स्वामीके गलेमें ही डाल सकते हो, जो ठीक होगा । किन्तु इन सब बातोंको दुर्मतिने ठीक नहीं समझा और कहने लगा ॥ ३२ ॥

अन्वय : तत् अभिराध्यं पुरुं चिन्तयेत । अहं तत् करोमि येन सहजेन अनेनाः विभुगले आरोपयेत् । धीमतां धिया अपि किम् असाध्यम् इति भवति ।

युक्तिमेति पुरुषो यदि मुक्तिमञ्चितुं स्वयमतीन्द्रियसूक्तिम् ।
तत्किमङ्गमिह नानुविधत्तेऽप्यङ्गनानुकरणप्रतिपत्तेः ॥ ३४ ॥

युक्तिमेतीति । यदि पुरुषः स्वयमतीन्द्रियसूक्तिं मुक्तिमञ्चितुं जानाति तदा पुनरिह अङ्गनाया अनुकरणस्यानुकूलनस्य प्रतिपत्तेर्ज्ञप्तेरङ्गं कारणं तत्किं नानुविधत्ते नानुजानाति ? अपि तु जानात्येव ॥ ३४ ॥

सन्निनाय स निजं मतिकेन्द्रमुत्सहे च महनीयमहेन्द्रम् ।
योऽर्हतीह सुदृशोऽग्रिमसाजमेष एव खलु कञ्चुकिराजः ॥ ३५ ॥

सन्निनायेति । स दुर्मतिर्निजं मतिकेन्द्रं सन्निनाय प्रसारयामास यत् किलाहमत्र महनीयमादरणीयं महेन्द्रं नाम उत्सहे सम्भालयामि, तावदेष एव स कञ्चुकिराजो यः सुदृशः सुलोचनाया अग्रिमसाजमग्रगामितामर्हति, इह स्वयंवरे ॥ ३५ ॥

अभ्युपेत्य पुनराह तमेष भो सुभद्र भवतामधिवेशः ।
राजतामतिशयेन च राजराजिरत्र बहुला सखिराज ॥ ३६ ॥

अभ्युपेत्येति । अभ्युपेत्य समीपं गत्वा तं महेन्द्रं पुनरेष दुर्मतिराह, भो सुभद्र, भवतां

अर्थ : तो आप लोग भगवान् पुरुदेवको याद करें। मैं वह उपाय करूँगा कि सुलोचना स्वयं ही स्वामीके गलेमें वरमाला डाल दे। ठीक ही है, बुद्धिमान्के लिए कौन-सा कार्य कठिन है ? ॥ ३३ ॥

अन्वय : पुरुषः यदि स्वयम् अतीन्द्रियसूक्तिं मुक्तिम् अञ्चितुं युक्तिम् एति । अपि अङ्गनानुकरणप्रतिपत्तेः अङ्गं तत् इह किं न अनुविधत्ते ।

अर्थ : जो पुरुष इन्द्रियों द्वारा अगम्य मुक्तिको भी प्राप्त करना जानता है उसके लिए एक स्त्रीको अनुकूल करना कौन-सी बड़ी बात है ? ॥ ३४ ॥

अन्वय : सः निजं मतिकेन्द्रं सन्निनाय च अहं महनीयमहेन्द्रं उत्सहे । एषः एव कञ्चुकिराजः खलु यः इह सुदृशः अग्रिमसाजम् अर्हति ।

अर्थ : उसने सोचा कि मैं उस कंचुकी (खोजा) को जाकर समझा दूँगा जिसका नाम महेन्द्र है और जो सुलोचनाके आगे-आगे रहता है ॥ ३५ ॥

अन्वय : पुनः एषः तम् अभ्युपेत्य आह भो सुभद्र सखिराज भवताम् अधिवेशः अतिशयेन राजताम् । अत्र राजराजिः बहुला (समायाता) ।

श्रीमतामधिवेशोऽधिवेशनम् अतिशयेन राजतां शोभताम्। हे सखिराज मित्रवर, अत्र स्वयंवरे राज्ञां राजिः पङ्क्तिर्बहुला, समायातेति शेषः ॥ ३६ ॥

माधवीप्रकृतिपूर्णमिवौकः कौतुकस्य नगरं खलु लोकः ।
आव्रजत्यपि यतः स्वयमेव श्रीमतां सुमुख किन्न मुदे वः ॥ ३७ ॥

माधवीति । हे सुमुख, श्रीमतामिवं नगरं माधवी मधुसम्बन्धिनी वासन्ती या प्रकृतिः शोभा तया पूर्णमिव कौतुकस्य विनोदस्य कुसुमसमूहस्य ओकः स्थानं खलु, यतो लोकः स्वयमेव अनायासेनैव आव्रजति समागच्छति, ततो वो युष्माकं मुदे प्रसादाय न भवेत् किम् ? ॥ ३७ ॥

प्रस्तरोच्चयमयात् पृथुसानोः संविवेचनमहो वसुभानोः ।
नैव साहजिकमस्ति यदेषा कर्तुमर्हतु हृदा मृदुलेशा ॥ ३८ ॥

प्रस्तरेति । प्रस्तरोच्चयमयात् पाषाणसमूहरूपात् पृथुसानोः समुन्नतपर्वताद् वसुभानोः प्रसिद्धरत्नस्य संविवेचनं पृथक्करणं साहजिकं नैवास्ति, यत्किलैषा हृदा मृदुलेशा सुकोमल-हृदया कन्या कर्तुमर्हतु शक्ताऽस्तु, अहो इति विस्मये ॥ ३८ ॥

अर्थ : यह सोचकर वह दुर्मति महेन्द्रनामक कंचुकीके पास पहुँचा और बोला कि हे भद्र ! हे मित्रवर ! आप लोगोंका यह अधिवेशन तो बहुत ही सुन्दर है, इसमें बहुतसे राजा लोग शोभित हो रहे हैं ॥ ३६ ॥

अन्वय : हे सुमुख श्रीमतां नगरं माधवीप्रकृतिपूर्णं कौतुकस्य ओकः इव खलु । यतः लोकः अपि स्वयम् एव आव्रजति । (ततः) वः मुदे किं न ।

अर्थ : हे सुमुख ! आपका नगर वसन्तऋतुके समान विनोदरूप फूलोंसे युक्त हो रहा है । जहाँ लोग स्वयमेव आ-आकर इकट्ठे हो रहे हैं । क्या यह आप लोगोंके लिए प्रसन्नताकी बात नहीं है ? ॥ ३७ ॥

अन्वय : अहो ! प्रस्तरोच्चयमयात् पृथुसानोः वसुभानोः संविवेचनं न एव साहजिकं अस्ति यत् एषा हृदा मृदुलेशा कर्तुम् अर्हतु ।

अर्थ : किन्तु सोचना तो यह है कि सुलोचना तो कोमल हृदयवाली है । उसके लिए पाषाणसमूहरूप उन्नत पर्वतसे प्रसिद्ध नररूपी रत्नको खोज निकालना कोई आसान काम नहीं, जिसे वह कर सके ॥ ३८ ॥

इत्यतः पृथुलराजसमूहात् संलभेत च वरं सुतनूर्हा ।
चेत्तया स्खलितमत्र तदा किं कर्तुमर्हति भवान्सुविपाकिन् ॥ ३९ ॥

इत्यत इति । इति किल उपर्युक्तप्रकारेण अतः पृथुलराजसमूहात् सुकोमला तनूर्यस्याः सा बालिका वरं संलभेत चेति हा खेदवार्ता । चेदत्र तया स्खलितं, तदा हे सुविपाकिन् शुभपरिणामिन् किं कर्तुमर्हति भवान् ? ॥ ३९ ॥

त्वद्विभुर्विभुषु वीक्ष्य वरार्हं तां ददत्तदुचिताय सदार्हन् ।
किन्तु किं तदिह बुद्धमनेन नैव वेद्मि खलु वृद्धजनेन ॥ ४० ॥

त्वद्विभुरिति । अर्हन् योग्यः समर्थो वा तव विभुस्त्वद्विभुः तव स्वामी विभुषु नृपेषु वरार्हं वरणीयं नृपं वीक्ष्य तस्या उचितस्तदुचितस्तस्मै कुमारीयोग्याय वराय तां सुलोचनां ददद् वितरन्नस्तीति शेषः । किन्तु वृद्धजनेनानेन इह किं बुद्धमवगतं तदहं न वेद्मि खलु ॥४०॥

एतदुक्तमुपयुज्य तदाथ प्राह कञ्चुकिवरो मतिनाथः ।
इत्यनेन हि भवादृगभीक्षाऽस्मादृशां भवितुमर्हति भिक्षा ॥ ४१ ॥

एतदुक्तमिति । एतदुक्तमुपयुज्य श्रुत्वाऽथ तदा मतिनाथो बुद्धिवादी कञ्चुकिवरः प्राह–

अन्वय : हे सुविपाकिन् ! सुतनूः इति अतः पृथुलराजसमूहात् च वरं संलभेत हा ! चेत् यदि अत्र तया स्खलितं तदा भवान् किं कर्तुम् अर्हति ।

अर्थ : हे सुविचक्षण ! अफसोस तो यह है कि इतने बड़े भारी राजसमूहसे सुलोचना अपने वरको खोज निकाल पायेगी ? यदि कहीं इसमें वह भूल कर जाय तो आप क्या करेंगे ? ॥ ३९ ॥

अन्वय : सदा अर्हन् त्वद्विभुः विभुषु वरार्हं वीक्ष्य तदुचिताय तां ददत् (अस्ति) । किन्तु तेन वृद्धजनेन इह किं बुद्धम् ? तत् अहं न एव वेद्मि खलु ।

अर्थ : अच्छा तो यह होता कि तुम्हारा स्वामी स्वयं इन राजाओंसे किसी एकको चुनकर उसके साथ सुलोचनाका विवाह कर देता; क्योंकि वह ऐसा करनेमें पूर्ण समर्थ था । किंतु न जाने उस वृद्ध पुरुषने ऐसा करनेमें क्या रहस्य सोचा होगा ? ॥ ४० ॥

अन्वय : एतत् उक्तम् उपयुज्य अथ तदा मतिनाथः प्राह । इति अनेन भवादृगभीक्षा हि अस्मादृशां भिक्षा भवितुम् अर्हति ।

अर्थ : दुर्मतिका वचन सुनकर बुद्धिवादी वह कंचुकी इस प्रकार समुचित

इत्यनेन भवदुक्तेन, प्राप्तमिति शेषः। भवादृशामभीक्षा वाञ्छा अस्मादृशां भिक्षा भवितुमर्हति। भवतां यादृशीच्छा तथा करोमीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाग्यवल्लिफलमेतदमुष्या अस्मदीयकरकार्यमनु स्यात् ।
या किलोपवनरक्षणतातिर्मालिहस्ततल एव विभाति ॥ ४२ ॥

भाग्येति। अमुष्या बालिकाया भाग्यमेव वल्लिर्लता तस्याः फलमेतदस्मदीयकरस्य कार्यमनु सदृशं स्याद्भवेत्। अत्र दृष्टान्तः—या किलोपवनस्य रक्षणतातिः संरक्षणपरम्परा सा मालिनो मालाकारस्य हस्ततल एव विभाति। 'सादृश्ये लक्षणेऽप्यनु' इति विश्वलोचनः ॥ ४२ ॥

हेऽपयोगगहनोदधिनावश्चित्तवृत्तिरपि सम्प्रति का वः ।
कस्त्वदीशदुहितुर्भुवि योग्यः केन सन्मणिरसावुपभोग्यः ॥ ४३ ॥

हेऽपयोगेति। हे अपयोगो दुरुपयोगः स एव गहनं दुःखमेवोदधिः समुद्रस्तस्य नावो वो युष्माकं चित्तवृत्तिर्विचारधारापि सम्प्रति का, अस्यां भुवि त्वदीशदुहितुः अकम्पनसुताया योग्यः कः? केनासौ सन्मणिरुपभोग्यः? ॥ ४३ ॥

इत्यमुष्य विनियोगमुपेतः कञ्चुकी समनुकूलितचेतः ।
प्राह चक्रिसुत एव विशेषस्तत्समो भवतु को नरवेशः ॥ ४४ ॥

सुन्दर वचन बोला : 'तो फिर आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा ही हम करेंगे। कहिये, आप क्या चाहते हैं?' ॥ ४१ ॥

अन्वय : अमुष्याः एतत् भाग्यवल्लिफलम् अस्मदीयकरकार्यम् अनु स्यात्। या किल उपवनरक्षणतातिः (सा) मालिहस्ततले एव विभाति।

अर्थ : उस कन्याके भाग्यरूपी लताका फल तो मेरे ही हाथमें है, जैसे उपवनकी रक्षा मालीके ही हाथ होती है ॥ ४२ ॥

अन्वय : हे अपयोगगहनोदधिनावः ! संप्रति वः चित्तवृत्तिः अपि का ? भुवि त्वदीशदुहितुः योग्यः कः ? असौ सन्मणिः केन उपभोग्यः।

अर्थ : तब वह दुर्मति बोला : 'हे दुरुपयोगरूपी गहन समुद्रमें नावका काम करनेवाले ! सुनिये। आप अपने मनकी बात बतलाइये कि इनमें आपके स्वामीकी कन्याका वर होनेयोग्य कौन है ? यह मणि किसके उपभोगयोग्य है ?' ॥ ४३ ॥

अन्वय : इति अमुष्य विनियोगम् उपेतः कञ्चुकी समनुकूलितचेतः प्राह, चक्रिसुतः एव विशेषः। तत्समः नरवेशः कः भवतु।

इत्यमुष्येति । इत्युपयुक्तममुष्य दुर्मतेः विनियोगं प्रश्नमुपेतः कञ्चुकी समनुकूलितं भवति चेतोऽन्तःकरणं येन तत्तादृग् यथा स्यात्तथा प्राह उक्तवान्—चक्रिसुत एव विशेषोऽत्र, तत्समो नरवेशो मर्त्यशरीरः को भवतु, न कोऽपीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

इत्यवेत्य रविना निजगाद सत्तमोऽस्ति भवतामभिवादः ।
सन्तु दीर्घजनुषोऽत्र भवन्तः पूरयन्तु कुशलं भगवन्तः ॥ ४५ ॥

इत्यवेत्येति । रवेः अर्ककीर्तेर्ना पुरुष इत्यवेत्य इति ज्ञात्वा निजगाद उवाच—भवतामभिवादो वार्तालापः सत्तमः श्रेष्ठोऽस्ति । अत्र भवन्तः पूज्या दीर्घजनुषो दीर्घजीविनः सन्तु । भगवन्त ईश्वराः कुशलं पूरयन्तु ॥ ४५ ॥

एवमत्र पुनरादिसुतोऽपि तोषमेष्यति दुराग्रहलोपी ।
दापयामि भवते परितोषं सज्जनाक्षयमितः कुरु कोषम् ॥ ४६ ॥

एवमत्रेति । एवं चेदत्र पुनरादिदेवस्य सुतो भरतसम्राडपि यो दुराग्रहलोपी दुष्टताया अपहारकः स तोषमेष्यति । हे सज्जन, तथा कृते सति भवते परितोषं सन्तोषदायकं धनं दापयामि, इतस्तेन कोषमक्षयं कुरु ॥ ४६ ॥

अर्थ : इस प्रकारके प्रश्नपर वह कंचुकी दुर्मतिके मनको अनुकूल करते हुए बोला : 'मुझे तो इन सबमें चक्रवर्तिके पुत्र अर्ककीर्ति ही योग्य दीखते हैं, उनके समान यहाँ दूसरा कौन मानव है ? ॥ ४४ ॥

अन्वय : रविना इति अवेत्य निजगाद । भवताम् अभिवादः सत्तमः अस्ति । अत्र-भवन्तः दीर्घजनुषः सन्तु । भगवन्तः कुशलं पूरयन्तु ।

अर्थ : यह बात सुनकर अर्ककीर्तिका व्यक्ति दुर्मति बोला कि आपकी बात-चीत बड़ी सुन्दर है । आप चिरंजीव रहें, भगवान् आपकी कुशल करें ॥ ४५ ॥

अन्वय : हे सज्जन एवम् (अस्ति), तदा दुराग्रहलोपी आदिसुतः अपि तोषम् एष्यति । भवते परितोषं दापयामि । इतः कोषम् अक्षयं कुरु ।

अर्थ : हे सज्जन, यदि ऐसी बात है तो दुष्टताके अपहारक आदिदेवके पुत्र चक्रवर्ती भरत भी आपपर बहुत प्रसन्न होंगे । मैं आपको बहुत पुरस्कार भी दिलाऊँगा, जिससे आप अपने खजानेको अटूट कर सकें ॥ ४६ ॥

फुल्लदानन इतोऽभिजगाम यस्य दुर्मतिरितीह च नाम ।
सानुकूल इव भाग्यवितस्तिस्तद्भविष्यति यदिच्छितमस्ति ॥ ४७ ॥

फुल्लेति । दुर्मतिनाम्ना पुरुषो मम भाग्यवितस्तिः भाग्यविस्तारः सानुकूल इव प्रतीयते, यन्मम इच्छितमभिलषितं तदेव भविष्यतीति मत्वा फुल्लदाननो हर्षविकसितमुखः सन्नितोऽभिजगाम ययौ ॥ ४७ ॥

पृष्ठतः स्मरति कञ्चुकि आर्यः कीदृगस्ति मनुजोऽयमनार्यः ।
कस्य को वशकृदस्ति विचार्य सौहृदं तु सुहृदामथ कार्यम् ॥ ४८ ॥

पृष्ठत इति । कञ्चुकि आर्यः पृष्ठतः पश्चादयं मनुजः कीदृगनार्योऽधमोऽस्तीति स्मरति । कः कस्य वशकृदस्ति, इति विचार्य अथ सुहृदां मित्राणां सौहृदं तु कार्यमेव ॥ ४८ ॥

प्रत्युपेत्य स जगौ रविमेवं फुल्लदास्यकुसुमः सकृदेव ।
तद्भविष्यति यदेव मुदेव ईशिता तु जगतां पुरुदेवः ॥ ४९ ॥

प्रत्युपेत्येति । फुल्लदास्यकुसुमो विकसितमुखपुष्पः स कञ्चुकिः सकृदेव रविमर्ककीर्ति प्रत्युपेत्य एवं जगौ उवाच–यदेव वो युष्माकं मुदे हर्षाय तदेव भविष्यति, जगतामीशिता तु पुरुदेव एवास्ति ॥ ४९ ॥

अन्वय : यस्य दुर्मतिः इति इह च नाम, सः भाग्यवितस्तिः सानुकूलः इव यत् इच्छितम् अस्ति तद् भविष्यति एवं फुल्लदाननः इतः अभिजगाम ।

अर्थ : इसपर वह दुर्मति यह सोचने लगा कि भाग्य अनुकूल है, ऐसा लगता है। वही कार्य होता दीखता है, जिसे हम चाहते हैं। इस तरह प्रसन्नमुख होकर वह वहाँसे चला गया ॥ ४७ ॥

अन्वय : कञ्चुकिः आर्यः पृष्ठतः स्मरति यत् अयं मनुजः कीदृग् अनार्यः अस्ति । कः कस्य वशकृद् अस्ति इति विचार्य अथ सुहृदां सौहृदं तु कार्यम् (एव) ।

अर्थ : पीछेसे उस महेन्द्र कंचुकीने विचार किया कि यह कैसा अनार्य मनुष्य है। सोचनेकी बात है कि क्या कोई किसीके वशमें है ? किन्तु आपसमें मित्रोंके साथ सभ्यतासे व्यवहार करना ही मनुष्यका काम है ॥ ४८ ॥

अन्वय : फुल्लदास्यकुसुमः सः सकृद् एव रविं प्रत्युपेत्य एवं जगौ यत् एव वः मुदे तत् एव भविष्यति । जगतां ईशिता तु पुरुदेवः ।

अर्थ : उधर वह दुर्मति अर्ककीर्तिके पास जाकर प्रसन्नतापूर्वक बोला कि

इत्यनेन वचसा हृदि मोदमप्युपेत्य गदितं च वचोऽदः ।
कौतुकेन भरतेशसुतस्यैवं परस्परमनेकसदस्यैः ॥ ५० ॥

इत्यनेनेति । इत्यनेन दुर्मतिगदितेन वचसा हृदि निजनिजान्तरङ्गे मोदं हर्षमुपेत्य लब्ध्वा भरतेशसुतस्य अर्ककीर्तेः अनेकसदस्यैः कतिचित्सभासदैः कौतुकेनैव अदो निम्नलिखितं वचः परस्परं गदितम् । च पादपूर्तौ ॥ ५० ॥

केनचिद् गदितमस्मदधीशः स्यादहो नववधूसमयी सः ।
मोदकान्यपि तदा महदस्मद्भाग्यमस्ति कृतकश्मलभस्म ॥ ५१ ॥

केनचिदिति । तत्र केनचिद् गदितम्—अहो किलास्मदधीशः स्वामी स नववधूसमयी वरः स्यात् । अपि च मोदकानि लड्डुकानि च, तदाऽस्मद्भाग्यं कृतं कश्मलस्य पापस्य भस्म येन तन्महत् प्रशंसनीयमस्तीति ॥ ५१ ॥

इत्थमुक्तवति तत्र परस्मिन्नाह कोऽपि मदनोदयरश्मिः ।
केवलं न भविता मृदुभुक्तिः सम्भविष्यति च गीतनियुक्तिः ॥ ५२ ॥
येन कर्णपथतो हृदुदारमेत्य पूरयति सोऽमृतसारः ।
भूरिशः सरसहासविलास-संयुतोऽभवदसाविव रासः ॥ ५३ ॥

जगत्के ईश तो भगवान् ऋषभदेव ही हैं । बाकी होगा वही, जो आप लोगोंको इष्ट है ॥ ४९ ॥

अन्वय : *इति अनेन वचसा अपि हृदि मोदम् उपेत्य च भरतेशसुतस्य अनेकसदस्यैः कौतुकेन एवम् अदः वचः गदितम् ।*

अर्थ : इस प्रकारके वचनसे सब लोग अपने-अपने मनमें प्रसन्न होकर उस अर्ककीर्तिके अनेक सभासदोंने आपसमें निम्नलिखित कानाफूसी की ॥ ५० ॥

अन्वय : *केनचित् गदितम् अहो ! अस्मदधीशः सः नववधूसमयी स्यात् तदा मोदकानि अपि अस्मभ्यम् इति अस्मद्भाग्यं कृतकश्मलभस्म महत् अस्ति ।*

अर्थ : उनमें से कोई बोला : 'अहो हमारे प्रभु नववधूके स्वामी बनेंगे तो हम लोगोंको खानेके लिए लडडू मिलेंगे । यह हमारा वह प्रशंसनीय सौभाग्य है, जिसने सारे पापोंको भस्म कर डाला है' ॥ ५१ ॥

अन्वय : *इत्थं परस्मिन् उक्तवति तत्र कः अपि मदनोदयरश्मिः आह केवलं मृदुभुक्तिः न भविता, च गीतनियुक्तिः संभविष्यति । येन कर्णपथतः एत्य सः अमृतसारः उदारं हृत् पूरयति । इति भूरिशः सरसहाससंयुतः असौ रासः इव अभवत् ।*

इत्थमिति । इत्थमुक्तप्रकारेण परस्मिन् कस्मिन्नप्युक्तवति सति तत्र कोऽप्यपरो भवनोदयस्य प्रसन्नभावस्य रश्मिः संस्कारो यस्य स आह—केवलं मुदुभुक्तिर्मोदकास्वादनमेव न भविता । किन्तु सार्धं गीतानां नियुक्तिरपि सम्भविष्यति, येन कर्णयोः पथतो मार्गेण उदारं हृदयमेत्य गत्वा स प्रसिद्धोऽमृतस्य सारो निर्झरस्तत्पूरयति, एवं प्रकारो भूरिशोऽनल्पः सरसहासविलासेन संयुतो रासोऽभवत् ॥ ५२-५३ ॥

निर्मलाम्बरवती मृदुतारा स्फीतचन्द्रवदनीयमुदारा ।
द्रष्टुमाप हि शरज्जनिका वा प्रस्फुरज्जलजवत्पदभावा ॥ ५४ ॥

निर्मलेति । तं द्रष्टुं हि किल जनीव जनिका वधू वा यथा शरदृतुराप आजगाम । कीदृशी, स्वच्छमम्बरं गगनम्, पक्षे वस्त्रं यस्याः सा । मृदवो मधुरास्तारा नक्षत्राणि यस्यां सा, पक्षे मृदू तारे दृक्कनीनिके यस्याः सा । स्फीतः प्रशस्तश्चन्द्र एव वदनं मुखं यस्याः सा, पक्षे स्फीतचन्द्रवद्वदनं यस्याः सा, उदारा प्रसत्तिदायिनी, प्रस्फुरन्ति विकसन्ति यानि जलजानि कमलानि तद्वतां पदानां स्थानानां जलाशयानां भावो यस्यां सा, पक्षे विकसितकमलतुल्यचरणवती ॥ ५४ ॥

दर्शयत्यपि निजं पुलिनं तु वारिपूरवरमार्दववीर्या ।
आपगाऽपगतलज्जमिवाङ्कं सङ्क्रमान्तरवती युवतिर्या ॥ ५५ ॥

दर्शयतीति । शरद्यापगा नदी वारिपूरस्य जलप्रवाहस्य वरं मार्दवमनौद्धत्यमेव वीर्यं

एकके ऐसा कहनेपर दूसरा प्रसन्न होकर बोला : 'लड्डू ही नहीं मिलेंगे, अपितु गीत भी सुननेको मिलेंगे, जिससे कानोंके मार्गसे होकर उदार हृदयमें अमृतका सार वह भर दे।' इस प्रकार अनेक प्रकारका हास्य-विनोदभरा महोत्सव ही चल पड़ा ॥ ५२-५३ ॥

अन्वय : (तम्) द्रष्टुं हि जनिका वा प्रस्फुरज्जलजवत्पदभावा निर्मलाम्बरवती मृदुतारा स्फीतचन्द्रवदनी उदारा इयं शरद् आप ।

अर्थ : इस हर्ष-विनोदको देखनेके लिए ही मानो शरदृतुरूपी नायिका आ गयी, जिसके चरण कमलके समान मनोहर थे। निर्मल आकाश ही जिसका वस्त्र था। चमकते हुए तारे ही जिसके नेत्र थे तथा विकसित चन्द्रमा ही जिसका मुख था। वह देखनेमें बड़ी उदार थी ॥ ५४ ॥

अन्वय : (यत्र) वारिपूरवरमार्दववीर्या या आपगा निजं पुलिनम् अपि सङ्क्रमान्तरवती युवतिः अपगतलज्जम् अङ्कम् इव दर्शयति ।

जीवनशक्तिर्यस्याः सा, तथासती तु पुनर्निजं पुलिनं तटभागं दर्शयति प्रकटयति। अपि यथा, अन्यः सङ्गम इति सङ्गमान्तरं द्वितीयसङ्गमोऽस्या अस्तीति सङ्गमान्तरवती युवतिरपगतलज्जं निःसङ्कोचं निजमङ्कमुत्सङ्गमिव दर्शयतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

वारिजे कमलिनीमलिनागो भूरि चुम्बतितरां धृतरागः।
दीर्घकालकलितामिव रामामानने सपदि कामुकनामा ॥ ५६ ॥

वारिज इति। धृतरागोऽनुरागवान् अलिर्भ्रमर एव नागः श्रेष्ठभृङ्गः कमलिनीं नलिनीं वारिजे पङ्कजे भूरि वारंवारं चुम्बतितरां सपदि साम्प्रतं शरत्काले, इव यथा दीर्घकालात् चिरात् कलितामुपलब्धां रामां कामुकनामा कामीपुरुष आनने चुम्बतितरां तथा ॥ ५६ ॥

पक्वबालसहिता शरदेषा शालिकालिभिरुपाद्रियते वा।
याऽऽपदन्तवचना जरतीवाऽऽरादघावृतपयोधरसेवा ॥ ५७ ॥

पक्वबालेति। एषा शरत्, शालिकानां कृषकाणाम् आलिभिः पङ्क्तिभिर्जरतीव वृद्धेव उपाद्रियते स्वीक्रियते, यत आराच्छीघ्रमेव अघेन पतनेनाभावेन वा आवृता पयोधराणां मेघानां, पयोधरयोः स्तनयोर्वा सेवा यस्याः सा, पक्वैर्बालैः केशैः सहिता वृद्धा, पक्वैर्बालैः धान्यपर्णैर्वा सहिता शरत् ॥ ५७ ॥

अर्थ : इस शरदृतुमें नीचे बहनेवाली नदी लज्जारहित होकर अपना पुलिन उसी प्रकार प्रकट कर दिया करती है, जिस प्रकार द्वितीयादि संगमवाली नायिका अपना गुह्य अंग अपने आप प्रकट कर देती है ॥ ५५ ॥

अन्वय : सपदि धृतरागः अलिनागः कामुकनामा दीर्घकालकलितां रामाम् आनने इव कमलिनीं वारिजे भूरि चुम्बतितराम्।

अर्थ : जैसे कामुक व्यक्ति दीर्घकालसे प्राप्त अपनी स्त्रीके मुखको बार-बार चूमता है, वैसे ही शरदृतुमें भौंरा कमलमें कमलिनीका बार-बार चुम्बन करता है ॥ ५६ ॥

अन्वय : वा जरती इव एषा शरत् अपदन्तवचना आरात् अघावृतपयोधरसेवा पक्वबालसहिता शालिकालिभिः उपाद्रियते।

अर्थ : यह शरद् वृद्धा स्त्रीके समान किसानोंकी पंक्तियोंद्वारा सादर स्वीकृत की जाती है। वृद्धा स्त्रीके दाँत नहीं होते, इसी तरह शरदृतुमें भी लोगोंको आपत्तिका नाम नहीं रहता। वृद्धा स्त्रीके पयोधर (कुच) भ्रष्ट हो जाते हैं

भूरिधान्यहितवृत्तिमती तन्निर्जरत्वमधिगन्तुमपीतः ।
संविकाशयति वा जडजातमप्युदर्कमनुयात्यथवाऽस्तः ॥ ५८ ॥

भूरिधान्येति । इयं शरत् तत्प्रसिद्धं निर्जरत्वं जलरहितत्वं देवत्वं वाऽधिगन्तुं स्वीकर्तुमपि पुनरितो भूरिधान्यस्य विपुलान्नस्य हिते वृत्तिमती, पक्षे भूरिधा अनेकप्रकारेण अन्येषां हिते वृत्तिमती वा । जडजातं डलयोरभेदात् जलजातं कमलं, पक्षे जडजातं जडस्य अज्ञस्य जातं पुत्रमपि संविकाशयति प्रसन्नीकरोति । अथवा उदर्कमुद्गतं सन्तापकरं सूर्यं भाविवृत्तान्तञ्च अनुयाति ॥ ५८ ॥

नीरमुज्ज्वलजलोद्भवनिष्ठं प्रोल्लसत्तममरालविशिष्टम् ।
सोमशोभिनभसो भयुतस्य तुल्यतामनुदधाति हि तस्य ॥ ५९ ॥

नीरमिति । शरदि उज्ज्वलैर्विकाशिभिः जलोद्भवैः कमलैर्निष्ठं युक्तं तथा प्रोल्लसत्तमेन परमप्रसक्तियुक्तेन मरालेन हंसेन विशिष्टं नीरं सरोवरजलं तत् तस्य, भैर्नक्षत्रैर्युतस्य तथा सोमेन चन्द्रेण शोभा यस्य तत्तादृग् यन्नभो गगनं तस्य तुल्यतां समतामनुदधाति, हीति निश्चये । 'उज्ज्वलो वाच्यवद्दीप्ते परिव्यक्तविकाशिषु' इति विश्वलोचनः ॥ ५९ ॥

वैसे ही शरद्ऋतुमें मेघ नहीं रहते । वृद्धा स्त्रीके बाल (केश) पक जाते हैं तो शरद्ऋतुमें धान्यकी बालें भी पक जाती हैं ॥ ५७ ॥

अन्वय : (इयं) शरत् तत् निर्जरत्वम् अधिगन्तुम् अपि इतः भूरिधान्यहितवृत्तिमती । वा अतः या जडजातम् अपि संविकाशयति अपि । अथवा उदर्कम् अनुयाति ।

अर्थ : यह शरद् किसी भली स्त्रीकी तरह है जो निर्जरपन (देवतापन) प्राप्त करनेके लिए अनेक प्रकारोंसे औरोंका भला करनेमें लगी रहती है । शरद्-ऋतु भी निर्जरपन (जलरहितता) प्राप्त करती हुई अनेक प्रकारके धान्योंकी संपत्ति देनेवाली है । भली स्त्री मूर्खके पुत्रको भी समझाकर ठीक मार्गपर ले आती है तो शरद्ऋतु कमलको विकसित करती है । भली स्त्री भविष्यत्-सौभाग्यवृत्तान्तको प्राप्त करती है, तो शरद्ऋतु भी प्रचण्ड सूर्यको धारण करती है । श्लिष्ट पदोंसे ये दोनों अर्थ निकलते हैं ॥ ५८ ॥

अन्वय : शरदि उज्ज्वलजलोद्भवनिष्ठं प्रोल्लसत्तममरालविशिष्टं नीरं तस्य भयुतस्य सोमशोभिनभसः तुल्यताम् अनुदधाति हि ।

अर्थ : इस शरद्ऋतुमें सरोवरका जल विकसित कमलोंसे युक्त और प्रसन्न शुभ्र हँसपक्षीसे युक्त हो जाता है । इसलिए निश्चय ही वह नक्षत्रोंसे युक्त चमकते हुए चन्द्रमावाले आकाशकी समानता करने लगता है ॥ ५९ ॥

शीतरश्मिरिह तां रुचिमाप यां पुरा नहि कदाचिदवाप ।
इत्यतः पुलकितेव तमिस्राऽभ्याप पुष्टतरतां च भुवि स्राक् ।। ६० ।।

शीतरश्मिरिति । शीतरश्मिश्चन्द्रो रात्रौ यां रुचिं शोभामनुरक्तिं च पुरा कदाचिदपि न ह्याप तां रुचिमिह शरदि प्राप्तवानिति वर्तमानार्थे भूतकालक्रिया, अव्यक्तकारणत्वात् । इत्यतः कारणात् पुलकिता विकाशिनक्षत्रै रोमाञ्चितेव किल तमिस्रा रात्रिः पुष्टतरतां पूर्वकालापेक्षया सम्प्रति स्थूलतामभ्यवाप इव इत्युत्प्रेक्षा ।। ६० ।।

वीक्ष्य लोकमधिधान्यधनेशमाप तापमधुनात्र दिनेशः ।
तेन सोऽस्य लघिमापि परेषामुन्नतेरसहनात् स्वयमेषः ।। ६१ ।।

वीक्ष्येति । अत्रास्मिँल्लोके लोकं जनसाधारणमधिधान्यधनेशं विशेषधनधान्याधिकारिणं वीक्ष्य दिनेशः सूर्यस्तापमाप सन्तप्तोऽभूत्, तेन कारणेनास्य रवेः स एव प्रसिद्धो लघिमा स्वल्पीभावोऽपि परेषामुन्नतेरसहनात् स्वयमेव जात इति ।। ६१ ।।

कन्यकां व्रजति भोक्तुमिहैष सन्निपत्य जडजेषु दिनेशः ।
अङ्गविश्वपथदर्शक एष दुष्प्रयोगबलसंस्मृतये वः ।। ६२ ।।

कन्यकामिति । हे अङ्ग, विश्वस्य संसारस्य पथप्रदर्शको मार्गनिर्देशक एष दिनेशो

अन्वय : शीतरश्मिः यां रुचि पुरा कदाचित् नहि आप, ताम् इह आप । इति अतः पुलकिता इव तमिस्रा भुवि स्राक् पुष्टतरताम् अभ्याप ।

अर्थ : चन्द्रमा भी इस ऋतुमें वैसी कांति प्राप्त कर लेता है, जैसी आजतक उसने कभी नहीं पायी । मानो इसी खुशीसे इस शरदृऋतुमें पृथ्वीपर रात्रि भी पुलकित हो तेजीसे पुष्टतर (लम्बी) बन जाती है ।। ६० ।।

अन्वय : अत्र अधुना एषः दिनेशः लोकम् अधिधान्यधनेशं वीक्ष्य तापम् आप । तेन अस्य सा लघिमा अपि परेषाम् उन्नतेः असहनात् स्वयम् एव भवति ।

अर्थ : (सर्दीमें) सूर्य लघु क्यों हो जाता है, इसका रहस्य बतलाते हुए कहते हैं कि वह शरत्में लोगोंको धन-धान्यसे संपन्न देख जलने लगता है (पहलेसे अधिक तापयुक्त हो जाता है) । इसी ईर्ष्यालुता अर्थात् दूसरेकी उन्नति न सहनेके कारण ही वह लघु बन जाता है ।। ६१ ।।

अन्वय : हे अङ्ग विश्वपथदर्शकः एषः दिनेशः इह जडजेषु सन्निपत्य कन्यकां भोक्तुं व्रजति । एषः वः दुष्प्रयोगबलसंस्मृतये (अलम्) ।

जडजेषु कमलेषु तथा मूर्खपुत्रेषु सन्निपत्य अभियुज्य कन्यकां षष्ठराशिं पुत्रीं वा भोक्तुं व्रजति, इति वो युष्माकं कुप्रयोगस्य दुष्टसङ्गस्य तद्बलं कुप्रभावस्तस्य संस्मृतये स्मरणाय अलमस्तीति शेषः । दुःसंसर्गो महतामपि कुप्रयोगकृद् भवतीति भावः ।। ६२ ।।

भैरवश्यमपि यत्र नभस्तु भैरवस्य धरणीतलमस्तु ।
वाहनैः प्रमुदितैस्ततमेतत् कं निशासु कुमुदैः समवेतम् ।। ६३ ।।

भैरवश्यमिति । यत्र शरदि निशासु नभस्तु अवश्यमपि प्रमुदितैः निर्मलैर्भैः नक्षत्रैस्ततमस्तु भवतु, धरणीतलमिदं प्रमुदितैः कामोल्लसितैर्वाहनैः श्वादिभिस्ततमस्तु, तथैतत् कं जलं प्रमुदितैः विकसितैः कुमुदैः कैरवैः समवेतमस्तु ।। ६३ ।।

स्वर्गतोऽपि समुपेत्य धरायामन्नमत्ति यदि पूर्वजमाया ।
वक्तुमाशु शरदो महिमानमस्तु किं वचनमत्र तदा नः ।। ६४ ।।

स्वर्गतोऽपीति । शरदृतोः प्रारम्भे, आश्विनकृष्णपक्षे पूर्वजानां प्रीत्यर्थमास्तिकजनैः श्राद्धानि विधीयन्ते, तदुपलक्ष्यैवं वर्ण्यते । यदि पूर्वजानां पितॄणां माया सूक्ष्मदेहप्रपञ्चः स्वर्गतोऽपि धरायां समुपेत्य अन्नमत्ति भक्षयति, तदा अत्रास्यर्तोः महिमानमाशु पूर्णतया वक्तुमस्माकं किं वचनमस्तु, न किमपीत्यर्थः । अद्भुतः खल्वस्य महिमेति भावः ।। ६४ ।।

अर्थ : हे अङ्ग, विश्वका पथप्रदर्शक यह सूर्य भी शरदृतुके समय कमलरूपी मूर्खपुत्रों (जलज = जडज) की कुसंगति पाकर छठी राशिरूप कन्याको भोगनेके लिए तत्पर हो जाता है। सो आप लोगोंको दुष्टसंगतिका दुष्प्रभाव याद दिलानेके लिए वही पर्याप्त है ।। ६२ ।।

अन्वय : यत्र निशासु नभः तु प्रमुदितैः भैः अवश्यम् अपि ततम् अस्तु । धरणीतलं प्रमुदितैः भैरवस्य वाहनैः ततम् अस्तु । एतत् कं च प्रमुदितैः कुमुदैः समवेतम् अस्तु ।

अर्थ : शरदृतुमें रात्रिमें भलीभाँति उदित तारोंसे निश्चय ही आकाश और प्रमोदको प्राप्त होता है। भूतल कामोल्लसित भैरवके वाहनों अर्थात् कुत्तोंसे विस्तृत हो जाता है तथा यह सरोवर-जल भी रात्रिविकाशी कमलोंसे युक्त हो जाता है ।। ६३ ।।

अन्वय : यदि पूर्वजमाया स्वर्गतः अपि धरायां समुपेत्य अन्नम् अत्ति, तदा अत्र शरदः महिमानम् आशु वक्तुम् नः वचनं किम् अस्तु ।

अर्थ : लोकप्रसिद्ध श्राद्धपक्षको लक्ष्यकर कवि कहते हैं कि इस शरदृतुकी हम विशेष क्या प्रशंसा करें, जब कि स्वर्गसे पूर्वज (पितर) लोगोंकी सूक्ष्मदेहें भी यहाँ आकर अन्न ग्रहण करती हैं ।। ६४ ।।

आश्विनोपलपनेन हि निष्ठा कार्तिकाश्रितिरितोऽवशिष्टा ।
कौशरस्य समुपेत्य शुचित्वं शारदोदयरयेऽस्तु कवित्वम् ।। ६५ ।।

आश्विनेति । यत्राशु शीघ्रमेव, इनस्य परमात्मन उपलपनेन स्मरणेन निष्ठा श्रद्धा जायते । यद्वा आश्विनमासस्य उपलपनेन नाम्ना निष्ठा प्रारम्भो भवति । ततः पुनरितः परमात्मस्मरणावर्तिकाया दुःखस्याश्रितिः प्राप्तिः काऽवशिष्टाऽस्तु ? न कापीत्यर्थः । तथा कार्तिकमासस्याश्रितिः अवशिष्टाऽस्यां, कौशर (ल) स्य कुशलभावस्य शुचित्वं निर्दोषत्वं समुपेत्य शारदायाः सरस्वत्या जिनवाण्या उदयरये महिम्नि कवित्वमस्तु । यद्वा कौ पृथिव्यां शरस्य जलस्य शुचित्वं निर्मलत्वं समुपेत्य शरत्सम्बन्धिनः शारदस्य उदयस्य रये वर्णने पुनः कवित्वमस्तु ।। ६५ ।।

भरूपकरणायाथ वायसस्थितिहेतवे ।
अस्यां समानभावेन यतिवाचीव चान्वयः ।। ६६ ।।

भरूपेति । अस्यां शरदि भानां नक्षत्राणां रूपकरणाय रूपोद्योतनाय तथा वायसस्य काकस्य स्थितिहेतवे अन्नप्रदानाय समानभावेन समादरेण यतिवाचीव मुनिवचन इव, यथा मुनीनां कथने भरुणा सुवर्णेन निर्मितमुपकरणं मुकुटादि तस्मै वा । अथवा आयसस्थिति-

---

अन्वय : इतः आशु इनोपलपनेन निष्ठा (ततः पुनः इतः) अर्तिकाश्रितिः का अवशिष्टा । कौशरस्य शुचित्वं समुपेत्य शारदोदयरये कवित्वम् अस्तु ।

अर्थ : जिस शरद्कालका प्रारम्भ आश्विनमाससे होता है और समाप्ति कार्तिकमासका आश्रय लेकर होती है, उस शरद्कालके उदयके विषयमें पृथ्वी-पर होनेवाले जलके निर्मलपनको लेकर कविकी कविता चल पड़ती है ।

दूसरा अर्थ : शीघ्र ही भगवान्‌का नाम याद करनेसे जहाँ श्रद्धा अभिव्यक्त होती है, वहाँ किसी भी प्रकारकी पीड़ा होनेका कौन-सा अवसर शेष रह जाता है ? जहाँ पांडित्यका पवित्रपन प्राप्तकर शारदा (जिनवाणी) के प्रभावका वर्णन करनेमें कविकी कविता चलती है, ऐसी यह शरद्ऋतु है ।। ६५ ।।

अन्वय : अथ अस्यां भरूपकरणाय वायसस्थितिहेतवे समानभावेन यतिवाचि इव अन्वयः (भवति) ।

अर्थ : इस शरद्ऋतुमें नक्षत्रोंके रूपद्योतनार्थं तथा कौओंके लिए समान भावसे यति-वचनोंके समान व्यवस्था होती है । जैसे यतियोंके वचनमें सुवर्णके

हेतवे लोहसत्ताहेतुर्यस्य सः कटाहादिः, तस्मै समानभावेन तुल्यत्वेन अन्वयो विचारो भवति ॥ ६६ ॥

हलिजनो बहुधान्यगुणार्जने मतिमुपैति च विप्लवलोऽवनेः ।
व्रजति वेदमतीत्य पुनर्वचः शिखिजनोऽन्यत एव तया स च ॥ ६७ ॥

हलिजन इति । अवनेः पृथिव्याः विप्लवलः क्षोभकरो हलिजनः कृषीवलो बहुधान्यस्य मुद्गादेर्यो गुणः समूहस्तस्य अर्जने संग्रहणे मतिमुपैति । शिखिजनो मयूरवर्गः पुनर्वचोऽतीत्य त्यक्त्वाऽन्यत एव क्वचिन्मौनतो व्रजति । द्वितीयोऽर्थः—हलि (रि) जनो मार्गादिमार्जनकरो जनो बहुधाऽनेकप्रकारेण अन्येषां विप्रादीनां ये गुणा अध्यापनादयस्तेषामर्जने मतिमुपैति । अवनेः भूमेरर्थात् प्रजाया विप्लवलो विप्लवकरो भवन्, तथा शिखिजनो हिन्दुलोको यः कश्चित् स च वेदमेतन्नाम शास्त्रमतीत्य समुपेक्ष्यान्यत एव व्रजति ॥ ६७ ॥

स्वर्गोदारमये क्षणं सुमनसामीशप्रसिद्धादरं
यत्रोद्दामसुधाकरोद्गमविधिः सत्त्वप्रतिष्ठाक्षमः ।
वर्तेतापि पुनीतसारमधुरा पद्मालयानां ततिस्तिष्ठन्ती स्वयमायता नवनवारम्भाप्यमन्दस्थितिः ॥ ६८ ॥

गहनेके साथ और लोहेकी चीजका समान आदर होता है। ठीक इसी तरह इस शरदृतुमें नक्षत्रोंको कांतिमान् बनानेके साथ, कौओंके लिए भी मिष्टान्न भोजन दिया जाता है ॥ ६६ ॥

अन्वय : इह अवनेः विप्लवलः हलिजनः बहुधान्यगुणार्जने मतिम् उपैति । च पुनः शिखिजनः पुनः वेदं वचः अतीत्य तथा स च अन्यतः एव व्रजति ।

अर्थ : इस शरदृतुमें हलिजन (किसान और चांडाल) तो बहुधान्यगुणका अर्जन करते हैं, अर्थात् किसान अनाज इकट्ठा करते हैं और ये चांडाल ब्राह्मण आदिके गुणोंको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। वर्तमानमें ब्राह्मण लोग वेदवचनको छोड़कर यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करते हैं और शरदृतुमें मयूरगण बोलना बंद कर देते हैं ॥ ६७ ॥

अन्वय : इमं क्षणं स्वर्गोदारम् अये, (यतः) सुमनसाम् ईशोप्रसिद्धादरम् । च यत्र उद्दामसुधाकरोद्गमविधिः सत्त्वप्रतिष्ठाक्षमः वर्तेत । अपि (च) पुनीतसारमधुरा पद्मालयानां ततिः तिष्ठन्ती स्वयं आयता नवनवारम्भा अपि अमन्दस्थितिः (अस्ति)।

स्वर्गोदारेति । अहमिमं शरदः क्षणं स्वर्गोदारं स्वर्गसदृशमये जानामि, यतः सुमनसां सज्जनानां देवानां वा, ईशे भगवति स्वामिनि वा प्रसिद्ध आदरो यत्र तं तादृशं, तथा यत्र उद्दामस्य प्रशंसनीयस्य सुधाकरस्य चन्द्रस्य अमृतस्यनेकस्यूपमविधिः, सत्त्वानां प्रतिष्ठायां क्षमो वर्तेत, अपि पुनः, पुनीतसारमधुरः पुनीतेन पवित्रेण सारेण मधुरा मधुवात्री मनोहरा वा पद्मालयानां सरोवराणां लक्ष्मीणाञ्च ततिः पङ्क्तिस्तिष्ठन्ती स्थितिमती स्वयमेवायता सविस्तारा नवनवारम्भा नवीनतरारम्भवती, अमन्दस्थितिः प्रचुरक्ष्यापि चारम्भावेव वश्या च ॥ ६८ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ॥
कान्ताप्तिप्रतिपत्तिसाधनतया सर्गश्चतुर्थोऽसको,
तत्प्रोक्तस्य समाप्तिमेति सरसः काव्यप्रबन्धस्य को ॥ ४ ॥

॥ इति जयोदय-महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥

अर्थ : यह शरद् ऋतुका समय स्वर्गके समान उदार है, जिसमें भले पुरुषोंका भगवान्‌के प्रति आदरभाव होता है। स्वर्गमें भी देवताओंका इन्द्रके प्रति आदरभाव होता है। शरद्‌ऋतुमें सुधाकर (चन्द्रमा) का विशेष समादर होता है, जिससे लोग प्रसन्न हो जाते हैं, तो स्वर्गमें भी सुधा (अमृत) का समागम होता है जिसके प्रति प्राणीमात्रका आदरभाव होता है। शरद्‌ऋतुमें कमलोंसे संपन्न सरोवरोंकी पंक्ति खिल जाती है जो कि सुहावनी होती है, तो स्वर्गमें लक्ष्मीके मकानोंकी पंक्ति सुहावनी होती है। शरद्‌ऋतुमें नवीन केलेके स्तम्भ अधिकतासे हो जाते हैं, तो स्वर्गमें भी रम्भा नामकी सुन्दर अप्सरा होती है। यहाँ स्वयंवरमति नामका चक्रबन्ध है ॥ ६८ ॥

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पञ्चमः सर्गः

श्रीस्वयंवरमवेत्य तदाराद् देहदीप्तिकृतकामनिकाराः ।
शस्त्रशास्त्रविदि लम्भितपाराः प्रापुरत्र कुलजाः सुकुमाराः ॥ १ ॥

श्रीस्वयंवरेति । श्रीस्वयंवरं सुलोचनाया अवेत्य ज्ञात्वा ये देहस्य दीप्त्या कान्त्या कृत्वा कृतः कामस्य रतिपतेर्निकारः पराभवो यैस्ते स्वकीयसौन्दर्येण अनङ्गमपि क्षिपन्तः । तथा शस्त्रस्य शास्त्रस्य च विदि विद्यायां लम्भितः समासादितः पारः परभागो यैस्ते शूराश्च शास्त्रज्ञाश्च ते, कुले राजवंशे जाताः कुलजाः शोभनाः कुमारा नवयुवका अत्र काश्यामापुः ॥ १ ॥

दिक्षु शून्यतमतां वितरीतुं सत्तमैर्नृपसुतां तु वरीतुम् ।
दर्शकैरपि परैरपहर्तुं तानितं तदितरैः परिकर्तुम् ॥ २ ॥

दिक्ष्विति । दिक्षु दिशासु दशस्वपि शून्यतमतामतिशयनिर्जनतां वितरीतुमिव सत्तमैः सज्जनोत्तमैस्तां वरीतुमुरीकर्तुं तेभ्य इतरैरसद्भिः वरणायोग्यैरपि जनैः कतिपयैः दर्शकैर्द्रष्टुमिच्छद्भिः कतिपयैस्तां सुलोचनां बलादपहर्तुमभिलषद्भिः कतिपयैश्च तान् परिकर्तुं परिचरितुमेव तत्र इतं काश्यामागत्य स्थितमित्यर्थः । अत्र दीपकालङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वय : श्रीस्वयंवरम् अवेत्य तदा अत्र देहदीप्तिकृतकामनिकाराः शस्त्रशास्त्रविदिलम्भितपाराः कुलजाः सुकुमाराः आरात् प्रापुः ।

अर्थ : स्वयंवर हो रहा है, यह ज्ञानकर उस समय वहाँ अपनी देहकान्तिसे कामको भी लज्जित करनेवाले कुलीन राजकुमारोंका समूह शीघ्र आ पहुँचा, जो सभी शस्त्र और शास्त्रविद्याओंमें निपुण थे ॥ १ ॥

अन्वय : दिक्षु शून्यतमतां वितरीतुम् इव सत्तमैः तु नृपसुतां वरीतुं परैः दर्शकैः अपि परैः ताम् अपहर्तुं तदितरैः तानि परिकर्तुम् इतम् ।

अर्थ : मानो दिशाओंको शून्य करनेके लिए ही सज्जन पुरुषोंने तो सुलोचनाको वरनेकी इच्छासे, कुछने उस उत्सवको देखनेकी इच्छासे, कुछने कन्याके अपहरणकी इच्छासे तो कुछने उन लोगोंकी परिचर्याकी इच्छासे वहाँ काशीमें आगमन किया । प्रायः सभी वहाँ आ पहुँचे, यह भाव है ॥ २ ॥

वात्ययाऽत्ययिनि तूलकलापे तादृशी स्मरशरापितशापे ।
वेगिता तु समभूत् कृतचारे सा भुवामधिभुवां परिवारे ॥ ३ ॥

वात्ययेति । भुवामधिभुवां पृथिव्याः पतीनां परिवारे सजातिसमूहे कृतः प्रारब्ध-श्चारोपगमनं येन तस्मिन् पुनस्तादृशी वेगिता वेगयुक्तता समभूद् यादृशी वातानां सन्तति-र्वात्या तयाऽत्ययिनि अत्ययभृति वातप्रेरिते तूलस्य कार्पासत्वचः कलापे समूहे भवति । ते राजकुमारा अतिशीघ्रतया तत्राऽऽजग्मुरिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३ ॥

प्रेरितः सपदि चित्तभुवा यदञ्चति स्म नहि कोऽत्र युवा यः ।
कौतुकेन सह सम्पदलोपी न स्थितः सधरणेश्च कणोऽपि ॥ ४ ॥

प्रेरित इति । यो युवा यौवनप्राप्तो जनः सोऽत्र काश्यां को वा नाञ्चति स्म, यद्य-स्मात् कारणात् सपदि अधुना चित्तभुवा कामदेवेन न प्रेरितोऽभूत् । हि निश्चयेन । यश्च कौतुकेन सह विनोदेन सार्धं सम्पदं न लोपयतीति सम्पदलोपी, प्रत्युत सह सम्पदलोपी तेषां सार्धं गमने ये सम्पदश्चरणसम्पातास्तान्न लोपयतीति सहसम्पदलोपी भूयश्चरणसम्पा-तेन कृत्वोत्थितः सधरणेः पृथिव्याः कणोऽपि न स्थितः, किन्तु सार्धमेव प्रस्थितवानिति वक्रोक्तिः, श्लेषालङ्कारश्च ॥ ४ ॥

कन्यका यदपकर्षणविद्या ईश्वरा अपि विमुक्तनिषद्याः ।
काशिमाशु सकलाः समवापुः राजतेऽतिविमला खलु या पूः ॥ ५ ॥

अन्वय : स्मरशरापितशापे भुवाम् अधिभुवां परिवारे कृतचारे तु सा तादृशी वेगिता समभूत् यादृशी वात्यया अत्ययिनि तूलकलापे स्यात् ।

अर्थ : कामदेवके बाणोंसे आविद्ध पृथ्वीके राजाओंके उस यात्री-परिवारमें ऐसी शीघ्रता हुई, जैसी वायुद्वारा उड़ायी रूईके फोहेमें हुआ करती है ॥ ३ ॥

अन्वय : सपदि चित्तभुवा प्रेरितः कः अत्र युवा यः कौतुकेन न अञ्चति स्म । च सधरणेः कणः अपि तेन सह सम्पदलोपी न स्थितः ।

अर्थ : उस समय कामदेव द्वारा प्रेरित ऐसा कौन युवक था, जो कौतुकके साथ वहाँ न पहुँचा हो। यही नहीं, पृथ्वीका कण-कणतक उन लोगोंके पैरोंके सहारे काशी पहुँच गया, अपनी जगह नहीं रह पाया ॥ ४ ॥

अन्वय : कन्यका अपकर्षणविद्या, यत् ईश्वरा अपि विमुक्तनिषद्याः सकलाः काशिम् आशु समवापुः याः पूः खलु अतिविमला राजते ।

कन्यकेति । कन्यका नाम सुलोचना यस्मात् कारणात् अपकर्षणविद्या अपकर्षण-कर्त्री मायाऽभूत्, यया पुनरीश्वराः समर्था अपि जना विमुक्ता परित्यक्ता निजधाऽऽसनभूर्वैस्ते तावृशा भवन्तः सकला अप्याशु काशीनगरीं समवापुः प्राप्तवन्तः । या खलु पूः पुरी अतिशयेन विमला निर्दोषाऽऽसीत् ॥ ५ ॥

सामदामविनयादरवादैर्धामनाम च वितीर्य तदादैः ।
आगतानुपचचार विशेषमेष सम्प्रति स काशिनरेशः ॥ ६ ॥

सामदामेति । स एष काशिनरेशोऽकम्पनः सम्प्रति साम समयोचितं सम्भाषादि-क्षेमपृच्छादिरूपं, दाम माल्यक्षेपणं, विनयो नमस्कारादिः आदरवादो नम्रवचनं तैरेतैः कृत्वा धामनाम वितीर्य स्थानं दत्त्वा तदादैर्दानसम्मानैः आगतान् जनानुपचचार विशेषं यथा स्यात्तथा । अनुप्रासः ॥ ६ ॥

तामपेक्ष्य वसुधावसुरूपां प्रस्थितास्तु सकला दिगनूपाः ।
तत्तदङ्गिसमुपाङ्गिनबाधा निर्वृतिं तु हरितामिति वाऽधात् ॥ ७ ॥

तामपेक्ष्येति । तां वसुधायाः पृथिव्यां वसुरूपां रत्नतुल्यां सुलोचनामपेक्ष्य सकला दिशामनूपाः स्वामिनो वासिनो वा उपसमीपमनुवर्तन्त इत्यनूपाः, ते पुनः प्रस्थिता गन्तुमुद्यता

अर्थ : सुन्दरी वधू सुलोचना निश्चय ही किसी आकर्षण करनेवाली विद्या, मायाके समान थी । कारण, बड़े-बड़े समर्थ पुरुष भी अपने-अपने स्थान छोड़कर स्वयं ही उस काशीपुरीमें आ पहुँचे, जो निर्मलतामें सभीसे बढ़ी-चढ़ी हुई थी ॥ ५ ॥

अन्वय : सम्प्रति एषः सः काशिनरेशः सामदामविनयादरवादैः धामनाम च वितीर्य तदादैः आगतान् विशेषम् उपचचार ।

अर्थ : उस समय उस काशीनरेशने साम (समयोचित भाषण), दाम (माल्यदान), विनय (नमस्कार) और आदरयुक्त नम्र-वचनों द्वारा, सुन्दर निवासस्थान देकर आगन्तुक लोगोंका अत्यन्त भव्य स्वागत किया ॥ ६ ॥

अन्वय : वसुधावसुरूपां ताम् अपेक्ष्य सकलाः दिगनूपाः प्रस्थिताः इति वा हरितां तत्तदङ्गिसमुपाङ्गिनबाधा तु निर्वृतिम् अधात् ।

बभूवुः हरितां दिशां पुनस्ते चोपाक्रिनश्च तत्तदुपाक्रिमस्तैः कृत्वा या बाधा सा निर्वृतिमयात् ॥ ७ ॥

संव्रजद्व्रजसमुत्थरजस्तामीश्वरोज्झनदिशश्च दिशस्ताः ।
पीतिमानमिममाननदेशेऽवापुराप्य जगतीह सुवेशे ॥ ८ ॥

संव्रजदिति । ईश्वराणामुज्झनं परित्यजनं दिशन्तीति किलेश्वरोज्झनदिशः प्राणेश्वरविरहंवदा दिशो वशापि संव्रजंश्चासौ व्रजो जनसमूहश्च तेन कृत्वा यत्समुत्थं रजो धूलिलेशो यासु ताः संव्रजद्व्रजसमुत्थरजस्तासां भावमुपेत्य प्राप्य इह शोभनो वेशो यस्य तस्मिन् जगति, अथवा सुवेशे प्रसादशीले निजाननदेशे मुखमण्डले, इमं पीतिमानमेवाऽवापुः पाण्डुरत्वमेवाङ्गीचक्रुः ॥ ८ ॥

मानवैरतिलपातिनि राजवर्त्मनि प्रथमतां तु बभाज ।
संप्रविश्य सुदृगाप्तिमनेनेवोद्यमेन स जनोऽप्यनुमेने ॥ ९ ॥

मानवैरिति । न तिलाः पतन्ति यस्मिन्नित्यतिलपाति तस्मिन् राजवर्त्मनि प्रधानमार्गे यो मनुष्यः संप्रविश्य प्रथमतामग्रगामितां बभाज, स जनोऽपि तु पुनरनेन उद्यमेन

अर्थ : जितने भी दिग्पाल थे, सभी पृथ्वीके लिए रत्नस्वरूप सुलोचनाको लक्ष्यकर काशी आ पहुँचे, ताकि उन-उन लोगों द्वारा दिशाओंमें जो संकोच हो रहा था, वह दूर हो गया ॥ ७ ॥

अन्वय : ताः ईश्वरोज्झनदिशः दिशः संव्रजद्व्रजसमुत्थरजस्ताम् आप्य इह जगति सुवेशे आननदेशे इमं पीतिमानम् (एव) अवापुः ।

अर्थ : अपने स्वामियोंके विरहसे पीड़ित उन दिशाओंने राह चलते जनसमूहके पैरोंसे उठी धूलिको धारणकर इस जगत्में प्रसादशील अपने मुखमण्डलोंपर पाण्डुरता (पीलिमा) प्राप्त कर ली । उनके मुँह पीले पड़ गये, यह भाव है ॥ ८ ॥

अन्वय : अतिलपातिनि राजवर्त्मनि संप्रविश्य (यः) प्रथमता बभाज, सः जनः अपि तु अनेन उद्यमेन सुदृगाप्तिम् इव अनुमेने ।

अर्थ : तिल भी रखनेकी जगहसे रहित उस राजमार्गपर जो भी व्यक्ति

सर्वप्रथमागमाहितलक्षणेन कृत्वा युवकः सुलोचनाया आप्तिं प्राप्तिमिवाऽमुमेने। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९ ॥

तैरकम्पनभुवा तुलितानि वीक्ष्य चित्रखचितानि मतानि।
भूमिपैर्दिनमनायि निशाऽपि तत्स्फुरच्छयनभावदृशाऽपि ॥ १० ॥

तैरिति। तैर्भूमिपैः स्वयंवराभिलाषिभिः अकम्पनभुवा सुलोचनया तुलितानि सदृशानि चित्रेषु खचितानि लिखितानि मतानि वीक्ष्य किल दिनमनायि, यावद्दिनं तत्र नगर्यामुत्कीर्णानि चित्राणि विलोकयद्भिरपि पुनर्निशाऽपि तस्याः सुलोचनायाः शयनभावः स्वप्नः शयनावस्थायां सुलोचनावलोकनमिति यावत्, तस्य दृशा दृष्ट्या निशाप्यनायि ॥ १० ॥

दूतहूतिमुपगम्य समस्तैः सोऽपरेद्युरिह सत्सुषमैस्तैः।
सारिताभरणभूषणसारैर्मण्डपोऽप्यलमकारि कुमारैः ॥ ११ ॥

दूतहूतिमिति। अपरेद्युरिह पुनर्दूतस्य हूतिमाह्वानमुपगम्य आभरणानि च भूषणानि चाऽऽभरणभूषणानि तेषां साराः, सारिता आभरणभूषणसारा यैस्तैः स्वीकृतालङ्कारशोभैः सत्सुषमैः सुश्रीभिः कुमारैर्युवकैः समस्तैरपि स मण्डपः स्वयंवरार्थमारचितः सर्वतोभद्रनामाऽलमकारि। सर्वे सुसज्जाः सन्तः स्वयंवरस्थानमलञ्चक्रुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

पदार्पण कर अग्रगामिता प्राप्त करता था, वह अपने इस सर्वप्रथम पहुँचनेके उद्यमको मानो सुलोचनाकी प्राप्ति ही मानता हो ॥ ९ ॥

अन्वय : तैः भूमिपैः अकम्पनभुवा तुलितानि चित्रखचितानि, मतानि वीक्ष्य दिनम् अनायि। तत्स्फुरच्छयनभावदृशा (तैः) निशा अपि अनायि।

अर्थ : वहाँ इकट्ठे होनेवाले राजाओंने दिन तो सुलोचनासे समता रखनेवाले चित्रोंको देख-देखकर व्यतीत किया और रात्रि भी स्वप्नमें सुलोचनाको देखकर बितायी ॥ १० ॥

अन्वय : अपरेद्युः इह दूतहूतिम् उपगम्य तैः सारिताभरणभूषणसारैः सत्सुषमैः समस्तैः कुमारैः अपि सः मण्डपः अलम् अकारि।

अर्थ : दूसरे दिन वहाँ दूतका आह्वान सुनकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणोंसे सजे उन सभी राजकुमारोंने उत्तम शोभायुक्त सर्वतोभद्र नामक स्वयंवर मंडपको सुशोभित किया ॥ ११ ॥

आत्मसादुपनयन्निह भूपान् दर्पकोऽपि कुशलान् समरूपान् ।
स्वस्य नाम बहुरूपमिदानीमाह सार्थकमनुत्तरमानी ।। १२ ।।

आत्मसादिति । इह स्वयंवरमण्डपे दर्पकः कामः यः खलु नास्त्युत्तरो मानः स्मयो यस्मात् सोऽनुत्तरमानी कुशलान् प्रसन्नचित्तान्, किञ्च समानं रूपं येषां ते समरूपास्तान् आत्मसादुपनयन् स्वीकुर्वन् स्वस्य बहुरूपं नामेदानीं सार्थकमर्थानुरूपमाह ।। १२ ।।

रूपयौवनगुणादिकमन्यैः स्वंजनोऽथ तुलयन्निह धन्यैः ।
रक्तिमेतरमुखं सरटोक्तं नैकरूपमयते स्म तथोक्तम् ।। १३ ।।

रूपेति । इह स्वयंवरमण्डपे सम्प्राप्तो जनः स्वं निजं रूपञ्च यौवनञ्च गुणश्च शीलञ्चादिर्येषां तद्रूपयौवनगुणादिकमन्यैर्धन्यैः पुण्यात्मभिः सह तुल्यम् स्वस्य परस्य च सौन्दर्यादिकं किमहं रूपवान् अथवाऽयमित्येवं रूपेणानुभवन् रक्तिमाऽनुरागः प्रसन्नता च, इतरदप्रसन्नता च मुखं प्रमुखं यत्र तन्नैकरूपं बहुप्रकारं सरटे गिरगटे यदुक्तं तथोक्तमयते स्म प्राप ।। १३ ।।

सम्ममौ सपदि काशिसुभूमावेव देव जगतां नृपभूमा ।
ऋद्धिरस्तु वरदा नरधातुः सापि तान् समयते स्म शुभा तु ।। १४ ।।

अन्वय : इह अनुत्तरमानी दर्पकः अपि कुशलान् समरूपान् भूपान् आत्मसात् उपनयन् इदानीं स्वस्य बहुरूपं नाम सार्थकम् आह ।

अर्थ : अद्वितीय मानका धारक कामदेव भी अत्यन्त कुशल और अपने समान रूपवाले उन राजकुमारोंको अपने प्रभावमें कर उस समय अपना 'बहुरूप' नाम सार्थक कर रहा था ।। १२ ।।

अन्वय : अथ इह जनः अन्यैः धन्यैः सह स्वं रूपयौवनगुणादिकं तुलयन् रक्तिमेतर-मुखं तथोक्तं नैकरूपं सरटोक्तम् अयते स्म ।

अर्थ : यहाँ प्रत्येक राजकुमार अपने रूप, यौवन और गुणादिकी, वहाँ स्थित दूसरे राजकुमारोंके रूपादिसे तुलना करता हुआ गिरगिटकी तरह कभी प्रसन्न तो कभी अप्रसन्न होता हुआ अनेक रूप धारणकर रहा था ।। १३ ।।

अन्वय : हे देव ! सपदि जगतां नृपभूमा काशिसुभूमौ एव सम्ममौ । अत्र नरधातुः शुभा वरदा सा ऋद्धिः अस्तु, (सा) तु तान् समयते स्म ।

सम्भ्रमाविति । सपदि साम्प्रतं हे देव जिनराज, जगतां सर्वेषां लोकानां नृपभूमा नृपतिबाहुल्यं काश्याः पुभूमौ शोभनावनावेव सम्भ्रमौ समागतमभूत् । तत्र नराणां धातुः परिपालकस्य, अकम्पनमहाराजस्य शुभा वरदा पुत्री, वरं वल्लभं ददातीति वरदा सेव वरदा-नामऋद्धिरस्तु, वरं यथेष्टं ददातीति यावत् । यतः सापि तान् भूपालान् समयते स्म, यतस्तयैव कृत्वा तेऽत्र समागताः ॥ १४ ॥

सातिसङ्कटतया नरराजां लङ्घनाशयविलम्बनभाजाम् ।
सन्ददौ विचलदञ्चलपाकाऽऽह्वाननं तु नृपसौधपताका ॥ १५ ॥

सातीति । विचलन् चलायमानोऽञ्चलस्य पाकः स्थितिर्यस्याः सा नृपसौधस्य पताका राजप्रासादध्वजा अतिसङ्कटतया जनबाहुल्येन गन्तुमशक्यतया लङ्घनाशये मार्गातिक्रमे विलम्बनं भजतां नरराजां राजकुमाराणामाह्वाननं सन्ददौ दत्तवती, खल्विति समुच्चये । 'पाको जरा परीपाके स्थाल्यादौ बलदनिश्चयोरि'ति ॥ १५ ॥

भोग उत्तमतमो भुवि दारास्तेषु रत्नमियमेव ससारा ।
तत्र भोगिपदयोगिकलापः युक्तमेव पुनराशु समाप ॥ १६ ॥

भोग इति । भुवि पृथिव्यां संसारे वा उत्तमतमो भोग आनन्द दाराः स्त्रिय एव भवन्ति । तेषु दारेषु पुनरियमेव सुलोचना सारेण सहिता ससारा सारवती वर्तते, नान्या

अर्थ : इसपर कवि कहते हैं कि हे देव ! जगत्‌भरके सारे राजा उस समय काशीनगरीके मण्डपमें इकट्ठे हो गये । इसमें काशिराजको वरदान देनेवाली उसकी राजपुत्री सुलोचना ऋद्धिस्वरूपा हुई जो उन्हें अपने यहाँ लिवा लायी ॥ १४ ॥

अन्वय : सा विचलदञ्चलपाका नृपसौधपताका अतिसङ्कटतया लङ्घनाशयविलम्बन-भाजां नरराजाम् आह्वाननं तु सन्ददौ ।

अर्थ : उस समय मार्ग खचाखच भर गया था । अतः चलनेकी इच्छा रख-कर भी आगे चल न पानेवाले राजाओंको राजमहलपर लगी पताका अपने अंचलसे बुला रही थी कि शीघ्र आओ ॥ १५ ॥

अन्वय : भुवि दाराः उत्तमतमः भोगः । तेषु च इयम् एव सुसारा रत्नम् । अतः तत्र पुनः भोगिपदयोगिकलापः युक्तम् एव आशु समाप ।

अर्थ : इस संसारमें भोगोंमें स्त्रियाँ ही सर्वोत्तम भोग हैं । उन सब स्त्रियोंमें

अस्याः सवृत्तीति कृत्वैव तत्र भोगिपदस्य योगो येषां भवति ते भोगिपदयोगिनो वैभवशालिनो नागकुमारास्तेषां कलापः समूहः पुनस्तत्राशु समापेति युक्तमेव ॥ १६ ॥

सत्तरङ्गतरलैर्निजकेन्द्रादागता हयवरैस्तु नरेन्द्राः ।
तावतैव हि हयाननवर्गः प्राप्तवानभिनिबोधनिसर्गः ॥ १७ ॥

सत्तरङ्गेति । सन्तश्च ते तरङ्गास्त इव तरलाश्चञ्चलास्तैः हयवरैरश्वश्रेष्ठैः नरेन्द्रा राजानो निजकेन्द्रात् स्थानादिह तु पुनरागताः, तावतैव हि हयानामाननानीव आननानि येषां ते तेषां वर्गस्तथा व्यन्तरदेवसमूहश्च हयानननामवाच्यत्वात् तेषां प्राप्तवानुपस्थितो जातः । इत्येवमभिनिबोधस्य अनुमानस्य निसर्गः प्रसूतिः ॥ १७ ॥

मानिनोऽपि मनुजास्तनुजायामागता रसवशेन सभायाम् ।
जायते सपदि तत्र किमूहः स्वागतः खलु विमानिसमूहः ॥ १८ ॥

मानिन इति । मानिनो ये मनुजा अभिमानवन्तस्तेऽपि पुनस्तनुजायां तस्यां सुलोचनायां काशिराजपुत्र्यां रसवशेन उपलम्भनरूपप्रेमभावेन कृत्वा तत्र सभायां यदि समगतास्तदा विमानिनां मानहीनानां स्वाभिमानरहितानाम् । यद्वा विमानेन गमनशीलानां विमानिनां स्वर्गिणामपि समूहः स्वागत इत्यत्र ऊहो वितर्कः किम् ? नात्र कोऽपि वितर्क इति भावः । वक्रोक्तिरलङ्कारः ॥ १८ ॥

भी सुलोचना सर्वोत्तम रत्नस्वरूपा थी । अतः वहाँ भोगियों यानी वैभवशाली नागकुमारोंके समूहका शीघ्र आना उचित ही है ॥ १६ ॥

अन्वय : नरेन्द्राः तु निजकेन्द्रात् सत्तरङ्गतरलैः हयवरैः आगताः । तावता एव हि हयाननवर्गः प्राप्तवान् इति अभिनिबोधनिसर्गः ।

अर्थ : वहाँ जितने भी पृथ्वीतलके राजा लोग थे, सब अपने-अपने स्थानसे तरंगके समान चंचल घोड़ोंपर चढ़कर आये थे । अतः वहाँ हयानन (घोड़ोंके मुँह और व्यंतरदेव) आ गये, यह सहज ही अनुमान होता है ॥ १७ ॥

अन्वय : सभायां तनुजायां रसवशेन मानिनः अपि मनुजाः सपदि समागताः । तत्र खलु विमानिसमूहः स्वागतः (इति) किम् ऊहः जायते ।

अर्थ : इसी प्रकार उस स्वयंवर-मंडपमें सुलोचनाकी प्राप्तिकी उत्कंठासे, जब कि स्वाभिमानी लोग भी आ पहुँचे थे तो वहाँ विमानी लोगोंका (वैमानिक देवोंका तथा मानहीन लोगोंका) पहुँचना कोई बड़ी बात नहीं थी ॥ १८ ॥

चित्रभित्तिषु समर्पितदृष्टौ तत्र शश्वदपि मानवसृष्टौ ।
निर्निमेषनयनेऽपि च देवव्यूह एव न विवेचनमेव ॥ १९ ॥

चित्रेति । तत्र सभायां चित्रभित्तिषु समर्पिता निक्षिप्ता दृष्टिर्यया सा तस्यां मानवानां सृष्टौ शश्वदपि सत्यां निर्निमेषाणि नयनानि यस्य तस्मिन् देवानां व्यूहे समूहेऽपि च विवेचनं पृथक्करणमेव न बभूव, यतो देहश्रिया तु देवसदृशाः प्रथममेव ते जनाः, अधुना तु मनोहारिचित्राङ्कितभित्तिकासु सततं दत्तदृष्टितया निर्निमेषभावेन कृत्वा पुनरविवेचनं युक्तमेव बभूव । अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ १९ ॥

सेवकेऽपि समभूद्गुणवर्गः पाटवाभरणविभ्रमसर्गः ।
तं स्मयेन जनता मनुतेऽरं नायकं कमपि सुन्दरवेरम् ॥ २० ॥

सेवक इति । तत्र सेवके परिचारकेऽपि जने पाटवं चातुर्यमाभरणानि विभ्रमोऽङ्गचेष्टितं तेषां सर्गो यत्र स गुणानां वर्गः समुदायः समभूत् सुन्दरतमो येन कृत्वा जनता सर्वसाधारणा प्रजा सुन्दरं वेरं शरीरं यस्य तं कमपि नायकं स्वयंवरमहोत्सवे समागतं प्रधानपुरुषमेव अरं शीघ्रं स्पष्टरूपतया मनुते स्म ॥ २० ॥

यत्कुलीनचरणेषु च तेषु छायया परिगतेषु मतेषु ।
उद्गतः सुमनसां समुदायः काल एष सुरभिः समियाय ॥ २१ ॥

अन्वय : तत्र चित्रभित्तिषु समर्पितदृष्टौ मानवसृष्टौ शश्वत् अपि निर्निमेषनयने च देवव्यूहे विवेचनम् एव न (बभूव) ।

अर्थ : वहाँ नगरीकी चित्रयुक्त भित्तियोंसे एकटक दृष्टि लगानेवाले मानव-समूह और निर्निमेष नयनवाले देवोंके समूहमें परस्पर विवेक प्राप्त करना बड़ा कठिन हो गया था ॥ १९ ॥

अन्वय : सेवके अपि पाटवाभरणविभ्रमसर्गः गुणवर्गः समभूत्, येन जनता तम् अपि सुन्दरवेरं कम् अपि नायकम् अरं मनुते स्म ।

अर्थ : उन राजाओंके जो सेवक लोग साथमें आये थे, उनमें भी चतुरता, वस्त्राभूषण एवं विभ्रमयुक्तता आदि समुचित गुण थे, जिनसे उन्हें भी देखनेवाले लोग सुन्दर शरीर होनेसे सेवक न मानकर नायकरूपमें ही समझने लगे ॥ २० ॥

अन्वय : यत् छायया परिगतेषु मतेषु तेषु कुलीनचरणेषु सुमनसां समुदायः उद्गतः सुरभिः कालः एषः समियाय ।

यद्विति । यद्यस्मात् कारणात् छायया शोभया मतेषु स्वीकृतेषु लोकेषु । पक्षे छायया धर्माभावरूपया युक्तेषु । कुलीनमुच्चकुलसम्भवं चरणं चरित्रं येषाम् । यद्वा कौ पृथिव्यां लीनं चरणं मूलं येषां तेषु कुलीनचरणेषु । सुमनसां शोभनानां चित्तानामुत्सहित आयः समुदायः । यद्वा सुमनसां देवानां समुदायः, पक्षे कुसुमानां समूहः उद्गतः प्रादुरभूत् । तस्मादेष कालः सुरभिर्मनोहरो वसन्तः समियाय आजगाम तावत् । श्लेषोऽलङ्कारः ॥ २१ ॥

आसनेषु नृपतीनिह कश्चित् सन्निवेशयति स स्म विपश्चित् ।
द्वास्थितो रविकरानवदात उत्पलेषु सरसीव विभातः ॥ २२ ॥

आसनेष्विति । इह सभासङ्घटनावसरे कश्चित् विपश्चिद्विद्वान् द्वास्थितो द्वारपालो जनो नृपतीन् सन्निवेशयति स्म । अवदातः पवित्रो विभातः प्रातःकालः सरसि तटाके, उत्पलेषु कमलेषु रविकरान् सूर्यकिरणानिव । उपमालङ्कारः ॥ २२ ॥

मासि मासि सकलान्विधुबिम्बानात्मभूस्तिरयते श्रितडिम्बान् ।
सन्निधाप्य विबुधः स मनीषामाननानि रचितुं स्विदमीषाम् ॥ २३ ॥

मासीति । आत्मभूः ब्रह्मा, यः खलु लोकैः सृष्टिकर्ता कथ्यते स मासि मासि कलासहितान् सकलान् विधुबिम्बान् चन्द्रमण्डलान् श्रितो डिम्बो विप्लवो विनाशो वा यैस्तान् तिरयते स्म । अमीषां नृपाणामाननानि रचयितुं सम्पादयितुं मनीषां धियं सन्निधाप्य विधाय

अर्थ : शोभा तथा छायासे युक्त वृक्षवत् सदाचारी लोगोंमें देवों या फूलोंके समूहकी तरह सुप्रसन्न शोभनचित्त लोगोंका बहुत-सा समुदाय भी आया था। इसलिए वह समय वसन्त काल प्रतीत हो रहा था ॥ २१ ॥

अन्वय : इह सः कश्चित् विपश्चित् द्वास्थितः नृपतीन् आसनेषु अवदातः सरसि विभातः कमलेषु रविकरान् विभात इव सन्निवेशयति स्म ।

अर्थ : मंडपमें स्थित विचक्षण द्वारपालने उन राजा लोगोंको आसनपर वैसे ही बिठाया, जैसे प्रभात रविकी किरणोंको सरोवरस्थित कमलोंपर बिठाया करता है ॥ २२ ॥

अन्वय : आत्मभूः विबुधः सकलान् विधुबिम्बान् मासि मासि श्रितडिम्बान् तिरयते, सः स्वित् अमीषाम् आननानि रचितुं मनीषां सन्निधाप्य तिरयते ।

अर्थ : विद्वान् विधाताने (ब्रह्मदेवने) महीने-महीने (प्रत्येक मासके अन्तमें) होनेवाले कलासहित चन्द्रमाके बिम्बोंको, जो विप्लव या विनाशका आश्रय

तांस्तिरयते स्म स्विवित्युत्प्रेक्ष्यते । यतः स विबुधो बुद्धिमानस्ति, ततश्चन्द्रमसं पुनः पुनर्निर्माय अभ्यासं कृतवान् एषामाननिर्माणार्थं किलेति भावः। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २३ ॥

नो वृषाङ्कविभवेन पुराऽथ पञ्चतामुपगतो रतिनाथः ।
सन्ति साम्प्रतमिमाः प्रतिमास्तु सृष्टिदृष्टिविषयाः कतमास्तु ॥ २४ ॥

नो वृषाङ्केति । अथ वृषाङ्कस्य रुद्रस्य उत नाभेयस्य प्रथमतीर्थङ्करस्य विभवेन प्रभावेण कृत्वा पुरा पूर्वकाले रतिनाथः कामदेवः पञ्चतां प्रणाशमुपगत इति नो नैव, तु इति निश्चये । अन्यथा पुनः साम्प्रतमिमाः प्रतिमाः सृष्टेर्दृष्टिविषया विश्वस्य दृक्पथगताः कतमाः सन्ति ? अयं भावः—वृषाङ्कस्य विभवेन भस्मीकरणरूपसामर्थ्येन .उपद्रुतस्य कामस्य प्राणनाशो नाभूत्, अपि तु बहुलतैव जाता खलु, एतेषां नवयुवकानां कामतुल्य-रूपत्वादित्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २४ ॥

ईदृशे युवगणेऽथ विदग्धे का क्षती रतिपतावपि दग्धे ।
नानुवर्तिनि रवौ प्रतियाते दीपके मतिरुदेति विभाते ॥ २५ ॥

ईदृश इति । अथ विकल्पे, ईदृशे सौन्दर्यादिगुणविशिष्टे युवगणे तरुणसमूहे विदग्धे बुद्धिमति विचक्षणे विद्यमाने सति रतिपतौ कामे दग्धे भस्मीभूते सत्यपि का खलु क्षतिः,

---

ग्रहण करते हैं, जो छिपाया वह मानो इन्हीं राजाओंके मुखोंको बनानेकी इच्छा-से ही छिपाया हो ॥ २३ ॥

अन्वय : अथ पुरा रतिनाथः वृषाङ्कविभवेन पञ्चतां नो उपगतः । सांप्रतम् इमाः प्रतिमाः तु सृष्टिदृष्टिविषयाः कतमाः तु सन्ति ।

अर्थ : पुराने जमानेमें भगवान् महादेव या नाभेय प्रथम तीर्थंकरके प्रभावसे कामदेव पंचता (मृत्यु) को प्राप्त हो गया, ऐसी बात नहीं । वह पंचत्वको नहीं, अनेकत्वको प्राप्त हो गया; क्योंकि ये जो संसारमें राजा लोग दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे सब उसीके रूप नहीं तो क्या हैं ? ॥ २४ ॥

अन्वय : अथ ईदृशे विदग्धे युवगणे सति रतिपतौ दग्धे अपि का क्षतिः । विभाते रवौ अनुवर्तिनि प्रतियाते दीपके मतिः न उदेति ।

अर्थ : फिर भी यदि कहा जाय कि कामदेव तो कभीका जल गया, तो जहाँ इस प्रकारके सुन्दर राजा लोग विद्यमान हैं, वहाँ कामदेवकी आवश्यकता

यतो विभाते रवौ सूर्येऽनुवर्तिनि सानुकूलवृत्तिमति सति प्रतियाते समुदिते पुनर्दीपके मतिर्नोदेति । अर्थान्तरन्यासः ॥ २५ ॥

वेशवानुपजगाम जयोऽपि येन सोऽथ शुशुभेऽभिनयोऽपि ।
लोकलोपिलवणापरिणामः स स्म नीरमीरयति च कामः ॥ २६ ॥

वेशवानिति । अथ पुनरत्र वेशवान् ललितवस्त्राभूषणविहितनेपथ्यो जयोऽपि चरितनायकोऽप्युपजगाम येन सोऽभिनयः सभासमारोहोऽपि शुशुभे शोभामाप । च पुनः लोकलोपी लोकोत्तरो लवणायाः कान्त्याः परिणामः प्रसारो यत्र स कामोऽपि नीरमीरयति स्म, किङ्करतामेवानुजगाम । अनुप्रासालङ्कारः ॥ २६ ॥

राजमान इव राजनि चैतैर्बाहुजैः सपदि तत्र समेतैः ।
जल्पितं वसुमतीवलये तत्क्षत्रमत्र न पुरस्सरमेतत् ॥ २७ ॥

राजमान इति । तत्र सभायां सपदि सम्प्रतं राजनि जयकुमारे तस्मिन्नेव चन्द्रमसि राजमाने शोभमाने सति समेतैः समन्ततः स्थितैरेतैः अर्ककीर्त्यादिभिर्बाहुजैः क्षत्रियैरत्र वसुमतीवलये महीमण्डले तत्क्षत्रं नाम नपुरस्सरं नकारपूर्वकं नक्षत्रमिति एतज्जल्पितमभूत् । अयं भावः—चरितनायकश्चन्द्र इव बभौ, परे च सर्वे नक्षत्रनिभा जाताः, यतस्तैः तस्याग्रे क्षत्रं नाम नजल्पितमिति वा । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ २७ ॥

ही क्या है ? जैसे प्रातःकालके समय सूर्यके उदित होनेपर दीपकको कौन याद करता है ? ॥ २५ ॥

अन्वय : अथ वेशवान् जयः अपि उपजगाम, येन सः अभिनयः अपि शुशुभे । यतः लोकलोपिलवणापरिणामः सः कामः च नीरम् ईरयति स्म ।

अर्थ : अब यहीं सज-धजकर महाराज जयकुमार भी आये जो अनुपम रूप-सौन्दर्य रखते थे । उनके आनेसे वह सभा निखर उठी । कारण उनके आगे कामदेव भी पानी भरता था ॥ २६ ॥

अन्वय : तत्र सपदि राजनि राजमाने समेतैः एतैः बाहुजैः वसुमतिवलये एतत् तत्क्षत्रं नपुरस्सरं जल्पितम् ।

अर्थ : वहाँ इस राजारूपी जय-चन्द्रके पहुँचकर विराजनेपर अर्ककीर्ति आदि जितने क्षत्रिय लोग थे, उन्होंने इस सारे भूमण्डलमें अपने नामके पहले 'न' लगा लिया । अर्थात् इसके आगे हम क्षत्रिय नहीं, बल्कि चन्द्रमाके सामने नक्षत्रोंके समान हैं ॥ २७ ॥

द्राक् पपात तरणाविव पद्मानन्ददायिनि जये स्मयसद्मा ।
दृष्टिरभ्युदयभाजि जनानां तेजसाञ्च निलये भुवनानाम् ॥ २८ ॥

द्रागिति । पद्माया: पद्मानां वाऽऽनन्ददायिनि तरणौ सूर्य इव जये, कीदृशे भुवनानां समस्तविष्टपानां तेजसां प्रतापानां निलये स्थाने । पुनः कथम्भूते तस्मिन्नभ्युदयभाजि, पक्षे उदयमनुकुर्वति, स्मयस्य आश्चर्यस्य सद्म स्थानं यत्र सा स्मयसद्मा जनानां दृष्टिर्द्राक् शीघ्रमेव पपात । अन्यतो विनिवृत्य सर्वे जना जयकुमारं ददृशुरित्यर्थः । श्लेषपूर्वोपमालङ्कारः ॥ २८ ॥

स्थातुमत्र हृदये तरुणानामातिथेयविलसत्करुणानाम् ।
द्वन्द्विताऽजनि बृहद्गुणराजोः सोमसूनुसुमसायकभाजोः ॥ २९ ॥

स्थातुमिति । अत्राऽऽतिथेयेन विलसन्ती करुणा येषां ते तेषामातिथेयविलसत्करुणानां तरुणानां यूनामपि हृदये स्थातुं स्थानमाप्तुं बृहद्भिर्गुणै राजेते तौ तयोः सोमसूनुसुमसायकभाजोः जयकुमार-कामयोः परस्परं द्वन्द्विताऽजनि किमुत, काममेवाङ्गीकरोमि किं वा जयकुमारमित्येवं सङ्कल्पविकल्परूपा प्रतिद्वन्द्विता जातेत्यर्थः ॥ २९ ॥

राजराजिरिति दूषणभृष्टि-रुत्तरोत्तरगुणाधिकसृष्टिः ।
स्मैति या भुवनभूषणकृत्तां मौक्तिकावलिरिवायतवृत्ता ॥ ३० ॥

अन्वय : पद्मानन्ददायिनि तरणौ इव अभ्युदयभाजि भुवनानां तेजसां च निलये जये स्मयसद्मा जनानां दृष्टिः द्राक् पपात ।

अर्थ : पद्मानन्ददायी (कमल या सुलोचनाको विकसित करनेवाले) तरणि (सूर्य) के समान अभ्युदयशील, तीनों भुवनोंके तेजके आश्रय उन महाराज जयकुमारपर सहसा सब लोगोंकी आश्चर्यभरी दृष्टि आकृष्ट हो गयी ॥ २८ ॥

अन्वय : अत्र आतिथेयविलसत्करुणानां तरुणानां हृदये स्थातुं बृहद्गुणराजोः सोमसूनु-सुमसायकभाजोः द्वन्द्विता अजनि ।

अर्थ : कामदेव और जयकुमार दोनों ही अद्वितीय गुणवान् थे । अतः इन दोनोंका ही आतिथ्य करनेके लिए नवयुवकोंके मनमें प्रतिद्वन्द्विता उठ खड़ी हुई कि किसका पहले सत्कार करें, क्योंकि दोनों एकसे एक बढ़कर हैं ॥ २९ ॥

अन्वय : इति राजराजिः दूषणभृष्टिः, (यतः) उत्तरोत्तरगुणाधिकसृष्टिः आयतवृत्ता मौक्तिकावलिः इव भुवनभूषणकृत्ताम् एति स्म ।

राजराजिरिति । इत्येवम्भूता राज्ञां राजिः पङ्क्तिः सा भुवनस्य संसारमात्रस्यापि भूषणकृत्तामलङ्कारविधायकतां मौक्तिकानामावलिरिवैति स्म । यतो वृषभानामुत्सेकादीनां, मौक्तिकावलिपक्षे किट्टादीनां भुष्टिर्यत्र सा, तथा उत्तरोत्तरमग्रेऽग्रे गुणाधिकस्य सहिष्णुतादीनामाधिक्यस्य, पक्षे दोरकबाहुल्यस्य सृष्टिर्यत्र सा उत्तरोत्तरगुणाधिकसृष्टिः । आयतं विस्तृतं वृत्तं चरित्रं यस्याः, पक्षे, आयताः सविस्तारा चासौ वृत्ता वर्तुलाकारा चेति यावत् । श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥ ३० ॥

या सभा सुरपतेरथ भूताऽसौ ततोऽपि पुनरस्ति सुपूता ।
साऽधरा स्फुटममर्त्यपरीताऽसौ तु मर्त्यपतिभिः परिणीता ॥ ३१ ॥

या सभेति । या सुरपतेर्देवराजस्य सभा भूता जाताऽसौ सभा ततोऽपि पुनः सुपूता पुनीततराऽस्ति, यतः, सा किलाऽधरा बभूव आधारवर्जिता जाता । तथा चाधराऽऽधारहीना गुणहीना च, यतो नमर्त्या अमर्त्यास्तैः देवैः परीता परिवेष्टिता । यद्वा पुनरमर्त्यैर्हीनजनैश्च परीता, अमर्त्येस्यत्र अकारस्य ईषदर्थकत्वेन हीनार्थकत्वात् । इयञ्च मर्त्यपतिभिः मनुष्यशिरोमणिभिः परिणीताऽङ्गीकृता, धरायाञ्च स्थितेति यावत् । श्लेषालङ्कारः ॥ ३१ ॥

तत्र कश्चन कविर्गुरुरेक एक एव च कलाधरटेकः ।
अत्र सन्ति कवयो गुरवश्च सर्व एव हि कलापुरवश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ : ये सब जितने भी राजा लोग वहाँ आये थे, वे सभी निर्दोष और एकसे एक बढ़कर गुणवान् और मोतियोंकी मालाके समान भुवनके भूषणस्वरूप थे । कारण आयतवृत्त अर्थात् सदाचारी होनेके साथ मनोज्ञ प्रकृतिवाले भी थे, जब कि मोतियोंकी माला भी गोल-गोल दानोंकी थी ॥ ३० ॥

अन्वय : अथ या सुरपतेः सभा भूता, असौ पुनः ततः अपि सुपूता अस्ति । यतः सा स्फुटम् अधरा, अमर्त्यपरीता च । असौ तु मर्त्यपतिभिः परिणीता च न धरा ।

अर्थ : यद्यपि सभाके रूपमें इन्द्रकी सभा भी प्रसिद्ध है, फिर भी यह स्वयंवर-सभा उससे भी बढ़कर है; क्योंकि इन्द्रकी सभा तो अधर है और अमर्त्य-सहित है । किन्तु यह सभा धरापर स्थित होकर मर्त्यपतियोंसे युक्त है ।

विशेष : 'अधर' और 'अमर्त्य' दोनों शब्द द्व्यर्थक (श्लिष्ट) हैं । 'अधर' का अर्थ नीच और धरापर स्थित न होकर आसमानमें स्थित, ऐसा भी अर्थ होता है । इसी तरह 'अमर्त्य' शब्दका अर्थ देव और 'मनुष्य नहीं' (मानवतासे हीन) ऐसा भी होता है ॥ ३१ ॥

अन्वय : तत्र कश्चन एकः कविः, एकः एव गुरुः, एकः एव हि कलाधरटेकः । अत्र सर्वे एव कवयः गुरवः च कलापुरवः सन्ति ।

तत्रेति । तत्र देवसभायां कश्चनैव कविः शुक्रः, एक एव च गुरुर्बृहस्पतिः, एक एव च कलाधर इत्येतस्मिन् द्वे ध्वनौ क आत्मवान् कलाधरनामधारकश्चन्द्रमा वर्तते । अत्र पुनः सर्वे जना एव कवयः कवित्वकर्तारो गुरव उत्तमाचरणशालिनः कलासु च पुरवः परिपूर्णाः सन्ति । तस्मादियमेव श्रेष्ठतराऽस्ति स्वर्गसभात इति । श्लेषालङ्कारः ॥ ३२ ॥

मादृशामुत दृशा गुणगीता क्वापि नापि परिषत्परिपीता ।
ज्ञायते च न भविष्यति दृश्या भूत्रयातिशयिनी बहुशस्या ॥ ३३ ॥

मादृशामिति । मादृशां दृशा चक्षुषा एतादृशी गुणानां गीता यस्याः सा गुणपरिपूर्णा परिषत्सभा क्वापि कुत्रचिदपि न परिपीता नैवावलोकिताऽभूत् । पुनर्भविष्यत्यपि काले दृश्या न ज्ञायते, यत इयं भूत्रयातिशयिनी लोकत्रयेऽप्यतिशयवती बहुभिर्गुणैः शस्या प्रशंसनीयाऽभूत् । अनुप्रासः ॥ ३३ ॥

सौष्ठवं समभिवीक्ष्य सभाया यत्र रीतिरिति सारसभायाः ।
वैभवेन किल सज्जनताया मोदसिन्धुरुदभूज्जनतायाः ॥ ३४ ॥

सौष्ठवमिति । यत्र सारसस्य चन्द्रस्य भा दीप्तिर्यस्यां सा तस्याः सभायाः सौष्ठवं सौन्दर्यमभिवीक्ष्य किल सज्जनताया उत्तपुरुषताया वैभवेन गुणेन जनतायाः प्रजावर्गस्य मोदसिन्धुरानन्दसमुद्र उदभूत् समुच्छलत्तरङ्गोऽजायत । अन्त्ययमकालङ्कारः ॥ ३४ ॥

अर्थ : इन्द्रकी उस सभामें तो एकमात्र शुक्र ही कवि है। एक बृहस्पति ही गुरु है और आत्मवान् एक चन्द्रमा ही कलाधर है। किन्तु यहाँ तो सभी कवि, सभी गुरु और सभी कलाधर हैं ॥ ३२ ॥

अन्वय : मादृशां दृशा खलु गुणगीता परिषद् क्व अपि न अपि परिपीता, न च भविष्यति दृश्या ज्ञायते। इयं भूत्रयातिशयिनी बहुशस्या (वर्तते) ।

अर्थ : मेरी दृष्टिसे तो ऐसी गुणशालिनी सभा कभी कहीं भी नहीं देखी गयी और न आगे देखी जानेकी आशा ही है। यह सभा तो तीनों लोकोंमें सबसे बढ़-चढ़कर है ॥ ३३ ॥

अन्वय : यत्र सारसभायाः रीतिः इति सभायाः सौष्ठवं समभिवीक्ष्य किल सज्जनतायाः वैभवेन जनतायाः मोदसिन्धुः उदभूत् ।

अर्थ : उस सभामें विकसित कमलके समान प्रसन्नता थी। उसका सौन्दर्य देखकर सज्जनताके वैभवद्वारा वहाँकी जनताका आनन्द-समुद्र उमड़ रहा था ॥ ३४ ॥

काशिभूपतिरहो बहुदेशाभ्यागताः कथममी सुनरेशाः ।
वर्ण्यभावमनुयान्तु सुतायामित्यभूत् स्थलमसावकितायाः ॥ ३५ ॥

काशिभूपतिरिति । काशिभूपतिः अकम्पनमहाराजो बहुभ्यो देशेभ्योऽभ्यागता अमी सम्मुखे वर्तमानाः सुनरेशाः प्रशंसनीया राजानः सुतायां सुलोचनायामागत्य उपस्थितायां सत्यां पुनर्वर्ण्यभावं वर्णनीयतां कथमिति केन प्रकारेण अनुयान्तु प्राप्नुवन्तु अहो इत्येवं विचारेणाऽसौ नृपोऽकितायाः दुःखितत्वस्य स्थलमभूत् ॥ ३५ ॥

तत्तदाशयविदाऽथ सुरेण भाषितं नृपसकुक्षिचरेण ।
राजराजिचरितोचितवक्त्री विच्चमेव सदसीह भवित्री ॥ ३६ ॥

तत्तदाशयेति । अथानन्तरं तस्य राज्ञ आशयं वेत्तीति तेन सुरेण नृपस्य अकम्पनस्य समाना कुक्षिर्यस्य स समानकुक्षिः, भूतपूर्वः समानकुक्षिरिति समानकुक्षिचरस्तेन राज्ञः पूर्वसहोदरेण भाषितं यद्धे विद् विद्यावति, इह सदसि राज्ञां राजिस्तती राजराजिस्तस्या-श्चरितमुचितं वदतीति राजराजिचरितोचितवक्त्री त्वमेव भवित्रीति । अनुप्रासः ॥ ३६ ॥

भूरिभूशकलवासिनराणां वंशशीलविभवादि वराणाम् ।
वेत्सि देवि पदमर्हसि तत्त्वं मौनमत्र नहि ते खलु तत्त्वम् ॥ ३७ ॥

अन्वय : काशिभूपतिः बहुदेशाभ्यागताः अमी सुनरेशाः सुतायां वर्ण्यभावं कथम् अनुयान्तु अहो ! इति असौ अकितायाः स्थलम् अभूत् ।

अर्थ : ऐसी सभा देखकर महाराज अकंपनने मनमें थोड़ा-सा कष्टका अनुभव किया कि अहो ! ये देश-देशके आये एक-से-एक बढ़कर राजा लोग हैं। इनका वर्णन कर सुलोचनाको कौन बता सकेगा ? ॥ ३५ ॥

अन्वय : अथ तत्तदाशयविदा नृपसकुक्षिचरेण सुरेण भाषितं हे वित् ! इह सदसि राजराजिचरितोचितवक्त्री त्वम् एव भवित्री ।

अर्थ : राजाके इस अभिप्रायको जाननेवाला राजाका भाई चित्रांगद देव बुद्धिदेवीसे बोला कि हे विद्यावती ! इस सभामें जो ये राजा लोग आये हैं, सुलोचनाको इन सबका भिन्न-भिन्न परिचय देनेका भार तुम्हारे ही ऊपर है ॥ ३६ ॥

अन्वय : हे देवि ! भूरिभूशकलवासिनराणां वराणां वंशशीलविभवादि त्वं वेत्सि । तत् पदं त्वम् अर्हसि । अत्र खलु ते मौनं तत्त्वं नहि ।

भूरीति । हे देवि, वंशञ्च शीलं च विभवश्च त आविर्येषां तेषु कुलाचारसमृद्धि-शौर्यादिषु वराणां श्रेष्ठानां भूरिषु भुवः शकलेषु प्रदेशेषु वसन्तीत्येवंशीला ये नरास्तेषां एवं प्रतिष्ठां वेत्सि जानासि, ततस्मात् कारणात् त्वमत्रावसरे खलु निश्चयेन मौनं मूकत्वं नार्हसि । इवं ते तत्त्वमुचितं नास्ति । यद्वा, त्वं वराणां वंशादि वेत्सि, तस्मादेतेषां वर्णनार्थं त्वं एवं शब्दसमूहं वक्तुमर्हसि, अत्र ते मौनं नोचितमिति भावः ॥ ३७ ॥

इत्यमुष्य पदयो रज एषा शासनं मृदु बभार सुवेशा ।
देवतापि नुमया खलु बुद्धिर्मस्तकेन विनयाश्रितशुद्धिः ॥ ३८ ॥

इत्यमुष्येति । सुवेशा शोभनवेशवती विनयं नम्रत्वमाश्रिता शुद्धिर्यस्यां सा नुमया नाम्ना तु बुद्धिरेषा प्रसङ्गप्राप्ता देवतापि पुनरमुष्य नृपभ्रातृवरस्य पदयो रज इव मृदु सुकोमलं शासनमाज्ञापनं च खलु मस्तकेन शिरसा बभार दध्रे ॥ ३८ ॥

आगता सदसि सा खलु बाला गानमानविलसद्गलनाला ।
सृष्टिदृष्टिविषये सुविशाला सादराऽनुगतमानवमाला ॥ ३९ ॥

आगतेति । गानस्य सङ्गीतस्य मानेन विलसन् गलनालो यस्याः सा गानमानविलसद्गलनाला, सृष्ट्याः संसारस्य दृष्टौ या विशाला विपुलपरिणामवती सादरा सविनयाऽनुगता मानवानां माला परम्परा यस्याः सा सादरानुगतमानवमाला बाला नववयस्का सदसि सभायामागता खलु ॥ ३९ ॥

अर्थ : हे देवि ! इन नानादेशनिवासी नरश्रेष्ठोंके वंश, शील और वैभवको तुम अच्छी तरह जानती हो । इसलिए तुम ही इस कामको कर सकती हो । इसमें तुम्हारा आगा-पीछा देखना उचित नहीं ॥ ३७ ॥

अन्वय : एषा सुवेशा नुमया खलु बुद्धिः देवता अपि मस्तकेन विनयाश्रितशुद्धिः सती पदयोः रजः इति अमुष्य शासनं बभार किल ।

अर्थ : उत्तम वेशवाली विनयशील बुद्धि नामकी देवीने भी चरणोंकी रजकी तरह उसकी इस आज्ञाको शिरोधार्य कर लिया ॥ ३८ ॥

अन्वय : गानमानविलसद्गलनाला आदरानुगतमानवमाला दृष्टिसृष्टिविषये सुविशाला सा बाला खलु सदसि आगता ।

अर्थ : अब वह नवयौवना बाला सभामें आयी । उसका गला गानेमें बहुत ही मधुर था । वह लोगोंकी दृष्टिमें बहुत ही आदर प्राप्त किये थी और साथ ही उदार विचारोंवाली थी ॥ ३९ ॥

या विभाति सहजेन हि विद्यातन्मयावयविनी निरवद्या ।
एतदीयचरितं खलु शिक्षा वा जगद्धितकरी सुसमीक्षा ॥ ४० ॥

या विभातीति । या सहजेन स्वभावेन हि विद्यायां तन्मया अवयवा यस्याः सा विद्यातन्मयावयविनी निरवद्याऽवद्येन रहिता, एतदीयं चरितं खलु शिक्षा जगतां शिक्षणमात्रम् । यद्वा पुनर्जगतां हितं करोतीति जगद्धितकरी सुसमीक्षा सम्यक् समालोचन-चेष्टा विभाति । दीपकालङ्कारः ॥ ४० ॥

केशवेश इह पन्नगसूत्री सा श्रुतिः प्रभवति श्रुतिपुत्री ।
अत्र वक्त्रमुत सोमविचारं हास्यमस्यति सितांशुकसारम् ॥ ४१ ॥

केशवेश इति । इह बुद्धिदेव्यां केशवेशः कचपाशः स पन्नगसूत्री पन्नगं नागं सूत्रयति सूचयतीति पन्नगसूत्री सर्पसदृशाकृतिरिति । किञ्च, पन्नगान् नागान् सूत्रयति संक्षिपति सूत्रवत् सत्वरहितान् करोति वेति, तद्वान् पन्नगसूत्री नागश्रीति यावत् । सा श्रुतिः कर्णश्च श्रुतेर्वेदस्य पुत्री स्मृतिरुपनिषद्रूपा वा प्रभवति । अत्र वक्त्रं मुखं तदुत सोमस्य विचारो यत्र तत्सोमविचारं चन्द्रतुल्यमित्यर्थः । यद्वा सोमस्य कापालिकस्य विचारो यत्रेति । हास्यं स्मितञ्च सितांशुकस्य चन्द्रमसः सारमस्यति क्षिपति तिरस्करोतीत्यर्थः । यद्वा सितांशुकस्य श्वेतपटनाम्नो मतस्य सारमुरीकरोति ॥ ४१ ॥

अन्वय : या सहजेन हि निरवद्या विद्यातन्मयावयविनी विभाति । एतदीयचरितं खलु शिक्षा । वा जगद्धितकरी सुसमीक्षा ।

अर्थ : वह बुद्धिदेवी स्वभावतः निर्दोष और सार्थक 'विद्या'नामवाली थी । उसके सारे अवयव विद्यामय थे । उसका सारा जीवनचरित ही जगत्को शिक्षा देनेवाला था । अथवा वह जगत्का हित करनेवाली सुसमीक्षा (समालोचन-चेष्टा) थी ॥ ४० ॥

अन्वय : इह केशवेशः पन्नगसूत्री । सा श्रुतिः श्रुतिपुत्री प्रभवति । आननं सोम-विचारम्, सुमृदु हास्यं (च) सितांशुकसारम् अस्यति ।

अर्थ : उस बुद्धिदेवीकी वेणी तो पन्नग अर्थात् नागके समान थी, अथवा नागदत्ताचार्यके सूत्रोंसे बनी थी । उसके कान वेदोंकी पुत्री 'स्मृति या उपनिषद्-रूप' एवं सुननेमें दक्ष थे । मुख सोम अर्थात् चन्द्रमाके समान या सोमाचार्यके विचारोंवाला था और हास्य (मन्द-मुसकान) चन्द्रमाकी चाँदनीके समान अथवा श्वेताम्बराचार्यका सार ग्रहण किये हुए था ॥ ४१ ॥

ओष्ठ एवमरुणाम्बरजल्पः सत्कुचो भवति कुम्भककल्पः ।
दृष्टिरेव लभते क्षणिकत्वं हस्तयुग्ममथ पल्लवतत्त्वम् ॥ ४२ ॥

ओष्ठ इति । अस्या ओष्ठोऽरुणं लोहितमम्बरमाकाशं जल्पतीति । किञ्च अरुणाम्बर-नाम-मतजल्पकः । सत्कुचः समीचीनः स्तनश्च कुम्भ एव कुम्भकस्तत्कल्पः कलश इव पृथुलाकारः । यद्वा कुम्भको नाम स्वरोदयशास्त्रविहितस्तम्भितो वायुस्तस्य कल्पः प्रकरणवद्भवति । दृष्टिरस्या नयनं क्षणिकत्वं क्षणचमत्कारित्वं चपलत्वं लभते । अथ च क्षणिकं नाम सुगतमतं तस्य तत्त्वं लभते । हस्तयोर्युग्मं द्वितयं पुनः पल्लवस्य किसलयस्य तत्त्वं स्वभावम् । यद्वा पदां लवा यत्र तत्पल्लवं नाम व्याकरणशास्त्रं तत्तत्त्वं लभते ॥ ४२ ॥

सत्त्रयी तु वलिपर्वविचारा श्रोणिरेव हि गुरूक्तिरुदारा ।
कामतन्त्रमुपयामि जघन्यं शून्यवादमुदरं खलु धन्यम् ॥ ४३ ॥

सत्त्रयीति । वलिपर्वणामुदरगतरेखाणां सत्त्रयी । यद्वा वलिपर्वणां वेदानां सत्त्रयी-ऋग्यजुःसामत्रयीव श्रोणिः कटिपश्चाद्भागात्मिका । सा चोदारा विशालपरिणाहा, अत एव गुर्वी उक्तिर्यस्याः सा । यद्वा गुरुतरप्रशंसनीया, सैव हि वा गुरूक्तिर्बृहस्पतिमतं चार्वाका-ख्यम् । तस्या जघन्यं नामाङ्गं कामतन्त्रं कामोद्दीपकम् । यद्वा कामपुरुषार्थशिक्षकं शास्त्र-महमुपयामि जानामि । उदरं च शून्यं वदतीति शून्यवादमभावप्रतिपादकम् । अत एव धन्यं मनोहरं तदेव शून्यवादं नाम मतमुपयामि ॥ ४३ ॥

अन्वय : एवम् ओष्ठः अरुणाम्बरजल्पः, सत्कुचः च कुम्भककल्पः भवति । दृष्टिः एव क्षणिकत्वं लभते । अथ हस्तयुगलं पल्लवतत्त्वं लभते ।

अर्थ : उसके ओष्ठ आकाशको भी लाल बना देनेवाले थे, या रक्ताम्बर-मतके अनुयायी थे । कुच कुम्भके समान या कुम्भक-विद्यासदृश थे । दृष्टि क्षणिक (चपल) या बौद्धमतको पुष्ट कर रही थी और दोनों हाथ नये कोपलोंके समान कोमलता लिये या व्याकरणशास्त्रका तत्त्व स्पष्ट कर रहे थे ॥ ४२ ॥

अन्वय : वलिपर्वविचारा तु सत्त्रयी । श्रोणिः उदारा, गुरूक्तिः एव हि । जघन्यां कामतन्त्रं च उदरं शून्यवादं धन्यम् उपयामि ।

अर्थ : उस विद्यादेवीकी त्रिवली ऋक्, यजु, साम तीन वेदोंकी तरह थी । श्रोणी (कटिका पिछला भाग) गुरुतर प्रशंसनीय थी, अथवा बृहस्पतिके

अन्ततां स्फुटमनेकपदेन यान्ति सम्प्रति गुणाः प्रमदेन ।
नास्तिकत्वमुत दुर्गुणभारः सन्तनोति सुतरामतिचारः ॥ ४४ ॥

अन्ततामिति । सम्प्रति अधुनाऽस्या गुणाः शीलसौन्दर्यादयोऽनेकपदेन अन्ततां यान्ति बहुलरूपेण भवन्तोऽपि सुन्दरतामनुभवन्ति, अन्तशब्दस्य सुन्दरतावाचकत्वात् । यद्वाऽनेकपदेन सार्धमन्ततामनेकान्तताम्, अनेकेऽन्ता धर्मा एकस्मिन्निस्त्यनेकान्तस्तस्य भावं स्याद्वादरूपतामित्यर्थः । केन प्रमदेनेति, प्रकृष्टो मदो हर्षस्तेन । पक्षे प्रकृष्टेन मदेन स्वगतेन वीर्येणेति, 'मदो मृगमदे मद्ये दानमुद्गर्वरेतसि' इति विश्वलोचनः । अथ पुनर्दुर्गुणभारोऽतिचारो बन्धनं भवति येन स सुतरामेव स्वयमेव नास्तिकत्वमभावं सन्तनोति नैवास्ति । यद्वा नास्तिकवादतामङ्गीकरोतीति, 'गतौ बन्धेऽपि चारः स्यादि'ति विश्वलोचनः ॥ ४४ ॥

उल्लसत्कुचयुगव्यपदेशादेतदीयहृदये तु विशेषात् ।
वाच्यवाचकयुगन्धरमेतद्राजते कनककुम्भयुगं तत् ॥ ४५ ॥

उल्लसदिति । एतस्याः सम्बन्धि तदेतदीयं हृदयं वक्षस्तस्मिन्, तु पुनर्विशेषात् उल्लसद् उद्गच्छत् कुचयुगं तस्य व्यपदेशाच्छलाद् वाच्यवाचकयोर्युगं द्वितयं धरति यत् तच्चैतत् कनकस्य स्वर्णस्य कुम्भयोः कलशयोर्युगमेव राजते, यथा वाच्यवाचकयोर्मिथः सम्बन्धस्तथाऽनयोरपीति भावः ॥ ४५ ॥

समान गुरु (उन्नत) थो । जघनस्थल कामशास्त्र था और उदर शून्यवाद लिये हुए था ॥ ४३ ॥

अन्वय : सम्प्रति गुणाः प्रमदेन अनेकपदेन स्फुटम् अन्ततां यान्ति । अथ सुतराम् अतिचारः दुर्गुणभारः नास्तिकत्वं सन्तनोति ।

अर्थ : इसके गुण स्पष्टरूपसे प्रसन्नतापूर्वक अनेकांत-पदको प्राप्त हो रहे थे, अर्थात् बहुत थे । दुर्गुणोंका भार, जो कि वहाँ था ही नहीं, स्वयं ही नास्तिकता प्रकट कर रहा था ॥ ४४ ॥

अन्वय : एतदीयहृदये तु विशेषात् उल्लसत्कुचयुगव्यपदेशात् एतत् वाच्यवाचकयुगन्धरं तत् कनककुम्भयुगं राजते ।

अर्थ : उस विद्यादेवीके वक्षःस्थलपर विशेषरूपसे उभरते जो दो कुच थे, वे वाच्य और वाचक दोनोंके अभेद-सम्बन्धको धारण करनेवाले दो सोनेके कलशोंकी तरह शोभित हो रहे थे ॥ ४५ ॥

यत्सुवर्णकलितं ललितं स्याद् द्वैतरूपचरणश्रुतमस्याः ।
ऊरुयुग्ममिदमेव तु सत्यं वृत्तभावमनुविन्दति नित्यम् ॥ ४६ ॥

यत्सुवर्णेति । अस्या बुद्धिदेव्या ऊरुयुग्मं जघनयुगलं नित्यं वृत्तभावं वर्तुलाकारत्वमनुविन्दति । यद्वा चारित्ररूपतामुरीकरोति । यति-श्रावकभेदेन द्वैतरूपं यच्चरणश्रुतं चरणानुयोगशास्त्रमिव यत्खलु सुवर्णेन शोभनरूपेण कलितं युक्तम् । पक्षे सुवर्णेन उत्तमकुलजातेन जनेन कलितं स्वीकृतम् । एवं पुनर्ललितं सुन्दरं सत्यमेवास्ति । तु पादपूरणे ॥ ४६ ॥

आयताभ्युदितवृत्तसुरूपं　　वैधधर्मपथयुग्मनिरूपम् ।
भ्राजते भुजयुगं खलु देव्या या समस्ति चतुरैरपि सेव्या ॥ ४७ ॥

आयतेति । या चतुरैरपि नरैः सेव्या सेवनीयास्ति किं, पुनरन्यैरित्यपिशब्दार्थः । तस्या देव्या देवताया बुद्धिनाम्न्या भुजयोर्बाहुदण्डयोः युगं युगलं विधेरागतो वैधो व्यवहाररूपो लोकाचारमयः, तथा धर्मादागतो धर्म्य आगमोक्त उत्तरलोकहितङ्करः, वैधश्च धर्म्यश्च तौ पन्थानौ तयोर्युग्मं तस्य निरूपो निरूपणमिव निरूपणं यस्य तद् भ्राजते शोभते, खलूत्प्रेक्षणे । कीदृशं तदिति चेत् आयताभ्युदितवृत्तसुरूपमायतं विस्तृतमभ्युदितमभ्युदयमयं वृत्तं वर्तुलाकारं सुरूपं शोभनाकारं चेति परस्परविशेषणविशेष्यतया कर्मधारयसमासः । पक्षे, आयतमसंकुचितमक्लिष्टमभ्युदितस्य स्वर्गादेर्वृत्तं वृत्तान्तो यत्र तच्च तच्छोभनं रूपं ग्रन्थस्यावृत्तिर्यत्र तदिति ॥ ४७ ॥

अन्वय : अस्याः ऊरुयुग्मं सुवर्णकलितम्, इदम् एव तु सत्यं द्वैतरूपचरणश्रुतं यत् नित्यं वृत्तभावम् अनुविन्दति ।

अर्थ : इस देवीकी जंघाओंका युगल सुवर्णकी तरह कांतिमान् और देखनेमें सुन्दर था । निश्चय ही वह दो प्रकारके चरणानुयोगशास्त्र-सा था, जो सदा वृत्तभाव (सदाचार या गोलाकार) को लिये हुए था ।

विशेष : यहाँ जंघा-युगलको श्लेष द्वारा यति-श्रावक भेदसे द्वैतरूप चरणानुयोगशास्त्रकी उपमा दी गयी है । वह भी सुन्दर रूपसे युक्त (सुवर्णकलित) और वृत्तभाव (चारित्र्यरूपता) धारण करता है ॥ ४६ ॥

अन्वय : या चतुरैः अपि सेव्या समस्ति, तस्याः देव्याः भुजयुगं जगति आयताभ्युदितवृत्तसुरूपं च भ्राजते । तत् वैधधर्मपथयुग्मनिरूपं खलु ।

अर्थ : जो चतुर लोगोंद्वारा भी सुसंसेव्य है, उस बुद्धिदेवीकी भुजाएँ

एतदीयरदनच्छदसारौ पूर्वपक्षपरपक्षविचारौ ।
वक्तुरप्यपरवक्तुरुमाङ्कैः शोभितौ स्वधृतपक्षसुरागैः ॥ ४८ ॥

एतदीयेति । एतस्याः सम्बन्धिनौ, एतदीयौ च तौ रदनच्छदौ ओष्ठावेव सारौ प्रशस्तौ, वक्तुरपरवक्तुः प्रतिवक्तुरुमायाः कान्त्या अङ्कैः स्वेन धृतो यो पक्षस्तस्य शोभनो रागो यत्र तैः शोभितौ, पूर्वपक्षश्च परपक्षश्च तयोर्विचारौ यत्र तौ ॥ ४८ ॥

सत्यतारकपदप्रतिमानौ यौ समीक्षितपरस्परदानौ ।
निश्चयेतरनयौ हि सुदत्या नेत्रतामुपगतौ प्रतिपत्त्या ॥ ४९ ॥

सत्यतेति । सत्यं प्रशस्तं यत्तारकपदस्य कनीनिकाख्यावयवस्य प्रतिमानं ययोस्तौ । पक्षे सत्यं प्रमाणरूपं तदेव तारकपदं तस्य प्रतिमानं यत्र तौ, समीक्षितं प्रत्यवेक्षितं परस्परस्य दानं यत्र तौ, प्रतिपत्त्याऽनुभवेन दृष्टे सतीति यावत् । शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती तस्या नेत्रतामुपगतौ नयनभावं प्राप्तौ, निश्चयश्चेतरश्च व्यवहाराभिधौ निश्चये-तरौ च तौ नयौ, हीति निश्चये ॥ ४९ ॥

सा त्रिसूत्रि अपि तत्र कुतः स्याच्चेत्कृतं न गलकन्दलमस्याः ।
वाद्यगीतनटनोचितसारैस्तच्छ्रुतात् समवकृष्य विचारैः ॥ ५० ॥

आयत (विशाल) और गोलाकार थीं। वे मानो नीतिपथ और धर्मपथ स्वरूप थीं ॥ ४७ ॥

अन्वय : एतदीयरदनच्छदसारौ पूर्वपक्षपरपक्षविचारौ वक्तुः अपि अपरवक्तुः उमाङ्कैः स्वधृतपक्षसुरागैः शोभितौ स्तः ।

अर्थ : उसके दोनों ओष्ठ अपने-अपने पक्षमें राग रखनेवाले वादी और प्रतिवादीके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके समान शोभित हो रहे थे ॥ ४८ ॥

अन्वय : सत्यतारकपदप्रतिमानौ यौ समीक्षितपरस्परदानौ प्रतिपत्त्या सुदत्याः नेत्रतां उपगतौ निश्चयेतरनयौ हि ।

अर्थ : उसकी दोनों आँखें, जो कि एक दूसरेकी पूरक होकर रहती थीं, विचारकर अनुभव करनेपर निश्चय ही सत्यरूपी तारे (कनीनिका) को लिये निश्चय-नय और व्यवहार-नय ही थीं ॥ ४९ ॥

अन्वय : विचारैः वाद्य-गीत-नटनोचितसारैः तच्छ्रुतात् समवकृष्य अस्याः गल-कन्दलं न कृतं चेत् तदा तत्र सा त्रिसूत्रिः अपि कुतः स्यात् ।

सा त्रिसूत्रीति । तच्च तात् सङ्गीतशास्त्रात् किल वाद्यञ्च गीतञ्च नटनञ्चेति वाद्यगीत-नटनानि तेषां सारम् उत्तमभागमवकृष्य तैरस्या बुद्धिदेव्या गलकन्दलं कृतमिति नास्ति चेत्तदा पुनस्तत्र सा त्रयाणां सूत्राणां समाहारस्त्रिसूत्री रेखात्रितयं कुतः केन हेतुना स्यादिति ॥ ५० ॥

तां गभीरचरितां स्फुटमध्यात्मश्रुतिं द्व्यणुकमञ्जुलमध्या ।
द्रागनङ्गसुखसारविधात्रीमेति　　　नाभिमतिसुन्दरगात्री ॥ ५१ ॥

तामिति । अतिसुन्दरं गात्रं शरीरं यस्याः सा बुद्धिदेवी कीदृशीति चेदाह—द्व्यणुक-वदतिसूक्ष्मम्, अत एव मञ्जुलं मध्यं यस्याः सा । स्वकीयां नाभिम् अध्यात्मश्रुति-मात्मख्यातिनामिकामिव स्फुटं स्पष्टतया एति प्राप्नोति । कीदृशीं ताम् ? प्रसिद्धां, गभीरं गर्तरूपं, पक्षे गूढस्वरूपं चरितं यस्यास्तां द्राक् शीघ्रमेव पुनरनङ्गस्य कामस्य यत्सुखं, यद्वा अनङ्गमङ्गातीतं यत्सुखं तस्य सारस्य उत्तमांशस्य विधात्रीमिति विधानकर्त्रीमिति विक् ॥ ५१ ॥

भात्यसावुदिततारकवृत्ताङ्केन　किञ्च　कलितोचितसत्ता ।
हारयष्टिरपि सद्गलनाले ज्योतिषां श्रुतिरिवाद्य सुकाले ॥ ५२ ॥

भातीति । किञ्चासौ देव्याः सद्गलनाले कण्ठकन्दले या हारयष्टिर्भाति साऽद्य काले-

---

अर्थ : विचारकर देखा जाय तो उस बुद्धिदेवीका गला वाद्य, गीत और नृत्य इन तीनोंके सारको उन-उनके शास्त्रोंसे सारभाग लेकर बनाया गया था। अन्यथा वहाँ तीन रेखाएँ क्योंकर बनायी गयीं ॥ ५० ॥

अन्वय : अतिसुन्दरगात्री द्व्यणुकमञ्जुलमध्या द्रागनङ्गसुखसारविधात्रीं तां गभीरचरितां स्फुटम् अध्यात्मश्रुतिं नाभिम् एति ।

अर्थ : द्व्यणुकके समान अत्यन्त सूक्ष्म मध्यदेशवाली अतिसुन्दरशरीरा उस देवीकी नाभि स्पष्ट ही अध्यात्मश्रुतिसे बनी थी, जो अत्यन्त गंभीर और अनंगसुखका सार देनेवाली थी। अनंगसुखका अर्थ कामवासनाजन्य सुख एवं शरीरातीत (मोक्ष) सुख होता है, जो आत्मख्याति नामक अध्यात्मश्रुति पक्षमें लगता है ॥ ५१ ॥

अन्वय : किञ्च अद्य सुकाले अङ्केन सद्गलनाले कलितोचितसत्ता उदिततारक-वृत्ता असौ हारयष्टिः अपि ज्योतिषां श्रुतिः इव भाति ।

ऽस्मिन् समये ज्योतिषां रवि-चन्द्रादीनां श्रुतिरिवास्ति खलु, यत्लोऽङ्केन लक्षणेन कलिता सम्पादिता उचिता सत्ता प्रशंसनीयता नक्षत्ररूपता वा यया सा। किञ्च उचितं प्रतिपादित-मुख्यमासस्य तारकनाममध्यमणेः, उत तारकाणामश्विन्यादीनां वृत्तवृत्तान्तं यत्र सेति ॥५२॥

साऽवदन्नृप सुमङ्गलवेलाऽसौ शुचस्तु भवतादवहेला ।
ईदृशामिह महीमहितानां वृत्तमङ्ग विवृणोमि हितानाम् ॥ ५३ ॥

साऽवददिति। सा पूर्वोक्तवर्णना बुद्धिदेवीनामा अवदत् हे नृप, असौ मङ्गलस्यानन्दस्य वेला वर्तते। अत एवाधुना शुचः शोकस्य अवहेला तिरस्कारो भवतात्। अङ्ग, इह प्रसङ्गे हितानामभीष्टरूपाणामीदृशां लोकोत्तरगुणवतां मह्यां पृथिव्यां महितानां पूजितानां राज्ञां वृत्तमहं विवृणोमि, एषां परिचयं ददामीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

त्वत्सहोदरनिदेशविधात्री तत्पुनर्भवदनुग्रहपात्री ।
एकया व्यवहृतो यदि मात्रा भिद्यते नृप न जातु विधात्रा ॥ ५४ ॥

त्वत्सहोदरेति। हे नृप, काशिराज, अहं त्वत्सहोदरस्य भ्रातुश्चित्राङ्गदस्य यो निदेश आदेशस्तस्य विधात्री परिचारयित्र्यस्मि। तत्तस्मात् कारणाद् भवतां भूपतीनामनुग्रहस्य कृपाप्रसादस्य पात्री भविष्याम्येव, यतो यद्येकया मात्रा जनितत्वेन व्यवहृतस्तेन सार्धं तदा विधात्रा जगद्रचयित्राऽपि जातु मनागपि न भिद्यते भिन्नरूपेण ज्ञायते ॥ ५४ ॥

अर्थ : इस शोभन समयमें उस देवीके गलेमें सुशोभित होनेवाली और मध्यमें तारकनामक मुख्यमणिसे युक्त हार-यष्टि (मोतीका हार) ज्योतिष यानी रवि, चन्द्र आदिकी श्रुतिके समान प्रतीत हो रही थी ॥ ५२ ॥

अन्वय : सा अवदत् नृप ! असौ सुमङ्गलवेला, (अतः) शुचः तु अवहेला भवतात्। अङ्ग इह ईदृशां महीमहितानां हितानां वृत्तम् अहं विवृणोमि।

अर्थ : इस प्रकार पूर्वोक्त गुणोंवाली बुद्धिदेवीने राजा अकम्पनसे कहा : 'राजन् ! यह तो बड़ी ही मांगलिक बेला है, अतः अब चिन्ता त्याग दो। अङ्ग ! पृथ्वीपर आदरणीय और अभीष्टरूप इन राजाओंके चरित्रका मैं वर्णन-कर बताती हूँ ॥ ५३ ॥

अन्वय : हे नृप ! अहं त्वत्सहोदरनिदेशविधात्री, तत् पुनः भवदनुग्रहपात्री। यदि एकया मात्रा व्यवहृतः, तदा विधात्रा जातु न भिद्यते।

श्रीपयोधरभराकुलितायाः संगिरा भुवनसंविदितायाः ।
काशिकानृपतिचित्तकलापी सम्मदेन सहसा समवापि ॥ ५५ ॥

श्रीपयोधरेति । काशिकाया नृपतेः श्रीअकम्पनमहाराजस्य चित्तमेव कलापी मयूरः श्रीपयोधरयोः कुचयोर्भरेण, पक्षे घनसमूहेन, आकुलिताया व्याप्ताया एवं भुवनेन समस्त-जगता, पक्षे जलेन संविदिताया अनुभूतायाः संगिरावचनेन गर्जनेन वा हेतुरूपया सहसैव सम्मदेन हर्षेण समवापि ॥ ५५ ॥

मोदनोदयमयः प्रतिभादैः प्रस्तुतं स्तुतमनिन्दितपादैः ।
काशिभूमिपतिरारभमाणः सोऽभवत् सपदि सत्पथशाणः ॥ ५६ ॥

मोदनोदयेति । सत्पथस्य शाणवत् प्रसादनकरः, किञ्च मोदनस्य हर्षस्योदयरूपो मोदनोदयमयः काशिभूमिपतिः सपदि प्रस्तुतं देवतया तया बुद्धयाऽहं भूपतीन् विवृणोमी-त्यादिरूपं तच्चानिन्दितौ प्रशस्तौ पादौ येषां तैरनिन्दितपादैः प्रतिभां ददतीति प्रतिभादै-र्बुद्धिमद्भिः पुरुषैः स्तुतं समर्थितं तदारभमाणोऽभवत् ॥ ५६ ॥

अर्थ : 'राजन् ! मैं आपके ज्येष्ठभ्राता चित्रांगद महाराजकी आज्ञाकारिणी हूँ, अतः आपके अनुग्रहकी भी अधिकारिणी होऊँगी । क्योंकि एक उदरसे उत्पन्न लोगोंमें विधाता कोई विशेष अन्तर नहीं मानता' ॥ ५४ ॥

अन्वय : श्रीपयोधरभराकुलितायाः भुवनसंविदितायाः संगिरा काशिकानृपति-चित्तकलापी सहसा सम्मदेन समवापि ।

अर्थ : शोभायुक्त पयोधरभर (कुचभार) से व्याप्त और भुवनविख्यात उस बुद्धिदेवीकी यह वाणी सुनकर महाराज अकम्पनका चित्त-मयूर एकाएक प्रसन्न हो गया, नाच उठा ।

विशेष : कविने यहाँ महाराज अकम्पनके चित्तपर मयूरका रूपण किया है । कारण, मयूर भी जलधर (मेघ) से व्याप्त जलदानार्थ अनुभूत घन-गर्जना सुन सहसा आनन्द-विभोर हो उठता है ॥ ५५ ॥

अन्वय : सत्पथशाणः मोदनोदयमयः काशिभूमिपतिः अनिन्दितपादैः प्रतिभादैः स्तुतं सपदि प्रस्तुतम् आरभमाणः अभवत् ।

अर्थ : शाणकी तरह सत्पथको चमकानेवाले, प्रचुर हर्षसम्पन्न काशीपति महाराज अकम्पनने प्रशस्तचरण बुद्धिमान् पुरुषोंद्वारा स्तुत उस प्रस्तुत कार्य

दुन्दुभिध्वनिमसावनुतेने व्योमसर्पिणमिमं खलु मेने ।
मोदनोदनिधिगर्जनमेष किन्तु मानवमहापरिवेषः ॥ ५७ ॥

दुन्दुभिरिति । दुन्दुभिर्वादित्रविशेषः, सोऽसौ ध्वनिमनुतेने, व्योमसर्पिणमाकाश-व्यापिनं ध्वानं चकार खलु निश्चयेन । यमिमं ध्वनिमेष मानवानां महापरिवेशो विशाल-समूहो मोदनस्योदनिधिः हर्षसमुद्रस्तस्य गर्जनं मेने ॥ ५७ ॥

निर्जगाम नृपनाथतनूजा स्त्री न यामनुकरोति तु भूजा ।
पार्श्वतः परिमितालिविधाना देवतेव हि विमानसुयाना ॥ ५८ ॥

निर्जगामेति । यां तु पुनर्भूजा भुवि जायमाना काचिदपि स्त्री नानुकरोति, यादृशी न भवति, सा नृपनाथस्य अकम्पनस्य तनूजा सुलोचनाऽस्माकं चरितनायिका निर्जगाम स्वसद्मतो बहिर्निर्गता, या देवतेव सुरीव विमानमेव सुयानं गमनसाधनं यस्याः सा, पार्श्वतः परिमितानामल्पानां पक्षवाणामालीनां सखीनां विधानं यस्याः सा चैवम्भूता भवन्ती निर्जगामेति पूर्वेणान्वयः ॥ ५८ ॥

अर्थात् विद्यारूपी बुद्धिदेवीसे आगत राजकुमारोंका गुणवर्णन प्रारंभ करवा दिया ॥ ५६ ॥

अन्वय : असौ दुन्दुभिध्वनिं व्योमसर्पिणीम् अनुतेने । किन्तु इमं एषः मानव-महापरिवेशः मोदनोदनिधिगर्जनं मेने खलु ।

अर्थ : उस समय राजाने नौबतकी आवाज समस्त आकाशमें फैलवा गयी । किन्तु उसे वहाँ उपस्थित विशाल मानवसमूहने निश्चय ही आनन्द-समुद्रकी गर्जना समझ ली ॥ ५७ ॥

अन्वय : यां हि भूजा स्त्री न अनुकरोति, सा नृपनाथतनूजा पार्श्वतः परिमितालि-विधाना विमानसुयाना देवता इव निर्जगाम ।

अर्थ : निश्चय ही भूमण्डलकी कोई स्त्री जिसका अनुसरण नहीं कर सकती, वह महाराज अकम्पनकी पुत्री सुलोचना उस दुंदुभिको सुनकर किसी देवाकी तरह कुछ परिमित सखियोंको साथ ले विमानपर बैठ अपने भवनसे चल पड़ी ॥ ५८ ॥

याऽपि काचिदुपमा सुदृशः स्यात्सैव नित्यमपकारपराऽस्याः ।
सैव वा कविवरैरुदिता या सङ्गताऽस्ति न परा मुदितायाः ॥ ५९ ॥

यापीति । सुदृशोऽस्याः सुलोचनाया विषये यापि काचिदुपमा कविवरैरुदिता, सैव नित्यमपकारपरा ह्यपकर्त्री बभूव, न जातुचिदुपकर्त्रीति भावः । यद्वा, सैवोपमैव नाम मपकारे परा परायणा साऽपकारपरा सोमा नाम पार्वती बभूव । अथवा सैव पुनरुदितो-कारवर्जिता मा नाम लक्ष्मीरिति मुदितायाः प्रसन्नरूपाया एतस्याः परा काऽप्युपमा सङ्गता नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

कौतुकाशुगसुलास्यविधाने रङ्गभूमिरियमित्यनुमाने ।
सूत्रधार इह सौविद एव स्यान्महेन्द्रयुतदत्तसमाह्वः ॥ ६० ॥

कौतुकेति । कौतुकस्य कुसुमस्य आशुगो बाणो यस्य तस्य मकरध्वजस्य यच्छोभनं लास्यं नृत्यं तस्य विधाने, इयं सुलोचना रङ्गभूमिरित्येवमनुमानेऽसौ महेन्द्रयुतदत्तसमाह्वो महेन्द्रदत्तनामधारकः सौविदः कञ्चुक्येवेह सूत्रधारः स्यात् ॥ ६० ॥

अन्वय : सुदृशः अस्याः या काचित् अपि परा उपमा कविवरैः उदिता, सा नित्यम् अपकारपरा एव (बभूव) वा सा एव उदिता उपमा मुदितायाः (अस्याः का अपि) परा (उपमा) सङ्गता न (अस्ति) ।

अर्थ : शोभन नेत्रोंवाली इस राजकुमारी सुलोचनाके लिए महाकवियों ने जो भी कोई उपमा दी, वह अपकार करनेवाली ही हुई । कारण, उससे उसका कोई उत्कर्ष नहीं हुआ, क्योंकि उससे बढ़कर कोई उपमान ही नहीं । अथवा वह उपमा अ + पकारपरा (पकाररहित—उमा = पार्वतीरूप) ही हुई । अथवा वही उपमा पकाररहित होनेके साथ उकारके भी 'इत्' (लोप) से सहित (पकारके साथ उकारसे भी रहित यानी केवल 'मा' = लक्ष्मीरूप) हुई । ये ही दो देवियाँ इसकी उपमान बन सकती हैं । प्रसन्नरूपा इस राजकुमारी-के लिए इनसे बढ़कर कोई भी उपमा संगत नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ५९ ॥

अन्वय : इयं कौतुकाशुगसुलास्यविधाने रङ्गभूमिः इति अनुमाने इह महेन्द्रयुतदत्त-समाह्वः सौविद एव सूत्रधारः ।

अर्थ : यह सुलोचना पुष्पसायक कामदेवके शोभन नृत्यकी रंगभूमि, रंगमंच है, इसप्रकार प्रकार अनुमान लगानेपर वहाँ सूत्रधार महेन्द्रदत्त नामक कंचुकी ही कहा जायगा ॥ ६० ॥

भूषणेष्वरुणनीलसितानामश्मनां द्विगुणयत्यभियाना ।
स्वाङ्गसङ्क्रमितभाभिररेपान् कुङ्कुमैणमदचन्दनलेपान् ॥ ६१ ॥

भूषणेष्विति । अरुणानि च नीलानि च सितानि च तानि रक्त-कृष्ण-श्वेतानि यानि अश्मानि रत्नानि तेषां भूषणेषु नानामणिनिर्मितेषु कङ्कण-केयूर-नूपुरादिषु, अङ्गेषु सङ्क्रमिताभिरेव भाभिः प्रभाभिः कुङ्कुमस्य केशरस्य एणमदस्य कस्तूरिकाख्यस्य चन्दनस्य च अरेपाननिन्दितांल्लेपान् सा पुनरभियाना गमनाभिमुखी च सती तान् द्विगुणयति स्म ॥ ६१ ॥

अन्दुभिस्तु पुनरंशुकराजैः सान्द्ररत्नलसदंशुसमाजैः ।
नावकाशममुकान्नृकलापः क्वापि सम्यगिति पातुमवाप ॥ ६२ ॥

अन्दुभिरिति । सान्द्राणि घनीभूतानि च तानि रत्नानि तेषु लसन्तोऽभिचमत्कुर्वन्तो येंऽशवः किरणास्तेषां समाजो यत्र तैरंशुकराजैः वस्त्रवरैस्तु पुनरन्दुभिर्भूषणैरपि समलङ्कृताममुकां सुलोचनां सम्यगिति पातुं यथेष्टमवलोकयितुं नृणां कलापः समूहोऽवकाशं नावाप ॥ ६२ ॥

पूर्वमत्र जिनपुङ्गवपूजामाचचार नृपनाथतनूजा ।
यत्र भूत्रयपतेरथ भक्तिः सैव सम्भवति सत्कृतपक्तिः ॥ ६३ ॥

अन्वय : अभियाना सा भूषणेषु अरुणनीलसितानाम् अश्मनाम् स्वाङ्गसङ्क्रमितभाभिः अरेपान् कुङ्कुमैणमदचन्दनलेपान् द्विगुणयति स्म ।

अर्थ : उसके शरीरमें प्रशंसा-योग्य कस्तूरी, चंदनादिका विलेपन लगा था। उस विलेपनकी शोभा, सुलोचनाके शरीरके आभूषणोंमें जटित लाल, नीले और सफेद रत्नोंकी कांतिसे दुगुनी हो गयी ॥ ६१ ॥

अन्वय : नृकलापः सान्द्ररत्नलसदंशुसमाजैः अन्दुभिः अमुकां सम्यग् इति पातुम् अवकाशं न अवाप ।

अर्थ : जिनमें खूब रत्न जड़े हुए हैं, ऐसे आभूषण और वस्त्रोंद्वारा ढँकी उस सुलोचनाको कोई भी मानव-समाज अच्छी तरह देखनेका अवकाश नहीं पा रहा था ॥ ६२ ॥

अन्वय : अथ नृपनाथतनूजा पूर्वं जिनपुङ्गवपूजाम् आचचार । अत्र भूत्रयपतेः भक्तिः, सा एव सत्कृतपक्तिः सम्भवति ।

पूर्वेति । सा नृपनाथतनूजा, अथात्र स्वयंवरारम्भे जिनेषु सम्यग्दृष्टिप्रभृतिषु यः पुङ्गवः तस्य या पूजाऽऽराधना तामाचचार तावद्यतो यत्र भूत्रयपतेः जिनेन्द्रस्य भक्तिर्भवति सैव सत्कृतस्य पुण्यस्य पक्तिः परिपाको भवति ॥ ६३ ॥

कौतुकानुकलितालिकलापा - ऽऽमोदपूरितधरामृदुरूपा ।
तत्स्वयंवरवनं निजगामासौ वसन्तगणनास्वभिरामा ॥ ६४ ॥

कौतुकेति । कौतुकेन विनोदेन, यद्वा कुसुमेन सार्धमनुकलितः सम्पादित आलीनां कलापः सखीनां समूहः । यद्वा अलीनां भ्रमराणां समूहो यया साऽऽमोदेन हर्षभावेन पूरितं, पक्षे सुगन्धेन व्याप्तं धराया मृदुरूपं यया सा, वसन्तस्य गणनास्वभिरामा मनोहरा सती तत्स्वयंवरमेव वनं निजगाम ॥ ६४ ॥

पुष्परूपधनुषा स्मर एनं जेतुमर्हतु जयं गुणसेनम् ।
शक्रचापममुकाय ददाना स्वान्दुरत्नरुचिजं मृदुयाना ॥ ६५ ॥

पुष्पेति । एनं गुणानां धैर्य-सौन्दर्यादीनाम् यद्वा मन्त्रि-सामन्तादीनां च सेना समूहो यत्र तं जयराजकुमारं स्मरः कामदेव पुष्परूपेण धनुषा जेतुमर्हतु समर्थोऽस्तु, इत्येवं

अर्थ : यहाँ उस सुलोचनाने पहले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा की। क्योंकि जहाँ भी त्रिभुवनपति भगवान्‌की भक्ति हुआ करती है, वहीं पूर्णरूपसे पुण्यका परिपाक होता है ॥ ६३ ॥

अन्वय : असौ वसन्तगणनासु अभिरामा कौतुकानुकलितालिकलापा आमोदपूरित-धरामृदुरूपा सती तत् स्वयंवरवनं निजगाम ।

अर्थ : तदनन्तर वसन्तकी समानता रखनेवाली वह सुलोचना उस स्वयं-वरमण्डपरूपी वनमें पहुँची। क्योंकि वसन्तऋतु फूलोंपर मँडरानेवाले भौरोंसे युक्त होती है, तो सुलोचना भी कौतुकभरी अपनी सखियोंको साथ लिये थी। इसी तरह वसन्तऋतु फूलोंको परागसे धरातलको पूरित कर मृदुरूप बना देती है, तो सुलोचना भी सबको प्रसन्न करनेवाली थी ॥ ६४ ॥

अन्वय : मृदुयाना एनं गुणसेनं जयं स्मरः पुष्परूपधनुषा जेतुम् अर्हतु इति अमुकाय स्वान्दुरत्नरुचिजं शक्रचापं ददाना (शुशुभे) ।

अर्थ : हंसगति उस सुलोचनाने सोचा कि गुणोंके भण्डार और वीरसेना-संपन्न जयकुमारको कामदेव अपने फूलोंके धनुषसे क्या जीत सकेगा ? यही सोच-

मनसिजस्येव खलु मृदुयानं यस्याः सा सुलोचनाऽमुकाय पुष्पधन्वने स्वाभूषां निजा-भूषणानां यानि रत्नानि तेषां रुचिभिर्जातं शक्रचापमिन्द्रधनुर्ददाना शुशुभे ॥ ६५ ॥

नित्यमेतदवलोकनकर्त्री दृष्टिरस्तु नविकारबिभर्त्री ।
भूभृतामिति स चामरचारः पार्श्वयोरिह बभौ स विहारः ॥ ६६ ॥

नित्यमिति । एतस्या अवलोकनकर्त्री परिदर्शिका भूभृतां राज्ञां दृष्टिर्विकारस्य बिभर्त्री धर्त्री नास्तु न भवेत्तावदित्येवं नित्यं सर्वदैवेह पार्श्वयोरितस्ततो विहारेण परि-चारणेन सविहारश्चामराणां चमरीबालगुच्छानां चारः प्रचारो बभौ शुशुभे । उत्प्रेक्षा-लङ्कारः ॥ ६६ ॥

दृष्टिराशु पतिता विमलायां नव्यभव्यरजनीशकलायाम् ।
कौमुदादरपदातिशयायां प्रेक्षिणी ननु नृणामुदितायाम् ॥ ६७ ॥

दृष्टिरिति । ननु साम्प्रतमुदितायां कौ पृथिव्यां मुदादरपदस्य हर्षसम्मानस्थानस्य, अथवा कौमुदस्य कुमुदसमूहस्य य आदरः प्रीतिभावस्तस्य पदं तस्यातिशयः प्रभावो यत्र तस्यां नव्यो नवीनोऽस्त एव भव्यो मनोहरो योऽसौ रजनीशश्चन्द्रस्तस्य कलायां विमलायां प्रसन्नायां प्रेक्षिणी द्रष्ट्री नृणां दृष्टिस्तत्रागतानामाशु शीघ्रमेव पतिताऽपतत् ॥ ६७ ॥

कर मानो वह अपने आभूषणोंमें लगे नाना प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे बना इन्द्रधनुष अर्पण करती हुई-सी शोभित हो रही थी ॥ ६५ ॥

अन्वय : नित्यम् एतदवलोकनकर्त्री भूभृतां दृष्टिः विकारबिभर्त्री न अस्तु इति इह पार्श्वयोः सविहारः सः चामरचारः बभौ ।

अर्थ : निरंतर एकटक सुलोचनाको देखनेवाली राजा लोगोंकी दृष्टि इसमें कहीं कुछ विकार (बिगाड़) न कर दे, इसे नजर न लग जाय, इसीलिए मानो यहाँ उस सुलोचनाके दोनों तरफ बार-बार चँवर ढुल रहे थे ॥ ६६ ॥

अन्वय : ननु नृणां प्रेक्षिणी दृष्टिः कौमुदादरपदातिशयायां नव्यभव्यरजनीश-कलायां विमलायाम् उदितायां तस्याम् आशु पतिता ।

अर्थ : उदयको प्राप्त नवीन चंद्रमाकी निर्मल कलाके समान सुंदर और पृथ्वीभर आनन्द पैदा करनेवाली अथवा कुमुद-समूहका अतिआदर करने-वाली प्रसन्नचित्ता उस राजकुमारी सुलोचनापर शीघ्र ही लोगोंकी दृष्टि बिछ गयी ॥ ६७ ॥

नो हृदैव न दृशैव विशोकैः किन्तु पूर्णवपुषैव हि लोकैः ।
मज्जितं सुदृशि तत्र मदेन भूषणानुगतबिम्बपदेन ॥ ६८ ॥

नो हृदैवेति । विशोकैः शोकवर्जितैः प्रसन्नैरित्यर्थः । लोकैर्नो हृदैव न केवलं हृदयेनैव न च दृशैव चक्षुषैव वा तत्र सुदृशि सुलोचनायां मज्जितं बुडितं किन्तु तस्या भूषणानुगतानां बिम्बानां पदेन च्छलेन पूर्णेन वपुषैव हि मदेन हर्षलक्षणेन निरवशेषतया मज्जितमित्याशयः ॥ ६८ ॥

सन्निमेषकदृशा खलु पातुं रूपमम्बुजदृशो ननु जातु ।
जृम्भणच्छलितयाऽरमशक्तैराननं विवृतमित्यनुरक्तैः ॥ ६९ ॥

सन्निमेषेति । ननु तर्कणायाम् । अम्बुजदृशः कमललोचनायास्तस्या रूपं सन्तो निमेषा यस्यां सा तया सन्निमेषकदृशा जातु मनागपि किं पुनः सर्वमित्यर्थः । पातुं द्रष्टुमशक्तैरसमर्थैः अनुरक्तैरनुरागिभिः मनुजैः जृम्भणस्योद्भासिकायाश्छलितया मिषवत्तया पुनराननं मुखमरं शीघ्रमेव विवृतमुद्घाटितं रूपावलोकनसकामैस्तैः जृम्भितमित्यर्थः ॥६९॥

प्रौढतामुपगतानि विभूनां मानसानि खलु यानि च यूनाम् ।
ताम्रचूडपरिवाद्यकरावैर्जागृतिं स्म प्रतियान्त्यनुभावैः ॥ ७० ॥

अन्वय : तत्र विशोकैः लोकैः सुदृशि नो हृदा एव, न दृशा एव, किन्तु भूषणानुगतबिम्बपदेन मदेन पूर्णवपुषा एव हि मज्जितम् ।

अर्थ : वहाँ प्रसन्नचित्त लोग न केवल मन या दृष्टिसे ही, किन्तु सुलोचनाके आभूषणोंमें प्रतिफलित होनेवाले अपने-अपने प्रतिबिम्बोंके व्याजसे सम्पूर्ण शरीरसे ही सुलोचनामें डूब गये ॥ ६८ ॥

अन्वय : ननु अम्बुजदृशः रूपं सन्निमेषकदृशा जातु खलु पातुम् अशक्तैः अनुरक्तैः इति जृम्भणच्छलितया अरम् आननं विवृतम् ।

अर्थ : क्या सुलोचनासे अनुराग रखनेवाले लोगोंने निमेषवाली अपनी आँखोंद्वारा उसके रूपको पीनेमें स्वयंको सर्वथा असमर्थ पाकर जंभाईके छलसे अपना-अपना मुँह शीघ्र खोल नहीं दिया ? ॥ ६९ ॥

अन्वय : यूनां विभूनां यानि च खलु प्रौढताम् उपगतानि मानसानि, तानि अनुभावैः ताम्रचूडपरिवाद्यकरावैः जागृतिं प्रतियान्ति स्म ।

प्रौढतामिति । यानि खलु यूनां तरुणानां विभूनां राज्ञां प्रौढतामुपगतानि प्राप्तानि मानसानि तानि ताम्रचूड एव परिवादको वाद्यवादनशीलस्तस्य रावैः शब्दैरेव अनुभावैर्भाविसूचकैस्तैः जागृतिमुत्थानं सावधानतां वा यान्ति स्म। सूर्योदयात् पूर्वमेव उत्थानशीलत्वात् प्रौढानामित्यर्थः ॥ ७० ॥

वीक्ष्य तामथ विभाकरमूर्तिं संययुस्तु पुनरुत्थितिपूर्तिम् ।
लोमकानि सहसा सकलानि बाल्यभाञ्जि अपि सम्प्रति तानि ॥ ७१ ॥

वीक्ष्येति । अथ ताम्रचूडवाद्यकशब्दानन्तरं तां विभाया लोकोत्तरप्रभाया आकरो मूर्तिर्यस्यास्ताम् । यद्वा विभाकरस्य सूर्यस्य मूर्ति वीक्ष्य तु पुनः सम्प्रति बाल्यभाञ्जि केशरूपाणि । यद्वा शैशवयुक्तानि सकलानि लोमकानि अपि तानि तानि सहसैव उत्थितिपूर्ति संययुः । ये बालका भवन्ति ते सूर्यस्योदये सत्येव प्रबुद्धा भवन्तीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

स्वान्तपात्रिणि यतोऽत्र वरतुं श्रीदृशस्तनुलतामभिसर्तुम् ।
जृम्भिताननवतामिह यासौ प्रेरिकैव चटुकी समियासौ ॥ ७२ ॥

स्वान्तेति । यतो यस्मात्कारणात् जृम्भितञ्च तदाननं जृम्भिताननं येषां ते तेषां लोकानां या चटुकी अभूत्, सात्र श्रीदृशः सुलोचनाया वरऋतुः कान्तिः समयस्थितिर्वा यस्यास्तां तनुलतां गात्रवल्लरीमभिसर्तुं यदृच्छया गन्तुं यत्नवति स्वान्तं चित्तमेव पात्री तस्मिन् विषये प्रेरिका प्रेरणाकृदेव बभूव ॥ ७२ ॥

अर्थ : उस समय उन नवयुवक राजकुमारोंके मन तो प्रौढ हो गये थे। अतएव वे स्वाभाविक रूपसे होनेवाले ताम्रचूड (मुर्गे) बजनियेकी ध्वनिसे जाग उठे, जैसे कि युवा लोग स्वभावतः कुक्कुटकी आवाज सुनकर ही जाग उठते हैं ॥ ७० ॥

अन्वय : अथ पुनः विभाकरमूर्ति तां वीक्ष्य सकलानि लोमकानि (यानि) बाल्यभाञ्जि, तानि अपि सम्प्रति सहसा उत्थिति पूर्तिसंययुः ।

अर्थ : किन्तु उन लोगोंके बालरूप बालों (लोमों) ने सूर्यमूर्तिकी प्रभा-सी प्रभावाली सुलोचनाको देखा, तो वे जाग उठे। अर्थात् सुलोचनाको देखते ही सब राजकुमार प्रसन्न होकर रोमांचित हो गये ॥ ७१ ॥

अन्वय : यतः अत्र वरतुं श्रीदृशस्तनुलताम् अनुसर्तुं स्वान्तपात्रिणि समियासौ इह या असौ जृम्भिताननवतां चटुकी, (सा) प्रेरिका एव ।

दृक्संक्रमिताप्सरस्सु यूनामनिमेषतामवापादूना ।
आलिषु सुधाधुनीं पुनरेनां प्राप्य सफरतामितेत्यनेना ॥ ७३ ॥

दृक्संक्रमितेति । यूनां तरुणानां या दृक् साऽऽलिषु तस्याः सहचरीषु संक्रमिता सती तदवलोकनसमय एवाप्सरस्सु तासु देवगणिकासदृशीषु, अनिमेषतां निमेषाभावतामवाप, अदूना न्यूना सती । यद्वा, अप्सरस्सु जलाशयेषु मत्स्यरूपतामवाप । सेव पुनरनेना निष्पापा एनां सुधाधुनीममृतनदीं प्राप्य सफरता फलवत्तां, यद्वा पृथुरोमतां बृहन्मीनभाव-मवापेति ॥ ७३ ॥

युवमनसीति वितर्कविधात्री सुकृतमहामहिमोदयपात्री ।
सदसमवाप मनोहरगात्री परिणतिमेति यथा खलु धात्री ॥ ७४ ॥

युवमनसीति । यूनां तरुणानां मनसि हृदीत्येवं वक्ष्यमाणरीत्या वितर्कस्य विधात्री सुकृतस्य पुण्यकर्मणो महामहिम्न उदयस्य पात्रीत्येवंरीत्या मनोहरगात्री यथा खलु धर-णीयं धराऽपि परिणतिमेति, धराकृतां त्यक्त्वा दिव्यरूपतामाप्नोति सा सुलोचना सदसं सभामवापेति ॥ ७४ ॥

अर्थ : सुलोचनाकी तनुलता वसन्तऋतुके समान थी, जिसका भोग करनेके लिए लोगोंका मनरूपी पक्षी शीघ्रतासे जाना चाहता था । उसके लिए जँभाई लेनेवाले उन राजाओंद्वारा बजायी चुटकी ही प्रेरक हो गयी ॥ ७२ ॥

अन्वय : यूनाम् अदूना दृक् आलिषु अप्सरस्सु संक्रमिता सती अनिमेषताम् अवाप । पुनः अनेना सा एनां सुधाधुनीं प्राप्य सफरतां इता इति ।

अर्थ : इन युवकोंकी उत्कण्ठाभरी दृष्टि अप्सराओं-सी (सुलोचनाकी) सखियोंपर गयी तो उसी समय निर्निमेष हो गयी । इसके बाद जब उन युवकोंकी आँखोंने अमृतनदी-सी सुलोचनाको देखा, तो वह सफलता ही पा गयी ।

विशेष : मछलीका एक नाम 'अनिमेषक' भी है और 'सफर' है बड़ी मछली । सो 'अप्सरस्सु' अर्थात् जलके तालाबोंमें जो दृष्टि अनिमेषक बनी, वही अमृतकी नदीमें पहुँचकर 'स(श)फर' यानी बड़ी मछलीके रूपमें परिणत हो गयी, यह दूसरा भी अर्थ है ॥ ७३ ॥

अन्वय : यथा खलु धात्री परिणतिम् एति, सा मनोहरगात्री सुकृतमहामहिमोदयपात्री युवमनसि इति वितर्क विधात्री सती सदसम् अवाप ।

विजित्य बाल्यं वयसात्र विग्रहे महेशसाम्राज्यमहोत्सवे च हे ।
कुचच्छलेनोदयि मोदकद्वयं स्मराय दत्तं रतये पुनः स्वयम् ॥ ७५ ॥

विजित्येति । अत्र विग्रहे शरीर एव युद्धस्थले, हे महेश, परमेश्वर वयसा यौवनेन बाल्यं शैशवं विजित्य पराभूय पुनः साम्राज्यमहोत्सवे राज्याभिषेकसमये स्वयमात्मवशीकृतेन तेन स्मरस्य रतये कामाय तत्पत्न्यै च किल कुचयोश्छलेन व्याजेन, उदयोऽस्यास्तीत्युदयि तन्मोदकयोः लड्डुकयोः द्वयं दत्तं समर्पितम् । अन्यैरपि महोत्सवसमये मोदका वितीर्यन्त इत्याचारः ॥ ७५ ॥

जितात्करत्वेन बिसात्तदग्रजं निजं भुजाभ्यां कलितं विभाव्यते ।
श्रियो निवासोऽयमहो कुतोऽन्यथा कुतश्च लोकैः कर एष गीयते ॥ ७६ ॥

जिताविति । भुजाभ्यां बाहुभ्यां जितात् कोमलत्व-प्रलम्बत्वयोर्विषये पराजिताद् बिसान्नाम कमलकोषात् तदग्रजं कमलमेव करत्वे उपहाररूपेण कलितं गृहीतं निजमग्रजं विभाव्यते खलु । अहो इत्याश्चर्यानन्वयोः । अन्यथा प्रागुक्तं नो चेत्तदायं पुनः श्रियो निवासः शोभाया निलयः, यद्वा दानसम्मानावसरे सम्पदुपकरणभूतः कुतः स्यात् । तथैव पुनः कर इत्येवं लोकैः कुतो गीयत इति भावः ॥ ७६ ॥

अर्थ : जिससे पृथ्वी भी सौभाग्यवती बन रही है, शोभनशरीरा और महामहिम सुकृतोदयकी पात्र वह राजनन्दिनी सुलोचना उन युवा लोगोंके मनमें वक्ष्यमाण वितर्क पैदा करती हुई स्वयंवरशालामें आ पहुँची ॥ ७४ ॥

अन्वय : अत्र विग्रहे बाल्यं विजित्य वयसा अमहेशसाम्राज्यमहोत्सवे पुनः स्वयं स्मराय रतये च कुचच्छलेन उदयि मोदकद्वयं दत्तम् ।

अर्थ : सुलोचनाके शरीररूपी युद्धस्थलमें बालकपनको जीतकर यौवनने कामदेवके साम्राज्यका महोत्सव मनाया । उसमें उसने मानो कुचोंके व्याजसे स्वयं कामदेव और रतिरानीके लिए दो लड्डू ही अर्पण किये हों ॥ ७५ ॥

अन्वय : भुजाभ्यां जितात् बिसात् करत्वेन कलितं तदग्रजं करं विभाव्यते । अन्यथा (चेत्) अहो अयं श्रियः निवासः कुतः, च कुतः एषः लोकैः करः गीयते ।

अर्थ : लगता है कि सुलोचनाकी दोनों भुजाओंने बिस (कमलनाल) को जीतकर उससे करके रूपमें जो ग्रहण किया, वह था उसका अग्रज हाथ (कर-

अहो महोदन्वति यत्र सम्भवा भवावलिं संस्कुरुते रते रमा ।
रमासमासादितसंक्रमासकौ स कौ क्व भव्यो रसराजसागरः ॥ ७७ ॥

अहो इति । असकौ यत्र महोदन्वति महासागरे सम्भवा समुत्पन्ना रते सुरतसमये रमा मनोरमा समासादितः संक्रमः सम्यक् क्रमो यया साऽसौ रमा लक्ष्मीर्भवावलिं संस्कुरुते स्वस्य जन्म सफलं करोति, स भव्योऽतिमनोहरो रसराजस्य शृङ्गारस्य सागरः कौ पृथिव्यां क्व तावद्वर्तते ? ॥ ७७ ॥

निघर्षकुण्डी न च तुण्डिकेत्यरं स्मरो नरोऽसौ विजयैकतत्परः ।
न रोमराजिर्मुशलीति ते पपुस्तदेतदस्या मदमन्दिरं वपुः ॥ ७८ ॥

निघर्षेति । असौ स्मरो नाम नरः कामदेवो विजयैकतत्परो विजयमात्रतत्परोऽस्ति । यद्वा विजयायां भङ्गायामेकतत्परो वर्तते अरं शीघ्रमेव सः, तुण्डिकानाम नाभिश्च निघर्षणमेव निघर्षस्तस्य कुण्डी वर्तते न च तुण्डीति, न रोमराजिर्लोमपङ्क्तिः, किन्तु मुशलीत्येवं तदेतस्याः सुलोचनाया वपुः शरीरं मदस्य मन्दिरं स्थानमेव वर्तते, इत्येवंप्रकारेण ते सर्वे जनाः पपुरास्वादयामासुः ॥ ७८ ॥

कमल) । नहीं तो फिर क्योंकर वह श्रीका निवास बना और किस कारण वह लोगोंमें 'कर' कहलाया ? ॥ ७६ ॥

अन्वय : अहो असकौ यत्र महोदन्वति सम्भवा रते रमासमासादितसंक्रमा रमा भवावलिं संस्कुरुते, कौ सः भव्यः रसराजसागरः क्व ?

अर्थ : पृथ्वीपर कहाँ ऐसा मनोहर रसराज शृंगारका सागर है, जहाँ रतिमें मनोरमा रमा उत्पन्न हो अपना जन्म सफल कर रही है ? ॥ ७७ ॥

अन्वय : ते एतत् अस्याः वपुः मदमन्दिरं (यत्र) असौ स्मरः नरः विजयैकतत्परः तुण्डिका न निघर्षकुण्डी, इयं च रोमराजिः न मुशली इति अरं पपुः ।

अर्थ : वहाँ बैठे हुए वे लोग यह मानकर शीघ्र रस लेने लगे कि इस सुलोचनाका शरीर मदमंदिर (मदशाला) है, जहाँ भाँग घोटने-पीनेवाला और जगत्को जीतनेमें तत्पर नशेबाज तो कामदेव है । यह नाभि नहीं, उसीकी भाँग घोटनेकी कुंडी है और यह रोमावली है मूसली जिससे भाँग घोटी जाती है ॥ ७८ ॥

येनाप्यमुष्याश्चरणद्वयस्य यत्साम्यसौभाग्यमवाप्तमस्य ।
साम्राज्यमासाद्य सरोजराजेः पद्मः प्रसिद्धः खलु सत्समाजे ॥ ७९ ॥

येनेति । अमुष्याः सुलोचनायाश्चरणयोर्द्वयस्य यत्साम्यं साम्यभावस्तस्य सौभाग्यं येन कमलेनावाप्तं तत्सरोजराजेर्वारिजश्रेण्याः साम्राज्यमासाद्य लब्ध्वा सत्समाजे खलु 'पद्मः' पदोर्मा श्रीर्यस्य स पद्म इति व्युत्पत्त्या सिद्धोऽभूत् ॥ ७९ ॥

संगृह्य सारं जगतां तथात्राऽसौ निर्मितासीद्विधिना विधात्रा ।
इतीव क्लृप्ता ह्युदरेऽपि तेन तिस्रोऽपि रेखास्त्रिवलिच्छलेन ॥ ८० ॥

संगृह्येति । जगतां त्रयाणामपि सारं संगृह्य पुनर्विधात्रा जगत्स्रष्ट्रा ब्रह्मणाऽस्मिन् भूतले विधिनाऽसौ निर्मिताऽऽसीत्, इतीव खलु तेन तदुदरे त्रिवलिच्छलेन तिस्रो रेखा अपि क्लृप्ता रचिता आसन् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ८० ॥

जितापि रम्भा विधुजन्मदात्री कुतोऽथ सा चाघनसारपात्री ।
सुवृत्तभावादिबलेन चोरुयुगेन तन्व्याः सुकृता यतो रुक् ॥ ८१ ॥

जितापीति । यतस्तन्व्या अस्याः सुलोचनाया ऊरुयुगे जङ्घायुगले सुष्ठुकृता सुकृता सौन्दर्येण विहिता रुक् कान्तिरभूदिति शेषः । तेन हेतुना तेनोरुयुगेन सुवृत्तभावा वर्तु-

---

अन्वय : येन अपि अमुष्याः अस्य चरणद्वयस्य यत् साम्यसौभाग्यम् अवाप्तम्, सः सत्समाजे सरोजराजेः साम्राज्यं समासाद्य पद्मः खलु ।

अर्थ : जिस कमलके फूलने इसके दोनों चरणोंकी समानताका प्रसिद्ध-सौभाग्य पा लिया, वह संपूर्ण फूलोंके सत्समाजमें साम्राज्य प्राप्तकर सज्जनों-द्वारा 'पद्म' नामसे प्रसिद्ध हो गया ॥ ७९ ॥

अन्वय : तथा विधात्रा अत्र जगतां सारं संगृह्य विधिना असौ निर्मिता आसीत् इति इव तेन त्रिवलिच्छलेन उदरे अपि तिस्रः रेखाः अपि क्लृप्ताः ।

अर्थ : विधाताने तीनों लोकोंका सार ग्रहणकर इस सुलोचनाका निर्माण किया है । इसीलिए त्रिवलीके व्याजसे इसके उदरपर उसने तीन रेखाएँ कर दीं ॥ ८० ॥

अन्वय : यतः तन्व्याः सुकृता ऊरुयुगेन च सुवृत्तभावादिबलेन विधोः जन्मदात्री रम्भा अपि जिता, अथ च सा अघनसारपात्री कुतः ।

लत्वं साध्वाचारसम्पत्तिर्वा, आदिशब्देन लोमाभाव-स्निग्धत्व-मार्दवादिसङ्ग्रहः। तेन सुवृत्तभावबलेन हेतुना विधोः कर्पूरस्य जन्मदात्री रम्भा कदल्यपि जिता पराभूता। तथा च सा घनसारस्य पात्री न भवति। तत एवाघं पापमेव, न सारो यस्य स सारहीनः पदार्थस्तस्य पात्रीति तु कुतः स्यात् ? कदापि नेत्यर्थः। अतिसुन्दरी शुशुभे ॥ ८१ ॥

आस्येन चास्याश्च सुधाकरस्य स्मितांशुभासा तुलया धृतस्य ।
ऊनस्य नूनं भरणाय सन्ति लसन्त्यमूनि प्रतिमानवन्ति ॥ ८२ ॥

आस्येनेति। अस्या अकम्पनजायाः स्मितस्यांशूनां मन्दहास्यस्य रश्मीनां भाः शोभा यत्र तेनास्येन मुखेन सह तुलया धृतस्य सुधाकरस्य चन्द्रमसस्तत्र पुनरूनस्य प्रभायां हीनस्य तस्य भरणाय परिपूरणायैव किलामूनि वृक्पथगतानि सन्ति नक्षत्राणि तानि प्रतिमानवन्तीव भान्ति नूनम्। उत्प्रेक्षालङ्कृतिः ॥ ८२ ॥

जित्वा त्रिलोकीं त्रितयेन च स्यात्स्मरस्य बाणद्वितयं तदस्याः ।
दृग्वेशवाक् सम्प्रति यापि नासा तूणीव मान्या तिलपुष्पभासा ॥ ८३ ॥

अर्थः चूँकि इस छरहरी बदनवाली इस सुलोचनाके सुन्दर बनाये गये ऊरु-युगलने अपने सुवृत्तभावादि (गोल-गोलपन वा शोभन आचार) के बलपर कपूरको जन्म देनेवाली रम्भा (कदली) को भी जीत लिया, तब वह क्योंकर अघनसारपात्री न होगी ?

विशेष : यहाँ 'अघ' का अर्थ पाप है, वह जहाँ साररूपमें नहीं वह अघनसारपात्री, परम पवित्र और अतिसुन्दर थी। घनसार (कपूर) की माता कदलीको जीतनेपर उसका घनसारपात्री (स्वर्गीय रम्भा) न होना उचित ही है, यह भाव निकलता है ॥ ८१ ॥

अन्वय : अस्या स्मितांशुभासा आस्येन च सह सुधाकरस्य तुलया धृतस्य ऊनस्य नूनं भरणाय सन्ति अमूनि प्रतिमानवन्ति लसन्ति ।

अर्थ : स्मित-किरणोंसे भासित हो रहे इस राजकुमारी सुलोचनाके मुखके साथ तुलनाके लिए तुलापर रखा गया चन्द्रमा कम पड़ गया। अतः उसकी पूर्तिके लिए निमित्त दीख पड़नेवाले नक्षत्र नामके छोटे-मोटे बाट शोभित हो रहे हैं ॥ ८२ ॥

अन्वय : स्मरस्य त्रितयेन त्रिलोकीं जित्वा तत् बाणद्वितयं संप्रति अस्याः दृग्वेशवाक। स्यात्। या अपि तिलपुष्पभासा नासा (सा) तूणी इव (स्यात्)।

जित्वेति । स्मरस्य बाणपञ्चकमध्यात् त्रितयेन त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तां जित्वा पुनस्तदवशिष्टं बाणयोर्द्वितयं सम्प्रति, अस्याः सुलोचनाया दृशोर्नयनयोर्वेशः स्वरूप-मेव वा यस्य तत्तादृक् स्याद् भवेदिति सम्भावनायाम्। यापि चास्या नासा सा तिलपुष्पस्य भासा प्रभया हेतुभूतया मान्या माननीया तूणीव निषङ्गवत् स्यादिति ॥ ८३ ॥

क्षेत्रे पवित्रे सुदृशः समस्य भ्रूभङ्गदम्भादपि दर्पकस्य ।
चापार्थमारोपितशस्यनासा वंशस्फुरत्पत्रयुगस्वभासा ॥ ८४ ॥

क्षेत्र इति । सुदृशः सुलोचनायाः पवित्रे क्षेत्रे शरीर एवारोपणीयस्थले भ्रूभङ्ग-दम्भात् समस्य रूपान्तरतां नीत्वा दर्पकस्य कामस्य चापार्थं धनुष्काण्डार्थमारोपितस्य नासावंशस्य स्फुरद् यत्पत्रयुगं तत्स्वभासा निजस्वरूपेण भातीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

श्रीमूर्धजैः सार्धमधीरदृष्टयास्तुलैषिणः सा चमरी च सृष्टयाम् ।
बालस्वभावं चमरस्य तेन वदत्यहो पुच्छविलोलनेन ॥ ८५ ॥

श्रीमूर्धजैरिति । अधीरा चञ्चला दृष्टिर्यस्यास्तस्यां श्रीमूर्धजैः शोभमानैः केशैः सार्धं तुलैषिणस्तुल्यताभिलाषिणश्चमरस्य स्वकेशगुच्छस्य सा चमरीनाम गौस्तेन पुच्छस्य विलोलनेन परिचालनेन बालस्वभावं केशत्वमुत शिशुत्वं वदति, बालतया युक्तचेष्टत्वं कथयतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अर्थ : कामदेवने अपने तीन बाणोंसे तीनों लोकोंको जीत लिया । शेष दो बाण रह गये, वे ही इस समय सुलोचनाके दो नेत्र बने हैं और तिलपुष्प-सी इसकी जो नाक है, वही उसकी तरकस-सी है ॥ ८३ ॥

अन्वय : सुदृशः पवित्रे क्षेत्रे भ्रूभङ्गदम्भात् समस्य दर्पकस्य चापार्थम् आरोपित-शस्यनासा वंशस्फुरत्पत्रयुगस्वभासा ।

अर्थ : सुलोचनाके पवित्र शरीर-क्षेत्रमें अपना धनुष आरोपित करनेके लिए कामदेवने जो बाँस गाड़ा, वह तो सुलोचनाकी नाक है। दोनों भृकुटियोंके व्याजसे उसमें दो पत्ते निकलकर सुशोभित हो रहे हैं ॥ ८४ ॥

अन्वय : सृष्टयाम् अधीरदृष्टया श्रीमूर्धजैः सार्धं तुलैषिणः चमरस्य सा चमरी तेन पुच्छविलोलनेन बालस्वभावं वदति अहो ।

अर्थ : अहो, बड़े आश्चार्यकी बात है कि इस संसारमें चमरी गाय इस सुलोचनाके मस्तकके साथ बराबर करनेके लिए जो अपनी पूँछ बार-बार हिलाया करती है, वह उनका बालभाव (बचपन) ही प्रकट कर रही है ॥ ८५ ॥

का कोमलाङ्गी वलये धराया धाकोऽप्यपूर्वप्रतिमोऽमुकायाः ।
पाकोऽथवा पुण्यविधेरनन्यः नाकोऽनयात्रैव समस्तु धन्यः ॥ ८६ ॥

का कोमलाङ्गेति । अस्मिन् धराया वलये भण्डलेऽमुकायाः सुलोचनाया अन्या का पुनः कोमलाङ्गी भवेत्, यतोऽस्या धाकः प्रभावः, अपूर्वाऽनन्यसम्भवा प्रतिमा यत्र स तादृशो-ऽस्ति। किन्तु धरायाः सम्पूर्णजनताया वलये बलिभोजनार्थं काको वायसो नाम, मलमेवाङ्गं यस्य स मलाङ्गी भवति। यतोऽमुकायाः पृथिव्या वा ब्रह्मा कोऽपि अपूर्वप्रतिमोऽस्ति खलु। तादृक्न जाने केनास्या योगो भवेत् । अथवाऽस्याः पुण्यविधेः शुभकर्मणः पाकः परिपाको-ऽनन्यो महानेव, किन्तु पुण्यविधेरनन्यः पा रक्षकः कोऽसौ भवितुमर्हति । न कस्यापि पुण्य-विधिर्नियतस्थायी भवति । तस्मादत्र स को नाम मनुष्यो योऽनया लक्ष्म्या धन्यः समस्तु, यस्मात् खलवप्सरोऽधिकसुन्दर्या स धन्यो नाकः सुरालयोऽप्यत्रैव समस्तु नामेति न ज्ञायत इत्याशयः ॥ ८६ ॥

किमिन्दिराऽसौ न तु साऽकुलीना कला विधोः सा नकलङ्कहीना ।
रतिः सतीयं न तु सा त्वदृश्या प्रतर्कितं राजकुलैः स्विदस्याम् ॥ ८७ ॥

किमिन्दिरेति । असौ परमरमणीया किमिन्दिरा लक्ष्मीरस्ति ? न; सा तु कुलीना भूस्थिता नास्ति, समुद्रसम्भवत्वात् । किन्त्वियं कुलीना भूस्थिता, श्रेष्ठकुलसम्भवा च । तर्हि किमियं विधोश्चन्द्रस्य कलाऽस्ति आह्लादकत्वात् ? न; सा कलङ्कहीना नास्ति, इयं

अन्वय : धरायाः वलये का कोमलाङ्गी । अमुकायाः धाकः अपि अपूर्वप्रतिमः । अथवा पुण्यविधेः अनन्यः पाकः, अत्र एव नाकः । अनया सः कः धन्यः समस्तु ।

अर्थ : इस पृथ्वीपर सुलोचनाके अतिरिक्त कौन कोमलांगा है ? इसकी कोमलताका प्रभाव बेजोड़ है । अथवा सभी पुण्यकर्मोंका यह अद्वितीय पाक (उदय) है, जिससे यहीं स्वर्ग उतर आया है । कौन मनुष्य ऐसा है, जो इसे पाकर धन्य न हो जाय ? ॥ ८६ ॥

अन्वय : ननु किम् स्वित् असौ इन्दिरा ? न; (यतः) सा अकुलीना । किं विधोः कला (न; यतः) सा नकलङ्कहीना । किम् इयं सती रतिः ? (न; यतः) सा तु अदृश्या इति अस्यां राजकुलैः प्रतर्कितम् ।

अर्थ : क्या यह लक्ष्मी है ? नहीं, क्योंकि लक्ष्मी तो अकुलीन है अर्थात् पृथ्वीमें लीन नहीं, अतः कुलहीना है, जब कि यह उच्चकुलमें पैदा हुई है ।

तु निष्कलङ्का । तदा किमसौ सती रतिः कामप्रियाऽस्ति ? न; सा त्वदृश्या, इह कदापि न दृश्यते । असौ तु दृश्या दर्शनयोग्याऽस्ति इति राजकुलैरस्यां प्रतर्कितम् । स्विदिति सन्देहद्योतकं पदम् । अत एवात्र सन्देहालङ्कारः ॥ ८७ ॥

वयोभियुक्तेयमहो नवा लता कराधराङ्घ्रिष्वधुना प्रवालता ।
उरोजयोः कुड्मलकल्पकालता रदेषु मुक्ताफलताऽथ वागता ॥ ८८ ॥

वय इति । इयं वयोभियुक्ता वयसा नवयौवनेनाभियुक्ता, अत एव न विद्यते बालता यत्र सा नबालता । यद्वा वयोभिः पक्षिभिरभियुक्ता परिवारिता, नवा नवीना लता एवास्ति तावत् । करौ चाधरौ च अङ्घ्री च कराधराङ्घ्रयस्तेषु कराधराङ्घ्रिषु, अधुना यस्याः प्रबालता प्रकर्षेण बालभावोऽस्ति । किञ्च किसलयतुल्यरूपता, यद्वा विद्रुमता चास्ति । किञ्च, उरोजयोः कुचयोः कुड्मलस्य मुकुलपरिणामस्य कल्पो विधिस्तस्य कालो यत्र तद्वत्ता, लतायाञ्च कुड्मलभावो भवत्येव । रदेषु दन्तेषु पुनरथवा मुक्ताफलता मौक्तिकरूपता । यद्वा, मुक्ता परित्यक्ता चाफलता निष्फलता आगता सम्प्राप्ता, इत्याश्चर्यं ॥ ८८ ॥

प्रमाणितेयं सुदृशामघोनिका किलालयोऽप्यप्सरसामथाधिकाः ।
पुरन्दरेणोदयिना समुत्तरमकम्पनेऽलम्बि पुलोममादरः ॥ ८९ ॥

प्रमाणितेयमिति । इयं बाला सुदृशां सुलोचनीनां मध्येऽघादूनाऽघोनिका, अत एव

यह चंद्रमाकी कला भी नहीं है, क्योंकि वह कलंकसे रहित नहीं है जब कि यह कलंकरहित है। यह रति भी नहीं है, क्योंकि रति तो दृश्य नहीं होती और यह दृश्य है। इस प्रकार राजपुत्रोंने सुलोचनाके विषयमें तरह-तरहके तर्क किये ॥ ८७ ॥

अन्वय : अथवा अहो ! वयोऽभियुक्ता इयं नवालता अधुना कराधराङ्घ्रिषु प्रवालता उरोजयोः कुड्मलकल्पकालता रदेषु च मुक्ताफलता आगता ।

अर्थ : यह सुलोचना नवीन लता है और बाल्यावस्थासे रहित है; अतएव युवावस्थारूपी पक्षीसे युक्त है। इसके हाथ, होठ और चरणोंमें प्रवालता है, अर्थात् मूंगेकी कांतिके होकर कोपलोंकी याद दिलाते हैं। दोनों स्तन कुड्मल (कलियों) सरीखे हैं और दाँतोंमें मुक्ताफलतारूप फलता है, अर्थात् दाँत मोती-सरीखे चमकते हैं ॥ ८८ ॥

अन्वय : इयं सुदृशाम् अघोनिका । अथ अस्याः आलयः अप्सरसाम् अधिकाः किल । उदयिना दरेण पुरं समुत्तरम् । अकम्पने पुलोममादरः (लोकेन) अलम्बि ।

सुदृशा शोभनया दृशा हेतुभूतयाऽसौ मघोनि केऽब्राणीव। अथास्या आलयः सख्योऽपि किलाप्सरसा हेतुना मस्य चन्द्रमसो यो यो रक्षणं तस्मादधिकास्ततोऽपि सुन्दरतनुस्तस्मात्। अथाप्सरसां देववाराङ्गनानां मध्येऽधिका अधिकगुणवत्यः। अथवा त्वधिका अतिकर्ष्यः सौन्दर्येण जित्वा, उदयिना वरेणानेन समूहेनैव पुरमिदं नगरं तच्चोदयिना पुरन्दरेण इन्द्रेण समुत्तरं मुदा सहितं समुदधिकः समुत् समुत्तरं वर्तते। एवञ्चाकम्पने राज्ञि पुलोमस्येन्द्र-श्वशुरस्य मात्रा आदरोऽकम्पि लोकेन। ततस्तत्र मम चादरो विपुलोऽधिक इत्यलम् ॥ ८९ ॥

सभावनिर्द्यौ तु विभाविचारतः स योऽपि नाकः समुदेति मानवान् ।
रसातलं तूत्तलसातलं पुनर्जगत्त्रयं चैकमयं समस्तु नः ॥ ९० ॥

सभावनीति। पूर्वोक्तरीत्या राजसमूहेन अवलोकिता सुलोचना पुनः सभामवलोकित-वतीति तदैव सभावनिरियं विभायाः सङ्घटनशोभाया विचारतो द्यौरिव। यद्वा, विभाविना चारेण अतिचारेणेति यावत्, यतोऽस्यां सभायां यो मानवानादरयुक्तो नाकः सोऽपि समुदेति, सुरालयोऽपि मानवान् मनुष्यानिति। रसातलं तु पुनः पाताललोक उत्तलं प्रत्युद्भूततलं च सातलं चानन्दयुक्तम्। एवमस्माकं रसातलं जिह्वामूलं, तच्च सातलमिह सभायां समुदेति। एवं जगतां त्रयञ्चैकमयं भूलोकरूपमेव नोऽस्माकमस्मभ्यं वा समस्तु भवतु तावत् ॥ ९० ॥

अर्थ : यह बाला सुलोचना सुनयना सुन्दरियोंके बीच पापके विषयमें कम है। इसीलिए यह सुन्दरदृष्टि होनेसे इन्द्राणीकी तरह है। इसकी सखियाँ भी निश्चय ही जलकी तरह सरस है, इसलिए चन्द्रसे मिलनेवाले रक्षण या आप्या-यनसे भी अधिक गुणवाली हैं। अतएव अप्सराओंके बीच अधिक गुणवती है। फलतः उन्होंने अपने सौन्दर्यसे अप्सराओंको जीतकर पराजय-पीडासे पीडित कर दिया है। उदित होनेवाले जनसमूहसे यह नगर भी युक्त है। अतएव उदय-शील इन्द्रसे भी अधिक आनन्दित है। अतएव लोगोंने इस अकम्पन राजाके विषयमें पुलोम यानी इन्द्रके श्वशुरसे भी अधिक आदरभाव धारण किया ॥८९॥

अन्वय : सभावनिः विभाविचारतः तु द्यौः। यः अपि सः नाकः मानवान् समुदेति। रसातलं तु उत्तलसातलम्। पुनः च जगत्त्रयं नः एकमयं समस्तु।

अर्थ : (जब सुलोचनाने आकर इस सभा-भूमिको देखा, तब) यह सभा-वनी संघटन-शोभाकी दृष्टिसे तो आकाश हो गयी। तब वह नाक यानी स्वर्ग भी वहाँ मानवोंको उदित करने लगा, जो बड़े अनादरके साथ मानवोंको अपने यहाँ स्थान न देता था। और रसातल (पाताललोक) भी तलसहित उदित

शूरा बुधा वा कवयो गिरीश्वराः
सर्वेऽप्यमी मङ्गलताममीप्सवः ।
कः सौम्यमूर्तिर्मम कौमुदाश्रयो-
ऽस्मिन् सङ्ग्रहे स्यात्तु शनैश्चराम्यहम् ॥ ९१ ॥

शूरा इति । अस्मिन् सङ्ग्रहे सभासङ्घे सर्वेऽप्यमी जनाः, शूरा वीराः सूर्याश्च, बुधा विद्वांसो बुधग्रहाश्च, कवयः काव्यकर्तारः शुक्राश्च, गिरामीश्वरा वाग्मिनो बृहस्पतयश्च भवन्तो मङ्गलतां कल्याणरूपतां भौमस्वभावतां च अभीप्सवो वाञ्छकाः सन्ति । तु पुनर्मम कौ पृथिव्यां मुदाश्रयः प्रसत्तिकरः कौमुदानामाश्रय इव सौम्या मूर्तिर्यस्य स चन्द्रो जयः कुमारश्च, सोमजातत्वात्, किञ्च सुन्दराकृतिः को जनो भवितुमर्हति, इति तावदहं शनैश्चरामि मन्दं यामि । यद्वा, शनैश्चरनामकग्रहवद् भवामीत्यर्थः ॥ ९१ ॥

अभ्यागतानभ्युपगम्य सुभ्रुवः श्रीदृक् पुरीदृक्षतया धवान्भुवः ।
साभूत् समन्तादनुयोगनर्तिनी ह्रीणापि हृष्टापि तु चक्रवर्तिनी ॥ ९२ ॥

अभ्यागतानिति । शोभने भ्रुवौ यस्याः सा तस्याः सुलोचनायाः श्रीदृक् शोभना दृष्टिः पुरि स्वनगर्यामभ्यागतानुपस्थितान् भुवो धवान् राज्ञ ईदृक्षतयाऽभ्युपगम्य ज्ञात्वा, तु पुनः

हो आनन्दसे युक्त हो गया। अतः हमारे लिए तीनों लोक यहाँ एक हो गये ॥ ९० ॥

अन्वय : अस्मिन् सङ्ग्रहे अमी सर्वे अपि शूराः बुधाः कवयः गिरीश्वराः वा मङ्गलतां अभीप्सवः। किन्तु मम कौमुदाश्रयः सौम्यमूर्ति कः स्यात् (इति) तु अहं शनैश्चरामि ।

अर्थ : शूर-वीर (सूर्य), बुद्धिमान् (बुधग्रह), कवि (शुक्र) महान् वक्ता (बृहस्पति) होकर मंगल (ग्रह या कल्याण) चाहनेवाले उपस्थित हैं। किन्तु इनमें वह सौम्यमूर्ति (चन्द्रग्रह या जयकुमार) कौन है, जो मेरी प्रसन्नताका आश्रय हो (अथवा कुमुदोंको प्रसन्न करनेवाला हो), यही सोचकर ही मैं शनैश्चर (शनिग्रह या धीरे-धीरे चलनेवाली) बन रही हूँ ॥ ९१ ॥

अन्वय : सुभ्रुवः सा श्रीदृक् पुरि अभ्यागतान् भुवः धवान् ईदृक्षतया अभ्युपगम्य ह्रष्टा अपि ह्रीणा समन्तात् अनुयोगनर्तिनी तु चक्रवर्तिनी अभूत् ।

अर्थ : सुलोचनाकी वह शोभनदृष्टि अपनी नगरीमें इस तरह आये सभी

सा हृष्टापि शालीनतया प्रसन्नापि, ह्रीणा लज्जितापि सती समन्तात् परितोऽनुयोगं नर्तयतीत्यनुयोगनर्तिनी, इत्यतश्चक्रवर्तिनी वर्तुलाकारतया प्रवृत्तिकर्त्री साम्राज्ञी चाभूत् ॥ ९२ ॥

कराधिकत्वेन यथोत्तरं तरां प्रवर्तमानेऽपि विधौ समुत्तरा ।
अपूर्वरूपाम्बुधितोऽपि साऽभवद् दृगुत्तमा पारमितेव सुभ्रुवः ॥ ९३ ॥

कराधिकेति । यथा यथोत्तरं यथोत्तरमग्रेऽग्र इत्यर्थः । कराणां रश्मीनां हस्तानां चाधिकत्वेन प्रबलरूपत्वेन प्रवर्तमाने विधौ प्रकारे सति मुत्सहिता समुत्, तत्र प्रकृष्टार्थे तरप्प्रत्ययः । सा सुलोचनाया उत्तमा दृक्, अपूर्वं तद्रूपमपूर्वरूपं तस्याम्बुधितः समुद्रादिव जनसमूहात् पारमिता तत्पारमवाप्तेव अभवत्तराम् ॥ ९३ ॥

वीक्ष्य शिक्षणकृतादरणीयाऽथ नगणनीयतया गणनीयान् ।
असुमत्वात् सुमता समवापि कौशरभावात् सुवृत्ततापि ॥ ९४ ॥

वीक्ष्येति । शिक्षणं करोतीति स्त्रीशिक्षणकृत्तया वाग्देव्याऽऽदरणीया प्रेमपात्री सा सुलोचना अथानन्तरं नगणनीयतया संख्यातुमशक्यतयापि पुनर्गणनीयान् संख्येयानिति विरोधः । तस्माद् गणेन सज्जनसमुदायेन नीयमानान् प्रशंसनीयानित्यर्थः । वीक्ष्य दृष्ट्वा भूपतीन् पुनस्तयाऽसुमत्वात् प्राणधारितया सचेतनत्वात्, शोभना मा यत्र तद्भावः समवापीति । तथा कौ शरभावात् पृथिव्यां बाणरूपत्वात् सुवृत्तता वर्तुलतापि समवापीति विरोधे कुशलभावः कौशरमेव भावो रलयोरभेदात्, तस्मात् सुवृत्तता सदाचारता समवापि लब्धा खलु ॥ ९४ ॥

राजा लोगोंको देखकर प्रसन्न होती हुई भी लज्जावश आज्ञानुसार इधर-उधर जाती चक्रवर्तिनी (वर्तुलाकार चलनेवाली या साम्राज्ञी) बनी ॥ ९२ ॥

अन्वय : सभ्रुवः उत्तमा दृक् कराधिकत्वेन यथोत्तरं तरां प्रवर्तमाने अपि विधौ समुत्तरा अपूर्वरूपाम्बुधितः अपि पारमिता इव अभवत् ।

अर्थ : उत्तरोत्तर आगे-आगे तेजःकिरणरूपी हाथोंके बढ़ते जानेपर प्रसन्नता पाती हुई सुन्दर भौंहोंवाली सुलोचनाकी वह शोभनदृष्टि उस अपूर्व रूपसागर (सुन्दर-जनसमुद्र) से मानो पार हो गयी ॥ ९३ ॥

अन्वय : अथ शिक्षणकृता आदरणीया सा नगणनीयतया गणनीयान् वीक्ष्य असुमत्वात् सुमता (च) कौशरभावात् सुवृत्तता अपि समवापि ।

अर्थ : स्त्रीशिक्षा देनेवाली वाग्देवीकी प्रेमपात्र उस सुलोचनाने उस सभा-

कुरीनतरुणाञ्चितां वरर्तुर्विवरणार्थमुदितामुपकर्तुम् ।
सम्पल्लवललितां सभावनिमनुबभूव कारिकां पावनीम् ॥ ९५ ॥

कुरीनेति । वरः श्रेष्ठश्चर्तुः कान्तिर्यस्याः सा । यद्वा वरार्थं वरणार्थमृतुः समयो यस्याः सा । किञ्च वरस्तीक्ष्णः ऋतुर्बुद्धिविभवो यस्याः सेत्यपि सुलोचना सभावनिं कारिकामिव व्याख्याश्लोकवत् । तथा च लतामिव उपकर्तुमनुबभूव स्वीचकार । कीदृशीं ताम् ? पावनीं पूतस्वभावाम्, पुनः कीदृशीं ? कुरीनैः सत्कुलजातैस्तरुणैः नववयस्कैरञ्चिताम् । लतापक्षे कुलीनेन भूगतेन च तेन तरुणा वृक्षेणाञ्चिताम् । कारिकापक्षे, रीनाः श्रोतृश्रेष्ठाः, 'रीः श्रोतरि भुवि स्त्रियामि'ति । कूनां शब्दानां रीनाः कुरीनाश्च ते तरुणास्तैरञ्चितां स्वीकृताम् । लतापक्षे, समीचीनैः पल्लवैः किसलयैर्ललिताम् । कारिकापक्षे, समीचीनैः पल्लवैः पदांशैरिति । किमर्थं ताम् ? विवरणार्थं विशेषेण लोकोत्तररूपेण वरणं तस्मै । लतापक्षे वीनां पक्षिणां वरणं तस्मै । कारिकापक्षे च विवरणं व्याख्यानकरणं तस्मै तावदित्येवम् ॥ ९५ ॥

वाग्बालिकायाः स्फुटदन्तरश्मिरभिव्रजन्त्यामिव सेर्ष्यरीतिः ।
समुज्ज्वलाकारतया बभूव सुधावधीना सदृशी दृशीति ॥ ९६ ॥

वागिति । बालिकायाः सुलोचनाया वाग्वाणी तस्या दृशि दृष्टौ सदृशी तुल्यविशेषणा इत्यनेन हेतुना, ईर्ष्यासहिता रीतिर्यस्याः सा । पुनः कीदृशी ? स्फुटदन्तरश्मिः, स्फुटा

के अगणित गणनीय लोगोंको देखकर सचेतन होनेके कारण प्रसन्नता पायी और कुशलताके कारण उनका वृत्तान्त भी प्राप्त कर लिया ॥ ९४ ॥

अन्वय : वरर्तुः विवरणार्थम् उदितां कुरीनतरुणाञ्चितां सम्पल्लवललिताम् सभावनिम् उपकर्तुं पावनीं कारिकाम् अनुबभूव ।

अर्थ : उत्तम कांतिवाली सुलोचनाने वरण करनेके लिए एकत्रित उन कुलीन तरुण लोगोंसे युक्त एवं सम्पन्नता स्वीकार करनेवाली सभाको पवित्र कारिकाके समान अनुभव किया ।

विशेष : यहाँ सभाको कारिकाकी उपमा दी है। कारिकाके पक्षमें 'विवरण' का अर्थ स्पष्ट करना है और 'सम्पल्लव'का अर्थ समीचीन पद है। 'कुलीन-तरुणाञ्चिताम्' का अर्थ कुलीन वक्ताके शब्दोंसे युक्त है ॥ ९५ ॥

अन्वय : स्फुटदन्तरश्मिः सुधावधीना बालिकायाः वाक् अभिव्रजन्त्यां दृशि सेर्ष्यरीतिः समुज्ज्वलाकारतया सदृशी इव बभूव ।

प्रकटीभूता दन्तानां रश्मयो यस्यां सा वाक्, दृष्टिश्च स्फुटत्कटीभवदस्तं स्वरूपं यासां ता रश्मयो यस्यां सा । तथा च सुधावधीना सुधाया अमृतस्यावधिर्मर्यादा तस्या इना स्वामिनी पीयूषसारमधुरा वाणित्यर्थः । दृष्टिश्च सुष्ठु धावतीति सुधावा चासौ धीश्च तस्या इना सर्वत्र प्रसरणशीलाऽभूत् । अतः सा समुज्ज्वलाकारतया निर्मलाकृतितया सुतरां देदीप्यते स्मेति भावः ॥ ९६ ॥

मनो ममैकस्य किलोपहारो बहुष्वथान्यस्य तथापहारः ।
किमातिथेयं करवाणि वाणि हृदऽप्यहृद्येयमहो कृपाणी ॥ ९७ ॥

मन इति । साऽवदत्—हे वाणि, मम बालाया मन एकमेतेषु बहुषु जनेषु, एकस्य किलोपहारः पारितोषिकं भविष्यति, अथ तथा पुनरन्यस्य अपहार निरादर एवार्थायाततया भविष्यति । एवमहं किमातिथेयमतिथिसत्कारं करवाणि, इति वद । किन्तु न किमपि करणीयं विद्यते, तद्वितीयमेव अहृद्या अनभिप्रेता कृपाणी क्षुरिका मम हृदे चित्तायापि भवत्यहो, इति खेदे ॥ ९७ ॥

जयेऽति मातः प्रणयं ममाप्त्वा सम्प्लावयेऽहं सहसा समाप्त्वा ।
एकेन सम्बद्धमुदोऽलमेतैः किं राजकैर्भूरितया समेतैः ॥ ९८ ॥

अर्थ : चमकती दन्त-किरणोंसे युक्त और अमृतकी सीमा उस सुलोचनाकी वाणी दौड़नेवाली दृष्टिके साथ ईर्ष्या करती हुई मानो अपने उज्ज्वल आकार-द्वारा सदृशता स्वीकार करने लगी । अर्थात् राजा लोगोंको इस प्रकार देखकर सुलोचना अपनी सखी विद्यादेवीसे बोली ॥ ९६ ॥

अन्वय : वाणि ! मम मनः बहुषु एकस्य उपहारः किल । अथ तथा अन्यस्य अपहारः । (एवं) किम् आतिथेयं करवाणि अहो ! हृदे अपि इयम् अहृद्या कृपाणी ।

अर्थ : सुलोचना बोली : हे वाणी (विद्यादेवी) मेरा मन तो निश्चय ही इन बहुत-से राजाओंमें से किसी एकका उपहार होगा और बाकी लोगोंका तो निरादर हो जायगा । इस तरह मैं इन सभीका सत्कार कैसे कर सकूँगी, यह अशोभनीय बात ही मेरे मनमें कृपाणका काम कर रही है ॥ ९७ ॥

अन्वय : मातः ! मम अतिप्रणयम् आप्त्वा त्वं जये समाप् अहं त्वां सहसा संप्लावये । एकेन सम्बद्धमुदः भूरितया समेतैः एतैः किं राजकैः अलम् ।

जयेति । हे मातः सरस्वति, मम मनो जये जयकुमारनाम्नि राजकुमारेऽतिप्रणय-मनुरागमाप्त्वा कृतार्थमभूदिति शेषः । इत्थं तत्प्रणयार्णवनिमग्ना समाप् सङ्कुलाः प्रेमरूपा आपो यया साऽहं सुलोचना, ताभिरद्भिः सहसा त्वा त्वामेव सम्प्लावये अभिषिञ्चामि, त्वदग्र एवात्ममनोरहस्यं प्रकटीकृत्य त्वामपि प्रणयानन्दजलेन स्नपयामीति भावः । यद्वे-केन सम्बद्धा मुद् यस्याः सा तस्या मम एतैर्भूरितया बाहुल्येन समेतै राजकैर्नृपतिभिः । यद्वा एकश्चासौ इनः सूर्यस्तेन सह सम्बद्धा मुद् यस्याः सा तस्याः पद्मिन्या अन्यराजकैश्चन्द्र-रूपैः किं प्रयोजनमस्ति । अत एतैरलं किमपि साध्यं नास्तीत्यर्थः । यद्वा, कुत्सिता राजका इति किंराजकास्तैः किंराजकैरित्यर्थः ॥ ९८ ॥

सुवृत्तभाजो ग्रहणाय वामा भुवीत्यपूर्वामपरस्य हा माम् ।
राज्ञामतः पञ्चदशीं धिगेव किं नाभवं सा गुरुवाग्युगेव ॥ ९९ ॥

सुवृत्तेति । भुवि पृथिव्यां राज्ञां भूपतीनां चन्द्राणाञ्च मध्ये सुवृत्तभाजः सदा-चारिणो वर्तुलभाववतो वा ग्रहणाय वरणार्थमुपरागार्थञ्च वामा स्त्रीरूपा वामप्रकृति-मतीं चेत्यपूर्वां मां लक्ष्मीम् । यद्वा अकारः पूर्वस्मिन् यस्यास्तामपूर्वां माम् अमामिति यावत्, अपरस्य पुनरसदाचारिणोऽपरिपूर्णस्य च पञ्चानां दशानां समाहारः पञ्चदशीं पञ्चताकर्त्रीम् । किञ्च पूर्णिमामिति मां धिगेव । प्रत्युताहं सा गुरुवाग्युगेव गुरूणां पित्रादीनामाज्ञाकारिणी, यद्वा प्रतिपदेव किमिति नाभवमहम् ॥ ९९ ॥

अर्थ : हे माता ! मेरे साथ प्रेमको प्राप्त होकर तू जयवंत हो । उत्तम जलवाली और उत्तम कांतिवाली मैं तुम्हें स्नान कराती हूँ, अर्थात् पूछती हूँ कि एकके साथ संबंध प्राप्त करनेवाली मुझ बालिकाके लिए जो इतने राजा लोग आये हैं, वे व्यर्थ हैं ॥ ९८ ॥

अन्वय : हा भुवि सुवृत्तभाजः ग्रहणाय वामाम् अपरस्य अपूर्वां माम् अतः राज्ञां पञ्चदशीं धिग् एव । अहं सा गुरुवाग्युगा इव किं न अभवम् ।

अर्थ : (वह सुलोचना फिर कहती है कि) इस भूमिपर राजाओंमें सदा-चार और संपूर्णताको धारण करनेवाला जो कोई भी है, उस एकके ग्रहणके लिए तो मैं 'वामा' बनूँगी और दूसरेके लिए अपूर्वा 'मा' (लक्ष्मी या अमावस्या) बनूँगी । इस प्रकार मैं सभी राजाओंके लिए पंचदशी बनूँगी । इस प्रकार बनने-वाली मुझको धिक्कार है । मैं गुरुओंकी बातको माननेवाली प्रतिपद् ही क्यों न बन गयी ? अर्थात् इससे तो अच्छा यह होता कि मैं पिताजीके कहनेके अनुसार ही किसीको वरण कर लेती ॥ ९९ ॥

भयान्वितास्मि परिषत्तयातः कुतस्तु पारं समुपैमि मातः ।
बालस्य वाऽऽलस्यसहो न तातो मदङ्घ्रिरुक्तः खलु पङ्कजातः ॥ १०० ॥

भयेति । हे मातरम्ब वाणि, अहं भया क्षोभया भयेन चान्विता, परिषत्तया सभा-त्वेन कर्दमत्वेन हेतुना वा पुनरतोऽहं पारं कथं समुपैमि । यद्वा, मदङ्घ्रिर्मम चरणः पङ्काज्जातः, पङ्कजातः पद्म इव पङ्केरुहश्च । तस्मात्पुनः पङ्कस्तातो वप्ता बालस्य सुतस्य वाऽऽलस्यसहः पादसम्पर्करूपप्रमादस्य सहने समर्थो न भवति खलु, पङ्के गन्तुमशक्यत्वादेव पुनः शनैर्गच्छाम्यहम् ॥ १०० ॥

विधानमाप्त्वा कमलंकरिष्णोरप्यभ्रमालोकतया चरिष्णोः ।
सम्भेदमापादरमुद्रणाशा देव्या मुखाम्भोरुहमुद्रणा सा ॥ १०१ ॥

विधानमिति । कं शीर्षमिति स्वामिनमलङ्करिष्णोः । एवञ्च कमलं वारिजातं करिष्णोः सम्पादयित्र्या बालिकाया अभ्रमालोकतया निःसंशयपरिज्ञानरूपेण चरिष्णोरपि चालोक-तया प्रकाशरूपतया अभ्रमाकाशं चरिष्णोः सूर्यरूपाया विधानमाप्त्वा देव्यास्तस्या बुद्धि-नामिकाया आदरश्च मुच्च आदरमुदौ तयोरणो यस्यामेतादृशी, आशाऽभिलाषा यस्याः सा मुखाम्भोरुहस्य मुद्रणा मूकत्वपरिणतिः कुड्मलता च सम्भेदमाप । यथा सूर्योदये सति कमलं विकसति तथाऽस्या मुखमपि वक्तुमारभतेति भावः ॥ १०१ ॥

अन्वय : मातः ! परिषत्तया तु कुतः पारं समुपैमि, अतः अहं भयान्विता । मदङ्घ्रिः खलु पङ्कजातः उक्तः । बालस्य वा आलस्यसहः तातः न भवति ।

अर्थ : माँ ! मैं इस सोच-विचारमें पड़ी भयभीत हो रही हूँ कि इस सभा-रूपी कीचड़से कैसे पार पाऊँ ? क्योंकि मेरा चरण तो पंकजात अर्थात् इस कीचड़में फँसा है । किन्तु पूज्य पुरुष बालकका आलस्य कभी सहन नहीं करते ॥ १०० ॥

अन्वय : कम् अलङ्करिष्णोः अभ्रमालोकतया चरिष्णोः अपि विधानं आप्त्वा देव्याः आदरमुद्रणाशा सा मुखाम्भोरुहमुद्रणा संभेदम् आप ।

अर्थ : 'कमलंकरिष्णोः' किसी एकको अलंकृत करनेवाली और भ्रमरहित अवकाश (आकाश) की ओर देखनेवाली उस सुलोचनाके ये वचन सुनकर आदरके साथ हर्षभरे शब्द स्वीकार करनेवाली देवीके मुखकी मौनवृत्ति दूर हुई ॥ १०१ ॥

कः सौम्यमूर्तीति जयेति सूक्ती शुक्ती शुभे स्वत्कबलोपयुक्ती ।
सत्कर्तुमेवोदयते समुद्रो न कोऽपि नायात इतोऽस्त्यशूद्रः ॥ १०२ ॥

क इति । देवी किमुवाच—हे सुलोचने, कः सौम्यमूर्तिरित्यनेन जयेत्यनेन च वचनेन प्रसिद्धे ये सूक्ती ते तव कवलस्य आत्मबलस्य मौक्तिकस्य चोपयुक्ते यत्र ते शुभे शुक्ती मौक्तिकोत्पादिके, ते सत्कर्तुमेवायं समुद्रो मुद्रया नृपतिप्रोक्तया युक्तः समुद्रो जनसमुदाय-रूपो वारिधिरुदयते प्रसरति । शूद्रो भ्रष्टाचारः प्रहीणो ना जनः स न भवतीत्यशूद्रः, स इतोऽस्मिन् समुदाये नायातो न समागत एतादृशः कोऽपि विद्यते, तदा पुनर्जयः किमिह नायातः ? अपि त्वायात एवेति भावः ॥ १०२ ॥

किमिष्यते भेकगतिश्च सूक्ता श्रीराजहंस्याः सुतनो प्रयुक्ता ।
पथाप्यथादीयत इष्टदेशः खलोपयोगाद् गवि दुग्धलेशः ॥ १०३ ॥

किमिष्यत इति । हे सुतनो, शोभनाङ्गि, श्रीराजहंस्या मन्द-मधुरगमनशीलाया प्रयुक्ता स्वीकृता भेकस्य मण्डूकस्य गतिरुत्प्लुत्य गमनं सा सूक्ताऽऽगमनिर्दिष्टा तावदीष्यते किमिति, किन्तु नैवेष्टा । अथेष्टदेशोऽपि वाञ्छितस्थानमपि पथा मार्गेणैवादीयते खलु । यथा खलस्य तिलविकारस्य उपयोगाद् गवि धेनौ दुग्धलेशः सम्पद्यते तथाऽनेन विपुल-राजकुमारसमुदायेनैव ते वरनिर्वाचनं तावच्छ्रेयस्करं भवेदिति ॥ १०३ ॥

अन्वय : कः सौम्यमूर्तिः इति जय इति सूक्ती त्वत्कवलोपयुक्ती शुभे शुक्ती सत्कर्तुम् एव समुद्रः उदयते । (यतः) अशूद्रः इतः कः अपि न आयातः इति न अस्ति ।

अर्थ : हे सुलोचने ! तूने पहले तो कहा कि कौन सौम्य मूर्ति है ? बादमें जय इस प्रकार उच्चारण किया । ये दोनों सूक्तिरूपी सीपें हैं । वे ही तेरी आत्माका बल प्रकट करनेवाले मोतियोंसे युक्त हैं । उन्हें उत्पन्न करनेके लिए यह राजसमूहरूप समुद्र उदित हुआ है । ऐसा कोई उच्चकुलीन व्यक्ति नहीं जो यहाँ न आया हो । अर्थात् जयकुमार जो तुम्हारे हृदयका प्रिय है, वह भी आया है ॥ १०२ ॥

अन्वय : सुतनो श्रीराजहंस्याः (तव) सूक्ता भेकगतिः च किम् इष्यते ? अथ इष्टदेशः अपि पथा आदीयते । गवि खलोपयोगात् दुग्धलेशः ।

अर्थ : हे सुतनु ! तू राजहंसी है, अतः तुझे क्या मेढककी गति समुचित इष्ट हो सकती है ? किसी इष्टदेशमें भी गमन किया जाता है तो वह मार्गसे ही

मुदश्रुसन्तानयुगस्तु कश्चित्त्वया यदैवाङ्ग समस्ति नश्चित् ।
परेष्वपि स्पष्टमुदश्रुवार्हा सभा भवत्या न किमादरार्हा ॥ १०४ ॥

मुदश्रुवेति । यच्च त्वयोक्तमेकेन सम्बद्धमुद् इत्यादि, तत्र यदा कश्चिदेको यदा त्वयाऽङ्गीकृतः सन्, अङ्ग हे सुलोचने, मुदश्रूणां सन्तानं पुनक्तीति यावत्कुर्वेत् तावदेव परेष्वपि त्वयाऽनङ्गीकृतेषु । अपि शोकजातानामश्रूणां वार्जलं स्पष्टमेव शोकजन्यं भविष्यत्येवेति हा साश्चर्यखेदे । एवं कृत्वाऽसौ सभा भवत्या आदरार्हा समादरणयोग्या न भवति किम्, अपि तु भवत्येवेति नोऽस्माकं चिद्विचारो वर्तते ॥ १०४ ॥

अभूदियं भूरिनभा स्वतस्तु सभा पुनः सत्समवायवस्तु ।
हृतान्धकारास्तु सुते नवीना त्वदास्ययोगादथ कौमुदीना ॥ १०५ ॥

अभूदिति । भूरि बहुलं नभो गगनं यस्यां सा, स्वतस्तु भूरिनभा इयं सभा सतां सत्पुरुषाणां समवायस्य वस्त्वभूत् । हे सुते, अथ पुनस्त्वदास्ययोगात् त्वदाननसंयोगवत्तु हृतो निवारितोऽन्धः कालो व्यर्थीभूतः समयो यस्याः सास्तु भवतु । कौ पृथिव्यां मुदीना हर्षपूर्णा । तथा न विद्यते भास्वान् यत्र तस्य नभास्वतो गगनस्येयं सतां नक्षत्राणां समवायस्य वस्तु भूरि बहुलतया सभा भैः सहिताऽभूदेव । अथ पुनस्त्वदास्ययोगात् कौमुदीना चन्द्रिकावती सती हृतान्धकारा, अन्धकारहीनास्तु । अर्थादमी राजानो नक्षत्रसदृशा स्त्वन्मुखञ्च चन्द्रतुल्यमिति यावत् ॥ १०५ ॥

किया जाता है । खली खिलानेपर ही गायमें दूध होता है । इसी प्रकार इस स्वयंवर विधानसे ही तुझे इष्टकी सिद्धि होगी, यह भाव है ॥ १०३ ॥

अन्वय : अङ्ग ! यद् एव त्वया कश्चित् मुदश्रुसन्तानयुग् अस्तु, तदा एव परेषु अपि स्पष्टम् उदश्रुवार् हा । (एवं) भवत्या सभा किम् न आदरार्हा इति नः चित् समस्ति ।

अन्वय : हे पुत्री ! तेरे द्वारा जो वरा जायगा, वह तो हर्षाश्रुसे युक्त होगा और उसी समय दूसरे राजा लोग शोकके आँसुओंसे युक्त हो जायँगे । इस प्रकार क्या तेरे द्वारा सारी सभाका, सभामें बैठे राजाओंका सत्कार न होगा ? अवश्य होगा, ऐसा मेरा विचार है ॥ १०४ ॥

अन्वय : सुते ! इयं सभा स्वतः तु भूरिनभा । पुनः सत्समवायवस्तु अभूत् । अथ सा त्वदास्ययोगात् हृतान्धकारा नवीना कौमुदीना अस्तु ।

अर्थ : हे पुत्रि ! यह सभा स्वतः एव भूरिनभा अर्थात् लम्बे-चौड़े आकाश-

त्वमीष्यते सन्प्रतिपद्धगतरेद्वितीयतामञ्च वरे कलाधरे ।
समृद्धये शीघ्रमनङ्गदर्शिकेऽथ मादृशामत्र दृशा प्रहर्षिके ॥ १०६ ॥

त्वमीष्यत इति । हेऽनङ्गदर्शिके, स्वकीयमङ्गमपि न दर्शयतीत्यनङ्गदर्शिके । यद्वा, अनङ्गं कामं दर्शयतीति वा। अथ च मादृशां दृशामस्माभिः सदृशानां चक्षुषां हर्षिके हर्षकर्त्रि, त्वमत्र धरातले सती प्रतिपद् बुद्धिर्यस्याः सा सत्प्रतिपद् बुद्धिमती सम्भवसि । तस्मात्कलाधरे बुद्धिमद्वरे प्राणाधारे अद्वितीयतामनन्यप्रियतामञ्च स्वीकुरु तावत् शीघ्रमेव, हि समृद्धये । यद्वा त्वं सती प्रतिपत् प्रथमा तिथिर्नाम वर्तसे । अथ च वरे श्रेष्ठरूपे कलाधरे चन्द्रे द्वितीयतामञ्च, द्वितीया तिथिर्भव । स्वामिन्यपि द्वितीयतामञ्च, एकः स्वामी द्वितीया च त्वं भवेति वा ॥ १०६ ॥

स्वङ्गी यूनां कामिकमोदामृतधारां
यच्छन्ती यद्वद्विकलानां कमलारम् ।
बन्धूकोष्ठी नामिकमापालय गर्भं
भव्यं स्वङ्कं यन्नवगौराजिरशोभम् ॥ १०७ ॥

स्वङ्गीति । शोभनमङ्गं यस्याः सा स्वङ्गी सुलोचना, बन्धूकसदृश ओष्ठो यस्याः सा बन्धूकोष्ठी बिम्बीकुसुमतुल्याधरवती रक्ताधरेत्यर्थः । यथा कमला लक्ष्मीर्विकलानां दरिद्राणामिष्टं यच्छति तथैव सा यूनां तरुणानां कामिकं रतिसुखं तस्य मोदो हर्षः, पक्षे कामिकश्चासौ मोदो वाञ्छितहर्षः स एवामृतं तस्य धारां यच्छन्ती सती, आजि समरं

वाली है और सज्जन-समुदाय (नक्षत्र) सहित है । अब वह सभा तेरे मुखरूपी चंद्रमाके योगसे अंधकाररहित होकर चाँदनीसे युक्त तथा प्रसन्नतासे भरी-पूरी हो जाय ॥ १०५ ॥

अन्वय : अथ अनङ्गदर्शिके दृशा मादृशां प्रहर्षिके अत्र धरातले त्वं सत्प्रतिपद् इष्यत । समृद्धये शीघ्रं कलाधरे वरे द्वितीयताम् अञ्च ।

अर्थ : हे अनंगदर्शिके ! देखनेमात्रसे मुझ जैसोंको हर्षित करनेवाली राजपुत्री ! इस भूमंडलपर तू बुद्धिशालिनी प्रतिपद्के समान है। अतः वररूप (उत्तम) कलाधरके प्रति द्वितीयापनको प्राप्त कर ले ॥ १०६ ॥

अन्वय : यद्वत् कमला विकलानां (तद्वत्) यूनां कामिकमोदामृतधाराम् अरं यच्छन्ती बन्धूकोष्ठी नामिकम् आलयगर्भं भव्यं यत् स्वङ्कं नवगौराजिरशोभम् आप ।

कामक्रीडाविषयम्, लाति स्वीकरोति या सा, आजिका शोभा यस्य स नवो नूतनो गौर-आजिरशोभश्च तं भव्यं मनोहरं तथा शोभनोऽङ्गो यस्यास्तम्। तमालस्य गर्भो मध्यदेशो नाभिकनाम्ना प्रसिद्धस्तमाप। एतद्वृत्तं चक्रबन्धके लिखित्वा प्रान्ताक्षरैः 'स्वयंवरारम्भ' इति सर्गसूची ॥ १०७ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
प्रोक्ते तेन जयोदये गुणमयेऽलङ्कारसम्पन्नको
सर्गः शस्यतमः स्वयंवरविधिख्यातोऽगमत् पञ्चमः ॥

॥ इति जयोदय-महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः ॥

अर्थ : इस प्रकार वह उत्तम अंगवाली सुलोचना, जो कि युवाओंके मनमें रतिके समान हर्ष पैदा करनेवाली और दरिद्रके लिए कमलाके समान है तथा बिम्बफलके समान लाल-लाल होठ धारण करती है, सभाके मध्य पहुँची, जिस सभाका मध्यभाग उत्तम नवीन और निर्मल आँगनसे युक्त है ॥ १०७ ॥

षष्ठः सर्गः

साऽसौ विदेरिताऽऽरान्नृपपुत्रेषु स्म वै जयविचारा ।
सुदृगमीषु दृगन्तशरैर्लसति किल तीक्ष्णकोणवरैः ॥ १ ॥

सेति । सा सुदृक् मनोहराक्षी मङ्गलस्नाता सुलोचना आराच्छीघ्रमेव जये जयकुमाराख्ये राजपुत्रे, अथवा विजयलाभे विचारो यस्याः सा असौ विदा बुद्धया सुमतिनामसख्या वेरिता प्रेरिता । यद्वा सौविदेन कञ्चुकिना प्रेरिता सती तीक्ष्णकोणवरैरन्तःस्थलभेदकरैः दृगन्तैरेव शरैः कटाक्षबाणैरमीषु तेषु नृपपुत्रेषु राजनन्दनेष्वलं लसति स्म, तीव्रकटाक्षैस्तान् सविलासं पश्यति स्म ॥ १ ॥

कमुपैति सपदि पद्मा शिवसद्माऽभ्येतु किन्न गुणभृन्माम् ।
इत्येवमभिनिवेशा द्वन्द्वमतिस्तेषु परिशेषात् ॥ २ ॥

कमिति । सपदि शीघ्रं शिवसद्मा कल्याणपात्री गुणान् सौन्दर्य-सौभाग्यादिकान् बिभर्तीति गुणभृत् सा कं राजकुमारमुपैति प्राप्नोति, वरिष्यतीत्यर्थः । भविष्यत्सामीप्ये लट् । किं मां नाभ्येतु न स्वीकुर्यादित्येवं प्रकारोऽभिनिवेश आग्रहो यस्यां सा द्वन्द्वमतिर्दोलायमाना धीस्तेषु राजकुमारेषु परिशेषाद्विशेषभावेन अभूदित्याशयः ॥ २ ॥

अन्वय : सुदृक् सा असौ आरात् वै जयविचारा विदा ईरिता तीक्ष्णकोणवरैः दृगन्तशरैः अमीषु नृपपुत्रेषु लसति स्म किल ।

अर्थ : मनोहराक्षी वह राजकुमारी सुलोचना शीघ्र ही राजकुमार जयकुमारको पानेकी सोचती हुई बुद्धिदेवी या खोजेसे प्रेरित हो अन्तस्तलभेदक अपने कटाक्ष-बाणोंसे इन राजकुमारोंके बीच निश्चय ही विलसित हो उठी, चारों ओर देखने लगी, यह भाव है ॥ १ ॥

अन्वय : शिवसद्मा पद्मा सपदि कम् उपैति ? गुणभृद् इयं किं मां न अभ्येतु ? इति एवम् तेषु परिशेषात् अभिनिवेशा द्वन्द्वमतिः बभूव ।

अर्थ : कल्याणकी पात्र, लक्ष्मी-सी यह राजकुमारी किसे प्राप्त होगी ? गुणवती यह क्या मुझे स्वीकार नहीं करेगी ? कोई विशेषता न होनेसे, उन राजकुमारोंकी बुद्धि इस प्रकार आग्रहभरी और दोलायमान हो उठी ॥ २ ॥

विनयानतवदनायाः सदक्षिणा बुद्धिरत्र तनयायाः ।
वरदा सा च समायात् प्रतिपक्षहरा भुवि शुभायाः ॥ ३ ॥

विनयेति । विनियेन मार्दवभावेन आनतं वदनं मुखं यस्याः सा तस्याः शुभाया मनोहरायास्तनयाया सुलोचनाया बुद्धिनाम्नी सखी । यद्वा विदेव सदक्षिणा दक्षिणपार्श्वस्था । अथवा दक्षिणया गौरवेण समर्पितोपहारेण सहिता सा बुद्धिः सदक्षिणाऽतिकुशला सति अस्यां भुवि वरं वाञ्छितं जीवितेश्वरञ्च ददाति सा वरदा प्रतिपक्षहरा विरुद्धभावनाशिका चेत्थं सती सा बुद्धिसखी तत्रावसरे तया सह समायात् समचलत् ॥३॥

बहुलोहतया दयितान् सखी स्वयं शुद्धभावनासहिता ।
क्रमशो वसुधामहितानाहाऽमुष्यै तु पार्श्वमितान् ॥ ४ ॥

बहुलोहेति । सा शुद्धभावनया पवित्राशयेन सहिता बुद्धिनाम्नी सखी स्वयं स्वभावेनैव बहुलो बहुप्रकार ऊहो वितर्को येषु तस्य भावस्तेन दयितान् प्रियान् । यद्वा बहुलश्चासौ लोह आयसस्तद्भावेन कृत्वा दयिताननुग्रहणीयान्, वसुधया पृथिव्या महितान् आराधितान् सम्मानितान् । यद्वा, वसुनो रत्नस्य सुवर्णनाम्नो यद्धाम तेजस्तदेव हितं येषां तान् । पार्श्वं सन्निकटभावमितान् प्राप्तान् । यद्वा पार्श्वेण लोहस्य कनकत्वसम्पादकेन पाषाणेन मितान् सम्मितान् अमुष्यै बालायै क्रमश एकैकं कृत्वाऽऽह उक्तवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वय : विनयावनतायाः शुभायाः तनयायाः सदक्षिणा भुवि वरदा च प्रतिपक्षहरा सा बुद्धिः अत्र समायात् ।

अर्थ : विनयवश नम्रवदना उस राजकुमारीकी नामसे भी वह बुद्धिदेवीनामक सखी उसके साथ उसकी दाहिनी ओर चलने लगी । वह सखी उसके लिए वरदात्री थी और थी विरुद्ध भावोंको नष्ट कर देनेवाली ॥ ३ ॥

अन्वय : स्वयं शुभभावनासहिता (सा) सखी बहुलोहतया तु दयितान् वसुधामहितान् पार्श्वम् इतान् अमुष्यै क्रमशः आह ।

अर्थ : स्वयं पवित्र आशयवाली वह बुद्धिदेवीनामक सखी राजकुमारी सुलोचनाको वहाँ आये हुए भूमण्डलमें सम्मानित राजाओंको एक-एक कर बताने लगी, उनका गुणवर्णन करने लगी । वे राजा लोग तरह-तरह तर्क-वितर्कोंके शिकार होनेके कारण दयनीय थे ॥ ४ ॥

अन्ववदत् सा कञ्चुकिसूचितमपि साम्प्रतं पदैर्ललितैः ।
सूत्रार्थमिव च विद्यानन्दमतिः श्लोकसङ्कलितैः ॥ ५ ॥

अन्ववददिति । सा बुद्धिनामा सखी साम्प्रतमधुना श्लोकेन यशसा संकलितैर्युक्तैः यशस्विभिः । यद्वा, श्लोकैर्नाम द्वात्रिंशदक्षरात्मकवृत्तविशेषैः संकलितानि उपात्तानि तैर्ललितैः मनोहरैः पदैर्वाक्यात्मभिः अन्ववदन्निजगाद । कञ्चुकिना प्रबन्धकेन सूचितं सङ्केतितं राजपुत्रमिति विद्यानन्दस्याचार्यस्य मतिर्बुद्धिः सूत्रार्थं तत्त्वार्थसूत्रनामकशास्त्रमिव ॥ ५ ॥

सुनमिसुविनमिप्रभृतीन् दक्षेतरखेचरात्मजांस्तु सती ।
सुदृशं सुदर्शयन्ती प्राक् पाणिसमस्यया प्राह ॥ ६ ॥

सुनमीति । सा सती बुद्धिनामसखी नमेः पुत्रः सुनमिः, विनमेः पुत्रश्च सुविनमिस्तत्प्रभृतीन् दक्षेतरखेचराणां विजयार्धगिरौ दक्षिणोत्तरदिग्भागवासि-विद्याधराणामात्मजान् तनयात् पाणिसमस्यया हस्तस्य संज्ञया सुदृशं सुलोचनां सुदर्शयन्ती साक्षात्कारयन्ती सती प्राह वर्णयाञ्चकार, प्राक् सर्वतः प्रथमं किमुक्तवतीत्युच्यते ॥ ६ ॥

गगनाश्वानां कोटिर्येषा येषां पृथक्कथा मोटी ।
कश्चिद्वृणीष्व यश्चिद् धावति ते स्वनजितविपञ्चि ॥ ७ ॥

अन्वय : सा साम्प्रतं श्लोकसङ्कलितैः ललितैः पदैः विद्यानन्दमतिः सूत्रार्थम् इव च कञ्चुकिसूचितम् अपि अन्ववदत् ।

अर्थ : वह बुद्धिनामक सखी यशोवर्णनसे युक्त ललितवचन कंचुकी द्वारा सूचित तत्तत् राजकुमारसे इस प्रकार कहने लगी, जिस प्रकार विद्यानन्द आचार्यकी मति तत्त्वार्थ-सूत्रका अर्थ बताती है ॥ ५ ॥

अन्वय : सती (सा) प्राक् पाणिसमस्यया सुदृशं दक्षेतरखेचरात्मजान् तु सुनमिसुविनमिप्रभृतीन् सुदर्शयन्ती प्राह ।

अर्थ : वह बुद्धिदेवीनामक सखी सर्वप्रथम हाथसे संकेतकर दक्षिण-उत्तरके विद्याधरपुत्र सुनमि, सुविनमि आदि राजाओंका परिचय कराती हुई बोली ॥ ६ ॥

अन्वय : स्वनजितविपञ्चि ! एषा गगनाश्वानां कोटिः येषां पृथक्-कथा मोटी । (अतः) यं कञ्चिद् ते चित् धावति तं वृणीष्व ।

गगनाङ्गनानामिति । स्वेन कण्ठध्वनिना जिता पराभूता विपञ्ची वीणा यया सा तत्सम्बुद्धौ स्वनजितविपञ्चि स्वरमाधुर्यतिरस्कृतवीणे, एषा प्रसङ्गप्राप्ता गगनाङ्गनानामाकाशगामिनां मनुष्याणां पङ्क्तिर्वर्तते, येषां पृथक् पृथक् वर्णनवार्ता मां मानमतीति मोटी विपुलविस्तृताऽस्ति । तस्मादेतेषां मध्याद् यमेव महानुभावं ते भवत्याश्चिद् विचारधारा धावति गच्छति, तमेवैकं कञ्चिद् वृणीष्व अङ्गीकुरु ॥ ७ ॥

नगौकसश्चाखर्वे पक्षद्वयशालिनः खगाः सर्वे ।
मन्त्रोक्तपदा एवं विक्रममुपयान्ति च मुदे वः ॥ ८ ॥

नगौकस इति । हे अखर्वे गुणगुर्वि, एते सर्वे खगा आकाशगामिनः, सन्ति, वो युष्माकं मुदे प्रसत्त्यै विक्रमं शौर्यं, किं वा पक्षिणां प्रस्तावमुपयान्ति लभन्ते । यतोऽमी सर्वे नगौकसो विजयार्धपर्वतनिवासिनः, अमी पक्षिणश्च नगौकसो वृक्षनिवासिनः सन्ति । पक्षयोः पर्वतपार्श्वयोः, पक्षे गरुतोश्च द्वयं तेन शालिनः शोभमानाः । मन्त्रेण विद्याप्राप्त्युपायेन सूचनावाक्यनोक्तं सम्पादितं पदं प्रतिष्ठा येषां तेऽमी विद्याधराः पक्षिणश्च मन्त्रोक्तपदा अव्यक्तवाचो भवन्तीत्याशयः ॥ ८ ॥

किममीषां विषयेऽन्यत्पवित्रकटिमण्डले च निगदामि ।
सुरतानुसारिसमयैर्वा　　　मानवविस्मयायाऽमी ॥ ९ ॥

अर्थ : कण्ठध्वनिसे वीणाको जीतनेवाली सुन्दरी ! सुन, यह विद्याधरोंकी पंक्ति बैठी है, जिनकी अलग-अलग कथा-वर्णना अतिविशाल है। इसलिए इनमें जो भी तेरी बुद्धिको जँचे, उसे वर ले ॥ ७ ॥

अन्वय : अखर्वे पक्षद्वयशालिनः मन्त्रोक्तपदाः च नगौकसः (एते) सर्वे खगाः एवं वः मुदे विक्रमम् उपयान्ति ।

अर्थ : हे गुणगुर्वि, ये सभी खग यानी आकाशगामी विद्याधर या पक्षी हैं, जो तुम्हारी प्रसन्नताके लिए विक्रम (पराक्रम या पक्षियोंकी उड़ान) धारण करते हैं। ये दक्षिण-उत्तर दो पक्षों (या पंखों) वाले हैं। मंत्रोक्तपद (विद्या-प्राप्तिके उपायसे प्रतिष्ठाप्राप्त या अव्यक्त मधुरवाणीसे प्रतिष्ठाप्राप्त) तथा नग यानी विजयार्धपर्वत या स्थावर वृक्षके निवासी हैं ॥ ८ ॥

अन्वय : पवित्रकटिमण्डले ! अमीषां विषये च किम् अन्यत् निगदामि, अमी सुरतानुसारिसमयैः वा मानवविस्मयाय सन्ति ।

किमिति । हे पवित्रकटिमण्डले, पवित्रंवंशं तस्मात्त्रायत इति पवित्रं कटिमण्डलं यस्याः सा तत्सम्बोधने, अमीषां विद्याधराणां विषयेऽन्यत् किं वदामि यदमी सर्वेऽमी सर्वेऽपि वा किल निश्चयेन सुरता देवत्वं तस्यानुसारिणः समया आचारास्तैः कृत्वा मानवानां नराणां विस्मयाय आश्चर्याय, यद्वा सुरतं मैथुनं तस्यानुसारिभिः समयैस्तैः कृत्वा वामानां स्त्रीणां नवो नूतनो यो विस्मयस्तस्मै विस्मयाय भवन्ति । स्त्रीषु नित्यं नूतनमाश्चर्यमुत्पादयन्ति ॥ ९ ॥

वैद्योपक्रमसहितांस्तत्र नभोगाधिभुव इमान् सुहिता ।
तत्याज सपदि दूरा मधुराधरपिण्डखर्जूरा ॥ १० ॥

वैद्येति । तत्र सभायां सा सुहिता सम्यक् हितेच्छुका मधुरो मधुररसयुक्तोऽधर ओष्ठ एव पिण्डखर्जूरं यस्याः सा सुलोचना सपदि शीघ्रमिमान् नभोगाधिभुवो नभश्चरान् । यद्वा भोगानामधिभुवोऽधिकारिणो न भवन्तीति तान् । वैद्योपक्रमसहितान् विद्यायाः उपयोगयुक्तान्, यद्वा वैद्यानां प्राणाचार्याणामुपक्रमैः वमनविरेचनादिभिः सहितान् । मत्वा दूरादेवानवलोकनेनैव किल तत्याज उन्मुमोच, नास्माकं भोगेच्छावतीनां योग्या इत्यालोच्येत्यर्थः ॥ १० ॥

अनुकूले सति सुरथे विदां मुखाब्जान्यगुश्च मोदपथे ।
प्रतिकूले म्लानान्यपि तस्मिन् मूर्तेः प्रभावत्याः ॥ ११ ॥

अर्थ : हे पवित्रकटिमण्डले ! मैं इनके विषयमें अधिक क्या कहूँ ? ये सुरतानुसारी समयवाले हैं, अर्थात् देवताओंकी बराबरी करनेवाले एवं सुरतमें कुशल हैं। अतः स्त्रियों एवं मानवोंको भी आश्चर्यान्वित करनेवाले हैं ॥ ९ ॥

अन्वय : मधुराधरपिण्डखर्जूरा सुहिता सा तत्र इमान् वैद्योपक्रमसहितान् नभोगाधिभुवः सपदि दूरात् तत्याज ।

अर्थ : सुलोचनाने इस कथनपर सोचा कि ये तो विद्यासम्बद्ध उपक्रमसे सहित एवं वैद्योपक्रम यानी रोगी हैं, इसलिए नभोगाधिभुव हैं अर्थात् आकाशमें चलनेवाले पक्षियोंके समान हैं। अतएव ये भोगयोग्य नहीं। यह सोचकर पिंडखजूर-से मधुर होठोंवाली सुलोचनाने उन्हें त्याग दिया ॥ १० ॥

अन्वय : प्रभावत्याः मूर्तेः सुरथे अनुकूले सति विदां मुखाब्जानि मोदपथे अगुः । च तस्मिन् प्रतिकूले (सति) म्लानानि अपि ।

अनुकूलेति । प्रभावत्याः सुलोचनाया मूर्तेः शरीरस्य । यद्वा प्रभावत्या इत्येतन्मूर्तेः विशेषणं, ततः प्रभासहिताया मूर्तेः सुलोचनाया एव । कमलपक्षे च सूर्यस्य सुरथे अनुकूले-ऽभिमुखभावमिते सति विदां विद्याधराणां मुखान्येवाब्जानि कमलानि तानि मोदपक्षे प्रसन्नतामार्गे अनुरगमन् प्रफुल्लान्यभवन्नित्यर्थः । पुनस्तस्मिन् रथे प्रतिकूले सति तानि म्लानानि मलिनानि जातानीति ॥ ११ ॥

रथधुर्या अनयन्ताम्बरचारिभ्यो धराचलकुलं ताम् ।
कमलेभ्यः कुमुदशिवं शशिकिरणा हासभासमिव ॥ १२ ॥

रथधुर्येति । रथधुर्या यानवाहका जनास्तां सुलोचनामम्बरचारिभ्यो विद्याधरेभ्य आदाय धराचराणां भूमिगोचराणां भूपतीनां कुलं समाजमनयन्त, यथा शशिनश्चन्द्रस्य किरणा हासभासं विकासशोभां कमलेभ्य आकृष्य कुमुदानां शिवं विकाससौभाग्यं नयन्ति ॥ १२ ॥

चक्रिसुतादींश्च रसाद् राजतुजो भूचरानथाऽऽदरसात् ।
सा स्थललक्षणसुगुणादिभिः क्रमादाह च प्रगुणा ॥ १३ ॥

अर्थ : प्रभावती मूर्तिवाली उस सुलोचनाका रथ अपनी ओर मुड़नेपर उन विद्वान् विद्याधरोंके मुख-कमल खिल उठे और उसके प्रतिकूल (दिशामें) होनेपर पुनः वे (मुखकमल) ठीक उसी तरह मुरझा गये, जिस तरह प्रभा-शरीर सूर्यके अनुकूल (सम्मुख) होनेपर कमल विकसित होते और उसके प्रतिकूल होनेपर संकुचित हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अन्वय : शशिकिरणाः हासभासं कमलेभ्यः कुमुदशिवम् इव रथधुर्याः ताम् अम्बर-चारिभ्यः धराचरकुलम् अनयन्त ।

अर्थ : जिस प्रकार चंद्रमाकी किरणें कमलों परसे विकास-कला हटाकर कुमुदोंके समूहपर ले जाती हैं, उसी प्रकार पालकीके ढोनेवाले लोग सुलो-चनाको आकाशचारी विद्याधरोंके समूहसे हटाकर भूमिगोचर भूपतियोंके समूह-की ओर ले गये ॥ १२ ॥

अन्वय : अथ सा प्रगुणा आदरसात् रसात् च चक्रिसुतादीन् भूचरान् राजतुजः च स्थललक्षणसुगुणादिभिः क्रमात् आह ।

चक्रिसुतेति । अथ विद्याधरवर्णनानन्तरं सा प्रगुणा प्रकृष्टगुणवती सखी चक्रिसुतोऽर्ककीर्तिः स आदिर्येषां तान्, भुवि चरन्तीति भूचरास्तान् राजतुजो भूपतिबालकान्, स्थलं निवासस्थानं, लक्षणमाकृतिः, सुगुणाः शौर्यादयस्त आदिर्येषां ते तैः कृत्वा, आदरात् नम्रतापूर्वकं रसान्माधुर्याद् यथाक्रममाह जगाद ॥ १३ ॥

भरतेशतुगेष तवाथ रतेः स्मरवत् किमर्ककीर्तिरयम् ।
अम्भोजमुखि भवेत्सुखि आस्यं पश्यन् सुहासमयम् ॥ १४ ॥

भरतेशेति । अयं भरतेशस्य तुक् कुमारोऽर्ककीर्तिः रविरिव कीर्तिर्यस्य सः, हे अम्भोजमुखि, कमलवत् प्रफुल्लानने, तव प्रसन्नतया सुहास्यमयम् ईषत्स्मितान्वितमास्यं मुखं पश्यन् सुखी भवेत् किमिति । पृच्छामीति शेषः, तवेच्छाया एव बलीयस्त्वात् । कस्याः क इव रतेरास्यं पश्यन् स्मरवत् । अथेत्यव्ययं शुभार्थे ॥ १४ ॥

को राजाऽवनिभाजां येन कृतोऽमुष्य नाधुना विनयः ।
अतुलप्रभावतोऽस्माद्भयान्वितो भानुरपि कदयः ॥ १५ ॥

को राजेति । अधुना स कोऽवनिभाजां भूनिवासिनां राजाऽधिपतिर्वर्तते येन अमुष्यार्ककीर्तेः विनयः सम्मानो न कृतः स्यात्, यतोऽतुलोऽसाधारणः प्रभावो यस्य ततः । यद्वा, अतुला प्रभा कान्तिर्यस्य तद्वतोऽस्माद्राज्ञः सभया प्रभयान्वितो युक्तः, यद्वा भयेनान्वितो वा भूत्वा भानुरपि सूर्योऽपि कदयः कुत्सितोऽयो गमनं यस्य अनृजुगमनः, अथ च के स्वात्मनि दयाऽनुकम्पा यस्य स एवम्भूतो वर्तते, अर्थाद्भयमन्तरा तस्यैतादृशं सततगमनं न स्यादिति ॥ १५ ॥

अर्थ : वह गुणवती बुद्धिदेवी आदरपूर्वक प्रसन्नताके साथ चक्रीके सुत अर्ककीर्ति आदि भूमण्डलके राजकुमारोंका वर्णन करने लगी कि यह अमुक स्थलका राजा है, इसका यह स्वरूप है और इसमें ये गुण हैं ॥ १३ ॥

अन्वय : अथ अम्भोजमुखि ! अयम् एषः भरतेशतुक् अर्ककीर्तिः तव सुहासमयम् आस्यं पश्यन् रतेः स्मरवत् किं सुखी भवेत् ?

अर्थ : हे अम्भोजमुखि ! यह भरत चक्रवर्तीका पुत्र अर्ककीर्ति है। यह तुम्हारे हास्यमय मुखको देखता क्या उसी प्रकार सुखी हो जायगा, जिस प्रकार रतिका मुख देख कामदेव सुखी होता है ? ॥ १४ ॥

अन्वय : अधुना अवनिभाजां सः कः राजा येन अमुष्य विनयः न कृतः । अतुलप्रभावतः अस्मात् भानुः अपि भयान्वितः कदयः अस्ति ।

भुवने न मातुमुचितं चितमस्य यशो हि हंसवाक् सुहिते ।
तत्तुल्यनामधारिणि वारिणि सञ्चरति रतितुलिते ॥ १६ ॥

भुवन इति । हे रतितुलिते, रतितुल्यरूपे, शृणु अस्यार्ककीर्तेः यशो यद् भुवने विश्वमात्रेऽपि मातुमुचितं नैवाभूत्, ततोऽप्युद्वृत्तमासीत् । तदेव हि किल हंसवाक् हंसापरनामधारकं भवत् तेन भुवनेन तुल्यं सदृशं यद्भुवनमिति नाम तद्धारिणि वारिणि जले सञ्चरति पर्यटति । एतदस्मदीयं मतमस्तीति शेषः ॥ १६ ॥

अयमन्वर्थकनामा राजीवकुलप्रसादकृद्धामा ।
यद्दर्शनेन कैरवकदम्बको ग्लानिमानभवत् ॥ १७ ॥

अयमिति । अयं महाशयोऽर्कस्य सूर्यस्य कीर्तिरिव कीर्तिर्यस्येत्येवम् अन्वर्थकनामा यथार्थनामधारकोऽस्ति । यतोऽयं राजीवानां राजपुरुषाणां, पक्षे कमलानां कुलं समूहस्तस्मै प्रसादं प्रसन्नतां करोति, इति प्रसादकृद्धाम तेजो यस्य स एष भरतपुत्रो यस्य दर्शनेनैव हि, किं पुनः कोपप्रयोगेण कैरवाणां शत्रूणां, पक्षे कुमुदपुष्पाणां कदम्बकः समूहः स पुनः ग्लानिमान् मलिनमुखो ग्लानिमांश्चाभवत् ॥ १७ ॥

अर्थ : भूमण्डलमें ऐसा कौन-सा राजा है जो इसकी आज्ञाको न मानता हो (इसके कहनेमें न चलता हो)। अतुल प्रभाववाले इससे भयभीत होकर भानु भी इधर-उधर तिरछा दौड़ता है ॥ १५ ॥

अन्वय : रतितुलिते सुहिते ! अस्य यशः भुवने न मातुम् उचितम्, तत् चितं सत् हंसवाक् । तत्तुल्यनामधारिणि वारिणि सञ्चरति ।

अर्थ : हे रतितुलिते ! सुहिते ! इसका यश सारे भुवन (ब्रह्माण्ड) में नहीं समा सका। इसीलिए हंसोंके रूपमें एकत्र हो इस 'भुवन'-नामधारी जलमें क्रीड़ा कर रहा है ॥ १६ ॥

अन्वय : अयम् अन्वर्थकनामा, (यतः) राजीवकुलप्रसादकृद्धामा यद्दर्शनेन कैरवकदम्बकः ग्लानिमान् अभवत् ।

अर्थ : इसका अर्ककीर्ति नाम सार्थक है, क्योंकि यह राजीव (कमल तथा राजपुरुषोंके) कुलको प्रसन्न करनेवाला है। इसे देखते ही कैरवोंका समूह (शत्रु और रात्रिविकाशी कमल) मलिन हो जाते हैं ॥ १७ ॥

इत्येवमर्ककीर्तेः पल्लवमतिहृल्लवं स्म जानाति ।
स्मरचापसन्निभभ्रूः कटुकं परमर्कदलजातिः ॥ १८ ॥

इत्येवमिति । इत्येवं सख्या प्रोक्तमर्ककीर्तेः पल्लवं प्रशंसनं सा स्मरचापेन कामदेव-धनुषा सन्निभे तुल्ये भ्रुवौ यस्याः सा सुलोचनाऽर्कदलस्य जातिरिव जातिर्यस्य तत् परं केवलं कटुकम्, अत एव हृल्लवं मनोरथमतिवर्तते तदतिहृल्लवं जानाति स्म ॥ १८ ॥

भ्रूभङ्गमङ्गजाया लिङ्गं तदनादरेऽम्बिका साऽयात् ।
अस्मिन् पर्वणि तमसा रभसादसितोऽभितोऽर्कयशाः ॥ १९ ॥

भ्रूभङ्गमिति । साऽम्बिका बुद्धिरङ्गजायाः सुलोचनाया भ्रुवोर्भङ्गं विकृतिमेव तस्मिन्नर्ककीर्तौ योऽनादरः प्रीत्यभावस्तस्मिँल्लिङ्गं कारणमयादजानात् । अर्कयशा अर्ककीर्तिश्च अस्मिन् पर्वणि महोत्सवे ग्रहणावसरे च रभसाच्छीघ्रमेव अभितः समस्तभावतो न सितोऽसितो मलिनोऽवमानतमसाच्छन्नः, अभवदिति शेषः ॥ १९ ॥

गिरमपरस्मिन्निष्टे महाशये सा शयेन निर्दिष्टे ।
सारयति स्माऽभिनये शृण्विति सकुशेशयेष्टशये ॥ २० ॥

अन्वय : स्मरचापसन्निभभ्रूः इति एवम् अर्ककीर्तेः पल्लवम् अतिहृल्लवं परम् अर्कदलजातिः कटुकं जानाति स्म ।

अर्थ : कामदेवके धनुषके समान सुन्दर भ्रुकुटिवाली सुलोचनाने इस प्रकार अर्ककीर्तिके विषयमें कहे पदोंको हृदयके लिए असुहावना समझा, जैसे कि कडुवा आकका पत्ता ॥ १८ ॥

अन्वय : सा अम्बिका अङ्गजायाः भ्रूभङ्गं तदनादरे लिङ्गम् अयात् । तस्मिन् पर्वणि अर्कयशाः रभसा अभितः तमसा असितः अभवत् ।

अर्थ : उस बुद्धिदेवीने सुलोचनाके भ्रूभंगको देख अर्ककीर्तिके विषयमें उसका अनादर समझ लिया । (फलतः) उसी महोत्सवमें शीघ्र ही अर्ककीर्तिका मुँह तमसे चारों ओरसे अपमानके आच्छन्न हो गया ॥ १९ ॥

अन्वय : सुकुशेशयेष्टशये ! शृणु इति तस्मिन् अभिनये सा शयेन निर्दिष्टे अपरस्मिन् इष्टे महाशये गिरं सारयति स्म ।

गिरमिति । अस्मिन्नभिनये समारोहे सभासङ्कटने सा सखी हे मुकुशेशयेन विकसित-कमलेनेष्टः पूजितः शयो हस्तो यस्याः सा तत्सम्बोधने हे प्रफुल्लपङ्कजाधिकमनोहरकरे शृणु निशम्यतां तावदिति सुलोचनामभिमुखीकृत्य, अपरस्मिन् कस्मिंश्चिदिष्टे वाञ्छिते तत एव शयेन हस्तेन निर्दिष्टे सङ्केतिते महाशये समुदारहृदये राजपुत्रे गिरं वाणीं सारयति स्म प्रसारितवती ॥ २० ॥

अयमिह कलिङ्गराजः कलिङ्ग इव ते पयोधरासारम् ।
पश्यति शस्यतिलाङ्के नश्यतु तृष्णाप्यमुष्यारम् ॥ २१ ॥

अयमिति । शस्यः सामुद्रिकशास्त्रानुकूलप्रशंसार्हस्य तिलस्याङ्कश्चिह्नो यस्याः सा तत्सम्बोधने, हे सुलक्षणे, इहास्मिन्नवसरेऽयं कलिङ्गदेशस्य राजा ते तव सरसायाः पयो-धरयोरासारं विस्तारम् । यद्वा, पयोधराणां मेघानामासारं प्रवर्षणं पश्यति, साभिलाष-मीक्षते । 'आसारस्तु प्रसरणे धारावृष्टौ सुहृद्बले' इति विश्वलोचनः । कलिङ्ग इव चातक-पक्षीव, यथा चातको मेघानां वर्षणमपेक्षते तथैव पुनरमुष्य तृष्णा पिपासावन्नश्यतु विनाशं यातु । अतस्त्वमस्य कण्ठे वरमालां परिधापयेति भावः ॥ २१ ॥

सुन्दरि कलिङ्गजानां कलिङ्गजानां शिरःश्रिया श्रयतात् ।
पीवरपयोधरद्वयरयेण येन स्थितोदयता ॥ २२ ॥

अर्थ : तब फिर उस बुद्धिदेवीने उस अभिनयमें सुन्दर कमलके समान हाथोंवाली सुलोचनाको संबुद्धकर अपने हाथोंद्वारा निर्दिष्ट किसी दूसरे अभीष्ट महाशयके बारेमें अपनी वाणीका प्रसारण प्रारम्भ किया । अर्थात् वह कहने लगी ॥ २० ॥

अन्वय : शस्यतिलाङ्के ! इह अयं कलिङ्गराजः कलिङ्गः इव ते पयोधरासारं पश्यति । अरं अमुष्य अपि तृष्णा नश्यतु ।

अर्थ : सामुद्रिकशास्त्रोक्त प्रशंसनीय तिलचिह्नवाली सुलक्षणे ! यह कलिंग-राज है, जो चातकके समान तेरे पयोधरोंके आसार (विस्तार या धारासंपात) की ओर देख रहा है । इसकी भी प्यास चातककी-सी उनसे बुझे ॥ २१ ॥

अन्वय : सुन्दरि ! त्वं येन उदयता पीवरपयोधरद्वयरयेण स्थिता असि, (तेन) कलिङ्गजानां गजानां शिरःश्रिया सह कं्न श्रयतात् ।

सुन्दरीति । हे सुन्दरि शोभने पीवरयोः पुष्टयोः पयोधरयोर्द्वयस्य रयेण वेगेन उत्साहेति येनोद्वयोन्नतिशीलेन त्वं स्थिता । कलिङ्गे नाम देशे जाताः कलिङ्गजास्तेषां कलिङ्गजानां गजानां हस्तिनां शिरःश्रिया कुम्भस्थलशोभया समं कलिं कलहं श्रयतात् सेवताम् । राज्ञाऽमुना सह पाणिग्रहणं कृत्वा अमुष्य देशे जातानां गजानां मस्तकेन समं स्तनयोस्तुलना सुलभाऽस्तु ॥ २२ ॥

चतुराणां चतुराणामतुच्छतुष्टिं नयन्नयन्तु सभाम् ।
तनुतेऽनुतेजसा स्वां कलिङ्गराजाभिधां सुलभाम् ॥ २३ ॥

चतुराणामिति । अयं महाशयश्चतुराणां विज्ञजनानां चत्वार आणाः प्रकारा यस्याः सा तां सभापति-सभ्य-वादि-प्रतिवादीति चतुरङ्गपूर्णां तामतुच्छा चासौ तुष्टिः सन्तोषोत्पत्तिस्तां नयन् प्रापयन् तेजसा निजप्रभावेण सभानिर्वहणकौशलेनानु पुनरसौ स्वां स्वकीयां कलिङ्गराजाभिधां कलिङ्गानां चतुराणां राजासावित्येवं कृत्वा सुलभां तनुते करोतीत्यर्थः । 'नीवृद्भेदे कलिङ्गस्तु त्रिषु दग्धविदग्धयोरि'ति कोषात् ॥ २३ ॥

कोषापेक्षी करजितवसुधोऽयं भूरिधा कथाधारः ।
शैलोचितकरिचयवान् इह कम्पमुपैतु रिपुसारः ॥ २४ ॥

कोषापेक्षीति । अयं कलिङ्गराजः कोषं द्रविणागारमपेक्षत इति कोषापेक्षी निधानोद्धारकर इत्यर्थः । करेण स्वहस्तेनैव कृत्वा जिता शत्रुभ्यः स्वायत्तीकृता वसुधा येन सः

अर्थ : हे सुन्दरि ! तुम जिन उन्नत परिपुष्ट कुचद्वयके उत्साहमे स्थित हो, वे कुचद्वय कलिंगदेशमें उत्पन्न हाथियोंके कुंभस्थलका शोभाके साथ प्रतिस्पर्धा करने लगे । अर्थात् इस कलिंगराजके साथ विवाहकर उसके देशमें उत्पन्न हाथियोंके मस्तकके साथ तुम्हारे स्तनोंके लिए तुलना सुलभ हो ॥ २२ ॥

अन्वय : अयं चतुराणां चतुराणां सभां तु अतुच्छतुष्टिं नयन् तेजसा अनु स्वां कलिङ्गराजाभिधां सुलभां तनुते ।

अर्थ : यह कलिंगराज वास्तवमें कलिंग अर्थात् चतुरोंका राजा है, क्योंकि यह चतुर अर्थात् चार प्रकारों (सभापति, सभ्य, वादी, प्रतिवादी) वाली चतुरोंकी सभाको अपने तेजसे सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करता रहता है ॥ २३ ॥

अन्वय : अयं कोषापेक्षी करजितवसुधः भूरिधा कथाधारः शैलोचितकरिचयवान् (अस्ति) । इह रिपुसारः कम्पम् उपैति ।

अर्थ : यह राजा अखण्ड कोष (खजाने) वाला है, संपूर्ण पृथ्वीसे कर लेता है । इस राजाकी अनेक लोग अनेक तरहसे कथा गाते हैं, तथा यह पर्वतके

भूरिधा नानारूपेण कथायाः प्रशंसाया आधारः स्थानमस्ति। शैलोचिताः पर्वतवदुन्नता ये करिणो हस्तिनस्तेषां चयवान् संग्रहवान् भवति किल। इह पुनर्यो रिपुसारो वैरिशिरोमणिः स कम्पमुपैति वेपते, ककारस्थाने पकारमुपैति। तथैव च पोषापेक्षी स्वोदरपोषणमप्यपेक्षते, परजितवसुधो भवति परेण पराक्रमिणा जिता वसुधा यस्येति भूरिधा पथाधारो भवति, भयभीतः सन् नानामार्गपरायणः शैलोचितपरिचयवान् पर्वतप्रदेशनिवासवान् भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

बाला कलिङ्गतानां राजानमुदीक्ष्य संविभजनीयम्।
पातयति स्म न दृशमपि पातयतिं तर्कयन्तीयम् ॥ २५ ॥

बालेति। कलिं कलहं पापं वा गच्छन्ति स्वीकुर्वन्ति ते कलिङ्गास्तेषां कलिङ्गानां कलिङ्गतानां राजानं शिरोमणिमित्येवं कृत्वा संविभजनीयं परिहारयोग्यमुदीक्ष्य विचार्य पातस्य असत्सङ्गमरूपस्य यतिमनादरमेव श्रेय इति इति तर्कयन्ती मनसि स्मरन्तीयं सुलोचना तस्य राज्ञो दिशि दृशमपि न पातयति स्म, दृष्टिदानमपि न चकार। 'यतिर्यतिनि पुंसि स्त्री पाठभेदनिकारयोरि'ति ॥ २५ ॥

सुरभिममूं यान्यजना निन्युः स्थानान्तरं तरां जवतः।
लक्ष्मीवतः सुमनसां प्रमुखादपि मारुता हि ततः ॥ २६ ॥

समान हाथियोंके समूहवाला है। अतः इसके सामने शत्रुशिरोमणि भी कांपने लगते हैं।

दूसरा अर्थ : कलिगराजके इन्हीं विशेषणोंमें जहाँ 'क' है, वहाँ उसके शत्रु 'प' को प्राप्त करते हैं। अर्थात् 'पोषापेक्षी' (उदरपोषणकी अपेक्षावाले), 'परजितवसुधा' (जिनकी भूमि शत्रुओंने जीत ली) और 'भूरिधा पथाधार' (भयभीत हो इधर-उधर भटकनेवाले) शैलोचित परिचयवाले यानी पर्वतवासी हैं ॥ २४ ॥

अन्वय : कलिङ्गतानां राजानं संविभजनीयम् उदीक्ष्य पातयतिं तर्कयन्ती इयं बाला दृशम् अपि न पातयति स्म।

अर्थ : सुलोचनाने यह सोचकर कि कलिगराजका अर्थ कलह करनेवाले लोगोंका मुखिया राजा है, इसलिए यह सर्वथा परिहरणीय है, उसकी ओर नजर भी नहीं डाली ॥ २५ ॥

अन्वय : मारुता हि यान्यजनाः ततः सुमनसां प्रमुखात् लक्ष्मीवतः अमुं सुरभिं ततः जवतः स्थानान्तरं निन्युस्तराम् अपि।

सुरभिमिति । मारुता वायव इव जवशीलास्ते यान्यजनाः शिबिकावाहकास्ततस्तस्मात् सुमनसां मनस्विनां कुसुमानां च प्रमुखात् प्रधानात्, लक्ष्मीवतः सम्पत्तिशालिनः पद्मासद्मनश्च राज्ञः कमलाद्वा, अमुं सुरभिं विख्यातरूपां बालिकां सुगन्धततिं वा जवत एव वेगादेव स्थानान्तरमन्यस्थानं निन्युस्तराम्, अपीति विस्मये ॥ २६ ॥

वागाह तदनुबाहुर्निजबाहुनिवारितारिपरिवारम् ।
स्वपुषं गुणैकवपुषं स्मरवपुषं निस्तुषमुदारम् ॥ २७ ॥

वागाहेति । निजबाहुना निवारितोऽरिपरिवारो येन तं, स्वं ज्ञातिजनं पुष्णातीति तं गुणैकवपुषं गुणमयशरीरं स्मरस्य वपुरिव वपुर्यस्य स तं कामतुल्यसुन्दरदेहं निस्तुषं दोषवर्जितमुदारमक्षुद्रहृदयमित्येवं विशेषणविशिष्टराजानं तदनुबाहुस्तद्दिशि प्रसारितभुजा सती वाग्-नामसखी सुलोचनां प्रति वक्ष्यमाणप्रकारेण वर्णयामास ॥ २७ ॥

स्मररूपाधिक एषोऽस्ति कामरूपाधिपोऽथ सुमनोज्ञा ।
रतिमतिवर्तिन्यस्मादस्यासि च वल्लभा योग्या ॥ २८ ॥

स्मरेति । एष कामरूपाधिपः कामरूपदेशस्य नायकः कामरूपस्यापि अधिपत्वात् स्वामिभावादिति कृत्वा स्मरादप्यधिकसुन्दरोऽस्ति । त्वञ्च हे सुलोचने रतिं नाम कामस्य

अर्थ : जिस प्रकार हवाएँ सुरभि (सुगंध) को कमल परसे उड़ाकर दूर ले जाती हैं, उसी प्रकार पालकीके ढोनेवाले लोग लक्ष्मीवानोंमें प्रमुख उस राजाके पाससे विख्यातरूपा उस बालाको दूर हटा ले गये ॥ २६ ॥

अन्वय : निजबाहुनिवारितारिपरिवारं स्वपुषं गुणैकवपुषं स्मरवपुषम् उदारं निस्तुषं तदनुबाहुः (सती) वाक् आह ।

अर्थ : इसके बाद अपनी भुजाओंसे वैरियोंके परिवारोंके निवारक, गुणमय शरीरवाले, अपने लोगोंके पोषक, अत्यन्त उदार और कामदेवके समान सुन्दरशरीरवाले निर्दोष राजकुमारकी ओर अपना हाथ (हाथका संकेत) करती वाणीनामक सखी बोली ॥ २७ ॥

अन्वय : एषः कामरूपाधिपः स्मररूपाधिकः अस्ति । अथ च त्वं रतिम् अतिवर्तिनी सुमनोज्ञा, अस्मात् अस्य योग्या वल्लभा असि ।

स्त्रियमतिवर्तिनी उल्लङ्घितवती, अत एव सुमनोज्ञाऽतिशयसुन्दरी मनसोऽनुकूला चेति स्मर-रूपस्य कामदेवसौन्दर्यस्याधिं व्याधिं पाति कुरुते स कामरूपाधिप इति कृत्वा कामस्य शत्रुः, त्वञ्च कामस्त्रियमुल्लङ्घितवतीत्यस्माद्धेतोः अस्य वल्लभा योग्याऽसि ॥ २८ ॥

काष्ठागतपरसार्थं विभूतिमान् तेजसा दहत्यवशः ।
तेनास्याशयरूपं स्वतो भवति भस्मशुभ्रयशः ॥ २९ ॥

काष्ठागतेति । अयं राजाऽवशो निरङ्कुशः सन् विभूतिमान् वैभवसंयुक्तः, अथ चाग्निरूपत्वाद् विभूतिमान् भस्माधिकारी च भवन् तेजसा प्रभावेण स्वगतेनौष्ण्येन वा दहति भस्मसात्करोति, कमिति चेत् काष्ठासु दिक्षु गतानां स्थितानां परेषां शत्रूणां सार्थं समूहम् । वह्निपक्षे काष्ठाद् इन्धनादागत उपलब्धो यः परो बृहद्रूपः सार्थस्तं तेनैव हेतुनाऽस्य महाशयस्याशयरूपं लक्षणात्मकं शुभ्रं धवलं च तद्यशस्तदेव भस्म स्वत एव भवति । विद्यते भस्मवच्छुभ्रं तद्यश इति भावः ॥ २९ ॥

यत्पादयोः पतित्वाऽन्यभूपकरकुड्मलं व्रजति बाले ।
रत्नत्रयसंसूचक - चित्रकरुचि - मवनितलभाले ॥ ३० ॥

यत्पादयोरिति । अन्यभूपस्य वैरिनृपस्य करयोर्हस्तयोः कुड्मलं यस्य पादयोर्मध्ये पतित्वा निपत्य, हे बाले, अस्मिन्नवनितलस्य भाले भूभागललाटे रत्नत्रयस्य सम्यग्दर्शन-

---

अर्थ : हे सुलोचने ! यह कामरूप देशका अधिपति कामदेवसे भी अधिक मनोज्ञ है और तू रतिको लज्जित करनेवाली अतिसुन्दर है। इसलिए तू इसकी वल्लभा होने योग्य है ॥ २८ ॥

अन्वय : विभूतिमान् अवशः तेजसा काष्ठागतपरसार्थं दहति । तेन अस्य आशयरूपं भस्मशुभ्रयशः स्वतः भवति ।

अर्थ : यह राजा निरंकुश हो वैभवशाली है और इसने अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंमें स्थित वैरियोंको वैसे ही नष्ट कर दिया है जैसे अग्नि अपनी दाहकता-से काठके बड़े सामानको जला देता है। इसीलिए इसका भस्मके समान शुभ्र यश स्वतः ही चारों तरफ फैल रहा है ॥ २९ ॥

अन्वय : बाले ! यत्पादयोः पतित्वा अन्यभूपकरकुड्मलम् अवनितलभाले रत्नत्रय-संसूचकचित्रकरुचिं व्रजति ।

ज्ञानचारित्ररूपस्य संसूचकं यच्चित्रकं नाम तिलकं तस्य रुचिं शोभां व्रजति। वैरिणः स्वयमागत्यास्य पादयोः पतन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

अनुनामगुणममुं पुनरहो रहोवेदिनी मनीषाभिः।
न त्वाप सापदोषाऽप्यनङ्गरूपाधिपं भाभिः ॥ ३१ ॥

अनुनामेति। साऽपदोषा दोषरहिता सुलोचनेमं कामरूपाधिपं भाभिः कान्तिभिः कृत्वाऽनङ्गरूपेणाधिकं रूपं यस्य तं पुनरहो मनीषाभिर्निजधारणाभिः कृत्वा रहसो रहस्यस्य वेदिनी संवेदनकर्त्री सती एनमनुनामगुणम्, अनङ्गस्य रूपे लिङ्गे आधिं रुजं पातीत्यनङ्ग-रूपाधिपं, नपुंसकमिति यावत्, तस्मादेनं न प्राप नाङ्गीचकार। तत्त्वतस्तु सा तं न तादृशं नपुंसकरूपतामापन्नं न प्राप न ज्ञातवती ॥ ३१ ॥

चालितवती स्थलेऽत्रामुकगुणगतवाचि तु सुनेत्रा।
कौतुकितयेव वलयं साङ्गुष्ठानामिकोपयोगमयम् ॥ ३२ ॥

चालितवतीति। अमुकस्य कामरूपाधिपस्य गुणेषु गुणसंकीर्तन इत्यर्थः। गता संसक्ता वाक् यत्र तस्मिन्नत्र स्थले प्रसङ्गे तु सा सुनेत्रा शोभनाक्षी सुलोचनाऽङ्गुष्ठेन सहिता

अर्थ : बाले ! यह कामरूपाधिप वह राजा है, जिसके पैरोंमें पड़कर दूसरे राजा लोगोंके हाथ कुड्मल बन जाते हैं, अतएव वे रत्नत्रयके सूचक तिलकको शोभा धारण करते हैं ॥ ३० ॥

अन्वय : अहो पुनः सा अपदोषा अपि मनीषाभिः रहोवेदिनी अमुम् अनुनामगुणं भाभिः अनङ्गरूपाधिपं न तु आप।

अर्थ : कामरूपाधिप इस नामसे ही स्पष्ट हो रहा था कि यह अपने कामांग-में गुप्तरूपसे व्याधि संजोये हुए है। अतः आश्चर्य है कि अपनी विचारशीलतासे गूढ-रहस्यको जान लेनेवाली निर्दोषरूपा उस सुलोचनाने उसे नामानुसार गुणवाला जानकर स्वीकार नहीं किया ॥ ३१ ॥

अन्वय : सुनेत्रा तु अत्र स्थले अमुकगुणगतवाचि साङ्गुष्ठानामिकोपयोगमयं वलयं कौतुकितया इव चालितवती।

अर्थ : कामरूपदेशाधिपके इस गुण-वर्णनके अवसरपर सुनयना सुलोचनाने

अनामिका साङ्गुष्ठानामिका तस्या उपयोगमयं संयोगचारकं वलयं स्वकङ्कणं कौतुकितयेव विनोदभावेनेव चालितवती। कङ्कणचालनेन स्थानान्तरगमनाय उक्तवतीत्यर्थः। कङ्कण-चालनं स्त्रीजातिस्वभावः ॥ ३२ ॥

नयति स्म स जन्यजनो भगीरथो जह्नुकन्यकां सुयशाः ।
सुकुलाद् भूभृत इतरं कुलीनमपि भूभृतं सुरसाम् ॥ ३३ ॥

नयति स्मेति। स सुयशाः प्रशंसनीयो जन्यानां जनः समूहो जन्यजनः संवाहक-लोकस्तां सुरसां शुभशृङ्गारां कन्यकां सुलोचनां सुकुलाद् भूभृतः कुलीनभूपालादितरं कुलीनभूभृतं सद्वंशजनृपं नयति स्म। यथा यशस्वी भगीरथः सुरसां निर्मलजलपरिपूर्णां जह्नुकन्यकां गङ्गां हिमालयनामकुलपर्वतात् कैलासाख्यं कुलपर्वतं नीतवान् ॥ ३३ ॥

उक्तवती सुगुणवती दरवलिताङ्गं तदाभिमुख्येन ।
अन्यमनन्यमनोज्ञं पश्यावनिपं सुमुख्येनम् ॥ ३४ ॥

उक्तवतीति। सुगुणवती परोपकारिणी वाणी नाम सखी तस्य वर्ण्यमानजनस्या-भिमुख्येन संमुखत्वेन दरमीषद्वलितं वक्रतामितमङ्गं यत्र यथा स्यात्तया उक्तवती जगाद यद् हे सुमुखि शुभानने अनन्यमनोज्ञमद्वितीयसुन्दरमेनं नयनयोरग्रे स्थितं पश्य निभालय, अन्यमितरमनालोकितपूर्वमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

कौतुकवश अनामिका अंगुली और अंगूठेद्वारा अपने वलयको घुमा दिया, जिससे मानो यह संकेत किया कि यहाँसे आगे चलो ॥ ३२ ॥

अन्वय : सुयशाः भगीरथः जह्नुकन्यकाम् इव सुकुलाद् अपि भूभृतः इतरं कुलीनं भूभृतं सुरसां सः जन्यजनः नयति स्म ।

अर्थ : जिस तरह राजा भगीरथ गंगाको कुलपर्वत हिमालय से कैलास कुल-पर्वतपर ले गये, उसी तरह ये शिविकावाहक भी शुभशृंगारा उस सुलोचना-को उस कुलीन राजाके पाससे दूसरे कुलीन राजाके पास ले गये ॥ ३३ ॥

अन्वय : सुमुखि ! एनम् अनन्यमनोज्ञम् अवनिपं पश्य (इति) अन्यं तदाभि-मुख्येन दरवलिताङ्गं सा सुगुणवती उक्तवती ।

अर्थ : हे सुमुखि ! तू सबसे अधिक सुन्दर इस राजाको देख, इस प्रकार वह वाणीनामक सुन्दर सखी किसी दूसरे राजाकी ओर थोड़ा मुड़कर बोली ॥ ३४ ॥

काञ्चीपतिरयमार्ये काञ्चीमपहर्तुमर्हतु तवेति ।
काञ्चीफलवदिदानीं द्विवर्णतां विभ्रमादेति ॥ ३५ ॥

काञ्चीति । हे आर्ये, सुलोचने, अयं काञ्चीनगरपतिस्तव काञ्चीं कटिमेखला-मपहर्तुमपसारयितुं दूरीकर्तुमर्हतु योग्यो भवतु । अतस्त्वमेनं वरयेत्याशयः । यः किलेदानीं विभ्रमाम्मां स्वीकरोतीयं रमणी न वेति जातसन्देहः कदाचित् प्रसन्नतां कदाचिच्चोन्मनी-भावं प्रकटयन् काञ्चीफलवत् गुञ्जाफलवद् द्विवर्णतां रक्तश्यामतामेति प्राप्नोति ॥ ३५ ॥

निर्दहति महति तेजसि भूमिपतेर्दारुणाहितप्रान्तान् ।
अशनिशनिपितृप्रमुखान् स्फुल्लिङ्गानैमि सूत्थाँस्तान् ॥ ३६ ॥

निर्दहतीति । हे बाले, अस्य भूपतेर्महति तेजसि निर्दहति प्रज्वलिते प्रतापवह्नौ दारुणाः प्रजाजनेभ्यो भयङ्करा ये अहितानां शत्रूणां प्रान्ताः प्रदेशास्तान् । यद्वा दारुणा काष्ठासङ्गेन आहिताः सम्पादिता ये प्रान्तास्तान् निर्दहति भस्मसात् कुर्वति सति सूत्थान् समुद्गान् स्फुलिङ्गानेवाहं किलाशनिर्विद्युच्च शनिपिता सूर्यश्च तौ प्रमुखौ येषां ते तान् एमि जानामि ॥ ३६ ॥

दुग्धीकृतेऽस्य मुग्धे यशसा निखिले जले मृषास्ति सता ।
पयसो द्विवाच्यताऽसौ हंसस्य च तद्विवेचकता ॥ ३७ ॥

अन्वय : आर्ये ! अयं काञ्चीपतिः इति तव काञ्चीम् अपहर्तुम् अर्हतु किल । य इदानीं विभ्रमात् काञ्चीफलवत् द्विवर्णताम् एति ।

अर्थ : हे आर्ये ! यह कांचीनगरीका स्वामी निश्चय ही तुम्हारी कांचीका हरण करनेके योग्य हो, जो इस समय चिरमीके समान हर्ष-विषाद रूपमें विभ्रमके वश होकर लाल-काला बना जा रहा है ॥ ३५ ॥

अन्वय : भूमिपतेः महति तेजसि दारुणाहितप्रान्तान् निर्दहति अशनिशनिपितृ-प्रमुखान् स्फुलिङ्गान् तान् सूत्थान् एमि ।

अर्थ : इस राजाका महान् तेज, जो काष्ठोंके प्रान्तोंके समान भयंकर वैरियोंके प्रान्तोंको जला रहा है । मैं वज्र और सूर्य आदिको इस तेजोग्निसे उत्पन्न स्फुलिंगके समान समझती हूँ ॥ ३६ ॥

अन्वय : मुग्धे ! अस्य सता यशसा निखिले जले दुग्धीकृते सति असौ पयसः द्विवाच्यता हंसस्य च तद्विवेचकता मृषा अस्ति ।

दुग्धीकृत इति । हे मुग्धे, अस्य यशसा निखिले जले दुग्धीकृते सति संस्कृत्य दुग्धभावं नीते सति पयसः पयःपदस्य द्विवाच्यता पयो दुग्धं जलञ्चेति या द्व्यर्थकताऽसौ मृषा मिथ्यैवास्ति । तथा हंसस्य या दुग्ध-जलयोर्विवेचकला पृथक्करणकौशलं तदपि मृषैवास्तीति भावः । सता प्रशस्तेनेति यशोविशेषणम् ॥ ३७ ॥

रणरेण्वा धूसरितं क्षालितमरिदारदृग्जलौघेन ।
पदयुगमस्या - ऽन्यमुकुटमणिकिरणै - श्चित्रतामेति ॥ ३८ ॥

रणरेण्विति । अस्य भूपते रणरेणुधूसरतरं संग्रामरजोभिरतिशयधूसरवर्णं, किञ्च अरीणां शत्रुनृपाणां दाराणां दृग्जलौघेनाश्रुसमूहेन क्षालितं धौतं पदयुगमन्येषां पराजितशत्रुनृपाणां मुकुटेषु ये मणयस्तेषां किरणैरश्मिभिश्चित्रतां शबलतामेति प्राप्नोति ॥ ३८ ॥

गुणसंश्रवणावसरे विजृम्भणेनानुसूचिनीं शस्ताम् ।
उचितं चक्रुरिलापतिमितरं जन्या नयन्तस्ताम् ॥ ३९ ॥

गुणसंश्रवणेति । उपर्युक्तनरपतेर्गुणस्य प्रशंसायाः संश्रवणावसरे निशमनसमये विजृम्भणेन कृत्वाऽनुसूचिनीं सूचनाकारिणीं विजृम्भणेन आलस्यचिह्नेन अरुचिधारिणीमित्यर्थः । शस्तां प्रशंसनीयां तां बालामितरमिलापतिं भूपतिं प्रति नयन्तः प्रापयन्तो जन्या यानवाहका उचितमेव योग्यमेव चक्रुः ॥ ३९ ॥

अर्थ : हे मुग्धे ! इस राजाके समीचीन यशने दुनियाभरके जलको दूध बना दिया है। अतः अब हंसका दूध और जलको अलग करनेका कौशल और 'पयस्' शब्दका दो अर्थोंवाला (जल और दूध) होना व्यर्थ है ॥ ३७ ॥

अन्वय : रणरेण्वा धूसरितम् अस्य पदयुगम् अरिदारदृग्जलौघेन क्षालितम् अन्यमुकुटमणिकिरणैः चित्रताम् एति ।

अर्थ : इस राजाके जो दोनों चरण हैं, वे रणकी धूलसे ढँक गये, जिसे वैरियोंकी स्त्रियोंने अपने आँसुओंसे धोया और वैरियोंने अपने मुकुटकी मणियोंके किरणोंसे उसपर मंगल-चौक पूर दिया ॥ ३८ ॥

अन्वय : जन्याः गुणसंश्रवणावसरे विजृम्भणेन अनुसूचिनीं शस्तां ताम् इतरम् इलापतिं नयन्तः उचितं चक्रुः ।

अर्थ : इस राजाके गुण श्रवण करते समयमें जंभाई लेनेके बहाने अरुचि

अंसोपरिस्थशिविकावंशैर्मितमिङ्गितञ्च वारायाः ।
पुरतःस्थभूपभूषामणिषु प्रतिमावतारायाः ॥ ४० ॥

अंसोपरीति । अंसस्य स्कन्धस्योपरि तिष्ठतीति तथाभूतः शिविकाया वंशो मानदण्डो येषां ते तैर्वाहकजनैरपि पुरतःस्थस्य संमुखे स्थितस्य भूपस्य भूषामणिषु, अलङ्काररत्नेषु प्रतिमाया अवतारः प्रतिबिम्बभावेनावतरणं यस्याः सा तस्या वारायाः, रलयोरभेदाद् बालाया इङ्गितं चेष्टितं मितमनायासेनानुमितमित्यर्थः ॥ ४० ॥

पुनरनु काविलराजं जनीकया तर्जनीकया कृत्वा ।
देव्या तदाऽवदाता जगदे जगदेकरूपवती ॥ ४१ ॥

पुनरिति । पुनरनन्तरं जनीकया देव्या बुद्ध्या काविलराजं काविलदेशनृपमुद्दिश्य तर्जनीकयाऽङ्गुल्या, अवदाता गौरवर्णा जगत्येकमद्भुतं रूपं यस्याः सा कुमारी जगदेऽकथ्यत ॥ ४१ ॥

अयि काविलराजोऽयं शस्यद्युतिमत्त्वमस्य पश्य वपुः ।
सुखिचूडामणिमेनं यथाभिधं कविकुलानि पपुः ॥ ४२ ॥

प्रकट करनेवाली सुन्दरी सुलोचनाको वहाँसे दूसरे राजाके पास ले जानेवाले यानवाहकोंने ठीक ही किया ॥ ३९ ॥

अन्वय : अंसोपरिस्थशिविकावंशैः पुरतःस्थभूपभूषामणिषु प्रतिमावतारायाः वारायाः इङ्गितं च मितम् ।

अर्थ : सामने बैठे राजाओंके आभूषणोंमें जो मणियाँ लगी थीं, उनमें सुलोचनाका प्रतिबिम्ब पड़ता था । उसे देखकर कंधेपर शिविकाका बाँस धारण करनेवाले शिविकावाहक पुरुष उसकी चेष्टाएँ अनायास जान गये ॥ ४० ॥

अन्वय : तदा पुनः जगदेकरूपवती अवदाता अनु काविलराजं तर्जनीकया कृत्वा जनीकया देव्या जगदे ।

अर्थ : फिर उस बुद्धिदेवीने काविलराजकी ओर अपनी तर्जनी अंगुलि करके अनन्यरूपवती गौरवर्णा सुलोचनासे कहा ॥ ४१ ॥

अन्वय : अयि ! अयं काविलराजः, त्वम् अस्य शस्यद्युतिमत् वपुः पश्य । कविकुलानि सुखिचूडामणिम् एनं यथाभिधं पपुः ।

अयीति । अयि बाले, अयं काविलराजो वर्तते, त्वमस्य शस्यद्युतिमत् मनोहरकान्तियुक्तं वपुः शरीरं पश्य, यदेनं महानुभावं कविकुलानि केन सुखेन आविलानामनुलिप्तानां राजेति कृत्वा यथाभिधं सार्थनामानं सुखिनां चूडामणिं पपुरपिबन् ॥ ४२ ॥

द्विडकीर्तिः कालिन्दी सुरसरिदस्याथ कीर्तिरुदयन्ती ।
सुभटास्तयोः प्रयागे सुखाशया सन्निमज्जन्ति ॥ ४३ ॥

द्विडकीर्तिरिति । द्विषां वैरिणामकीर्तिरपयशःपरिणतिः कालिन्दी यमुनानदी भवति, अस्य च राज्ञ उदयन्ती समुदयं गच्छन्ती कीर्तिरथ सुरसरित् स्वर्गङ्गेव भाति । तयोर्द्वयोः प्रयागे सङ्गमतीर्थे सुखाशयाऽऽनन्दवाञ्छया स्वर्गप्राप्त्यभिलाषया वा निमज्जन्ति स्नान्ति ॥ ४३ ॥

कामशरैरनुविद्धान् सुगङ्करां पार्वतीं श्रितांश्च गणान् ।
हिमनिर्मलगुण एकस्तताम तानप्रसिद्धगुणान् ॥ ४४ ॥

कामशरैरिति । अयं हिमेन सदृशा निर्मलाः पवित्रा गुणा यस्य स हिमनिर्मलगुण एक एव राजा वर्तते, यः खलु गणान् शत्रुपक्षीयसैनिकान् कामशरैर्यथेच्छमुन्मुक्तैः शरैः कृत्वा, पक्षे कामस्य मदनस्य शरैरनुविद्धान्; ततश्च पार्वतीं पर्वतभवां सुकन्दरां श्रितान् प्रविष्टान्, पक्षे सुगङ्करां शोभनदम्भवतीं कामचेष्टासम्पत्त्यर्थमुन्मादिनोन्मतदछलां पार्वतीमुमां श्रितान् तया सह सङ्गतान्, एवं कृत्वा तानकार इव महादेव इव प्रख्याता गुणा

अर्थ : हे सुलोचने ! यह काविलराज है। मनोहर कान्तियुक्त इसके शरीरको देखो। सुखसे घनीभूत ('क' = सुखसे आविल = घनीभूत) पुरुषोंका राजा होनेसे कवि लोग इसे 'काविलराज' कहते हैं ॥ ४२ ॥

अन्वय : द्विडकीर्तिः कालिन्दी, अथ च अस्य उदयन्ती कीर्तिः सुरसरित्, तयोः प्रयागे सुभटाः सुखाशया, सन्निमज्जन्ति ।

अर्थ : इस काविलराजके वैरियोंकी अपकीर्ति ही यमुना है और इसकी उदीयमान कीर्ति है निर्मल गंगा। इन दोनोंके संगमरूप प्रयागमें आनन्द या स्वर्ग की आशा रखनेवाले सुभट लोग डुबकी लगाते हैं ॥ ४३ ॥

अन्वय : (अयं) हिमनिर्मलगुणः एकः तान् कामशरैः अनुविद्धान् पार्वतीं सुगङ्करां श्रितान् गणान् अप्रसिद्धगुणान् तताम ।

अर्थ : यह राजा हिम-निर्मल गुणवाला है। अतः इस अकेलेने ही कामके

येषामित्येवं रूपान् ततान । 'गहनस्तु गुहायां स्याद् गहने कुलदम्भयोरि'ति विश्वलोचनः, 'गणः समूहे प्रमथे संख्या सैन्यप्रभेदयोरि'ति च ॥ ४४ ॥

एतत्कीर्तेरग्रे तृणायितं चन्द्ररश्मिभिश्च यतः ।
जीवति किलैणशावोऽसावोजस्के तदङ्कगतः ॥ ४५ ॥

एतत्कीर्तेरिति । ओजस्के हे तेजस्विनि, एतस्य राज्ञः कीर्तेरग्रे संमुखे चन्द्रस्य रश्मिभिरपि तृणायितं तृणाङ्कुरभावतोपात्ता, यतः किल तस्य चन्द्रस्याङ्के, उत्सङ्गे कलङ्के च गतो वर्तमानोऽसावेणशावो मृगपुत्रो जीवति स्वपोषणं लभत एवं सहेतुकोत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

द्राक्षादिसाररसनाद्रसनाभिकनाभिके सरसलेशे ।
द्विगुणय च दशनवसनं निवसनमुपगम्य तद्देशे ॥ ४६ ॥

द्राक्षेति । हे रसनाभिकनाभिके, रसनया काञ्च्या अभिकाऽभिव्याप्ता वेष्टिता या नाभिस्तुण्डी यस्या एवं स्वार्थे कप्रत्ययश्च । हे सुलोचने, त्वं तस्य देशे स्थाने निवसनमुपगम्य उषित्वा द्राक्षादीनां गोस्तनीप्रभृतीनां सारस्य रसनाद् उत्तमांशस्यास्वादनेन कृत्वा स्वीयं दशनवसनमधरोष्ठं सरसलेशे माधुर्यस्थाने द्विगुणय द्विगुणभावं नय । एतस्य नृपस्य देशे द्राक्षादीनां प्राचुर्यं विद्यत इति भावः ॥ ४६ ॥

शरसे आहत कर महादेवजीके समान प्रख्यात गुणवाले अपने शत्रुगणोंको पर्वतकी गुफाके निवासी, अतएव अप्रसिद्ध गुणवाले बना दिया ॥ ४४ ॥

अन्वय : ओजस्के ! एतत्कीर्तेः अग्रे किल चन्द्ररश्मिभिः च तृणायितम् । यतः तदङ्कगतः असौ एणशावः जीवति ।

अर्थ : हे कांतिमती बाले ! इसकी कीर्तिके आगे चन्द्रमाकी किरणें भी तिनकेके समान हो गयीं, जिन्हें खाकर यह चन्द्रमाका मृग आजतक जीवित है ॥ ४५ ॥

अन्वय : च रसनाभिकनाभिके ! तद्देशे निवसनम् उपगम्य द्राक्षादिसाररसनात् दशनवसनं सरसलेशे द्विगुणय ।

अर्थ : हे नाभितक व्याप्त काञ्चीधारिणी सुलोचने ! इसके देशमें निवासकर तू दाखोंका रस पी और अपने अधरको माधुर्यसे दुगुना रसीला बना ले ॥ ४६ ॥

कस्येति यमस्याविलान्तीत्येतेषु वरमिमं सारात् ।
अवबुबुध्य मुमोचासाविह तरलदृगञ्चला बाला ॥ ४७ ॥

कस्येति । कस्य यमस्य अविं वाहनरूपं मेषं लान्तीति काविला यमपार्श्ववर्तिनो भयंकराः, तेषां राजानमिममवबुध्य ज्ञात्वैव इहास्मिन्नवसरेऽसौ तरलदृगञ्चला चञ्चलापाङ्गवती बाला सुलोचना आरादेव शीघ्रं यथा स्यात्तथा मुमोच सा नाङ्गीचकार ॥ ४७ ॥

अस्यावलोक्य वदनं स्वपदाङ्गुष्ठाग्रदृक् सुजनचक्रे ।
त्रपयेव सम्भवन्ती द्रागाशयमाविराञ्चक्रे ॥ ४८ ॥

अस्येति । अस्य काविलराजस्य वदनं मुखमवलोक्य अस्मिन् स्वयंवरलक्षणे सुजनचक्रे जनसमुदाये त्रपयेव लज्जयेव किल स्वपदस्यात्मचरणस्य अङ्गुष्ठाग्रे दृक् चक्षुर्यस्याः सा सम्भवन्ती सती द्राक् शीघ्रमेवाशयं निजमनोभावमाविराञ्चक्रे प्रकटयाञ्चकार, नायं महाशयो मम पदाङ्गुष्ठतुलनामप्येतीति सूचयामास इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

व्यसनादिव साधुजनो मतिमतिविशदां ततश्चकोरदृशम् ।
अपकर्षति स्म शिविकावाहकलोकोऽप्यपरसदृशम् ॥ ४९ ॥

अन्वय : तरलदृगञ्चला बाला सा इदानीं कस्य यमस्य अविलान्ति इति एतेषु वरम् इमम् अवबुद्ध्य इह आरात् तत्याज ।

अर्थ : अत्यन्त चञ्चल अपाङ्गोंवाली उस सुलोचना बालाने काविलराजका अर्थ यह समझकर कि यह तो यमराजके लिए अवि (मेंढा) लानेवालोंमें वीरवर है (अर्थात् भयानक मृत्युदेवताका साथी है), शीघ्र ही उसे त्याग दिया ॥ ४७ ॥

अन्वय : सुजनचक्रे अस्य वदनम् अवलोक्य त्रपया इव स्वपदाङ्गुष्ठाग्रदृक् संभवन्ती द्राक् (सा) आशयम् आविराचक्रे ।

अर्थ : सुजन-समूहके बीच इस काविलराजका मुंह देख उस बालाने लज्जाके मारे मानो अपने पैरके अंगूठेको देखा और जनताके बीच यह आशय प्रकट कर दिया कि मैं तो इसे पैरोंके अंगूठेसे भी तुच्छ समझती हूँ ॥ ४८ ॥

अन्वय : साधुजनः अतिविशदां मतिं व्यसनात् अपरसदृशं भतिम् इव शिविकावाहकलोकः तां चकोरदृशं ततः अपकर्षति स्म ।

व्यसनेति । शिबिकावाहकलोकस्तां चकोरदृशं चकोरनेत्रां सुलोचनां ततः काचिल-राजात् अपकर्षति स्म कृष्टवान् । साधुजनः सज्जनो व्यसनाद् विपत्स्थानाद् मतिमिव चेतोवृत्तिमिव । कीदृशीं मतिम् अतिविशदां निर्मलां, परस्य सदृङ् न भवतीत्यपरसदृक् तामपरसदृशं लोकोत्तरां बुद्धिमिव ॥ ४९ ॥

अभिमुखयन्ती सुदृशं ततान सा भारतीं रतीन्द्रवरे ।
वसुधासुधानिधाने मधुरां पदबन्धुरां तु नरे ॥ ५० ॥

अभिमुखेति । सुदृशं सुलोचनामभिमुखयन्ती सम्मुखां कुर्वन्ती सा वाग्देवी वसुधायाः पृथिव्याः सुधानिधाने चन्द्रमसीवाऽऽह्लादकारके रतीन्द्रः कामस्तस्मादपि वरे श्रेष्ठे नरे मनुष्ये पदैः शब्दैर्बन्धुरां मनोहराम्, अत एव मधुरां मृदुलतरां वाणीं ततान विस्तारयाञ्चकार ॥ ५० ॥

अङ्गाधिपतिः सोऽयं लावण्यासारसारपूर्णाङ्गः ।
यस्यावलोकने खलु मदनश्चानङ्ग एवाङ्ग ॥ ५१ ॥

अङ्गाधिपतीति । अङ्गेत्यामन्त्रणे । हे सुलोचने, सोऽयं पुरोगतो नृपतिरङ्गदेशाधिपतिरस्ति । कथम्भूतः ? लावण्यस्य सौन्दर्यस्य आसारः प्रसारस्तस्य सारस्तत्त्वं तेन परिपूर्णमङ्गं यस्य सः, परमसुन्दर इत्यर्थः । यस्यावलोकने कृते सति मदनः कामः स पुनरनङ्ग एव, शरीररहितः स्वल्पसुन्दरो वा, प्रतिभातीति शेषः ॥ ५१ ॥

अर्थ : जैसे साधुजन अपनी निर्मल बुद्धिको व्यसनसे हटा लेते हैं, वैसे ही पालकीको ढोनेवाले लोगोंने सुलोचनाको वहाँसे हटा लिया ॥ ४९ ॥

अन्वय : सुदृशम् अभिमुखयन्ती सा वसुधासुधानिधाने रतीन्द्रवरे नरे तु पदबन्धुरां मधुरां भारतीं ततान ।

अर्थ : फिर वह बुद्धिदेवी सुलोचनाको संबोधित कर पृथिवीके सुधाकर किसी सुन्दर राजाके विषयमें अपनी सुन्दर पदोंवाली वाणी कहने लगी ॥ ५० ॥

अन्वय : अङ्ग ! सः अयं लावण्यासारसारपूर्णाङ्गः अङ्गाधिपतिः, यस्य अवलोकने खलु मदनः च अनङ्गः एव भवति ।

अर्थ : हे पुत्रि ! यह अंगदेशका राजा है, सुन्दरताके सारसे पूर्ण है । इसे देखनेपर निश्चय ही कामदेव इसके सामने तुच्छ प्रतीत होने लगता है ॥ ५१ ॥

पततो नृपतीन् पदयोरुदतोलयदेष पाणियुग्मेन ।
तन्मौलिशोणमणिगणगुणितास्य कराङ्घ्रिरुक्तेन ॥ ५२ ॥

पतत इति । एष महाशयः पदयोश्चरणयोर्मूले पततो नमस्कुर्वतो नृपतीन्, अन्य-राजान् पाणियुग्मेन स्वहस्तद्वयेन कृत्वोदतोलयत्, उदस्थापयदित्यर्थः । तेनैव कारणेन तेषां मौलिषु मुकुटेषु सङ्गता ये शोणमणिगणा माणिक्याविरत्नसमूहास्तैर्गुणिता सम्पा-दिताऽसौ अस्य करयोरङ्घ्र्योश्च रुक् शोणिमा भाति । करचरणेषु स्वाभाविकीमरुणतां नमज्जनमुकुटस्थ-मणिसंसर्गसम्पादितत्वेन उत्प्रेक्षते ॥ ५२ ॥

यद्गजवमथुकृतोऽरींस्तुषारवारः प्रकम्पयत्याशु ।
म्लायन्ति तद्वधूनां मुखारविन्दानि यात्रासु ॥ ५३ ॥

यद्गजेति । यात्रासु दिग्विजयप्रयाणे यस्य राज्ञो गजानां वमथुभिः स्थूत्कृतशीकरैः सम्पादितो यस्तुषारवारः प्रालेयकालः सोऽरीन् वैरिणो जनान् आशु शीघ्रमेव प्रकम्पयति कम्पं नयति । तथा च तद्वधूनां शत्रुस्त्रीणां मुखान्येवारविन्दानि कमलानि म्लायन्ति मलिनीभवन्ति ॥ ५३ ॥

विनयभृदुन्नतवंशः सुलक्षणोऽसौ विलक्षणोक्ततनुः ।
विलसति च नलमदास्यो लावण्याङ्कोऽपि मधुरतनुः ॥ ५४ ॥

अन्वय : एषः पदयोः पततः नृपतीन् पाणियुग्मेन एव उदतोलयत् । तेन अस्य कराङ्घ्रिरुक् तन्मौलिशोणमणिगणगुणिता ।

अर्थ : अपने पैरोंमें पड़नेवाले राजाओंको यह अपने दोनों हाथोंसे उबार लिया करता है । इसीलिए उन राजाओंके मुकुटोंमें लगी मणियोंकी प्रभासे इसके पैर-हाथ लाल-लाल हो रहे हैं ॥ ५२ ॥

अन्वय : यात्रासु यद्गजवमथुकृतः तुषारवारः अरीन् आशु प्रकम्पयति । (च) तद्वधूनां मुखारविन्दानि म्लायन्ति ।

अर्थ : दिग्विजय-यात्राओंमें इसके हाथीकी सूँडको फूत्कारसे जो जलके हिमकण निकलते हैं, वे शिशिरकाल होनेसे वैरी लोगोंको शीघ्र कँपा देते हैं और उन वैरियोंकी स्त्रियोंके मुखकमल मुरझा जाते हैं ॥ ५३ ॥

अन्वय : असौ विनयभृत् उन्नतवंशः सुलक्षणः विलक्षणोक्ततनुः नलमदास्यः च विलसति । लावण्याङ्कः अपि मधुरतनुः (अस्ति) ।

विनयभृदिति । योऽसौ राजा विनयभृद् विगतः प्रणष्टो नयो नीतिमार्गस्तद्वानपि उन्नतवंश उच्चकुलोत्पन्नोऽस्तीति विरोधः । विनयं नम्रत्वं बिभर्तीति विनयभृदिति परिहारः । विलक्षणा लक्षणहीनोक्ता तनुर्यस्य सः, एवम्भूतोऽपि सुलक्षणः प्रशस्तलक्षणवानिति विरोधः । विलक्षणा सर्वसाधारणेभ्योऽद्भुता तनुर्यस्येति परिहारः । न लसत्यास्यं मुखं यस्य स नलसदास्यो विरूपाननोऽपि विलसति शोभत इति विरोधः । नलं कमलमिव सत्सुन्दरमास्यं यस्य स इति परिहारः । लावण्यस्य लवणभावस्य कटुत्वस्याङ्कः स्थानमपि मधुरतनुर्मनोहरशरीर इति विरोधः । लावण्यस्य सौन्दर्यस्याङ्को भवन् सन् मधुरा मनोज्ञा तनुरस्येति परिहारः ॥ ५४ ॥

एतन्नृपगुणवर्णनमास्वादयितुं हृदीव दृग्युगलम् ।
बाला न्यमीलदम्बुजमाला जयनामसम्पदलम् ॥ ५५ ॥

एतदिति । अम्बुजानां कमलानां मालाऽस्ति यस्या हस्ते सा बाला सुलोचना, जयस्य जयकुमारस्य नामैव सम्पत् सम्पत्तिर्यस्याः सा। यद्वा अम्बुजमालया कृत्वा जयनाम्नः सम्पत् प्रशंसनं स्मरणं वा यस्याः 'स्त्रियां सम्पद्गुणोत्कर्ष' इत्यादिकोषात् । एतादृशी सुलोचना दृशोर्युगलं स्वकीयं नेत्रद्वयमलं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा न्यमीलत् मुद्रयति स्म । एतस्य वङ्गाधिपतेर्गुणवर्णनं हृदि स्वमनसि समास्वादयितुं संवेदयितुमिव क्वचिदपि प्रसङ्गे सञ्जातप्रमोदो जनो नेत्रे मुद्रयति, किन्तु इयन्तु दृङ्‌निमीलनेन वाग्देव्या मुखमुद्रणमेव उपदिष्टवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ : यह राजा विनयवान् है और साथ ही उन्नतवंशवाला भी है । उत्तम लक्षणवाला है एवं विलक्षण (चतुर) भी है । कमलके समान मुखवाला होकर भी चमकता है । लावण्यका घर होकर भी मधुर है ।

विशेष : यहाँ सभी विशेषण विरोधाभाससे अलंकृत हैं । अर्थात् विनीत (नम्र) उन्नत-वंश (ऊँची रीढ़वाला) कैसे ? सुलक्षण विलक्षण कैसे ? नलसदास्य (वि)लसित कैसे और लावण्यांक (नमकीन) मधुर कैसे ? यह विरोध है । इनका परिहार ऊपर अर्थमें हो गया है ॥ ५४ ॥

अन्वय : अम्बुजमाला जयनामसम्पत् बाला हृदि एतन्नृपगुणवर्णनम् अलम् आस्वादयितुम् इव दृग्युगलं न्यमीलत् ।

अर्थ : यद्यपि उस सुलोचनाने उस राजाके गुणोंको सुनकर निरादरसे ही अपनी आँखें मींच लीं । किन्तु लोगोंने यही समझा कि वह मानो उस राजाके

चक्षुर्जगत्प्रदीपात्ततश्च तामुदयिनी सुवंशांसाः ।
भानोरिव सोमकलां कुमुद्वतीकन्दसुकृतांशाः ॥ ५६ ॥

चक्षुरिति । सुवंशः शिबिकादण्डोंऽसेषु स्कन्धेषु येषां ते यानवाहकास्ते जगतो विश्वस्य प्रदीपादुद्योतकारकात् नीतिमार्गसञ्चालनेनोत्कर्षप्रदायकात्ततश्च नृपात् तां प्रसिद्धामुदयिनीमभ्युदयशालिनीं बालां चक्षुराकृष्टवन्तः । यथा कुमुद्वत्याः कैरविण्याः सुकृतांशाः पुण्यलेशाः सोमस्य चन्द्रस्य कलां भानोः सूर्यादाकर्षन्ति । उपमालङ्कारः ॥ ५६ ॥

तद्दिशि संसक्तकरा नरान्तरमिहाशशंस मृदुवचसा ।
अपघनघटनातिशयैर्वागपि जितरतिपतिं किल सा ॥ ५७ ॥

तद्दिशीति । इह प्रसङ्गे सा वाक्देवी, तस्य वक्ष्यमाणस्य नृपस्य दिशि संसक्तकरा प्रयुक्तहस्ता सती, मृदुवचसा मधुरवचनेन, अपघनानामवयवानां घटना संघटनं तस्या अतिशया विशिष्टभावास्तैर्जितः पराभूतो रतिपतिः कामो येन तम्, अन्यो नर इति नरान्तरमितरनृपम् आशशंसाऽकथयत् ॥ ५७ ॥

सिन्धुपतिं गुणितीरं मुक्तामयवपुषमतिशयगम्भीरम् ।
सिन्धुवद् व्रज सुवीरं बन्धुनिबन्धाधरे धीरम् ॥ ५८ ॥

गुणोंका चिन्तन करनेके लिए अपनी आँखें मीच रही है । वास्तवमें वह तो जयकुमारके ही गुणोंकी कमल-माला फेर रही थी ॥ ५५ ॥

अन्वय : कुमुद्वतीकन्दसुकृतांशाः भानोः सोमकलाम् इव सुवंशांसाः ताम् उदयिनीम्, ततः च जगत्-प्रदीपात् चक्षुः ।

अर्थ : उदयको प्राप्त होनेवाली उस सुलोचनाको वे शिविकावाहक लोग जगत्‌के प्रदीपरूप उस राजाके पाससे खींच ले गये, जैसे कुमुद्वतीके पुण्यांश चन्द्रमाकी कलाको सूर्यसे खींच लेते हैं ॥ ५६ ॥

अन्वय : इह सा वाग् अपि मृदुवचसा अपघनघटनातिशयैः जितरतिपतिं नरान्तरं तद्दिशि संसक्तकरा आशशंस ।

अर्थ : इस अवसरपर वह वाक्‌देवी भी मधुर वचनों और अपने अवयवोंकी सुन्दरतासे कामदेवको भी जीतनेवाले किसी दूसरे राजाकी ओर अपना हाथ संकेतित कर उसकी प्रशंसा करने लगी ॥ ५७ ॥

अन्वय : बन्धुनिबन्धाधरे (एतं) सिन्धुपतिं गुणितीरं मुक्तामयवपुषम् अतिशयगम्भीरं सुवीरं सिन्धुवत् व्रज ।

सिन्धुपतिमिति । बन्धुवत् सूर्यमुखिपुष्पवन्निबन्धो यस्या अधरस्य सा बन्धुनिबन्धाधरा तत्सम्बुद्धौ, हे बन्धुनिबन्धाधरे ! एनं सिन्धुपतिं भूपतिं सिन्धुपतिमिव समुद्रमिव गुणितीरं, गुणयुक्तस्तीरो यस्य । यद्वा पार्श्वप्रवेशे गुणवन्तो गुणिनो वसन्ति यतः, तथैव गुणी गुणोशाली प्रशस्तधनुर्ज्यायुक्तस्तीरो बाणो यस्य स गुणितीरो राजा गुणी, अनुल्लङ्घनस्वभावः । सिन्धुपक्षे, तीरो वेलाभागो यस्य स समुद्रस्तम् । मुक्तः परित्यक्त आमयो रोगो येन तन्मुक्तामयं वपुः शरीरं यस्य स तम् । समुद्रपक्षे, मुक्तामयं मौक्तिकप्रचुरं वपुर्यस्य सस्तम् । अतिशयगम्भीरमक्षुद्रहृदयम्, पक्षे स्वतलस्पर्शम् । विशिष्टा वासौ इरा पृथ्वी यस्य सस्तम्, वीरं राजानं समुद्रञ्च । धीरं धैर्यगुणयुक्तम्, त्वं सिन्धुवत् सिन्धुनामनदीतुल्या भवती । यथा सिन्धुनदी सिन्धुपतिं सागरं व्रजति तथा त्वमपि मदुक्तं सिन्धुपतिं सिन्धुदेशाधिपतिं व्रज, गच्छ, प्राप्नुहीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

निपतन्ति रणे मुक्ताः सूक्ता रिपुसम्पदः श्रमलवा वा ।
हतगजकुम्भेभ्यो यत्प्रतापतोऽभीतभीभावात् ॥ ५९ ॥

निपतन्तीति । यस्य राज्ञो रणे, अभितः समन्तात् इता प्राप्ता भीः सन्त्रस्तपरिणतिः साऽभीतभीस्तस्या भावस्तस्मात्, अतिभीतिभावादित्यर्थः । हताश्च ते गजास्तेषां कुम्भेभ्यो गण्डस्थलेभ्यो मुक्ता गजमौक्तिकानि निपतन्ति, सूक्ता मनोहरा रिपुसम्पदः शत्रुसम्पत्तेः निपतन्ति, वाऽथवा श्रमस्य लवा घर्मबिन्दवः निपतन्ति । कथं निपतन्ति, प्रतापतः पौनःपुण्येन निपतन्ति । एवम्भूतः शूरोऽयमित्याशयः । क्रियादीपकाख्योऽलङ्कारः ॥ ५९ ॥

अर्थ : सूर्यमुखीसे अधरोंवाली सुलोचने ! इस सिन्धुदेशके राजाके पास सिन्धुनदीकी तरह जाओ । निश्चय ही यह राजा सिन्धुपति समुद्रकी तरह गुणितीर (गुणिजनोंसे घिरा या गुणयुक्त तीरवाला), मुक्तामय-वपु (शुभ्रवर्ण या मोतियोंसे भरा), अतिशय गंभीर (स्वभावसे या गहरा) और सुवीर (पराक्रम या विशिष्ट इरा (ला), पृथ्वीवाला) है । यहाँ श्लेषालङ्कार है ॥ ५८ ॥

अन्वय : रणे यत्प्रतापतः अभीतभीभावात् हतगजकुम्भेभ्यः मुक्ताः सूक्ताः रिपुसम्पदः श्रमलवाः वा निपतन्ति ।

अर्थ : इसके द्वारा विदीर्ण किये गये शत्रुपक्षीय हाथियोंके कुम्भस्थलोंसे निकलते मोती ऐसे प्रतीत होते थे, मानो इस राजाके सार्वत्रिक भयसे भीत हो जानेके कारण वैरियोंकी संपदाकी पसीनेकी बूँदें ही हों ॥ ५९ ॥

लिखिता यशःप्रशस्तिर्विशालवक्षःशिलासु सम्पश्य ।
निजनिज-कराग्र-टङ्कोट्टङ्कै-ररियौवतै-र्यस्य ॥ ६० ॥

लिखितेति । हे बाले, सम्पश्य, सम्यक्तयाऽवबेहि । यस्य यशःप्रशस्तिर्विरुदावली, अरियौवतैः वैरियुवतिसमूहैः निजनिजानां कराणामग्राणि नखा एव टङ्का ग्रावदारणास्त्राणि तेषामुट्टङ्कैः प्रहारैः कृत्वा स्वीयासु विशालवक्षःशिलासु विस्तीर्णोरःस्थलपाषाणेषु लिखिता, उट्टङ्कितेत्यर्थः । अस्यारयः प्रणष्टास्तेषां स्त्रीभिः सोरस्ताडं क्रन्द्यते । शत्रूणामभावान्निष्कण्टकं राज्यमस्येति भावः ॥ ६० ॥

समरस्य संस्मरन् हृदि रसादसौ कामिनीकुचं सुकृती ।
मृष्ट्वा कठिनकठोरं करतलकण्डूतिमुद्धरति ॥ ६१ ॥

समरस्येति । असौ सुकृती हृदि समरस्य युद्धस्य संस्मरन् स्मृतिमाचरन्, रसादुल्लासात् कठिनकठोरमतिशयकठिनं कामिनीनां कुचं मृष्ट्वा स्तनात् संमर्द्य करतलयोः कण्डूतिं खर्जनमुद्धरति शमयतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

इति स्म विश्रुतगुणगणगणनाय विचारसारमग्नमनाः ।
चालयति चालयतिका शिरस्तिरो विभ्रमाद्धि मनाक् ॥ ६२ ॥

अन्वय : (हे बाले !) संपश्य, यस्य अरियौवतैः निजनिजकराग्रटङ्कोट्टङ्कैः विशालवक्षःशिलासु यशःप्रशस्तिः लिखिता (अस्ति) ।

अर्थ : हे बाले ! देख, इसके वैरियोंकी स्त्रियोंने अपने-अपने विशाल वक्षःस्थलरूपी शिलाओंपर नखरूपी टाँकियोंसे इसके यशकी प्रशस्ति लिखी हुई है ॥ ६० ॥

अन्वय : असौ सुकृती समरस्य हृदि संस्मरन् रसात् कठिनकठोरं कामिनीकुचं मृष्ट्वा करतलकण्डूतिम् उद्धरति ।

अर्थ : हे सुलोचने ! संसारमें इसका कोई वैरी नहीं रहा। इसलिए जब युद्धकी याद आती है, तो यह अपनी स्त्रियोंके कठिन कुचोंका मर्दनकर हाथोंकी खुजली शांत कर लेता है ॥ ६१ ॥

अन्वय : इति विश्रुतगुणगणगणनाय विचारसारमग्नमनाः चालयतिका विभ्रमात् शिरः मनाक् तिरः चालयति स्म ।

इतीति । इत्युक्तरीत्या विश्रुतानामाकर्णितानां सिन्धुदेशाधिपतेर्गुणगणानां गणनाय संख्यानायैव विचारसारस्तत्त्वावधानरूपो व्यापारस्तस्मिन्मग्नं तल्लीनं मनो यस्याः सा सुलोचना हीत्येवं चालयतिका मिषकर्त्री सती चालस्य छद्मनो यतिका विभ्रमो यत्रे-त्येवमर्थाद् विभ्रमाद् विमनस्कत्वाच्छिरः स्वमस्तकं तिरस्तिर्यक् चालयति स्म ॥ ६२ ॥

बहुगुणरत्नात्तस्माद्देवा इव यानवाहका नवलाम् ।
पुरुषोत्तमयोग्यामपनिन्युः कमलामिवापमलाम् ॥ ६३ ॥

बहुगुणेति । बहवो ये गुणा एव रत्नानि यस्य तस्माद् राज्ञ एव, बहुगुणान्यनल्प-रूपाणि रत्नानि मुक्तादीनि यस्मिन्, ततः समुद्राद् गाम्भीर्यादिगुणसद्भावाद्, राज्ञि समुद्रत्व-मुत्प्रेक्ष्यते । यानवाहका जना देवा इव सुमनस्त्वादपमलां दोषवर्जितां कमलामिव तां बालां पुरुषोत्तमस्य श्रेष्ठपुरुषस्य, पक्षे विष्णोर्योग्यां नियोगिनीमपगतमलामपनिन्युः अन्यत्र अपनीतवन्तः ॥ ६३ ॥

विस्मेरया न च मनाङ् नृपेषु सजपेषु रागिणी भुवि या ।
पुनरप्यभाणि तनयाऽनया नयान्निर्णयाय धिया ॥ ६४ ॥

विस्मेरयेति । या तनया बाला भुवि तस्यां सभायां सजपेषु मायेव किं नोपलब्ध-वतीयमित्येवमात्तावधानेषु पूर्ववर्णितेषु नृपेषु मनागीषदपि रागिणी न भवति । तथा जपा-सहितेषु सजपेषु रक्तकुसुमविशेषेष्वपि रागिणी रक्तवर्णा नाभूदिति किलाश्चर्येण विस्मेरया स्मयमानयाऽनया धिया तस्या नयान्नीतिमार्गावलम्बनाद् यावत् कस्यचित् स्वीकारः

अर्थ : इस प्रकार उस राजाके गुणोंको गिननेके लिए ही मानो विचारमग्न उस बालाने अपना सिर कुछ तिरछा चला दिया, अर्थात् चलनेका इशारा किया ॥ ६२ ॥

अन्वय : देवाः इव यानवाहकाः बहुगुणरत्नात् तस्मात् पुरुषोत्तमयोग्यां कमलाम् इव अपमलां तां नवलां बलात् अपनिन्युः ।

अर्थ : वह राजा बहुत गुणरूपी रत्नोंका खजाना था । (फिर भी इशारा पाकर) देवोंके समान वे यानवाहक लोग पुरुषोत्तमके योग्य और निर्दोष लक्ष्मीकी तरह उस नवेली सुलोचनाको उससे हटा ले गये ॥ ६३ ॥

अन्वय : भुवि या सजपेषु नृपेषु च मनाक् रागिणी न, (सा) तनया अनया विस्मेरया धिया नयात् निर्णयाय पुनः अपि अभाणि ।

परिसमाप्तिर्वा तावद्व्यर्थतामित्येवंरूपात् निर्णयाय कमियं स्वीकुर्यादिति निश्चेतुं पुनरप्यभाणि ॥ ६४ ॥

अयमिह वङ्गाधिपतिर्गङ्गेव तरङ्गिणी यशःस्फूर्तिः ।
अवतरिता भुवि यस्याखण्डतया संप्रसृतमूर्तिः ॥ ६५ ॥

अयमिति । हे बाले, अयमिह वर्तमानो वङ्गाधिपतिर्वङ्गदेशनृपोऽस्ति, यस्य राज्ञोऽखण्डतया अनवच्छिन्नरूपतया प्रसृता प्रसारमाप्ता मूर्तिर्यस्याः सा, यशसः स्फूर्तिस्तद्भूतिः गङ्गानदीव तरङ्गिणी तरङ्गवती समुन्नतिशालिनी, पक्षे लहरीयुक्तेति भुवि पृथिव्यामवतरिता सर्वत्र व्याप्तास्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

तरलतरीषविशिष्टोऽनुकर्णधाराशुगेन सन्तरति ।
नरतिलको रणजलधिं युक्तोऽरित्रेण विशदमतिः ॥ ६६ ॥

तरलतरीषेति । यो नरतिलको मनुष्यशिरोमणिर्वङ्गनरेश्वरो रणजलधिं संग्रामसमुद्रं सन्तरति सकौशलं समुत्तरति । यतस्तरलेन नित्यनूतनेन तरीषेण वीर्यातिशयेन विशिष्टः, पक्षे जलयानेन युक्तः सन् । अरित्रेण कवचेन, पक्षे मत्स्यादिभ्यः परित्रायककाष्ठेन युक्तः सन् । कर्णस्य धारामनु समीपं वर्तते सोऽनुकर्णधारो, यद्वाऽनुकर्ण धरा यस्येति वा, स चासौ आशुगो बाणस्तेन कर्णप्रान्तगतबाणेन कृत्वेति । पक्षे कर्णधारो नौकासञ्चालकस्तमनुवर्तमानेन आशुगेन वायुना संतरति, यतो विशदमतिः शुद्धधीः ॥ ६६ ॥

अर्थ : वह अकम्पनतनया सुलोचना सभाके उन सजप (उसीका नाम जपनेवाले) गुणीश्रेष्ठ उन राजाओंके प्रति तनिक भी अनुरागवती नहीं, यह देख आश्चर्यचकित हो हँसती हुई बुद्धिदेवीने इस निर्णयके लिए कि आखिर यह किसे चुनती है, फिरसे कहना शुरू किया ॥ ६४ ॥

अन्वय : इह अयं वङ्गाधिपतिः यस्य गङ्गा इव तरङ्गिणी यशःस्फूर्तिः अखण्डतया संप्रसृतमूर्तिः भुवि अवतरिता ।

अर्थ : देख, यह वंगदेशका अधिपति है, जिसकी यशःकीर्ति गंगानदीके समान पृथ्वीतलपर अखंडरूपसे बह रही है ॥ ६५ ॥

अन्वय : विशदमतिः नरतिलकः तरलतरीषविशिष्टः अरित्रेण युक्तः अनुकर्णधाराशुगेन रणजलधिं सन्तरति ।

पाहीति न निगदन्तं दष्ट्वाऽधरमात्मनोऽपि सरुषं तम् ।
राज्ञोऽस्य सम्पराये सन्तिष्ठन्ते प्रतीपा ये ॥ ६७ ॥

पाहीति । अस्य राज्ञः सम्पराये रणस्थले प्रवर्तमाना ये प्रतीपाः शत्रवस्ते पाहि रक्षेति निगदन्तमतः सरुषं रोषयुक्तम्, यद्वाऽपराधिनं तमात्मनोऽधरोष्ठमपि दष्ट्वा सन्तिष्ठन्ते म्रियन्त एव । राज्ञोऽभिप्रायानुकूलं पाहि पाहीति शब्दमकथयतोऽधरदंशनेन अरयोऽप्यस्य अनुचरतामाश्रयन्तीत्यर्थः । युद्धेऽधरदंशनं वीराणामाचारः ॥ ६७ ॥

युवतिस्तनेषु रङ्गे रणे च रिपुमस्तकेषु नरशस्यः ।
स्फीतिं भीतिं क्रमशः कुरुते करवार एतस्य ॥ ६८ ॥

युवतीति । एतस्य राज्ञः करवारः करस्य हस्तस्य वारोऽवसर आलिङ्गनसमय इति, यद्वा कर एव वारो बालकः सुकोमलत्वात् सः, करवारश्च खड्गोऽपि क्रमशो यथासंख्यं रङ्गे सुरतस्थले युवतीनां निजतरुणाङ्गनानां स्तनेषु स्फीतिमौन्नत्यं विस्तारं वा वर्धयते, खड्गश्च रणे रिपूणां मस्तकेषु भीतिमुद्विग्नतां कुरुते । कीदृशोऽसौ करवारो नरशस्यो रलयोरभेदात् नरमेव नलं कमलं तद्वच्छस्यः प्रशंसनीयः, स्त्रीभ्यः कोमलतरः । शत्रुपक्षे च नरैर्वीरपुरुषैरपि शस्यः श्लाघनीयः शत्रुसंहारकत्वात्, एवम्भूतः शूरोऽयं नृप इति भावः ॥ ६८ ॥

अर्थ : निर्मलबुद्धि यह राजा अपनी नित्यनूतन शक्तिरूपी नौकाद्वारा कवचसे युक्त हो कानतक खिंचे धनुषपर स्थित बाणसे अथवा अनुकूल वायुसे तथा ढालरूपी नौका चलानेवाले काठद्वारा रणरूपी समुद्रको पार करता है ॥ ६६ ॥

अन्वय : अस्य राज्ञः ये प्रतीपाः ते पाहि इति न निगदन्तम् आत्मनः अधरम् अपि तं सरुषं दष्ट्वा संपराये संतिष्ठन्ते ।

अर्थ : यह राजा ऐसा है जिसके शत्रु-राजा 'रक्षा करो' ऐसा न कहकर अपने अधर-ओष्ठको ही क्रुद्ध हो काटते हुए युद्धमें मर जाते हैं ॥ ६७ ॥

अन्वय : एतस्य नरशस्यः करवारः रङ्गे युवतिस्तनेषु स्फीतिं रणे च रिपुमस्तकेषु भीतिं क्रमशः कुरुते ।

अर्थ : इस राजाका करवार (तलवार अथवा हाथका आलिंगन) रणमें

अधरं रसालरसिकः पीत्वा तव गुणविवेचनाकृषिकः ।
कुर्यात् कौतुकतस्तन्नामव्यत्ययमथो शस्तम् ॥ ६९ ॥

अधरमिति । रसालानामाम्राणां रसिक आस्वादनशीलः, वङ्गदेशे तद्बाहुल्यात्, स पुनस्तवाधरोष्ठं निपीय तयो रसालाधरयोर्मिथो गुणस्य माधुर्यस्य विवेचना न्यूनाधिक्य-निर्णयस्तस्य कृषिको निकष इव भवन्, तवाधरमेवाधिकमधुरं विनिश्चित्य तयोर्नामव्यत्ययं संज्ञापरिवर्तनं कौतुकतः कुतूहलेन शस्तं सम्मतं कुर्यात् । रसांल्लाति संगृह्णातीति रसालः स्वादिष्ट इति, अधरश्च नीचो गुणहीन इत्यर्थशक्त्या तवाधरमेव रसालं, रसालं त्वधरमिति व्यत्ययस्येति्याशयः ॥ ६९ ॥

एतद्गुणानुवादादासादितसम्मदेव सा तनया ।
हसितवती तत्समये तदवज्ञानैकहेतुतया ॥ ७० ॥

एतदिति । एतस्य नृपस्य गुणकीर्तनादासादितः प्राप्तो यः सम्मद आनन्दो यया सैवम्भूतेव सा बाला तत्समये तस्यावज्ञानमेवैको हेतुस्तस्य भावस्तया हसितवती अहसत् ॥ ७० ॥

तो वैरियोंके मस्तकपर भय पैदा करता है और रंगस्थल (सुरतशाला) में युवतियोंके स्तनोंपर औन्नत्य, स्फूर्ति पैदा करता है ॥ ६८ ॥

अन्वय : अथो रसालरसिकः गुणविवेचनाकृषिकः तव अधरं पीत्वा कौतुकतः शस्तं तन्नामव्यत्ययं कुर्यात् ।

अर्थ : यह आमोंको चूसनेवाला राजा, जो कि गुणोंकी तर-तमताके विषयमें कुशल है, तेरे अधरका पानकर 'अधर' और 'रसाल' का 'नाम' परस्पर बदल दे (रसालको 'अधर' कहे और तेरे होठको 'रसाल'), इसे मैं प्रशस्त समझती हूँ ॥ ६९ ॥

अन्वय : एतद्गुणानुवादात् आसादितसम्मदा इव सा तनया तत्समये तदव-ज्ञानैकहेतुतया हसितवती ।

अर्थ : इस राजाका इस तरह गुण-वर्णन सुनकर मानो यह दिखाती हुई कि मैं बड़ी प्रसन्न हो उठी हूँ, उसकी अवज्ञा करनेके लिए राजकुमारी सुलोचना-ने हँस दिया ॥ ७० ॥

गन्धाधिकृतावयवां सुमञ्जरीं वाङ्घ्रिपाद्वनपजातः ।
नृवरेण स्पृहणीयां यान्यजनस्तन्निनायातः ॥ ७१ ॥

गन्धेति । गन्धेन प्रशंसयाऽधिकृता सौरभेण चान्विता अवयवा यस्यास्तां बालां मञ्जरीं कुसुमकलिकामिव नृवरेण राज्ञा स्पृहणीयां वाञ्छनीयामङ्घ्रिपाद् वृक्षाद्वनपजो मालिपुत्र इव यान्यजनस्तां सुलोचनामेतः पूर्वोक्तनृपान्निनाय अनैषीत् ॥ ७१ ॥

पुनरवददेव तां साधिदेवता सांसाग्रसारणेयन्दोः ।
जयति झगिति हि रिपुततिं विनिभालय भालयमकेन्दोः ॥ ७२ ॥

पुनरिति । साऽधिदेवता वाणी पुनरपि तां बालामवदत्—हे भालयमकेन्दो, भालस्य ललाटस्य यमकः सहजातस्तुल्यदर्शन इन्दुर्यस्याः सा तत्संबोधने, हे चन्द्रोपमभालदेशे, विनिभालय पश्य । यदेतस्य किलेयं दोर्बाहुरंसाग्रसारणा स्कन्धाग्रगतसारवती सती झगिति शीघ्रमेव रिपूणां ततिं समूहं जयति पराभवति, अतिवीरोऽयमिति भावः । यद्वा, अंसाग्रसारणापदं देवताया विशेषणम् । अंसाग्रस्य हस्तस्य सारणा प्रसारणा यस्याः सेति ॥७२॥

जगतामनुरागधृतिस्तनावहो पीतनाञ्चना लसति ।
अयमस्ति रतिप्रतिमे काश्मीरपती रतीशमतिः ॥ ७३ ॥

अन्वय : गन्धाधिकृतावयवां नृवरेण स्पृहणीयां सुमञ्जरीं वा तां वनपजातः अङ्घ्रिपात् इव इव यान्यजनः ततः निनाय ।

अर्थ : गंधवाली मंजरीके समान योग्य राजाके मनको भानेवाली इस सुलोचनाको किसी मालीके समान पालकी ढोनेवाले कहार वहाँसे हटाकर आगे ले गये ॥ ७१ ॥

अन्वय : पुनः अंसाग्रसारणा सा अधिदेवता अवदत् भालयमकेन्दोः ! विनिभालय, इयं दोः झगिति रिपुततिं जयति हि ।

अर्थ : फिर उस विद्या-देवताने अपने हाथके कोणको कुछ थोड़ा मोड़कर उस सुलोचनासे कहा : हे चंद्रमाके समान ललाटवाली सुलोचने ! देख, निश्चय ही इस राजाकी यह भुजा वैरियोंकी कतारको क्षणभरमें जीत लेती है ॥ ७२ ॥

अन्वय : रतिप्रतिमे ! अय रतीशमतिः काश्मीरपतिः अस्ति, यस्य तनौ जगताम् अनुरागततिः पीतनाञ्चना लसति अहो ।

जगतामिति । हे रतिप्रतिमे, मदनपत्नीसदृशमनोहरस्वरूपे, रतीशस्य कामदेवस्य मतिरिव मतिर्यस्य स कामसदृशः काश्मीरपतिरस्ति, यस्य तनौ शरीरे जगतामखिलप्राणिनामनुरागपूर्वकं धृतिर्धारणं प्रेमपूर्वकं प्रजायाः परिपालनम् । यद्वा जगतामेवानुरागधृतिः प्रीतिधारणाऽमुष्मिन् राज्ञि, या प्राणिमात्रस्य प्रीतिसत्ता सा पीतनस्य केशरस्याङ्गनावत् कुङ्कुमरचितलेपपरिणतिवत् लसति शोभते । अहो आश्चर्यं ॥ ७३ ॥

असकौ कलादवादः सुभागसामर्थ्यतोऽयि भागवति ।
निजतेजसाऽजसाक्षी दुर्वर्णं वा सुवर्णयति ॥ ७४ ॥

असकाविति । असौ नृपतिः कलादस्य सुवर्णकारस्य वाद इव वादः प्रतिज्ञा यस्य स सुवर्णकारतुल्यचेष्टावानस्ति । यतो हे भागवति, पुण्याधिकारिणि सुलोचनेऽसकौ अज आत्मैव साक्षी यस्य स आत्मप्रमाणवान् सन् निजस्य तेजसा प्रभावेण वह्निना वा दुर्वर्णमपि शूद्रमपि सुवर्णयति द्विजतां नयति । किञ्च सुभागस्य सुकृतपरिणामस्य टङ्कणस्य वा सामर्थ्येन दुर्वर्णं हीनमप्युत्तमतां नयति । यथा स्वर्णकारो दुर्वर्णं रजतमपि सुवर्णतां हेमरूपतां नयति । दुर्वर्णे सुवर्णतापादनस्याशक्यत्वात् । अहो इत्याश्चर्यं ॥ ७४ ॥

कृताञ्जलितयैत्यङ्काज्जीवनदं जीवदो भियातङ्कात् ।
यद्घटितादयमर्हति स राजरुक्पूर्वरूपमिति ॥ ७५ ॥

कृताञ्जलीति । जीवं ददातीति जीवदोऽरिः मरणासन्नो वा येन घटितादुत्पादिताद्

अर्थ : हे रतिके समान सुन्दर सुलोचने ! यह राजा काश्मीरदेशका स्वामी है, कामदेवके समान मनोहर है, जिसके शरीरमें लागोंका अनुराग काश्मीर-कुंकुमके अंगरागके समान सुशोभित हो रहा है ॥ ७३ ॥

अन्वय : अयि भागवति ! असकौ कलादवादः अजसाक्षी सुभागसामर्थ्यतः निजतेजसा दुर्वर्णं वा सुवर्णयति ।

अर्थ : हे सौभाग्यशालिनी ! यह राजा सुनारके समान चेष्टावाला है, जो अपने सौभाग्यरूपी सुहागेकी सामर्थ्यसे अपने तेजरूपी अग्निद्वारा भगवान्‌की साक्षीसे दुर्वर्णरूपी चांदीको भी सुवर्ण बना देता है। अर्थात् दुराचारीको भी सदाचारी बना देता है ॥ ७४ ॥

अन्वय : सः अयं राजरुक्पूर्वरूपत्वम् अर्हति, जीवदः यद्घटितात् आतङ्कात् भिया अङ्कात् कृताञ्जलितया जीवनदम् एति ।

आतङ्कात् ज्वरादिरोगात् सङ्कटाद्वा सञ्जातया भिया कृत्वाऽङ्कात् स्मरणमात्रत एव, स पुनर्जीवनवं जीव एव नवो जलप्रवाहस्तं कृतोऽञ्जलो हस्तसंयोग एव यस्तस्य भावेनैति मनुते, वैरिवर्गोऽमुष्मात्भूयभीतो चिरस्थायि जीवनमपि स्वकीयं क्षणिकमिति प्रतिजानाति। यद्वाऽमुष्याग्रे बद्धाञ्जलित्वेन नम्रो भूत्वैव जीवति। पक्षे जीवनदं जीवनदायकं सञ्जीवनीयमौषधं कृताञ्जलितयात्याऽऽदरेण पिबति किल। स एष पूर्वोक्तरीत्या प्रतिवर्णितोऽयं राजश्चन्द्रमसो रुक् रुचिः शोभा तस्याः पूर्वरूपमिति पूर्वजावस्थिति गुरुभावमर्हति, चन्द्रमसोऽप्यधिककान्तिमानयमिति भावः। अथवा तु राजरुजो यक्ष्मणः पूर्वरूपमिति रोगोत्पत्तितः प्रागनन्तरभवं चिह्नं पूर्वरूपं कथयन्ति वैद्यास्तस्य मितिं मानमर्हति शत्रूणां क्षयकारको भवतीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

काश्मीरजजनभर्तु-र्घनसारसमन्वयं समुद्धर्तुम्।
अपघनरुचोचिता या कथमत्र रुचिं सुदृक् साऽयात् ॥ ७६ ॥

काश्मीरेति। काश्मीरजानां जनानां भर्तुः स्वामिनो घनोऽबहलो यो सारस्तस्य समन्वयं समकक्षभावं समुद्धर्तुमुद्घोषयितुं सा सुदृक् सुलोचना कथं कृत्वात्र रुचिं प्रीतिमयात् जगाम, या किलापघनेषु सर्वेष्ववयवेषु या रुक् कान्तिस्तयोचिताऽन्विता, अथवा अपघना घनहीना मेघविरोधिनी या रुक् कान्तिस्तयोचिता सा, घनानां मेघानां सारस्य समन्वयं समुद्धतुं रुचिं कथमयात्न कथमपि। किञ्च काश्मीरजस्य नाम केशरस्य नराणां नलानां भर्तुः स्वामिनो घनसारेण कर्पूरेण सह समन्वयं सम्मेलनं समुद्धतुं सहजसुगन्धितसुन्दरावयवती सुलोचना कथमयात्, न कथमपि, यतः पूतिगन्धयुक्तैः विरूपकैरेव कर्पूरमिश्रितकेशरकर्दमस्य अभ्यङ्गः क्रियताम्, न सा तं स्वीचकारेत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अर्थ : यह वह राजा है, जो चन्द्रकान्तिकी पूर्वरूपतावाला है, चंद्रमासे भी अधिक सुन्दर कांतिवाला है। राजरोग (तपेदिक) के पूर्वरूप इस राजा द्वारा उत्पन्न आतंकसे भयभीत होकर शत्रुलोग हाथ जोड़कर स्मरणमात्रसे जीवनरूपी नदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ७५ ॥

अन्वय : या अपघनरुचोचिता, सा सुदृक् काश्मीरजजनरभर्तुः घनसारसमन्वयं समुद्धर्तुम् अत्र रुचिं कथम् अयात्।

अर्थ : यह राजा काश्मीरका है, केशरका अधिकारी है, केशरके साथ घनसार (कपूर) का मेल है। किन्तु सुलोचना तो अपघन (मेघसे रहित रुचिवाली अथवा सुन्दर अवयववाली थी। अतः वह उसमें कैसे रुचि ले सकती है ? ॥ ७६ ॥

स्त्रीभावचालितपदां याञ्चामिव निर्धनाज्जनो धनिनम् ।
सुदृशं निनाय शिविकाधुर्यगणोऽतः परं गुणिनम् ॥ ७७ ॥

स्त्रीभावेति । जनो मङ्गतादिः निर्धनादकिञ्चनाद्धनिनं सम्पत्तिशालिनं याञ्चामिव प्रार्थनां यथा नयति तथैव शिविकाधुर्यगणस्तामतः काश्मीरनरेशात् पुनः परमितरं गुणिनं जनं सदृशं सुलोचनां निनाय नीतवान् । कीदृशीं ताम् ? स्त्रीस्वभावचालितपदां स्त्रीस्वभावेन यौवतविभवेन चालितं प्रकम्पितं पदं चरणं यया सा ताम् । पक्षे स्त्रीस्वभावेन स्त्रीलिङ्गरूपेण चालितं प्रस्तारितं पदं सुबन्तं यस्यास्ताम् ॥ ७७ ॥

भूयो बभाण बालां बालाग्रमितोग्रदारकान्तिमवाक् ।
तनये मन एतस्मिन् कुरु कुरुदेशाधिपे त्वित वाक् ॥ ७८ ॥

भूय इति । वाग्नाम सखी बालाग्रेण केशप्रान्तभागेन अत्यल्परूपेण मिता सङ्कल्पिता उग्रदाराणां धूर्जटिस्त्रियाः पार्वत्याः कान्तिर्यया तां परमसुन्दरीं तां बालां भूयः पुनरपि चेत्येवं प्रकारेण बभाण जगाद, यत् हे तनये त्वमेतस्मिन् कुरुदेशस्याधिपे स्वामिनि मनश्चित्तमवाक् तूष्णीं यथा स्यात्तथा कुरु ॥ ७८ ॥

पुरुषोत्तमस्य वाहनमस्य समालोक्य युक्तमिति लसति ।
भुवि दर्पमर्पयित्वा सुदूरमहितस्त्वमपसरति ॥ ७९ ॥

अन्वय : जनः निर्धनात् धनिनं याच्ञाम् इव शिविकावाहकधुर्यगणः स्त्रीभावचालितपदां सुदृशम् अतः परं गुणिनं निनाय ।

अर्थ : पालकी ढोनेवाले लोग यौवन-वैभवसे अपना पैर हिलानेवाली उस सुलोचनाको इस राजाके पाससे दूसरे किसी गुणवान् राजाके पास ठीक वैसे ले गये, जैसे याचकजन अपनी याचना निर्धन मनुष्यके पाससे हटाकर धनवान्के पास ले जाते हैं ॥ ७७ ॥

अन्वय : बालाग्रमितोग्रदारकान्ति बालां वाक् भूयः इतः बभाण तनये ! एतस्मिन् कुरुदेशाधिपे तु नृपतौ मनः कुरु ।

अर्थ : पार्वतीकी कांतिको अपने बालाग्रके बराबर मापनेवाली उस सुलोचनासे वह विद्यादेवी पुनः कहने लगी कि हे पुत्रि ! यह कुरुदेशका राजा है, इसमें तो अपने मनको लगा ॥ ७८ ॥

अन्वय : अस्य पुरुषोत्तमस्य वाहनं समालोक्य भुवि दर्पम् अर्पयित्वा अहितस्त्वं सुदूरम् अपसरति इति युक्तं लसति ।

पुरुषोत्तमस्येति । हे बाले शृणु, अस्य पुरुषोत्तमस्य नृपवरस्य वाहनमश्वादिकं युक्तं समलङ्कृतमालोक्य अहितस्य शत्रोर्भावोऽहितत्वं तद् भुवि पृथिव्यां दर्पमभिमानमर्पयित्वा सुदूरमपसरति पलायते । अस्य शत्रवोऽपि मैत्रीभावं कुर्वन्ति, अथवा तिरोहिता भवन्ति । पुरुषोत्तमस्य गोविन्दस्य वाहनं गरुडं दृष्ट्वा अहीनां सर्पाणां तत्त्वं स्वरूपं यत्तद्रूपं विषमुज्झित्य पलायते, निःशक्ततामा श्रयतीति वा ॥ ७९ ॥

आजिषु तत्करवालैर्हयक्षुरक्षोदितासु संपतितम् ।
वंशान्मुक्ताबीजं पल्लवितोऽभूद्यशोद्रुरितः ॥ ८० ॥

आजिष्विति । तस्यैतस्य हयानामश्वानां क्षुरैश्चरणाग्रैः क्षोदितासु क्षुण्णास्वाजिषु रणभूमिषु तस्य करवालैरसिभिः कृत्वा वंशाद् वैरिहस्तिमस्तकाद्, यद्वा रणरूपवेणुदण्डान् मुक्तानाम बीजं सम्पतितम्, इतोऽस्मादेव कारणादस्य यश एवद्रुः कीर्तिवृक्षः, पल्लवित उत्तरोत्तरं प्रसारमाप । शुक्लान्मौक्तिकबीजात् शुक्लयशस उत्पत्तेरुचितत्वादिति । अनुमानालङ्कारः ॥ ८० ॥

तृड्हा गभीरहृत्त्वात् समुद्रवत् सज्जनक्रमकरत्वात् ।
लावण्यखचितदेहो नदीनतालम्बनस्तेऽहो ॥ ८१ ॥

तृड्हेति । हे बाले, अयं प्रकृतनृपः समुद्रवत् सिन्धुतुल्यो गभीरमुदारं हृच्चित्तं यस्य

अर्थ : इस पुरुषोत्तमके वाहनको देखकर ही विरोधी राजाओंका शत्रुत्व लोग अपना घमंड भूमिपर छोड़कर सुदूर भाग जाता है (वे इसके अनुकूल बन जाते हैं), जैसे कि श्रीकृष्णके वाहन गरुड़को देख सर्प अपना विष जमीनपर उगलकर भाग जाते हैं ॥ ७९ ॥

अन्वय : हर्यक्षुरक्षोदितासु आजिषु तत्करवालैः वंशात् मुक्ताबीजं संपतितम् । इतः यशोद्रुः पल्लवितः अभूत् ।

अर्थ : घोड़ोंके खुरोंसे खोदी गयी युद्धस्थलकी भूमियोंमें इस राजाके करवालों (तलवारों) द्वारा हाथियोंके कुंभस्थलोंसे मोतीरूपो बीज गिर पड़ा । इसी कारण यहाँ इस राजाका यशरूपी वृक्ष खड़ा हो पल्लवित हो रहा है ॥ ८० ॥

अन्वय : अहो ! (अयं) गभीरहृत्त्वात् सज्जनक्रमकरत्वात् समुद्रवत् लावण्यखचितदेहः न दीनतालम्बनः ते तृड्हा (भूयात्) !

तस्माद्धेतोः । किञ्च सज्जनक्रमकरस्त्वात्, सज्जनानां प्रशस्तपुरुषाणां क्रमं परम्परां करोत्युत्पादयति तस्मात् । पक्षे नक्रश्च मकरश्च नक्रमकरौ, सज्जौ उत्साहशीलौ नक्रमकरौ नाम अम्बू यत्र स सज्जनक्रमकरस्तस्त्वात् । लावण्येन सौन्दर्येण, पक्षे लवणभावेन च खचितः परिपूर्णो देहो यस्य सः । तथा दीनो निर्बलो न भवतीति नदीनः, तस्य भावो नदीनता तस्या आलम्बनं यस्य सः, एतादृशस्ते तृड्हा वाञ्छापूर्तिकरः पिपासाहरो वा स्यात् ॥ ८१ ॥

श्रुत्वास्य समुद्दिष्टं खलु ताम्बूलावशिष्टमुच्छिष्टम् ।
निष्ठीवति स्म सतिका सारसबिसमृदुलदोर्लतिका ॥ ८२ ॥

श्रुत्वाऽस्येति । सारसस्य कमलस्य बिसवन्मृणालवत् मृदुला कोमला दोर्लतिका भुजलता यस्याः सा सतिका सती साध्वी सुलोचनाऽस्य राज्ञो मुदा सहितं समुच्च तद्दिष्टं समुद्दिष्टं प्रशस्तं भागधेयं तथाऽस्य विषये सम्यगुद्दिष्टं प्रोक्तञ्च श्रुत्वा खलु ताम्बूलावशिष्ट चर्वितशेषं निष्ठीवति स्म । यदुच्छिष्टवन्निःसारमेतद्वर्णनमिति ज्ञापयामासेति भावः ॥८२॥

तामपरं निन्युरतो विमानधुर्यास्तु नृपतिमभिरामाम् ।
मिथ्यात्वात् सम्यक्त्वं यथा मतिं करणपरिणामाः ॥ ८३ ॥

अर्थ : आश्चर्यकी बात है कि यह राजा गंभीर हृदयवाला है, सज्जनोंका क्रम स्वीकार करनेवाला है, लावण्ययुक्त शरीरवाला है, दीनतासे रहित है । अतः समुद्रके समान यह तेरी प्यास बुझा देगा । समुद्र भी गभीर होता है, वह उछल-कूद मचानेवाले नक्र-मकरादि जलजन्तुओंसे युक्त, खारे जलवाला और नदियोंका स्वामी भी होता है, यह श्लिष्टपदोंसे अर्थ निकलता है । आश्चर्यका बात यह है कि समुद्र 'नदीनता' (नदी-स्वामिता) धारण करता है, पर यह 'नदीनता' (दीनताका अभाव) धारण करता है ॥ ८१ ॥

अन्वय : सारसबिसमृदुलदोर्लतिका सतिका अस्य समुद्दिष्टं श्रुत्वा खलु ताम्बूलावशिष्टम् उच्छिष्टं निष्ठीवति स्म ।

अर्थ : इसके गुणोंको सुनकर कमलकी नालके समान मृदुल भुजावाली सुलोचनाने मुँहके ताम्बूलकी जूठन, सोठी थूँक दी । इससे यह ध्वनित किया कि इसका वर्णन जूठनकी तरह निस्सार है, इसलिए आगे बढ़ो ॥ ८२ ॥

अन्वय : यथा करणपरिणामाः मतिं मिथ्यात्वात् सम्यक्त्वं नयन्ति तथा विमान-धुर्याः तु ताम् अभिरामां अतः अपरं नृपतिं निन्युः ।

तामिति । विमानधुर्या जना अतः प्रकृतनृपादपरमितरं नृपं प्रति तामभिरामां मनोहरां बालां निन्युः नीतवन्तः । यथाऽधःप्रवृत्त्याविनामका आगमोक्ता करणपरिणामास्ते रमन्ते योगिनो यस्यां सा समन्ताद् रामाऽभिरामा तां मतिं चित्तपरिणतिं मिथ्यात्वात् अतत्त्वश्रद्धानात्मकादाकृष्य सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानभावं नयन्ति ॥ ८३ ॥

एकैकमपूर्वगुणं हित्वा परमपरमवनिपतिं यान्ती ।
पुनरप्यभाणि बुद्धया सा यस्या अद्भुता कान्तिः ॥ ८४ ॥

एकैकमिति । यस्या अद्भुता विचित्रा कान्तिः शोभा वर्तते एवंभूता सा सुलोचना, अपूर्वा अद्भुता गुणाः शौर्यादयो यस्य तं परं श्रेष्ठमेकैकं प्रत्येकमवनिपं नृपं हित्वा त्यक्त्वा अपरमन्यं नृपं यान्ती गच्छन्ती बुद्धया नामसख्या पुनरप्यभाणि ऊचे ॥ ८४ ॥

त्वममुष्यासि सवर्णाऽलमन्यया हे सुकेशि वर्णनया ।
कर्णाटाः साधूनां यस्य गुणा वर्णनीयतया ॥ ८५ ॥

त्वममुष्येति । हे सुकेशि, मृदुलश्यामलकचवति, अन्यया वर्णनयाऽलं पर्याप्तं किमिहान्येन वर्णनेन यत्त्वममुष्य भूपस्य सवर्णासि तुल्यरूपासि । यद्वा तुल्या वर्णना यस्याः साऽसि । अथवा वः सान्त्वनार्थे वर्तते, तेन सान्त्वनेन सहितः सवस्तस्मिन्नृणं कृपा यस्याः सा सवर्णाऽसिः अयमेतादृग् यस्य गुणाः प्रधानादयो वर्णेन जात्या नीयमानतया कर्णाटा इति

अर्थ : जिस प्रकार अधःप्रवृत्ति आदि करण-परिणाम बुद्धिको अतत्त्व-श्रद्धानरूप मिथ्यात्वसे हटाकर सम्यक्त्व (तत्त्वश्रद्धानता) पर ले जाते हैं, उसी प्रकार विमानवाहक लोग सुलोचनाको उस राजासे हटाकर दूसरे राजाके पास ले गये ॥ ८३ ॥

अन्वय : एकैकम् अपूर्वगुणं परं हित्वा अपरम् अवनिपं यान्ती यस्या अद्भुता कान्तिः सा पुनः अपि बुद्धया अभाणि ।

अर्थ : इस प्रकार एक राजाको छोड़ दूसरे राजाके पास जानेवाली कांतिसे संपन्न उस सुलोचनाको विद्यादेवीने फिर कहना शुरू किया ॥ ८४ ॥

अन्वय : सुकेशि ! अन्यया वर्णनया अलम्, त्वम् अमुष्य सवर्णा (असि), यस्य गुणाः वर्णनीयतया साधूनां कर्णाटाः ।

अर्थ : हे सुकेशि ! अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ ? क्योंकि तू इस राजाके

ख्याता भवन्ति। साधूनां मध्ये तव गुणाः सौन्दर्यादयस्ते वर्णेन वर्णनेन ककारादि-नानाजातीया नेतुं योग्या वर्णनीयास्तद्भावेन कृत्वा साधूनां सज्जनानां कर्णावटन्ति गच्छन्तीति कर्णाटा भवन्ति। तस्मात्त्वममुं स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ ८५ ॥

तनुते तपर्तुमेतत्प्रतापतपनो द्विषत्स्थले सुजनि।
नयनोत्पलवासिजलैः प्रपां ददात्यरिवधूर्व्रतिनी ॥ ८६ ॥

तनुत इति। यथा व्रतिनी विधवा विश्वमपि सजलं करोमीति प्रतिज्ञावती वा तपर्तुं ग्रीष्मसमयं तपस्य धर्मस्यर्तुं वा। यद्वा नीरसपरिणामं तपश्चरणयोग्यसमयं वा तनुते अस्य नृपस्य प्रताप एव तपनस्तेजः सूर्यो द्विषतां स्थलं शत्रुदेशस्तस्मिन् ग्रीष्मर्तुं तनुते। अत एव हे सुजनि, अस्यारिवधूर्व्रतिनी नियमवती सती तथैव नयन एवोत्पले तयोर्वासिभिर्जलैरश्रुप्रवाहैः प्रपां जलशालां ददाति, अनेन शत्रवो व्यापादिताः, अतस्तन्नार्यो रुदन्तीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

नहि भवति भवति मदनः प्रवर्तमानेऽत्र कान्तिमत्तन्तुः।
दृश्यतमोऽयं बाले कुसुमेषुरदृश्य इति किन्तु ॥ ८७ ॥

नहीति। हे बाले, भवतीति भवच्छब्दस्य सप्तम्येकवचनम् भवति राज्ञि वर्तमाननृपे मदनः कामोऽपि कान्तिमत्तनुः शोभितशरीरो न भवति, अस्य सौन्दर्यापेक्षया कामस्तुच्छ

साथ समानता रखनेवाली है। जैसे तेरे गुण वर्णनके योग्य होकर साधुओंके कानोंतक पहुँचनेवाले हैं, वैसे ही इस राजाके गुण भी कर्णाट-देशतक फैलते हैं। अर्थात् यह कर्णाटक देशका राजा है ॥ ८५ ॥

अन्वय : सुजनि ! एतत्प्रतापतपनः द्विषत्स्थले तपर्तुं तनुते। व्रतिनी अरिवधूः नयनोत्पलवासिजलैः प्रपां ददाति।

अर्थ : हे सुलोचने ! इसका प्रतापरूपी सूर्य शत्रुओंके देशोंमें सदा ही ग्रीष्मऋतु बनाये रखता है। उन शत्रुओंकी विधवा स्त्रियाँ अपनी आँखोंके आँसुओंके जलसे प्याऊ लगाये रखती हैं ॥ ८६ ॥

अन्वय : बाले ! अत्र भवति प्रवर्तमाने मदनः कान्तिमत्तन्तुः नहि भवति। अयं दृश्यतमः, किन्तु कुसुमेषुः अदृश्यः इति।

अर्थ : बाले ! इस राजाके समक्ष काम भी कान्तिमय देह नहीं, तुच्छ है।

एवेत्यर्थः। यतोऽयं दृश्यतमः सर्वोत्कृष्टदर्शनीयोऽस्ति, किन्तु कुसुमेषुः कामोऽदृश्यो वर्तते, अनङ्गत्वात्। अथवा कुसुमेषुः, कोः पृथिव्या सुमा शोभा तस्या इषुः शल्यरूपोऽस्ति ॥ ८७ ॥

वाणीति सदानन्दा भद्रा कीर्तिश्च वीरता विजया।
रिक्तार्थिकास्ति लक्ष्मीः पूर्णा त्वं ज्योतिरीशस्य ॥ ८८ ॥

वाणीति। ज्योतिषामीशस्तस्य कान्तिमतो ज्योतिर्विदो वास्य राज्ञो वाणी सदानन्दा सर्वदा आनन्ददायिनी मधुराऽस्ति। तथा नन्दा नाम तिथिर्भवति प्रथमोक्तत्वात्। कीर्तिश्चास्य भद्रा मनोहरा भद्रानामतिथिर्द्वितीया वास्ति। वीरता चास्य विजया जयशीला जया नाम तिथिर्वास्ति त्रिगुणात्मिका, लक्ष्मीश्चास्य रिक्तार्थिका, रिक्तेभ्यो दरिद्रेभ्य उपयोगिनी, रिक्ता तिथिश्चास्ति। त्वं तु पुनः पूर्णा अस्य वाञ्छापूर्तिकरी पूर्णानाम तिथिरिवाऽसीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

प्रचकार चकोराक्षी स्खलच्चञ्चुवणपूरयोजनोद्भूतिम्।
तद्गुणश्रवणसम्भवदरुचितया कर्णकण्डूतिम् ॥ ८९ ॥

प्रचकारेति। चकोरस्य अक्षिणी यस्याः सा चकोराक्षी सा बाला, तस्य गुणानां

कारण यह राजा तो सदा दृश्य, दिखाई पड़ता है, पर वह कामदेव सदैव अदृश्य रहता है ॥ ८७ ॥

अन्वय : ज्योतिरीशस्य (अस्य) वाणी सदानन्दा, कीर्तिः भद्रा, वीरता विजया, लक्ष्मीः रिक्तार्थिका। च त्वं पूर्णा।

अर्थ : यह राजा ज्योतिरीश अर्थात् कांतिमान् होते हुए ज्योतिर्विद् है। कारण, इसकी वाणी सदा नन्दा है (आनन्द देनेवाली या आदि तिथि) है। इसकी कीर्ति भद्रा (मनोहरा या दूसरी तिथि) है। वीरता विजया (जय करनेवाली या तीसरी तिथि) है। लक्ष्मी रिक्तार्थिका (गरीबोंके काममें आनेवाली या चतुर्थी तिथि) है। पाँचवीं तू पूर्णा (इसके मनोरथको पूर्ण करनेवाली या पूर्णा तिथि) बनकर रह ॥ ८८ ॥

अन्वय : चकोराक्षी तद्गुणश्रवणसम्भवदरुचितया स्खलच्चञ्चुवणपूरयोजनोद्भूतिं कर्णकण्डूतिं प्रचकार।

श्रवणं तद्गुणश्रवणं तेन सम्भवन्ती याऽरुचिः अपरागस्तस्य भावस्तया । स्खलन् यः कर्णपूरस्तस्य योजनाया उद्भूतिर्यस्यां सा ताम्, कर्णस्य कण्डूतिं खर्जनं प्रचकार ॥ ८९ ॥

शिविकावाहकलोकोऽपाकर्षत्तां जनीं ततोऽप्यहितात् ।
मुनिजन इव संसारच्चेतोवृत्तिं निजां सुहिताम् ॥ ९० ॥

शिविकेति । शिविकाया वाहकलोको वोढाजनस्तां जनीं बालामहितादनिष्टात् ततस्तस्माद् भूपालाद् अपाकर्षद् दूरमनयत् । कथमिव, यथा मुनिजनो निजां सुहितां तृप्तां चेतोवृत्तिं मनश्चेष्टां संसारात् जगत्प्रपञ्चादपकृष्य आत्मानुसन्धाने युनक्तीति ॥ ९० ॥

उद्दिश्यापरमूचे सदसोऽङ्कं सा सुरी च कृतसूचेः ।
रसिकासि कामिकान्ते किममुष्मिन् कान्तिझरतान्ते ॥ ९१ ॥

उद्दिश्येति । कृता सूचो सङ्केतपद्धतिः यस्यास्तस्या सदसः सभाया अङ्कं भूषणं कमप्यन्यं नृपमुद्दिश्य सा सुरी तामूचे—हे कामिकान्ते, कामिभ्यः कान्ता कामिकान्ता तत्सम्बोधने, हे कामिजनमनोहरे, सुन्दरि, त्वम् कान्त्या झरः कान्तिझरस्तेन तान्ते सौन्दर्यप्रवाहव्याप्ते अमुष्मिन्नृपे रसिका प्रेमवत्यसि किमिति ॥ ९१ ॥

अर्थ : चकोरके समान आंखोंवाली सुलोचनाने इस राजाके गुणोंका वर्णन सुननेमें अरुचि प्रकट करते हुए कानसे निकले कर्णफूलको वापस कानमें लगानेके लिए अपना कान खुजलाया । अर्थात् यहाँसे चलो, इस प्रकारका संकेत कर दिया ।

अन्वय : मुनिजनः संसारात् सुहितां निजचेतोवृत्तिम् इव शिविकावाहकलोकः तां जनीं ततः अहितात् अपि अपकर्षति स्म ।

अर्थ : कहारोंने उसे उस अनिष्ट राजासे भी ठीक वैसे ही हटा लिया, जैसे मुनि लोग अपनी परितृप्त चित्तवृत्तिको संसारसे हटा लेते हैं ॥ ९० ॥

अन्वय : कृतसूचेः सदसः अङ्कं च अपरम् उद्दिश्य सा सुरी ऊचे हे कामिकान्ते ! त्वम् अमुष्मिन् कान्तिझरतान्ते किं रसिका असि ?

अर्थ : वह विद्यादेवी उस स्वयंवर-सभामें बैठे राजाओंमेंसे किसी दूसरे सुन्दर राजाको लक्ष्य लेकर पुनः बोली : हे रतिके समान कांतिवाली सुलोचने ! क्या तू कांतिके निर्झरस्वरूप इस राजामें अनुरक्त है ? ॥ ९१ ॥

मालवरिष्ठो मालवपतिरेषोऽमुष्य मञ्जुगुणवस्तु ।
मालतिकोपमिततनो परत्र भो मालवोऽप्यस्तु ॥ ९२ ॥

मालेति । मालत्येव मालतिका, तया उपमिता तनुर्यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, हे जाति-लतातुल्यमृदुशरीरे एष मालेषु जनेषु वरिष्ठः श्रेष्ठो मालवपतिरस्ति । अमुष्य मञ्जुलेषु गुणेषु वस्तु सारभूतं मालवः शोभालेशः परत्र अन्यस्मिन्नप्यस्तु ? नास्तीत्यर्थः । अथवा अमुष्यगुणवस्तुभूतो लवोऽपि मास्तु, गन्धमात्रमपि नास्ति, किं पुनः पूर्णतेत्यर्थः ॥ ९२ ॥

न क्षतमेत्यपि समरी यावज्जनरञ्जनव्रती समरीन् ।
रक्तवतश्च विरक्तान् कृत्वा सत्त्वानुत च भक्तान् ॥ ९३ ॥

न क्षतमिति । यावन्तश्च ते जनास्तेषां रञ्जनस्य व्रतं यस्यास्तीति यावज्जन-रञ्जनव्रती स एष समरीन् शोभनानरीन् शत्रून् विरक्तान् रक्तरहितानपि विरुद्धाचरणान् वा, रक्तवतो रक्तयुक्तान् क्षतशून्यानपि क्षतान्वितान्, यद्वा, अरुणतां नीत्वा, उत पुनः सत्त्वान् समस्तप्राणिनो भक्तान् रक्तवतोऽनुरागयुक्तान् विधायापि, समरी युद्ध-कुशलोऽसौ, सत्प्रतिज्ञावान् वा क्षतं व्रणं प्रतिज्ञाहानिं च नैति न प्राप्नोति । अथवा समरी यो वैरिणो रक्तवतः कृत्वा विरक्तान् संन्यासिनः करोति, भक्तान् वेति विरोधाभासः ॥ ९३ ॥

अन्वय : भो मालतिकोपमिततनो ! एषः मालवरिष्ठः मालवपतिः, अमुष्य मञ्जुगुणवस्तु परत्र लवः अपि मा अस्तु ।

अर्थ : हे मालतीके समान कोमल शरीरवाली सुलोचने ! सुन, यह मालव-देशका पति है जो मालवजनोंमें वरिष्ठ है । इसके सब तरहके गुणगण, ठाठ-बाट हैं । दूसरेके पास इसके वैभवका लेश भी नहीं है ॥ ९२ ॥

अन्वय : यावज्जनरञ्जनव्रती अयं समरी समरीन् रक्तवतः च कृत्वा विरक्तान् सत्त्वान् उत च भक्तान् कृत्वा क्षतम् अपि न एति ।

अर्थ : सभी लोगोंको खुश करनेवाला यह समरकुशल राजा अपने पराक्रमी शत्रुओंको रक्तवान् (रक्तसे लथपथ या अनुरक्त) तथा विरक्त लोगोंको भक्त बनाकर प्रतिज्ञाको हानि नहीं पाता ॥ ९३ ॥

पश्यैतस्यैतादृग् रूपं शुचि रुचिरमग्रतो गण्यम् ।
इतरस्य जनस्य पुनर्लावण्यं भवति लावण्यम् ॥ ९४ ॥

पश्येति । हे सुन्दरि, एतस्य भूपस्य, एतादृक् शुचि विशदं, रुचिरं मनोज्ञम्, अत एवाग्रतो गण्यं सर्वोत्तमं रूपं पश्य विलोकय । अस्य सुषमापेक्षया इतरजनस्य लावण्यं सौन्दर्यं लावण्यं लवणभावं क्षारभूतं भवति प्रतीयते । अतोऽप्रतिमसौन्दर्योऽयं वरणार्ह इत्याशयः ॥ ९४ ॥

कुन्ददतीसंसदि यद्वैरिमुखं भवति अपि कुमुदबन्धुः ।
शनकैः कुमर्पयित्वाऽमुष्याग्रे केवलं हि मुदबन्धुः ॥ ९५ ॥

कुन्देति । यद्वैरिणामाननं कुं शब्दं ददतीति कुन्ददत्यः संलापकर्त्र्यः, अथवा कुन्दकुसुमानीव दन्ता यासां ताः कुन्ददत्यस्तासां युवतीनां संसदि सभायां कुं स्थानमाप्त्वैव कुमुदबन्धुश्चन्द्रतुल्यं भवति, प्रसन्नं भवतीत्यर्थः । तदपि पुनरमुष्य अवनिपतेरग्रे शनकैर्हि सहजतयैव कुं निजां भुवमर्पयित्वा त्यक्त्वा पुनः कोरभावात् केवलं मुदबन्धुर्मुदो हर्षस्य अबन्धुः प्रसादरहितं मलिनमेव जायत इत्यर्थः ॥ ९५ ॥

विलसति कर्कन्दुगणः किमिति न कुमुदाशयश्च संकुचति ।
विनतो भवति समुद्रो राज्ञि किलास्मिन् पुनर्लसति ॥ ९६ ॥

अन्वय : एतस्य एतादृक् रूपं पश्य यत् शुचि रुचिरम् अग्रतो गण्यम् । इतरस्य जनस्य पुनः लावण्यं लावण्यं भवति ।

अर्थ : सुन्दरि, इसके रूपको देखो जो देखनेमें बड़ा ही रुचिकारक है और सबसे अग्रगण्य है । दूसरोंका लावण्य तो इसके सामने लावण्य (नमक) मात्र प्रतीत होता है ॥ ९४ ॥

अन्वय : यद्वैरिमुखम् अपि कुन्ददती-संसदि कुमुदबन्धुः भवति, तत् अपि अमुष्य अग्रे शनकैः कुम् अर्पयित्वा मुदबन्धुः भवति ।

अर्थ : जिस वैरीका मुख कुन्दसमान दाँतवाली स्त्रियोंकी सभामें कुमुदबंधु अर्थात् चन्द्रमा बनकर रहता है, वही इस राजाके आगे अनायास पृथ्वी अर्पणकर कुकाररहित मुद्-(अबन्धुमात्र) रह जाता है, फीका पड़ जाता है ॥ ९५ ॥

अन्वय : पुनः अस्मिन् किल राज्ञि लसति कर्कन्दुगणः किम् इति न विलसति । कुमुदाशयः च किम् इति न सङ्कुचति तथा समुद्रः विनतः भवति ।

विलसतीति । अस्मिन् राज्ञि नृपे चन्द्रमसि विलसति सति वर्तमाने सति कर्कन्धूनां साक्षराणां गणो न विलसति किम्, न शोभते किम् ? अपि तु शोभत एव। तथा कुमुदानां वनौकसां भिल्लादीनां, यद्वा कुमुदां कृपणादीनामाशयः संकुचति संकुचितो भवति। तथा मुद्राभिः सहितः समुद्रो धनिकजनश्च विनतोऽनुद्धतो भवति । राज्ञि चन्द्रमसि सति तु कर्कन्धूनां कमलानां गणः संकुचति, कुमुदाशयः कैरववर्गो विकसति, समुद्रोऽम्भोधिरुद्धतो भवति । अहो आश्चर्यं किल । 'कर्कन्धुः साक्षरे शाके वारिजाते गुदामये । कुमुदं कैरवे क्लीबं कृपणे कुमुदन्यवदि'ति कोषः ॥ ९६ ॥

निभृते गुणैरमुष्मिन् नाबन्धमवाप सापगुणदस्युः ।
किमु दैवे विपरीते परुषाण्यपि पौरुषाणि स्युः ॥ ९७ ॥

निभृत इति । अपगुणानां दुर्गुणानां दस्युर्हर्त्री सा गुणैः शौर्यादिभिर्निभृते सम्पन्नेऽप्यमुष्मिन् नृपे भावं प्रीतिसम्बन्धं नाबन्धमवाप न युयोज । दैवे भाग्ये विपरीते प्रतिकूले सति पौरुषाणि पुरुषार्था अपि परुषाणि कठोराणि स्युः, किम् इत्युत्प्रेक्षते ॥ ९७ ॥

ये ये समुपायाता अत्र धराधीश्वराः परेऽप्यनया ।
सर्वेऽपि कीर्तितास्ते देवतया चतुरया तु रयात् ॥ ९८ ॥

अर्थ : 'राजा' चंद्रमाका नाम है। उसके उदय होनेपर कमल मुरझाते, कुमुद प्रसन्न होते और समुद्र वृद्धिगत हुआ करता है। किन्तु इस मालवदेशके राजाके उदयमें उल्टी बात है, क्योंकि इसके उदित होनेपर कर्कन्दु या बंधुवर्गरूपी कमलसमूह तो प्रसन्न होते हैं और शत्रुरूपी कुमुदगण संकोच पाते तथा संपत्तिशाली लोग विनयवान् होते हैं ॥ ९६ ॥

अन्वय : अपगुणदस्युः गुणैः निभृते अस्मिन् अबन्धं न अवाप, दैवे विपरीते परुषाणि अपि पौरुषाणि स्युः किम् ।

अर्थ : दुर्गुणोंको हरण करनेवाली, गुणोंकी भंडार इस सुन्दरीने इस राजासे भी प्रेम नहीं किया। जब दैव विपरीत हो जाता है तो क्या पुरुषार्थ भी कठोर यानी व्यर्थ हो जाते हैं ? ॥ ९७ ॥

अन्वय : अत्र ये ये परे अपि तु धराधीश्वराः समायाताः, तै सर्वे अपि अनया चतुरया देवतया रयात् कीर्तिताः ।

ये य इति । अत्र स्वयंवरे ये ये धराधीश्वराः समुपायाताः सम्प्राप्तास्ते सर्वेऽपि चतुरया निपुणया अनया देवतया रयाद्वेगात् कीर्तिताः प्रशंसिताः ॥ ९८ ॥

युक्तिमिताऽथ कुतः स्यादुक्तेष्वपि पार्थिवेषु रसवश्या ।
चपलात्मनो मनस्या मेघेश्वरसम्पदस्तस्याः ॥ ९९ ॥

युक्तिमितेति । अथ मेघेश्वरस्य जयकुमारस्य सजलघनस्य वा सम्पत्सम्पत्तिस्तस्याः । यद्वा मेघेश्वर एव सम्यक् पदं स्थानं यस्यास्तस्याः । चपला नाम लक्ष्मीर्विद्युद्वा, चपलाया आत्मा स्वरूपमिव आत्मा यस्यास्तस्या अतिशयकान्तिमत्यास्तस्याः सुलोचनायाः, रसवश्या रसः शृङ्गाराख्यो जलात्मकश्च, तस्य वश्या मनस्याभिलाषा । सा खलूक्तेष्वपि पार्थिवेषु, पृथ्वीविकारेषु वा युक्तिमिता संयोगमवाप्ता कुतः स्यान्न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ९९ ॥

तत्तद्विरागमुदितं शिविकाधःस्थानवाहिनो ददृशुः ।
अध्युषित - नृपति -मलिनानना- नुलिङ्गादतश्चकृषुः ॥ १०० ॥

तत्तदिति । शिविकाधःस्थानं वहन्ति ये ते यानवाहका अध्युषिता उपविष्टा ये नृपतयस्तेषां मलिनानि म्लानानि यान्याननानि तेषामनुलिङ्गात् अनुमानात् उदितमुत्पन्नं तत्तद्विरागमरुचिं ददृशुः । अतो यानमग्रे चकृषुः कृष्टवन्तः ॥ १०० ॥

अर्थ : इसी प्रकार और भी राजाओंके जो पुत्र यहाँ स्वयंवर-सभामण्डपमें उपस्थित हुए थे, उन सभीका चतुर विद्यादेवीने कुशलताके साथ शीघ्रतापूर्वक वर्णन किया ॥ ९८ ॥

अन्वय : अथ मेघेश्वरसम्पदः चपलात्मनः तस्याः रसवश्या मनस्या उक्तेषु अपि पार्थिवेषु युक्तिमिता कुतः ।

अर्थ : किन्तु मेघेश्वर जयकुमारकी सम्पत्ति और अत्यन्त कान्तिमती उस सुलोचनाकी शृङ्गारपरवश अभिलाषा विशेषरूपसे वर्णित भी किसी अन्य राजामें संयुक्त कैसे हो सकती है ? ॥ ९९ ॥

अन्वय : शिविकाधःस्थानवाहिनः अध्युषितनृपतिमलिनाननानुलिङ्गात् तत्तद्विरागम् उदितं ददृशुः, च अतः चकृषुः ।

अखिलानुल्लङ्घ्य जनान् सुलोचना जयकुमारमुपयाता ।
माकन्दक्षारकमिव कापि पिका सा मधौ ख्याता ॥ १०१ ॥

अखिलानिति । यथा मधौ वसन्ते ख्याता प्रसिद्धा सा कापि पिका कोकिला-ऽखिलात् अन्यवृक्षानुल्लङ्घ्य माकन्दक्षारकमाम्रमञ्जरीमुपयाति तथैव साऽखिलान् जनान् नृपानुल्लङ्घ्य अतिक्रम्य जयकुमारमुपयाता प्राप्ता ॥ १०१ ॥

सा देवी राजसुताचेतो यत्तदनुकूलकं लेभे ।
मेघेश्वरगुणमालां वर्णयितुं विस्तराद्रेभे ॥ १०२ ॥

सा देवीति । यद्यस्माद् राजसुतायाश्चेतश्चित्तं तदनुकूलकं स्वानुरूपं वरं लेभे अलभत, अतः सा देवी मेघेश्वरस्य जयकुमारस्य गुणानां मालां समूहं विस्तराद् वैपुल्या-द्वर्णयितुं रेभे समारब्धा ॥ १०२ ॥

अवनौ ये ये वीरा नीराजनमामनन्ति ते सर्वे ।
यस्मै विक्रान्तोऽयं समुपैति च नाम तदखर्वे ॥ १०३ ॥

अर्थ : जिस-जिस राजामें सुलोचनाको अरुचि होती थी, उसे पालकीके ढोनेवाले लोग सामने बैठे राजाओंके उदास मुँहसे ही जान जाते थे। अतः वे वहांसे बिना कुछ कहे ही यान आगे ले जाते थे ॥ १०० ॥

अन्वय : मधौ ख्याता सा का अपि पिका माकन्दक्षारकम् इव सुलोचना अखिलान् जनान् उल्लङ्घ्य जयकुमारम् उपयाता ।

अर्थ : इस तरह सारे राजाओंको लाँघकर सुलोचना ठीक वैसे ही जयकुमार-के पास पहुँच गयी, जैसे वसंतऋतुमें सुप्रसिद्ध कोयल अन्य वृक्षोंको छोड़ आमके बौरपर ही पहुँच जाती है ॥ १०१ ॥

अन्वय : यत् राजसुताचेतः तदनुकूलकं लेभे, (तत्) सा देवी मेघेश्वरगुणमालां विस्तरात् वर्णयितुं रेभे ।

अर्थ : विद्यादेवीने भी जब इस सुलोचनाके चित्तको जयकुमारके अनुकूल देखा, तो वह मन खोलकर उसीके गुणोंका वर्णन करने लगी ॥ १०२ ॥

अन्वय : अखर्वे ! च अवनौ ये ये वीराः ते सर्वे यस्मै नीराजनम् आमनन्ति, (सः) अयं विक्रान्तः तत् नाम समुपैति ।

अवनाविति । हे अखर्वे प्रशस्तरूपे, अवनौ भूमौ ये ये वीराः सन्ति, ते सर्वे यस्मै नीराजनामारार्तिकम् अवतारयन्ति जयाय, अयं विक्रान्तः शूरस्तदेव जयकुमार इति नामाभिधानमुपैति ॥ १०३ ॥

सद्वंशसमुत्पन्नो गुणाधिकारेण भूरिशो नम्रः ।
चाप इवाश्रितरक्षक एष च परतक्षकः कम्रः ॥ १०४ ॥

सद्वंशेति । एष कम्रः शोभनश्चाप इव धनुष्काण्ड इव विभाति । यतः सद्वंशः उत्तमकुले समुत्पन्नो लब्धजन्मासौ, चापश्च सद्वंशसमुत्पन्नो वृढतरवेणुनिर्मितो भवति । गुणाधिकारेण शौर्यादिगुणाधिक्येन, चापपक्षे गुणस्य ज्याया अधिकारेण समाकर्षणेन कृत्वा भूरिशोऽत्यन्तं यथा स्यात्तथा नम्रो नतिशीलः सन्, आश्रितस्य बान्धवादेः, पक्षे सन्धारकस्य रक्षकस्त्राता, अथ च परस्य शत्रोस्तक्षकः छेदकश्च जायते ॥ १०४ ॥

धवलयति क्ष्मावलयं वृद्धद्वारास्य भो अमृतपुरधरे ।
गुणगणनाङ्कनिपातः क्षणोति कठिनीश्च कीर्तिमरेः ॥ १०५ ॥

धवलयतीति । भो अमृतपुरधरे, स्वर्गपुरीरूपधारिणि मङ्गलदर्शने, यद्वा अमृतस्य पूः स्थानमधरो यस्याः सा तत्सम्बोधने अमृतोष्ठि, अस्य राज्ञो गुणानां गणनाया योऽङ्क-

---

अर्थ : हे उदार चित्तवाली सुलोचने ! सुन, पृथ्वीपर जितने भी वीर हैं, वे जिसके लिए नित्य आरती उतारते हैं, यह शूर-वीर वही नाम धारण करता है । अर्थात् इसका नाम 'जयकुमार' है ॥ १०३ ॥

अन्वय : चापः इव कम्रः एषः च सद्वंशसमुत्पन्नः गुणाधिकारेण भूरिशः नम्रः आश्रितरक्षकः परतक्षकः (अस्ति) ।

अर्थ : यह राजा जयकुमार धनुषके समान उत्तम वंश में उत्पन्न, गुणोंका भंडार और विनयशील भी है । इसलिए यह आश्रितोंका तो रक्षक और विरुद्ध चलनेवालोंका नाशक है तथा मनोहर है । यहाँ चापके पक्षमें गुणका अर्थ प्रत्यंचा है ॥ १०४ ॥

अन्वय : हे अमृतपुरधरे ! वृद्धद्वारा अस्य गुणगणनाङ्कनिपातः क्ष्मावलयं धवलयति, अरेः कठिनीं कीर्तिं च क्षणोति ।

अर्थ : हे अमृतपूर्ण अधरोंवाली ! सुन, वृद्धपुरुषोंद्वारा जैसे-जैसे इसके

निपात उत्कीर्णनं बृद्धद्वारा वृद्धपुरुषाणां मुखेन कृतो भवति, स क्ष्मावलयं भूमण्डलं धवलयति, तथारेः शत्रोः कीर्तिरेव कठिनी खटिका तां क्षणोति समापयति । बहुसंख्यकस्य वस्तुनो गणनाग्रभुवि खटिकारेखाभिः क्रियते । तत्र खटिका क्षीणा भवति, पुरोभागश्च रेखाव्याप्ततया श्वेततां याति, तथात्रापि बोध्यम् ॥ १०५ ॥

भुजगोऽस्य च करवीरो द्विषदसुपवनं निपीय पीनतया ।
दिशि दिशि मुञ्चति सुयशःकञ्चुकमिति हे सुकेशि रयात् ॥ १०६ ॥

भुजग इति । हे सुकेशि, शोभनालके सुलोचने अस्य भूपतेः करवीरः खड्गः स एव भुजगः सर्पो द्विषदां रिपूणामसुपवनं प्राणवायुं निपीय, वैरिणो हत्वा इत्यर्थः । अत एव पीनतया परिपुष्टतया सुयश एव कञ्चुकं निर्मोकं रयाद्वेगाद् दिशि दिशि प्रतिदिशं मुञ्चति, विस्तारयतीत्यर्थः । कञ्चुकस्य श्वेतरूपत्वात् तत्र यशसः, खड्गे च श्यामत्वाद् भुजगारोपः । रूपकालङ्कारः ॥ १०६ ॥

करवालवारिधारा यमुनास्य ह्रादिनी यशः ख्याति ।
वृद्धोदया प्रयागं सरस्वतीमं निबध्नाति ॥ १०७ ॥

करवालेति । अस्य महानुभावस्य करवाल एव वारिधारा जलप्रवाहः, खड्गस्य श्यामरूपत्वात् चञ्चत्कान्तिमत्त्वाच्च तत्र वारिधारात्वारोपः । सैव यमुना कालिन्दी

गुण गिननेके अंक (जमीनपर खडियासे) डाले जाते हैं, तो सारा पृथ्वीमंडल निर्मल होता चला जाता है । किन्तु साथ ही इसके शत्रुओंकी कीर्ति (रूपी खडिया) कम होती चली जाती है ॥ १०५ ॥

अन्वय : सुकेशि ! अस्य करवीरः भुजगः द्विषदसुपवनं निपीय पीनतया दिशि दिशि रयात् सुयशः कञ्चुकं मुञ्चति ।

अर्थ : हे सुन्दर केशोंवाली ! इसके हाथ का खड्गरूप (तलवाररूप) साँप वैरियोंके प्राणरूपी पवनको पीकर मोटा-ताजा हो जाता और प्रत्येक दिशामें इसकी यशरूपी काँचली छोड़ता है ॥ १०६ ॥

अन्वय : अस्य करवारवारिधारा यमुना, यशःख्यातिः ह्रादिनी, वृद्धोदया च सरस्वती इमं प्रयागं निबध्नाति ।

विद्यते । कालिन्दीजलमपि श्यामलमिति प्रसिद्धम् । अस्य यशसः ख्यातिः शौक्ल्य-प्रतिद्धिर्ल्हादिनी चित्ताह्लादकरत्वात् श्वेतजला गङ्गा विद्यते । पुनरस्य वृद्धेभ्य उदयो यस्याः सा वृद्धोदया बुद्धिरेव सरस्वती विद्यते । सरस्वत्यपि वृद्ध उदय जलोत्पत्तिर्यस्याः सैवंभूताऽस्ति । इयं बुद्धिरूपा सरस्वती एनं नृपं प्रयागमेतन्नामधेयं तीर्थराजं निबध्नाति रचयति इत्याशयः । लोकेऽपि गङ्गा-यमुना-सरस्वतीनां सङ्गमः प्रयाग इति सुप्रसिद्धम् ॥ १०७ ॥

सुन्दर्यासक्तमनाः कोदण्डभृदेष विश्ववित्तयशाः ।
अयमिव महसामुष्य च शत्रुर्मुक्तादिवर्णवशात् ॥ १०८ ॥

सुन्दर्येति । एष सुन्दरः कोदण्डभृत् धनुर्धारी धनुर्विद्यानिपुण इत्यर्थः । विश्व-स्मिल्लोके वित्तं प्रसिद्धं यशः कीर्तिर्यस्य सः । मुक्तादीनां मौक्तिकप्रभृतीनां वर्णः शोभा-लङ्करणात्मिका, तद्वशात् तेन कारणेन परमसुन्दरतया कृत्वा सुन्दरीषु युवतिषु आसक्तं संलग्नं मनो यस्य सः, एष यशस्वितया शौर्येण सौन्दर्येण च योग्यतापन्नोऽस्ति । अस्य शत्रुरपि मुक्तादिवर्णवशात् मुक्तः परित्यक्त आदिवर्णो द्विजाद्विज-वर्णद्वयस्य मध्ये द्विज-भावो येन सः, तस्य भावस्तस्मात् सचिन्तत्वेन सन्ध्यादिकर्मशून्यतया शूद्ररूपत्वादिति भावः । यद्वा मुक्त आदिवर्णो येन त्यक्तब्राह्मणभावस्तद्वशात् क्षत्रियभावाद् अस्यापि क्षत्रियत्वाद् अयमिवैवास्ति । तथा मुक्त आदिर्भूतो वर्णोऽक्षरं सुन्दर्यादिषु पदेषु तद्वशा-दित्यर्थे, दर्यासक्तमनाः, भयभीततया गिरिगुहासक्तः सञ्जातः । तथा दण्डभृत्, कोषापहर-

---

अर्थ : इसके हाथकी तलवाररूप जलप्रवाह तो यमुना नदी है (कारण तलवार यमुनाकी तरह काली होती है) और इसकी यशकी प्रसिद्धि गंगा है। वृद्धोंद्वारा स्तुत की गयी वाणीरूपा सरस्वती नदी इन दोनोंको प्राप्तकर यहाँ प्रयाग बना देती है ॥ १०७ ॥

अन्वय : एषः सुन्दर्यासक्तमनाः कोदण्डभृत् च विश्ववित्तयशाः । अमुष्य शत्रुः मुक्तादिवर्णवशात् सहसा अयम् इव (अस्ति) ।

अर्थ : यह जयकुमार सुंदरियोंमें आसक्तचित्तवाला है। कोदंड (धनुष) धारण करता और विश्वप्रसिद्ध यशवाला है। किन्तु इसका वैरी भी इसके समान ही है, केवल प्रारम्भका अक्षर उसके पास नहीं होता। अर्थात् सुंदरीमेंसे 'सु' हटा देनेपर 'दर्यासक्तमनाः' (गुफाओंमें रहनेवाला) और कोदण्डसे 'को'

णाविप्रायश्चित्तभाक् । तथा शुनि वित्तं प्रसिद्धं यश इव यशो यस्य तथाभूतो जातः ॥ १०८ ॥

देशान्तरेऽस्य कीर्तिर्बहुवृद्धे मागिरौ पुनर्महिला ।
नवयौवना त्वमुचिता निःशत्रोः शूरता शिथिला ॥ १०९ ॥

देशान्तरेति । हे बाले, अस्य प्रियासु या कीर्तिः सा तु देशान्तरे गत्वा तिष्ठति, दूरदेशेष्वपि व्याप्तास्ति । अन्तरशब्दस्य व्याप्त्यर्थकत्वात् अन्यार्थकत्वाच्च । मा च गीश्च मा-गिरौ लक्ष्मी-सरस्वत्यौ बहुवृद्धे, अतिशयवृद्धिं गते जरत्यौ वा । निःशत्रोः शत्रु-शून्यस्यास्य शूरताऽपि शिथिला जाता । त्वं पुनर्नवयौवनाऽसि, ततस्त्वमेवास्य महिला प्रधाना पट्टराज्ञी भवितुमुचितेत्याशयः ॥ १०९ ॥

शोणोधरस्तु बाले सरस्वती तन्मयं मुखं चाथ ।
चित्रं जडतातिगतोऽसौ जातो वाहिनीनाथः ॥ ११० ॥

शोणेति । हे बाले, इदमपि चित्रमाश्चर्यम्, यदसौ नरेशो जडतामतिगतो मूर्खता-रहितः, वाहिनीनां सेनानां नाथः सेनानीर्वर्तते । यद्वा, जडतातो वारिरूपतातोऽतिगतो दूरवर्ती भवन्नपि वाहिनीनां नदीनां नाथो वर्तते । यतोऽस्य मुखं सरस्वती, तन्मयं वाङ्मयमेव भवति, यद्वा सरस्वतीनदीमयमस्ति । अधरश्च शोणो लोहितवर्णः, शोणनामनदरूपो वा ॥ ११० ॥

हटा देनेपर 'दण्डभृत्' (दण्ड भागनेवाला) तथा विश्वके 'वि' को हटा देनेपर 'श्वावित्तयशा' (कुत्तेके समान यशवाला) रह जाता है ॥ १०८ ॥

अन्वय : अस्य कीर्तिः देशान्तरे, मागिरौ च बहुवृद्धे । पुनः निःशत्रोः अस्य शूरता शिथिला । किन्तु त्वं नवयौवना, (अतः) अस्य महिला उचिता ।

अर्थ : इसके चार स्त्रियाँ थीं । उनमेंसे पहली कीर्ति तो देशान्तरोंमें चली गयी । लक्ष्मी और वाणी दोनों अत्यन्त वृद्ध हो चलीं । चौथी शूर-वीरता भी शत्रुओंके अभावसे शिथिल पड़ गयी । किन्तु तू नवयौवना है, इसलिए तुझे इसकी अर्धाङ्गिनी बन जाना उचित है ॥ १०९ ॥

अन्वय : बाले ! अस्याः अधरः तु शोणः । अथ च मुखं सरस्वती तन्मयम् । असौ वाहिनीनाथः, किन्तु जडतातिगतः इति चित्रम् ।

अर्थ : हे बाले ! यह चक्रवर्तीका सेनापति है जो मूर्खतासे रहित अद्भुत

वाजिनं भजति तु भजति मुञ्चति कोषं च मुञ्चति ह्यरातिः ।
त्यजति क्षमां त्यजत्यपि बद्धेर्ष्योऽस्मिन् यथा ख्यातिः ॥ १११ ॥

वाजिनमिति । अस्मिन् राज्ञि वाजिनमश्वं भजति सति प्रयाणार्थं सेवमाने सति अरातिः शत्रुर्बद्धा प्रवर्तिता ईर्ष्या येन स तादृग् जिनं भजति, अस्य भयादात्मत्राणार्थं जिन-स्मरणपरायणो जायत इत्यर्थः । अस्मिन् कोषं खड्गावरणं मुञ्चति सति शत्रुः कोषं निधानमेव मुञ्चति, परित्यज्य पलायत इत्यर्थः । किञ्चास्मिन् क्षमां क्षान्ति त्यजति सति शत्रुः क्षमां पृथ्वीमेव त्यजति म्रियत इत्यर्थः ॥ १११ ॥

तव चैष चकोरदृशो दृश्योऽवश्यं च कौमुदासिमयः ।
सोमाङ्गजो हि बालो सतां वतंसः कलानिलयः ॥ ११२ ॥

तवेति । हे बाले, एष सोमाङ्गजः सोमाख्यराज्ञः पुत्रस्तथा चन्द्राङ्गसम्भूतः, सतां सभ्यानामुडूनां च वतंसः शिरोमणिभूतः, कलानां गीतवादित्रादीनां षोडशांशानाञ्च निलयः

विद्वान् है, क्योंकि इसके मुखमें सरस्वती विद्यमान है और इसका अधर भी लाल है, एक अर्थ तो यह हुआ । दूसरे अर्थमें इसका अधर तो शोणनद है, इसका मुख सरस्वती नदीका स्रोतरूप उद्गमस्थान है और यह स्वयं समुद्ररूप है, फिर भी जलसे रहित है ॥ ११० ॥

अन्वय : बद्धेर्ष्यः अरातिः अस्मिन् वाजिनं भजति जिनं भजति । अस्मिन् कोषं च मुञ्चति (सः) अपि (कोषं) मुञ्चति । (वा) अस्मिन् क्षमां त्यजति (सः) अपि क्षमां त्यजति ।

अर्थ : यह राजा जब प्रयाणके लिए घोड़ेपर चढ़ता है, तो इसका वैरी भी भयवश आत्मरक्षार्थ जिन भगवान्को भजने लगता है । जब यह कोष (म्यान) को तलवार निकालकर फेंक देता अर्थात् तलवारको नंगी कर बताता है, तो वैरी भी अपना कोष (खजाना) त्याग देता है । इसी तरह जब यह क्षमा त्यागकर रुष्ट होता है, तो इसका वैरी भी क्षमा (पृथ्वी) छोड़ देता है । इस प्रकार जैसा यह राजा करता है, मानो स्पर्धावश इसका वैरी भी वैसा ही करता है ॥ १११ ॥

अन्वय : (हे बाले) च तव चकोरदृशः एषः अवश्यं दृश्यः । हि (अयं) कौमुदासिमयः सोमाङ्गजः सतां वतंसः कलानिलयः (अस्ति) ।

स्थानं को भुवि मुदास्मिमयः प्रसादयुक्तः कुमुदसमूहस्य विकासकारकश्च । अतश्चकोरस्य दृशाविव दृशौ यस्याः सा तस्यास्तव अवश्यं दृश्यः प्रेक्षणीयोऽस्ति ॥ ११२ ॥

एतस्याखण्डमहोमयस्य बाले जयस्य बहुविभवः ।
बलमण्डो भुजदण्डो वसुधाया मानदण्ड इव ॥ ११३ ॥

एतस्येति । हे बाले, अखण्डमहोमयस्य सकलतेजोमयस्य एतस्य जयकुमारस्य बहुविभवो महदैश्वर्यं विद्यत इति शेषः । बलमण्डो बलेन मण्डितोऽस्य भुजो दण्ड इव वसुधायाः पृथिव्या मानदण्डः परिच्छेदकदण्डतुल्योऽस्तीति शेषः ॥ ११३ ॥

सर्वत्र विग्रहे योऽनन्यसहायो व्यभात् स चेह रयात् ।
तव विग्रहेऽद्य मदनं सहायमिच्छत्यधीरतया ॥ ११४ ॥

सर्वत्रेति । यो जयकुमारः सर्वत्र विग्रहे सङ्ग्रामे अनन्यसहाय इतरसाहाय्यानपेक्षो व्यभादशोभत, स इह तव विग्रहे त्वदीयशरीरे विषयोपभोगसङ्कर्षे अधीरतया चञ्चलतया रयाद्वेगाद् मदनं कामं सहायमिच्छति । त्वय्यनुरक्तोऽयम्, अतस्त्वमेनमेव वृण्विति भावः ॥ ११४ ॥

अर्थ : हे बालिके ! तू चकोरके समान नेत्रोंवाली है, तेरेलिए यह सोम-नामक राजाका पुत्र अवश्य दर्शनीय है । कारण जैसे चन्द्रमा कुमुदोंको विकसित करनेवाला, नक्षत्रोंका शिरोमणि और कलाओंका भण्डार होता है, वैसे ही यह भी 'कौ' यानी पृथ्वीपर मुदास्मिमय (प्रसन्नतावाला) है, सोमराजाका पुत्र है, सत्पुरुषोंमें प्रधान और कला-चातुर्यका भण्डार है ॥ ११२ ॥

अन्वय : बाले एतस्य अखण्डमहोमयस्य जयस्य बहुविभवः भुजदण्डः बलमण्डः वसुधायाः मानदण्डः इव अस्ति ।

अर्थ : हे बाले ! इस अखण्ड तेजवाले जयकुमारका बहुत विभववाला और बलशाली यह भुजदण्ड वसुधाके मानदण्डके समान है ॥ ११३ ॥

अन्वय : यः सर्वत्र विग्रहे अनन्यसहायः व्यभात्, स च इह तव विग्रहे अद्य रयात् अधीरतया मदनं सहायम् इच्छति ।

अर्थ : आश्चर्यकी बात तो यह है कि जो अन्य सभी युद्धोंमें किसीकी सहायताके बिना विजय-विभूषित हुआ, वही आज तेरे विग्रह (शरीर)के विषयमें बड़ी तेजीसे अधीर हो मदनकी सहायता चाह रहा है ॥ ११४ ॥

त्रिभुवनपतिकुसुमायुधसेनायाः स्वामिनीत्वमिह चेयान् ।
भरताधिपबलनेता तस्मात्ते स्याज्जयः श्रेयान् ॥ ११५ ॥

त्रिभुवनेति । हे बाले, त्वमिह त्रिभुवनपतिर्यः कुसुमायुधः कामस्तस्य सेनायाः स्वामिन्यसि सौन्दर्याधिक्यादित्याशयः । किन्त्वयं केवलं भरतमात्रस्य अधिपतेर्नेता, इयानेव । तस्मात्ते जयो विजयः श्रेयानुत्तमो न्यायप्राप्त एव । विशिष्टबलवता अल्पबलो जीयत इति नियमात् । अथ चायं जयो जयकुमारस्तुभ्यं श्रेयान् कल्याणकर एव स्यादित्यर्थः ॥ ११५ ॥

यदि भो जयैषिणी त्वं दृक्शरविद्धं ततश्शिथिलमेनम् ।
अयि बालेऽस्मिन् काले स्रजा बधानाविलम्बेन ॥ ११६ ॥

यदीति । भो सुलोचने यदि त्वं जयैषिणी जयकुमाराभिलाषिण्यसि तर्हि दृक्शरैः कटाक्षबाणैः विद्धमाहतं ततः शिथिलमेनं, अयि बालेऽस्मिन् काले क्षिप्रमेव स्रजा स्वयंवरमालया बधान, अस्य ग्रीवायां मालामुन्मुच्य एनं स्वामित्वेन वृण्वित्याशयः ॥ ११६ ॥

मालां जयस्य निगले वदति क्षेप्तुं किल स्मरः स्मर माम् ।
निषिषेधापत्रपता द्वयोश्च साऽऽज्ञामुवाह समाम् ॥ ११७ ॥

अन्वय : (हे बाले) त्वं त्रिभुवनपतिकुसुमायुधसेनायाः स्वामिनी, अथ च (अयम्) इयान् भरताधिपबलनेता । तस्मात् ते जयः श्रेयान् स्यात् ।

अर्थ : बाले ! तुम तो तीनों भुवनके स्वामी कामदेवकी सेनाकी नायिका हो और यह मात्र भारतदेशके चक्रवर्तीका सेनापति है । इसलिए तेरी जय उचित ही है, अथवा तुम्हारे लिए जयकुमार उचित ही है ॥ ११५ ॥

अन्वय : अयि भो बाले ! यदि त्वं जयैषिणी ततः अस्मिन् काले शिथिलम् एनं दृक्शरविद्धं अविलम्बेन स्रजा बधान ।

अर्थ : अरी बाले ! यदि तू विजय चाहती है, तो इस समय तेरे कटाक्षबाणोंसे घायल होनेके कारण यह शिथिल हो रहा है । अतः इसे मालाके बंधनसे बाँध ले ॥ ११६ ॥

अन्वय : स्मरः किल जयस्य निगले मालां क्षेप्तुं वदति । च अपत्रपता मां स्मर इति निषिषेध । सा द्वयोः आज्ञां समाम् उवाह ।

मालामिति । स्मरः कामो जयस्य निगले ग्रीवायां मालां क्षेप्तुं वदति, किन्त्वपत्रपता लज्जा मां स्मरेति प्रेरयन्ती निषिषेध न्यवारयत् । सा सुलोचना द्वयोः काम-लज्जयोराज्ञां नियोगं समां तुल्यामुवाह ॥ ११७ ॥

हृद्गतमस्या दयितं न तु प्रयातुं शशाक सहसाऽक्षि ।
सम्यक्कृतस्तदानीं तयाऽक्ष्णिलज्जेति जनसाक्षी ॥ ११८ ॥

हृद्गतमिति । अस्या अक्षि नेत्रं हृद्गतं हृदयस्थं दयितं प्रियं जयकुमारं प्रति सहसा शीघ्रं प्रयातुं गतुं न शशाक समर्थमभूत् । तदानीं तया सुलोचनया, ममाक्षिण लज्जा वर्तते, इतिविषये सम्यक् जन एव साक्षी ज्ञाताऽस्ति, इति सम्यक् कृत इति भावः ॥ ११८ ॥

भूयो विरराम करः प्रियोन्मुखः सन् स्रगन्वितस्तस्याः ।
प्रत्याययौ दृगन्तोऽप्यर्धपथाच्चपलताऽऽलस्यात् ॥ ११९ ॥

भूय इति । प्रियस्योन्मुखः प्रियसंमुखस्तथा स्रगन्वितो मालायुक्तस्तस्याः करः पाणिः भूयो विरराम व्यरमत् दृशोऽन्तो दृगन्तो नेत्रप्रान्तभागः कटाक्ष इत्यर्थः । अपि चपलता

अर्थ : कामदेव जयकुमारके गलेमें माला डालनेके लिए आज्ञा दे रहा है। पर लज्जाने यह कहकर कि मुझे स्मरण कर, उसका निषेध किया। लेकिन उस सुलोचनाने तो उन दोनोंकी आज्ञाओंका एक साथ पालन किया। अर्थात् माला पहनाना चाहकर भी लज्जावश कुछ देरतक न पहना सकी ॥ ११७ ॥

अन्वय : अस्याः अक्षि हृद्गतं दयितं प्रयातुं सहसा न शशाक । अतः तदानी तया अक्ष्णिलज्जा इति जनसाक्षी सम्यक् कृतः ।

अर्थ : सुलोचनाका प्रिय जयकुमार सुलोचनाके हृदयमें था, इसलिए उसकी दृष्टि सहसा वहाँ न जा सकी। इस तरह उसने यह कहावत कि 'आँखोंमें लज्जा है' के बारेमें भले लोग ही साक्षी बनाये ॥ ११८ ॥

अन्वय : तस्याः स्रगन्वितः करः प्रियोन्मुखः सन् भूयः विरराम । दृगन्तः अपि सफलतालस्यात् अर्धपथात् प्रत्याययौ ।

अर्थ : (इसीको स्पष्ट करते हैं :) सुलोचना जयकुमारके गलेमें वरमाला डालना चाहती थी। किन्तु उसका वरमालावाला हाथ जयकुमारके सम्मुख

चा आलस्यञ्च तयोः समाहारस्तस्मात् अर्धपथादर्धमार्गात् प्रत्याययौ प्रतिनिवृत्तः । लज्जयेति शेषः ११९ ॥

अभ्यर्च्यो भवति पुमान् इत्येव विशेषदर्शिनीमनुमाम् ।
स्वीकृतवती सुनयना कथमपि च पुनश्चिराध्ययनात् ॥ १२० ॥

अभ्यर्च्यं इति । लज्जानुरागरूप-शृङ्गारानुभावयोर्मध्ये स्त्री-पुरुषरूपयोर्विषये सा सुनयना चिराध्ययनात् चिराभ्यासात्, यतः सीतारामौ, राधाकृष्णावित्यादिषु स्त्रिया एवाभ्यर्हितत्वात् पुनः विशेषदर्शिनीमनुमां तरतमभावेन सौन्दर्यसाक्षिणीं शोभाम् । यद्वा विशेषदर्शने सांख्यवैशेषिकसिद्धान्ते प्रोक्तामनुमां पुरुषप्रकृत्योर्मध्ये पुरुषो नित्यः सदानन्दः, प्रकृतिस्तु तद्विपरीता इत्याविना कृत्वा पुमानेवाभ्यर्च्यः कामो न तु लज्जेति शक्तिं कथमपि कृत्वा प्रयत्नेनैव, न तु सहजत एव सा स्वीकृतवती । चिरकालानन्तरं लज्जामेकतः कृत्वा जयकुमारस्य मुखमीक्षितुमारेभे ॥ १२० ॥

मोदकमिति तु जयमुखं सख्यास्यं सूपकल्पितं तादृक् ।
रसितवती सामि पुनः क्षुधितेव सुलोचनाया दृक् ॥ १२१ ॥

होकर भी बार-बार बीचमें ही रुक जाता था। इसी तरह उसकी पलकें भी चपलता तथा आलस्यवश बीच रास्तेसे वापस लौट आती थीं ॥ ११९ ॥

अन्वय : पुनः सुनयना कथम् अपि चिराऽध्ययनात् पुमान् अभ्यर्च्यः भवति इति एव विशेषदर्शिनीम् अनुमां स्वीकृतवती ।

अर्थ : अंतमें वह सुनयना सुलोचना किसी तरह चिरकालतक दर्शनशास्त्रके मननसे इस विशेष निश्चयपर पहुँची कि इस जगह पुरुषका पक्ष ही बलवान् होता है। यह विशेष निश्चय इसलिए कि यों तो सीताराम, राधाकृष्ण आदि नामोंमें नारी-प्रकृतिकी ही श्रेष्ठता दीखती है। अर्थात् लज्जाकी हार हुई और कामदेवकी विजय और वह लाज हटाकर जयकुमारका मुख निहारने लगी ॥ १२० ॥

अन्वय : पुनः क्षुधिता इव सुलोचनाया दृक् जयमुखं तु (यादृक्) मोदकम् इति, सख्यास्यं तादृक् सूपकल्पितम् इति सामि रसितवती ।

मोदकमिति । पुनर्जयकुमारमुखावलोकनकृतसङ्कल्पा सा सुलोचनाया दृग् दृष्टिर्यत् किल जयकुमारस्य मुखं तन्मोदकं प्रसक्तिकरम्, यद्वा मोदकं लड्डुकं चूरमूरमिति वा, सख्या वाग्देव्या आस्यं मुखं तच्च सुष्ठूपकल्पितं सूपकल्पितम्, यद्वा सूपाख्यव्यञ्जनतया कल्पितं, दालीति नाम, तदपि तादृगेव रसितवती यथा जयमुखं, द्वयमपि जयमुखं सखीमुखं च सामि, अर्धमर्धं दृष्टवतीत्यर्थः । क्षुधितेव बुभुक्षितेव, यथा बुभुक्षिता स्वाद्वपि चूरमूरं दालीयुतमेव भुङ्क्ते तथा ॥ १२१ ॥

इत्यत्र कुमुदवत्याः करः कुसुममाल्यसम्पदा स्फीतः ।
ननु सन्ध्ययेव सख्या जयस्य मुखचन्द्रमनुनीतः ॥ १२२ ॥

इत्यत्रेति । इत्यत्र अस्मिन्नवसरे कौ भुवि मुद्वत्या हर्षयुक्तायास्तस्याः सुलोचनायाः करः, यद्वा कैरविण्याः करः शाखारूपः, कुसुमानां माल्यं तस्य संपदा शोभया स्फीतः प्रशस्यः सायन्तनया सन्ध्ययेव तया सख्या वाण्या कृत्वा जयस्य नाम कुमारस्य मुखमेव चन्द्र आह्लादकत्वात्, तमनु समीपं नीतः प्रापितो ननु ॥ १२२ ॥

तस्योरसि कम्प्रकरा मालां बाला लिलेख नतवदना ।
आत्माङ्गीकरणाक्षरमालामिव निश्चलामधुना ॥ १२३ ॥

अर्थ : अब सुलोचनाने जयकुमारका मुख, जो प्रसन्नता देनेवाला लड्डूके समान था, और देवीका मुख सूपकल्पित यानी दालके समान सुन्दर था, दोनोंको साथ साथ आधा-आधा चखा, देखा । जैसे भूखा व्यक्ति दालके साथ चूरमा मिलाकर खाता है, वैसे ही उसने दोनोंको एक साथ देखा ॥ १२१ ॥

अन्वय : इति अत्र कुमुदवत्याः कुसुममाल्यसम्पदा स्फीतः करः सन्ध्यया इव सख्या जयस्य मुखचन्द्रम् अनुनीतः ननु ।

अर्थ : इस अवसरपर कुमुदवती यानी प्रसन्नचित्त उस सुलोचनाके वरमालायुक्त प्रशस्त हाथको संध्याकी तरह उस सखीने जयकुमारके मुखरूपी चन्द्रमाके पास प्राप्त करा दिया ॥ १२२ ॥

अन्वय : अधुना नतवदना कम्प्रकरा बाला आत्माङ्गीकरणाक्षरमालाम् इव निश्चलां मालां तस्य उरसि लिलेख ।

तस्योरसीति । बाला सुलोचनाऽधुना नतवदना नम्रमुखी लज्जयेत्यर्थः । कीदृशी, कम्प्रो वेपमानः करो यस्याः सा कम्पितहस्ता, आत्मनोऽङ्गीकरणस्याक्षराणां मालामिव शोभमानां तां वरणस्रजं निश्चलां स्थिरां तस्य जयकुमारस्योरसि वक्षसि लिलेख चिक्षेपेत्यर्थः । यथा काचिद् बालाऽऽरम्भे वर्णमालां कम्पमानकरेण समुल्लिखति तथैव ॥ १२३ ॥

सम्पुलकिताङ्गयष्टेरुदग्रीवाणीव रेजिरे तानि ।
रोमाणि बालभावाद्वरश्रियं द्रष्टुमुत्कानि ॥ १२४ ॥

सम्पुलकितेति । सम्पुलकिता रोमाञ्चिता अङ्गयष्टिर्गात्रलता यस्याः सा, तानि रोमाणि बालभावात् केशरूपत्वात् शैशवाद्वा, वरस्य श्रीः शोभा तां द्रष्टुमुत्कानि सोत्कण्ठानीव उदग्रीवाणि रेजिरे । यथा वरशोभामवलोकितुं बाला उदग्रीवा भवन्ति तथेति भावः ॥ १२४ ॥

वरमाल्यस्पृशि हस्ते जयस्य सिप्रं चकार स हृदयभूः ।
सूत्रमिव भाविकन्यादानजलस्याऽऽविरेतदभूत् ॥ १२५ ॥

वरमालेति । स हृदयभूः कामो जयस्य वरमाल्यं स्पृशतीति वरमाल्यस्पृक् तस्मिन् हस्ते माल्यमार्दवानुभवार्थं व्यापारिते करे सिप्रं प्रस्वेदं चकार । तदेतत् प्रस्वेदजलं सात्त्विकभावोत्थं किल भाविनः कन्यादानजलस्य सूत्रं सूचकमिवाऽऽविरभूत् ॥ १२५ ॥

अर्थ : अब नतवदना बाला सुलोचनाने अपना स्वीकार करनेकी अक्षरमालाके समान वह निश्चल वरमाला काँपते हाथोंसे जयकुमारके गलेमें पहना दी ॥ १२३ ॥

अन्वय : सम्पुलकिताङ्गयष्टेः तानि रोमाणि बालभावात् वरश्रियं द्रष्टुम् उत्कानि उदग्रीवाणि इव रेजिरे ।

अर्थ : तत्काल पुलकित-सर्वाङ्गा उस सुलोचनाके बालभाव धारण करनेवाले रोम-रोम वरकी शोभा देखनेके लिए ही मानो गर्दन ऊपर कर खड़े हो गये । अर्थात् सुलोचनाके शरीरभर रोमांच हो उठे ॥ १२४ ॥

अन्वय : सः हृदयभूः वरमाल्यस्पृशि जयस्य हस्ते सिप्रं चकार । एतत् भाविकन्यादानजलस्य सूत्रम् इव आविरभूत् ।

हृदये जयस्य विमले प्रतिष्ठिता चानुबिम्बिता माला ।
मग्नामग्नतयाऽभात् स्मरशरसन्ततिरिव विशाला ॥ १२६ ॥

हृदय इति । जयस्य विमले गुणनिर्मले हृदये वक्षःस्थले प्रतिष्ठिता स्थापिता पुनरनुबिम्बिता प्रतिफलिता सा वरमाला मग्नामग्नतया किञ्चिदन्तःप्रविष्टा किञ्चिदुच्छूना चेत्येवंरूपा शोभमाना स्मरशराणां मदनप्रयुक्तबाणानां सन्ततिः समूह इव विशाला विस्तीर्णाऽभात् । वरमालापरिधानेन स सकामः समजनीति ध्वन्यते ॥ १२६ ॥

अभिनन्दिनि तदवसरे गगनं स्वगनन्दिगन्धनेऽनुसजत् ।
दुन्दुभिनिनाददम्भाज्जहास हासस्वरं त्वरजः ॥ १२७ ॥

अभिनन्दीति । अभिनन्दिनि आनन्दकारिणि तस्मिन्नवसरे गगनं नभोऽपि स्वगमात्मगतं यन्नन्दः प्रसन्नताया गन्धनं प्रसङ्गस्तस्मिन्ननुसजत् संलग्नमभवत् । पुनः अरजो रजोवर्जितं निर्मलं भवद् दुन्दुभेः पटहस्य निनादस्तारगम्भीररवस्तस्य दम्भाद् व्याजात् सत्वरं जहास, अहसदित्युत्प्रेक्ष्यते । कथं हासस्वरं, हासस्य स्वरो यस्मिन् यथा स्यात्तथा जहासेत्यर्थः ॥ १२७ ॥

अर्थ : उस वरमालाका जब जयकुमारको स्पर्श हुआ, तो कामदेवने उसके हाथमें पसीना (स्वेदरूप सात्त्विकभाव) ला दिया । वह प्रस्वेद-जल निकट भविष्यमें होनेवाले कन्यादानके जलका सूचक-सा था ॥ १२५ ॥

अन्वय : जयस्य विमले हृदये प्रतिष्ठिता अनुबिम्बिता च माला मग्नामग्नतया विशाला स्मरशरसन्ततिः इव अभात् ।

अर्थ : जयकुमारके निर्मल वक्षःस्थलपर प्रतिष्ठित और प्रतिबिम्बित वह माला ऐसी प्रतीत हुई, मानो कुछ भीतर धँसे और कुछ बाहर उभरे कामदेवके बाणोंकी विशाल परम्परा ही हो ॥ १२६ ॥

अन्वय : अभिनन्दिनि तदवसरे अरजः गगनं स्वगनन्दिगन्धने अनुसजत् दुन्दुभिनिनाददम्भात् तु हासस्वरं सत्वरं जहास ।

अर्थ : उस आनन्दके अवसरपर निर्मल आकाश भी अपना आनन्द प्रकट करनेमें तत्पर हो दुंदुभि-निनादके व्याजसे हँस पड़ा ॥ १२७ ॥

जय इह सुलोचनाया एतदुदन्तं दिगङ्गना नेतुम् ।
दुन्दुभिनादः सहसा समजायत समुदितो हेतुः ॥ १२८ ॥

जय इहेति । दुन्दुभिनादमेव प्रकारान्तरेण वर्णयति—अस्मिल्लोके जयः सुलोचनाया आसीत्, सुलोचनाया विजयोऽभूत् । यद्वा, जयकुमारः प्राणनाथोऽभूदित्येव उदन्तो वृत्तान्तस्तं दिश एवाङ्गना दिगङ्गनास्ताः प्रति नेतुं प्रापयितुं सहसाऽनायासेन समुदितो हेतुः समजायत दुन्दुभिनादः । लोके यथा विवाहादौ मङ्गलगीतार्थं ललनाः सूच्यन्ते तद्वदेव सर्वतो दुन्दुभिनादोऽभूत् ॥ १२८ ॥

मुखश्रियः संजग्मुर्निखिलानामवनिपालबालानाम् ।
अनुकर्तुमिव च पद्मां जयमुखपद्मं प्रति निदानात् ॥ १२९ ॥

मुखश्रिय इति । निखिलानामवनिपालबालानां तत्रागतानां राजकुमाराणामर्ककीर्ति-प्रभृतीनां मुखश्रियः आननकान्तयो निदानान्नियमेन जयस्य मुखपद्मं प्रति संजग्मुरगमन् । पद्मां लक्ष्मीरूपां सुलोचनामनुकर्तुमिव तदनुकरणशीला भवत्यस्ताः मुखश्रियोऽपि प्रफुल्ल-पद्मतुल्यं जयकुमाराननकमलमेवा आश्रयन् । यतः पद्ममेव लक्ष्मीनिवासस्थानम् । एवञ्च अन्येषां भूपकुमाराणां मुखानि निष्प्रभाणि जातानि, इत्याशयः ॥ १२९ ॥

अन्वय : इह जयः सुलोचनायाः (समभवत्), एतद् उदन्तं दिगङ्गनाः नेतुं सहसा समुदितः हेतुः दुन्दुभिनादः समजायत ।

अर्थ : यहाँ सुलोचनाकी जय हो गयी, यह वृत्तान्त दसों दिशारूपी अंग-नाओंके पास पहुँचाने (सारे विश्वमें फैलाने) के लिए यह दुंदुभिनाद समुचित हेतु बन गया, अर्थात् विश्वभर डुग्गो पीट गयी ॥ १२८ ॥

अन्वय : च निखिलानां अवनिपालबालानां मुखश्रियः पद्माम् अनुकर्तुम् इव निदानात् जयमुखपद्मं प्रति संजग्मुः ।

अर्थ : और उसी समय जितने भी राजकुमारोंके मुखोंकी शोभाएँ थीं, मानो लक्ष्मीस्वरूपा उस सुलोचनाका अनुसरण करती हुई जयकुमारके मुँहपर आ गयीं। अर्थात् दूसरे सभीके मुख फीके पड़ गये और जयकुमारका मुख अधिक प्रसन्न हो उठा ॥ १२९ ॥

प्रान्तपातिमधुलिण्मधुदानां स्वःश्रियः खलु मुदश्रुनिभानाम् ।
वीक्ष्य मेलमनयोरिह शातमभ्रतस्ततिरहो निपपात ॥ १३० ॥

प्रान्तेति । अनयोः जयकुमार-सुलोचनयोः मेलं परस्परप्रेमभावं शातं प्रशस्तरूपं वीक्ष्य सम्मान्येह भूमौ प्रान्ते पतन्तीति प्रान्तपातिनस्ते मधुलिहो भ्रमरा येषां तानि मधुदानि कुसुमानि तेषां ततिर्धारा अभ्रत आकाशतो निपपात । कीदृशानां तेषाम् ? स्वःश्रियः स्वर्गलक्ष्म्या मुदश्रवः प्रसादोत्पन्ननयनजलबिन्दवस्तन्निभानाम् । मुदश्रवोऽपि सकज्जला भवन्ति ॥ १३० ॥

अभ्याप सुस्नेहदशाविशिष्टं सुलोचना सोमकुलप्रदीपम् ।
मुखेषु सत्तां सुतरां समाप सदञ्जनं चापरपार्थिवानाम् ॥ १३१ ॥

अभ्यापेति । सुलोचना नाम बाला सुस्नेहदशा प्रशस्तप्रेमावस्था । यद्वा, शोभनः स्नेहस्तैलं यत्र सा सुस्नेहा चासौ दशा वर्तिका तया विशिष्टं सोमकुलस्य प्रदीपं दीपकरूपं जयकुमारमभ्याप प्राप, तदैव अपरपार्थिवानामितरराजानां मुखेषु सदञ्जनं गाढमालिन्यं सुतरामतिशयेन सत्तां स्थितिं समाप प्रापत् । यथा स्नेहवर्तिकया निःसृतेन कज्जलेन शरावादयो मलिना भवन्ति, तथैव अपरनृपाणां मुखानि मलिनान्यभवन्नित्याशयः ॥ १३१ ॥

अन्वय : अहो ! इह अनयोः शातं मेलं वीक्ष्य स्वःश्रियः मुदश्रुनिभानां प्रान्तपातिमधुलिण्मधुदानां ततिः अभ्रतः निपपात खलु ।

अर्थ : आश्चर्य है कि सुलोचना और जयकुमारका परस्पर होनेवाला अत्युत्तम मेल देखकर वहाँ आकाशसे ऐसे फूलोंकी वर्षा हुई, जिनके प्रान्त भागोंमें भौंरे मँडरा रहे थे। ये बरसनेवाले फूल ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो स्वर्गश्रीकी प्रसन्नताके आँसू (हर्षाश्रु) ही बरस रहे हों ॥ १३० ॥

अन्वय : सुलोचना सुस्नेहदशाविशिष्टं सोमकुलप्रदीपम् अभ्याप, तदा अपरपार्थिवानां मुखेषु सदञ्जनं च सुतरां सत्तां समाप ।

अर्थ : जब कि सुलोचनाने उत्तम स्नेहकी दशासे विशिष्ट, सोमकुलके दीपक जयकुमारको प्राप्त कर लिया, तो उसी समय दूसरे राजाओंके मुखों-पर सहजमें ही गाढ़ अंजनने अपनी सत्ता जमा ली, अर्थात् उनके मुँह काले पड़ गये ।

नृव्रातोऽभिनवां मुदं समचरद् धारां तु बन्द्यावलिः,
पञ्चाश्चर्यपरम्परा समभवत् स्वर्लोकतः सद्रुचः ।
पद्मावाप्तिसमाप्तमुच्च मणिभिः सम्पत्तिमर्थिष्वयं,
यच्छन् सन्नृप आप वस्त्रपगृहं रिष्टोरुचर्चो जयः ॥ १३२ ॥

नृव्रात इति । तस्मिन् समये नृव्रातः समस्तजनसमूहोऽभिनवां मुदं नवां प्रीतिं समचरत् लब्धवान् । बन्दिजनानां स्तुतिपाठकानामावलिः पङ्क्तिर्धारां प्रवाहरूपां विरुदावलिं समचरत् उच्चरितवती । जयकुमारस्य सती रुक् कान्तिर्यस्य तत्सद्रुक् तस्मात् सद्रुचः स्वर्लोकतः स्वर्गात् पञ्चाश्चर्याणां पुष्पवृष्ट्यादीनां परम्परा समभवद् भवति स्म । रिष्टेन भाग्येन उर्वी महती चर्चा पूजा यस्य स रिष्टोरुचर्चः, पद्माया अकम्पनसुताया अवाप्तिरुपलब्धिस्तया समाप्ता मुत् प्रसन्नता येन स जयनामाऽसौ नृपोऽर्थिषु याचकेषु मणिभिः कृत्वा सम्पत्तिं यच्छन् रत्नादिनानावस्तूनां दानं कुर्वन् सन् वस्त्रपगृहं पटविरचितं स्वनिवेशस्थानं प्रविवेश । एतद्वृत्तं षडरचक्रात्मकं लिखित्वा प्रत्यराग्राक्षरैः नृपपरिचय इति सर्गसूची भवति ॥ १३२ ॥

विशेष : यहाँ जयकुमारको सोमकुलका दीपक बतलाया है, दीपकमें तेल और बत्ती हुआ करती है। यहाँ भी 'स्नेह' तेलका नाम है और 'दशा' बत्तीका नाम है। उससे शरावमें काजल लगता ही है ॥ १३१ ॥

अन्वय : (तदा) नृव्रातः अभिनवां मुदं समचरत् । बन्द्यावलिः तु धारां समचरत् । सद्रुचः स्वर्लोकतः पञ्चाश्चर्यपरम्परा समभवत् । च अयं रिष्टोरुचर्चः पद्मावाप्तिसमाप्तमुत् जयः नृपः अर्थिषु मणिभिः संपत्तिं यच्छन् सन् वस्त्रपगृहम् आप ।

अर्थ : उस समय सभी लोगोंमें अत्यन्त प्रसन्नता व्याप्त हो गयी। बंदीजनोंने बिरद बखानने शुरू कर दिये। उत्तम कांतिवाले स्वर्गलोकसे पञ्चाश्चर्योंकी वृष्टि हुई। यह भाग्यशाली जयकुमार भी सुलोचनाकी प्राप्तिसे प्रसन्न हो अर्थिजनोंको रत्नादि संपत्ति देता हुआ अपने तम्बूमें चला गया।

विशेष : इसे छह आरोंवाले चक्रमें लिखनेपर उनके आगेवाले अक्षरोंसे 'नृप-परिचय' ऐसा सर्गका नाम-निर्देश निकल आता है ॥ १३२ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धोचयम् ।
श्रव्येऽस्मिन्नरराजराजिभिरसौ शस्ते प्रणीतेऽमुना,
सर्गः श्रीजयभूमिपालचरितेऽगात् षष्ठ एषोऽधुना ॥ ६ ॥

॥ इति जयोदय-महाकाव्ये स्वयंवरवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥

सप्तमः सर्गः

अथ दुर्मर्षणः स्वस्य नाम कामं समर्थयन् ।
दौरात्म्यमात्मसात् कुर्वन्नाह द्रोहकरं वचः ॥ १ ॥

अथेति । अथ सुलोचनास्वयंवरानन्तरं दुर्मर्षणो नाम कश्चित्पुरुषः स्वस्य नाम काममत्यन्तं समर्थयन् सार्थकं कुर्वन्, दुरात्मनो भावो दौरात्म्यं दुष्टात्मत्वमात्माधीनमिति आत्मसात्कुर्वन् स्वीकुर्वन्नित्यर्थः, द्रोहकरं वच आह ॥ १ ॥

पद्मया जयकण्ठेऽसौ मालाऽमलगुणालया ।
मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेऽपि क्रियापदे ॥ २ ॥

पद्मयेति । पद्मा लक्ष्मी तया श्रीरूपया सुलोचनया जयस्य जयकुमारस्य कण्ठेऽसौ अमलगुणानामालया, सौन्दर्य-सुगन्धित्वादिगुणाश्रया प्रत्यक्षेऽपि न्यधायीति क्रियापदे बुधा विद्वांसो मुधा व्यर्थमेव भ्रमन्ति । अयं भावः—तया जयगले माला प्रक्षिप्ता इति तु सर्वलोकप्रत्यक्षम् । किन्तु सा माला तया स्वेच्छया तस्य गले न क्षिप्ता, अपि तु कस्यचित् प्रेरणया क्षिप्तेति भ्रमहेतुः । अथ चात्र सहसा क्रियापदानुसन्धानं न जायते, इति द्वितीयभ्रमहेतुः । एषा क्रियागुप्तिः कवेः रचनापाटवमभिव्यनक्ति ॥ २ ॥

अन्वय : अथ दुर्मर्षणः स्वस्य नाम कामं समर्थयन् दौरात्म्यम् आत्मसात् कुर्वन् द्रोहकरं वचः आह ।

अर्थ : अब दुर्मर्षण नामका कोई व्यक्ति अपना नाम सार्थक कर, दुष्टता अपनाता हुआ निम्नलिखित द्रोहकारक वचन बोला ॥ १ ॥

अन्वय : पद्मया अमलगुणालया असौ माला (न्यधायि) प्रत्यक्षे अपि अत्र क्रियापदे बुधाः मुधा भ्रमन्ति ।

अर्थ : सुलोचनाने माला डालनेके योग्य जयकुमारके कण्ठमें निर्मल गुणों-वाली माला डाली, जिसपर विद्वान् लोग व्यर्थ ही भ्रममें पड़ गये हैं । क्रियापद प्रत्यक्ष होनेपर भी सरलतासे समझमें नहीं आता, यह इस श्लोकमें चमत्कार ज्ञातव्य है ॥ २ ॥

इदंकरमिदं वेद्मि नैव किन्तु स्वयंवरम् ।
मालां किलाक्षिपद् बाला परानुज्ञानतत्परा ॥ ३ ॥

इदमिति । अहं दुर्मर्षण इदमिदंकरम् इदं कुर्विति पराज्ञापालनमात्रमिदं जानामि, स्वयंवरं न जानामि । तदेव समर्थयति—किलेयं बाला, परानुज्ञाने तत्परा सती जयकण्ठे मालामक्षिपत्, न तु स्वेच्छयेति ॥ ३ ॥

अहो मायाविनां मा या मायातु सुखतः स्फुटम् ।
निजाहङ्कारतो व्याजोऽकम्पनेनायमूर्जितः ॥ ४ ॥

अहो **इति** । अयं व्याजश्छद्मभावः अकम्पनेन काशीश्वरेण निजाहङ्कारतः स्वगर्वकारणाद् ऊर्जितोऽनुप्राणितः । अहो विस्मये, मायाविनां धूर्तानां माया छलः सुखतः स्फुटं मा यातु, सरलतया न ज्ञायत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अङ्गजामीरयन्नेतन्नाम्ना प्रागेव धूर्तराट् ।
अद्यावमानं कृतवान् युगान्तस्थायिनं तु नः ॥ ५ ॥

अङ्गजामिति । धूर्तानां राजा धूर्तराट् छलछद्मप्रकारप्रधानः प्रागेव पूर्वमेव;

अन्वय : (अहम्) इदम् इदंकरं वेद्मि, किन्तु स्वयंवरं न एव । (यतः) बाला परानुज्ञानतत्परा मालाम् अक्षिपत् किल ।

अर्थ : (वह बोला :) मैं तो इसे 'इदंकर' अर्थात् 'ऐसा-ऐसा करो' यही समझता हूँ, किन्तु इसे स्वयंवर समझता ही नहीं । क्योंकि कन्याने दूसरेके कहनेमें आकर इसके गलेमें माला पहना दी है ॥ ३ ॥

अन्वय : अकम्पनेन निजाहङ्कारतः अयं व्याजः ऊर्जितः । अहो मायाविनां माया सुखतः स्फुटं मा यातु ।

अर्थ : अकम्पनने अपने अहंकारमें आकर यह छल किया है । बड़े आश्चर्यकी बात है कि मायावियोंकी माया सरलतासे साधारण लोगोंकी समझमें नहीं आती ॥ ४ ॥

अन्वय : धूर्तराट् प्राग् एव एतन्नाम्ना अङ्गजाम् ईरयन् । अद्य तु नः युगान्तस्थायिनम् अवमानं कृतवान् ।

एतन्नाम्ना जयाभिधानेन अङ्कमामीरयन् प्रेरयन्, अद्य नोऽस्माकं युगान्तस्थायिनमनन्तकालव्यापिनम् अवमानं तिरस्कारं कृतवान् ॥ ५ ॥

कुतोऽन्यथाऽमुकस्यैवासाधारणतया गुणाः ।
भूरिभूपालवर्गेऽपि वर्णिता हि विदाननात् ॥ ६ ॥

कुत इति । अन्यथा भूरिभूपालवर्गे विपुलनृपसमूहे विद्यमाने सत्यपि विदाननात् सरस्वतीमुखाद् अमुकस्यैव जयकुमारस्यैव गुणाः शौर्यादयोऽसाधारणतया कुतः वर्णिताः ॥ ६ ॥

इत्येवं घोषयन्नुच्चैराह्वयन्नात्मदुर्विधिम् ।
वचः फल्गु जजल्पेति प्राप्य चक्रितुजोऽग्रतः ॥ ७ ॥

इत्येवमिति । इत्येवंप्रकारेण उच्चैस्तारस्वरेण घोषयन् आत्मदुर्विधिं स्वदुर्भाग्यमाह्वयन्, चक्रितुजोऽग्रतः प्राप्य, इत्युक्तरूपेण फल्गु तुच्छं वचो जजल्प ॥ ७ ॥

चक्रवर्तिसुतत्वेन मणिकाद्यभिमानतः ।
त्वयाऽद्य व्यवहर्तव्या कीर्तिरेव परं विभो ॥ ८ ॥

अर्थ : धूर्तराज अकम्पनने पहलेसे ही अपनी बेटी सुलोचनाको जयकुमारके नामसे (वरमाला डालनेके लिए) प्रेरित कर रखा था । आज तो इसने स्वयंवरके ढोंगसे हम लोगोंका युगान्तर-स्थायी अपमान ही किया है ॥ ५ ॥

अन्वय : हि अन्यथा भूरिभूपालवर्गे अपि विदाननात् अमुकस्य एव असाधारणतया गुणाः कुतः वर्णिताः ।

अर्थ : निश्चय ही यदि ऐसा न होता तो बड़े-बड़े राजा लोगोंके यहाँ रहते हुए भी विद्यादेवीके मुखसे जयकुमारकी इतनी लम्बी-चौड़ी प्रशंसा क्यों करायी जाती ? ॥ ६ ॥

अन्वय : इति एवं उच्चैः घोषयन् आत्मदुर्विधिम् आह्वयन् चक्रितुजः अग्रतः प्राप्य इति फल्गु वचः जजल्प ।

अर्थ : इस प्रकार जोरसे चिल्लाते हुए दुर्मर्षणने अपना नाम सार्थक करते करते हुए चक्रवर्तीके पुत्रके सामने जाकर वक्ष्यमाण क्रमसे उल्टा-सीधा कहना शुरू कर दिया ॥ ७ ॥

अन्वय : विभो ! त्वया चक्रवर्तिसुतत्वेन मणिकाद्यभिमानतः परम् अद्य कीर्तिः एव व्यवहर्तव्या ।

चक्रवर्तीति । हे प्रभो, त्वया चक्रवर्तिसुतत्वेन श्रीभरतसम्राडात्मजत्वेन, मणि-काराद्यभिमानतः, रत्नपरीक्षकत्वादिगर्वतः, भो मम सद्मनि नवनिधयश्चतुर्दशरत्नानि सन्तीति कृत्वा अभिमानतस्त्वया परं केवलमद्य कीर्तिरेव व्यवहर्तव्येति । यद्वा, चक्रवर्तिनः कुम्भकारस्य आत्मजत्वेन त्वया मणिकाद्यभिमानेन मणिकादिपात्रनिष्पादनार्थं कीर्तिम् त्तिका व्यवहर्तव्येति परिहासः ॥ ८ ॥

वृद्धिस्थाने गुणादेशात् सहस्रांशुककीर्तनम् ।
सम्यगुत्कलितं राजन्नत्र कान्ततया त्वया ॥ ९ ॥

वृद्धीति । हे राजन्, त्वया भवता राजन्निह निजनाम्नि वृद्धिस्थाने रास्थाने, गुणादेशाद् रकारविधानाद्, कान्ततया अन्ते ककारसंयोजनाद्, सहस्रांशुककीर्तनम्, असंख्यवस्त्रप्रक्षालनरूपं रजकत्वं सम्युगुत्कलितं प्रकटीकृतमित्यर्थः । यद्वा, यद्यपि भवान् सुन्दरः सूर्यवत् तेजस्वी; तथाप्यद्य स्वमहिमापेक्षया अवमानमुपगतः ॥ ९ ॥

त्वामर्ककीर्तिमुत्सृज्य सोमात्मजमुपाश्रिता ।
पद्माभिधा विधाऽसौ तु मुधाऽहो प्रकृतेर्बुध ॥ १० ॥

अर्थ : हे विभो ! आप चक्रवर्तीके पुत्र हैं और 'हमारे यहाँ नौ निधियाँ और चौदह रत्न हैं' इस प्रकार अभिमान रखते हैं आपकी कीर्ति भी ऐसी ही है । किन्तु इस कीर्तिमात्रको आप भले ही लादे रहें, इसमें क्या सार रखा है ? एक अर्थ तो यह हुआ ।

दूसरा अर्थ : आप चक्रवर्ती अर्थात् कुम्भकारके पुत्र हैं, इसलिए मणिका अर्थात् मटकी आदि बनानेके लिए कीर्ति यानी मिट्टीसे काम लिया करें । अर्थात् कुम्हारकी तरह बैठे-बैठे बरतन बनाया करें, यह परिहास है ॥ ८ ॥

अन्वय : राजन् ! अत्र त्वया कान्ततया वृद्धिस्थाने गुणादेशात् सहस्रांशुककीर्तनं सम्यक् उत्कलितम् ।

अर्थ : राजन् ! आपने तो यहाँ अपने राज-नामके अन्तमें 'क' लगाकर और 'रा' के स्थानमें 'र' गुण लाकर हजारों कपड़ोंको धोनेवाला रजकपन ही स्पष्ट कर बताया ।

दूसरा अर्थ : यद्यपि आप सुन्दर और सूर्यके समान तेजस्वी हैं । किन्तु आज तो अपनी महिमाके स्थानपर आपने अपमान ही पाया है ॥ ९ ॥

अन्वय : बुध ! पद्माभिधा त्वाम् अर्ककीर्तिम् उत्सृज्य सोमात्मजम् उपाश्रिता, असौ विधा तु अहो ! प्रकृतेः अपि मुधा ।

त्वामिति । हे बुध, विद्वन्, पद्माभिधा सुलोचना त्वामर्ककीर्तिमुत्सृज्य विहाय सोमात्मजं जयकुमारमुपाश्रिता, असौ विधा त्वहो प्रकृतेरपि मुधा विरुद्धाऽस्ति ॥ १० ॥

सौन्दर्यसारसंसृष्टिं भूभूषां कन्यकामिमाम् ।
कः किलार्हति भूभागे त्वयि भूतिलके सति ॥ ११ ॥

सौन्दर्येति । भूभागे पृथिव्यां त्वयि भुवस्तिलकं तस्मिन् पृथिवीभूषणे सति सौन्दर्यस्य सारो निष्कर्षस्तस्य संसृष्टिस्तां सुघुमतस्वरचनामिमां कन्यां त्वत्तोऽन्यः कः किलार्हति न कोऽपीत्यर्थः ॥ ११ ॥

ईदृशा भूरिशो भृत्यास्तव भो भरताङ्गभूः ।
यस्मै दत्त्वा यमाशंसी कन्यारत्नमकम्पनः ॥ १२ ॥

ईदृश इति । भो भरताङ्गभूः हे भरतात्मज, अकम्पनो यस्मै कन्यारत्नं दत्त्वा यममाशंसतीति यमाशंसी मर्तुकामोऽस्तीति शेषः । ईदृशा एवम्भूतास्तव भूरिशो बहवो भृत्याः सन्ति ॥ १२ ॥

अर्थ : आश्चर्य तो यह है कि यह सुलोचना पद्मा होकर भी आप अर्ककीर्ति-को छोड़ सोमात्मज जयकुमारको प्राप्त हो गयी, यह तो स्वाभाविकतासे भी विरुद्ध बात हो गयी। कमल स्वभावतः सूर्यका ही अनुगमन किया करता है, यह भाव है ॥ १० ॥

अन्वय : भूभागे त्वयि भूतिलके सति इमां सौन्दर्यसारसंसृष्टि भूभूषां कन्यकां कः किल अर्हति ।

अर्थ : पृथ्वी-मण्डलपर जब आप पृथ्वीभूषण विद्यमान हैं, तो फिर सौन्दर्य-की सारमयी मूर्ति और पृथ्वीको मंडनस्वरूपा इस कन्याको दूसरा कौन ग्रहण कर सकता है ? कोई नहीं, यह भाव है ॥ ११ ॥

अन्वय : भो भरताङ्गभूः अकम्पनः यस्मै कन्यारत्नं दत्त्वा यमाशंसी, ईदृशाः तव भूरिशः भृत्याः सन्ति ।

अर्थ : हे भरत-चक्रवर्तीके पुत्र ! सुनिये। अकम्पनने जिसे यह कन्यारूपी रत्न देकर अपने लिए मृत्युको निमंत्रित किया है, सो देखिये, ऐसे तो आपके हजारों नौकर हैं ॥ १२ ॥

कन्याऽसौ विदुषी धन्या गुणेक्षणविचक्षणा ।
कुलेन्दो च्छन्दसि च्छन्द उपेक्षां किन्तु नार्हति ॥ १३ ॥

कन्येति । हे कुलेन्दो, भरतान्वयचन्द्र, असौ कन्या विदुषी प्रज्ञा, गुणेक्षणे विचक्षणा बुद्धिमती धन्या, चास्तीति शेषः । किन्तु छन्दसि गुरुजनाभिप्राये छन्दः स्वीकृतिरुपेक्षां नार्हति । अतोऽत्रास्या अपराधो नास्तीति भावः ॥ १३ ॥

प्रत्येतुं नैनमेकोऽपि बभूव कपटं पटुः ।
अहो धूर्तस्य धूर्तत्वं धूर्तवज्जगदञ्चति ॥ १४ ॥

प्रत्येतुमिति । एनं कपटमेकोऽपि जनः प्रत्येतुं न बभूव, ज्ञातुं समर्थो नाभूत् । अहो धूर्तस्य वञ्चकत्वं धूर्तवद् धत्तूरवत् जगदञ्चति संसारे व्याप्नोतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्यथाऽनुपपत्त्याऽहं गतवांस्त्वदनुज्ञया ।
स्वातन्त्र्येण हि को रत्नं त्यक्त्वा काचं समेष्यति ॥ १५ ॥

अन्यथेति । अहं त्वदनुज्ञया भवदाज्ञया अन्यथानुपपत्त्या अर्थापत्त्या गतवान् विज्ञातवान् । हि यस्मात् स्वातन्त्र्येण रत्नं त्यक्त्वा काचं कः समेष्यति ग्रहीष्यति, न कोऽपीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वय : कुलेन्दो ! असौ कन्या विदुषी धन्या गुणेक्षणविचक्षणा । किन्तु च्छन्दसि च्छन्दः उपेक्षा न अर्हति ।

अर्थ : हे कुलचन्द्र ! यह कन्या तो स्वयं विदुषी है, गुणोंको पहचाननेवाली और सौभाग्यशालिनी है । किन्तु क्या करे, बड़ोंका कहना कैसे टाले ? ॥ १३ ॥

अन्वय : एनं कपटं प्रत्येतुम् एकः अपि पटुः न बभूव । अहो धूर्तस्य धूर्तत्वं धूर्तवत् जगत् अञ्चति ।

अर्थ : कोई एक आदमी भी इस राजा अकंपनके कपटको नहीं जान सका । क्योंकि धूर्तकी धूर्तता धतूरेके समान दुनियापर अपना प्रभाव जमाती है ॥ १४॥

अन्वय : त्वदनुज्ञया अहम् अन्यथानुपपत्त्या गतवान् । हि स्वातन्त्र्येण रत्नं त्यक्त्वा काचं कः समेष्यति ।

अर्थ : आपकी दयासे मैंने यह बात अर्थापत्ति-प्रमाण द्वारा ताड़

कम्पनोऽयं जराधीनो भजते दण्डनीयताम् ।
अधुनाऽऽशु ततो भूमौ हे कुमार यमातिथिः ॥ १६ ॥

कम्पन इति । ततस्तस्मात् हे कुमार, अधुना भूमौ जराधीनो वार्धक्यापन्नोऽत एव कम्पनो न त्वकम्पनो यमातिथिर्मरणासन्न आशु दण्डनीयतां भजते ॥ १६ ॥

कल्यां समाकलय्योग्रामेनां भरतनन्दनः ।
रक्तनेत्रो जवादेव बभूव क्षीबतां गतः ॥ १७ ॥

कल्यामिति । भरतनन्दनोऽर्ककीर्तिरेनां दुर्मर्षणकटुवाणीरूपाम् उग्रामतिशयतीक्ष्णां कल्यां मदिरां समाकलय्य पीत्वा क्षीबतामुन्मत्ततां गतः प्राप्तः जवादेव शीघ्रमेव रक्तनेत्रो बभूव, क्रोधेन मत्तोऽभूदित्यर्थः ॥ १७ ॥

दहनस्य प्रयोगेण तस्येत्थं दारुणेङ्गितः ।
दग्धश्चक्रिसुतो व्यक्ता अङ्गारा हि ततो गिरः ॥ १८ ॥

ली। कारण, कौन ऐसा होगा, जो स्वतन्त्रतापूर्वक रत्न छोड़ काँच ग्रहण करेगा ? ॥ १५ ॥

अन्वय : ततः हे कुमार ! अधुना भूमौ जराधीनः अयं कम्पनः यमातिथिः आशु दण्डनीयतां भजते ।

अर्थ : इसलिए हे राजन् ! इस समय यह 'अकम्पन' नहीं, 'कम्पन' है; क्योंकि वृद्धावस्थासे युक्त है। अतएव यमका अतिथि है और दण्डनीयताको प्राप्त हो रहा है, अर्थात् लाठी द्वारा चलाने योग्य है अथवा दण्ड देनेके योग्य है ॥ १६ ॥

अन्वय : भरतनन्दनः एनाम् उग्रां कल्या समाकलय्य क्षीबता गतः जवाद् एव रक्तनेत्रः बभूव ।

अर्थ : इस प्रकार दुर्मर्षणकी उग्र वाणीरूप तेज मदिरा पीकर भरत-सम्राट्का वह पुत्र शीघ्र ही मदमत्त होता हुआ लाल-लाल नेत्रोंवाला बन गया ॥ १७ ॥

अन्वय : इत्थं तस्य दहनस्य प्रयोगेण दारुणेङ्गितः चक्रिसुतः दग्धः । ततः अङ्गाराः गिरः व्यक्ताः हि ।

दहनेति । इत्थं तस्य दुर्मर्षणोक्तवाग्रूपस्य दहनस्य प्रयोगेण दारुणानीङ्गितानि यस्य स भयङ्करचेष्टः स चक्रिसुतः काष्ठवद्दग्धः प्रज्वलितः । ततस्तन्मुखान् अङ्गारा वह्नि-स्फुलिङ्गा इव गिरो वाण्यो व्यक्ताः प्रकटीभूताः ॥ १८ ॥

प्रत्यङ्मुखे सखे स्यन्दे रोषो मे प्रागिहोदितः ।
हन्तुं किन्तु स कं मन्तुं युक्तः स्यादिति संवृतः ॥ १९ ॥

प्रत्यङिति । हे सखे, इह स्वयंवरे स्यन्दे सुलोचनारथे प्रत्यङ् मुखेऽस्मद्विपरीते सति प्राक् पूर्वमेव मे रोषः क्रोध उदितः समुत्पन्न आसीत् । किन्तु स कं मन्तुमपराध-मपराधिनमित्यर्थः, हन्तुं युक्तः स्यादित्यालोच्य मया संवृतोऽवरुद्धः ॥ १९ ॥

अहो प्रत्येत्ययं मूढ आत्मनोऽकम्पनाभिधाम् ।
नावैति किन्तु मे कोपं भूभृतां कम्पकारणम् ॥ २० ॥

अहो इति । अहोऽयं मूढोऽकम्पन आत्मनोऽकम्पनाभिधां प्रत्येति विश्वसिति, किन्तु भूभृतां पर्वतानां राज्ञां वा कम्पकारणं वेपथुनिमित्तं मे कोपं नावैति नो जानाति ॥ २० ॥

अर्थ : इस प्रकार दुर्मर्षणके वाग्-रूप अग्निके प्रयोगसे, जो कि दारुणेङ्गित अर्थात् दुष्ट चेष्टावाला होनेसे काष्ठमय था, वह चक्रीका पुत्र धधक उठा । अतः उसके मुखसे अङ्गारके समान निम्नलिखित शब्द निकल पड़े ॥ १८ ॥

अन्वय : सखे ! इह प्रत्यङ्मुखे स्यन्दे प्राग् एव मे रोषः उदितः (अभूत्) । किन्तु सः कं मन्तुं हन्तुं युक्तः स्यात् इति (मया) संवृतः ।

अर्थ : हे सखे ! मुझे क्रोध तो उसी समय आ गया था, जब कि सुलोचनाका रथ मुझे छोड़ आगे बढ़ा । लेकिन उस समय मैंने उसे दबा लिया; क्योंकि मैंने सोचा कि न जाने इस रोषका शिकार कौन बन जाय ? ॥ १९ ॥

अन्वय : अहो अयं मूढः आत्मनः अकम्पनाभिधां प्रत्येति । किन्तु भूभृतां कम्प-कारणं मे कोपं न अवैति ।

अर्थ : आश्चर्य है कि यह मूढ अपने नाम अकम्पनके अर्थपर विश्वास करता है । किन्तु मेरा क्रोध पर्वत-से अचल राजाओंको भी कंपा देनेवाला होता है, इसे नहीं जानता ॥ २० ॥

गाढमुष्टिरयं खड्गः कवलोपसंहारकः ।
सम्प्रत्यर्थी च भूभागे हीयात् सत्त्वमितः कुतः ॥ २१ ॥

गाढेति । अयं मे खड्गः करवालो गाढमुष्टिः स्थिराधारः, कवलोपसंहारकः शमनशक्तिनाशकोऽस्ति । पुनरत्र भूभागे पृथिव्यां सम्प्रत्यर्थी मम शत्रुः कुतः सत्त्वमस्तित्वमियात् प्राप्नुयात्, न कुतोऽपीत्यर्थः । यद्वा मेऽयं खड्गः गाढमुष्टिः कृपणः, ग्रासभक्षकोऽस्ति, अतोऽत्र भूभागे कश्चिदर्थी सम्प्रति कुतः सत्त्वमाप्नुयादिति ॥ २१ ॥

राज्ञामाज्ञावशोऽवश्यं वश्योऽयं भो पुनः स्वयम् ।
नाशं काशीप्रभोः कृत्वा कन्या धन्यामिहानयेत् ॥ २२ ॥

राज्ञामिति । भो, अयं मे खड्गो राज्ञां नृपाणामाज्ञावशोऽवश्यं मम वशे स्थापकोऽस्ति, पुनर्मम वश्यो वशीभूतश्च । अतोऽयं स्वयमेव काशीप्रभोः काशिराजस्य नाशं वधं कृत्वा धन्यां प्रशस्यां कन्यामिह आनयेत् ॥ २२ ॥

अन्वय : अयं मे खड्गः गाढमुष्टिः च कवलोपसंहारकः । भूभागे सम्प्रत्यर्थी इतः कुतः सत्त्वम् इयात् ।

अर्थ : यह मेरा खड्ग सुदृढ मुष्टिवाला है और यमराजके बलकी भी परवाह नहीं करता । अतः इस भूभागमें कोई भी शत्रु जीवित ही रह कैसे सकता है ?

दूसरा अर्थ : यह बड़ा कंजूस है, अपने खानेमें भी कमी करता है । ऐसी स्थितिमें क्या कोई भी याचक कुछ भी यहाँसे ले जा सकता है ? ॥ २१ ॥

अन्वय : भो ! अयं राज्ञाम् आज्ञावशः पुनः अवश्यं वश्यः । (अतः) स्वयं काशीप्रभोः नाशं कृत्वा इह धन्यां कन्याम् आनयेत् ।

अर्थ : यह मेरा खड्ग राजाओंको मेरी आज्ञामें रखनेवाला और मेरे वशमें है । इसलिए यह काशीपति अकम्पनका नाशकर उस भाग्यशालिनी कन्याको मेरे पास यहाँ ला देगा ॥ २२ ॥

धारापातस्तु दूरेऽस्तु यन्मे सत्कन्धरात्मनः ।
तदेतद्राजहंसानां गर्जनं हि विसर्जनम् ॥ २३ ॥

धारापातस्त्विति । यन्मे सत्कन्धरात्मनः शोभनग्रीवस्य, पक्षे शोभनजलधरस्य च, धारापातः करवालधारापतनं, पक्षे सलिलासारवृष्टिस्तु दूरेऽस्तु, मे गर्जनं सिंहनादः, पक्षे मेघस्तनितञ्च, तदेतद् राजहंसानां नृपमरालानां पलायनकरं, पक्षे कलहंसानां मानसगमन-विधायकमस्तीति भावः ॥ २३ ॥

निःसार इह संसारे सहसा मे सप्तार्चिषः ।
नाथसोमाभिधे गोत्रे भवेतां भस्मसात्कृते ॥ २४ ॥

निःसार इति । इह निःसारे साररहिते संसारे जगति मे सप्तार्चिषः क्रोधाग्नेः प्रभावेणेति शेषः । नाथ-सोमौ अभिधा ययोस्ते नाथसोमाख्ये गोत्रे कुले भस्मसाद् भवेताम् ॥ २४ ॥

तस्य मे पुरतस्तावत् स्थिते पत्वेन वा जने ।
के खड्गं रेफसं लब्ध्वा तर्षो भवतु जीवने ॥ २५ ॥

अन्वय : यत् मे सत्कन्धरात्मनः धारापातः, सः तु दूरे अस्तु । तद् एतत् मे गर्जनं राजहंसानां विसर्जनं हि ।

अर्थ : मैं अच्छे कंधोंवाला होनेसे शोभन जलके धारक मेघके समान हूँ। अतः मेरे खड्गकी पतनरूपा जलधाराकी बात तो दूर है। किन्तु मेरा तो गर्जन सुनकर निश्चय ही राजहंस भाग जाते हैं। यहाँ श्लेषालंकार है ॥ २३ ॥

अन्वय : इह निःसारे संसारे मे सप्तार्चिषः सहसा नाथसोमाभिधे गोत्रे भस्मसात्कृते भवेताम् ।

अर्थ : साररहित इस संसारमें मेरे क्रोधाग्निके प्रभावसे नाथवंश और सोमवंश निश्चय ही नष्ट हो जायँगे ॥ २४ ॥

अन्वय : तस्य मे पुरतः तावत् पत्वेन वा जने स्थिते के रेफसं खड्गं लब्ध्वा जीवने तर्षः भवतु ।

तस्येति । तस्य पालकस्य मे पुरतोऽग्रतः पत्वे गर्विष्ठत्वेन पकारत्वेन वा जने स्थिते सति के मस्तके रेफसं भयंकरं खड्गमसिं तमेव रेफसं रकारं लब्ध्वा जीवने तर्षो वाञ्छा भवति ॥ २५ ॥

वात्ययाऽत्ययभृन्मेघस्तं विजित्य जयोऽसकौ ।
मेघेश्वराभिधां लब्ध्वा गुरुणा गर्वितां गतः ॥ २६ ॥

वात्ययेति । यो मेघः पयोदो वात्यया अत्ययभृत् पवनसमूहेन नश्यतीत्यर्थः । तं मेघसमूहं विजित्य असकौ जयो गुरुणा पित्रा चक्रवर्तिना मेघेश्वराभिधां पदवीं लब्ध्वा गर्वितामभिमानितां गतः ॥ २६ ॥

अद्य युद्धस्थले धैर्यं दृश्यतेऽमुष्य तेजसः ।
मम वा यमवाक्सन्धाकारयाऽऽयुधधारया ॥ २७ ॥

अद्येति । अमुष्य जयकुमारस्य तेजसो बलस्य धैर्यमद्य युद्धस्थले वा यमस्य मृत्युराजस्य वाचो जिह्वायाः सन्धा स्थितिस्तस्या आकार इवाकारो यस्यास्तया ममायुधस्य धारया दृश्यते ॥ २७ ॥

अर्थ : मै तो 'त' अर्थात् विश्वका पालक हूँ । उसके आगे 'प' रूपसे अर्थात् घमडीरूपसे आकर अडे रहनेवाले मनुष्यके मस्तकपर जब रेफरूप मेरा खड्ग लपलपाने लगता है, तो उसे मात्र जीवनकी ही वाञ्छा होती है । वह केवल किसी तरह प्राणरक्षा ही चाहता है ॥ २५ ॥

अन्वय : यः मेघः वात्यया अत्ययभृत तं विजित्य असकौ जयः गुरुणा मेघेश्वराभिधां लब्ध्वा गर्वितां गतः ।

अर्थ : जो मेघोंका समूह हवामे भी उड जाया करता है, उसे जीतकर इस जयकुमारने पिता द्वारा सम्मान प्राप्त कर लिया । बस, इसीलिए यह घमंडमे आ गया है ॥ २६ ॥

अन्वय : अमुष्य तेजसः धैर्यम् अद्य वा युद्धस्थले यमवाक्सन्धाकारया मम आयुध-धारया दृश्यते ।

अर्थ : किन्तु यमकी जिह्वाकी बराबरी करनेवाली मेरे खड्गकी धारामे इस जयकुमारके बलका धैर्य आज या युद्धस्थलमें देखा जायगा ॥ २७ ॥

नार्थक्रियाकरो वीरपट्टो माणवसिंहवत् ।
गुरुणा कल्पितत्वेन युक्त एव पुनः सताम् ॥ २८ ॥

नार्थेति । जयकुमारस्य वीरपट्टोऽपि माणवसिंहवद् अर्थक्रियाकरः सार्थको न भवति । पुनरपि गुरुणा पित्रा कल्पितत्वेन दत्तत्वेन सतां मध्ये स युक्त एव मतः ॥ २८ ॥

तुलाधिरोपितो यावदवमानाश्रयोऽपि सन् ।
जडोऽपि नावनौ तिष्ठेत् क्व पुनश्चेतनः पुमान् ॥ २९ ॥

तुलेति । तुलायामधिरोपितः स्थापितो जडोऽपि पाषाणादिरपि, अवमानस्याश्रयः सन् अवनौ पृथिव्यां न तिष्ठेत्, तदा पुनःचेतनः संवेदनकरः स पुमान् कथं तिष्ठेत्, अतिवादं कुर्यादेवेत्यर्थः ॥ २९ ॥

दीपस्तमोमये गेहे यावन्नोदेति भास्करः ।
स्नेहेन दीप्यतां तावत् का दशा स्यात्पुनः प्रगे ॥ ३० ॥

दीप इति । भास्करः सूर्यो यावन्नोदेति तावत्तमोमये गेहे ध्वान्तपूर्णे स्थाने तावत्

अन्वय : (अस्य) वीरपट्टः माणवसिंहवत् अर्थक्रियाकरः न । किन्तु गुरुणा कल्पितत्वेन पुनः सः सतां युक्तः एव ।

अर्थ : इसे पिताजीने जो वीरपट्ट दिया, वह भी माणवसिंहके समान बनावटी अर्थात् कोई काम आनेवाला नहीं है । किन्तु पिताजीने दिया, इसलिए सज्जनोंने उसे मान्य कर लिया ॥ २८ ॥

अन्वय : यावत् तुलाधिरोपितः जडः अपि अवमानाश्रयः (सन्) अवनौ न तिष्ठेत् । क्व पुनः चेतनः पुमान् ?

अर्थ : सोचनेकी बात है कि तुलामें रखा जाकर अपमानका भाजन बननेवाला अचेतन बटखरा (बाट) भी पृथ्वीपर चुप नहीं बैठ पाता । वह भी उठ खड़ा होता है । फिर मेरे जैसा चेतन पुरुष तो चुप बैठा ही कैसे रह सकता है ? ॥ २९ ॥

अन्वय : यावत् भास्करः न उदेति, तावत् तमोमये गेहे दीपः स्नेहेन दीप्यताम् । पुनः प्रगे का दशा स्यात् ?

स्नेहेन तैलादिना दीपो दीप्यताम् । किन्तु प्रगे प्रभाते पुनः का दशा स्यात् ? तथा यावन्मया न प्रबुद्धं तावत् प्रेम्णा जयकुमारस्य निर्वाहोऽभूत् ॥ ३० ॥

सद्योऽपि कृतविद्योऽहमुद्योगेन जयश्रियम् ।
मालाञ्चोपैमि बाहां हि नीतिविद्योऽभिनन्दति ॥ ३१ ॥

सद्योऽपीति । नीतिविद्यो नीतिविशारदो मनुष्यो हि बाहां भुजामेवाभिनन्दति प्रशंसति, समाश्रयतीत्यर्थः । ततोऽहं कृतविद्यो नीतिनिपुण उद्योगेन स्वभुजबलेन जयश्रियं विजयलक्ष्मीं मालाञ्च उपैमि लभे ॥ ३१ ॥

अनवद्यमतिर्मन्त्री चित्तवित्तमिहोक्तवान् ।
अत्रान्तरे ह्यपृष्टोऽपि समिच्छन् स्वामिनो हितम् ॥ ३२ ॥

अनवद्येति । अत्रान्तरे स्वामिनो हितं समिच्छन् अपृष्टोऽपि, चित्तविद् अनवद्यमतिः निर्दोषबुद्धिर्मन्त्री तमर्ककीर्तिम् उक्तवानुवाच ॥ ३२ ॥

सृष्टेः पितामहः स्रष्टा चक्रपाणिस्तु रक्षकः ।
संहर्तुमुद्यतः सद्यस्तामेनां प्रथमाधिपः ॥ ३३ ॥

अर्थ : अन्धकारमय घरमें रखा दीपक स्नेह (तेल) द्वारा तबतक चमकता रहे, जबतक सूर्यका उदय न हो । किन्तु सबेरे सूर्यका उदय हो जानेपर उसकी क्या दशा होगी ? ॥ ३० ॥

अन्वय : अहं कृतविद्यः सद्यः अपि उद्योगेन जयश्रियं मालां च उपैमि । हि नीतिविद्य. बाहाम् अभिनन्दति ।

अर्थ : मैं कृतविद्य हूँ अर्थात् सब तरहसे कुशल हूँ । अतः शीघ्र ही अपने उद्योगसे विजयलक्ष्मी और वरमाला दोनोंको प्राप्त कर लूँगा । क्योंकि नीतिमान् व्यक्ति अपनी भुजाओंका भरोसा करता है (इस प्रकार अर्ककीर्तिने कहा) ॥ ३१ ॥

अन्वय : अत्रान्तरे स्वामिनः हितं समिच्छन् हि अपृष्टः अपि चित्तवित् अनवद्यमतिः मन्त्री तम् इह उक्तवान् ।

अर्थ : इसी बीच स्वामीका हित चाहता हुआ, उसके चित्तको जाननेवाला, निर्दोषबुद्धि अर्ककीर्तिका मंत्री, बिना पूछे ही उसे यहाँ वक्ष्यमाण वचन कहने लगा ॥ ३२ ॥

अन्वय : पितामहः सृष्टेः स्रष्टा । पुनः चक्रपाणिः तु रक्षकः । ताम् एनां त्वं प्रथमाधिपः (सन्) सद्यः संहर्तुम् उद्यतः ।

सृष्टेरिति । अस्याः कर्मभूमिरूपायाः सृष्टेः पितामह ऋषभप्रभुस्तु स्रष्टा, यस्याश्चक्रपाणिः भरतमहाराजो रक्षकः । तामेनां सृष्टिं त्वं प्रथमाधिपः सन् सर्वप्रथमो राजा भवन् सद्यः शीघ्रमेव संहर्तुमुद्यतस्तत्परोऽसि । लोकोक्तावपि सृष्टेः पितामहो ब्रह्मा सर्जकः, चक्रपाणिर्विष्णुस्तु रक्षकः, किन्तु प्रमथाधिपो महादेवः संहारकः ॥ ३३ ॥

यासि सोमात्मजस्येष्टामर्ककीर्तिश्च शर्वरीं ।
हन्ताऽप्यनुचरस्य त्वं क्षत्रियाणां शिरोमणिः ॥ ३४ ॥

यासीति । हे प्रभो, त्वमर्कस्य सूर्यस्य कीर्तिरिव कीर्तिर्यस्य सः, सोमात्मजस्य जयकुमारस्येष्टां तथा बुधस्येष्टां शर्वरीं युवतिं रात्रिं वा यासि लभसे, तथा क्षत्रियाणां शिरोमणिरपि अनुचरसेवकस्य हन्ता । तदेतत्सर्वमनुचितमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

कुमाराऽद्य यमाराते जातुचिन्नात्र संशयः ।
मुक्त्वा क्षमामिदानीं तु जयं जयसि जित्वर ॥ ३५ ॥

कुमारेति । हे कुमार, हे यमाराते, हे कालशत्रो, हे जित्वर, जयनशील, त्वमद्य इदानीं शीघ्रमेव क्षमां सहिष्णुतां मुक्त्वा जयं जयकुमारं जयसि । अत्र जातुचित् कदापि संशयो नास्ति । वक्रोक्तिरियम् । चिन्त्यतां तावत् ॥ ३५ ॥

अर्थ : हे कुमार ! पितामह आदिनाथ भगवान् तो इस सृष्टिके स्रष्टा हैं और चक्रवर्ती महाराज भरत रक्षक हैं । उसी सृष्टिका संहार करनेके लिए आप सर्वप्रथम राजा होकर भी उठ खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

अन्वय : च त्वम् अर्ककीर्तिः सोमात्मजस्य इष्टां शर्वरीं यासि । (तथा) क्षत्रियाणां शिरोमणिः अपि (त्वम्) अनुचरस्य हन्ता ।

अर्थ : जयकुमार सोमराजाका पुत्र है और आप सूर्यके समान कीर्तिवाले अर्ककीर्ति हैं । फिर भी उसके लिए इष्ट शर्वरी (रात्रि) के समान प्रतीत होनेवाली सुलोचनाको आप पाना चाहते हैं, (क्या यह उचित है ?) इसी प्रकार आप क्षत्रियोंके शिरोमणि होकर भी अपने अनुचर जयकुमारको ही मारना चाहते हैं, (तो वह भी कहाँतक उचित है ?) ॥ ३४ ॥

अन्वय : कुमार ! यमाराते ! जित्वर ! त्वम् इदानीं क्षमां मुक्त्वा जयं जयसि, अत्र जातुचित् संशयः नास्ति ।

सेवकस्य समुत्कर्षे कुतोऽनुत्कर्षता सतः ।
वसन्तस्य हि माहात्म्यं तरूणां या प्रफुल्लता ॥ ३६ ॥

सेवकस्येति । सेवकस्य अनुचरस्य समुत्कर्षे समुन्नतौ सतः स्वामिनोऽनुत्कर्षता अवनतिरवज्ञा वा कुतः कथं भवेत् ? हि यस्मात्तरूणां वृक्षाणां या प्रफुल्लता विकासशीलता तत्सर्वं वसन्तस्यैव माहात्म्यमस्ति । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३६ ॥

राज्ञो राजश्रियः श्रीमन्नाथसोमाभिधे भुजे ।
अत्यये च तयोश्चासावकिञ्चित्करतां व्रजेत् ॥ ३७ ॥

राज्ञ इति । हे श्रीमन्, अर्ककीर्ते, राज्ञो भरतस्य राजश्रियः नाथसोमाभिधे नाथसोमसंज्ञके द्वे भुजे स्तः । तयोरत्यये नाशे सति असौ अकिञ्चित्करतां निरर्थकतां व्रजेदिति चिन्तनीयम् ॥ ३७ ॥

प्रजायाः प्रत्युपायेऽस्मिन्नपायमुपपद्यते ।
भवादृशो भ्रमादन्यः प्रत्ययः को निरत्ययः ॥ ३८ ॥

अर्थ : हे कुमार ! आप यमके शत्रु और जयशील भी हैं । अतः इस समय आप क्षमा त्यागकर क्रोधवश जयकुमारको जीत लेंगे, इसमें कोई संशय नहीं । (किन्तु कुछ सोचो तो सही) ॥ ३५ ॥

अन्वय : सेवकस्य समुत्कर्षे सतः अनुत्कर्षता कुतः ? हि तरूणां प्रफुल्लतायां वसन्तस्य माहात्म्यम् (भवति) ।

अर्थ : सेवककी उन्नतिमें स्वामीकी अवज्ञा कैसी ? क्योंकि वृक्षोंपर जो फूल आते हैं, उससे वसन्तका ही माहात्म्य प्रकट होता है ॥ ३६ ॥

अन्वय : श्रीमन् ! राज्ञः राजश्रियः नाथसोमाभिधे भुजे । तयोः अत्यये च असौ च अकिञ्चित्करतां व्रजेत् ।

अर्थ : हे श्रीमन् ! दूसरी बात यह सोचिये कि नाथवंश और सोमवंश ये दोनों महाराज भरतकी राज्यश्रीकी दो भुजाएँ हैं । अतः इनका नाश हो जानेपर वह कुछ भी नहीं रह जायगा, निरर्थक हो जायगा ॥ ३७ ॥

अन्वय : (कुमार !) भवादृशः प्रजायाः अस्मिन् प्रत्युपाये अपायं उपपद्यते, (नहि अत्र) भ्रमाद् अन्यः निरत्ययः कः प्रत्ययः ।

प्रजाया इति । हे कुमार, प्रजायाः प्रत्युपाये समुत्कर्षनिमित्तेऽस्मिन् यदि भवादृशः पुरुषोऽपायं हानिमुपपद्यते अनुभवति तर्हि, अत्र भ्रमादन्यो निरत्ययो निर्दोषः कः प्रत्ययो हेतुर्न कोऽपीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

आत्मजः कोपवानत्र भरतस्य क्षमापतेः ।
समञ्चसि श्रीकुमार दीपतुत्थकथां तथा ॥ ३९ ॥

आत्मज इति । हे श्रीकुमार, क्षमापतेर्भरतस्य आत्मजस्त्वमत्र कोपवान् सन् दीपात् प्रकाशात्मकात् तुत्थं कज्जलं जायत इत्येतां कथां समञ्चसि समर्थयसि । नैतत्समीचीनमिति भावः ॥ ३९ ॥

दरिद्रो वास्तु दीनो वा रुचीनः केवलं भवेत् ।
स्वयंवरसभायां तु बालावाञ्छा बलीयसी ॥ ४० ॥

दरिद्र इति । हे कुमार, शृणु, स्वयंवरसभायां तु वरः केवलं रुचीनो बालाया रुचेरिनः स्वामी, बालामनोऽनुकूलो भवेत् । स पुन दीनोऽस्तु, दरिद्रो वाऽस्तु । तत्र बालावाञ्छेव बलीयसी ॥ ४० ॥

अर्थ : कुमार ! आप जैसा समझदार पुरुष भी अपनी प्रजाकी उन्नतिके कारणमें भी अपनी अवनति समझे, तो इसमें भ्रमके सिवा दूसरा निर्दोष क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

अन्वय : श्रीकुमार ! भरतस्य क्षमापतेः आत्मजः त्वम् अत्र कोपवान् तथा दीपतुत्थकथां समञ्चति ।

अर्थ : हे कुमार, महाराज भरत तो सारी पृथ्वीके स्वामी होकर भी क्षमाके भण्डार हैं । किन्तु आप उनके पुत्र होकर भी कोप कर रहे है । इससे तो आप 'दीपकसे काजल'वाली कहावत ही चरितार्थ कर रहे हैं, यह उचित नहीं ॥ ३९ ॥

अन्वय : (वरः) दरिद्रः अस्तु दीनः वा, केवलं रुचीनः भवेत् । स्वयंवरसभाया बालावाञ्छा तु बलीयसी (भवति) ।

अर्थ : स्वयंवरसभाका तो यही नियम है कि वहाँ कन्याकी इच्छा ही बलवती होती है । कन्या जिसे चाहे उसे वरे, फिर वह दीन हो या दरिद्र ॥ ४० ॥

चक्रश्च कृत्रिमं चक्रे चक्रिणो दिग्जये जयम् ।
जय एवार्यमित्यस्मात् तस्यापि स्नेहभाजनम् ॥ ४१ ॥

चक्रश्चेति । चक्रिणश्चक्रवर्तिनो दिग्जये दिग्विजये चक्रं तु कृत्रिममासीत्, जयं त्वयं जय एव चक्रे । अत एवायं जयस्तस्य चक्रिणोऽपि स्नेहभाजनमस्ति ॥ ४१ ॥

पूज्यः पितुस्तवाप्येषोऽकम्पनः पुरुदेववत् ।
कृत्येऽस्मिंस्तु महानेवं गुरुद्रोहो भविष्यति ॥ ४२ ॥

पूज्य इति । एषोऽकम्पनोऽपि पुरुदेववद् भगवदृषभदेववत् तव पितुः पूज्योऽस्ति । एवमस्मिन् कृत्ये महान् गुरुद्रोहो भविष्यति ॥ ४२ ॥

लंजाय जायते नैषा सती दारान्तरोत्थितिः ।
जये तेऽप्यजयत्वेन त्वेनः कल्पान्तसंस्थिति ॥ ४३ ॥

लजायेति । हे कुमार, प्रथमतस्तु जयोऽनिश्चित एव, तथापि तव जयेऽपि सति,

---

अन्वय : च चक्रिणः दिग्जये चक्रं (तु) कृत्रिमम् । जयं जयः एव चक्रे । (अतः एव) अयं तस्य अपि स्नेहभाजनम् ।

अर्थ : दूसरी बात यह कि जयकुमार भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं। किन्तु आपके पिता भरत चक्रवर्तीके दिग्विजयमें जय दिलानेवाला यही था। चक्र तो कृत्रिम, केवल नाममात्रका था। अतः जयकुमार आपके पिताका भी स्नेहपात्र है ॥ ४१ ॥

अन्वय : एषः अकम्पनः अपि पुरुदेववत् तव पितुः पूज्यः । एवं अस्मिन् कृत्ये तु महान् गुरुद्रोहः भविष्यति ।

अर्थ : इधर महाराज अकम्पन भी भगवान् ऋषभदेवके समान आपके पिताके लिए पूज्य हैं। इसलिए आपद्वारा अपनाये जानेवाले युद्धरूप कार्यमें तो बड़ा भारी गुरुद्रोह होगा ॥ ४२ ॥

अन्वय : जये अपि अजयत्वेन एषा सती दारान्तरोत्थितिः ते लंजाय न जायते । तु कल्पान्तसंस्थिति एनः भवेत् ।

अजयत्वेनैषा सती दारान्तराणामुत्थितिः परस्त्रीणामपहरणं ते लज्जाय कच्छाय न जायते। तु पुनः कल्पान्तसंस्थिति कल्पान्तपर्यन्तस्थायि एनः पापं सम्भवेत् ॥ ४३ ॥

नानुमेने मनागेव तथ्यमित्थं शुचेर्वचः।
क्रूरश्चक्रिसुतो यद्वत् पयः पित्तज्वरातुरः ॥ ४४ ॥

नानुमेन इति। शुचेर्मन्त्रिण इत्थं तथ्यं यथार्थं सारगर्भितमपि वचो वचनं क्रूरः क्रूरभावापन्नश्चक्रिसुतो मनागेव किञ्चिदपि नानुमेने नानुमन्यत, यद्वद् यथा पित्तज्वरातुरः पुरुषः पयो दुग्धं नानुमन्यते ॥ ४४ ॥

आहूयमानः स्वावज्ञां ब्रुवन्कर्मानुगं मनः।
प्रत्युवाच वचो व्यर्थमर्थशास्त्रज्ञतास्मयी ॥ ४५ ॥

आहूयमान इति। अर्थशास्त्रज्ञतायाः स्मयोऽस्यास्तीति अर्थशास्त्रज्ञतास्मयी, नीतिशास्त्रज्ञताभिमानी, अर्ककीर्तिः कर्मानुगं परद्रोहरूपदुष्कर्मानुरूपं मनो ब्रुवन् कथयन् स्वावज्ञामाहूयमानश्च व्यर्थमिदं वक्ष्यमाणं वचः प्रत्युवाच ॥ ४५ ॥

अर्थ : प्रथम तो इस युद्धमें आपकी जय होगी, यह निश्चित नहीं। फिर मान लीजिये हो जाय, तो भी यह सुलोचना सती है और इसने अपने विचारों द्वारा जयकुमारको वर लिया है। अत किसी भी स्थितिमें यह आपकी चरण-सेविका बन नहीं सकती। अतः जय होकर भी आपको पराजय ही रहेगी। साथ ही कल्पान्तस्थायी पाप-कलंक भी आपके सिर चढ़ जायगा ॥ ४३ ॥

अन्वय : शुचेः इत्थं तथ्यम् अपि वचः क्रूरः चक्रिसुतः तद्वत् मनाग् एव न अनुमेने यद्वत् पित्तज्वरातुरः पयः।

अर्थ : इस प्रकार मंत्रीका यथार्थ और सारगर्भ, सुन्दर वचन भी अर्ककीर्तिने ठीक वैसे ही तनिक भी ग्रहण नहीं किया, जैसे पित्तज्वरसे पीड़ित दूध ग्रहण नहीं करता ॥ ४४ ॥

अन्वय : अर्थशास्त्रज्ञतास्मयी कर्मानुगं मनः ब्रुवन् स्वावज्ञाम् आहूयमानः व्यर्थं वचः प्रत्युवाच।

अर्थ : अतः नीतिशास्त्रज्ञताका अभिमानी अर्ककीर्ति अपना मन परद्रोहरूप दुष्कर्मानुगामी बनाकर अपनी अवज्ञाको अपने पास बुलाता हुआ व्यर्थ ही वक्ष्यमाण वचन बोलने लगा ॥ ४५ ॥

क्षमायामस्तु विश्रामः श्रमणानां तु भो गुण ।
सुराजां राजते वंश्यः स्वयं माञ्चकमूर्धनि ॥ ४६ ॥

क्षमायामिति । भो गुण मन्त्रिन्, क्षमायां तु श्रमणानां विश्रामोऽस्तु । सुराजां भूपेन्द्राणां वंश्यः कुलजातस्तु स्वयं स्वपौरुषेण माञ्चकस्य सिंहासनस्य मूर्धनि समुपरि राजते ॥ ४६ ॥

विनयो नयवत्येवाऽतिनये तु गुरावपि ।
प्रमापणं जनः पश्येन्नीतिरेव गुरुः सताम् ॥ ४७ ॥

विनय इति । विनयः शिष्टाचारस्तु नयवत्येव नीतिमति जन एव, विधीयत इति शेषः । नयम् अतिक्रान्तोऽतिनयस्तस्मिन्नतिनये अतिक्रान्तनीतौ तु गुरावपि जनः स्वाभिमानी पुरुषः प्रमापणं मारणमेव पश्येत् । यतो यस्मान्नीतिरेव सतां गुरुरुपदेष्ट्री विद्यत इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

स्वयंवरं वरं वर्त्म मन्ये नानेन मे ग्रहः ।
किन्तु मन्तुमिदं ग्राह्यतया कारितवान् कुधीः ॥ ४८ ॥

अन्वय : भो गुण ! श्रमणानां तु क्षमायां विश्रामः अस्तु । सुराजां वंश्यः स्वयं माञ्चकमूर्धनि राजते ।

अर्थ : हे मंत्री ! सुनो । क्षमा बोलकर विश्राम लेनेवाले तो श्रमण (त्यागी) होते हैं । क्षत्रियोंका पुत्र तो अपने बलद्वारा सिंहासनके सिरपर आरूढ होता है ॥ ४६ ॥

अन्वय : विनयः नयवति एव (भवति) । जनः अतिनये तु गुरौ अपि प्रमापणं पश्येत् । यतः सतां गुरुः नीतिः एव ।

अर्थ : रही विनयकी बात ! सो विनय तो नीतिवान्की की जाती है । नीति त्यागकर जानेवाला चाहे बड़ा-बूढ़ा, पूज्य ही क्यों न हो, समझदार मनुष्य उसकी भी खबर लेता है । क्योंकि नीति ही सबकी गुरु है ॥ ४७ ॥

अन्वय : स्वयंवरं वरं वर्त्म (इति अहं) मन्ये । अनेन मे ग्रहः न (अस्ति) । किन्तु कुधीः इदंग्राह्यतया मन्तुं कारितवान् ।

स्वयंवरमिति । स्वयंवरं तु वरं श्रेष्ठं वर्त्म मन्ये, अहमपीति शेषः । अनेन मे ग्रहो विरोधो नास्ति । किन्तु इदमत्र ग्राह्यमिति तस्या भावस्तया एष्वयं वरो त्वया वरणीय इत्यभिप्रायेण, कुधीः कुत्सितप्रज्ञोऽकम्पनः स्वयंवरं कारितवान् ॥ ४८ ॥

साधारणधराधीशान् जित्वाऽपि स जयः कुतः ।
द्विपेन्द्रो नु मृगेन्द्रस्य सुतेन तुलनामियात् ॥ ४९ ॥

साधारणेति । यदि स जयः कथ्यते, स साधारणाधराधीशान् सामान्यनृपान् जित्वापि कुतो जयो जयनशीलः कथयितुं शक्यत इत्यर्थः । नु किं द्विपानामिन्द्रो गजराजोऽपि मृगेन्द्रस्य सिंहस्य सुतेन शावकेन तुलनां साम्यमियात् नेयादित्यर्थः । तथैव जयकुमारो मम तुल्यतां कर्तुं नार्हतीत्याशयः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४९ ॥

नो सुलोचनया नोऽर्थो व्यर्थमेव न पौरुषम् ।
द्व्यर्थभावविरोधार्थं कर्म शर्मवतां मतम् ॥ ५० ॥

नो सुलोचनयेति । सुलोचनया नोऽस्माकमर्थः प्रयोजनं नास्ति, तथापि मम पौरुषं व्यर्थं नास्ति । यत इदं कर्म द्व्यर्थभावस्य मायाचारस्य विरोधार्थं क्रियते । अतः शर्मवतां कल्याणिनां मतं मान्यमस्ति ॥ ५० ॥

अर्थ : स्वयंवर तो समीचीन मार्ग है, यह मैं भी जानता हूँ । इससे मेरा कोई विरोध नहीं । किन्तु यह स्वयंवर थोड़े ही हुआ है ? यहाँ तो दुर्बुद्धि अकम्पनने अपने दुराग्रहसे इस वरका वरण किया है ॥ ४८ ॥

अन्वय : सः जयः साधारणधराधीशान् जित्वा अपि जयः कुतः ? मृगेन्द्रस्य सुतेन द्विपेन्द्रः तुलनाम् इयात् नु ?

अर्थ : यह जयकुमार साधारण राजाओंको जीतकर भी क्या वास्तवमें पूर्ण विजयी कहा जा सकता है ? हाथी यद्यपि औरोंसे बड़ा है; फिर भी क्या वह सिंहके बच्चेकी बराबरी कर सकता है ? ॥ ४९ ॥

अन्वय : सुलोचनया नः अर्थः न । पौरुषं च व्यर्थम् एव न । यतः द्व्यर्थभावविरोधार्थं शर्मवतां कर्म मतम् ।

अर्थ : हमें सुलोचनासे कोई मतलब नहीं । फिर भी हमारा यह काम-

हितेच्छुश्चेद्रणेच्छूनामग्रतो　　व्यग्रतोत्तरम् ।
इत्येवं वाक्यमस्माकं पुरो मा वद भावद ॥ ५१ ॥

हितेच्छुरिति । हे भावद, सम्मतिप्रद मन्त्रिन्, चेद् भवान् हितेच्छुः कल्याणकामो तर्हि रणेच्छूनां युयुत्सूनामस्माकं पुरोऽग्रे इत्येवं व्यग्रता व्याकुलतापूर्णमुत्तरं यस्मिन्नेवंभूतं वाक्यं मा वद ॥ ५१ ॥

श्रेयसे सेवकोत्कर्षः सदादर्शोऽस्तु नः पुनः ।
ईर्ष्या यत्र समाधिः सा सेव्यसेवकता कुतः ॥ ५२ ॥

श्रेयस इति । सेवकस्योत्कर्षं उन्नतिः श्रेयसे कल्याणाय भवतीत्यादर्शः सदाऽस्माकमस्तु । पुनर्यत्रेर्ष्या परोत्कर्षासहिष्णुता, स तु समाधिः साम्यभावः । सेव्यसेवकता सा कुतः स्यादित्यर्थः ॥ ५२ ॥

मारकेशदशाविष्टोऽवमत्य　　श्रीमतामृतम् ।
प्रत्युतोदग्रदोषोऽभूद् भुवि ना मरणाय सः ॥ ५३ ॥

व्यर्थ नहीं है, क्योंकि जो अपना भला चाहते हैं, वे हमेशा कपटभावका विरोध किया करते हैं । वही मैं कर रहा हूँ ॥ ५० ॥

अन्वय : भावद (भवान्) हितेच्छुः चेत् रणेच्छूनाम् अस्माकम् अग्रतः इति एवं व्यग्रतोत्तरं वाक्यं मा वद ।

अर्थ : मन्त्रिवर यदि आप अपना भला चाहते हैं, तो युयुत्सु हम लोगोंके आगे इस प्रकार व्याकुलतापूर्ण उत्तरसे भरी बातें करना छोड़ दें ॥ ५१ ॥

अन्वय : पुनः सेवकोत्कर्षः श्रेयसे (भवति इति) नः सदा आदर्शः अस्तु । (किन्तु) यत्र ईर्ष्या (सः) समाधिः । सेव्यसेवकता सा कुतः ?

अर्थ : मैं यह भी मानता हूँ कि सेवकका उत्कर्ष स्वामीके कल्याणके लिए होता है । किन्तु जहाँ ईर्ष्या है, वहाँ तो बराबरी हो गयी । वैसी स्थितिमें सेव्य-सेवकभाव कहाँ रह सकता है ? ॥ ५२ ॥

अन्वय : मारकेशदशाविष्टः श्रीमतामृतम् अवमत्य प्रत्युत सः ना भुवि मरणाय उदग्रदोषः अभूत् ।

मारकेशेति । मारकेशस्य दशा यत्र मरणं मरणसदृशं वा कष्टं भवति, तयाऽऽविष्टो युक्तः सोऽर्ककीर्तिः श्रियाऽरिनाशरूपया मतं सम्मतं च तत्पूर्वोक्तं सदुपदेशरूपममृतमवमत्य निराकृत्य, भुवि लोके ना पुरुषो मरणाय मृत्युनिमित्तम् । यद्वा नामेति वाक्यपूर्तौ, रणाय सङ्ग्रामाय प्रत्युत उदग्र उत्कटो दोषो यस्य सोऽभूत् ॥ ५३ ॥

> यः कलग्रहसद्भावसहितोऽत्र समाहितः ।
> योगवाहतयाऽन्योऽपि बुधवत् क्रूरतां श्रितः ॥ ५४ ॥

य इति । यः कोऽपि किलास्मिन् कलग्रहे जयसुलोचनयोः स्वयंवरात्मके पाणिग्रहणे सद्भावेन पवित्रविचारेण सहित आसीत्, सोऽन्योऽपि जनोऽत्र अर्ककीर्तिना समाहितः सम्बन्धमवाप्तः सन् योगवाहतया बुधग्रहवत् क्रूरतां श्रितः ॥ ५४ ॥

> प्राप्य कम्पनमकम्पनो हृदि मन्त्रिणां गणमवाप संसदि ।
> विग्रहग्रहसमुत्थितव्यथः पान्थ उच्चलति किं कदा पथः ॥ ५५ ॥

प्राप्येति । अनेन वृत्तान्तेन अकम्पनो भूपो हृदि कम्पनं प्राप्य संसदि सभायां मन्त्रिणां

अर्थ : इस प्रकार मारकेशकी दशासे घिरा वह अर्ककीर्ति अमृतके समान मंत्रीके उपदेश ठुकराकर, प्रत्युत रणके लिए अथवा मरनेके निमित्त और भी अधिक दोषयुक्त बन गया ॥ ५३ ॥

अन्वय : यः कलग्रहसद्भावसहितः (सः) अन्यः अपि अत्र समाहितः बुधवत् योगवाहतया क्रूरतां श्रितः ।

अर्थ : जब अर्ककीर्ति इस प्रकार रोषयुक्त हुआ, तो अन्य कुछ राजाओंका समूह भी, बुधग्रहके समान अच्छे स्वभाववाला होनेपर भी उसकी हाँमें हाँ मिलाता हुआ क्रूरता यानी रणके लिए तत्पर हो गया ॥ ५४ ॥

अन्वय : अकम्पनः हृदि कम्पनं प्राप्य विग्रहग्रहसमुत्थितव्यथः संसदि मन्त्रिणां गणम् अवाप । पान्थः किं कदा अपि पथः उच्चलति ?

अर्थ : अकम्पन यह समाचार सुनकर हृदयसे काँप उठा और उसने सभामें मंत्रियोंके समुदाय को बुलाया । कारण झगड़ेकी बात सुनकर उसके मनमें

गणमवाप । यतो विग्रहो रण एव ग्रहस्तेन समुत्थिता व्यथा यस्य सः । तदेव समर्थयति—पान्थः पथिकः किं कदापि पथो मार्गाद् उच्छलत्यमार्गं याति, न यातीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

प्रेषितश्चर इतोऽवतारण-हेतवेऽर्कपदयोः सुधारणः ।
नीरपूर इव संचरन् स वा छिद्रपूरणविधौ विचारवान् ॥ ५६ ॥

प्रेषित इति । इतोऽवतारणहेतवे मन्त्रिसम्मत्या अर्कपदयोः सुधारणः शुभधारणावांश्चरो दूतः प्रेषितः । स चरो नीरपूर इव संचरन्, छिद्रपूरणविधौ बिलभरणे कलहदोषापाकरणे वा विचारवानासीत् ॥ ५६ ॥

प्राप्य भूभृदुपदेशतः पुनः सज्जवारिनिधिरित्यनुस्वनः ।
मौलिशोणमणिभिः समं तु विदश्रुकज्जलत आलिखद् भुवि ॥ ५७ ॥

प्राप्येति । भूभृदुपदेशतो राज्ञोऽकम्पनस्य उपदेशतः कथनात्, तथा भूभृतो गिरेः य उपदेशः समीपभागस्तस्मात् संचरन्, सज्जा समयानुकूला या वारिर्वाणी सैव निधिर्यस्य सः, तथा सज्जः परिपूर्णत्वात् प्रशस्यो वारिनिधिः समुद्रो येन स एवंभूतश्चरः, पक्षे नीरपूर इति पूर्वेण सम्बन्धः । पुनः कथम्भूतः, अनुस्वनोऽनुकूलः शब्दो यस्य स विद् विद्वान्

व्यथा पैदा हो गयी । ठीक ही है, क्या कभी कोई पथिक उचित मार्गसे हट सकता है ? ॥ ५५ ॥

अन्वय : इतः अवतारणहेतवे अर्कपदयोः सुधारणः चरः प्रेषितः । सः नीरपूरः इव संचरन् वा छिद्रपूरणविधौ विचारवान् (आसीत्) ।

अर्थ : इधरसे मंत्रियोंसे सलाह कर झगड़ा शांत करनेके लिए अच्छी धारणावाला दूत अर्ककीर्तिके पास भेजा गया । वह दूत नीरके प्रवाहके समान छिद्र पूरा करने (कलह मिटाने) में विचारशील भी था ॥ ५६ ॥

अन्वय : पुनः भूभृदुपदेशतः (सञ्चरन्) अनुस्वनः सज्जवारिनिधिः विद् (तत्र) प्राप्य तु मौलिशोणमणिभिः समं अश्रुकज्जलतः भुवि आलिखत् ।

अर्थ : इसके बाद समयानुकूल वाणीका धनी वह दूत राजा अकम्पनकी ओरसे अर्ककीर्तिके पास पहुँचा और उसने अपने मुकुटमें लगी लालमणियोंके

इत्येवं तत्र प्राप्य, मौलिशोणमणिभिः शिरोमुकुटपद्मरागरत्नैः समं सार्धमश्रुकज्जलतो भुवि आलिखल्लिलेख । साश्रुनयनः सन्मौलिनाऽर्ककीर्ति प्रणनामेति यावत् ॥ ५७ ॥

कोऽपराध इह मङ्गलेऽन्वितः क्षम्यतामिति विमत्युपार्जितः ।
विश्वपालनपरो नरो यतस्त्वं कुमार जनमारणोद्यतः ॥ ५८ ॥

क इति । स दूत उक्तवान् —हे कुमार, विश्वस्य पालने सम्भालने परस्तत्परो भवादृशो नरो यतो यस्माज्जनानां मारणे संहारे उद्यतः कटिबद्धो जातः, स इह मङ्गले स्वयंवराभिधे कार्ये को नाम अपराधो दोषोऽन्वितः सम्पन्नः । यः कोऽप्यस्माकं दुर्बुद्ध्योपार्जितः स्यात् स क्षम्यतामिति भावः ॥ ५८ ॥

सहृय प्रलयमानयञ्जनमद्य सद्य इव भो बृहन्मनः ।
देववादमुपशम्य तन्महादेवतामुपगतो भवानहा ॥ ५९ ॥

सहृयेति । भो बृहन्मनः, विशालहृदय, हे सहृय दयाशील, यतो भवान् अद्याऽधुना सद्य इव शीघ्रमेव जनं मनुष्यसमूहं प्रलयं विनाशमानयन्, देवस्य नाभिसूनोः कथनं 'यत्किल कलिकालस्यान्ते प्रलयो भविष्यती'ति, तमुपशम्य महादेवतां रुद्ररूपतामुपगत प्राप्तवान्, तत् अहा खेदकरमेतदित्यर्थः ॥ ५९ ॥

साथ आँसुओंसे निकले कज्जल द्वारा जमीनपर स्पष्टरूपसे वह लिख बताया, जो उसे राजा अकम्पनने कहा था ॥ ५७ ॥

अन्वय : कुमार इह मङ्गले विमत्युपार्जितः कः अपराधः अन्वितः, यतः विश्वपालनपरः नरः त्वं जनमारणोद्यतः (संवृत्तः, सः) क्षम्यताम् इति ।

अर्थ : (वह दूत बोला—) हे कुमार, इस मंगलमय अवसरपर हम लोगोंकी नासमझीके कारण कौन-सा अपराध बन पड़ा, जिसके कारण विश्वके पालनमें तत्पर आप जैसे पुरुषने भी जनसंहारार्थ कमर कस ली ? हमारा वह अपराध क्षमा कर दें ॥ ५८ ॥

अन्वय : बृहन्मनः सद्दय ! (यत्) भवान् अद्य सद्यः इव जनं प्रलयम् आनयन् देववादम् उपशम्य महादेवताम् उपगतः, तत् अहा !

कः सदोष उपसंक्रमोऽनयश्चक्रवर्तिसुविनोदनोदय ।
सम्प्रसीद कुरु फुल्लतां यतः कम्पितास्तु खरदण्डभावतः ॥ ६० ॥

क इति । चक्रवर्तिनो भरतस्य सुविनोदनस्योदयो येन सः तत्सम्बोधने, सदोषस्त्रुटिपूर्णः, कः अनयो नीतिर्वजित उपसंक्रमः प्रक्रमो जातो यत ईदृग्रूपेण खरदण्डभावतस्तीव्रताडनारूपतो वयं कम्पिताः ? स क्षम्यतामित्यर्थः । सम्प्रसीद, फुल्लतां सौम्यभावं कुरु ॥ ६० ॥

दूतसंलपितमेवमेव तत्स्नेह उष्णकलिते जलं पतत् ।
तस्य चेतसि रुषान्विते जयत्तां चटत्कृतिमथोदपादयत् ॥ ६१ ॥

दूतेति । एवमुपर्युक्तं दूतस्य संलपितं तदेव तस्यार्ककीर्तेः रुषान्विते सरोषे चेतसि जयत् प्रवर्तमानमुष्णकलिते वह्नितप्ते स्नेहे तैले पतज्जलमिव चटत्कृतिं चटचटाशब्दमुदपादयत् । तन्मनोऽधिकं रुष्टं व्यधादित्यर्थः ॥ ६१ ॥

अर्थ : हे विशालचेता और अत्यन्त दयाशील कुमार! आप आज तो इसी समय (तत्काल) मानवसमूह को नष्टकर भगवान् नाभिसूनु ऋषभदेवकी इस भविष्य-वाणीको काट रहे हैं कि 'कलिकालके अन्तमें प्रलय होगा' तथा संहारकर्ता महादेव रुद्रका रूप धारण कर लिये हैं, जो अत्यन्त खेदकर है ॥ ५९ ॥

अन्वय : चक्रवर्तिसुविनोदनोदय ! (अत्र) कः सदोषः अनयः उपसंक्रमः (जातः), यतः (ईदृक्) खरदण्डभावतः (वयं) तु कम्पिताः । सम्प्रसीद फुल्लतां कुरु ।

अर्थ : चक्रवर्ती महाराज भरतको प्रसन्नताके प्रेरणास्रोत कुमार ! यहाँ ऐसा कौन-सा त्रुटिपूर्ण और नीतिविहीन कदम उठाया गया, जिससे आपने हमें इस प्रकार कठोर ताड़नासे प्रकम्पित कर दिया ? कृपया उसे क्षमा कर दें, प्रसन्न हो जायँ और सौम्यभाव धारण करें ॥ ६० ॥

अन्वय : अथ एवम् तत् दूतसंलपितम् एव तस्य रुषान्विते चेतसि जयत् उष्णकलिते स्नेहे पतत् जलम् (इव) तां चटत्कृतिम् उदपादयत् ।

अर्थ : अनन्तर इस प्रकार दूतका वह शान्तिपूर्ण वचन अर्ककीर्तिके रोषभरे चित्तमें पहुँचकर गरम तेलमें पड़े जल (बिन्दु) की तरह प्रसिद्ध चट-चट शब्द करने लगा । अर्थात् दूतके इससे अर्ककीर्ति और भी अधिक रुष्ट हो उठा ॥ ६१ ॥

भारती स्वयमसारतीरया शर्करेव तव तर्करेखया।
चारतीर्थ खलु का रती रयाद् दर्शनेऽपि रसनेऽपि मेऽनया ॥ ६२ ॥

भारतीति। हे चारतीर्थ, दूतशिरोमणे, तव भारती वाणी स्वयमेव असारतीरया, निःसारप्रान्तया तर्कस्य रेखया शर्करेवास्ति। शर्करा खर्परखण्डः, स इवास्ति। यद्वा 'अयः शुभावहो विधिः' इति कोशात् सुष्ठु अयः स्वयः, तस्य मा शोभा यस्मिन्निति स्वयमः, स चासौ सारस्तीरे यस्यास्तया इत्यर्थः सम्भवति। तथा स्वयं स्थाने परम'शब्दो वास्तु। अस्मिन्नर्थे शर्करा गुडसारस्तदिव मा भाति। अनया तव वाचा दर्शनेऽपि रसन आस्वादनेऽपि का रतिः प्रीतिः स्याद्, रयाद्वेगाद् अनायासादित्यर्थः। तथा द्वितीयेऽर्थे काऽरतिरित्यर्थो ग्राह्यः ॥ ६२ ॥

काशिकाधिकरणो महानितः सम्भवत्यपि स मेघमानितः।
सामृतोर्मिरुचितैव हे चर त्वं पुनः परमुदासि किङ्करः ॥ ६३ ॥

काशिकेति। हे चर, दूत, शृणु। काशिका नगरी अधिकरणं यस्य स काशिकाधिकरणोऽकम्पनः स महान् पूज्य एव, इतोऽस्मत्पार्श्वे। अथवा, कस्य यमस्य याशिकाऽभि-

---

अन्वय : चारतीर्थ तव भारती स्वयम् असारतीरया तर्करेखया शर्करा इव खलु। अनया मे दर्शने अपि रसने अपि रयात् का रतिः स्यात्।

अर्थ : (अर्ककीर्तिने कहा—) हे दूतशिरोमणे! तुम्हारी वाणी सुन्दर सौभाग्यशोभा-सारसे सनी है, तर्कणाको लिये हुए है। अतएव वह निश्चय ही शक्करकी तरह मीठी है। इसलिए इसे देखने और चखनेमें भी अनायास मुझे कैसी अरति (अरुचि) हो सकती है? अर्थात् इससे मुझे विलक्षण प्रीति होगी, यह इस श्लोकका प्रशंसात्मक अर्थ है।

दूसरा अर्थ : (निन्दात्मक :) तुम्हारी वाणी ठीकरेकी तरह चुभनेवाली, स्वयं सारविहीन है। अतः इसे देखने या चखनेमें भी मुझे सहजतः कैसी रुचि हो सकती है? अर्थात् मुझे पसंद ही नहीं पड़ सकती ॥ ६२ ॥

अन्वय : चर! काशिकाधिकरणः महान् इतः। सः मेघमानितः सम्भवति। त्वं परमुदा किङ्करः इति सा अमृतोर्मिः उचिता एव।

अर्थ : हे दूत, सुनो। तुम तो पराये लोगोंकी प्रसन्नतासे किङ्कर यानी नौकर बने हुए हो। अथवा तुम अत्यन्त उदासीन (किसी भी पक्षमें न रहने-

लाषा साऽधिकरणं यस्य सः, अतिवृद्ध इत्यवज्ञा व्यज्यते। तथैव स जयकुमारो मेघैस्तन्नाम-देवैर्मानितः समावृतः। एवं मे मम समीपे अघेन अपराधेन मानितः संयुक्तः सम्भवति। त्वं तु पुनः परेषां मुधा प्रसन्नतया किङ्करोऽसि। अथवा परं केवलमुदासि, उदासीन-श्चासौ किङ्कर इति सा त्वदुक्तिरमृतस्य ऊर्मिलहरी; अथवा मृतस्य ऊर्मिरवस्थेव उचितेति भावः ॥ ६३ ॥

यत्यतेऽथ सदपत्यतेजसा सार्पिता कमलमालिकाऽञ्जसा ।
मूर्छिताऽस्तु न जयाननेन्दुना तावतार्ककरतः किलामुना ॥ ६४ ॥

यत्यत इति। अथ हे सदपत्य, सज्जनात्मज, या कमलमालिका जयकण्ठेऽर्पिता सा जयस्य जयकुमारस्य आननेन्दुना मुखचन्द्रेण मूर्छिता मुकुलिता नास्तु। तावताऽनेन हेतुना किल अर्कस्यार्ककीर्तेः सूर्यस्य वा, करतो हस्ततः किरणतो वा तेजसा यत्यते। रूपक-श्लेषानुप्राणितः काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ६४ ॥

साम्प्रतं सुखलताप्रयोजनात् पश्य यस्य तनुजा सुरोचना ।
त्वादृशां वरदरङ्गतः प्रभुर्दूत रे वृषभ इत्यसावभूत् ॥ ६५ ॥

वाले) नौकर हो। इसलिए अमृतलहरी-सी तुम्हारी उक्ति उचित ही है। वैसे काशीपति महाराज अकम्पन हमारी ओरसे पूज्य हो हैं। वह जयकुमार भी मेघनामक देवों द्वारा सम्मानित है। यह प्रशंसात्मक अर्थ हुआ।

दूसरा अर्थ (निन्दात्मक) : महान् महाराज अकम्पन 'क' यानी यमराज-की अभिलाषाके पात्र अर्थात् अतिवृद्ध हैं। वह जयकुमार भी मेरे समक्ष अप-राधी है। इसलिए तुम्हारी उक्ति मृतककी अवस्था ही है, जो सर्वथा उचित ही है ॥ ६३ ॥

अन्वय : अथ सदपत्य ! सा अर्पिता कमलमालिका अञ्जसा जयाननेन्दुना मूर्छिता न अस्तु, तावता अमुना किल अर्ककरतः तेजसा यत्यते।

अर्थ : और हे सज्जनात्मज ! जयकुमारके कण्ठमें सुलोचना द्वारा अर्पित वह पद्ममयी वरमाला जयकुमारके मुखचन्द्रसे मुरझाने न पाये; निश्चय ही इसीलिए सूर्यके करस्वरूप अर्ककीर्तिके हाथों, तेजसे यह प्रयत्न किया जा रहा है ॥ ६४ ॥

अन्वय : रे दूत पश्य, यस्य तनुजा सुरोचना, सः त्वादृशां प्रभुः साम्प्रतं सुखलता-प्रयोजनात् वरदरङ्गतः वृषभः इति असौ अभूत्।

साम्प्रतमिति । रे दूत, पश्याऽऽलोकय, यस्य तनुजा सुरोचना नाम कन्या, वीर्यधिर्वा स त्वादृशां प्रभुः सुखस्य लता परम्परा तस्याः प्रयोजनात् । तथा सुष्ठु या खलता दुष्टता तस्याः प्रयोजनात् । वरं ददातीति वरदो यो रङ्गः स्थानं ततस्तथा बलदरङ्गतो बलदायक प्रसङ्गतः । अथवा बलस्य सेनाया बलं समूहं गतः प्राप्त इति प्रथमा । स चासौ वृषभो धर्मभावनावान्, बलीवर्दो वाऽभूविति । वर्तमानार्थे भूतकालक्रियोपादानम् उपहासद्योतनार्थमिति ॥ ६५ ॥

दुश्चिकित्स्यमवधारयन् बुधः साचिजल्पितमनल्पितक्रुधः ।
सामतः स तु विरामतः सदुत्साहपूर्वकमगाद्वचोऽमृदुः ॥ ६६ ॥

दुश्चिकित्स्येति । बुधः स दूतोऽनल्पितक्रुधोऽतिकोपवतः अर्ककीर्तेः साचिजल्पितं वक्रोक्ति सामतः शान्तनीत्या दुश्चिकित्स्यं दूरीकर्तुमशक्यमवधारयन् विचारयँस्तु पुनर्विरामतोऽन्तसमये सदुत्साहपूर्वकं साहसपूर्णं यथा स्यात्तथा, अमृदु कोमलतारहितं वचो वाक्यमगादुक्तवान्, निम्नरीत्येति शेषः ॥ ६६ ॥

चेतसीति च गतो मदं भवान् कच्चिदस्मि भटकोटिलम्भवान् ।
नानुजेन भवतः पिताजितः केवलेन किमु चक्रवानितः ॥ ६७ ॥

चेतसीति । कच्चिदहं सम्भावयामि यत्किल भवानहं भटानां रणशूराणां कोटेः परम्पराया लम्भवान् सत्तावानस्मीति चेतसि मदं गर्वं गत इति सत्यम् । यदीत्थमेव,

---

अर्थ : हे, दूत, देखो कि जिनकी पुत्री सुलोचना है, वे तुम्हारे स्वामी महाराज अकम्पन सुख-परम्परा प्राप्त होने तथा यथेष्ट वरदान-भोगी होनेके कारण धर्मभावनावाले हैं । यह प्रशंसात्मक अर्थ है ।

अन्वय : बुधः सः अनल्पितक्रुधः साचिजल्पितं सामतः दुश्चिकित्स्यम् अवधारयन् तु विरामतः सदुत्साहपूर्वकम् अमृदु वचः अगात् ।

अर्थ : वह बुद्धिमान् दूत अतिक्रुद्ध अर्ककीर्तिके उन वचनोंको, जो कि उसने जयकुमारके प्रति वक्रोक्ति द्वारा कहे थे, शान्तिमय उपायोंसे दुश्चिकित्स्य जानकर अन्ततः बड़े साहसके साथ निम्नलिखित जोशीले वचन बोलने लगा ॥ ६६ ॥

अन्वय : कच्चित् भवान् अहं भटकोटिलम्भवान् अस्मि इति चेतसि मदं गतः । (किन्तु) इतः भवत पिता चक्रवान् केवलेन अनुजेन न जितः किमु ।

तदा तद् व्यर्थमेव, यत इतो भूतले भवत एव पिता यश्चक्रवानपि, स केवलेन अनुजेन बाहुबलिना न जितः किमु, अपि तु जित एवेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

सेवकः स उदितो विभुर्भवान् किन्न वेत्ति समरेऽतिमानवान् ।
जीतिरेव च परीतिरेव वा तस्य ते च तुलना कुतोऽथवा ॥ ६८ ॥

सेवक इति । अन्यच्च शृणु, समरे युद्धे क्रियमाणेऽतिमानवान् भवान् विभुः स्वामी । स च जयकुमारो भवत एव सेवक उदितोऽस्ति । ततो जीतिरेवास्तु परीतिर्वा तस्य न काचिदपि हानिः, यतस्तस्य ते च वा कुतस्तुलना भवेत् ॥ ६८ ॥

अर्कतापरिणतावतर्कता-संयुतेन दधता यथार्थताम् ।
मेघमानित ऋतौ विनश्यता भातु तूलफलता त्वयोद्धृता ॥ ६९ ॥

अर्कतेति । अर्कः क्षुद्रवृक्षविशेषस्तत्तायाः परिणतौ सम्भूतौ अतर्कतासंयुतेन तद्रूपपरिणयेनेत्यर्थः । यथार्थतां दधता सार्थं नाम कुर्वता त्वया मेघमानित ऋतौ मेघकुमारादिभिः सम्मानिते वीरे जयकुमारे सति सोद्यमे विनश्यता, तथा वर्षासमये नश्यता तूलफलता व्यर्थजीवनता, अथवा तूलस्येव फलानि यस्य तत्ता, उद्धृता स्वीकृता भातु ॥ ६९ ॥

अर्थ : कुमार ! शायद आप सोचते हों कि हम करोड़ों सुभटोंके स्वामी हैं। किन्तु क्या आपके पिताके छोटे भाई बाहुबलीने अकेले ही आपके पिता चक्रवर्ती भरतको जीत नहीं लिया था ? ॥ ६७ ॥

अन्वय : समरे अतिमानवान् भवान् विभुः (च) सः सेवकः उदितः । (ततः तस्य) जीतिः एव च परीतिः वा । तस्य ते च तुलना कुतः ।

अर्थ : युद्ध करनेपर अत्यन्त अभिमानी आप स्वामी और वह जयकुमार आपका सेवक ही कहलायेगा । इसलिए उसकी जय ही हो या पराजय ! उसकी और आपकी तुलना ही क्या है ? ॥ ६८ ॥

अन्वय : अर्कतापरिणतौ अतर्कतासंयुतेन यथार्थतां दधता त्वया मेघमानिते ऋतौ विनश्यता तूलफलता उद्धृता भातु ।

अर्थ : लेकिन मैं तो समझता हूँ कि आप वास्तवमें अर्ककीर्ति (आकके समान) हैं। जैसे आक मेघमानित वर्षाऋतुमें नष्ट हो जाता है और उसका जीवन निष्फल (फलरहित) होता है, वैसे ही आप भी मेघकुमारादि द्वारा सम्मानित जयकुमारकी ऋतु यानी तेजमें पड़कर नष्ट हो जायँगे ॥ ६९ ॥

शम्पया स च बलाहकस्तया युक्त एव भविता प्रशस्तया ।
हे तवार्क परिहारहेतवे इत्युदीर्य स विनिर्गतोऽभवत् ॥ ७० ॥

शम्पयेति । शं कल्याणं पाति स्वीकरोतीति शम्पा सुलोचना । यद्वा विद्युत्, तया प्रसिद्धया स जयकुमारो बलाहको बलस्य स्वागतकारको मेघो वा, स तया प्रशस्तया, युक्त एव भविता भविष्यति । हे अर्क, स तव परिहारहेतवे पराजयायापि भविता किल, इत्युदीर्य स दूतो विनिर्गतो निर्जगाम ॥ ७० ॥

प्रत्युपेत्य निजगौ वचोहरः प्रेरितैणपतिवद्भयङ्करः ।
दुर्निवार इति नैति नो गिरश्चक्रवर्तितनयो महीश्वरः ॥ ७१ ॥

प्रत्युपेयेति । वचोहरो दूतः प्रत्युपेत्य निजगौ जगाद । हे महीश्वर, हे काशिराज शृणु, चक्रवर्तितनयोऽर्ककीर्तिः प्रेरितैणपतिवत् क्षुब्धसिंहतुल्यो भयङ्करो दुर्निवारो निवारयितुमशक्य इति नोऽस्माकं गिरो वाचो नैति न प्राप्नोति, न शृणोतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

भूरिशोऽपि मम संप्रसारिभिरौर्ववन्नृप समुद्रवारिभिः ।
किं वदानि वचनैः स भारत-भूपभूर्न खलु शान्ततां गतः ॥ ७२ ॥

अन्वय : अर्क ! सः च बलाहकः प्रशस्तया तथा शम्पया युक्तः एव भविता (यः) तव परिहारहेतवे, इति उदीर्य सः विनिर्गतः अभवत् ।

अर्थ : 'कुमार ! याद रखिये, वह जयकुमार तो बलाहक अर्थात् मेघके समान बलवान् है । अतः वह शम्पा यानी बिजलीके समान सुखप्रदा सुलोचनासे युक्त जायगा और तुम्हारी पराजयका भी कारण बनेगा'—यह कहकर वह दूत वहाँसे चला गया ॥ ७० ॥

अन्वय : वचोहरः प्रत्युपेत्य निजगौ—महीश्वर ! चक्रवर्तितनयः प्रेरितैणपतिवत् भयङ्करः दुर्निवारः इति नो गिरः न एति ।

अर्थ : वहाँसे वापस आकर अकम्पनसे दूत कहने लगा—हे राजन् ! अर्ककीर्ति तो भड़काये हुए सिंहके समान दुर्निवार हो रहा है । हमारी एक भी नहीं सुनता ॥ ७१ ॥

अन्वय : नृप कि वदानि मम भूरिशः अपि सम्प्रसारिभिः वचनैः सः भारतभूपभूः समुद्रवारिभिः और्ववत् शान्ततां न गतः खलु ।

भूरिश इति । किं वदानि, स भारतभूपभूर्न खलु शान्ततां गतः भूरिशोऽनेकप्रकारतया प्रसारिभिरपि मद्वचनैः । कथमिव ? समुद्रस्य वारिभिरौर्ववद् वडवाग्निरिव खलु शान्ततां न गतः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ७२ ॥

अर्क एव तमसावृतोऽधुना दर्शघस्र इह हेतुनाऽमुना ।
एत्यहो ग्रहणतां श्रियः प्रिय इत्यभूदपि शुचा सविक्रियः ॥ ७३ ॥

अर्केति । अधुना साम्प्रतमादर्शघस्र आदरणीयो दिवसः स एवेह दर्शघस्रोऽमावास्यादिवसो जातः । अमुना हेतुना कारणेन अर्कः सूर्य एव अर्ककीर्तिरेव वा तमसा राहुणा कोपेन वाऽऽवृतः, ग्रहणतामुपरागतां पिशाचतां वैति प्राप्नोति, अहो आश्चर्यं । श्रियोऽस्माकं शोभायाः प्रियो वल्लभोऽपि शुचा शोकेन सविक्रियो विकारयुक्तोऽभूत् । अथवा अर्को ग्रहणतामेतीति दूतवचनं श्रुत्वा श्रियः सुलोचनायाः प्रियो जयकुमारोऽपि तदा शुचाऽनुशुशोच, पुनः सविक्रियो विकारवानभूत् । श्लेषोऽलङ्कारः ॥ ७३ ॥

संवहन्नपि गभीरमाशयमित्यनेन विषमेण सञ्जयः ।
केन वा प्रलयजेन सिन्धुवत् क्षोभमाप निलतोऽथ यो भुवः ॥ ७४ ॥

संवहन्निति । जयकुमारस्य विकारमेव विवृणोति कविः—सन् यो जयो जयकुमारो विशालं गभीरमाशयं वहन्नपि दूतोक्तेनानेन विषमेण प्रसङ्गेन क्षोभमाप क्षुब्धो बभूव ।

अर्थ : हे राजन्, क्या बताऊँ ? जिस प्रकार वड़वानल समुद्रके विपुल जलसे भी शांत नहीं होता, उसी प्रकार हमारे द्वारा कहे गये अनेक प्रकारके सान्त्वनाभरे वचनोंसे भी वह शांत नहीं हुआ ॥ ७२ ॥

अन्वय : अधुना इह आदर्शघस्रे अर्कः एव तमसाऽऽवृतः अहो ग्रहणताम् एति इति अमुना हेतुना शुचा श्रियः प्रियः अपि सविक्रियः अभूत् ।

अर्थ : इसपर जयकुमारने सोचा कि देखो, अमावस्याके दिन सूर्यके समान इस मांगलिक वेलामें तेजस्वी अर्ककीर्ति भी रोषरूप राहु द्वारा ग्रस्त होकर ग्रहणभावको प्राप्त हो रहा है ! यह सोचकर सुलोचनाका पति जयकुमार भी कुछ विकारको प्राप्त हुआ ॥ ७३ ॥

अन्वय : गभीरम् आशयं संवहत् अपि सञ्जयः इति अनेन विषमेण क्षोभम् आप । अथ यः भुवः निलयः केन वा प्रलयजेन सिन्धुवत् क्षोभम् आप ।

अर्थ : गंभीर आशय धारण करनेवाला वह सज्जन जयकुमार भी इस

अथ भुवो निलयोऽपि भूपालकोऽपि मर्यादावानपि प्रलयजेन कल्पान्तजातेन अलेन सिन्धुवत् समुद्र इव चञ्चलो बभूव । उपमालङ्कारः ॥ ७४ ॥

पन्नगोऽयमिह पन्नगोऽन्तरे इत्यवाप्तबहुविस्मयाः परे ।
सन्तु किन्तु स पतत्पतेरलमास्य उत्पलमृणालपेशलः ॥ ७५ ॥

पन्नग इति । इहान्तरे छिद्रेऽयं पन्नगः सर्पोऽयं पन्नग इत्येवंरूपेणावाप्तो बहुरनल्पो विस्मय आश्चर्यं यैस्ते परे सन्तु । किन्तु स एव पन्नगः पततां पक्षिणां पतिर्गरुडस्तस्य आस्ये मुखे पुनरुत्पलस्य कमलस्य मृणालवत् पेशलो मृदुर्भवति किल इत्यलं वक्तव्येन । सोऽर्ककीर्तिरन्येषामग्रे न त्वस्माकमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

हृच्छुचं तु महनीय नीयते ऋक्सुधा किमिति नात्र पीयते ।
न्यायिनां यदनपायिनां प्रभुः सर्वतोऽपि भवितैव शर्मभूः ॥ ७६ ॥

हृच्छुचमिति । जयकुमारोऽकम्पनमुद्दिश्य उवाच—हे महनीय, पूज्य, किमिति हृद्धृदयं भवता शुचं शोकं नीयते, अत्र ऋक्सुधा नीतिवाक्यामृतं किमिति न पीयते ? यत्किल नीतौ कथितं न्यायिनां नीतिमार्गाश्रयिणामनपायिनां निष्पापानां प्रभुः स्वयमेव सर्वतोऽपि शर्मणो भद्रस्य भूः स्थानं भवितैव ॥ ७६ ॥

घटनासे क्षुब्ध हो उठा, और भूपालक तथा मर्यादाशील होता हुआ भी वह प्रलयकालीन सुप्रसिद्ध पवनसे समुद्रकी तरह चंचल हो उठा ॥ ७४ ॥

अन्वय : इह अन्तरे अयं पन्नगः (अयं) पन्नगः इति अवाप्तबहुविस्मयाः परे सन्तु । किन्तु सः पतत्पतेः आस्ये उत्पलमृणालपेशलः (भवति) इति अलम् ।

अर्थ : जयकुमार कहने लगा कि 'यह साँप आया, यह साँप आया' इस प्रकार और लोग भले ही आश्चर्यमें पड़ें । किन्तु गरुड़के मुँहमें तो वह कमलकी नालके समान कोमल होता है, इतना ही कहना पर्याप्त है । अर्थात् अर्ककीर्तिसे भले ही और लोग डरा करें, मैं कभी नहीं डरता ॥ ७५ ॥

अन्वय : महनीय ! हृत् तु शुचं नीयते ? अत्र ऋक्-सुधा किम् इति न पीयते ? यत् न्यायिनाम् अनपायिनां प्रभुः (सः) सर्वतः अपि शर्मभूः भविता एव इति ।

अर्थ : (जयकुमार अकम्पनसे कहने लगा—) हे महनीय ! सोच क्यों कर रहे हैं ? 'नीतिवाक्यमृतम्'रूप ऋक्सुधा (ऋग्वेद-मन्त्रोंपर आधृत या द्विवेदके ग्रन्थके वचनामृत) का पान क्यों नहीं करते ? वहाँ कहा गया है कि भूल न करनेवाले न्यायियोंका कल्याण तो भगवान् ही करते हैं ॥ ७६ ॥

किं फलं विमलशीलशोचनाद्रक्ष साक्षिकतया सुलोचनाम् ।
तं बलीमुखबलं बलैरलं पाशबद्धमधुनेक्षतां खलम् ।। ७७ ।।

किं फलमिति । हे विमलशील, निर्मलाचार, शोचनात् किं फलं स्यात् ? त्वं तु साक्षिकतया सावधानरूपेण सुलोचनां रक्ष । अन्यैर्बलैरप्यलं न किमपि प्रयोजनम् । अधुनैव क्षणमात्रत एव, बलीमुखो वानरस्तस्य बलमिव बलं यस्य तं चपलस्वभावमित्यर्थः । खलं मया केवलेनैव पाशबद्धमीक्षताम् । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।। ७७ ।।

नीतिरेव हि बलाद् बलीयसी विक्रमोऽध्वविमुखस्य को वशिन् ।
केसरी करिपरीतिकृद्रयाद्धन्यते स शबरेण हेलया ।। ७८ ।।

नीतिरिति । हे वशिन्, नीतिरेव बलाद् बलीयसी भवति । अध्वविमुखस्य नीतिपथाच्च्युतस्य विक्रमः पराक्रमोऽपि कः स्यात् ? केसरी सिंहः करीणां हस्तिनां परीतिकृत् प्राणहारको भवति, स एव शबरेण भिल्लेन अष्टापदेन वा हेलया कौतुकेन रयाच्छीघ्रमेव हन्यते । अर्थान्तरन्यासः ।। ७८ ।।

नीतिमीतिमनयो नयन्नयं दुर्मतिः समुपकर्षति स्वयम् ।
उल्मुकं शिशुवदात्मनोऽशुभं योऽह्नि वाञ्छति हि वस्तुतस्तु भम् ।। ७९ ।।

अन्वय : विमलशील ! शोचनात् किं फलम् ? साक्षिकतया सुलोचनां रक्ष । बलैः अलम् । बलीमुखबलं तं खलं अधुना पाशबद्धम् ईक्षताम् ।

अर्थ : हे विमलशील राजन् ! अब यहाँ चिन्ता करनेसे क्या लाभ ? आप तो केवल साक्षीरूप बनकर सुलोचनाकी रक्षा करते रहें । अभी देखें कि वह दुष्ट बंदर बंधनमें फँसाकर आपके सामने उपस्थित कर दिया जायगा ।। ७७ ।।

अन्वय : वशिन् ! नीतिः एव बलाद् गरीयसी । अध्वविमुखस्य विक्रमः कः ? करिपरीतिकृत् केशरी शबरेण हेलया रयात् हन्यते ।

अर्थ : हे वशी ! आप शायद यह सोचते हों कि मेरे पास सेनाबल नहीं है । किन्तु आपको यह याद रखना चाहिए कि बलकी अपेक्षा नीति ही बलवान् होती है । देखिये, हाथियोंकी घटाको नष्ट करनेवाला सिंह भी नीतिके बलपर अष्टापद द्वारा बातकी बातमें मार डाला जाता है ।। ७८ ।।

अन्वय : अयम् अनयः दुर्मतिः उल्मुकं शिशुवत् नीतिम् ईतिं नयन् आत्मनः अशुभं स्वयं समुपकर्षति, यः वस्तुतस्तु अह्नि हि भं वाञ्छति ।

नीतिमीतीति । अयं प्रकरणप्राप्तोऽर्ककीर्तिर्दुर्मतिः दुष्टबुद्धिः, अनयो नीतिवर्जितश्च । यो नीतिमीतिं नयन् न्यायमार्गं लोपयन् सन्नात्मनोऽशुभमकल्याणं समुपकर्षति प्रत्याददाति, उल्मुकं ज्वलितकाष्ठं शिशुवत् । यस्तु पुनरह्नि दिवसे वस्तुतो यथार्थतो भं नक्षत्रं वाञ्छति, असम्भवं सम्भवं कर्तुमिच्छति । दृष्टान्त-निदर्शनयोः सङ्करः ॥ ७९ ॥

ज्ञातवानहमिहैतदर्थकं प्राग्विसामकरणं निरर्थकम् ।
प्रस्तरेऽशनिघनोचितेंऽशकिन् टङ्क एव नरराट् क्रमेत किम् ॥ ८० ॥

ज्ञातवानीति । हे अंशकिन्, सामर्थ्यशालिन्, अहमिह एतदर्थकं प्राक् विसामकरणं विशेषेण साम्नः प्रयोगं निरर्थकं व्यर्थं ज्ञातवान् । यतोऽशनिर्वज्रं घनो लोहमुद्गरं तयोरुचिते योग्ये हे नरराट्, टङ्क एव किं क्रमेत ? नेत्यर्थः ॥ ८० ॥

स्थीयतां भवत एव पद्मया योजितो भवतु स द्विषन्मया ।
अस्मि सम्प्रतितमां पुरोहितः सम्प्रणीतपृथुतेजसाऽश्रितः ॥ ८१ ॥

स्थीयतामिति । स्थीयतां तावत् स द्विषन् दुष्टो यः पद्मया सुलोचनया सार्धं संयोगमिच्छति, स मया भवत एव पद्मया चरणशोभया योजितो भवतु । सम्प्रत्यहं सम्प्रणीतेन समर्थितेन विवाहसम्बन्धकारकेण हवनोचितेन वा पृथुतेजसा प्रसिद्धपराक्रमेण

अर्थ : यह दुर्मति अर्ककीर्ति नीतिका उल्लंघन करता हुआ जली लकड़ीको पकड़नेवाले शिशुकी तरह अपने हाथों अपना अकल्याण कर लेना चाहता है। यह उस बालक-सरीखा है, जो दिनके प्रकाशमें वास्तविक नक्षत्रोंको देखना चाहता हो ॥ ७९ ॥

अन्वय : नरराट् अहम् इह एतदर्थकं प्राग् विसामकरणं निरर्थकं ज्ञातवान् । हे अंशकिन् ! अशनिघनोचिते प्रस्तरे किं टङ्कः एव क्रमेत ?

अर्थ : हे राजन् ! मैं तो यह पहले ही जान गया था कि इसके पास दूत भेजनेकी सामनीतिका प्रयोग निरर्थक है। सामर्थ्यशाली प्रभो ! सोचिये तो सही कि जिस पत्थरपर वज्र और हथौड़ा ही काम आ सकता है, क्या उसपर टाँकी चलाना उचित होगा ? ॥ ८० ॥

अन्वय : स्थीयताम् सः द्विषन् मया भवतः एव पद्मया योजितः भवतु । अहं सम्प्रति संप्रणीतपृथुतेजसाश्रितः पुरोहितः अस्मितमाम् ।

अर्थ : आप जरा ठहरें, वह दुष्ट आपकी पुत्री पद्मा (सुलोचना) के

प्रज्वलिताग्निना वा अञ्चितो युक्तः पुरोहितः पुरस्तावहितः शत्रुः श्रोत्रियो वाऽस्मितमाम्। श्लेषालङ्कारः ॥ ८१ ॥

संप्रयुक्तमृदुसूक्तमुक्तया पद्मयेव कुरुभूमिभुक्तया ।
संवृतः श्रममुषा रुषा रयाच्चक्षुषि प्रकटितानुरागया ॥ ८२ ॥

संप्रयुक्तेति । सम्यक् प्रकारेण प्रयुक्तं सम्प्रयुक्तं यन्मृदुसूक्तं समयोचितं वाक्यं मुञ्चति प्रकटयति स सम्प्रयुक्तमृदुसूक्तमुक् तस्य भावस्तया, रणप्रसङ्गिन्या रुषा रोषवशया संवृतः स्वीकृतो रयाच्छीघ्रमेव । कीदृश्या तयेति कथ्यते—चक्षुषि नेत्रप्रान्तभागे प्रकटितोऽनुरागो रक्तिमा, पक्षे प्रीतिभावो यया । तथा श्रममालस्यमौदास्यं वा मुष्णाति तया । उपमालङ्कारः ॥ ८२ ॥

सोमसूनुरुचितां धनुर्लतां सन्दधौ प्रवर इत्यतः सताम् ।
श्रीकरे स खलु बाणभूषितां शुद्धवंशजनितां गुणान्विताम् ॥ ८३ ॥

सोमसूनुरिति । सोमसूनुर्जयकुमारः सतां सज्जनानां मध्ये प्रवरो मुख्यो दुर्लभो वा, इत्यतः स खलु बाणेन शरेण वैवाहिकदीक्षाप्रयोगेण च भूषितां युक्ताम्, शुद्धेन

साथ विवाह करना चाहता है। विवाहसंबंधके लिए प्रणीत अग्निमें होम करानेके लिए पुरोहितकी आवश्यकता होती है। सो मैं स्वाभाविक तेजका धारी पुरोहित हूँ। अर्थात् उसका सामना करनेके लिए तैयार हूँ। मैं शीघ्र ही उसे लाकर आपकी पद्मा अर्थात् चरणरजश्रीसे उसका संयोग (संबंध) करा दूँगा, उससे आपका चरण-चुम्बन करवा दूँगा, यह भाव है ॥ ८१ ॥

अन्वय : कुरुभूमिभुक् तया सम्प्रयुक्तमृदुसूक्तमुक्तया श्रममुषा चक्षुषि प्रकटितानुरागया रुषा पद्मया इव रयात् संवृतः ।

अर्थ : इस प्रकार कहते हुए उस जयकुमारको जोश आ गया, तो वह पद्मा-की तरह परिश्रमकी परवाह न करनेवाली और आँखोंमें अनुराग धारण करने-वाली रोषकी रेखा द्वारा स्वीकार कर लिया गया। अर्थात् जयकुमार युद्धके लिए तैयार हो गया ॥ ८२ ॥

अन्वय : सोमसूनुः सतां प्रवरः खलु इति अतः श्रीकरे बाणभूषितां शुद्धवंशजनितां गुणान्विताम् उचितां धनुर्लता सन्दधौ ।

अर्थ : चूँकि जयकुमार निश्चय ही सज्जन पुरुषोंमें श्रेष्ठ माना जाता था,

विच्छिन्नताविवोवरहितेन वंशेन वेणुना जनितां निर्मिताम् । तथा शुद्धे वर्णसाङ्कर्यादिविरहिते वंशे कुले जनितां समुत्पन्नाम् । गुणेन प्रत्यञ्चया, अथवा सौरूप्यादिना अन्विता युक्ताम्, एवमुचितां योग्यां धनुर्लतां चापयष्टिं सन्दधौ । समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ८३ ॥

तस्य शुद्धतरवारिसञ्चरे शौर्यसुन्दरसरोवरे तरेः ।
ईक्षितुं श्रियमुदस्फुरद्भुजा शौचवर्त्मनि गुणेन नीरुजा ॥ ८४ ॥

तस्येति । तस्य जयकुमारस्य भुजा बाहुलता शुद्धा जंगवर्जिताऽसौ तरवारिरसिपुत्री तस्याः सम्यक् चरः प्रचारो यत्र तस्मिन् । शौर्यं वीरत्वमेव सुन्दरः सरोवरस्तस्मिन् । शौचस्य पवित्रत्वस्य सफलत्वस्य वा वर्त्मनि मार्गे नीरुजा रोगरहितेन गुणेन स्वास्थ्येन हेतुना तरेः नौकायाः श्रियं शोभामीक्षितुमुदस्फुरत् स्फुरणमाप । शुद्धतरमतिशुद्धं यद्वारि जलं तस्य सञ्चरः संग्रहो यस्मिंस्तस्मिन्निति च शुद्धतरवारिसञ्चरे इति पदस्यार्थः । श्लेषानुप्राणितो रूपकालङ्कारः ॥ ८४ ॥

राजमाष इव चारघट्टतो भेदमाप कटकोऽपि पट्टतः ।
यस्ततस्तु दररूपधारकः सम्भवन्निह स सूपकारकः ॥ ८५ ॥

इसलिए उसने चापयष्टि-सी अंगयष्टिधारिणी किसी युवतीके समान धनुर्लताको ग्रहण किया, अर्थात् धनुषका सन्धान किया। वह धनुर्लता शुद्ध वंश (बाँस) में उत्पन्न थी, गुण (प्रत्यञ्चा) से युक्त तथा समुचित थी और थी बाणोंसे युक्त। युवती भी शुद्ध-वंश या उत्तम कुलमें उत्पन्न, रूप-सौन्दर्यादि गुणोंवाली तथा समुचित (आकार-अवस्थावाली) होकर बाण यानी विवाह-दीक्षासे युक्त हुआ करती है। इस तरह श्लेषसे धनुर्लतापर युवतीके व्यवहारका समारोप करनेसे यहाँ समासोक्ति अलंकार बनता है ॥ ८३ ॥

अन्वय : तस्य भुजा शुद्धतरवारिसञ्चये शौर्यसुन्दरसरोवरे शौचवर्त्मनि नीरुजा गुणेन तरेः श्रियम् ईक्षितुम् उदस्फुरत् ।

अर्थ : उस जयकुमारकी भुजा शूर-वीरतारूप सरोवरमें, जो कि शुद्धतर वारि अर्थात् खड्गरूप निर्मल जलके संचारसे युक्त था, नौकारूपमें अपनी शोभा निहारनेके लिए स्फुरित हो उठी, अर्थात् नृत्य करने लगी। वह भुजा पवित्र मार्गपर (चलनेवाली) निर्मल स्वास्थ्यादि गुणोंसे युक्त थी ॥ ८४ ॥

अन्वय : कटकः अपि पट्टतः च अरघट्टतः राजमाषः इव भेदम्, आप । यः तु ततः दररूपधारकः सम्भवत् सः इह सूपकारकः (अभवत्) ।

राजभावेति। तदानोमेव अरघट्टः 'चक्की'ति लोकभाषायाम्, ततः। अथवा पट्टतोः लोष्ठतो राजमाष इव कटकः सेनासमूहोऽपि च। भेदं द्वैधीभावमाप। यस्तु पुनस्ततोऽर्ककीर्तिपार्श्वतो दररूपस्य ईषदाकारस्य धारकः; अथवा भयधारको यदीममर्ककीर्ति न सम्भालयेयं तदा क्व तिष्ठेयमिति भयत एव सम्भवन् स पुनरिह जयकुमारपार्श्वत सूपकारकः, सूपं व्यञ्जनं करोतीति सूपकारकः सूदः तथा सुष्ठु उपकारको मनसा सहायकरः। श्लेषपूर्वोपमालङ्कारः ॥ ८५ ॥

सोमजोज्ज्वलगुणोदयान्वयाः सम्बभुः सपदि कौमुदाश्रयाः।
येऽर्कतैजसवशंगताः परे भूतले कमलतां प्रपेदिरे ॥ ८६ ॥

सोमेति। सोमनामभूपात् तथा चन्द्राज्जातः सोमजस्तस्य च उज्ज्वलो निर्दोषो गुणः सहिष्णुतादिः। यद्वा—सोमजश्चासौ उज्ज्वलो गुणः प्रसादस्तस्य उदयं येऽनुयान्ति स्म ते सोमजोज्ज्वलगुणान्वयास्ते। सपदि शीघ्रमेव। कौमुदाश्रया, कौ भुवि मुदो हर्षस्याश्रयास्तथा कुमुदसमूहस्याश्रयाः सम्बभुः। किन्तु ये परे जनाः केवलमर्कस्य चक्रिसुतस्य सूर्यस्य वा तेजःसमूहस्तैजसं तस्य वशं गतास्तेऽस्मिन् भूतले धराङ्के कस्य आत्मनो मलतां मलिनभावं तथा कमलतां सरोजतां प्रपेदिरे। श्लेषालङ्कारः ॥ ८६ ॥

अर्थ : (इस प्रकार जब वह जयकुमार भी युद्धके लिए खड़ा हो गया तो) सारी सेनाके दो दल हो गये, जैसे घंटी या पत्थर द्वारा उड़दके दो दल हो जाते हैं। सो अर्ककीर्तिकी ओर तो वह दल भयधारक अथवा अल्पमात्रावाला होता हुआ भी जयकुमारकी ओर अत्यन्त उपकारी अर्थात् सहायक बन गया। यहाँ राजमाष यानी बड़े उड़दकी सेनाको उपमा देकर जयकुमारके युद्धमें उतर आनेपर घंटीसे दालकी तरह उसका दो टुकड़ोंमें बँट जाना बताया है। इसलिए आगे भी अर्ककीर्तिके पक्षमें वह दररूप = दाररूप यानी दालरूप बन गया। लेकिन जयकुमारके पक्षमें वह 'सूप' यानी खाद्यरूपमें बन गया, यह भाव कवि सूचित करना चाहता है ॥ ८५ ॥

अन्वय : सपदि सोमजोज्ज्वलगुणोदयान्वयाः कौमुदाश्रयाः सम्बभुः। (च) ये परे अर्कतैजसवशंगताः (ते) भूतले कमलतां प्रपेदिरे।

अर्थ : सोम या चन्द्रमाके गुणोंसे प्रेम रखनेवाले रात्रि-विकासी कुमुद होते हैं, जब कि कमल (अपने विकासके लिए) सूर्यके अधीन होते हैं। इसी प्रकार जयकुमार भी सोमनामक राजासे उत्पन्न और सहिष्णुतादि उज्ज्वल गुणोंसे युक्त थे। अतः उनके अनुयायी लोग शीघ्र ही कौमुदाश्रय हो गये। अर्थात् भूमण्डलपर हर्षके पात्र बने। किन्तु जो अर्ककीर्तिके प्रतापके अधीन यानी उसके

तत्र हेमसहिताङ्गदादिभिः स्वैः सहस्रतनयैः सुराडभीः ।
निर्जगाम सुतरामकम्पनः सत्सहायमरिवर्गकम्पनः ॥ ८७ ॥

तत्रेति । तत्र हेमसहितोऽङ्गदो हेमाङ्गद आदिर्येषां तैर्हेमाङ्गदादिभिः स्वैः सहस्रतनयैः पुत्रैः सह सुतरां स्वयमकम्पनो नाम सुराड्, नीतिमान्, अभीर्निर्भयोऽरिवर्गस्य शत्रुसमूहस्य कम्पनं वेपनं येन सः, सतो जयकुमारस्य सहायं कर्तुं निर्जगाम ॥ ८७ ॥

श्रीधरार्यमसुहृत्सुकेतुका देवकीर्तिजयवर्मकावकात् ।
दूरगा नयरयोत्थसम्मदाः सद्बलेन जयमन्वयुस्तदा ॥ ८८ ॥

श्रीधरेति । श्रीधरोऽर्यमासुहृत् सुकेतुरेव सुकेतुको देवकीर्तिर्जयवर्मैव जयवर्मक एते राजानो येऽकात् अन्यायाद् दूरगाः, नयस्य नीतिशास्त्रस्य रयो ज्ञानं तेनोत्थः सञ्जनितः समीचीनो मदो हर्षो येषां ते तथाभूता तदा समीचीनेन बलेन सहिताः सन्तो जयं जयकुमारमन्वयुरनुजग्मुः, तत्सहायका जाता इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

किञ्च मेघसहितप्रभोऽग्रणी खेचरैः कतिपयैः खगाग्रणीः ।
मेघनाथकतयैवेव तं तदाऽवाप्य तत्र सहकारितामदात् ॥ ८९ ॥

पक्षमें थे, वे कमलताको प्राप्त हुए। यानी उनके 'क' = आत्मामें मलिनता आ गयी। भावार्थ यह कि जयकुमारके पक्षवाले तो प्रसन्न हो उठे, पर अर्ककीर्तिके पक्षवाले निरागयी हो गये ॥ ८६ ॥

अन्वय : तत्र अभीः अरिवर्गकम्पनः सुतराम् अकम्पनः सुराट् हेमसहिताङ्गदादिभिः स्वैः सहस्रतनयैः सत्सहायं निर्जगाम ।

अर्थ : वहाँ निर्भय और शत्रुवर्गको कँपानेवाले महाराज अकम्पन हेमाङ्गद आदि अपने हजार पुत्रोंके साथ जयकुमारकी सहायताके लिए निकल पड़े ॥ ८७ ॥

अन्वय : तदा अकात् दूरगाः नयरयोत्थसम्मदाः श्रीधरार्यमसुहृत्सुकेतुकाः देवकीर्तिजयवर्मकौ च सद्बलेन जयम् अन्वयुः ।

अर्थ : इसके अतिरिक्त श्रीधर, अर्यमा, सुहृद्, सुहेतु, देवकीर्ति और जयवर्मा नामक राजा लोग भी, जो कि पापसे डरनेवाले थे, प्रसन्नतापूर्वक अपनी-अपनी सेना लेकर जयकुमारके पक्षमें आ मिले ॥ ८८ ॥

अन्वय : किं च मेघनाथकतया एव मेघसहितप्रभः अग्रणी खगाग्रणीः कतिपयैः खेचरैः (सह) तदा तम् अवाप्य तत्र सहकारिताम् अदात् ।

किञ्चेति । किञ्च मेघसहितः प्रभो मेघप्रभो नाम खगाग्रणीः खगानां विद्याधराणां प्रमुखो यश्चाग्रणी व्रणेन दूषणेन रहितः स कतिपयैः खेचरैः सह सम्भूय जयकुमारो मेघानां नाथो मेघेश्वरस्तत एव किल मेघनायकतयेव तं जयकुमारमवाप्य तत्र सहकारितामवाप्य वसवान् ॥ ८९ ॥

संविदम्बर इहात्मिभिः किण-धारिणः किल पुनीतपक्षिणः ।
स्वैरमाविहरतोऽस्य दक्षतां शिक्षितुं स्वयमपूरि पक्षता ॥ ९० ॥

संविदिति । संविदो रणस्याम्बरे रसे गगने वा स्वैरं यथेच्छमाविहरतः पर्यटतोऽस्य जयकुमारस्य । कीदृशस्य ? किणं गुणं विकीर्णधान्यकणं वा धरति स्वीकरोति तस्य । पुनीतो न्यायसम्मतः पक्षो विरोधो यस्य, तथा पुनीतौ पक्षौ गरुतौ यस्य तस्य पुनीतपक्षिणः । दक्षतां चतुरतां शिक्षितुं किलात्मिभिः विचारकारिभिः स्वयमेव पक्षता सहाय्योऽपूरि पूरिता । 'रणे सम्भाषणे संवित्, तथा 'अम्बरं रसे कार्पासे' इति च विश्वलोचनः । समासोक्तिः ॥ ९० ॥

नाथवंशिन इवेन्दुवंशिनः ये कुतोऽपि परपक्षशंसिनः ।
तैरपीह परवाहिनी धुता कृच्छ्रकाल उदिता हि बन्धुता ॥ ९१ ॥

नाथेति । नाथवंशिन इव इन्दुवंशिनः सोमवंशजाता ये नराः कुतोऽपि कारणात् परपक्षस्य अर्ककीर्तेः पक्षस्य शंसिनस्तैरपि इह तस्मिन्काले परस्य वाहिनी सेना धुता

अर्थ : और मेघप्रभ नामक विद्याधर, जो कि बड़ा शक्तिशाली, दोष-रहित और विद्याधरोंका मुखिया था, अपने कुछ योद्धाओंके साथ जयकुमारसे आ मिला और उसकी सहायता करने लगा, क्योंकि जयकुमार मेघेश्वर जो था ॥ ८९ ॥

अन्वय : आत्मिभिः दक्षतां शिक्षितुम् इह संविदम्बरे स्वैरम् आविहरतः किणधारिणः पुनीतपक्षिणः अस्य पक्षता अपूरि किल ।

अर्थ : विचारशील उसके आत्मीय वीरोंने युद्धमें दक्षता सीखनेके लिए युद्धरूपी गगनमें स्वैर-विहारी, गुणवान् और पवित्र पक्षवाले इस जयकुमारकी पक्षता धारण की। श्लेषसे आकाशमें उड़नेवाले पक्षीके व्यवहारका समारोप करनेसे यहाँ समासोक्ति अलंकार है ॥ ९० ॥

अन्वय : ये नाथवंशिनः इव इन्दुवंशिनः कुतः अपि परपक्षशंसिनः तैः अपि इह परवाहिनी धुता । हि कृच्छ्रकाले उदिता बन्धुता (भवति) ।

अर्थ : इसके अतिरिक्त जो नाथवंशी और सोमवंशी लोग अर्ककीर्तिकी सेना-

परित्यक्ता । हि यतः कृच्छ्रकाले विपत्तिक्षणे या किलोदिता प्राप्ता भवति सैव बन्धुता कथ्यते । 'उदितं सूदिते प्राप्ते' इति विश्वलोचनः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ९१ ॥

भूरिशः स्खलितदुर्हृदायुधा अस्ति नीतिरियमित्यमी बुधाः ।
मेरुवत्स्थिरतरास्तनूर्निजा वर्मयन्ति च वरं स्म बाहुजाः ॥ ९२ ॥

भूरिश इति । भूरिशोऽनेकवारं स्खलिता भ्रष्टा जाताः दुर्हृदामायुधा असयो यासु ताः मेरुवत्स्थिरतरा अपि निजा तनूः, वर्मधारणमस्माकं नीतिरिति किल अमी जयकुमार-पक्षीया बुधा विचारशीला बाहुजाः क्षत्रियास्ते वर्मयन्ति स्म । वरं प्रसन्नतापूर्वकम् । च पादपूर्तौ । जातिवर्णनमेतत् क्षत्रियाणाम् ॥ ९२ ॥

स्वीयबाहुबलगर्विता भुजास्फोटनेन परिनर्तितस्वजाः ।
सम्बभूवुरधिपाः सदोजसो बद्धसन्नहनकाः किलैकशः ॥ ९३ ॥

स्वीयेति । ये समीचीनस्य ओजसस्तेजसोऽधिपा अधिकारिणः क्षत्रियास्ते तदा स्वीय-बाहोर्बलेन गर्विताः सन्तो भुजाया आस्फोटनेन शब्दकरणेन परिनर्तितं स्वजं रक्तं यैस्ते च सन्तः । किलैकश एकैकं कृत्वा, बद्धाः संधृताः सन्नहनका कवचा यैस्ते सम्बभूवुः । क्षत्रिय-जातेर्वर्णनम् । 'स्वजः स्वेदे, स्वजं रक्ते' इति विश्वलोचनः ॥ ९३ ॥

में थे, वे भी उसकी सेना छोड़कर जयकुमारके साथ हो लिये । ठीक ही है, आपत्तिके समय जो उदित होती है यानी साथ देती है, वही बन्धुता है ॥ ९१ ॥

अन्वय : भूरिशः स्खलितदुर्हृदायुधः मेरुवत् स्थिरतराः अमी बाहुजाः च इयं नीतिः अस्ति इति निजाः तनूः वरं वर्मयन्ति स्म ।

अर्थ : जिन्होंने अनेक युद्धोंमें वैरियोंके शस्त्रोंको अनेकबार नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, ऐसे दृढ क्षत्रिय लोगोंने भी, जिनका शरीर सुमेरुके समान अडिग था, अपने शरीरोंको कवचसे आच्छादित कर लिया; क्योंकि युद्धमें कवच पहनना नीति कही गया है ॥ ९२ ॥

अन्वय : स्वीयबाहुबलगर्विताः सदोजसः अधिपाः भुजास्फोटनेन परिनर्तितस्वजाः किल एकशः बद्धसन्नहनकाः संबभूवुः ।

अर्थ : जिनको अपनी भुजाओंके बलका गर्व था और जो स्वाभाविक बलके धारक थे, ऐसे लोगोंने भुजास्फालन द्वारा और अपने शरीरका रक्त सचालित कर प्रसन्नतापूर्वक कवच धारण कर लिये ॥ ९३ ॥

सम्मदाद्रणपरैर्हि निर्घृणैः प्रस्फुरद्विगतसङ्गरव्रणैः ।
सुष्ठुशौर्यरससम्मितैस्तदा रेजिरे परिधृता उरश्छदाः ॥ १४ ॥

सम्मदादिति । तदा सम्मदाद्धर्षात्, रणपरैः सङ्ग्रामतत्परैः, निर्घृणैः निर्दयैः, प्रस्फुरन्तो विगतसङ्गरस्य पूर्वयुद्धस्य व्रणा येषां ते तैः । सुष्ठु शौर्यरसेन सम्मिता युक्तास्तैरपि परिधृताः परिहिता उरश्छदा वक्षःस्थलावरणकाः कवचा रेजिरे शुशुभिरे ॥ १४ ॥

हृष्यदङ्गमनुषङ्गतोऽङ्गना वीक्ष्य संहननरोधि सन्मनाः ।
कस्यचित् खलु मनोभवोद्भवदङ्कुरैर्द्रुतमितस्तिरोऽभवत् ॥ १५ ॥

हृष्यदिति । कस्यचित् सन्मना मनस्विनी विचारशीला अङ्गनाऽनुषङ्गतः प्रसङ्गवशात् मनोभवेन उद्भवद्भिरङ्कुरै रोमाञ्चैर्हृष्यदङ्गं यस्य तं समुल्लसितशरीरम् । अत एव संहननरोधि कवचधारणे बाधकं वीक्ष्य सा द्रुतमेव इतस्तिरोऽभवत् तिरोदधे ॥ १५ ॥

रेजिरे रदनखण्डितोष्ठया हस्तपातकलितोरुकोष्ठया ।
निर्गलत्सघनघर्मतोयया तेऽञ्चिताः खलु रुषा सरागया ॥ १६ ॥

रेजिर इति । ते सुभटास्तदा रुषा रोषपरिणत्या अञ्चिता आलिङ्गिता रेजिरे । कीदृश्या रुषेत्याह—रदनैर्दन्तैः खण्डित ओष्ठो यया तया । हस्तयोः पातेन निपातनेन कलित आलिङ्गित ऊर्वोर्जंघनयोरुपरिभागयोः कोष्ठो यया तया । निर्गलत् प्रोद्भवत् सघनमनल्पं

अन्वय : तदा सम्मदात् रणपरैः हि निर्घृणैः प्रस्फुरद्विगतसङ्गरव्रणैः सुष्ठु शौर्यरससम्मितैः परिधृता उरश्छदाः रेजिरे ।

अर्थ : प्रसन्नतापूर्वक संग्रामार्थ तत्पर और अत्यन्त कठोर योद्धागण भी, जिनके रणके पुराने घाव स्फुरित हो रहे थे, अपनी भव्य शूर-वीरताके रसके प्रभावमें आकर वक्षःस्थलाच्छादक कवचों से सुशोभित हो रहे थे ॥ १४ ॥

अन्वय : कस्यचित् सन्मनाः अङ्गना मनोभवोद्भवदङ्कुरैः अनुषङ्गतः हृष्यदङ्गं संहननरोधि खलु वीक्ष्य इतः द्रुतं तिरोऽभवत् ।

अर्थ : किसी शूर-वीरकी मनस्विनी विचारशीला स्त्रीने देखा कि मैं इसके सामने खड़ी हूँ, इसलिए स्वभावतः कामोद्भूत रोमांचोंके कारण यह कवच पहननेमें असमर्थ हो रहा है, तो वह वहाँसे शीघ्र ही एक ओर हट गयी ॥ १५॥

अन्वय : (तदा) रदनखण्डितोष्ठया हस्तपातकलितोरुकोष्ठया निर्गलत्सघनघर्मतोयया सरागया रुषा अञ्चिताः ते रेजिरे खलु ।

अर्थ : उस समय प्रेमभरे रोषकी मात्रासे आलिंगित वे योद्धागण बहुत ही भले दीखने लगे । उनके उस रोषने दाँतोंसे तो ओठोंको दबवाया है और हाथ

घर्मतोयं यथा तथा । रागेण अरुणिम्ना तथा प्रेम्णा सहिता सरागा तयेति, स्त्रीभावधारिण्या रुषेति भावः । खलु वाक्यपूर्तौ । समासोक्तिः ॥ ९६ ॥

निर्गमेऽस्य पटहस्य निःस्वनो व्यानशे नभसि सत्वरं घनः ।
येन भूभृदुभयस्य भीमयः कम्पमाप खलु सत्त्वसञ्चयः ॥ ९७ ॥

निर्गम इति । अस्य जयकुमारस्य निर्गमे प्रयाणसमये पटहस्यानकस्य निःस्वनः शब्दो घनोऽत्युच्चैः सत्वरं नभसि गगनमण्डले व्यानशे प्रससार, येन भूभृतां राज्ञां पर्वतानाञ्चेत्युभयस्य सत्त्वसञ्चय आत्मभावोपचयः प्राणिवर्गश्च, भीमयो भयपूर्णः सन् कम्पमाप प्राप्तवान् खलु ॥ ९७ ॥

सत्तुरङ्गमतरङ्गमञ्जुला निर्मलध्वजनिफेनवञ्जुला ।
मत्तवारणमदप्रवाहिनी निर्ययौ जयनृपस्य वाहिनी ॥ ९८ ॥

सत्तुरङ्गेति । जयनृपस्य वाहिनी सेना, सन्तः प्रशस्या ये तुरङ्गमास्त एव तरङ्गास्तैर्मञ्जुला मनोहरा । निर्मला या ध्वजास्ता एव निफेनानि तैर्वञ्जुला रम्या । तथा मत्तवारणानां प्रचण्डहस्तिनां मदं प्रवहतीति सा मत्तवारणमदप्रवाहिनी सा वाहिनीव नदीव निर्ययौ । रूपकालङ्कारः ॥ ९८ ॥

द्वारा ऊरुस्थलके ऊपरी कोष्ठों का स्पर्श कराया तथा शरीरसे घनीभूत घर्मबिन्दु (पसीना = सात्त्विकभाव) बहवाया । कविने यहाँ क्रोध के स्त्रीलिङ्गी पर्यायशब्द 'रुष्' से समासोक्ति की छटा बतायी है ॥ ९६ ॥

अन्वय : अस्य निर्गमे पटहस्य घनः निस्वनः सत्वरं नभसि व्यानशे, येन भूभृदुभयस्य सत्त्वसञ्चयः भीमयः सन् कम्पम् आप खलु ।

अर्थ : इस प्रकार सजधजके साथ जयकुमार निकला, तो उसकी भेरी की तेज आवाज शीघ्र ही सारे ब्रह्माण्डमें फैल गयी फलतः दोनों तरहके भूभृतों (राजाओं और पर्वतोंका) सत्त्वसंचय (आत्मभाव और प्राणिवर्ग) निश्चय ही भयभीत होकर काँपने लगा ॥ ९७ ॥

अन्वय : जयनृपस्य वाहिनी सत्तुरङ्गमतरङ्गमञ्जुला निर्मलध्वजनिफेनवञ्जुला मत्तवारणमदप्रवाहिनी निर्ययौ ।

अर्थ : जयकुमारकी वह सेना नदीकी तरह सुशोभित होती हुई चल पड़ी । सेनामें स्थित घोड़े तरंग-से बने । ध्वजाओंके पट फेनसदृश बने और हाथियोंका झरता हुआ मद-प्रवाह तो जल ही था ॥ ९८ ॥

अश्रुनीरमधुना सकज्जलमादधौ रिपुवधूपयोधरः ।
दिक्कुलं खलु रजोऽन्वितं-तदुत्पातमस्य गमनेऽरयो विदुः ॥ ९९ ॥

अश्रुनीरमिति । अधुनाऽस्य जयकुमारस्य गमने रिपूणां वैरिणां वध्वः स्त्रियस्तासां पयोधरः स्तनः, जातावेकवचनम्। कज्जलेन सहितं सकज्जलम्, अश्रुनीरमादधौ, धृतवान्। तथा दिशां कुलं समूहो रजसा तुरङ्गादिखुरोत्पतितधूल्याऽन्वितमभूत् । तदेवोत्पातं दुष्प्रयोगमस्य गमनेऽस्य शत्रवो विदुर्ज्ञातिवन्तः ॥ ९९ ॥

स्यन्दनैस्तु यदकृष्यतात्र भूर्वाजिराजशफटङ्कणाऽप्यभूत् ।
दानवारिभिरपूर्यतामकृन् मत्तहस्तिभिरमुष्य हेऽर्थकृत ॥ १०० ॥

स्यन्दनैरिति । हे अर्थकृत् पाठक, या भूः स्थली साऽमुष्य जयकुमारस्य स्यन्दनै रथैस्तु यत्तावदकृष्यत व्यदार्यत सैव भूर्वाजिराजानां श्रेष्ठहयानां शफैष्टङ्कणं खननमुच्छूनीकरणं यस्याः साऽप्यभूत् । तथा मत्तहस्तिभिरुन्मत्तगजैः असकृद् वारंवारं दानस्य मदस्य वारिभिरपूर्यत पूरिताऽभूत् । एवं तत्र जयकुमारस्य पुण्यप्रभावेण पूर्णा कृषिक्रिया अनायासेनैव जातेत्यर्थः । समुच्चयालङ्कारः ॥ १०० ॥

स्वर्णदीपयसि पङ्करूपतश्चन्द्रमस्यपि कलङ्करूपतः ।
गीयते मद इतीन्द्रसवृगजमस्तके जयबलोद्धतं रजः ॥ १०१ ॥

स्वर्णदीति । जयस्य जयकुमारस्य बलेन सेनया उद्धतमुच्चैर्गतं तद्रज इन्द्रस्य यः सवृगज ऐरावणस्तस्य मस्तके मद इति नाम्ना गीयते । स्वर्णद्या आकाशगङ्गायाः पयसि

अन्वय : अधुना अस्य गमने रिपुवधूपयोधरः सकज्जलम् अश्रुनीरम् आदधौ। दिक्कुलं खलु रजोऽन्वितम् आसीत् । अरयः तद् उत्पातं विदुः ।

अर्थ : जयकुमार द्वारा युद्धार्थ प्रयाणके समय शत्रुओंकी वधुओंके पयोधर कज्जलयुक्त आँसुओंकी बूँदोंसे छा गये । दसों दिशाएँ एवं आकाश धूलिसे व्याप्त हो गया । (लेकिन) शत्रुओंने इसे उसकी यात्रामें उत्पात समझ लिया ॥ ९९ ॥

अन्वय : हे अर्थकृत् ! अत्र अमुष्य स्यन्दनैः तु यत् भूः अकृष्यत, (सा) वाजिराजशफटङ्कणा अपि अभूत् । (च) मत्तहस्तिभिः दानवारिभिः असकृत् अपूर्यत ।

अर्थ : हे पाठक ! युद्धस्थलमें इस जयकुमारके रथों द्वारा जो भूमि खोदी गयी और घोड़ोंके खुरोंसे पोली बनायी गयी, उसे इसके हाथियोंके मदजलने बार-बार भर दिया ॥ १०० ॥

अन्वय : जयबलोद्धतं रजः स्वर्णदीपयसि पङ्करूपतः चन्द्रमसि अपि कलङ्करूपतः इन्द्रसवृगजमस्तके मदः इति गीयते ।

जले पङ्कस्य कूपतः कर्दमस्य मानतो गीयते । चन्द्रमसि कलङ्करूपतो गीयतेऽथापि । 'कूपोऽन्धुगर्तमृग्मानकूपते' इति विश्वलोचनः । एकस्य अनेकधा उल्लेखाद् अत्र उल्लेखालङ्कारः ॥ १०१ ॥

वस्तुतस्तु जडतापकारिणि सैन्ययानजनिता प्रसारिणी ।
धूलिराप खलु धूमतां वशिन् व्याप्तकाष्ठमुदितेऽस्य तेजसि ॥ १०२ ॥

वस्तुतस्त्विति । हे वशिन्, पाठक, वस्तुतस्तु पुनः सैन्यस्य यानेन गमनेन जनिता समुत्थिता प्रसारिणी प्रसरणशीला या धूलिः सा, व्याप्ताः समाक्रान्ताः काष्ठा दिशो येन तथा व्याप्तानीन्धनानि येन, तद्यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । उदिते, उदयंगतेऽस्य जयकुमारस्य तेजसि प्रतापेऽग्नौ वा, कीदृशे तेजसि, जडताया मूर्खताया जलसमूहस्य वाऽपकारिणि विध्वंसके तस्मिन् धूमताम् आप । श्लेषोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ १०२ ॥

कवचं समुवाह तावताऽपयशःसङ्घटितोपदेहवत् ।
परिवार इतोऽर्ककीर्तिकः समलिश्यामलमायसोचितम् ॥१०३॥

कवचमिति । तावतैव कालेन अर्ककीर्तिसम्बन्धी सोऽर्ककीर्तिकः परिवारोऽपि इत एकतोऽपयशसा संघटितं विनिर्मितं वपुरुपदेहं तद्वत् समलीनां प्रसिद्धभ्रमराणां सदृशं श्यामलं धूम्रवर्णं यतः किलायसेन लोहपरिणामेनोचितं निर्मितं कवचं सन्नाहं समुवाहाबहत् । उपमालङ्कारः ॥ १०३ ॥

अर्थ : उस समय जयकुमारकी सेनाके आघातसे जो धूल उड़ी, वह आकाश-गंगामें तो जाकर कीचड़ बनी, चन्द्रमामें पहुँचकर कलंक बनी और इन्द्रके हाथीके मस्तकपर जाकर उसने मदका रूप धारण कर लिया ॥ १०१ ॥

अन्वय : वशिन् वस्तुतस्तु जडतापकारिणि अस्य तेजसि व्याप्तकाष्ठम् उदिते सैन्य-यानजनिता प्रसारिणी धूलिः धूमताम् आप खलु ।

अर्थ : हे भाई ! सेनाके गमनसे उठी और आकाशमें फैली धूल वास्तवमें जड़ता या जलता को दूर करनेवाली तथा दिशाओंरूपा लकड़ियोंको व्याप्त करनेवाले जयकुमारके तेज रूपी अग्निका धुँआ थी ॥ १०२ ॥

अन्वय : इतः अर्ककीर्तिकः परिवारः अपि तावता अपयशःसङ्घटितोपदेहवत् समलिश्यामलम् आयसोचितं कवचम् समुवाह ।

अर्थ : इधर अर्ककीर्ति के परिवारने भी कवच धारण किये, जो कि लोहे के बने हुए थे, । अतः भौंरेके समान काले थे । वे अपयश द्वारा बने उपदेह के समान प्रतीत हो रहे थे ॥ १०३ ॥

अपि मन्दमुखेन धारितो नृपराज्ञावशवर्तिना शितः ।
कवचो नवचन्द्रमण्डलं विगिलन् राहुरिवावलोकितः ॥१०४॥

अपीति । अपि केनापि मन्दमुखेन अप्रसन्नेन उदासीनतया केवलं नृपरस्य सेनापते- राज्ञावशवर्तिना सता धारितः परिगृहीतः शितः श्यामलः कवचः स नवचन्द्रस्य मण्डलं विगिलन्नुदरस्थं कुर्वन् राहुरिव अवलोकितोऽनुभूतः । उपमालङ्कारः । १०४ ॥

अपरः परिमोहिणा कथं कथमप्यत्र चिरादुपाहृतम् ।
भृतिकेन भटो रुषाऽपिषत् कवचं हस्ततलद्वयेन तत् ॥ १०५ ॥

अपर इति । अपरः कोऽपि भटः परिमोहिणा आलस्यकारिणा भृतिकेनानुचरेण कथं कथमपि अनेकवारकथनानन्तरं चिरादतिविलम्बेन उपाहृतं लात्वा दत्तं तत्कवचं रुषा रोषे हस्ततलद्वयेन स्वकीयेनापिषत् चूर्णयाञ्चकार ॥ १०५ ॥

प्रियनर्मभृतो हठाद्धृतो वनितायाः करतो वरासिराट् ।
वलयं प्रलयं नयन्नयं शुचमुत्पादयति स्म घट्टितः ॥ १०६ ॥

अन्वय : अपि नृपराज्ञावशवर्तिना मन्दमुखेन धारितः शितः कवचः नवचन्द्र मण्डलं निगलन् राहुः इव अवलोकितः ।

अर्थ : अर्ककीर्तिकी सेनाके लोग कवच पहनना नहीं चाहते थे, किन्तु उन्हें आज्ञावश पहनना पड़ा । इस तरह उदास भावसे पहना वह कवच ऐसा लगा, मानो चन्द्रमाको निगलता हुआ राहु ही हो ॥ १०४ ॥

अन्वय : अपरो भटः अत्र परमोहिणा भृतिकेन कथं कथम् अपि चिरात् उपाहृतं कवचं रुषा हस्ततलद्वयेन अपिषत् ।

अर्थ : उसमेंसे कोई एक सुभटका सेवक, जो कि वास्तवमें कायर था, अनेक बार कवच मांगनेपर भी उसने बहुत देरसे लाकर दिया । अतः उस सुभटने क्रोधके कारण उसे हाथके तलुवेसे चूर-चूर कर डाला ॥ १०५ ॥

अन्वय : वनितायाः प्रियनर्मभृतः करतः हठात् धृतः अयं वरासिराट् घट्टितः वलयं प्रलयं नयन् शुचम् उत्पादयति स्म ।

अर्थ : दूसरा कोई योद्धा ऐसा था जिसकी स्त्री प्रेमवश उसे अपने हाथसे तलवार नहीं दे रही थी । अतः उन सुभटने जबरदस्ती उससे तलवार छीन ली । फलतः उससे टकराकर खाकर उस नारीका कंगन टूट गया जिसने भावी अशुभसे चिन्तित कर दिया ॥ १०६ ॥

प्रियेति । प्रियश्च तत्प्रमं बिभर्ति सा प्रियनर्मभृन्मनोज्ञवाचूक्तिकारिणीत्यर्थः । तस्याः प्रियनर्मभृतो वनितायाः करतो हस्ताद्धठाद् वेगेन हृतो यो वरासिराट् श्रेष्ठखड्गो वह्नितः प्रलग्नः सन् वलयं कङ्कणं प्रलयं नयन् विनाशयन्नयं शुचमुत्पादयति स्म । किमित्य-नेन दुर्निमित्तेनाग्रे भविष्यतीति चिन्ताकरोऽभूदिति ॥ १०६ ॥

जगराग्रनिघट्टनेन वा सहसा त्रुट्यदुदारहारकम् ।
अवलोक्य शुशोच कामिनस्तनुसंवर्मयनक्षणेऽङ्गना ॥ १०७ ॥

जगराग्रेति । अपराङ्गना कामिनः स्वामिनस्तनोः शरीरस्य संवर्मयनक्षणे कवचि-तावरणकाले जगराग्रस्य कवचप्रान्तस्य निघट्टनेन सङ्घट्टेन सहसाऽकस्मात् त्रुटयन् भङ्गं व्रजेश्चासौ उदारः प्रशस्तो यो हारो मौक्तिकसरस्तं त्रुटयदुदारहारकमवलोक्य दृष्ट्वा शुशोचाशोचत् ॥ १०७ ॥

बलसम्बलसंग्रहं मयोऽनयदेवं जयदेवविद्विषः ।
द्रुतमुत्पतनं स्वपृष्ठगं पटहादुद्विजितोऽतिभैरवात् ॥ १०८ ॥

बलेति । जयदेवविद्विषोऽर्ककीर्तेर्मयः समप्रवानुष्ट्रोऽतिभैरवाद भीषणात् पटहादानकात् उद्विजित उद्वेगमवाप्तः सन् स्वपृष्ठगमात्मपृष्ठोपरि स्थितं बलस्य सेनायाः संबलसंग्रहो-ऽन्नादिवस्तुसमूहस्तं द्रुतमेवोत्पतनमनयत्, शीघ्रमेव पातयामास ॥ १०८ ॥

सम्मूर्छितां हयशफाहतिभिर्भवन्ती-
मुर्वीं दिशो ध्वजपटैरुत वीजयन्ति ।
इत्यश्विनीसुतसमानयनाय नाम
धूलिर्जगाम सहसैव सुधाशिधाम ॥ १०९ ॥

अन्वय : अङ्गना कामिनः तनुसंवर्मनयनक्षणे जगराग्रनिघट्टनेन वा सहसा त्रुटयत् उदारहारकम् अवलोक्य शुशोच ।

अर्थ : कोई अन्य स्त्री अपने स्वामीको कवच पहना रही थी तो उससे टकराकर एकाएक उसके गलेका सौभाग्य हार टूटकर बिखर गया, जिसे देख भावी अशुभकी आशंकासे वह सिहर उठी ॥ १०७ ॥

अन्वय : जयदेवविद्विषः मयः अतिभैरवात् पटहात् उद्विजितः एवं द्रुतं स्वपृष्ठगं बलसंबलसंग्रहम् उत्पतनम् अनयत् ।

अर्थ : अर्ककीर्तिकी सेनाके खाने पीनेका सामान जिस ऊँटपर लदा था, उसने युद्धके समय नगाड़ेकी भीषण ध्वनि सुन उसे नीचे गिरा दिया ॥ १०८ ॥

सम्मूर्छितामिति । हयशफानामश्वखुराणामाहतयः प्रघातास्ताभिः सम्मूर्छितां मरणोन्मुखीमुर्वीं भुवं दिशः काष्ठाः सर्वा अपि ध्वजानां पटैर्वस्त्रैर्वीजयन्ति किमुत वायुनाक्षिपन्ति किमु ? अथ धूलिस्तथाऽश्विनीकुमारयोः वैद्यराजयोः समानयनाय आह्वानाय सहसैव शीघ्रमेव सुधाशिनां देवानां धाम स्वर्गं जगाम, उतेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १०९ ॥

अनुकूलमरुत्प्रसारितैरुपहूता किल केतनाञ्चलैः ।
अतिवेगत उद्यदायुधा अभिभूपानरयः प्रपेदिरे ॥ ११० ॥

अनुकूलेति । अनुकूलेन मरुता वायुना प्रसारितैः केतनानामञ्चलैर्ध्वजप्रान्तभागैरुपहूताः समाहूता इव किलारयः शत्रवोऽतिवेगतः शीघ्रतरमेव यथा स्यात्तथोद्यन्त उच्चैर्भवन्त आयुधा असयो येषां ते तथाभवन्तो भूपानभि भूपालानां सम्मुखं प्रपेदिरे जग्मुः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ११० ॥

परकीयबलं प्रति प्रभोः कटको निष्कपटस्य विद्विषम् ।
अधिकत्वरयाऽतिसाहसी गतवानोतुरिवाभिमूषकम् ॥ १११ ॥

परकीयेति । प्रभोः जयकुमारस्य कटकः सेनावर्गोऽतिसाहसी परमोत्साहवान् निष्कपटस्य कपटवर्जितस्य, पक्षे निष्कपटस्य बहुमूल्यवस्त्रस्य विद्विषं वैरिणं परकीयबलं प्रति मूषकमभि, ओतुः बिडाल इवाधिकत्वरया अत्यन्तवेगेन गतवान् जगाम । उपमालङ्कारः ॥ १११ ॥

अन्वय : उत हयशफाहतिभिः सम्मूर्छितां भवन्तीम् उर्वीं दिशः ध्वजपटैः वीजयन्ति इति धूलिः अश्विनीसुतसमानयनाय नाम सहसा एवं सुधाशिधाम जगाम ।

अर्थ : घोड़ोंके खुरोंकी आहटसे मूर्छित पृथ्वीरूपी स्त्रीको दसों दिशाएँ ध्वजाके वस्त्रोंसे पंखा करने लगीं । यह देख उनके खुरोंकी धूल भी अश्विनीकुमारोंको लानेके लिए ही मानो स्वर्गमें चली गयी ।। १०९ ।।

अन्वय : अनुकूलमरुत्प्रसारितैः केतनाञ्चलैः किल उपहूताः अरयः अतिवेगतः उद्यदायुधा भूपान् अभि प्रपेदिरे ।

अर्थ : जयकुमारके कटकके लिए जो अनुकूल हवा चल रही थी, उसके द्वारा हिलते हुए ध्वजपटोंसे आमन्त्रित शत्रु लोग जयकुमारके सुभटोंके पास आयुध लेकर आ पहुँचे ।। ११० ।।

अन्वय : प्रभोः अतिसाहसी कटकः निष्कपटस्य विद्विषं परकीयबलं प्रति अधिकत्वरया अभिमूषकं ओतुः इव गतवान् ।

अर्थ : इधर जयकुमारका जो कटक था, वह भी जिस प्रकार चूहेपर बिल्ला

मदान्धो गौरवाढ्यः सन्नर्कस्तस्थौ ततोऽमुतः ।
लाघवेन स्फुरत्तेजा हरिवत्करिपूष्पतिः ॥ ११२ ॥

मदान्ध इति । तत एकतो मदान्धो व्यर्थमेवाभिमानमत्तो गौरवेण महत्तयाढ्यो युक्तस्ततोरवाढ्यो नादयुक्तोऽर्को गोवृषभ इव सन् भवन्, तस्थौ स्थितिं चकार । अमुतस्ततः पुनर्लाघवेन विनीतभावेन स्फूर्त्या वा स्फुरत्प्रभावो यस्य स हरिवत् सिंह इव करिपूष्पतिर्जयकुमारस्तस्थौ । सश्लेषोपमालङ्कारः ॥ ११२ ॥

सम्राजस्तुक् खलु चक्राभं बलवासं
मकराकारं रचयञ् श्रीपद्माधीट् च ॥
रणभूमावभ्रे च खगस्तार्क्ष्यप्रायं,
यत्नं सङ्ग्रामकरं स्माश्नाति च प्रायः ॥ ११३ ॥

सम्राज इति । सम्राजस्तुक् पुत्रोऽर्ककीर्तिः खलु रणभूमौ स्वस्य बलस्य वासं चक्राभं चक्रव्यूहरूपं रचयन् कुर्वन्, तथा श्रीपद्मायाः सुलोचनाया अधीट् स्वामी जयकुमारः स बलवासं मकराकारं मकरव्यूहात्मकं रचयन् सन्नेवं च पुनः खगो विद्याधरः सोऽभ्रे गगने तार्क्ष्यप्रायं गरुडव्यूहात्मकं स्वसैन्यं रचयन् सन् सङ्ग्रामकरं यत्नमश्नाति स्म गतवान् । प्रकृष्टो यो विधिः प्रायः स्मृत इति कोशः ॥ ११३ ॥

झपटती है, उसी प्रकार अर्ककीर्तिकी सेनापर वेगके साथ झपटा । यहाँ 'निष्कपट' शब्दमें श्लेष चमत्कार है । अर्थात् चूहा तो निष्कपटका—रेशमी वस्त्रका द्वेषी होता है और अर्ककीर्तिका दल कपट रहित जयकुमारका द्वेषी था ॥ १११ ॥

अन्वय : ततः गौरवाढ्यः मदान्धः अर्कः अमुतः हरिवत् लाघवेन स्फुरत्तेजाः करिपूष्पतिः (च) तस्थौ ।

अर्थ : एक तरफ तो गौरवाढ्य (आवाज करता हुआ साँड़) और मदान्ध अर्ककीर्ति था तो दूसरी तरफ उसका सामना करनेके लिए लघुता स्वीकार किये, किन्तु स्वाभाविक तेजका धारक सिंहके समान जयकुमार खड़ा हो गया ॥ ११२ ॥

अन्वय : रणभूमौ सम्राजस्तुक् खलु प्रायः बलवासं चक्राभं च पुनः श्रीपद्माधीट् मकराकारं रचयन् अभ्रे च खगः तार्क्ष्यप्रायं संग्रामकरं यत्नं अश्नाति स्म ।

अर्थ : अर्ककीर्तिने तो प्रधानतासे नया अपनी सेनाका 'चक्रव्यूह' किया तो इधर जयकुमारने 'मकरव्यूह' किया । आकाशमें मेघप्रभ विद्याधरने अपीन

एतद्वृत्तं चक्रात्मकचक्ररूपं कृत्वा प्रस्तराकारैः समरसंचय इति सर्गविषयनिर्देशो भवति ॥ ११३ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरीदेवी च यं धीचयम् ॥
स्याङ्मिथ्याभिनिवेशिनां विवरणप्रोद्धारणे द्रुतमः,
सञ्छेदिन्ययमेति सर्ग उदिते तेनाधुना सप्तमः ॥ ७ ॥

इति जयोदयमहाकाव्ये सप्तमः सर्गः

सेनाका गरुड़व्यूह बनाकर रखा। इस तरह प्रायः सभी संग्रामके लिए तैयार हो गये ॥ ११३ ॥

यह समरसंचय (युद्धकी तैयारी) नामका चक्रबन्धवृत्त है।

अथ अष्टमः सर्गः

चमूसमूहावथ मूर्तिमन्तौ परापराब्धी हि पुरः स्फुरन्तौ ।
निलेतुमेकत्र समीहमानौ संजग्मतुर्गर्जनया प्रधानौ ।। १ ।।

चमूसमूहाविति : अथ मूर्तिमन्तौ शरीरधारिणौ परश्चाऽपरश्च परापरौ यौ अब्धी समुद्रौ हि किल पुरोऽग्रतः स्फुरन्तौ यत एकत्र निलेतुं लयं गन्तुं समीहमानौ गर्जनया प्रधानौ शब्दं कुर्वाणौ चमूसमूहौ संजग्मतुः ।। १ ।।

साध्ये किलालस्यकलां निहन्तुं निशम्य सेनापतिशासनं तु ।
अताडयत्तत्पटहं विपश्चित् कृतागसश्चित्तमिवाशु कश्चित् ।। २ ।।

साध्य इति : तत्र किल साध्ये युद्धकार्ये, आलस्यस्य विलम्बस्य कलामंशं निहन्तुं दूरीकर्तुं सेनापतेः शासनमाज्ञां निशम्य श्रुत्वा कश्चिद् विपश्चित् कृतमागोऽपराधो येन तस्य चित्तमिव तद् युद्धसूचकं पटहमानकमाशु शीघ्रमताडयत् ताडितवान् ।। २ ।।

यूनोऽप्यसूनोरपि तावताशु बभूव सा तुल्यतयैव कासूः ।
करे नरस्याप्यधरे परस्याऽसौ केवलं तत्र भिदा निदृश्या ।। ३ ।।

अन्वय : अथ पुरः स्फुरन्तौ मूर्त्तिमन्तौ परापराब्धी हि एकत्र निलेतुं समीहमानौ गर्जनया प्रधानौ संजग्मतु ।

अर्थ : अब सामने स्फुरित हो रहे दोनों ओरके सेना दल चल पड़े। वे मानों मूर्तिमान् पूर्व और अपर समुद्र ही हों और गर्जनापूर्वक एक जगह आकर लीन हो जाना चाहते हों।। १ ।।

अन्वय : साध्ये किल आलस्यकलां निहन्तुं सेनापतिशासनं तु निशम्य कश्चित् विपश्चित् कृतागसः चित्तम् इव आशु तत्पटहम् अताडयत् ।

अर्थ : वहाँ निश्चय ही युद्ध कार्यमें होनेवाला आलस्य दूर करने के लिए सेनापतिकी आज्ञा सुनकर किसी समझदार आदमीने किसी अपराधी के चित्तकी तरह युद्ध सूचक नगाड़ा बजा दिया ।। २ ।।

अन्वय : तावता यूनोः असूनोः अपि तुल्यतया एव सा कासूः आशु बभूव । तत्र केवलम् असौ भिदा निदृश्या यत् नरस्य करे परस्य च अधरे ।

यून इति : तत्र युद्धपटहं श्रुत्वा यूनस्तरुणस्य पुत्रवतोऽपि चासूनोरपुत्रस्यापि तुल्यतयैव समानरूपत एवाशु तावता पटहश्रवणेन सा कासूर्बभूव अपि तु पुनरसौ केवलं तत्र भिदा भिन्नता निवृश्या दर्शनीया बभूव यत्किल नरस्य सा कासूः शक्तिः करे बभूवापि परस्य कातरस्य सा कासूर्दीना वागधर ओष्ठे बभूव ॥ ३ ॥

दूरात् समुत्क्षिप्तभुजध्वजानां रेजुः पताका इव पद्गतानाम् ।
क्रुधा युधर्थं सरतां रणे खात्तिर्यग्गतायाततयाऽसिलेखाः ॥ ४ ॥

दूरादिति : दूरादेव समुत्क्षिप्ता उत्थापिता भुजा एव ध्वजा येस्तेषां पद्गतानां पत्तीनां क्रुधा क्रोधेन युधर्थं संग्रामार्थं रणे युद्धस्थले सरतां खाद् गगनात् तिर्यग्गता आयाताश्च तासां भावस्तत्ता तया असिलेखास्तरवारिततयः पताका इव रेजुः । रूपकालङ्कारः ॥ ४ ॥

य एकचक्रस्य सुतोऽत्र वक्रः स्यान्नश्चतुश्चक्रतयैव शक्रः ।
जयो जयस्याथ समुन्नताङ्गाश्चीच्चक्रुरित्यत्र जवाच्छताङ्गाः ॥ ५ ॥

य इति : एकं चक्रं सुदर्शनाख्यं यस्य स एकचक्रस्तस्य सुतोऽर्ककीर्तिः सोऽत्र वक्रो दुष्टः किन्तु नोऽस्माकं चतुःचक्रतयैव तदपेक्षया चतुर्गुणतयैव किल नः शक्रस्वामी जयो जयकुमारः स जयस्य विजयस्य शक्रः स्यादिति किल समुन्नतान्यङ्गानि येषां ते समुन्नताङ्गाः शताङ्गा रथा. अत्र युद्धस्थले चीच्चीत्कारं जवाद्वेगात् चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५ ॥

अर्थ : उस युद्ध-ध्वनिको सुनकर वीर तरुण पुत्रवान् और अपुत्रवान् निर्बल बूढ़ोंमें शीघ्र ही समान रूपसे ही वह विलक्षण कासू (शक्ति या कायर वाणी) पैदा हो उठी भेद केवल इतना हो था कि एक (वीर) के तो हाथमें कासू या शक्ति संचलित हो उठी तो दूसरे (कायरों) के होठों पर कायरवाणी (कासू) थी ॥ ३ ॥

अन्वय : रणे क्रुधा युधर्थं सरतां दूरात् समुत्क्षिप्तभुजध्वजानां पद्गतानां असिलेखाः खात् तिर्यग्गतायाततया पताकाः इव रेजुः ।

अर्थ : दूरसे ही भुजा रूपी ध्वजा उठाने वाले और युद्धके लिये आगे बढ़नेवाले पैदलोंकी तलवारें आकाशमें तिरछी और लम्बी लपलपा रही थी, जिससे वे पताकाओंके समान प्रतीत होती थीं ॥ ४ ॥

अन्वय : अथ एकचक्रस्य सुतः अत्र वक्रः स्यात् । चतुश्चक्रतया एव न जयः जयस्य शक्रः स्यात् इति समुन्नताङ्गाः शताङ्गाः जवात् चीच्चक्रुः ।

अर्थ : इसके बाद उन्नत अंगों वाले शताङ्ग मानो कहते हुए मानों चीत्कार करने लगे कि आज यहाँ एक सुदर्शन चक्रवाले चक्रवर्तीका पुत्र अर्ककीर्ति दुष्ट

नभोऽत्र भो त्रस्तमुदीरणाभिर्भवद्भटानामतिदारुणाभिः ।
सुभैरवैः सैन्यरवैः करालवाचालवक्त्रैरिव पूच्चकार ॥ ६ ॥

नभ इति : भो पाठकाः, अत्र युद्धस्थले भटानामतिदारुणाभिरुदीरणाभिः मारय ताडयेत्याद्याकाराभिरुक्तिभिस्त्रस्तं भवत् त्रासं गच्छत् नभो गगनं स्वयमेव करालानि भयदायकानि च वाचालानि वाग्बहुलानि वक्त्राणि मुखानि यत्र तैः सुभैरवैरुग्ररूपैः शब्दैः पूच्चकारेव भयानकं कोलाहलं चकारेत्यर्थः ॥ ६ ॥

आयोधनं धीरबुधाधिवासं विभीषणं चेति भयातुराशः ।
रजोऽन्धकारे जडजाधिनाथश्छन्ने न किं गोपतिरेष चाथ ॥ ७ ॥

आयोधनमिति : आयोधनं युद्धमिदं धीराणां धैर्यशालिनां बुधानां बुद्धिमताञ्चाधिवासं वासस्थानं यत्र तद्भवति विभीषणं भयदायकञ्चेति किल भया प्रभया तथा भयेनातुराः पूर्णा आशा दिशोऽभिलाषा वा यस्य स जडजानां कमलानां मूर्खाणां वाधिनाथः स्वामी गवां किरणानां पशूनां वा पतिरेष सूर्यो रजसा भटानां चरणोत्थितेन पांशुना कृतोऽन्धकारस्तस्मिन् किन्न छन्नो जातो अपि तु सर्व एव छन्न इत्यर्थः । "अथाथो च शुभे प्रश्ने साकल्यारम्भसंशये" इति विश्वलोचनः । श्लेषात्मकोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ७ ॥

हो रहा है, तो भले ही हो कोई परवाह नहीं, हम तो चार चक्रवाले हैं । अतः हमारे राजा जयकुमार ही विजयके स्वामी बनेंगे ॥ ५ ॥

अन्वय : भोः अत्र भटानाम् अतिदारुणाभिः उदीरणाभिः त्रस्तं नभः करालवाचालवक्त्रैः सुभैरवैः सैन्यरवैः पूच्चकार इति ।

अर्थ : आकाशने भी योद्धाओंकी भयंकर आक्रमणशीलतासे त्रस्त होकर (घबराकर) उस समय सेनाके अत्यन्त भयंकर शब्दोंके व्याजसे पुकार करना शुरू किया ॥ ६ ॥

अन्वय : अथ च एषः गोपतिः जडजाधिनाथः आयोधनम् धीरबुधाधिवासं विभीषणं च इति भयातुराशः रजोऽन्धकारे छन्नः किं न (बभूव) ।

अर्थ : यह युद्धस्थल तो धीर और बुद्धिमान् लोगोंके निवासके योग्य है मानों ऐसा सोचकर ही जडजोंका (कमलोंका या मूर्खोंका स्वामी) गोपति (बैल हांकनेवाला या किरणोंका स्वामी) सूर्य डरके मारे उठी धूलके अन्धकारमें छिप गया ॥ ७ ॥

उद्धूतसद्धूलिघनान्धकारे शम्पा सकम्पा स्म लसत्युदारे ।
रणाङ्गणे पाणिकृपाणमाला चुकूजुरेवं तु शिखण्डिबालाः ॥ ८ ॥

उद्धूतेति । उद्धूता समुत्थिता या सद्धूलिश्चरणरेणुस्तया घनो निबिडोऽन्धकारो यस्मिन्, तथा स एव घनस्वरूपो मेघात्मकोऽन्धकारो यस्मिंस्तस्मिन्नुदारे सविस्तरे गगनसदृशे रणाङ्गणे युद्ध्यमानानां योधानां पाणिषु हस्तेषु या कृपाणानां खड्गानां माला सैव कम्पसहिता सकम्पा शम्पा विद्युदेवं मत्वा शिखण्डिनां केकिनां बालाश्चुकूजुः केकारवमकुरित्यर्थः । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥ ८ ॥

रविश्च विच्छाद्य रजोऽन्धकारो नभस्यभूत् प्राप्ततमाधिकारः ।
युध्यत्प्रवीरक्षतजप्रचारः सायं श्रियस्तत्र बभूव सारः ॥ ९ ॥

रविश्चेति । नभसि गगनेऽत्यधिकत्वेन प्राप्तः प्राप्ततमोऽधिकारो येन सः, रविश्च सूर्यमपि विच्छाद्य गोपयित्वा रजसा जन्योऽन्धकारो रजोऽन्धकारोऽभूत्, तत्र युध्यमानानां युद्धं कुर्वतां प्रवीराणां सुभटानां क्षतजस्य रक्तस्य प्रचारो यो बभूव स एव सायंश्रियः सन्ध्याकालीनारुणिमशोभाया सारो बभूव । रूपकालङ्कारः ॥ ९ ॥

सवेगमाक्रान्ततमाश्च वीरैर्निषेधिकामाहुरिवाथ धीरैः ।
भेरीप्रतिध्वानविधानजन्यां रजस्वलाः सम्प्रति दक्षकन्याः ॥ १० ॥

सवेगमिति । अथात्र रणाङ्गणे च धीरैर्वीरैर्युद्धकरणशीलैः सवेगं सरभसमाक्रान्ता

अन्वय : उद्धूतसद्धूलिघनान्धकारे उदारे रणाङ्गणे पाणिकृपाणमाला सकम्पा लसति स्म। (सा) शम्पा एवं तु शिखण्डिबाला चुकूजुः ।

अर्थ : उड़ी हुई धूलीके कारण मेघकी तरह अन्धकाराच्छन्न विशाल रणाङ्गणमें योद्धाओंके हाथोंमें कम्पमान तलवारोंकी माला चमक रही थी । किन्तु मोरोंके बच्चे उन्हें बिजली समझकर केकावाणी बोलने लगे ॥ ८ ॥

अन्वय : तत्र रजोऽन्धकारः रविं च विच्छाद्य नभसि प्राप्ततमाधिकारः अभूत् । तत्र च युद्ध्यत्प्रवीरक्षतजप्रचारः सायंश्रियः सारः बभूव ।

अर्थ : उस समराङ्गणमें उठी धूलने सूर्यको भी ढँक लिया और वह सारे आकाशपर छा गयी । ऐसी स्थितिमें संग्राम कर रहे वीरोंके शरीरसे निकलनेवाली रक्तकी धाराओंने वहाँ सन्ध्याकी शोभाका सारसर्वस्व पा लिया ॥ ९ ॥

अन्वय : अथ संप्रति रजस्वलाः धीरैः वीरैः च सवेगम् आक्रान्ततमाः दक्षकन्याः भेरीप्रतिध्वानविधानजन्यां निषेधिकाम् इव आहुः ।

उपढौकिताऽऽक्रान्ततया रजोधर्मयुक्ता रेणुबहुला वा दशकन्याश्चतुराः स्त्रियो वा दिशाश्च सम्प्रति तत्कालमेव भेरीणां प्रतिध्वानस्य ध्वनेरुत्तरध्वानस्य यद्विधानमुत्पादनं तज्जन्यां तज्जातिकां निषेधिकामाहुरूचुः। रजस्वलायाः स्पर्शनमप्यनुचितं किं पुनरालिङ्गनं बहुरोगकरं यद्भुभयत्रेति। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १० ॥

समुद्ययौ संगजगं गजस्थः पत्तिः पदातिं रथिनं रथस्थः।
अश्वस्थितोऽश्वाधिगतं समिद्धं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ ११ ॥

समुद्ययाविति। तस्मिन् युद्धे गजस्थो हस्त्यारूढः संगजगं गजारूढं समुद्ययौ सञ्चक्राम, पत्तिः पादचारी पदातिमाचक्राम। रथी स्यन्दनस्थो रथिनं रथारूढमक्रामत्। अश्वस्थितोऽश्ववारः अश्वाधिगतं तुरगारूढमाक्रामत्। इत्थं तुल्यः प्रतिद्वन्द्वी प्रतिवीरो यस्मिंस्तत् समिद्धं तुमुलं युद्धं बभूव ॥ ११ ॥

द्वयोः पुनश्चाहतिमुज्जगाद प्रपक्षयोरायुधसन्निनादः।
प्रोल्लासयन् सड्ड्मरुप्रसिद्ध-सूत्राङ्कवद् वीरनटान् समिद्धः ॥ १२ ॥

द्वयोरिति। द्वयोः प्रपक्षयोर्वीरनटान् वीरा एव नटास्तान् प्रोल्लासयन् उत्साहितान् कुर्वन् समिद्धोऽत्युदारो य आयुधानां सन्निनादः कडकडाशब्दः स सड्डमरोर्वाद्यविशेषस्य यः प्रसिद्धः सूत्राङ्कस्तद्वत् पुनर्वारं वारमाहतिमाघातमुज्जगाद ॥ १२ ॥

अर्थ : उस समय सभी दिशाएँ रजस्वला (धूलीयुक्त) हो गयी थीं। अतएव सहसा धीर-वीरों द्वारा आक्रान्त हो जानेपर वे युद्ध-भेरीको प्रतिध्वनिके व्याजसे मानों उन्हें मना रही थीं क्योंकि रजस्वलाका स्पर्श निषिद्ध माना गया है ॥ १० ॥

अन्वय : (तस्मिन्) गजस्थः सङ्गजगम्, पत्तिः पदातिम्, रथस्थः रथिनम्, अश्वस्थितः अश्वाधिगतं समुद्ययौ, इति तुल्यप्रतिद्वन्द्वि, समिद्धं युद्धं बभूव।

अर्थ : उस युद्धमें गजाधिपके साथ गजाधिप, पदातिके साथ पदाति, रथारूढके साथ रथारूढ और घुड़सवारके साथ घुड़सवार जूझ पड़े। इस प्रकार अपने-अपने समान प्रतिस्पर्धीके साथ भीषण युद्ध हुआ ॥ ११ ॥

अन्वय : समिद्धः आयुधसन्निनादः सड्डमरु प्रसिद्धसूत्राङ्कवत् द्वयोः प्रपक्षयोः वीरभटान् प्रोल्लासयन् च पुनः आहतिम् उज्जगाद।

अर्थ : उस समय इधर-उधर चलती तलवारों की जो ध्वनि हो रही थी, वह दोनों ओरके योद्धारूप नटोंको उल्लसित करती हुई डमरूका काम कर रही थी ॥ १२ ॥

अभ्रयत्स्फुटित्वोल्लसनेन वर्म नाज्ञातमाज्ञातरणोत्थशर्म ।
प्रयुध्यता केनचिदादरेण रोमाञ्चितायाञ्च तनौ नरेण ॥ १३ ॥

भ्रश्यदिति । आदरेण उत्साहपूर्वकं प्रयुध्यता युद्धमाचरता केनचिन्नरेण आज्ञातमनुभूतं रणोत्थशर्म युद्धजनितं सुखं यत्र तद्यथा स्यात्तथा तनौ शरीरलतायां रोमाञ्चितायां सत्यामुल्लसनेन उल्लासभावेन स्फुटित्वा भिन्नीभूय भ्रश्यन्निपतद् यद्वर्म कवचं तदपि न ज्ञातं नानुभूतम् युद्धसंलग्नताऽनेन प्रोक्ता ॥ १३ ॥

नियोधिनां दर्पभृदर्पणालैर्यद् व्युत्थितं व्योम्नि रजोऽङ्घ्रिपालैः ।
सुधाकशिम्बे खलु चन्द्रबिम्बे गत्वा द्विरुक्ताङ्कतया ललम्बे ॥ १४ ॥

नियोधिनामिति । नियोधिनां संग्रामं कुर्वतां दर्पभृदुत्साहसहिता चासौ अर्पणा प्रोत्क्षिप्तिस्तां लान्ति स्वीकुर्वन्ति तैरङ्घ्रिपालैः पादविक्षेपैः यद्रजो व्योम्नि नभसि व्युत्थितं तदेव गत्वा सुधाकशिम्बेऽमृतात्मकच्छत्रे चन्द्रबिम्बे द्विरुक्तो द्विगुणीकृतोऽङ्कः कलङ्को येन तत्तया ललम्बे लग्नमभूत् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १४ ॥

एके तु खड्गान् रणसिद्धिशिङ्गाः परे स्म शूलाँस्तु गदाः समूलाः ।
केचिच्च शक्तीर्निजनाथभक्तियुक्ता जयन्तीं प्रति नर्तयन्ति ॥ १५ ॥

अन्वय : केनचित् आदरेण प्रयुद्ध्यता नरेण रोमाञ्चितायां तनौ उल्लसनेन स्फुटित्वा भ्रश्यत् वर्म आज्ञातरणोत्थशर्म न आज्ञातम् ।

अर्थ : आदरपूर्वक युद्ध करनेवाले किसी मनुष्यका शरीर प्रसन्नताके कारण रोमांचित हो उठा । फलतः उसका कवच खुलकर गिर पड़ा, फिर भी उसे पता न चला । कारण, वह रणसे होनेवाले कल्याणका भलीभाँति अनुभव कर चुका था ॥ १३ ॥

अन्वय : नियोधिनां दर्पभृदर्पणालैः अङ्घ्रिपालैः व्योम्नि व्युत्थितं रजः सुधाकशिम्बे चन्द्रबिम्बे गत्वा द्विरुक्ताङ्कतया ललम्बे खलु ।

अर्थ : उस समय युद्ध करनेवाले लोग जोशके साथ अपना पैर जमीनपर पटक रहे थे । उनसे जो धूल उड़ी, वह जाकर सुधाके छत्ते चन्द्रमामें लग गयी, जिससे उसने चन्द्रमें स्थित स्वाभाविक कलंकको दूना कर दिया ॥ १४ ॥

अन्वय : रणसिद्धिशिङ्गाः एके तु खड्गान् परे तु शूलान् (इतरे) समूलाः गदाः च केचित् शक्तीः (अपरे) निजनाथभक्तियुक्ताः जयन्तीं प्रतिनर्तयन्ति स्म ।

एक इति । रणस्य सिद्धौ सफलतायां शिङ्गाः प्रोन्मत्ताः शिङ्गोति देशभाषायाम् । यथैके केचित्तु खड्गानसीन्, परे केचिच्छूलान् शूलवदन्तःप्रवेशकरान्, पुनरन्ये केचित्समूला मुद्गराख्याः केचिच्च शक्तीः केचिच्च निजनाथे या भक्तिस्तया युक्ता जयन्तीं पताकामेव प्रतिनर्तयन्ति स्म । अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ १५ ॥

सदश्वराजां शफसन्निपातैः फणामणिप्रोतधरोऽधुना तैः ।
फणीश्वरस्त्यक्तुमनीश्वरोऽस्ति किमत्र सुश्रान्तशिरःप्रशस्तिः ॥ १६ ॥

सदश्वेति । इयं पृथिवी शेषनागस्य शिरसि वर्तते, इति लोकख्यातिमाश्रित्योत्प्रेक्ष्यते—अत्राधुना यावत्कालं सुश्रान्तशिरः प्रशस्तिरपि फणीश्वरः शेषो धरां त्यक्तुमनीश्वरोऽसमर्थस्तत्र किं कारणमित्याह—तैर्युद्धे सञ्जातैः सदश्वराजां हयोत्तमानां शफसन्निपातैः खुराघातैः फणासु ये मणयो रत्नानि तेषु प्रोता संलग्ना धरा यस्य स तादृग् बभूवेत्यहं जाने किल ॥ १६ ॥

जङ्घामथाक्रम्य पदेन दान-धरस्तदन्यां तरसा ददानः ।
विदारयामास करेण पत्तिं सुदारुणो दारुवदेव दन्ती ॥ १७ ॥

जङ्घामिति । अथ दानधरो दन्ती हस्ती यः सुदारुणो भयङ्करः स कस्यचित् पदातेर्जङ्घामेकां पदेनाक्रम्य तथा तदन्यां तस्य जङ्घां तरसा वेगेनाऽऽददानः संगृह्णन् सन् तं पत्तिं दारुवदेव विदारयामास ॥ १७ ॥

अर्थ : रणकी सफलताके लिए उतावले किसी वीरने तो खड्ग हाथमें लिये, किन्हींने शूल उठाये। किन्हींने मुद्गर-गदाएँ लीं, किन्हींने शक्ति आयुध उठाये, तो अपने स्वामीमें भक्ति रखनेवाले कुछ लोग पताकाको ही नचाने लगे ॥ १५ ॥

अन्वय : सदश्वराजां तैः शफसन्निपातैः फणामणिप्रोतधरः सुश्रान्तशिरः प्रशस्तिः फणीश्वरः अधुना अत्र त्यक्तुमनीश्वरः अस्ति किम् ?

अर्थ : श्रेष्ठतम घोड़ोंके खुरोंके गिरनेसे उस समय वहाँ शेषनागके मस्तकमें लगी मणियोंमें पृथ्वी पिरो दी गयी है। क्या इसी कारण आजतक पृथ्वीके बोझसे अत्यन्त श्रान्त फणाओंवाले शेषनाग इस पृथ्वीको छोड़नेमें असमर्थ हो रहे हैं ॥ १६ ॥

अन्वय : अथ सुदारुणः दानधरः दन्ती पदेन एकां जङ्घाम् आक्रम्य तरसा तदन्यां करेण आददानः पत्तिं दारुवद् एव विदारयामास ।

अर्थ : उस युद्धमें गुस्सेमें आये हुए किसी भयंकर मदजलधारी हाथीने

उत्क्षिप्य वेगेन तु तं जघन्यद्विपं रदाभ्यामपि दन्तुरोऽन्यः ।
शृङ्गाग्रलग्नाम्बुधरस्य शोभां गिरेर्दधानः खलु तेन सोऽभात् ॥ १८ ॥

उत्क्षिप्येति । तु पुनरन्यो दन्तुरो दन्ती तं पूर्वोक्तं जघन्यद्विपमपि रदाभ्यां स्वदन्ताभ्यां वेगेन उत्क्षिप्योत्थाप्य तेन स शृङ्गाग्रे लग्नोऽम्बुधरो मेघो यस्य स तस्य गिरेः पर्वतस्य शोभां दधानोऽभात् रराज । उपमालङ्कारः । खलु वाक्यालङ्कारे ॥ १८ ॥

शिलीमुखश्यामगुणैरगण्यैः शिलीमुखैर्विद्धतमोऽग्रगण्यैः ।
व्यलोकि लोकैः समरे स धन्यः प्रहृष्टरोमेव मतङ्गजोऽन्यः ॥ १९ ॥

शिलीमुखेति । अन्यो मतङ्गजो हस्ती तस्मिन् समरे शिलीमुखानां भ्रमराणां श्यामो गुण इव गुणो येषां तैः शिलीमुखैर्बाणैः अगण्यैर्विद्धतमस्तत्र अग्रगण्यैर्लोकैः मुख्यजनैः प्रहृष्टानि रोमाणि यस्य स इव धन्यो व्यलोकि दृष्टः ॥ १९ ॥

इतोऽयमर्कः स च सौम्य एष शुक्रः समन्ताद् ध्वजवस्त्रलेशः ।
रक्तः स्म कौ जायत आयतस्तु गुरुर्भटानां विरवः समस्तु ॥ २० ॥
केतुः कबन्धोच्चलनैकहेतुस्तमो मृतानां मुखमण्डले तु ।
सोमो वरासिप्रसरः स ताभिः शनैश्चरोऽभूत्कटकां घटाभिः ॥ २१ ॥

किसी एक प्यादेका एक पैर अपने पैरके नीचे दबाकर दूसरा पैर सूँड़में पकड़ लकड़ीकी तरह चीर दिया ॥ १७ ॥

अन्वय : अन्यः दन्तुरः अपि तं तु जघन्यं द्विपं रदाभ्यां वेगेन उत्क्षिप्य शृङ्गाग्रलग्नाम्बुधरस्य गिरेः शोभां दधानः अभात् खलु ।

अर्थ : दूसरे किसी हाथीने अपने बहुत लम्बे दाँतों द्वारा उस जघन्य हाथीको वेगके साथ उठा दाँतोंके बीच पकड़ लिया । मानो वह ऐसा मालूम पड़ रहा था कि किसी पर्वतके शिखरपर मेघ ही आकर बैठा हो ॥ १८ ॥

अन्वय : अन्यः मतङ्गजः समरे शिलीमुखश्यामगुणैः शिलीमुखैः अगण्यैः विद्धतमः अग्रगण्यैः लोकैः प्रहृष्टरोमा सः इव धन्यः व्यलोकि ।

अर्थ : तीसरा कोई हाथी उस युद्धमें भौंरोंके समान काले-काले असंख्य बाणोंसे बिंध गया था । किन्तु प्रमुख लोगोंने उसे प्रसन्नतावश रोमांचित किसी धन्य व्यक्ति-सा देखा ॥ १९ ॥

अन्वय : तत्र इतः अयम् अर्कः, सः च सौम्यः, समन्ताद् ध्वजवस्त्रलेशः एषः शुक्रः, पुनः (सः) कौ आयतः रक्तः जायते स्म, भटानां विरवः गुरुः समस्तु । तथा कबन्धो-

मितिर्यतः पञ्चदशत्वमाख्यन्नक्षत्रलोकोऽपि नवत्रिकाख्यः ।
क्वचित्परागो ग्रहणञ्च कुत्र खगोलताऽभूत्समरे तु तत्र ॥ २२ ॥

इत इति । त्रिभिर्विशेषकम् । इतोऽयं नामैकदेशधारकोऽर्ककीर्तिः सूर्यः, स च जयकुमारः सौम्यः सोमाज्जातो बुधः, समन्तादभितो ध्वजानां वस्त्राणि तेषां लेश एव शुक्रो धवलरूपः, रक्तस्तु पुनरायतः प्रसरणशीलः स कौ भूमौ जायते स्म इति भौमो मङ्गलग्रहः, भटानां विरवः शब्द स गुर्विपुलः स एव बृहस्पतिः समस्तु । कबन्धानां शिरोहीनशरीराणामुच्चलनमेवैकः प्रसिद्धो हेतुर्यस्य स केतुः, मृतानां मुखमण्डले तु पुनस्तमोऽन्धकारः स एव राहुः, वरासीनां प्रसरः स उमया कान्त्या सहितः सोमश्चन्द्रमाः, स एव ताभिः प्रसिद्धाभिर्हस्त्यादीनां घटाभिः कटकः सेनासमूहः स स्वयं शनैश्चरो मन्दगाम्यभूत् । मितिस्तिथिः प्रमितिश्च सा पञ्चोत्तरदशत्वम्, अथवा पञ्चदशत्वं मरणमित्याख्यत् समाह । क्षत्रलोको यः स नवां त्रिकां पृष्ठस्यास्थिसत्तामाख्यातीति नवत्रिकाख्यो नाभूत्, पृष्ठदायको न बभूव । तथा अश्विन्यादिनक्षत्रसमूहो नवगुणत्रिकाख्यः सप्तविंशतिसंख्यावानेव क्वचित् परागो विख्यातिर्जयनशीलस्य, कुत्रचित् कातरस्य ग्रहणं कारावासरूपेण रणस्थले तथा खगोले क्वचित् पराग उपरागः केतुनाच्छादनं 'विख्यातावुपरागे च पराग' इति विश्वलोचनः । कुत्रचिद्ग्रहणं राहुणेति समरे तत्र खगोलताऽभूत् । श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥२०–२२॥

च्चलनैकहेतुः केतुः, मृतानां मुखमण्डले तु तमः, वरासिप्रसरः सः सोमः, ताभिः घटाभिः कटकः शनैश्चरः अभूत् यतः मितिः पञ्चदशत्वम् आख्यत् । नक्षत्रलोको अपि नवत्रिकाख्यः, क्वचित् परागः कुत्र च ग्रहणम् । एवं तत्र तु समरे खगोलता अभूत् ।

अर्थ : उस समय वह रणस्थल ठीक खगोलकी समता कर रहा था । कारण एक ओर तो अर्क (सूर्य और अर्ककीर्ति) था तो दूसरी ओर सोमका पुत्र बुद्धिमान् (बुध) जयकुमार । ध्वजाओंका वस्त्र शुक्र (सफेद) था । तो योद्धाओंके शरीरसे बहा रक्त (मंगल) तो भूमिपर हो हो रहा था । योद्धाओंका शब्द गुरु (प्रसरणशील या गुरुग्रह) था । अनेक कबंधोंका उछलना केतुका काम कर रहा था । मरे योद्धाओंके मुखपर तम (राहु) था और चमकती तलवारें चंद्रमाका काम कर रही थीं । साथ ही हाथियोंकी घटासे व्याप्त होनेके कारण सारा कटक (सेना समूह) शनैश्चर बन रहा था, अर्थात् धीरे-धीरे चल रहा था । वहाँका अनुमान अंतमें मरणरूपी पन्द्रह तिथियोंका स्मरण कराता था । रणभूमिमें क्षत्रिय लोग पीठ नहीं दिखाते थे अतः २७ नक्षत्र थे । कहीं तो पराग-चंद्रमाका ग्रहण (रागसे रहित होना) था तो कहीं धर-पकड़

मतङ्गजानां गुरुगर्जितेन जातं प्रहृष्यद्धयगर्जितेन ।
अथो रथानामपि चीत्कृतेन छन्नः प्रणादः पटहस्य केन ॥ २३ ॥

मतङ्गजानामिति । अथो तत्र समरे मतङ्गजानां हस्तिनां गुरुणा उच्चैस्तरेण गर्जितेन जातमुत्पन्नं तथा प्रहृष्यतां प्रसन्नानां हयानां ह्रेषितेन जातमेवं रथानां चीत्कृतेनोत्थितं तथापि पटहस्य प्रणादः शब्दः केनच्छन्नस्तिरस्कृतः ? न केनापीत्यर्थः । अतः किल सोऽप्यद्भुत एव कोलाहलोऽजनीत्यर्थः । विशेषोऽलङ्कारः ॥२३॥

वीरश्रियं तावदितो वरीतुं भर्तुर्व्यपायादथवा तरीतुम् ।
भटाग्रणीः प्रागपि चन्द्रहास-यष्टिं गलालङ्कृतिमाप्तवान् सः ॥ २४ ॥

वीरश्रियमिति । तत्र स भटाग्रणीः कथितो यस्तावदितो वीरश्रियं सर्वप्रथममेव वरीतुम्, अथवा भर्तुः स्वामिनो व्यपायात् उपालम्भात्तरीतुं प्रागपि सर्वेभ्यः पूर्वमेव चन्द्रहासयष्टिं तन्नामासिपुत्रीम् अथवा तन्नाममुक्तामालां गलस्यालङ्कृतिमाप्तवान् । समासोक्तिः ॥ २४ ॥

होती थी जो सूर्यग्रहणका स्मरण कराती थी ॥ २०-२२ ॥

अन्वय : अथो (तत्र) मतङ्गजानां गुरुगर्जितेन प्रहृष्यद्धयहेषितेन रथानाम् अपि चीत्कृतेन जातम् (किन्तु) पटहस्य प्रणादः केन छन्नः ?

अर्थ : यद्यपि वहाँ हाथियोंकी चिंघाड़ होती थी, घोड़ोंकी हिनहिनाहट हो रही थी, रथोंका चीत्कार हो रहा था। इस प्रकार रणस्थल शब्दमय बन गया था। फिर भी नगाड़ेकी ध्वनि इनमेंसे किसने छिपायी ? अर्थात् उसकी आवाज अपना निरालापन ही प्रकट कर रही थी। अद्‌भुत कोलाहल मच गया था ॥ २३ ॥

अन्वय : (तत्र) सः भटाग्रणीः तावत् इतः वीरश्रियं वरीतुम्, अथवा भर्तुः व्यपायात् तरीतुं प्राक् अपि चन्द्रहासयष्टिं गलालङ्कृतिम् आप्तवान् ।

अर्थ : वीरश्री सबसे पहले मुझे ही वरे और इस तरह मुझे स्वामीका उलाहना न प्राप्त हो, एतदर्थ उस युद्धमें किसी योद्धाने चंद्रहास नामक असि-पुत्री (तलवार) को या चंद्रहास नामक मुक्तामालाको अपने गलेका अलंकार बना लिया। यहाँ समासोक्ति अलंकार है ॥ २४ ॥

निपातयामास भटं धरायामेकः पुनः साहसितामथायात् ।
स तं गृहीत्वा पदयोश्च जोषं प्रोत्क्षिप्तवान् वायुपथे सरोषम् ॥ २५ ॥

निपातयामासेति । एकः कोऽपि कमपि भटं धरायां निपातयामास । अथ पुनः स साहसितामुत्साहमयात् जगाम । तत्र जोषं तूष्णींभावपूर्वकं पदयोर्गृहीत्वा सरोषं यथा-स्यात्तथा वायुपथे नभसि प्रोत्क्षिप्तवान् । भटजाते रीतिरियम् ॥ २५ ॥

दृढप्रहारः प्रतिपद्य मूर्च्छामिभस्य हस्ताम्बुकणा अतुच्छाः ।
जगर्ज कश्चित्स्वनुबद्धवैरः सिक्तः समुत्थाय तकैः सखैरः ॥ २६ ॥

दृढप्रहार इति । कश्चिद् दृढो मर्मभेदी प्रहार आघातो यस्य स मूर्च्छां प्रतिपद्य पुनरिभस्य हस्तिनो येऽतुच्छा अनल्पा हस्ताम्बुकणास्तैरेव तकैः सिक्तस्तु पुनरपि समुत्थाय सखायमीरयति सखैरः अथवा सखं बुद्धिसहितमीरयति सखैरोऽनुबद्धवैरश्च सन् जगर्ज गर्जनामकृत ॥ २६ ॥

निम्नानि गन्धर्वशफैः कृतानि यत्राथ कौसुम्भकभाजनानि ।
भृतानि रक्तैर्यमगाण्णिशान्तसंव्यानरागार्थमिव स्म भान्ति ॥ २७ ॥

निम्नानीति । अथ यत्र गन्धर्वाणां हयानां शफैः खुरैर्निम्नानि गर्तानि कृतानि,

---

अन्वय : एकः भटं धरायां निपातयामास । अथ पुनः सः साहसिताम् अयात् । (ततः) तु तं जोषं पदयोः गृहीत्वा सरोषं वायुपथे प्रोत्क्षिप्तवान् ।

अर्थ : एक वीरने दूसरे वीरको जमीनपर गिरा दिया। वह गिरा हुआ मनुष्य एकदम साहस कर उठा और उसने दूसरे भटके पैर पकड़ कर उसे आकाशमें उछाल दिया ॥ २५ ॥

अन्वय : कश्चित् दृढप्रहारः मूर्च्छां प्रतिपद्य (पुनः) इभस्य ये अतुच्छाः हस्ताम्बुकणाः तकैः सिक्तः समुत्थाय सखैरः अनुबद्धवैरः जगर्ज ।

अर्थ : जोरकी चोट लगनेके कारण कोई वीर मूर्छित हो भूमिपर गिर गया था। हाथीकी सूँड़के विपुल जलकणोंसे जब वह सींचा गया तो होशमें आ उठकर वैरभावनाके साथ गाजने लगा और साहसपूर्वक सहयोगियोंको ललकारने लगा ॥ २६ ॥

अन्वय : अथ यत्र गन्धर्वशफैः निम्नानि कृतानि (पुनः आहतानां) रक्तैः भृतानि यमराजनिशान्तसंव्यानरागार्थं कौसुम्भकभाजनानि इव भान्ति स्म ।

पुनराहृतानां रक्तैर्भृतानि पूरितानि तानि यमराजोऽन्तकस्तस्य नितान्तः प्रासादान्तः स्त्री-वर्गस्य संव्यानानां वस्त्राणां रागार्थमनुरञ्जनार्थं कौसुम्भकभाजनानीव भान्ति स्म । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २७ ॥

इतस्ततो वातविधूतकेतुवान्तांशुकैर्व्याप्ततमेऽम्बरे तु ।
संज्ञातमेतच्च विभिन्नमस्तु रवैर्भटानामिह भैरवैस्तु ॥ २८ ॥

इतस्तत इति । इतस्ततः सर्वतो वातेन विधूतानि केतूनां वान्तानि ऊर्ध्वंगतानि यान्यं-शुकानि वस्त्राणि तैर्व्याप्ततमेऽतिशयेन व्याप्तेऽम्बरे नभसि इह समरभूमौ तु पुनरम्बरमेतद् भटानां योधानां भैरवैर्भीषणैः गर्जनशब्दैर्विभिन्नं विदीर्णमिव संज्ञातं स्फुटितं स्यादेवं ज्ञायते स्म । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २८ ॥

पराजितो भूवलये पपात परो नरो मर्मणि लब्धघातः ।
आच्छादयत्तावदुपेत्य वक्त्रं ह्रीसम्भवश्रि ध्वजवस्त्रमत्र ॥ २९ ॥

पराजित इति । परः प्रसिद्धः कोऽपि नरो मर्मणि मरणदायकस्थाने लब्धः सम्प्राप्तो घातो येन सः । अत एव पराजितः सन् यावद्भूवलये धरातले पपात तावदेवात्र तस्य ध्वजस्य यद्वस्त्रं तदुपेत्य ह्रियाः लज्जायाः सम्भवो यस्याः सा श्रीर्यस्य तत्तस्य लज्जासहितं वक्त्रमाच्छादयत् संवृतञ्चकार । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २९ ॥

अर्थ : वहाँ घोड़ोंके खुरोंसे जमीनमें गड्डे हो गये और वीरोंके रक्तसे भरे गये । वे ऐसे मालूम पड़ रहे थे कि मानो यमराजकी रानियोंके वस्त्र रँगनेके लिए कुसुम्भसे भरे पात्र ही हों ॥ २७ ॥

अन्वय : इतस्ततः वातविधूतकेतुवान्तांशुकैः व्याप्ततमे अम्बरे, इह तु एतत् च भटानां भैरवैः रवैः तु विभिन्नम् अस्तु (इति) संज्ञातम् ।

अर्थ : हवा द्वारा टूटकर इधर-उधर फैलनेवाले ध्वजाओंके वस्त्रोंसे आकाश व्याप्त हो गया था । किन्तु इस समरभूमिमें तो यह ऐसा प्रतीत होता था मानो भटोंकी भीषण ध्वनिसे आकाश ही छिन्न-भिन्न हो गया हो ॥ २८ ॥

अन्वय : परः नरः मर्मणि लब्धघातः पराजितः यावत् भूवलये पपात, तावत् अत्र एव ध्वजवस्त्रम् उपेत्य ह्रीसंभवश्रि वक्त्रम् आच्छादयत् ।

अर्थ : कोई श्रेष्ठ सुभट मर्मकी चोट खाकर ज्यों ही पृथ्वीपर गिर पड़ा, त्यों ही उसकी ध्वजाके वस्त्रने भी नीचे गिरकर मानो उसके लज्जित मुखको ढँक लिया ॥ २९ ॥

भिन्नेभ्य आरात्पतिता विकीर्णा वक्षःस्थलेभ्यो मृदुहारधाराः ।
सरक्तवान्ता दशना इवामुः परेतराजोऽथ यकैस्तता भूः ॥ ३० ॥

भिन्नेभ्य इति । अथ आरात्तत्कालमेव भिन्नेभ्यो विदीर्णेभ्यो वक्षःस्थलेभ्यो मृदवो मनोहरा ये हाराणां गलालङ्काराणां धारा बन्धास्ते पतिता भूमौ विकीर्णाः, यैरेव यकैस्तता व्याप्ता जातास्ते रक्तेन सहिता वान्ता उद्गीर्णाः परेतराजो यमस्य दशना दन्ता इव अभुर्विरेजुः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३० ॥

पुरोगतस्य द्विषतो वरस्य चिच्छेद यावत्तु शिरो नरस्य ।
कश्चित्तदानीं निजपश्चिमेन विलूनमूर्धा निपपात तेन ॥ ३१ ॥

पुरोगतस्येति । कश्चिद्भटः पुरोगतस्य सम्मुखस्थितस्य वरस्य बलवतो द्विषतो द्वेष्टुर्नरस्य शिरश्चिच्छेद अकृन्तत्, यावत् तदानीं तावदेव निजपश्चिमेन स्वपृष्ठस्थितेन शत्रुणा विलूनश्छिन्नो मूर्धा यस्य स भिन्नमस्तकोऽभूत् । तेन हेतुना निपपात, भूमाविति शेषः । सहोक्तिः ॥ ३१ ॥

धर्मेण सम्यग्गुणसंयुतेन समीरिता बाणततिस्तु तेन ।
विशुद्धिवन्नीतवती भटेशान्निर्वाणमेषा हृदि सन्निवेशा ॥ ३२ ॥

अन्वय : अथ आरात् भिन्नेभ्यः वक्षस्थलेभ्यः मृदुहारधाराः पतिताः विकीर्णाः यकैः तता भूः, ते सरक्तवान्ताः परेतराजः दशनाः इव अभुः ।

अर्थ : योद्धाओंके विदीर्ण वक्षःस्थलोंसे मोतीके हार टूटकर जमीनपर मोती बिखर गये और रक्तसे लथपथ हो गये । वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो रक्तसे सने उगले हुए यमराजके दाँत ही हों ॥ ३० ॥

अन्वय : कश्चित् पुरोगतस्य वरस्य द्विषतः नरस्य शिरः यावत् तु चिच्छेद, तदानीं निजपश्चिमेन विलूनमूर्धाः (अभूत्) । तेन भूमौ निपपात ।

अर्थ : एक योद्धाने ज्योंही अपने सामने आये योद्धाका सिर उतारा, त्योंही उसके पीछे स्थित शत्रुने उसका भी सिर काट डाला । फलतः वह भी जमीन पर गिर पड़ा ॥ ३१ ॥

अन्वय : एषा बाणततिः तु तेन सम्यग्गुणसंयुतेन धर्मेण समीरिता हृदि सन्निवेशा भटेशान् निर्वाणं विशुद्धिवत् नीतवती ।

शर्मेणेति । एषा प्रसिद्धा बाणानां ततिः परम्परा सा तु पुनस्तेन प्रसिद्धेन सम्यग्-गुणसंयुतेन समीचीनप्रत्यञ्चायुक्तेन शर्मेण धनुषा समीरिता प्रयुक्ता तथा हृदि हृदये समीचीनो निवेशः प्रवेशो यस्याः सा भटेशानां निर्वाणं मरणं शिवस्थानं विशुद्धिवन्नीतवती । विशुद्धिरपि सम्यग्दर्शनगुणयुतेन धर्मेण आत्मस्वभावेन युक्ता भवति । श्लिष्टोपमा ॥३२॥

खगावली रागनिवाहिनी हाऽथ स्पर्शमात्रेण नृणां मदीहा ।
हृदि प्रविष्टा गणिकेव दिष्टा निमीलयेन्नेत्रनिकोणमिष्टा ॥ ३३ ॥

खगावलीति । अथ खगानां बाणानामावली इह भूतले स्पर्शमात्रेणैव रागस्य रक्तस्यानुरागस्य च निवाहिनी संचारिणी पुनरिष्टाऽङ्गीकृता सती नृणां हृदि प्रविष्टा भवति, सा गणिकेव वेश्येव दिष्टा कथिता महापुरुषैर्या नेत्रयोर्निकोणं निमीलयेदिति मदीहा मम विचारे वर्तते । श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥ ३३ ॥

विलूनमन्यस्य शिरः सजोषं प्रोत्पत्य खात्संपतदिष्टपौषम् ।
वक्रोडुपे किम्पुरुषाङ्गनाभिः क्लृप्तावलोक्याथ च राहुणा भीः ॥ ३४ ॥

विलूनमिति । अथ च इष्टश्च तत्पौषं युद्धं यथा स्यात्तथा अन्यस्य भटस्य विलूनं शिरस्तत्सजोषं वेगपूर्वकं प्रोत्पत्य पुनः खान्नभसः सम्पतत्तदवलोक्य तदा किम्पुरुषाङ्गनाभिः

अर्थ : जैसे उत्तम सम्यग्दर्शन गुणवाले धर्म द्वारा मनकी विशुद्धि लोगोंको मुक्ति प्राप्त करा देती है, वैसे ही उत्तम प्रत्यंचावाले धनुष द्वारा छोड़ी गयी बाणोंकी परंपरा योद्धाओंके वक्षःस्थलमें लगकर उन्हें भी निर्वाण (मरण) प्राप्त करा रही थी ॥ ३२ ॥

अन्वय : अथ खगावली इह स्पर्शमात्रेण रागनिवाहिनी इष्टा नृणां हृदि प्रविष्टा गणिका इव दिष्टा नेत्रनिकोणं निमीलयेत् इति मदीहा (वर्तते) ।

अर्थ : मैं सोचता हूँ कि बाणोंकी परम्पराको महापुरुषोंने वेश्याके समान ठीक ही कहा है जो नेत्रकोणोंको मूंद देती हैं। बाणावली और वेश्या स्पर्शमात्रसे राग (अनुराग या रक्त) उत्पन्न करती है, और अंगीकृत करनेपर मनुष्योंके हृदयमें प्रविष्ट हो जाती है ॥ ३३ ॥

अन्वय : अथ च इष्टपौषम् अन्यस्य विलूनं शिरः सजोषं प्रोत्पत्य खात् संपतत् अवलोक्य किं पुरुषाङ्गनाभिः वक्रोडुपे राहुणा भीः क्लृप्ता ।

अर्थ : जोशके साथ छेदा गया किसी योद्धाका सिर आकाशमें उछल कर

किन्नरीभिर्वञ्कोडुपे स्वकीयमुखचन्द्रे राहुणा ग्रहणकारिणा भीसंत्रासस्था क्लृप्ता आशङ्किता । 'पीजमुत्सवयुद्धयोरि'ति विश्वलोचनः ॥ ३४ ॥

वज्रं समासाद्य निपाति जिष्णोः शैलानुकर्तुः करिणः सहिष्णोः ।
मुक्ता निकुम्भान्निरगुर्विशेषादरिश्रियः साम्प्रतमश्रुलेशाः ॥ ३५ ॥

वज्रमिति । जिष्णोरिन्द्रस्येव जयनशीलस्य जयकुमारस्य निपाति समापतितं वज्रं नामायुधं समासाद्य शैलं पर्वतमनुकरोतीति तस्य शैलानुकर्तुः सहिष्णोः समर्थस्यापि करिणो हस्तिनो निकुम्भात् गण्डस्थलात् साम्प्रतमरिश्रियोऽर्ककीर्तिलक्ष्म्या अश्रुलेशा एव मुक्ता मौक्तिकानि विशेषाबाधिक्यमात्रातो निरगुर्निष्क्रान्ताः । रूपकालङ्कारः ॥ ३५ ॥

लोलाञ्चला स्रक्समिताऽसियष्टिर्यमस्य जिह्वा द्विषते प्रणष्टिः ।
बभूव वीरस्य हृदुन्नयन्ती सौभाग्यसाम्राज्यसुवैजयन्ती ॥ ३६ ॥

लोलेति । लोलं चञ्चलमञ्चलं यस्याः साऽसियष्टिः या द्विषतेऽरये प्रणष्टिर्विनाशकारिणी यमस्य जिह्वा जाता, सैव वीरस्य योद्धुर्हृद् अन्तःकरणमुन्नयन्ती हृदयाह्लादिनी सती सौभाग्यस्य भाग्यसौष्ठवस्य यत्साम्राज्यं तस्य वैजयन्ती पताका बभूव । रूपकानुप्राणितो विरोधाभासः ॥ ३६ ॥

वापस पृथ्वीपर गिरने जा रहा था। उसे उस तरह आता देख वहाँ स्थित किन्नरियाँ भयभीत हो उठीं कि कहीं हमारे मुखचन्द्रको राहु ग्रसनेके लिए तो नहीं आ रहा है ॥ ३४ ॥

अन्वय : जिष्णोः निपाति वज्रं समासाद्य शैलानुकर्तुः सहिष्णोः करिणः निकुम्भात् साम्प्रतम् अरिश्रियः अश्रुलेशाः मुक्ताः विशेषात् निरगुः ।

अर्थ : जयकुमारके गिरते हुए वज्रको प्राप्तकर पर्वतसदृश हाथीके गण्डस्थलसे बहुत-से मोती ऐसे गिरे, जैसे उसके शत्रु अर्ककीर्तिकी लक्ष्मीके आँसू गिरे ॥ ३५ ॥

अन्वय : लोलाञ्चला स्रक्समिता असियष्टिः द्विषते प्रणष्टिः यमस्य जिह्वा (बभूव, सैव) वीरस्य हृत् उन्नयन्ती सौभाग्यसाम्राज्यसुवैजयन्ती बभूव ।

अर्थ : चंचल अंचलवाली और रक्तसे सनी तलवार शत्रुके लिए तो हिंसक यमराजकी जिह्वाके समान हुई। किन्तु वीरके हृदयको प्रसन्न करती ही तलवार उसके लिए सौभाग्यकी ध्वजा-सी बन गयी ॥ ३६ ॥

अप्राणकैः प्राणभृतां प्रतीकैरमानि चाजिः प्रतता सतीकैः ।
अभीष्टसंभारवती विशालाऽसौ विश्वस्रष्टुः खलु शिल्पशाला ॥ ३७ ॥

अप्राणकैरिति। अप्राणकैः प्राणवर्जितैः प्राणभृतां जीवानां प्रतीकैरङ्गैः हस्तपादादिभिः प्रतता परिपूर्णा आजिर्युद्धभूमिः सती च अभीष्टसंभारवती च वाञ्छितसामग्रीपूर्णा, विशाला प्रशस्तविस्तारा विश्वस्रष्टुर्जगन्निर्मातुः शिल्पशाला इति कैर्लोकैरमानि अमन्यत। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३७ ॥

प्रणष्टदण्डानि सितातपत्रच्छदानि रेजुः पतितानि तत्र ।
सम्भोजनायोजनभाजनानि परेतराजेव नियोजितानि ॥ ३८ ॥

प्रणष्टेति। तत्र युद्धस्थले प्रणष्टा दण्डा येषां तानि, सितानि श्वेतानि यान्यातपत्राणि छत्राणि तेषां छदानि आवरणांशुकानि तानि पतितानि परेतराजा यमेन नियोजितानि नियुक्तानि सम्भोजनस्य सामूहिकभोजनस्य योजनं विधानं तस्य भाजनानीव पात्राणीव रेजुः शुशुभिरे। उपमालङ्कारः ॥ ३८ ॥

पित्सत्सपक्षाः पिशिताशनायायान्तस्तदानीं समरोर्वरायाम् ।
चराश्च पूत्कारपराः शवानां प्राणा इवाभुः परितः प्रतानाः ॥ ३९ ॥

अन्वय : अप्राणकैः प्राणभृतां प्रतीकैः प्रतता आजिः च (कैः) सती अभीष्टसंभारवती विशाला असौ विश्वसृष्टुः शिल्पशाला खलु अमानि ।

अर्थ : वह रणभूमि योद्धाओंके कटे निष्प्राण हाथ, पैर, सिर आदि अवयवों‌से भर गयी थी। कुछ लोगोंको वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो वाञ्छित-सामग्रीपूर्ण विश्वकर्माकी शिल्पशाला ही हो ॥ ३७ ॥

अन्वय : तत्र प्रणष्टदण्डानि सितातपत्रच्छदाणि पतितानि परेतराजा नियोजितानि संभोजनायोजनभाजनानि इव रेजुः ।

अर्थ : डण्डोंसे विहीन राजचिह्न सितच्छत्र उस रणस्थलमें पंक्तिबद्ध पड़े हुए थे, जो ऐसे प्रतीत होते थे मानो यमराजने जीमनवार करनेके लिए क्रमवार भोजनपात्र बिछाये हों, पत्तलें ही परोसी गयी हों ॥ ३८ ॥

अन्वय : तदानीं समरोर्वरायां पिशिताशनाय आयान्तः पित्सत्सपक्षाः परितः प्रतानाः चराः च पूत्कारपराः शवानां प्राणाः इव अभुः ।

पित्सवितति । तदानीं समरोर्वरायां युद्धभूमौ पिशितस्य मांसस्य अशनाय भुक्तये, आयान्तः पित्सतां पक्षिणां सपक्षाः समूहास्ते परित इतस्ततः प्रकर्षेण तानं वितानं येषां ते प्रतानाः चराश्चरणशीलाः पूत्कारपराः पूत्कुर्वन्तश्च शवानां मृतकानां प्राणा इव अनुरभासन्त । उपमालङ्कारः ॥ ३९ ॥

मृताङ्गनानेत्रपयःप्रवाहो मदाम्भसां वा करिणां तदाहो ।
योऽभूच्चयोऽदोऽस्ति ममानुमानमुद्गीयतेऽसौ यमुनाभिधानः ॥ ४० ॥

मृतेति । तदा मृतानामङ्गनानां स्त्रीणां नेत्राणां पयसां प्रवाहो वाऽथवा करिणां मदाम्भसां च यश्चयः समूहोऽभूत्, स एवासौ यमुनाभिधानो यमुनानामक उद्गीयते कथ्यते अद इदं ममानुमानमस्ति । अहो इत्याश्चर्ये । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४० ॥

रणश्रियः केलिसरः सवर्णा करीशकर्णाततया सपर्णा ।
वक्त्रैर्भटानां कमलावकीर्णा श्रीकुन्तलैः शैवलसावतीर्णा ॥ ४१ ॥
अजस्रमाजिस्त्वसृजा प्रपूर्णा किलोल्लसत्कुङ्कुमवारिपूर्णा ।
यशःसमारब्धपरागचूर्णा स्म राजते सा समुदङ्गघूर्णा ॥ ४२ ॥
(युग्मम्)

अजस्रमिति । आजिर्युद्धभूमिः, रणश्रियः केलिसरसः सवर्णा तुल्या राजते स्म, यतः करीशानां कर्णैरासा स्वीकृता ततया सपर्णा पद्मादिपत्रयुक्ता, भटानां

अर्थ : उस समय उस समरभूमिमें पक्षियोंके समूह वहाँ मांस खानेके लिए आये थे। वे उन शवोंपर ऐसे प्रतीत होते थे मानो फूत्कारपूर्वक निकलते उनके प्राण ही हों ॥ ३९ ॥

अन्वय : अदः मम अनुमानम् अस्ति (यत्) तदा मृताङ्गनानेत्रपयःप्रवाहः वा करिणां मदाम्भसां च यः चयः अभूत्, अहो सः असौ यमुनाभिधानः उद्गीयते ।

अर्थ : उस समय मृत शत्रुवीरोंकी स्त्रियोंके आँसुओंका जल अथवा हाथियोंके मदजलका समूह बहा, आश्चर्य है कि वही 'यमुनानदी' के नामसे आज कहा जाता है, ऐसा मेरा अनुमान है ॥ ४० ॥

अन्वय : आजिः तु करीशकर्णाततया सपर्णा भटानां वक्त्रैः कमलावकीर्णा, श्रीकुन्तलैः शैवलसावतीर्णा अजस्रम् असृजा प्रपूर्णा किल उल्लसत्कुङ्कुमवारिपूर्णा यशःसमारब्धपरागचूर्णा समुदङ्गघूर्णा रणश्रियः केलिसरःसवर्णा राजते स्म ।

अर्थ : वह रणभूमि, रणश्रीके केलिसरोवर-सी बन गयी थी, क्योंकि उसमें

योधानां वक्त्रैर्मुखैः कृत्वा कमलैरवकीर्णा व्याप्ता, श्रीकुन्तलैः केशैः कृत्वा शैवलैः सावतीर्णा सहिताऽजस्रं निरन्तरमसृजा रक्तेन प्रपूर्णा। अतः किलोत्कले सति कुङ्कुमो यस्मिंस्तेन वारिणा पूर्णा, यश एव परागचूर्णो यत्र सा समुत्प्रसादयुक्ता अङ्गस्य घूर्णा यत्र सः। रूपकालङ्कारः ॥ ४१-४२ ॥

दृष्ट्वा　　स्वसेनामरिवर्गजेनाऽऽयुधक्रमेणास्तमितामनेनाः।
रोद्धुश्च योद्धुं जय ओजसो भूः श्रीवज्रकाण्डाख्य धनुर्धरोऽभूत् ॥ ४३ ॥

दृष्ट्वेति। अनेनाः पापवर्जितो जयो नामाऽस्माकं चरित्रनायकः स्वसेनामरिवर्गजेन आयुधक्रमेण अस्तमितामपहृतां दृष्ट्वा तं रोद्धुम् अत एव योद्धुं स ओजसस्तेजसो भूः स्थानं जयकुमारो वज्रकाण्डाख्यं धनुर्धरतीति वज्रकाण्डाख्यधनुर्धरोऽभूत् ॥ ४३ ॥

विद्याधरेषु प्रतिपत्तिमाप सुवंशजः सद्गुणवान् स चापः।
शरा यतोऽधीतिपराः स्म सन्ति स्वर्लोकमेवर्जुतया व्रजन्ति ॥ ४४ ॥

विद्याधरेष्विति। स चापो वज्रकाण्डाख्यः कीदृक् सुवंशजः श्रेष्ठवेणुसम्भूतास्तथा-उत्तमकुलोद्भवः सद्गुणवान् प्रशस्तप्रत्यञ्चायुक्तः सहिष्णुतादिगुणसहितश्च अत एव विद्याधरेषु खगेषु बुद्धिमत्स्वपि प्रतिपत्तिं प्रतिष्ठामाप प्राप्तवान्। यतोऽधीतिपराः प्रजवनशीला

हाथियोंके कटे पड़े कान पत्र-सरीखे दीखते थे। योद्धाओंके मुखोंसरीखे कमलोंसे वह भरी थी। यत्र-तत्र बिखरे पड़े बाल सेवारका काम कर रहे थे। उसमें जो रक्त भरा था, वह केशरके जलके समान था और जो शूरता दिखलानेवाले वीरोंका यश फैल रहा था, वह था परागसदृश। इस प्रकार इन सब सामग्रियोंसे पूर्ण वह रणभूमि प्रसन्नतासे इठलाती बावड़ी लग रही थी ॥ ४१-४२ ॥

अन्वय : अनेनाः जयः स्वसेनाम् अत्र अरिवर्गजेन आयुधक्रमेण अस्तमितां दृष्ट्वा च रोद्धुम् (अतः एव) योद्धुम् ओजसः भूः श्रीवज्रकाण्डाख्यधनुर्धरः अभूत्।

अर्थ : इस प्रकार कुछ देर युद्ध होनेके बाद जयकुमारने जब अपनी सेनाको शत्रुओंकी सेनासे दबता देखा तो उसे रोकनेके लिए वह स्वयं सन्नद्ध हो गया और उसने अपना श्रीवज्रकाण्ड नामक धनुष धारण कर लिया ॥ ४३ ॥

अन्वय : सुवंशजः सद्गुणवान् सः चापः विद्याधरेषु प्रतिपत्तिं आप, यतः अधीतिपराः (ये) शराः सन्ति स्म, (ते) ऋजुतया स्वर्लोकम् एव व्रजन्ति स्म।

अर्थ : उत्तम बाँस और अच्छी प्रत्यंचावाले उस वज्रकाण्ड धनुषने विद्याधरोंके बीच भी प्रतिष्ठा प्राप्त की। कारण जो अत्यन्त गतिशील बाण होते थे, वे

अध्ययनपरायणाश्च ये शरा भवन्ति ते पुनर्ऋजुतया सरलभावेन अनन्यमनस्कतया च स्वर्लोकमेव व्रजन्ति स्म । समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ४४ ॥

विद्याधृतां कम्पवतां हृदन्तः किरीटकोटेर्मणयः पतन्तः ।
देवैर्द्विरुक्ता विबभुः समन्तयशोनिषेवैर्जयमाश्रयन्तः ॥ ४५ ॥

विद्याधृतामिति । तदा वज्रकाण्डसन्धानकाले हृदन्तः कम्पवतां कम्पनशालिनां विद्याधृतां खेचराणां ये किरीटा मुकुटास्तेषां कोटिरग्रभागः, ततः पतन्तो मणयस्ते समन्ताद्वर्तमानं जयकुमारस्य यशोनिषेवैः कीर्तिसेवनैः, समन्तयशोनिवासैः देवैर्द्विरुक्ता द्विगुणीकृतास्ते जयकुमारमाश्रयन्तः तदुपरि लसन्तो विबभुः अशोभन्त ॥ ४५ ॥

जयेच्छुराद्वषितवान् विपक्षं प्रमापणैकप्रवणैः सुदक्षः ।
हेतावुपात्तप्रतिपत्तिरत्र शस्त्रैश्च शास्त्रैरपि सोमपुत्रः ॥ ४६ ॥

जयेच्छुरिति । अत्र प्रस्तावे जयेच्छुः सोमपुत्रो योऽसौ प्रमापणं मारणं प्रमायाः एप्रमाणस्य पणो व्यवहारस्तत्र कप्रवणैस्तन्निष्ठैः शस्त्रैरपि शास्त्रैरपि वा हेतौ शस्त्रे शास्त्रज्ञाने वा हेतौ अनुमानाङ्गे अन्यथानुपपत्तिरूपेऽवयव उपात्ता संलब्धा प्रति-

---

एकदम सीधे स्वर्ग ही पहुँच जाते थे। कविने समासोक्तिसे बाणपर किसी उत्तमवंशोत्पन्न, सद्गुणियोंके बुद्धिमानोंके बीच प्रतिष्ठा पानेके व्यवहारका समारोप किया है। वे भी अध्ययनशील होनेसे सरलताके कारण सीधे स्वर्ग पहुँच जाते हैं ॥ ४४ ॥

अन्वय : हृदन्तः कम्पवतां विद्याधृतां किरीटकोटेः पतन्तः मणयः समन्तयशोनिषेवैः देवैः द्विरुक्ताः (सन्तः) जयम् आश्रयन्तः विबभुः ।

अर्थ : जब उसके बाण आकाशमें स्वर्गतक पहुँचे तो हृदयसे काँपनेवाले विद्याधरोंके मुकुटोंके अग्रभागसे गिरती मणियाँ उपस्थित जयकुमारके यश गानेवाले देवताओंका स्तुतिसे दूनी होकर जयकुमारपर बरसती शोभित हो रही थीं ॥ ४५ ॥

अन्वय : अत्र प्रमापणैकप्रवणैः शस्त्रैः शास्त्रैः अपि हेतौ उपात्तप्रतिपत्तिः सुदक्षः जयेच्छुः सोमपुत्रः विपक्षम् आदूषितवान् ।

अर्थ : शस्त्र और शास्त्र दोनों ही प्रमापणैकप्रवण होते हैं। यानी शस्त्र जहाँ प्रमापण या मारणमें एकमात्र नियुक्त होता है वहीं शास्त्र प्रमाकरण या प्रमाणके व्यवहारमें कुशल होते हैं। इन दोनों द्वारा उनके प्रयोग या

पत्तिः प्रगल्भता येन सः, सुदक्षश्चतुरतरो विपक्षं प्रतिपक्षमाक्षूषितवान् हृतवान् वा। विलष्टोपमा ॥ ४६ ॥

यदाशुगस्थानमितः स धीरः प्राणप्रणेता जयदेववीरः।
अरातिवर्गस्तृणतां बभार तदाऽथ काष्ठाधिगतप्रकारः ॥ ४७ ॥

यदेति। प्राणस्य जीवनदायकवायोर्बलस्य च प्रणेताऽधिकारकः स धीरो जयदेववीरो यदा काले किल तृणस्थानं बाणासनं धनुस्तथा वायोः स्वकर्ममितः अथ तदा अरातिवर्गो वैरिसमूहोऽपि यः काष्ठासु दिशासु अधिगतः संलब्धः प्रकारो भेदो येन। अथवा काष्ठेन सहाधिगतः प्राप्तः प्रकारः सादृश्यं येन तथाभूतस्तृणतां तृणभावं कार्मुकत्वं वा बभार स्वीचकार। 'तृणता कार्मुकेऽपि च' इति विश्वलोचनः। समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ४७ ॥

सोमाङ्गजप्राभवमुद्विजेतुं सपीतयोऽर्कस्य तदाऽऽनिपेतुः।
स एष सूर्येन्दुसमागमोऽपि चिन्त्यः कुतः कस्य यशो व्यलोपि ॥ ४८ ॥

सोमेति। तदा सोमाङ्गजस्य जयकुमारस्य प्राभवं प्रभुत्वमुद्विजेतुमर्कस्य अर्ककीर्तेः सपीतयो हया आनिपेतुः। तथा सोमस्य चन्द्रमसोऽङ्गाज्जातं प्राभवं प्रभासमूहम्

शास्त्रज्ञान (न्यायशास्त्रके साध्यके साधन स्वरूप-ज्ञानमें नैसर्गिक चतुरता) प्राप्त करनेवाले, अत्यन्त दक्ष और विजयके इच्छुक सोमपुत्र जयकुमारने परपक्षको भलीभाँति दूषित कर दिया—नष्ट कर दिया या हरा दिया ॥ ४६ ॥

अन्वय : अथ धीरः प्राणप्रणेता सः जयदेववीरः यदा आशुगस्थानम् इतः, तदा काष्ठाधिगतप्रकारः अरातिवर्गः तृणतां बभार।

अर्थ : जब प्रजाके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले धीर-वीर जयकुमारने धनुष उठाया तब नाना दिशाओंसे आये उसके शत्रुवर्गने तृणता स्वीकार की। दूसरा अर्थ : जयकुमारने जिस समय लोगोंके प्राणस्वरूप हवाका रूप धारण किया तो काठका अनुकरण करते हुए शत्रुओंने तृणरूप धारण कर लिया। अर्थात् जयकुमारके सामने शत्रु टिक नहीं सके। जैसे हवासे तृण उड़ जाता है, वैसे ही वे तितर-बितर हो गये ॥ ४७ ॥

अन्वय : तदा सोमाङ्गजप्राभवम् उद्विजेतुम् अर्कस्य सपीतयः निपेतुः। सः एषः सूर्येन्दुसमागमः अपि कुतः कस्य यशः विलोपि (इति) चिन्त्यः (अभूत्)।

अर्थ : यह प्रसिद्धि है कि अमावस्याके दिन सूर्य और चन्द्रका समागम

उद्विजेतुमर्कस्य सूर्यस्य सपीतय आनिपेतुः । स एव सूर्येन्दुसमागमोऽपि चिन्त्यो विचारणीयोऽभूत् । कुत इति चेद्अस्मिन् अर्कस्य यशो व्यलोपि लुप्तमभूत् । प्रसिद्धे सूर्येन्दुसमागमे तु चन्द्रस्य यशो नश्यतीत्यपूर्वता ॥ ४८ ॥

हयं सनामानमयं जयश्चारुह्य प्रतिद्वन्द्वितयाऽत्र पश्चात् ।
आदिष्टवानेव नियोद्धुमश्वारोहानिजीयानरमिष्टदृश्वा ॥ ४९ ॥

हयमिति । अत्र युद्धप्रसङ्गे पश्चादनन्तरमयं जयो नाम कुमारश्च समानं नाम यस्य तं जयनामकमेव हयमारुह्य प्रतिद्वन्द्वितया इष्टं दृश्यतेऽनेनेति स इष्टदृश्वा भवन् तुल्यप्रतिद्वन्द्वितामङ्गीकुर्वन् निजीयान् अश्वारोहान् नियोद्धुम् आदिष्टवान् प्रेरितवानेवेति तुल्यतावृत्तौ ॥ ४९ ॥

प्रवर्तमानं तु निरन्तरायं निरीक्ष्य सोमोदयकारि सायम् ।
अच्छायमर्कोदधदेव कायं छन्नीभवत्वं गतवांस्तदायम् ॥ ५० ॥

प्रवर्तमानमिति । सोमस्य सोमनामवंशस्य चन्द्रमसो वा उदयं करोतीति सोमोदयकारि सायो बाणो जयकुमारस्य, अथवा सायोऽपराह्णकालश्च तं निरन्तरायमविच्छिन्नतया प्रवर्तमानं निरीक्ष्य दृष्ट्वाऽयमर्कश्चक्रवर्तिपुत्रस्तदा निष्प्रभकायं दधत् स्वीकुर्वंश्छन्नीभवत्वमेव नियमेन तिरोभवितुं किल गतवान् । तु पादपूर्तौ । समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ५० ॥

होता है तो सूर्य चन्द्रमाको दबा लेता है। इसी प्रकार इस युद्धमें भी सोमके पुत्र जयकुमारपर अर्ककीर्तिके घोड़े आ धमके अवश्य, पर सूर्येन्दु (अर्ककीर्ति अर्क = सूर्य और सोमाङ्गज = सोमात्मक उसका पुत्र जयकुमार) का यह समागम आज लोगोंमें चिन्ताका विषय बन गया है कि देखें किसके द्वारा किसका यश नष्ट होता है ॥ ४८ ॥

अन्वय : पश्चात् अत्र इष्टदृश्वा अयं जयः च प्रतिद्वन्द्वितया सनामानं हयम् आरुह्य अरं निजीयान् अश्वारोहान् नियोद्धुम् एव आदिष्टवान् ।

अर्थ : जब अर्ककीर्त्ति घोड़ेपर चढ़कर आया तो जयकुमार भी प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें अपने ही नामवाले जयनामक घोड़ेपर चढ़कर उसके सामने आ गया और अपने अन्य घुड़सवारोंको भी उसने खूब होशियारीके साथ युद्ध करनेका आदेश दिया ॥ ४९ ॥

अन्वय : निरन्तरायं तु प्रवर्तमानं सोमोदयकारि सायं निरीक्ष्य तदा अयम् अर्कः अच्छायं कायं दधत् छन्नीभवत्वम् एव गतवान् ।

धनुर्लताया गुणिनस्तु खिन्नः सुलोचनाग्रैकशरेण भिन्नः ।
अपत्रपः सन्नपरोऽत्र वीरः सम्भोगमन्तः स्मृतवानधीरः ॥ ५१ ॥

धनुरिति । अत्र प्रसङ्गे तु पुनर्गुणिनो धैर्यवतो धनुर्लतायाश्चापयष्टेः तन्नामपत्न्या वा सुन्दरी लोचनः प्रत्यञ्चा वा दृष्टिर्वा तस्याग्रैकशरेण बाणेन कटाक्षेण वा भिन्नो घातमवाप्तः, अत एव खिन्नो । खेदं गतश्च तावताऽधीरो धीरतारहितोऽपरः कोऽपि वीरोऽपत्रपः पत्रं वाहनं पाति स पत्रपो न पत्रपोऽपत्रपः अथवा त्रपावर्जितः सन् अन्तः अन्तरङ्गे सम्भोगं भगवन्नाम सुरतं वा स्मृतवान् । 'सम्भोगो जिनशासने' इति 'लोचो मौर्व्यां भूरुहचर्मणि च' इति विश्वलोचने । समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ५१ ॥

तेजोनिधौ सोमसुते प्रतीपा वर्धिष्णुके मृत्युमुखे समीपात् ।
अशक्नुवन्तो युगपत्पतङ्गा इवाऽऽनिपेतुर्दहनेऽनुषङ्गात् ॥ ५२ ॥

तेजोनिधाविति । तेजोनिधौ प्रतापयुक्ते अत एव वर्धिष्णुके वर्धनशीले मृत्युमुखे मरणकारणे सोमसुते जयकुमारे सति संमुखे अशक्नुवन्तोऽसमर्थाः सन्तोऽपि समीपान्निकट-

---

अर्थ : सोम (चन्द्रमा) का उदय करनेवाले सायंकालको निरर्गल रूपसे फैलता देख सूर्य निष्प्रभ होकर छिपनेकी सोचने लगता है। इसी प्रकार सोमवंशका उदय करनेवाला जयकुमारका अनिर्बाध आगे बढ़ना देखकर निष्प्रभ (उदास) अर्ककीर्ति भी कहीं छिप जानेकी सोचने लगा ॥ ५० ॥

अन्वय : अत्र गुणिनः तु धनुर्लतायाः सुलोचनाग्रैकशरेण भिन्नः खिन्नः अपरः वीरः अधीरः अपत्रपः अन्तः संभोगं स्मृतवान् ।

अर्थ : जैसे किसी गुणवान्की धनुर्लता नामक पुत्रीके कटाक्षरूपी बाणोंसे आहत होकर खेदखिन्न और अधीर कोई कामी निर्लज्जताके साथ अपने अंतरंगमें संभोगकी सोचने लगता है, वैसे ही गुणवान् जयकुमारकी धनुर्लताकी डोरीपर चढ़े बाणसे खेदखिन्न और वाहनसे हीन शत्रुका वीर योद्धा भी अपने अंतरंगमें जिनशासनको स्मरण करने लगा। यहाँ श्लिष्ट पदोंसे समासोक्ति अलंकार बनता है ॥ ५१ ॥

अन्वय : तेजोनिधौ वर्धिष्णुके मृत्युमुखे सोमसुते अशक्नुवन्तः प्रतीपाः समीपात् युगपत् अनुषङ्गात् दहने पतङ्गाः इव आनिपेतुः ।

अर्थ : जैसे बढ़ती हुई तेज अग्निमें उसे न सह सकनेके कारण आस-पास इकट्ठे होकर फतिंगे एक साथ आ गिरते और मृत्युमुखमें चले जाते हैं वैसे ही

वेशाद् युगपदेकीभूय अनुषङ्गात् प्रसङ्गवशाद् वह्नेऽमी पतंगा इव प्रतीपाः शत्रव आनिपेतुः । उपमालङ्कारः ॥ ५२ ॥

परे रणारम्भपरा न यावद् बभुश्च काशीशसुता यथावत् ।
निष्कष्टुमागत्यतरा मितोऽघं हेमाङ्गदाद्या ववृषुः शरौघम् ॥ ५३ ॥

पर इति । यावच्च परे शत्रवो रणारम्भपरा न बभुर्जयकुमारस्योपरि न निपेतुस्तावदेव च काशीशसुता हेमाङ्गदाद्या इतो जयकुमारपार्श्वतोऽघं संकटं निष्कष्टुं दूरीकर्तुमागत्यतरां यथावच्छरौघं ववृषुः मुक्तवन्तः ॥ ५३ ॥

संस्थापनार्थं प्रवरस्य यावत् पृषत्पतिप्रासनमुद्दधार ।
प्रत्यर्थिनोऽलङ्करणाय कण्ठे समर्पयामास शरं स चारम् ॥ ५४ ॥

संस्थापनार्थमिति । प्रवरस्य बलवतो वल्लभस्य वा संस्थापनार्थं मारणायो उपनिवेशनाय च यः कोऽपि यावत् पृषत्पतेरुत्तमबाणस्य प्रासनं स्थानं धनुः, यद्वा सिंहासनमुद्दधार गृहीतवांस्तावदेव अरं शीघ्रं स च प्रत्यर्थिनस्तस्य शत्रोः प्रत्याशाधारिणो वा कण्ठे अलङ्करणाय निषेधार्थं वा शोभार्थं शरं बाणं हारं वा समर्पयामास । समासोक्त्यलङ्कारः ॥ ५४ ॥

तेजके निधान, वर्धनशील प्रभावशाली जयकुमारको देखकर उसके सामने ठहरनेमें असमर्थ वैरी लोग इधर-उधरसे एक साथ इकट्ठे हो आ धमके और नष्ट होने लगे ॥ ५२ ॥

अन्वय : यावत् च परे यथावत् रणारम्भपराः न बभुः, तावत् काशीशसुताः हेमाङ्गदाद्याः इतः अघं निष्क्रष्टुम् आगत्यतरां शरौघं ववृषुः ।

अर्थ : जबतक वे शत्रु युद्धारम्भार्थ सन्नद्ध हो भलीभाँति जयकुमारतक पहुँच नहीं पाये, उसके पहले ही इधरसे काशीश्वरके पुत्र हेमांगद आदिने उस जयकुमारपर आये उपद्रवको दूर हटानेके लिए बाणोंकी वर्षा शुरू कर दी, अर्थात् उन्होंने शत्रुओंको बीचमें ही रोक लिया ॥ ५३ ॥

अन्वय : प्रवरस्य संस्थापनार्थं यावत् (कः अपि) पृषत्पतिप्रासनम् उद्धार तावत् सः च अरं प्रत्यर्थिनः अलङ्करणाय तस्य कण्ठे शरं समर्पयामास ।

अर्थ : किसी एक योद्धाने अपने सामने आये बलवान्‌को मार गिरानेके लिए ज्योंही बाण उठाया, त्योंही उस दूसरे योद्धाने बड़ी तेजीसे अपने सामनेवाले शत्रुको रोकनेके लिए उसके कंठमें खींचकर बाण चढ़ा दिया। दूसरा अर्थ किसीने

पाणौ कृपाणोऽस्य तु केशपाश आसीत्प्रशस्यो विजयश्रिया सः ।
भुजङ्गतो भीषण एतदीयद्विषद्दृदे वा कुटिलोऽद्वितीयः ॥ ५५ ॥

पाणाविति । कृपाणोऽस्य जयकुमारस्य पाणौ हस्ते विजयश्रियाः प्रशस्यः केशपाशो आसीत् । स एव पुनः एतदीयद्विषद्वृदे वैरिहृदयाय भुजङ्गतोऽपि भीषणोऽधिकभयङ्कर आसीत् यतोऽसौ अद्वितीयः कुटिलो विभिन्नभावयुक्तोऽभूद्वा ॥ ५५ ॥

यो गाढमुष्टिः कृपणो जयस्य शिरः परेषां भवितुं प्रशस्यः ।
दिगम्बरेषु स्वमपास्य कोषं मध्यस्थमाकारमगाददोषम् ॥ ५६ ॥

य इति । जयस्य कुमारस्य यः खड्गो गाढो मुष्टिर्यस्य सः कृपाणः एवाधुना परेषा-मन्येषां वैरिणां शिरो भवितुं वा, मारयितुं पूज्यतां लब्धुं स्वं कोषमधिष्ठानं धनं च अपास्य त्यक्त्वा दिगम्बरेषु दिशामवकाशेषु निरम्बरेषु मध्यस्थम् आकारमगात्, तथा कृपाणो जातो मध्यस्थमाकारम् उदासीनरूपं वा जगाम । समासोक्तिः ॥ ५६ ॥

अपने यहाँ आये बलवान्को आदरपूर्वक बैठनेके लिए सिंहासन दिया तो उसने उसके बदलेमें उसकी शोभा बढ़ानेके लिए उसके गलेमें हार पहना दिया। इस अप्रस्तुत व्यवहारका प्रकृत प्रस्तुतपर समारोप होनेसे यहाँ समासोक्ति अलंकार है ॥ ५४ ॥

अन्वय : अस्य तु पाणौ यः कृपाणः आसीत्, सः विजयश्रियाः प्रशस्यः केशपाशः । (सः एव) वा एतदीयद्विषद्धृदे अद्वितीयः कुटिलः भुजङ्गतः अपि भीषणः (आसीत्) ।

अर्थ : जयकुमारके हाथमें जो तलवार थी वह तो ऐसी प्रतीत हुई मानो विजयश्रीकी वेणी है। किन्तु वही तलवार, जो बेजोड़ कुटिल थी, वैरीकी दृष्टिमें भुजंगसे भी भयंकर प्रतीत हुई ॥ ५५ ॥

अन्वय : जयस्य यः गाढमुष्टिः प्रशस्यः कृपणः, सः परेषां शिरः भवितुं स्वं कोषम् अपास्य दिगम्बरेषु अदोषं मध्यस्थम् आकारम् अगात् ।

अर्थ : जयकुमारके गाढ़ी मूठवाले, प्रशंसनीय खड्गने जो कि कृपण अर्थात् किसी भी वैरीको प्राणोंका दान देनेवाला नहीं था, शत्रुओंके सिरपर चोट मारनेके लिए अपने कोष यानी म्यानको छोड़कर दिशाओंके आकाशमें अपना भीतरी निर्दोष आकार धारण कर लिया। तात्पर्य यह कि 'कृपण' शब्दके मध्यके अकारको आकार रूपमें प्राप्तकर 'कृपाण' बन गया ॥ ५६ ॥

भिन्नारिसन्नाहकुलान् स्फुलिङ्गानसिप्रहारैरुदितान् कलिङ्गाः ।
स्फुरत्प्रतापाग्निकणानिवाऽऽहुर्जयस्य यः स प्रचलत्सुबाहुः ॥ ५७ ॥

भिन्नारीति । कलिङ्गाश्चतुरा जना असिप्रहारैः खङ्गाघातैर्भिन्ना येऽरीणां सन्नाहाः कवचास्तेषां कुलं समूहस्तस्मादुदितान् संजातान् स्फुलिङ्गान् जयस्य यः प्रचलत्सुबाहुः प्रचलन्मनोज्ञभुजस्तस्य स्फुरत् स्फूर्तिं व्रजन् यः प्रतापाग्निस्तस्य कणानिव आहुरवदन् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५७ ॥

यशस्तरोरङ्कुरकाः समन्ताद् बभुः स्फुटन्तोऽरिकरीन्द्रदन्ताः ।
रक्तैर्निषिक्ते च रथाङ्गकृष्टे रणाङ्गणेऽस्मिन्नपि जिष्णुसृष्टेः ॥ ५८ ॥

यशस्तरोरिति । रक्तैः निषिक्ते च पुना रथाङ्गैश्चक्रैः कृष्टेऽस्मिन् रणाङ्गणेऽपि समन्तात्परितः स्फुटन्तोऽरिकरीन्द्राणां दन्तास्ते जिष्णोर्जयकुमारस्य सृष्टेः कर्तव्यताया यश एव तरुस्तस्याङ्कुरका इव बभुर्विरेजुः । उत्प्रेक्षागर्भो रूपकालङ्कारः ॥ ५८ ॥

बभूव भूयोऽबलाधिकारी परम्परावृद्धिमयस्तथारिः ।
एवं स जातः कमलानुसारी जयस्तदानीमपि हर्षधारी ॥ ५९ ॥

अन्वय : कलिङ्गाः असिप्रहारैः भिन्नारिसन्नाहकुलान् उदितान् स्फुलिङ्गान् जयस्य यः सः प्रचलत्सुबाहुः तस्य स्फुरत्प्रतापाग्निकणान् इव आहुः ।

अर्थ : चतुरजन कहते थे कि जयकुमारकी तलवारके प्रहारसे भिन्न शत्रुओं-के कवचोंसे उठे स्फुलिंग बलवान् भुजाओंवाले जयकुमारके प्रतापाग्निके मानो अंगारे ही हैं ॥ ५७ ॥

अन्वय : रक्तैः निषिक्ते च रथाङ्गकृष्टे अस्मिन् रणाङ्गणे अपि समन्तात् स्फुटन्तः अरिकरीन्द्रदन्ताः जिष्णुसृष्टेः यशस्तरोः अङ्कुरकाः बभुः ।

अर्थ : रक्तसे सींची गयी और रथके चक्रोंसे कर्षित की गयी रणभूमि-पर वैरियोंके हाथियोंके जो टूटे हुए दाँत पड़े थे, वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो जयशील जयकुमार द्वारा सृष्ट यशरूपी वृक्षके अंकुर ही लगे हों ॥ ५८ ॥

अन्वय : तथा (तत्र) भूयः अपि परम्परावृद्धिमयः अरिः अबलाधिकारी बभूव । एवं तदानीम् अपि सः जयः कमलानुसारी हर्षधारी (च) जातः ।

बभूवेति । तत्र युद्धे अरिः शत्रुर्भूयो वारंवारमपि परम्परा खड्गकोशस्तस्याविर्भा तस्या युद्धिः प्रणाशस्तन्मयोऽपि तथापिः अबलस्य बलाभावस्य, अबलायाः स्त्रियो वाऽधिकारी बभूव । जयो जयकुमारोऽपि तदानीं यः कमलाया सुलोचनाया विजयलक्ष्म्या वाऽनुसारी सन्नेवं स हर्षधारी जातः प्रसन्नोऽभूदित्यर्थः । समासोक्त्यलङ्कारः । 'परम्परा तु सन्ताने खड्गकोशे परिच्छदे' इति विश्वलोचनः ॥ ५९ ॥

अवेक्षमाणः प्रहतं स्वसैन्यं सोऽन्तर्गतं किञ्चिदवाप्य दैन्यम् ।
तमःसमूहेन निरुक्तमूर्तिमिभं तदाऽरुक्षदथार्ककीर्तिः ॥ ६० ॥

अवेक्षेति । अथ तदाऽर्ककीर्तिः स्वसैन्यं प्रहतं हतप्रायमवेक्षमाणः सोऽन्तर्गतं मनोनिष्ठं किञ्चिद्दैन्यं कातर्यमवाप्य प्राप्य, तमःसमूहेन निरुक्ता मूर्तिः शरीरं यस्य तं श्यामवर्णं करिणमरुक्षत् आरुरोह ॥ ६० ॥

द्विपं द्विपक्षायतघण्टिकाभिः सुघोषमुत्तोषवतां सनाभिः ।
बलादलङ्कृत्य बभूव भूपः जयः प्रतिस्पर्धिनयस्वरूपः ॥ ६१ ॥

द्विपमिति । जयो जयकुमारोऽपि य उत्तोषवतां संहर्षणशालिनां सनाभिः आत्मीयः स भूपोऽपि बलाद्बलपूर्वकं द्वयोः पक्षयोरायता या घण्टिकास्ताभिः सहितमिति शेषः । सुघोषं नाम द्विपं हस्तिनमलङ्कृत्य समारुह्य प्रतिस्पर्धिनयस्वरूपः प्रतिद्वन्द्वितायुक्तो बभूव ॥ ६१ ॥

अर्थ : बार-बार बलहीन होकर खड्गकोषके अभावसे युक्त होकर भी वैरी तो अबलों या अबलाओंका अधिकारी बना । इसी तरह उसी समय जयकुमार लक्ष्मीका अधिकारी होकर हर्षधारी हो गया ॥ ५९ ॥

अन्वय : अथ तदा अर्ककीर्तिः स्वसैन्यं प्रहतम् अवेक्ष्यमाणः अन्तर्गतं किञ्चित् दैन्यं अवाप्य तमःसमूहेन निरुक्तमूर्तिम् इभम् अरुक्षत् ।

अर्थ : इस प्रकार अपनी सेनाको जयकुमार द्वारा परास्त होता देख अपने अन्तरंगमें विलक्षण दैन्य धारण करता हुआ उदास अर्ककीर्ति घोड़ेको छोड़ अंधकारके समूहके समान स्थित हाथीपर चढ़ गया ॥ ६० ॥

अन्वय : उत्तोषवतां सनाभिः जयः भूपः द्विपक्षायतघण्टिकाभिः सुघोषं द्विपं बलात् अलङ्कृत्य प्रतिस्पर्धिनयस्वरूपः बभूव ।

अर्थ : संतोषियोंका मुखिया राजा जयकुमार भी प्रतिस्पर्धाकी दृष्टिको

बकाः पताकाः करिणोऽम्बुवाहाः शरा मयूरास्तडितोऽसिका हा ।
ढक्कानिनादस्तनितानुवादः सुधी रणं वर्षणमुज्जगाद ॥ ६२ ॥

बका इति । तस्मिन् रणे पताकास्ता एव बकाः, करिण एव अम्बुवाहा मेघाः, शरा एव मयूराः, असय एव तडितश्चञ्चलाः, ढक्काया निनादो युद्धवादित्रशब्द एव स्तनितस्य मेघगर्जनस्यानुवादः । एवं कृत्वा सुधीजनो रणं वर्षणमुज्जगाद । रूपकालङ्कारः ॥ ६२ ॥

जयश्रियं श्रीधरपुत्रिकाया विधातुमानन्दपरः सपत्नीम् ।
जयोऽभवच्चक्रिसुतेऽथ सद्यो गजं निजं प्रेरयितुं प्रयत्नी ॥ ६३ ॥

जयश्रियमिति । अथ जयः कुमारो जयश्रियं विजयलक्ष्मीं श्रीधरस्य अकम्पनस्य पुत्रिकायाः सुलोचनायाः सपत्नीं विधातुं कर्तुमानन्दपरो हर्षसंयुतः सद्यः शीघ्रमेव चक्रिसुतेऽर्ककीर्तौ निजं गजं प्रेरयितुं प्रयत्नी यत्नवानभवत् ॥ ६३ ॥

हिमे तमश्छेत्तुमिवोद्यतस्य रवेस्तुषारा इव ते जयस्य ।
आक्रामतश्चक्रपतेस्तुजं द्रागग्रे निपेतुः पुनरष्टचन्द्राः ॥ ६४ ॥

स्वीकार कर बलात् अपने उस सुघोषनामक हाथीपर बैठ प्रतिद्वन्द्वी वीर बन गया, जिसके दोनों ओर घंटियाँ बज रही थीं ॥ ६१ ॥

अन्वय : हा यस्मिन् बकाः एव पताकाः, करिणः एव अम्बुवाहाः, शराः एव मयूराः, असिका च तडितः, ढक्कानिनादः स्तनितानुवादः । (अतः) तं रणं सुधीः वर्षणम् उज्जगाद ।

अर्थ : आश्चर्य है कि उस समय रणको सुधीजनने वर्षाकालके समान कहा । कारण, उसमें पताका ही बगुले थे और हाथी ही थे बादल । मयूरके स्थानपर बाण थे, तो चमकती तलवारें बिजलीका काम कर रही थीं । वहाँ नगाड़ेकी ध्वनि मेघगर्जनाका प्रातिनिध्य कर रही थी ॥ ६२ ॥

अन्वय : अथ जयः जयश्रियं श्रीधरपुत्रिकायाः सपत्नीं विधातुम् आनन्दपरः (सन्) सद्यः चक्रिसुते निजं गजं प्रेरयितुं प्रयत्नी अभवत् ।

अर्थ : अन्तमें जयकुमार उत्साही होकर जयश्रीको सुलोचनाकी सपत्नी बनानेके लिए उद्युक्त हो प्रसन्नचित्त होता हुआ अपने हाथीको शीघ्र ही अर्ककीर्तिकी ओर बढ़ानेका यत्न करने लगा ॥ ६३ ॥

अन्वय : हिमे तमः छेत्तुम् उद्यतस्य रवेः तुषाराः इव पुनः ते अष्टचन्द्राः चक्रपतेः तुजम् आक्रामतः जयस्य अग्रे द्राग् निपेतुः ।

हिम इति । हिमे हेमन्तर्तौ तमश्छेत्तुमुद्यतस्य रवेः सूर्यस्येव तत्र व्याक्रमतोऽस्य जयस्य पुन-मर्ककीर्तिमाक्रामतः सङ्क्रमतो वा अयस्य नाम सोमसूनोरग्रेऽन्तरे पुनरागतास्तावत् अष्टचन्द्रा-स्तन्नामानो राजानो मिषेतुराजग्मुः । उपमालङ्कारः ॥ ६४ ॥

मिथोऽत्र सम्मेलनकं समर्जन्नस्मै जनो वाजिनमुत्ससर्ज ।
अहो पुनः प्रत्युपकर्तुमेव मुदा ददौ वारणमेष देवः ॥ ६५ ॥

मिथ इति । अत्र मिथो जातं सम्मेलनकं समर्जन् समर्पयन् कोऽपि विपक्षीयो जनो-ऽस्मै जयकुमाराय वाजिनं बाणमुत्ससर्ज । पुनरनन्तरं प्रत्युपकर्तुमेव किलैष देवो जयकुमारो मुदा प्रसन्नतया वारणं ददौ । वारणेन तमागतं बाणमवारयत् । अहो हेलयैव । यदि कश्चिद् वाजिनं ददाति तर्हि प्रत्युपकर्तुं तस्मै गजो दीयत इति शिष्टजनानामाचारः । समासोक्तिः ॥ ६५ ॥

सुवर्णरेखाङ्कितमेव बाणं ततो जये मुञ्चति सप्रमाणम् ।
मध्ये शरं रीतिधरं विसर्ग्यस्तत्याज मत्वा जवनोऽरिवर्ग्यः ॥ ६६ ॥

सुवर्णेति । ततः पुनः शोभनो वर्णो गुणस्तस्य रेखयाऽङ्कितम् । यद्वा सुवर्णस्य हेम्नो रेखयाऽङ्कितं निर्मितं बाणमेव सप्रमाणं युक्तिपूर्वकं मुञ्चति सति जये चरितनायके मत्वा बुद्ध्या

अर्थ : अर्ककीर्तिपर जयकुमार द्वारा आक्रमण होता देख अष्टचन्द्र नामक राजा लोग बीचमें इस प्रकार आ गये, जिस प्रकार हेमन्तऋतुमें अन्धेरा नष्ट करनेमें सूर्यको तत्पर देखकर उसके बीच तुषार (पाला) आकर खड़ा हो जाता है ॥ ६४ ॥

अन्वय : अहो अत्र मिथः सम्मेलनकं समर्जन् (कः अपि) जनः अस्मै वाजिनम् उत्ससर्ज । एषः देवः पुनः प्रत्युपकर्तुम् एव मुदा वारणं ददौ ।

अर्थ : दोनों सेनाओंका परस्पर सम्मेलन होनेपर जयकुमारके लिए उधरसे किसीने बाण फेंका तो जयकुमारने उसका बीचमें ही निवारण कर दिया। दूसरा अर्थ : सामनेवाले शत्रुने उन्हें वाजि (= बाण या घोड़ा) भेट किया तो इन्होंने प्रत्युपकारकी दृष्टिसे बदलेमें वारण (= हाथी या निवा-रण) दे दिया। शब्दश्लेष द्वारा कविने यहाँ जयकुमारकी उदारता दिखायी है ॥ ६५ ॥

अन्वय : ततः सप्रमाणं सुवर्णरेखाङ्कितम् एव बाणं जये मुञ्चति (सति) मत्वा जवनः अरिवर्ग्यः विसर्ग्यः (अपि) मध्ये रीतिधरं शरं तत्याज ।

अवमोऽरिवर्गः शीघ्रकारी शत्रुपक्षीयो जनो योऽसौ विसर्यो विसर्गयोग्योऽपि मध्ये रीति-धरं शरं पित्तलयुक्तं बाणम् । एवञ्च मध्ये रीकारसहितं शरम् अर्थाच्छरीरं तत्याज अहो ॥ ६६ ॥

शुण्डावता तस्य सता हता वा नवद्विपास्ते चपलस्वभावाः ।
यथा कथञ्चित्-पदकाश्रयेण नयाः परेषां जिनवाग्रयेण ॥ ६७ ॥

शुण्डावतेति । तस्य जयकुमारस्य शुण्डावता हस्तिना ते चपलस्वभावाश्चञ्चला नवद्विपा अष्टौ अष्टचन्द्राणाम् एकश्च अर्ककीर्तेरिति नवसंख्याका नवाश्च युद्धमजानानास्ते हताः पराजिताः । यथा जिनवाचो रयेण प्रभावेण, कीदृशेन तेन कथञ्चिदिति पदकाश्रयेण स्याद्वादस्वरूपेण परेषां चार्वाकादीनां नया वचनमार्गास्तथेति । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ६७ ॥

काराप्रकारायितमारुरोहानसं पुनश्चक्रपतेः सुतो हा ।
स्वयं सखीकृत्य तथाष्टचन्द्रान् प्रस्पष्टतन्द्रान् युधि कष्टचन्द्रान् ॥ ६८ ॥

कारेति । पुनर्हस्तिनाशानन्तरं चक्रपतेः सुतस्तानष्टचन्द्रान् । कीदृशान्, युधि युद्ध-विषये कष्टः सङ्कटकारकश्चन्द्रग्रहो येषां तान् । तथा प्रस्पष्टा प्रकटीभूता तन्द्रा प्रमीला

अर्थ : अनन्तर जयकुमारने अपना बाण शत्रुपर फेंका, जो सुवर्णकी रेखासे युक्त था। उसी समय शीघ्रता करनेवाले शत्रु वर्गने भी बदलेमें मध्यमें रीतिधर शर (पीतलका बना या श + र के बीच 'री' धारण किया हुआ = शरीर) फेंका, अर्थात् शरीर ही त्याग दिया ॥ ६६ ॥

अन्वय : तस्य सता शुण्डावता ते चपलस्वभावाः नवद्विपाः वा (तथा) हताः यथा जिनवाक् रयेण कथञ्चित्-पदकाश्रयेण परेषां नयाः (अहनत्) ।

अर्थ : जयकुमारके उस हाथीने (अष्टचन्द्रसहित अर्ककीर्ति या) वैरियों-के चपल-स्वभाव नौ हाथियोंको वैसे ही परास्त कर दिया, जैसे 'कथंचित्' पदवाले जिनभगवान्‌के वचनोंके प्रभावसे चार्वाकादिके वचन खण्डित हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

अन्वय : हा पुनः चक्रपतेः सुतः प्रस्पष्टतन्द्रान् तथा युधि कष्टचन्द्रान् अष्टचन्द्रान् स्वयं सखीकृत्य काराप्रकारायितम् अनसम् आरुरोह ।

अर्थ : बड़े खेदकी बात है कि फिर अर्ककीर्तिने उन अष्टचन्द्रोंको, जिनके लिए युद्धकी दृष्टिसे चन्द्रग्रह कष्टकारक था और जिनका आलस्य स्पष्ट प्रतीत

येषां तान् । स्वयं स्वप्रभावेण सखीकृत्य कारायाः बन्दीगृहस्य प्राकार इव आचरितं येन तत्काराचितमनसं रथमारुरोह, हेति कष्टसूचकम् ॥ ६८ ॥

अङ्गीचकाराध्वकलङ्कलोपी ह्यरिञ्जयं नाम रथं जयोऽपि ।
खरोऽध्वना गच्छति येन सूर्यस्तेनैव सोमोऽपि सुधौघधुर्यः ॥ ६९ ॥

अङ्गीति । अध्वनो नीतिमार्गस्य कलङ्कं दोषं लुम्पतीत्यध्वकलङ्कलोपी जयः कुमारोऽपि तदा अरिञ्जयनामकं रथमङ्गीचकार । यतो येनाध्वना खरस्तीक्ष्णः सूर्यो गच्छति तेनैव सुधौघधुर्योऽमृतवृष्टिकरश्चन्द्रोऽपि नभसा गच्छति । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ६९ ॥

तेजोऽप्यपूर्वं समवाप दीप इव क्षणेऽन्तेऽत्र जयप्रतीपः ।
निःस्नेहतामात्मनि संब्रुवाणस्तथापदे संकलितप्रयाणः ॥ ७० ॥

तेज इति । जयस्य प्रतीपोऽरिः अर्ककीर्तिः स दीप इव अत्र अन्ते क्षणेऽपूर्वं पूर्वापेक्षयाऽभ्यधिकं तेजोबलमुद्योतञ्चापि समवाप । कीदृशोऽर्ककीर्तिः ? आत्मनि स्वजीवने निःस्नेहतां प्रेमाभावं तैलाभावं वा संब्रुवाणोऽङ्गीकुर्वाणः । तथा अपदेऽनुचितमार्गे किंवा आपदे विपदे संकलितः स्वीकृतः प्रयाणो गमनं येन सः । उपमालङ्कारः ॥ ७० ॥

हो रहा था, अपने प्रभावसे मित्र-सा बनाकर कैदखानेके समान दीखनेवाले रथमें बिठा लिया ॥ ६८ ॥

अन्वय : अध्वकलङ्कलोपी जयः अपि अरिञ्जयं नाम रथं अङ्गीचकार । येन अध्वना खरः सूर्यः गच्छति तेन एव सुधौघधुर्यः सोमः अपि गच्छति ।

अर्थ : नीतिमार्गके दोषोंको नष्ट करनेवाले जयकुमारने भी अरिञ्जय नामक रथ स्वीकार किया । कारण जिस रास्तेसे तीक्ष्ण सूर्य जाया करता है, उसी रास्तेसे अमृतवृष्टिकर्ता चन्द्रमा भी जाया करता है ॥ ६९ ॥

अन्वय : अत्र जयप्रतीपः अन्ते क्षणे दीपः इव आत्मनि निःस्नेहतां संब्रुवाणः तथा आपदे संकलितप्रयाणः अपि अपूर्वं तेजः समवाप ।

अर्थ : यहाँ अर्ककीर्तिने अन्तसमयमें अपने जीवनके विषयमें स्नेहरहित होकर और प्रयाणको स्वीकृत करके भी एक अपूर्व तेज प्राप्त किया । अर्थात् उसने पूरे उत्साहके साथ मरणकी तैयारी की, जैसे कि बुझते समय दीपक एकबार चमक उठता है ॥ ७० ॥

उत्तेजयामास स वा समस्तविद्याधृतामीशमितो वचस्तः ।
तवालसत्वं स्विदनन्यभासः क्षमे न मेऽहो सुनमेऽवकाशः ॥ ७१ ॥

उत्तेजयामासेति । वा सः अर्ककीर्तिः समस्तानां विद्याधृतामीशं सुनमिमितो वचस्तो वाक्याद्युत्तेजयामास, यत्किल हे सुनमे, तव अनन्यभासोऽसदृशतेजः सः अलसत्वमेतावृग्रुपेक्षा-भावमहोऽहं क्षमे पश्यन् वर्ते, तत्राधुना अवकाशो मे समीपे नास्ति ॥ ७१ ॥

जयाज्ञयाक्रम्य तदैव मेघप्रभेण विद्याधिपतिर्नयेऽघः ।
प्रवर्तमानः सहसा मृगारिवरेण मत्तेभ इव न्यवारि ॥ ७२ ॥

जयाज्ञयेति । तदैव जयस्य आज्ञया शासनेन मेघप्रभेण विद्याधरेण आक्रम्य समागत्य सः सुनमिविद्याधरेशो यो नये नीतिवर्त्मनि किल अघः पापकरोऽनर्थकारकः । सुनमे विशेषणत्वाद् अघशब्दस्य पुंस्त्वं विहितम् । स सुनमिस्तत्र प्रवर्तमानो मृगारिवरेण सिंहेन मत्तेभ इव सहसा न्यवारि प्रतिरुद्धस्तेन मेघप्रभेण । उपमालङ्कारः ॥ ७२ ॥

रणोऽनणीयाननयो रभाद्वै सदिव्यशस्त्रप्रतिशस्त्रभावैः ।
समुत्स्फुरद्विक्रमयोरखण्डवृत्त्या तदाश्चर्यकरः प्रचण्डः ॥ ७३ ॥

रण इति । तदा समुत्स्फुरन् विक्रमो ययोस्तौ तयोरवञ्ब्धपराक्रमयोः अनयोः सुनमि-मेघप्रभयोः रभाद्वेगाद् दिव्यशस्त्रप्रतिशस्त्रभावैः अखण्डवृत्त्या सततयोधनव्यापारेण,

---

अन्वय : वा सः समस्तविद्याधृताम् ईशं अनन्यभासः तव अलसत्वम् अहं क्षमे इति मे अवकाशः न स्वित्, इतः वचस्तः सुनमें उत्तेजयामास ।

अर्थ : अर्ककीर्तिने स्वपक्षीय विद्याधरोंके अधिपतिको इन शब्दोंसे उत्तेजित किया कि भाई सुनमे ! तुम युद्धमें आलस्य कर रहे हो, इस समय तुम्हारे इस आलस्यको सहन करनेका मुझे अवकाश नहीं, अर्थात् पूरे बलसे काम लो ॥ ७१ ॥

अन्वय : तदा एव जयाज्ञया मेघप्रभेण आक्रम्य प्रवर्तमानः नये अघः विद्याधिपतिः मृगारिवरेण मत्तेभः इव सहसा न्यवारि ।

अर्थ : उसी समय इधरसे जयकुमारकी आज्ञा पाकर मेघप्रभ नामक विद्याधरने उत्तेजित हुए उस सुनमिका ऐसा सामना किया, जैसे कि कोई मतवाला सिंह हाथी का करता है ॥ ७२ ॥

अन्वय : तदा समुत्स्फुरद्विक्रमयोः अनयोः रभात् सदिव्यशस्त्रप्रतिशस्त्रभावैः अखण्डवृत्त्या आश्चर्यकरः प्रचण्डः अनणीयान् रणः अभवत् ।

अर्थ : उस समय प्रस्फुरित बलशाली उन दोनों सुनमि और मेघप्रभका

आश्चर्यं करोतीत्याश्चर्यंकरो विस्मयोत्पादकः प्रचण्डस्तुमुलः अनल्पीयान् महान् रणः सङ्ग्रामोऽभवदिति शेषः ॥ ७३ ॥

तौ पृष्ठतो द्रष्टुमशक्नुवानौ जयानुजानन्तपदाग्रसेनौ ।
परस्परं सिंहसुतौ नियोद्धुं सुग्रं रमाते स्म यशः प्रबोद्धुम् ॥ ७४ ॥

ताविति । जयस्यानुजो विजयस्तथा अनन्तपदस्याग्रे सेनपदं यस्य सोऽनन्तसेनः, एतौ पृष्ठतो द्रष्टुमशक्नुवानौ सिंहस्य सुताविव स्वयशः प्रबोद्धुं प्रकटयितुं परस्परमन्योन्यं सम्यगुग्रं सूग्रम् अतिभयङ्करं नियोद्धुं रमाते स्म प्रारभेताम् । प्रतिवस्तूपमा ॥ ७४ ॥

हेमाङ्गदः किञ्च बली भुजेन परस्परं वव्रजतुस्तु तेन ।
उभाविभेन्द्राविव बाहुमूलबलेन नद्धौ समरं सतूलम् ॥ ७५ ॥

हेमाङ्गद इति । किञ्च हेमाङ्गदस्तु पुनर्भुजेन बली भुजबली तावेतौ उभौ तेन स्वस्य बाहुमूलबलेन नद्धौ युक्तौ सन्तौ इभेन्द्रौ हस्तिराजाविव परस्परं यथा स्यात्तथा सतूलं विस्तारसहितं समरं युद्धं वव्रजतुः स्वीचक्रतुः । उपमालङ्कारः ॥ ७५ ॥

परेण विद्याबलयोः स्वपक्षममूज्जयः संतुलयन् विलक्षः ।
स्थानं चकम्पेऽहिचरस्य तावद्भव्यस्य दैवं लभते प्रभावः ॥ ७६ ॥

परेणेति । जयो जयकुमारः परेण अर्ककीर्तिपक्षेण सार्धं स्वस्य पक्षं विद्यां च बलञ्च

बड़े वेगसे दिव्यशस्त्र और प्रतिशस्त्रों द्वारा अखण्डवृत्तिसे बड़ा ही आश्चर्यकारी प्रचण्ड घोरयुद्ध हुआ ॥ ७३ ॥

अन्वय : पृष्ठतः द्रष्टुम् अशक्नुवानौ तौ जयानुजानन्तपदाग्रसेनौ सिंहसुतौ इव यशः प्रबोद्धुम् परस्परम् उग्रं नियोद्धुम् रमाते स्म ।

अर्थ : कभी पीठ न दिखा सकनेवाले जयकुमारके भाई विजय और अर्ककीर्तिके भाई अनन्तसेन, दोनों ही अपना-अपना यश प्रकट करनेके लिए दो सिंहोंके समान आपसमें भिड़कर उग्र युद्ध करने लगे ॥ ७४ ॥

अन्वय : किं च हेमाङ्गदः भुजेन बली च उभौ बाहुमूलबलेन नद्धौ इभेन्द्रौ इव परस्परं सतूलं समरं वव्रजतुः ।

अर्थ : इधर हेमांगद और भुजबली—बाहुबलसे सम्पन्न इन दोनोंने भी दो करीन्द्रोंकी तरह आपसमें परस्पर लम्बा युद्ध छेड़ दिया ॥ ७५ ॥

अन्वय : जयः (यावत्) परेण स्वपक्षविद्याबलयोः संतुलयन् विलक्षः अभूत्, तावत् अहिचरस्य स्थानं चकम्पे । भव्यस्य प्रभावः दैवं लभते ।

अर्थ : जयकुमारने विपक्षके साथ विद्या और बल दोनोंमें ही तुलना करते

विद्याबले तयोः सन्तुलयन् विलक्षोऽभूत् । मम पक्षो विद्यायां बले च परस्य सम्मुखे स्वल्प-रूप इति विचारमग्नो जातस्तावत्काले अहिचरस्य नाम द्वितीयसर्गोक्तस्य स्थानं चकम्पे कम्पमवाप । भव्यस्य पुण्याधिकारिणः प्रभावो दैवं लभते, दैवमपि तस्यानुकूलतामाचर-तीति भावः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७६ ॥

सुरः समागत्यतमां स भद्रं सनागपाशं शरमर्धचन्द्रम् ।
ददौ यतश्चावसरेऽङ्गवत्ता निगद्यते सा सहकारिसत्ता ॥ ७७ ॥

सुर इति । स सुरः समागत्यतमां नागपाशेन सहितं सनागपाशं भद्रं मङ्गलकमर्ध-चन्द्रनामकं शरं ददौ, यतोऽवसरे प्राप्ते सति या अङ्गवत्ता आत्मीयभावः, सा सहकारिसत्ता निगद्यते । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७७ ॥

शरोऽपि नाम्नाऽवसरोऽथ जीत्या बभूव भूत्याः प्रसरः प्रतीत्या ।
मन्दादिकेभ्यः सुविधाविधानः कुतो ग्रहत्वेऽपि रविः समानः ॥ ७८ ॥

शर इति । स देवेन प्रदत्तः शरो नाम्नापि शर इति । अत्र अपिशब्दोऽवच्छेदार्थो वर्तते । अथ पुनः प्रतीत्या अभिज्ञानेन स एव भूत्याः सम्पत्तेः प्रसरः, एवं जीत्या अवसरो जयदायकोऽपि बभूव । ग्रहत्वेऽपि सति रविः सूर्यो यः सुविधायाः सुकरतायाः विधानं यस्मात् स मन्दादिकेभ्यः शनिप्रभृतिभ्यः कुतः समानः स्यात्, न स्यात् । तथैवायं शरोऽपि परेभ्यो विशिष्ट इति भावः ॥ ७८ ॥

हुए अपने पक्षको निर्बल पाया तो कुछ लज्जित, उदास हो गया । उसी समय नागचर देवका आसन कांप उठा और वह दौड़ा हुआ आ पहुँचा । सच है कि भव्यपुरुषका प्रभाव अनायास ही भाग्यको अनुकूल कर लेता है ॥ ७६ ॥

अन्वय : सः सुरः समागत्यतमां सनागपाशं भद्रं च अर्धचन्द्रं शरं ददौ । यतः अवसरे (या) अङ्गवत्ता, सा सहकारिसत्ता निगद्यते ।

अर्थ : उस देवने जयकुमारको एक तो नागपाश दिया और दूसरा अर्धचन्द्र नामक बाण दिया । ठीक ही है, मौकेपर हाथ बटाना ही सहकारीपन कहा जाता है ॥ ७७ ॥

अन्वय : अथ नाम्ना शरः अपि (सः) प्रतीत्या भूत्याः प्रसरः जीत्या अवसरः बभूव । सुविधाविधानः रविः ग्रहत्वे अपि मन्दादिकेभ्यः कुतः समानः ।

अर्थ : यह अर्धचन्द्र बाण यद्यपि नामसे तो बाण था, फिर भी परिचय हो जानेपर वह सम्पत्तिदायक और अखण्ड विजय दिलानेवाला सिद्ध हुआ । सूर्य नामसे एक ग्रह होनेपर भी प्रभावमें शनि आदिके समान कैसे हो सकता है ? अर्थात् शत्रुके अन्य शरोंसे विशिष्ट था ॥ ७८ ॥

आसीत्किलासौ बलिसंप्रयोगेऽपि स्फीतिमाप्तो ग्रहणानुयोगे ।
जयश्रियो देवतया प्रणीतहेतिप्रसङ्गोऽथ जयस्य हीतः ॥ ७९ ॥

आसीदिति। देवतया प्रणीतहेतिप्रसङ्गः प्रदत्तशस्त्रसमागमः अथवा प्रणीताग्निसम्बन्धो यः किलासौ बलिभिर्बलशालिभिः सह । अथवा बलेः पूजाद्रव्यस्य सम्प्रयोगे सम्पर्के सति स्फीतिं स्फूर्तिमाप्तो भवति, सोऽथ जयस्य जयकुमारस्य हि नाम्यस्य इतो जयश्रियो ग्रहणस्य प्राप्तेः करस्य वाऽनुयोगे सम्बन्ध एवासीत् बभूव । समासोक्त्यलङ्कारः ॥ ७९ ॥

सन्धानकाले तु शरस्य तस्य सम्मानितोऽभूत् स्वहृदा स वश्यः ।
जयेति वाचा स्तुत आशु देवैर्जगुस्तथा तं क्रियया परे वै ॥ ८० ॥

सन्धानेति। तस्य शरस्य सन्धानकाल एव तु स्वशालिहृदा हृदयेन वश्यः स सोमसुतः सम्मानितोऽभूत् । अनेन बाणेनास्य अवश्यमेव विजयः स्यादित्याशासितोऽभूत् । तदा आशु शीघ्रमेव जयेति वाचा स्पष्टमेव स्तुतः सः । तथा परे शत्रवोऽपि तं तथा जयवन्तक्रियया आत्मसमर्पणात्मिकया चेष्टया वै निश्चयेन जगुः कथितवन्तः ॥ ८० ॥

रथसादथ सारसाक्षिलब्धपतिना सम्प्रति नागपाशबद्धः ।
शुशुभेऽप्यशुभेन चक्रितुक् तत्तमसा सन्तमसारिरेव भुक्तः ॥ ८१ ॥

रथसादिति । अथ सारसे कमले इवाक्षिणी यस्याः सा सारसाक्षी सुलोचना तथा

अन्वय : अथ देवतया प्रणीतहेतिप्रसङ्गः किल असौ बलिसंप्रयोगे अपि स्फीतिम् आप्तः हि, इतः जयस्य जयश्रियः ग्रहणानुयोगे (आसीत्) ।

अर्थ : यह बाण देवताओं द्वारा प्रदत्त और बलियोंके संप्रयोगसे स्फूर्तिशाली हो गया था, अतः जयकुमारको विजय प्राप्त करानेमें समर्थ था, जैसे कि प्रणीताग्निमें बलि डालनेपर वह और बढ़ती तथा पाणिग्रहण करानेमें समर्थ भी होती है । यहाँ श्लेषके आधारपर समासोक्ति है ॥ ७९ ॥

अन्वय : तस्य शरस्य सन्धानकाले तु स्वहृदा वश्यः सः सम्मानितः अभूत् । देवैः आशु जय इति वाचा स्तुतः । परे तं तथा क्रियया वै जगुः ।

अर्थ : वह बाण धनुषपर चढ़ाते समय ही स्वयं जयकुमारके हृदय द्वारा सम्मानित, प्रोत्साहित किया गया । इधर देवोंने जय-जय बोलकर उसकी स्तुति की और शत्रुओंने भी आत्मसमर्पण द्वारा उसकी विजयका गान गाया । अर्थात् मन, वचन और कायासे जयकुमारको विजय प्राप्त हुई ॥ ८० ॥

अन्वय : अथ संप्रति सारसाक्षिलब्धपतिना नागपाशबद्धः रथसात् चक्रितुक् अशुभेन तत्तमसा भुक्तः सन्तमसारिः एव शुशुभे ।

लब्धः स्वीकृतश्चासौ पतिस्तेन जयकुमारेण सम्प्रति नागपाशेन बद्धस्तथा रथे स्थापितो रथसात् स चक्रितुक् सार्वभौमपुत्रः सोऽशुभेन पापपूर्णेन तेन प्रसिद्धेन राहुणा भुक्तो गृहीतः सन्तमसारिः सूर्य एव शुशुभे रेजे । अनुप्रासानुप्राणित उपमालङ्कारः ॥ ८१ ॥

विषसादैव जयोऽस्मात् प्रससाद न जातु विजयतो यस्मात् ।
स्वास्थ्यं लभतां चित्तं ह्यादायायोग्यमिह च किमु वित्तम् ॥ ८२ ॥

विषसादैवेति । जयो नाम कुमारएव अस्माद्विजयतो विषसादैव विषादमेवाप, न तु जातुचिदपि प्रससाद आह्लादमाप्तवान्। तदेतद्भूतं कुत इति चेत् यस्मादिह हि भूतलेऽयोग्य-मनुचितं वित्तमादाय लब्ध्वा च चित्तं मनः किमु स्वास्थ्यं लभताम् ? न लभताम् । हीति निश्चये ॥ ८२ ॥

अर्कस्तूदर्कचिन्चितो जयश्च विजयान्वितः ।
जनोऽभिजनसम्प्राप्तो वर्धमानाभिधानतः ॥ ८३ ॥

अर्क इति । तत्र परिणामे यद्भविष्यत्तदुच्यते--अर्कश्चक्रवर्तिसुतस्तु उदर्कं भाविफलं किं स्यादित्येव अचिन्तयत् । उदर्कचिन्चितं मनो यस्य सोऽभूत् । किं स्यात् किं करिष्या-मीति विचारमग्नो जातः । जयश्च विजयेनान्वितो विषादबाधकजयेनान्वितः स्पष्टमेवासीत् । सर्वसाधारणश्च जनो वर्धमानस्य अर्हतोऽभिधानतस्तन्नामोच्चारणपूर्वकम् अभिजनं स्वजन्मस्थानं सम्प्राप्तो गतवान् ॥ ८३ ॥

अर्थ : पश्चात् नागपाशमें बाँधकर जयकुमारने अर्ककीर्तिको अपने रथमें डाल दिया । उस समय वह ऐसा प्रतीत हो रहा था कि राहु द्वारा आक्रान्त सूर्य ही हो । जैसे नागपाश तो राहु हुआ और अर्ककीर्ति हुआ सूर्य ॥ ८१ ॥

अन्वय : जयः अस्मात् विजयतः विषसाद एव, न जातु प्रससाद । यस्मात् इह हि च अयोग्यं वित्तम् आदाय चित्तं किमु स्वास्थ्यं लभताम् ।

अर्थ : इस प्रकार यद्यपि जयकुमारको विजय प्राप्त हुई, फिर भी उससे वह प्रसन्न न होकर अप्रसन्न ही हुआ । कारण अयोग्य धनको पाकर क्या कभी चित्त स्वस्थ्य, प्रसन्न हो सकता है ? ॥ ८२ ॥

अन्वय : अर्कः तु उदर्कचिञ्चितः, जयः च विजयान्वितः । (किन्तु) जनः वर्धमानाभि-धानतः अभिजनसंप्राप्तः अभूत् ।

अर्थ : अर्ककीर्ति तो भविष्यकी चिन्ता करने लगा कि अब क्या करें ? और जयकुमारने सविषाद विजय प्राप्त कर ली । शेष सर्वसाधारण व्यक्ति भगवान् वर्धमानका नाम लेते हुए अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥ ८३ ॥

अश्वसन्तं तु संस्कृत्य निःश्वसन्तमुपाचरत् ।
आगत्य सोमसत्पुत्रश्चकारानाथमात्मसात् ॥ ८४ ॥

अश्वसन्तमिति । सोमस्य सत्पुत्रः शोभनात्मजो जयकुमारः, आगत्य स्वाभिजनं प्राप्य, अश्वसन्तं निरुद्धश्वासमर्ककीर्तिं संस्कृत्य अन्नजलादिना स्नानादिना च संस्कृत्य निःश्वसन्तं श्वासोच्छ्वासयुक्तं विवर्णं तमुपाचरत् सेवितवान् । ततोऽनाथं स्वामिरहितं तमात्मसात् आत्माधीनं चकार ॥ ८४ ॥

नीतिं नीतिविदो विदुः कुरुपतेः स्फीतिं तु शूरा नरा
वीतिं गोचरवेदिनः सुसमये भाग्यप्रतीतिं प्रजाः ।
नानारीतिरभूत्तमां मतिरिति श्रीजीतिहेतुं पुनः
साहत्सद्‌गुणगीतिरेव सुदृशा क्लृप्ता प्रतीतिस्तु मे ॥ ८५ ॥

नीतिमिति । जयकुमारस्य श्रीजीतौ जये हेतुं नीतिविदो नीतिज्ञा जना नीतिं विदु-र्विदन्ति । शूरा नराः स्फीतिं भुजबलाधिक्यं विदुः । गोचरचारिणो दैवज्ञा वीतिं दैवं भाग्यं विदुः । प्रजा लोकाः सुसमयेऽस्मिन् भाग्यस्य प्रतीतिं विश्वासं विदुः । एवं नाना विविध-प्रकारा रीतयो यस्यां सा मतिर्बुद्धिः अभूत्तमाम् अतिशयेनाभवत् । किन्तु मे प्रतीति-स्त्वियं वर्तते यत्सुदृशा सुलोचनया याऽर्हतां सद्गुणानां गीतिः स्तुतिः कृता सैव जीति-हेतुरभूदिति । सानुप्रासः समुच्चयालङ्कारः ॥ ८५ ॥

अन्वय : अथ सोमसत्पुत्रः आगत्य अश्वसन्तं संस्कृत्य निःश्वसन्तम् उपाचरत्, अनाथम् (च) आत्मसात् चकार ।

अर्थ : जयकुमारने वापस आकर युद्धस्थलमें श्वास ले रहे घायलोंको तो इलाजके लिए भेज दिया और जो मर चुके थे, उन अर्ककीर्ति आदिका दाह-संस्कारादि करा दिया तथा जो अनाथ थे, उन्हें सनाथ बना दिया, अर्थात् अपने आश्रयमें ले लिया ॥ ८४ ॥

अन्वय : कुरुपतेः श्रीजीतिहेतुं नीतिविदः नीतिं शूराः नराः तु स्फीतिं गोचरवेदिनः वीतिं प्रजाः सुसमये भाग्यप्रतीतिं विदुः, इति नानारीतिः मतिः अभूत्तमाम् । मे प्रतीतिः सुदृशा क्लृप्ता सा अर्हत्सद्‌गुणगीतिः एव ।

अर्थ : कुरुपति जयकुमारकी जो विजय हुई, उसमें नीतिवान् तो उसकी कारण मानते थे कि वह अत्यन्त नीतिमान् है । जो शूर-वीर थे, वे उसके साहसको विजयका कारण समझते थे। जो ज्योतिषी थे, वे दैवको ही कारण मानते

ईशं सङ्गरसञ्चिताघहतये सम्यक् समर्च्यादरात्
पुत्रीं प्रेक्षितवान् पुनर्मृदुदृशा काशीविशामीश्वरः ।
आहारेण विना विनायकपदप्रान्तस्थितां भक्तितो
जल्पन्तीमपराजितं हृदि मुदा मन्त्रं मृधान्तार्थतः ॥ ८६ ॥

ईशमिति । काशीविशामीश्वरोऽकम्पनो राजा सङ्गरे रणकार्ये सञ्चितमज्ञानावनुचितप्रकृत्या यदघमर्जितं तस्य हतये विनाशाय ईशं भगवन्तमर्हन्तं सम्यङ् मनोवाक्कर्मणा समर्च्य पुनरादरात् अन्तःस्वाभाविकवात्सल्यात् मृदुदृशा स्निग्धदृष्ट्या पुत्रीं सुलोचनां प्रेक्षितवान् । कीदृशीम्, आहारेण विना यावन्मृधस्य युद्धस्यान्तोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिंस्तस्माद्धेतोः भक्तितो गुणानुरागान्मुदा हर्षेण हृदि हृदयेऽपराजितं नाम मन्त्रं जल्पन्तीमुच्चरन्तीम्, एवं विनायकस्य अर्हतः पदयोः प्रान्ते स्थितिमासीनाम् ॥ ८६ ॥

वीराणां वरदेव एव वरदे नेता विजेताऽभव-
च्छ्रीअर्हच्चरणारविन्दकृपयाभीष्टेन जातं तव ।
मौनं मुञ्च मनीषिमानिनि मुधा धामात्मनः संव्रज
तामित्थं समुदीर्य धाम गतवान् साकं तयाऽकम्पनः ॥ ८७ ॥

वीराणामिति । पुनस्तत्र अकम्पनः हे वरदे पुत्रि, वीराणां नेता ते वरदेव एव किल

थे । प्रजावर्ग इस शुभ समयमें भाग्यको प्रधान कारण मानते थे । इस प्रकार लोगोंकी भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ थीं । किन्तु मेरी समझमें तो यही आ रहा है कि उसकी विजयका प्रधान हेतु सुलोचना द्वारा की गयी भगवान् अर्हत्की स्तुति ही था ॥ ८५ ॥

अन्वय : काशीविशाम् ईश्वर. सङ्गरसञ्चिताघहतये आदरात् ईशं सम्यक् समर्च्य पुनः मृदुदृशा आहारेण विना विनायकपदप्रान्तस्थितां भक्तितः हृदि मुदा अपराजितं मन्त्रं मृधान्तार्थतः जल्पन्तीं पुत्रीं प्रेक्षितवान् ।

अर्थ : इधर अकम्पन महाराजने युद्धसे हुए पापको दूर हटानेके लिए सर्वप्रथम भगवान् अर्हत्की पूजा की। उसके बाद उन्होंने वहींपर जो भगवान्के चरणकमलोंमें आहार त्यागकर बैठी हुई थीं और किसी भी तरह यह युद्ध शान्त हो जाय, इस अभिलाषासे अपराजित मन्त्रका जाप कर रही थी, उस सुलोचनाको स्नेहभरी दृष्टिसे देखा ॥ ८६ ॥

अन्वय : वरदे वीराणां नेता वरदेवः एव विजेता अभवत् । श्रीअर्हच्चरणार-

विजेताऽभवत् । श्रीमतामर्हतां चरणारविन्दयोः कृपया प्रसादेन तवाभीष्टेन जातं जन्म-लब्धम् । यद्वा तव अभीष्टमेव इनः सूर्यस्तस्य जन्म, अर्थात् प्रभातमेवेदम् । अतो हे मनीषिषु बुद्धिमत्स्वपि मानिनि सम्मानवति, मौनं मुधा व्यर्थम् । अतोऽधुना तन्मुञ्च त्यज, आत्मनो धाम स्थानं संव्रज चल, इत्थं तां सुलोचनां समुदीर्य तया सह धाम स्वस्थानं गतवान् । अनुप्रासालङ्कारः ॥ ८७ ॥

सकलः सकलज्ञमाप्तवान् अपि सम्प्रार्थयितुं जनः स वा ।
भगवान् भगवानभिष्टुतो विपदामप्युत सम्पदामुत ॥ ८८ ॥

सकल इति । सोऽकम्पनो यथा सकलज्ञं सर्वज्ञं भगवन्तं सम्प्रार्थयितुमाप्तवान्, प्रार्थयितुमारब्धवानित्यर्थः । तथा तत्रस्थः सकलोऽपि जनः सर्वज्ञं प्रार्थयितुमारब्धवान् । यतो यस्मात्कारणात् भगोऽस्यास्तीति भगवान्, ऐश्वर्यादिषट्कसम्पन्नः परमात्मा 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । वैराग्यस्याथ मोक्षस्य 'षण्णां भग इतीरणम्' इति प्राचामुक्तिः । एवम्भूतो भगवान् अभिष्टुतः सन्नेव विपदामुद्धारकः, उत वा सम्पदामैश्वर्याणां प्रतिष्ठापको भवतीति भावः । अनुप्रासालङ्कारः ॥ ८८ ॥

सपदि विभातो जातो भ्रातर्भवभयहरणविभामूर्तेः ।
शिवसदनं मृदुवदनं स्पष्टं विश्वपितुर्जिनसवितुस्ते ॥ ८९ ॥

विन्दकृपया तव अभीष्टेन जातम् । मनीषिमानिनि मुधा मौनं मुञ्च, आत्मनः धाम संव्रज, इत्थं तां समुदीर्य अकम्पनः तया साकं धाम गतवान् ।

अर्थ : हे पुत्रि ! भगवान् अर्हन्तदेवकी कृपासे तेरे मनचाहे वर, वीरशिरोमणि जयकुमार विजयी हो गये । इसलिए अब हे बुद्धिमानोंमें भी सम्मान पानेवाली पुत्री ! व्यर्थ का मौन छोड़ो और प्रसन्नतापूर्वक घर चलो, इस प्रकार कहकर महाराज अकम्पन उसे साथ लेकर घर चले गये ॥ ८७ ॥

अन्वय : सः वा सकलः जनः अपि संप्रार्थयितुं सकलज्ञम् आप्तवान् । (यतः) भगवान् अभिष्टुतः विपदाम् उत संपदाम् उत भगवान् ।

अर्थ : सभी लोग और वह महाराज अकम्पन भी भगवान्‌के पास जाकर उनकी स्तुति करने लगे । कारण भगवान् विपत्ति या सम्पत्तिमें भगवान् ही हैं । अर्थात् विपत्तिमें याद करनेपर वे उसका उद्धार करते और सम्पत्तिमें ऐश्वर्यप्रतिष्ठित कर देते हैं ॥ ८८ ॥

सपदीति। हे भ्रात: सपदि साम्प्रतं विभातो जात: प्रभातकाल: संवृत्त:, यतो भव-भयस्य जननमरणभीते: हरणी नाशयित्री विभा प्रभा मूर्तिर्यस्य स तस्य जन्ममृत्युभय-नाशकतेजोमयस्वरूपस्य, विश्वपितु:, जिन एव सविता तस्य शिवसदनं कल्याणधाम-स्वरूपं मृदु मधुरं वदनमाननं ते स्पष्टं प्रतीयत इति शेष: । रूपकालङ्कार: ॥ ८९ ॥

गता निशाऽथ दिशा उद्घाटिता भान्ति विपूतनयनभूते ।
कोऽस्तु कौशिकादिह विद्वेषी परो नरो विशदीभूते ॥ ९० ॥

गतेति । हे विपूतनयनभूते, विशेषेण पूता पवित्रा, विपूता, नययोर्भूति: नयनभूति:, विपूता नयनभूतिर्यस्या: सा, तत्सम्बोधने हे निर्मलाक्षी, अधुना निशा गता व्यतीता, दिशा उद्घाटिता प्रकटीभूता भान्ति । इह अस्मिन् विशदीभूते प्रकाशमाने समये कौशिकात् उलूकात् पर: अन्य: को नरो विद्वेषी विरोधकोऽस्तु ? न कोऽपीत्यर्थ: ॥ ९० ॥

मङ्गलमण्डलमस्तु समस्तं जिनदेवे स्वयमनुभूते ।
हीराद्या हि कुत: प्रतिपाद्याश्चिन्तामणौ लसति पूते ॥ ९१ ॥

मङ्गलेति । जिनदेवेऽनुभूते सति समस्तं मङ्गलानां मण्डलं स्वयमस्तु भवेदित्यर्थ: । सामान्यार्थं विशेषार्थेन समर्थयति—हि यस्मात्कारणात् पूते निर्मले चिन्तामणौ रत्न-विशेषे लसति प्राप्ते सति हीराद्या हीरकप्रभृतीनि रत्नान्तराणि कुत: किमर्थं प्रतिपाद्या: ? किमर्थं लब्धव्या: ? न लब्धव्या निष्प्रयोजकत्वादित्यर्थ: । अर्थान्तरन्यास: ॥ ९१ ॥

अन्वय : भ्रात: सपदि विभात: जात: । (यत:) भवभयहरणविभामूर्ते: विश्वपितु: जिनसवितु: शिवसदनं मृदुवदनं ते स्पष्टं (प्रतीयते) ।

अर्थ : हे भाई ! अब प्रभात हो गया । कारण, भवभयका नाश करनेवाली प्रभामूर्ति, विश्वके पिता जिन-सूर्यका मंगलधाम मधुर मुख तुम्हारे लिए स्पष्ट दिखायी दे रहा है ॥ ८९ ॥

अन्वय : विपूतनयनभूते निशा गता। अथ दिशा: उद्घाटिता: भान्ति। इह विशदीभूते कौशिकात् पर: क: नर: विद्वेषी अस्तु ।

अर्थ : हे विशाल एवं निर्मल नयनोंवाली पुत्री ! सुनो, निशा बीत गयी । अब सभी दिशाएँ स्पष्ट सुशोभित दिखायी देने लगी हैं । ऐसे प्रकाशमान समयमें सिवा उल्लूके और ऐसा कौन नर होगा जो प्रसन्न न होगा ॥ ९० ॥

अन्वय : जिनदेवे अनुभूते समस्तं मङ्गलमण्डलं स्वयम् अस्तु । हि पूते चिन्तामणौ लसति हीराद्या: कुत: प्रतिपाद्या: ।

अर्थ : जिनदेवके दर्शन कर लेनेपर सब तरहके मंगल स्वयं सम्पन्न हो

कलिते सति जिनदर्शने पुनश्चिन्ता काऽन्यकार्यपूर्तेः ।
किमिह भवन्ति न तृणानि स्वयं जगति धान्यकणस्फूर्तेः ॥ ९२ ॥

कलित इति । जिनदर्शने कलिते विज्ञाते सति पुनरन्यकार्यपूर्तेः का चिन्ता ? न कापी-त्यर्थः । दृष्टान्तेनाह—किमिह जगति धान्यकणस्फूर्तेः धान्यबीजानां स्फूर्तेर्विक्षेपाद्भूमौ विकिरणात् स्वयं तृणानि शष्पाणि न भवन्ति ? अपि तु भवन्त्येव । एवमेव जिनदर्शन-विज्ञानादेव सर्वकार्याणि सिद्ध्यन्तीत्याशयः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९२ ॥

निःसाधनस्य चार्हति गोप्तरि सत्यं निर्व्यसना भूस्ते ।
द्युतये किं दीपैरुदयश्चेच्छान्तिकरस्य सुधासूतेः ॥ ९३ ॥

निःसाधनस्येति । निःसाधनस्य अपरसाधनवर्जितस्यापि ते भूरियमर्हति योग्ये गोप्तरि संरक्षके सति पुनः सत्यमेव निर्व्यसना सर्वापच्छून्या भवति । यथा शान्तिकरस्य सुधा-सूतेश्चन्द्रस्य उदयश्चेत्तत्र पुनर्द्युतये प्रकाशाय दीपैः किं प्रयोजनं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९३ ॥

जाते हैं। चिन्तामणि रत्नके प्राप्त हो जानेपर हीरा, पन्ना आदि क्योंकर प्राप्तव्य होंगे ? तब उनका कोई प्रयोजन ही नहीं ॥ ९१ ॥

अन्वय : जिनदर्शने कलिते सति पुनः अन्य कार्यपूर्तेः का चिन्ता ? इह जगति धान्यकणस्फूर्तेः स्वयं तृणानि किं न भवन्ति ?

अर्थ : जहाँ जिन भगवान्‌के दर्शन मिल गये, वहाँ फिर और किसी कार्यकी पूर्तिकी चिन्ता ही क्या ? क्या इस जगत्‌में जमीनमें धानके बीज छिटक देनेपर वहाँ घास स्वयं उग नहीं आती ? ॥ ९२॥

अन्वय : निःसाधनस्य च ते भूः अर्हति गोप्तरि सत्यम् (एव) निर्व्यसना । शान्तिकरस्य सुधासूतेः उदयः चेत् द्युतये दीपैः किम् ।

अर्थ : हे भाई ! साधनरहित होनेपर भी भगवान् अर्हत् जैसे योग्य संरक्षक रहते तेरी यह भूमि सचमुच सभी प्रकारकी आपत्तियोंसे शून्य हो जाती है। शान्तिकारक अमृतवर्षी चन्द्रमाका उदय हो जानेपर पुनः प्रकाशके लिए दीपककी आवश्यकता ही क्या है ? ॥ ९३ ॥

अर्हन्तमागोहरमगादधुना समर्थयितुतरां
कश्मलादाजिभवाज्जयो दरमावहन् स्मरसन्निभः ।
पश्चात्तपन् कृतवान् समादरतो जिनस्य कृताहवं
वन्दना अर्कः सक इह परम्पराध्वंसभवाश्रवम् ॥ ९४ ॥

अर्हन्तमिति । स्मरसन्निभः कामतुल्यसुन्दरो जयोऽधिपि आजिभवाद् युद्धजातात् कश्मलात् पापाद् दरं भयमावहन् सन्नधुना आगोहरं पापनाशकमर्हन्तं समर्थयितुम् अगात्तरां जगाम । स एव सकोऽर्ककीर्तिः इह युद्धे परम्परायाः नरसन्तानस्य यो ध्वंसो नाशस्तस्माद् भवो य आश्रवः क्लेशस्तं पश्चात्तपन् अनुशोचन् सन् समादरतो विनयात् कृत आहवो यज्ञो यत्र तद्यथा स्यात्तथा, जिनस्य देवस्य वन्दनाः कृतवान् । अर्कपराभवचक्रबन्धोऽयम् ॥ ९४ ॥

श्रीमाञ्छ्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
स्वोदाराक्षरधारयामुककृतिः श्रीदुर्ह्यदां मूर्धनि
सर्गं कम्पकरी व्यतीत्य जयते सा चाष्टमं ह्लादिनी ॥ ८ ॥

अन्वय : स्मरसन्निभः जयः आजिभवाम् कश्मलात् दरम् आवहन् अधुना आगोहरम् अर्हन्तं समर्थयितुम् अगात्तराम् । अर्कः इह परम्पराध्वंसभवाश्रवं पश्चात्तपन् समादरतः कृताहवं जिनस्य वन्दनाः कृतवान् ।

अर्थ : कामदेवके समान सुन्दर जयकुमार युद्धके निमित्तसे होनेवाले पापसे डरता हुआ अब पापको नष्ट करनेवाले भगवान् अरहन्तदेवको स्तुति करनेके लिए चला । इसी प्रकार अर्ककीर्तिने भी इस युद्धमें नरसमूहके नाशसे उत्पन्न क्लेशके लिए पश्चात्ताप करते हुए आदरके साथ यज्ञ-हवनपूर्वक जिनदेवकी स्तुति-वन्दना की । यह श्लोक अर्कपराभव चक्रबन्ध है ॥ ९४ ॥

आठवाँ सर्ग समाप्त ।

अथ नवमः सर्गः

मनसि साम्प्रतमेवमकम्पनः समुपलब्धयथोदितचिन्तनः ।
विजयनाज्जयनाममहीभुजः समभवत्समरेऽपि मही रुजः ॥ १ ॥

मनसीति । समरे जयनाममहीभुजो विजयनात् जयभावादपि साम्प्रतम् अकम्पनो मनसि समुपलब्धं यथोदितं युद्धे विपुलनरसंहाररूपं चिन्तनं येन स एवम्भूतश्चिन्तारुजो रोगस्य मही स्थानमभूत् । अनुप्रासालङ्कारः ॥ १ ॥

परिणता विपदेकतमा यदि पदमभून्मम भो इतरापदि ।
पतितुजोऽनुचितं तु पराभवं श्रणति सोमसुतस्य जयो भवन् ॥ २ ॥

परिणतेति । भो भगवन् यदि एकतमा विपत् परिणता दूरीभूता, तथापि मम इतरस्या-मापदि पदमभूत् । यत् किल सोमसुतस्य जयो भवन् पतितुजश्चक्रवर्तिसुतस्य अनुचित-मयोग्यं श्रणति वितरति ॥ २ ॥

जगति राजतुजः प्रतियोगिता नगति वर्त्मनि मेऽक्षततिं सुताम् ।
झगिति संवितरेयमदो मुदे न गतिरस्त्यपरा मम सम्मुदे ॥ ३ ॥

जगतीति । अस्मिन् जगति राजतुजः स्वामिपुत्रस्य प्रतियोगिता विरोधभावो मम वर्त्मनि जीवनपथे नग इवाचरति इति नगति पर्वतवद्रोधको भवतीत्यर्थः । अतोऽहो

अन्वय : साम्प्रतं समरे जयनाममहीभुजः विजयनाद् अपि मनसि समुपलब्धयथो-दितचिन्तनः अकम्पनः रुजः मही समभवत् ।

अर्थ : अब यद्यपि युद्धमें जयकुमारकी विजय हो गयी, फिर भी महाराज अकम्पन युद्धमें हुए विपुल नरसंहारके लिए मनमें चिन्ता करते हुए निम्न-लिखित प्रकारसे चिन्ता-रोगसे ग्रस्त हो गये ॥ १ ॥

अन्वय : भोः (भगवन्) यदि एकतमा विपत् परिणता, (तथापि) मम इतरापदि पदम् अभूत् । यतः सोमसुतस्य जयः भवन् तु पतितुजः अनुचितं पराभवं श्रणति ।

अर्थ : हे प्रभो ! एक विपत्ति हटी, फिर भी हम दूसरी आपत्तिके शिकार बन गये । क्योंकि जयकुमारकी विजय तो हो गयी, किन्तु वह चक्रवर्तीके पुत्रकी पराजय भी वितरित कर रही है जो सर्वथा अयोग्य है ॥ २ ॥

मुदे तस्य प्रीतये मेऽक्षततिमक्षमालां नाम सुतां कन्यां झगिति वितरेयं प्रयच्छेयम् । अतो मम सम्मुदेऽपरा गतिर्नास्ति ॥ ३ ॥

परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसह इति समेत्य स मेऽत्ययनं रहः ।
किमुपधामुपधास्यति नात्र वा किमिति कर्मणि तर्कणतोऽथवा ॥ ४ ॥
अनुभवन् विपदन्तकृदित्यदःप्रभृतिकं भृतकत्वगुणास्पदः ।
निकटकं कटकप्रतिघातिनः समभवद् भवगर्तनिपातिनः ॥ ५ ॥

परिभव इति । अरिभ्यो जातः परिभवस्तिरस्कारो हि दुःसहोऽसह्यो भवतीति सोऽर्ककीर्तिः मेऽत्ययनं दुरुद्योगं रहोऽभ्यन्तरमेव समेत्य लब्ध्वा किमुपधां पीडां नोपधास्यति न स्वीकरिष्यति, अपि तु करिष्यत्येव । अत इति कर्मणि कर्तव्ये अथवा तर्कणत ऊहापोहतः किं फलं स्यात्, न किमपीत्यर्थः । अनुभवन्निति । इत्यदः प्रभृतिकमित्यादिकं विपदोऽन्तं, करोति तदनुभवन् भृतकत्वगुणोऽनुचरस्वभाव एवास्पदं स्थानं यस्य सोऽनुचररूपतां दधदित्यर्थः । सोऽकम्पनः कटकस्य सेनायाः प्रतिघातोऽस्यास्तीति तस्य भगवतश्चिन्ता तत्र निपातोऽस्यास्तीति तस्य चिन्तालीनस्य अर्ककीर्तेर्निकटकं समीपं समभवत् । अनुप्रासः ॥ ४-५ ॥

अन्वय : जगति राजतुजः प्रतियोगिता मे वर्त्मनि नगति । (अत एव) अदः मुदे मे अक्षततिं सुतां क्षग् इति संवितरेयम् । मम सम्मुदे अपरा गतिः नास्ति ।

अर्थ : इस जगत्‌में राजाके पुत्रके साथ शत्रुता हो जाना मेरे मार्गमें पर्वतके समान रुकावट डालनेवाला है । इसलिए इसमें शीघ्र ही उसकी प्रसन्नताके लिए मैं अपनी दूसरी कन्या अक्षमाला इसे दान कर दूँ । इसके सिवा मेरी प्रसन्नता, निराकुलताके लिए कोई दूसरी गति नहीं है ॥ ३ ॥

अन्वय : हि अरिभवः परिभवः सुदुःसहः इति समेत्य सः मे अत्ययनं रहः समेत्य किम् उपधां न उपधास्यति । अथवा कर्मणि तर्कणतः किम् ? इति अदःप्रभृतिकं विपदन्तकृत् अनुभवन् भृतकत्वगुणास्पदः भवगर्तनिपातिनः कटकप्रतिघातिनः निकटकं समभवत् ।

अर्थ : निश्चय ही अर्ककीर्ति दुस्सह पराभवके विषयमें नहीं सोचता होगा? (अर्थात् चिन्तामें पड़ा ही होगा) । अथवा वितर्कणासे क्या लाभ ? इस प्रकार अपने आपपर आयी विपत्तिके बारेमें सोचता राजा अकम्पन, जो अर्ककीर्तिकी सेवकता स्वीकार किये हुए था, दुःखोंमें डालनेवाले तथा कटकका नाश करनेवाले अर्ककीर्तिके पास पहुँचा ॥ ४-५ ॥

मम पराजयकृत्तु पुरा रणं किमधुनाऽऽद्रियते मृतमारणम् ।
किमित आगत आगतदुर्विधेर्मम समीपमहो सुमहोनिधेः ॥ ६ ॥

ममेति । अहो आश्चर्ये सुमहः सुष्ठु तेज एव निधिर्यस्य सः, तस्य किन्तु आगतः सम्प्राप्तो दुर्विधिर्दुर्भाग्यं यस्य तस्य मम समीपमितोऽयमकम्पनः किमागतोऽस्ति । मम पराजयकृत्तु पुरा रणमेवाभूत् । पुनरधुना मृतस्य मारणं किमाद्रियते, एवम् अर्क-कीर्तिरचिन्तयत् ॥ ६ ॥

किमधुना न चरन्त्यसवश्चराः स्वयमिताः किमु कीलनमित्वराः ।
रुदति मे हृदयं सदयं भवत्तुदति चात्मविघातकथाश्रवः ॥ ७ ॥

किमधुनेति । चराश्चञ्चला इत्वरा गमनशीला अमी असवः प्राणा अधुना किं न चरन्ति निर्गच्छन्ति । किमु स्वयमकारणमेव कीलनं स्थैर्यमिता इति सदयं सकरुणमिदं मे हृदयं चिरं रुदति विलपति । आत्मनो विघातस्तिरस्कारस्तस्य कथाया आश्रवः श्रवणं क्लेशो वा मां पीडयति ॥ ७ ॥

निजनिगर्हणनीरनिधाविति निपतते हततेजस आश्रितिः ।
गुणवतीव ततिर्वचसां नराधिपमुखादियमाविरभूत्तराम् ॥ ८ ॥

निजेति । इति उपर्युक्तप्रकारेण निजस्य निगर्हणं निन्दनमेव नीरनिधिस्तस्मिन् निपतते निमज्जते, हतं तेजो यस्य तस्मै, अर्ककीर्तये, आश्रितिरवलम्बनरूपा नराधिपस्य अकम्पनस्य मुखादियं गुणवती गुणयुक्ता वचसां ततिर्वचनावली ततीव रज्जूपमा आविरभूत् प्रकटी-भूतेत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

अन्वय : अहो सुमहोनिधेः आगतदुर्विधेः मम इतः किम् आगतः । मम पराजय-कृत् तु पुरा रणम् अभूत् । अधुना मृतमारणं किम् आद्रियते । चराः इत्वराः असवः अधुना किं न चरन्ति,' किम् स्वयं कीलनम् इताः, (इति) सदयं भवद् हृदयं रुदति, च आत्मविघातकथाश्रवः तुदति । इति निजनिगर्हणनीरनिधौ निपतते हततेजसे इयत् आश्रितिः नराधिपमुखात् गुणवती वचसां ततिः इव आविरभूत्तराम् ।

अर्थ : अकम्पनको देखकर अर्ककीर्ति सोचने लगा कि पहले जो युद्ध हुआ; उसमें मेरी हार ही हो गयी । अब यह फिर मुझ अभागेके पास आ रहा है तो क्या मरेको मारनेके लिए आ रहा है ? ऐसी परिस्थितिमें मेरे चर प्राण निकल क्यों नहीं जाते ? इस समय वे उलटे कीलित क्यों हो गये ? यह सोच-सोच मेरा हृदय रो रहा है । अपने आपकी निरादर-कथा मुझे पीड़ा दे रही है । इस प्रकार अपनी निन्दारूपी समुद्रमें डूबे हतप्रभ उस अर्ककीर्तिके लिए अकम्पन

जय रवे वरवेशवतस्तव चरणयो रणयोधनयोः स्तव ।
बलवतां हृदयाय समुत्सवः स्तुतिकृतां रसनाभिनयो नवः ॥ ९ ॥

जयेति । हे रवे, हे अर्ककीर्ते, जय विजयं याहि । वरवेशवत उत्तमरूपधारिणस्तव रणयोधनयोः युद्धकर्मदक्षयोश्चरणयोः स्तवः प्रार्थना, वर्तत इति शेषः । यः स्तवो बीराणां हृदयाय मनसे तु समुत्सवः, स्तुतिकृतां स्तावकानामपि रसनाया जिह्वाया अभिनयोऽपि नवो नूतन एवास्तीति शेषः । अनुप्रासालङ्कृतिः ॥ ९ ॥

चरितमादरितत्वविरोधि यत्प्रभवते भवते धृतसत्क्रिय ।
परिवदामि सदाऽमितशासन नहि कदापि कदादरि मे मनः ॥ १० ॥

चरितमिति । हे धृतसत्क्रिय, धृताऽङ्गीकृता सती न्याययुक्ता सत्क्रिया चेष्टा येन तत्सम्बोधने, हे अमितशासन, अमितमपरिमितं शासनं यस्य तत्सम्बोधने, प्रभवते सामर्थ्यशालिने भवते यद् आदरितत्वविरोधि विनयभावप्रतिकूलं मयाऽन्येन वा केनापि चरितं कृतं तत् सदा सर्वकाले मनसा, वाचा, कर्मणा वा परिवदामि निन्दामि । हे प्रभो, मन्मनश्चित्तं कदापि कदादरि निरादरकारि न, भवन्तं प्रतीति शेषः । हीति निश्चये । अनुप्रासालङ्कारः ॥ १० ॥

द्वारा आगे कही जानेवाली गुणवती वाणीकी परम्परा रस्सीके समान हस्तावलम्बन-सी बन गयी ॥ ६–८ ॥

अन्वय : हे रवे जय । वरवेशवतः तव रणयोधनयोः चरणयोः स्तवः (अस्ति, यः) बलवतां हृदयाय समुत्सवः, च स्तुतिकृतां नवः रसनाभिनयः ।

अर्थ : हे रवि अर्ककीर्ति ! आपकी जय हो । वर-वेष-धारक आपके चरणोंमें, जो कि युद्धकर्ममें दक्ष हैं, मेरी एक प्रार्थना है जो बलवानोंके हृदयके लिए तो उत्सवप्रद है और स्तुति करनेवालोंके लिए भी उनकी रसनाको प्रसन्न करनेवाली है ॥ ९ ॥

अन्वय : धृतसत्क्रिय अमितशासन प्रभवते भवते यत् आदरितत्वविरोधि चरितं (तत्) सदा परिवदामि । मन्मनः कदापि (भवन्तं प्रति) कदादरि नहि ।

अर्थ : हे न्याययुक्त चेष्टा करनेवाले और अपरिमित शासनवाले महाराज ! सर्वसमर्थ आपके लिए जो मैंने निरादर करनेवाला प्रसंग उपस्थित किया, उसकी मनसा, वाचा, कर्मणा निंदा कर रहा हूँ । हे प्रभो ! मेरा मन कभी भी आपके लिए अनादर करनेवाला नहीं है ॥ १० ॥

युवनृपात्र कृपा अपमाणके भवतु मय्युपयुक्तकृपाणके ।
भुवि भवान् विभविष्यति भो भवान् विपदगाः पदगास्तु वयं नवाः ॥ ११ ॥

युवनृपेति । हे युवनृप, उपयुक्तः स्वीकृतः कृपाण एव कृपाणको येन तस्मिन् मयि भवतो विपक्षतां गते, अत एव अपमाणके लज्जमाने पश्चात्तापयुतेऽत्र कृपा भवतु । भो भवान् भुवि भवानेव भविष्यति, वयं तु पुनः पदगाः । पद्भ्यां गमनशीलाः सेवकास्तैः विपदं विरुद्धभावं गच्छन्तीति विपदगा यतो नवा अज्ञानिन इत्यर्थः । अनुप्रासः ॥ ११ ॥

यदपि चापलमाप ललाम ते जय इहास्तु स एव महामते ।
उरसि सन्निहतापि पयोऽर्पयत्यथ निजाय तुजे सुरभिः स्वयम् ॥ १२ ॥

यदपीति हे । ललाम नृपरत्न, जयकुमारो यतो तुभ्यं चापलमाप कृतवान्, हे महामते, स पुनरिह स एवास्तु, तद्विषये भवता किमपि नानुचिन्तनीयमित्यर्थः । यतः सुरभिर्गौरुरसि सन्निहतापि ताडितापि सती निजाय तुजे वत्साय पयः । एवार्पयति । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १२ ॥

यदपि पातयतीति तुरङ्गमस्तरलतावशतो विचलत्क्रमः ।
तदपि हन्ति हयं किमुदारदृग् भवति वृत्तमिदं च ततः सदृक् ॥ १३ ॥

यदपीति । यदपि तरलतावशतः चाञ्चल्याद् विचलन् क्रमो यस्य स स्खलितचरणः सन् तुरङ्गमोऽश्ववारं पातयति, तथापि किम् उदारदृग् बुद्धिमान् पुरुषो हयं ताडयति ? न ताडयतीत्यर्थः । तथैवेदं वृत्तमपि तत्सदृशमेव भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्वय : हे युवनृप अत्र उपयुक्तकृपाणके अपमाणके मयि कृपा भवतु । भो भवान् भवान् एव भुवि भविष्यति । वयं तु नवाः पदगाः विपदगाः ।

अर्थ : हे युवराज ! मैंने आपपर खड्ग उठाया, अतएव मैं बहुत लज्जित हूँ । मुझपर आप कृपा करें; क्योंकि आप तो आप ही हैं । हम लोग आपके नवीन अबोध सेवक हैं, सो विपथगामी बन गये हैं ॥ ११ ॥

अन्वय : अथ ललाम जयः यदपि ते चापलं आप, महामते सः इह एव अस्तु । सुरभिः उरसि सन्निहता अपि निजाय तुजे स्वयं पयः अर्पयति ।

अर्थ : हे नृपरत्न ! आपके लिए जयकुमारने जो भी चपलता की, वह यहीं रहे । महामते ! उसके विषयमें आप चिन्ता न करें । दूध पीते समय बछड़ा गायकी छातीमें चोट मारता है, फिर भी गाय अप्रसन्न न होकर स्वयं उसे दूध ही पिलाती है ॥ १२ ॥

अन्वय : तरलतावशतः विचलत्क्रमः तुरङ्गमः यदपि पातयति इति, तदपि उदारदृक् हयः किं हन्ति ? इदं च वृत्तं ततः सदृक् भवति ।

त्वमथ जीवनमप्यनुजीविनामिह कुतस्त्वदनुग्रहणं विना ।
मम समस्तु महीवलयेऽमृत शफरता पृथरोमकताभृतः ।। १४ ।।

त्वमथेति । हे अमृत, सुन्दर, अथ त्वमस्माकमनुजीविनामनुचराणां जीवनमपि शश्वा-त्प्राणधारकोऽसि । त्वदनुग्रहणं कृपां विना इह महीतले पृथुरोमकताभृतः पक्वकेशवतो वृद्धस्य झषस्य च शफरता, रलयोरभेदात् सफलता झषता वा कुतः स्यात् ? समासोक्तिः । 'पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनमित्यमरः ।। १४ ।।

अपि हठात् परिषज्जनुषां मुदः स्थलमतिव्रजतीति विधुन्तुदः ।
जनतया नतया स समर्च्यते किमु न किन्तु तमः परिवर्ज्यते ।।१५।।

अपीति । अपि अन्यदपि शृणु । विधुन्तुदो राहुः हठात् स्वबलात् परिषत्पङ्कात् जनुर्जन्म येषां तेषां कमलानां मुदः प्रसन्नतायाः स्थलं सूर्यमतिव्रजति, तथापि किमु नतया जनतया स न समर्च्यते ? अपि तु समर्च्यत एव । किन्तु राहुरेव न परिवर्ज्यते ? अपि तु वर्ज्यत एव ।। १५ ।।

अर्थ : घोड़ा चंचलताके वश यदि स्खलित-चरण हो घुड़सवारको गिरा देता है, फिर भी उदारदृष्टि वह घुड़सवार क्या उसे मारता है ? स्वामिन् ! प्रस्तुत विषय भी उसी तरह है ।। १३ ।।

अन्वय : अथ अमृत ! त्वम् अनुजीविनां जीवनम् अपि इह महीवलये त्वदनुग्रहणं विना पृथुरोमकताभृतः मम शफरताः कुतः ?

अर्थ : हे अमृत ! फिर आप हम जैसे अनुजीवियों के जीवन, प्राणधारक भी हैं । इस भूतलपर आपके अनुग्रहके बिना मुझ-सरीखे पलित-केश बूढ़ेकी जीवनमें सफलता वैसे ही संभव कहाँ जैसे जीवनरूप जलके अनुग्रहके बिना मछलीकी शफरता (सफलता = मछलीपन या सफलता) ।। १४ ।।

अन्वय : विधुन्तुदः हठात् परिषज्जनुषां मुदः स्थलम् अतिव्रजति इति नतया जनतया सः किमु न समर्च्यते ? किन्तु तमः परिवर्ज्यते ।

अर्थ : आप सोचते होंगे कि मेरा निरादर हो गया, किन्तु आपका निरादर नहीं हुआ । देखिये राहु हठमें पड़कर कमलोंकी प्रसन्नताके स्थान सूर्यपर आक्र-मण कर देता है, फिर भी राहुकी प्रशंसा नहीं होती, बल्कि दुनिया उसको बुरा बताती और विनम्र हो सूर्यका ही आदर किया करती है ।। १५ ।।

भवति विघ्नवतां प्रतिभासिता भवति वह्निवदाश्रयनाशिता ।
अवनिमण्डन नः सुतरां तता जगति सम्भवताच्छितवर्त्मता ॥१६॥

भवतीति । हे अवनिमण्डन, भूभूषण, भवति त्वयि विघ्नवतामुपद्रवकारिणां नोऽस्माकं वह्निवद् अग्नितुल्या आश्रयनाशिता, आधारविध्वंसकारिता प्रतिभासिता भवति स्पष्टमेव द्योतते । अस्मिन् जगति शितं कलुषितं वर्त्म येन तता, उन्मार्गगामिता धूमकेतुता वा सुतरामेव तता व्याप्ता सम्भवतात् । उपमा ॥ १६ ॥

शिरसि हन्ति रसिन्नयि बालको विगतबुद्धिबलेन नृपालकः ।
किमिति कुप्यति किन्तु स मोदकं परिददातितमामुत सोदकम् ॥१७॥

शिरसीति । अयि रसिन् अनुरागशालिन्, विगतबुद्धिबलेन विवेकहीनत्वेन यद्यपि बालकः नृपं शिरसि हन्ति, पुनरपि नृपालकः किमिति कुप्यति ? नैव, किन्तु प्रत्युत स तस्मै सोदकं तोयसहितं मोदकं परिददातितमाम्, येन स लड्डुकमास्वाद्य जलञ्च पीत्वा प्रसन्नः स्यात् ॥ १७ ॥

न खलु देवतुजोऽभिरुचिर्वशिन् स्फुरति चानुचराङ्गभुवीदृशी ।
इति मयानुमितं कथमन्यथा प्रथितवांश्च भवान् कुविधेः पथा ॥१८॥

न खल्विति । हे वशिन्, हे जितेन्द्रिय, देवतुजः श्रीमतो भवतोऽभिरुचिर्वाञ्छाऽपि

अन्वय : हे अवनिमण्डन भवति विघ्नवतां नः वह्निवत् आश्रयनाशिता प्रतिभासिता भवति । जगति शितवर्त्मता सुतरां तता सम्भवतात् ।

अर्थ : हे पृथ्वीभूषण ! आपके विषयमें विघ्न करनेवाले हमलोगोंकी अग्निके समान अपने आश्रयको नष्ट करनेकी कुप्रवृत्ति स्पष्ट हो गयी । धूमकेतुकी तरह कलंकित करनेवाली हमारी यह उन्मार्गगामिता जगत्में अपने आप फैल रही है ॥ १६ ॥

अन्वय : अयि रसिन् बालकः विगतबुद्धिबलेन शिरसि हन्ति, किन्तु नृपालकः किम् इति कुप्यति ? उत सः सोदकं मोदकं परिददातितमाम् ।

अर्थ : हे रसिक ! सुनिये, बालक नासमझीके कारण राजाके सिरपर लात मार देता है, पर क्या राजा उसपर कोप करता है ? नहीं, वह तो उसे खानेको लड्डू और पीनेको पानी देता है । इसी प्रकार यह जयकुमार बालक है और आप बड़े हैं ॥ १७ ॥

अन्वय : वशिन् देवतुजः ईदृशी अभिरुचिः अनुचराङ्गभुवि न खलु स्फुरति । भवान् कुविधेः पथा कथम् अन्यथा प्रथितवान् इति च मया अनुमितम् ।

ईदृशी, अनुचरस्य अङ्कात् भवति जायते इत्यङ्कभूस्तस्मिन् जयकुमारे न स्फुरति न प्रभवति, किन्तु कुविधेः पथोन्मार्गेण कथयेवमन्यथा प्रवितवानिति च मयाऽनुमितं ज्ञातं, तत्कथनेनालम् ॥ १८ ॥

मयि दयिन्नयि चेत्त्वदनुग्रहः शृणु महीप हृदीयदहो रहः ।
त्वरितमक्षलतामुररीकुरु दिशतु भद्रमिदं भगवान् पुरुः ॥१९॥

मयीति । अयि दयिन्, चेद्यदि मयि त्वदनुग्रहो वर्तते, तर्हि शृणु, अहो महीपे हृदि चित्ते इयदेतावद् रहो गुह्यं वर्तते यन्मे अक्षलतां नाम तनयां त्वरितमेव उरीकुरु । भगवान् पुरुवृषभ इदं भद्रं दिशतु ॥ १९ ॥

हृदि तमोपगमात् प्रतिभाऽविशदिति तदालपितेन जयद्विषः ।
यदिव कोकरुतेन दिनश्रियः समुदयः कृतनक्तलयक्रियः ॥२०॥

हृदीति । इति तस्य अकम्पनस्य आलपितेन कथनेन जयद्विषोऽर्ककीर्तेः हृदि चित्ते तमसो दुर्विचारस्यापगमाद् विनाशात् प्रतिभा सद्बुद्धिरविशत् समुदियाय, यदिव यथा कोकस्य चक्रवाकस्य रुतेन विलपनशब्देन कृता नक्तस्य रात्रेर्लयक्रिया विनाशो येन स दिनश्रियः सम्यगुदयः प्राकट्यं स्यात्तथा । उपमा ॥ २० ॥

अर्थ : हे वशिन् ! मैं यह भी जानता हूँ कि आप हमारे राजाके पुत्र है, अतः आपका बरताव हमारे लिए ऐसा नहीं हो सकता । किन्तु इस प्रकारकी अन्यथाप्रवृत्ति जो आपकी हमारे प्रति हुई, उसमें आपका दोष नहीं, यह मैं जान गया हूँ । उसे कहनेकी आवश्यकता नहीं । यह सब उस दंभी दुर्मर्षणका ही कार्य है, यह भाव है ॥ १८ ॥

अन्वय : अयि दयिन् मयि त्वदनुग्रहः चेत् (तदा) अहो हृदि इयत् रहः, तत् शृणु (यत्) अक्षलतां त्वरितम् उररीकुरु । भगवान् पुरुः इदं भद्रं दिशतु ।

अर्थ : हे दयालो ! यदि आपका हमपर अनुग्रह : है तो मेरे मनकी गुप्तबात सुनें । मैं चाहता हूँ कि मेरी पुत्री अक्षमालाको आप स्वीकार कीजिये । भगवान् ऋषभदेव यह कल्याण संपन्न कर दें ॥ १९ ॥

अन्वय : इति तदालपितेन जयद्विषः हृदि तमोपगमात् प्रतिभा अविशत् यदिव कोकरुतेन कृतनक्तलयक्रियः दिनश्रियः समुदयः (भवति) ।

अर्थ : इस प्रकार अकम्पनके कहनेपर जयकुमारके विरोधी अर्ककीर्तिका रोष दूर हो उसके मनमें स्फूर्ति आ गयी, जैसे चकवेके विलापसे रात्रि चली जाती और दिनश्रीका समुदय हो जाता है ॥ २० ॥

अपजितस्य ममेदमुपायनग्रहणमस्त्युचितं किमुतायनम् ।
नहि भुवि क्रमविक्रमलक्षणं भवति केसरिणो मृतभक्षणम् ॥२१॥

अपजितस्येति । अपजितस्य पराभूतस्य ममेदम् उपायनस्य पारितोषिकस्य ग्रहणं किमुत उचितमयनं मार्गः ? भुवि पृथिव्यां मृतस्य भक्षणं यत्तत्केसरिणो सिंहस्य क्रमस्य परिपाट्या प्राप्तस्य विक्रमस्य बलवीर्यस्य लक्षणं स्वरूपं नहि भवति । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २१ ॥

यमथ जेतुमितः प्रविचार्यते स जय आश्वपि दुर्जय आर्य ते ।
तरुणिमा क्षयदो यदि जायते जरसि किं पुनरत्र सुखायते ॥२२॥

यमिति । किन्तु यं जयकुमारं जेतुं स्ववशमानेतुमितः प्रविचार्यते, स जय आश्वपि वा हे आर्य, ते तुभ्यं दुर्जयो जेतुमशक्यो भवति । यदि तरुणिमा तारुण्यमेव क्षयदः क्षीणताकरो जायते तदा पुनरत्र लोके जरसि वार्धक्ये किं सुखायते । तथैवाद्युनैव योऽजेयः स पुनः कदा परिहार्यतां पराजीयेत ॥ २२ ॥

युवतिरत्नमयत्नमवाप्यते तदधिकं तु शमाय समाप्यते ।
सुरवरैरपि सा ह्यनुमानिता यदि रमाभिगमाय विमानिता ॥२३॥

युवतिरत्नमिति । युवतिरत्नम् अक्षमाला नाम तद् अयत्नमनायासेनैवावाप्यते ततो-

---

अन्वय : अपजितस्य मम इदम् उपायनग्रहणं किम् उत उचितम् अयनम् ? भुवि मृतभक्षणं केसरिणः क्रमविक्रमलक्षणः नहि भवति ।

अर्थ : तब अर्ककीर्ति सोचने लगा कि मैं तो पराजित हो गया हूँ, अतः क्या इस प्रकारकी भेंट लेना मेरेलिए उचित है ? नहीं; क्योंकि संसारमें विक्रमके धारी सिंहके लिए स्वयंमृत पशुका मांसभक्षण कभी उचित नहीं होता ॥ २१ ॥

अन्वय : अथ इतः यं जेतुं प्रविचार्यते, आर्य सः जयः आशु अपि ते दुर्जयः । यदि अत्र तरुणिमा क्षयदः जायते, जरसि पुनः किं सुखायते ?

अर्थ : किन्तु दूसरी ओर जब मैं सोचता हूँ कि जयकुमारको जीत लूँ तो वह आज यौवनमें ही मेरेद्वारा जीता नहीं गया तो फिर कब जीता जा सकेगा ? जहाँ यौवनमें ही क्षयरोग लग जाय तो फिर वार्धक्यमें उससे मुक्त होकर सुखी होनेकी आशा व्यर्थ है । ॥ २२ ॥

अन्वय : तु युवतिरत्नम् अयत्नम् अवाप्यते, तदधिकं तु शमाय समाप्यते । हि यदि सुरवरैः अपि रमाभिगमाय सा विमानिता अनुमानिता ।

ऽधिकं युवतिरत्नतः श्रेष्ठतरं वस्तु शमाय शान्तये सुखप्राप्तये स्यात् तत्समाप्यते नैवास्ति संसारे । हि यस्मात्कारणात् सुराणां वरैरिन्द्रैरपि किं पुनरन्यैः यदि किल रमायाः श्रियाः स्त्रियो वा अभिगमः समागमस्तदर्थमेव विमानिता व्योमयानिता सैव विमानिता मानरहिता अनुमानिता स्वीकृताऽस्ति । श्लेषोऽनुप्रासश्च ॥ २३ ॥

भरतभूमिपतेः कुलदीपक इति समङ्कितसैलसमीपकः ।
स्वयममुद्रितशुद्धशिखाश्रयः समभवत् सहसा प्रतिभामयः ॥२४॥

भरतेति । इति किलोक्तरीत्या समङ्कितं पूरितं यत्तैलं तस्य समीपे क आत्मा यस्य स भरतभूमिपतेः कुलदीपकः सोऽर्ककीर्तिः स्वयमेव अमुद्रिता विकसिता, अत एव शुद्धा शिखानाम बुद्धिः, रुचिरच सैव श्रय आश्रयो यस्य सः, सहसैव प्रतिभामयः स्फूर्तिमवासो द्युतिमयश्च समभवत् । रूपकालङ्कारः ॥ २४ ॥

ननु मनो विशिखं दिशि खल्विदं निदधदन्धकतां मम संविदः ।
अहिततां हिततानवति श्रयत्यपि भवादृशि धिङ् महिताशय ॥२५॥

नन्विति । अथ नम्रतापूर्वकं वदति—ननु हे महिताशय, अकम्पनमहाराज, इदं मनः खलु दिशि विशिखं कस्यामपि दिशि शिखावर्जितमनर्गलं तदिदं धिक् । यत्किल मम

अर्थ : इधर युवतीरत्न जो अनायास प्राप्त हो रहा है, सुख-शांतिके लिए उससे बढ़कर संसारमें कोई वस्तु नहीं । कारण, निश्चय ही इन्द्र जैसे देव-श्रेष्ठोंने भी स्त्री या लक्ष्मीकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही विमानिता (अपमान और विमानयुक्तता) स्वीकार कर ली है ॥ २३ ॥

अन्वय : इति समङ्कितसैलसमीपकः भरतभूमिपतेः कुलदीपकः स्वयम् सहसा अमुद्रितशुद्धशिखाश्रयः प्रतिभामयः समभवत् ।

अर्थ : इस प्रकार स्नेहरूप तेलसे प्रपूरित भरत महाराजका कुल-दीपक तेल मिल जानेसे दीपकके समान जाज्वल्यमानरुचि बुद्धिरूप शिखा (ज्वाला) से युक्त (प्रसन्न) हो सहसा स्फूर्तिशाली और द्युतिमान् हो गया [और बोला] ॥ २४ ॥

अन्वय : ननु महिताशय ! दिशि विशिखं इदं मनः धिक् खलु मम संविदः अन्धकतां दधत् भवादृशि हिततानवति अपि अहिततां श्रयति ।

अर्थ : हे उदाराशय अंकपन महाराज, सुनिये । निश्चय ही मेरा यह मन हर दिशामें अनर्गल हो मेरी बुद्धिको भी तमःपूर्ण, निर्विचार बनाता हुआ

संविदो बुद्धेरन्धकर्ता सततमन्धकर्ता निर्विचारता वा निदधत् स्वीकुर्वंस्तद् हितस्य तावं प्रस्तारस्तद्वति हितकारकेऽपि भवादृशि अहितता भयति । अनुप्रासालङ्कारः ॥ २५ ॥

मम समर्थनकृत् समभूत्तु स किमु वदानि वदाम्युदयद्रुषः ।
निपतते हृदयाय विमर्षणः किल तरोः कुसुमाय मरुद्गणः ॥२६॥

ममेति । किमु वदानि, किं कथयामि, त्वमेव वद, यन्मम अभ्युदयद्रुषः समुद्भूतकोपस्य निपतते हृदयाय स विमर्षणो नाम नरः समर्थनं करोतीति समर्थनकृत् समभूत् । तरोर्वृक्षस्य कुसुमाय मरुद्गणो वायुसमूहः किल तथेत्युपमालङ्कारः ॥ २६ ॥

किमु न नाकिभिरेव निषेधितं यदि तकैः क्रियतेऽत्र जगद्धितम् ।
कटकपद्धतिसूत्थरजःकृताऽभवदहो विनिमेषतयाऽन्धता ॥२७॥

किम्विति । नाकिभिर्देवैरेव किमु न निषेधितं, यदि किलागत्य तैरेव तकैर्जगद्धितं यथा जनसंवादः क्रियते । अहो स्मृतम्, तेषामत्र कटकस्य सेनायाः समूहस्य या पद्धतिश्चरणप्रवृत्तिस्तया सूत्थमुत्थितं यद्रजस्तेन कृता विनिमेषतया निमेषाभावतया अन्धताऽवलोकनहीनताऽभवत् । सहेतुकोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २७ ॥

आपसरीखे हितचिन्तक महापुरुषके बारेमें भी अहितपनका विचार करता है, सो इसे धिक्कार है ॥ २५ ॥

अन्वय : तु किमु वदानि, वद । मम अभ्युदयद्रुषः निपतते हृदयाय किल तरोः कुसुमाय मरुद्गणः विमर्षणः समर्थनकृत् समभूत् ।

अर्थ : राजन्, आप ही बताइये । मैं क्या कहूँ, जब मेरा मन रोषमें आ गया और अपने स्थानसे डिगने लगा तो जिस प्रकार वृक्ष परसे गिरते फूलोंके लिए हवाका झोंका सहायक हो जाता है, वैसे ही उस विकर्षणने मुझे सहारा दिया ॥ २६ ॥

अन्वय : नाकिभिः एव किमु न निषेधितं यदि अत्र तकैः जगद्धितं क्रियते । अहो विनिमेषतया कटकपद्धतिसूत्थरजःकृता अन्धता अभवत् ।

अर्थ : खैर, दुर्मर्षणकी तो बात छोड़िये । देवता लोग तो जगत्‌का हित करनेवाले हैं । उन्होंने भी आकर मुझे क्यों मना नहीं किया ? अहो, ध्यानमें आ गया कि स्वभावतः अपलक होनेके कारण उनकी आँखोंमें सेनासे उठी धूल पड़ गयी जिससे वे भी अंधे हो गये ॥ २७ ॥

ननु मनुष्यवरेण निवेदितं मयि निवेदमनर्थमवेहि तम् ।
कथमिवान्धकलोष्ठमपि क्रमः कनकमित्युपकल्पयितुं क्षमः ॥२८॥

नन्विति । ननु स्मृतं मनुष्यवरेण सुमतिमन्त्रिणा यद्यपि निवेदितं कथितं किन्तु तं निवेदं निवेदनमपि मयि मूर्खेऽनर्थमेव अवेहि जानीहि, यतः कुतः क्रम उपायोऽन्धकलोष्ठमपि धूर्तपाषाणमपि कथमिव कनकं सुवर्णमुपकल्पयितुं निर्मातुं क्षमः समर्थः स्यात् ? कदापि न स्यादित्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २८ ॥

स्तुतमुताऽस्तुतदैववशं तु तन्मम मनो हि जनो हितकृत्कुतः ।
सुरवरः प्रतिकर्तुमपीश्वरः किमु भवेद्भुवि भावि यदीश्वरः ॥२९॥

स्तुतमिति । स्तुतं ज्ञातमस्तुतस्य अज्ञातस्य दैवस्य वशमधीनं, मम मनश्चित्तं हि यस्मात्ततः पुनरन्यो जनो हितकृत् कुतः स्यात् ? भुवि पृथिव्यां भावि यदीश्वरः समर्थस्तदा ततोऽन्यथाकर्तुं प्रतिकर्तुं सुरवरोऽपि, ईश्वरः सामर्थ्यवान् भवेत् किमु ? न भवेदित्यर्थः ॥ २९ ॥

मम पितामहतुल्यवया मयाऽतिचलितस्त्वमधीश दुराशया ।
प्रतिधृतो जय आप्तनयस्तथा जनविनाशकृदेवमहं वृथा ॥३०॥

ममेति । हे अधीश अकम्पन महाराज, मम पितामहस्य ऋषभदेवस्य तुल्यं वयो आयुर्यस्य स त्वं दुराशया दुष्टाभिलाषयाऽतिचलितो व्यर्थां नीतः, तथा आप्तः समुपलब्धो नय

अन्वय : ननु मनुष्यवरेण निवेदितम्, (किन्तु) मयि तं निवेदम् अनर्थम् अवेहि । क्रमः अन्धकलोष्ठम् अपि कनकम् इति उपकल्पयितुं कथम् इव क्षमः ।

अर्थ : नहीं-नहीं, मन्त्रिवर सुमतिने मना तो किया था, किन्तु उसका वह निवेदन भी मेरेलिए व्यर्थ ही सिद्ध हुआ । ठीक ही है, अंधक पाषाणको कोई सोनेका कैसे बना सकता है ? ॥ २८ ॥

अन्वय : उत स्तुतम् अस्तुतदैववशं तत् मम मनः हि । तु जनः हितकृत् कुतः ? भुवि भावि यदि ईश्वरः (तदा) सुरः अपि प्रतिकर्तुं किमु ईश्वरः भवेत् ।

अर्थ : अथवा मैं समझ गया कि उस समय मेरा मन दुर्दैवसे आक्रांत हो गया था । फिर समझानेवाला क्या करे ? यदि भाग्य ही नहीं चाहता, वही सब कुछ करनेमें समर्थ है तो देवता भी उसे कैसे बदल सकता है ॥ २९ ॥

अन्वय : अधीश मम पितामहतुल्यवयाः त्वं मया दुराशया अतिचलितः । तथा आप्तनयः जयः प्रतिधृतः । एवम् अहं वृथा जनविनाशकृत् ।

अर्थ : हे अकम्पन महाराज, आप मेरे बाबा ऋषभदेवके वयवाले हैं । उन आपका मैंने दुराशा से निरादर कर दिया और नीतिमान् जयकुमारके

नीतिमार्गो येन स जयः परिभूतो विगृहितः । एवमहं वृथा व्यर्थमेव जनविनाशकृत् लोकनाशकाऽस्मि ॥ ३० ॥

अनयनश्च जनः श्रुतमिच्छति परिकृतः परितोऽप्यधिगच्छति ।
अहह मूढतया न मया हितं सुमतिभाषितमप्यवगाहितम् ॥ ३१ ॥

अनयनश्चेति । अनयनोऽन्धोऽपि जनो यद्यपि नयनाभ्यां न पश्यति, तथापि श्रुतमिच्छति श्रवणाभ्यां श्रृणोति, परिकृतोऽन्येन अनुगृहीतः परितोऽपि समुचितमधिगच्छति । किन्त्वहम् अहह् अत्यन्ता श्चर्यविषयो यन्मया मूढतया सुमतिना मन्त्रिणा भाषितं हितमपि नावगाहितं नालोचितम् । अतोऽहमन्धादपि हीन इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अयि महाशय काशयशःश्रिया परिकृतोऽरिकृतोऽसि मयाऽधिया ।
कुशलतातिशयेन समर्थितः स्विदहमस्म्यनयेन कदर्थितः ॥३२॥

अयीति । अयि महाशय, त्वं कल्याणमन आशाऽभिलाषा यत्र तस्य यशसः श्रिया, अथवा काशसंकाशयशःश्रिया परिकृतोऽपि कुशलता चतुरता तया कुशस्य लता परम्परा तस्यातिशयेन समर्थितोऽपि पुनीततया सम्मतोऽपि मयाऽधिया बुद्धिहीनेन अरिकृतोऽरिर्भमर इति स्वीकृतः शत्रुरूपो वेति स्विदहमित्यनेन अनयेन कदर्थितो दुश्चिन्तितोऽस्मि ॥३२॥

पथसमुद्युतये यतितं मया परिवदिष्यति तत्सुदृगाशया ।
मम हृदं तदुदन्तमहो भिनत्त्ययि विभो करपत्रमिवेन्धनम् ॥ ३३ ॥

पथेति । अन्यच्च, अयि विभो, मया पथः समुद्युतये सन्मार्गप्रकाशनाय यतितं,

---

साथ विरोध भी मोल ले लिया । इस प्रकार अपने जनोंका व्यर्थ ही मैं विनाशक बन गया हूँ ॥ ३० ॥

अन्वय : अनयनः अपि जनः श्रुतम् इच्छति । च परिकृतः परितः अधिगच्छति । अहह ! मूढतया मया सुमतिभाषितं हितम् अपि न अवगाहितम् ।

अर्थ : अन्धा भी कहा हुआ तो सुनता है और अपने आप नहीं, दूसरे के हाथ पकड़ लेनेपर चलता है । किन्तु मैंने तो ऐसी मूढता की कि सुमति मंत्रीका हितका कहना भी नहीं माना ॥ ३१ ॥

अन्वय : अयि महाशय त्वं कुशलतातिशयेन समर्थितः काशयशःश्रिया परिकृतः स्वित् अधिया मया अरिकृतः असि । (अतः) अहम् अनयेन कदर्थितः अस्मि ।

अर्थ : हे महाशय ! आप तो काशके समान उज्ज्वल कीर्तिके धारक और कुशल जनों द्वारा समर्थित हैं । ऐसे आपको भी मुझ बुद्धिहीनने अपना वैरी समझ लिया, मैं बड़ा अन्यायी हूँ ॥ ३२ ॥

तदिदं जनः सुदृश आशया यतितमिति परिवदिष्यतीत्येतदुदन्तं वृत्तान्तं मम हृदं हृदयं करपत्रं क्रकचमिन्धनं काष्ठमिव भिनत्ति विदारयति । उपमालङ्कारः ॥ ३३ ॥

रविबलाहकमश्रुततोदरं विनतमुन्नमयन्नपि सत्वरम् ।
निभृतमाकलितुं किल मानसे क्षितिभृदात्महृदाऽत्र समानशे ॥ ३४ ॥

रवीति । अश्रुभिर्नेत्रजलैस्ततं पूरितमुदरं यस्य तं रविरेव बलाहको मेघस्तं, कथम्भूतं विनतं नीचैः कृतमुखं सत्वरमप्युन्नमयन् निभृतं पूर्णरूपेण मानसे चित्ते हृदयसरोवरे वा आकलितुं स्वीकर्तुं किलात्र क्षितिभृद् अकम्पन आत्महृदा आत्महृदयेन समानशे समालिलिङ्ग । रूपकालङ्कारः ॥ ३४ ॥

क्षितिभृतो वदनादिदमुद्ययावमुकवारिमुचः प्रतिवाक्तया ।
क्व युवराजवरा जगतां मता शुगिति येन सता भवता तता ॥ ३५ ॥

क्षितिभृत इति । अमुकस्य उपर्युक्तस्य वारिमुचो मेघस्य अर्ककीर्तिरूपस्य प्रतिवाक्तया प्रतिध्वनिरूपेण क्षितिभृतोऽकम्पननामगिरेर्वदनात् मुखाद् गह्वराद्वा, इदं वाक्यमुद्ययौ निर्जगाम—हे युवराज, जगतां मध्ये क्व कुत्रेदृशी शुक् चिन्ता वरा श्रेष्ठा मता, येन हेतुना सतापि भवता तता स्वीकृतास्ति ; वरेत्यत्र रलयोरभेदाद् बला बलवती वेति । 'बलो बलिनि वाच्यवदि'ति विश्वलोचनः ॥ ३५ ॥

अन्वय : अहो अयि विभो मयापथसमुद्धृतये यतितम्, तत् (जनः) सुदृगाशया परिवदिष्यति । तत् उदन्तं मम हृदम् इन्धनं करपत्रवत् भिनत्ति ।

अर्थ : प्रभो! मैंने जो कुछ प्रयास किया, वह मार्गको निर्मल बनानेके लिए किया । किन्तु लोग तो कहेंगे कि सुलोचनाकी आशासे इसने युद्ध किया । यही बात मेरे हृदयको अब भी काष्ठको आरेकी तरह काटे जा रही है ॥ ३३ ॥

अन्वय : अश्रुततोदरं रविबलाहकं विनतम् अपि सत्वरम् उन्नमयन् अत्र निभृतं मानसे किल आकलितुं क्षितिभृत् आत्महृदा समानशे ।

अर्थ : इस प्रकार अर्ककीर्तिरूपी मेघको, जो कि अश्रुजलके प्रवाहसे भरा था, अपने मानस (मानसरोवर और हृदय)में स्थान देनेके लिए राजा अकम्पनने उठाकर शीघ्र ही हृदयसे लगा लिया ॥ ३४ ॥

अन्वय : अमुकवारिमुचः प्रतिवाक्तया क्षितिभृतः वदनात् इदम् उद्ययौ—युवराज ! शुक् जगतां क्व वरा मता येन सता भवता तता इति ।

अर्थ : जैसे मेघकी गर्जना पर्वतकी गुफासे प्रतिध्वनित होकर निकलती है वैसे ही अर्ककीर्ति के वचनकी प्रतिध्वनि रूप से अकम्पन रूप पर्वत के मुख रूप

अलमनेन हृदाऽलमनेनसः स्वयमनागतवस्तुलसद्दृशः ।
कृतपरिक्रमिणो गतचिन्तिनः क्व कुशलं कुशलं कुरुताज्जिनः ॥३६॥

अलमिति । हे युवराज, स्वयमनागते वस्तुनि विषये भविष्यति लसन्ती दृग्दृष्टिर्यस्य स स्तस्य भाविविचारकारिणोऽनेनसो निष्पापस्य भवादृशः पुरुषपुङ्गवस्यानेन हृदा मनसाऽलं पुनरलम्, यतः कृतपरिक्रमिणः कृतमेव कुर्वतस्तथा गतचिन्तिनो गतमेव चिन्तयतः क्व कुशलं स्यात् ? किन्तु भगवाञ्जिनः कुशलं कुरुतात् ॥ ३६ ॥

जठरवह्निधरं ह्युदरं वदत्यपि च तैजसमश्रुमुगक्ष्यदः ।
जनमुखे करकृत्कतमोऽधुना हृदयशुद्धिमुदेतु मुदे तु ना ॥३७॥

जठरेति । यज्जूवता जनसाधारणविषये कथितं स तु पुनः जठरवह्निं धरतीति जठरवह्निधरमुदरमुदकं राति स्वीकरोतीत्युदरं जलमयं कथयति, तथाऽश्रूणि मुञ्चति तदश्रुमुग् अदोऽक्षि तत्तैजसं तेजोमयं वदति, जनानां मुखे तु करकृत् हस्तदायकः कतमोऽस्ति, न कश्चिदपीत्यर्थः । ना मनुष्यस्तु मुदे हृदयस्य शुद्धिं पवित्रतामृजुतां वोदेतु प्राप्नोतु, अयमेव मार्गोऽधुना साम्प्रतमस्तीत्याशयः ॥ ३७ ॥

गुफासे यह वचन निकला—महाराज युवराज ! क्या संसारमें शोक करना श्रेष्ठ या उचित कहा गया है जिसे आप जैसे समझदार भी कर रहे हैं ? ॥ ३५ ॥

अन्वय : स्वयम् अनागतवस्तुलसद्दृशः अनेनसः अनेन हृदा अलम् । कृतपरिक्रमिणः गतचिन्तिनः कुशलं क्व ? जिनः कुशलं कुरुतात् ।

अर्थ : स्वयं भविष्यत्की सोचनेवाले आप जैसे निष्पाप पुरुषको इस प्रकार बीती बातपर चिन्तातुर नहीं होना चाहिए; क्योंकि किये हुए कार्यको ही करते रहना और बीती बातको ही सोचते रहना जिसका काम है, उसकी यहाँ कुशल कहाँ ? भगवान् जिनराज ही तुम्हारा कुशल करें ॥ ३६ ॥

अन्वय : अधुना जनमुखे करकृत् कतमः यत् जठरवह्निधरम् उदरं वदति । अपि च अदः अश्रुमुक् अक्षि तैजसं वदति । ना तु मुदे हृदयशुद्धिम् उदेतु ।

अर्थ : रही दुनियाके कहने-सुननेकी बात ! सो तो दुनिया ही है । वह तो जठर-अग्निके धारक स्थानको भी उदर (जलमय) कहती है और आँसू बहानेवाली आँखको भी तैजस बताती है । दुनियाके मुँहपर हाथ नहीं दिया जा सकता । मनुष्यको तो प्रसन्नताके लिए अपने हृदयको शुद्ध या सरल बना रखना चाहिए ॥ ३७ ॥

ननु भवाञ्छुभवानदयः पुनः स दुरितोदय एव समस्तु नः ।
विधुरुदेति मुदेऽतिवियुज्यते तदथ कोकवयस्यभियुज्यते ॥३८॥

नन्विति । ननु विचारिते सति भवान् शुभवानेव, जनस्योपरि दयामेव करोति । नोऽस्माकं पुनर्दुरितस्य पापकर्मण उदय एव समस्तु । स योऽदयो निर्दयो येन तथाभूता वार्ता जाता । यथा विधुश्चन्द्रः सर्वेषां मुदे हर्षायैव उदेति, अथ पुनः कोकपक्षी तत्रातिवियुज्यते, स्वकान्तातो दूरीभवति । तदिदं कोकवयसि अभियुज्यते दूषणं जायते, चन्द्रः किं करोतु । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३८ ॥

त्वमथ राशिरिहासि सुतेजसामपि कलानिधिरस्ति जयोऽञ्जसा ।
भवतु तावदमा नवधारणा द्रुतमनैक्यकृदङ्कनिवारणा ॥३९॥

त्वमिति । अथेह भूतले त्वं सुतेजसां प्रतापानां राशिरसि सूर्यवत् तथा जयो नृपोऽपि कलानां धनुर्वेदादिकौशलानामंशानां वा निधिरस्ति, चन्द्रवत् । द्रुतं शीघ्रमनैक्यं भेदं करोतीत्यनैक्यकृद् योऽङ्कोऽपराधस्तस्य निवारणं निराकरणं यस्यां साऽमा अमावास्यारूपा नवधारणा नवीना धारणा भवतु । 'अङ्कश्चिह्नरणेमन्ताविति' विश्वलोचनः ॥ ३९ ॥

अन्वय : ननु भवान् शुभवान् । पुनः नः दुरितोदयः एव समस्तु । सः अदयः । विधुः मुदे उदेति, अथ अतिवियुज्यते । तत् कोकवयसि एव अभियुज्यते ।

अर्थ : आप तो सदैव हम लोगोंके शुभचिन्तक हैं । यह जो अनहोनी बात हो गयी, सो तो हमारे ही पापके उदयसे हुई । देखिये, चन्द्रमा उगता है तो सबकी प्रसन्नताके लिए ही । लेकिन चकवेको उससे अपनी प्रियासे वियोग हो जाता है । इसमें चकवेका ही दोष है । बेचारा चन्द्र क्या करे ? ॥ ३८ ॥

अन्वय : अथ इह त्वं सुतेजसां राशिः असि । जयः अपि अञ्जसा कलानिधिः अस्ति । तावत् द्रुतम् अनैक्यकृत् अङ्कनिवारणा अमा नवधारणा भवतु ।

अर्थ : आप तो सूर्यके समान प्रताके पुंज हैं । जयकुमार भी चन्द्रमाके तुल्य कलानिधि है । अतः मेरा विचार है कि शीघ्र ही अनेकताका कलंक दूर करनेवाली अमा नवधारणा (अमा अमावस्याकी नवीन धारणा) अर्थात् तुम दोनोंमें परस्पर मेल हो जाय । अमावास्याको सूर्य और चन्द्र दोनों तेजस्वी मिल जाते है, यह प्रसिद्ध हैं ॥ ३९ ॥

जयमहीपतुजोर्विलसत्त्रपः सपदि वाच्यविपश्चिदसौ नृपः ।
कलितवानितरेतरमेकतां मृदुगिरो ह्यपरा न समार्द्रता ॥४०॥

जयेति । असौ वाच्ये वक्तव्येऽर्थे विपश्चिद् विद्वान्, कदा कस्मै कीदृग् वक्तव्यमित्यभिज्ञो नृपोऽकम्पनः, विलसन्ती त्रपा यस्य लज्जावान् सन् सपदि जयश्च महीपतुग् अर्ककीर्तिश्च तयो इतरेतरं परस्परमेकतां मैत्रीं कलितवान् व्यधत्त । हि यस्मान्मृदुगिरो मधुरवाण्या अपरा समार्द्रता स्निग्धता कापि न विद्यते । अर्थान्तरन्यासः ॥ ४० ॥

त्वदपरो जलबिन्दुरहं जनो जलनिधे मिलनाय पुनर्मनः ।
यदगमं भवतो भुवि भिन्नतां तदुपयामि सदैव हि खिन्नताम् ॥४१॥

त्वदपरेति । अन्योक्तिमाश्रित्य जयोऽर्ककीर्तिं प्रतिवदति—हे, जलनिधे अहं त्वदपरो जलबिन्दुरस्मि, तवैव जनः। अतो मिलनाय पुनर्मनोऽस्ति । भुवि यदहं भवतो भिन्नतामगमं गतोऽस्मि, तत्तस्मात्कारणात् सदैव खिन्नतामुपयामि समनुभवामि । हीति निश्चये ॥ ४१ ॥

तव ममापि समस्ति समानता त्वमुदधिर्मयि बिन्दुकताऽऽगता ।
पुनरपीह सदा सदृशा दशा भवति शक्तिरहो मयि किं न सा ॥४२॥

तवेति । तव अर्ककीर्तेः मम जयकुमारस्य च समानताऽस्ति, यत् त्वमुदधिः समुद्रोऽसि,

---

अन्वय : सपदि विलसत्त्रपः वाच्यविपश्चित् असौ नृपः जय-महीपतुजोः इतरेतरम् एकतां कलितवान् । हि मृदुगिरः अपरा समार्द्रता न ।

अर्थ : इस प्रकार बोलनेमें चतुर और बुरी बातसे लज्जित महाराज अकंपनने जयकुमार और अर्ककीर्तिमें इस तरह मेल करा दिया। ठीक ही है, मीठी बातके समान मेल करानेवाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥ ४० ॥

अन्वय : जलनिधे अहं जलबिन्दुः, त्वदपरः जनः मिलनाय पुनः मनः (अस्ति) । भुवि यत् भवतः भिन्नताम् अगमं तत् सदैव खिन्नताम् उपयामि हि ।

अर्थ : समुद्र और बिंदुकी अन्योक्ति द्वारा जयकुमार अर्ककीर्तिसे कहता है कि हे जलनिधे ! आप समुद्रके समान और मैं उसकी मात्र एक बूँद हूँ । जो कि तेरा ही अंगभूत जन है, किसी कारण भूमण्डलपर तुमसे जो अलग हो गया, निश्चय ही इसका मुझे अत्यन्त खेद है । अतः फिर आपसे मिलना चाह रहा हूँ, यह भाव है ॥ ४१ ॥

अन्वय : त्वम् उदधिः, मयि बिन्दुकता आगता । इह पुनः अपि तव मम अपि समानता समस्ति । (यतः) सदा सदृशा दशा भवति । अहो मयि किं न सा शक्तिः ।

अर्थ : भेद है तो केवल इतना ही कि आप समुद्र हैं और मैं हूँ बूँद । फिर

किन्तु मयि अये बिन्दुकता बिन्दुभाव आगता समायाता । पुनरपीह आवयोः सदृशा दशा विद्यते इत्यर्थः । मयि जये शक्तिः सामर्थ्यं किं न भवति, अहो इत्याश्चर्यम् ॥ ४२ ॥

हृदनुतप्तमहो तव चेद्यदि किमु न तापमहो मयि सम्पदिन् ।
तदनुतापि न मेऽप्युपकल्पनं भवितुमेति नभः सुमकल्पनम् ॥४३॥

हृदिति । हे सम्पदिन्, तव हृद् हृदयं चेदनुतप्तं सन्तापयुक्तं, वर्तते, अहो तर्हि मयि तापस्य यः प्रभावः न किमु, अपितु अस्त्येव । मे चित्तमनुतापि सन्तप्तं नेत्युपजल्पनं कथनं तदेतत् नभसो गगनस्य सुमं पुष्पं तस्य कल्पनमिव मिथ्यास्तीति भावः ॥ ४३ ॥

किमनुतापरयेण तवोदये न यदि ते वडवोऽपि न हानये ।
समयतां समतां निखिलं दरमतिगभीरतया त्वयि सागर ॥४४॥

किमिति । हे सागर, तवोदये समुन्नतौ अनुतापरयेण किं साध्यं, यदि ते वडवोऽग्निरपि दरं भयं समतां विलीनतां समयतां प्राप्नोतु ॥ ४४ ॥

अपि समीररयादिमया सदा विनिपतन्ति ममोपरि चापदाः ।
समुपकर्तुमये किमु कस्यचित् तृडपसंहृतये किमहं सरित् ॥४५॥

भी इस भूतलपर आपकी और मेरी समान दशा, एक ही जाति है। क्या मुझमें वह सामर्थ्य नहीं जो समुद्र बन सकूं ॥ ४२ ॥

अन्वय : अहो संपदिन् यदि तव हृत् अनुतप्तं चेत् मयि तापमहः न किम् । मम हृत् अपि अनुतापि न इति उपकल्पनं नभः सुमकल्पनम् एति ।

अर्थ : हे संपत्तिशालिन् ! यदि आपका हृदय संतापसे जल रहा है तो मेरे मनमें भी कम ताप नहीं है। मेरा हृदय तापसे रहित है, यह कहना आकाशकुसुमके समान है, अर्थात् आप और मैं दोनों ही परस्पर वियोगसे दुःखी हैं ॥ ४३ ॥

अन्वय : सागर तवोदये अनुतापरयेण किम् ? यदि सः वडवः अपि ते हानये न । अतिगभीरतया त्वयि निखिलं दरं समतां समयताम् ।

अर्थ : हे सागर ! यह संतापका वेग आपके अभ्युदयका क्या बिगाड़ेगा ? इससे उसमें कुछ भी कमी नहीं आ सकती जहां वडावनल-सरीखा अग्नि भी अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखा पाता। अत्यन्त गंभीरचेता होनेसे आपमें सभी तरहके भय विलीन हो जायँ ॥ ४४ ॥

अन्वय : अपि ममोपरि समीररयादिमयाः। आपदाः सदा विनिपतन्ति । अहं किमु कस्यचित् तृडपसंहृतये समुपकर्तुम् अये किम् अहं सरित् ।

अपीति । अपि तु ममोपरि तु समीरस्य वायोः यो रयो वेगः स आविर्येषां ग्रीष्मादीनां तन्मयाः । अथवा समीररयावयो मया मार्गा यासां ताः आपदाः सदा विनिपतन्ति । तथा किमु कस्यचिदपि तृडपसंहृतये पिपासानिवृत्तये समुपकर्तुम् अये गच्छामि ? न यामि, यतः किमहं सरिदस्मि ? न कोऽप्युपयोगो ममेति भावः ॥ ४५ ॥

विनतिरस्ति समागमनाय मे समुपयामुपयामि तव क्रमे ।
न मनसीति भजेः किमु बिन्दुनाप्यवयवावयवित्वमिहाधुना ॥ ४६ ॥

विनतिरिति । अतस्तव क्रमे चरणे परिपाट्यां वा समुपयां सम्भूतिमुपैयामि । समागमनाय मे विनतिरस्ति । हे सागर इत्यामन्त्रणोक्त्या बिन्दुना किं स्यादिति मनसि न भजेस्त्वं यतोऽधुना इह अस्मद्युष्मदोः परस्परमवयवावयविभावो विद्यत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

त्वमपरोऽप्यपरोऽहमियं भिदा व्रजतु बुद्धिभृदैक्ययुजा विदा ।
भवति सम्मिलने बहुसम्पदा विरहिता जगतामपि कम्पदा ॥ ४७ ॥

त्वमिति । हे बुद्धिभृद् हे धीमन्, ऐक्यं युनक्तीत्यैक्ययुग् तया विदा बुद्ध्या त्वमपरोऽपि पुनरहमपर इतीयं भिदा भेदभावो व्रजतु दूरीभवतु, यतः सम्मिलने बहुसम्पदा भवति, किन्तु विरहिता तु जगतां जीवानां कम्पदा स्यात् ॥ ४७ ॥

अर्थ : और भी, मुझपर तो हवा आदिकी बाधा सदैव आती और सताती रहती है । क्या मैं किसीकी प्यास बुझाने के लिए जाता हूँ, कभी नहीं; क्योंकि मैं तो नदी भी नहीं, जब कि आप समुद्र हैं ॥ ४५ ॥

अन्वय : बिन्दुना किमु इति मनसि न भजेः । इह अधुना अवयवावयवित्वम् अस्ति । (अतः) समागमनाय मे विनतिः तव क्रमे समुपयाम् उपयामि ।

अर्थ : हाँ, फिर भी आप कहीं यह विचार न कर लें कि बिन्दुसे मेरा क्या होना-जाना है ? कारण आप और मुझमें अवयव-अवयविभावरूप सम्बन्ध है । इसीलिए समागम करनेके लिए मेरी आपसे बार-बार बिनती है । आपके चरणोंमें मेरा प्रणाम है ॥ ४६ ॥

अन्वय : हे बुद्धिभृत् त्वम् अपरः, अहम् अपि अपरः, इयं भिदा ऐक्ययुजा विदा व्रजतु । यतः सम्मिलने बहु संपदा, विरहिता जगताम् अपि कम्पदा ।

अर्थ : हे बुद्धिमान् महाशय ! आप भिन्न हैं और मैं भिन्न—ऐसा जो भेद है, वह अब ऐक्यभावनासे दूर हो जाय । क्योंकि मिलनमें लाभ ही लाभ है और वियुक्तता तो जीवोंको अत्यन्त भयसे कँपानेवाली है, उससे हानि ही हानि है ॥ ४७ ॥

विघटनं नहि संघटनं च नः प्रतिनिभालयतां सकलो जनः ।
भवतु संस्मृतयेऽप्यसकौ दिवा स्म जयदेवगिरेति निरेति वा ॥ ४८ ॥

विघटनमिति । सकलो जनः समस्तलोको नोऽस्माकं सङ्घटनं सम्मेलनं निभालयतां पश्यतु, विघटनं विरोधं न पश्यतु । असकौ स दिवा दिवसः संस्मृतये स्मरणाय भवतु, इति जयदेवगिरा जयकुमारवाण्या निरेति स्म निर्गच्छति स्म ॥ ४८ ॥

अवसरोचितमित्यनुवादिना करिपुरप्रभुणा मृदुनादिना ।
निशमतीत्य विकासिनि भृङ्गवद् रविहृदब्ज इहापि नवं पदम् ॥ ४९ ॥

अवसरेति । इति उपर्युक्तप्रकारेण अवसरोचितं समयानुकूलमनुवादिना मृदुनादिना कोमलभाषिणा जयकुमारेण भृङ्गेण तुल्यं भृङ्गवत् निशां रात्रिमतीत्य अतिक्रम्य विकासिनि विकसिते रवेः हृदेव अब्जं तस्मिन् मानसकमले नवं नूतनं पदं स्थानमपि प्राप्तम् । उपमालङ्कारः ॥ ४९ ॥

हृदनयोरथ पारदसारदं सुजनयोर्द्रुतमैक्यमुपासदत् ।
मिलनमर्हति कर्हि न तत्पुनः स्फुटितकुम्भवदत्र धिगस्तु नः ॥ ५० ॥

हृदिति । अथ अनयोः सुजनयोर्हृद् हृदयं पारदस्य सूतस्य सारं बलं ददाति तत्पारदसारदं पारदानुकरणकारि तद् द्रुतं शीघ्रमेवैक्यं भेदाभावमुपासदत् प्राप्तवान् । यथा

अन्वय : सकलः जनः नः संघटनं च प्रतिनिभालयताम्, च विघटनं नहि । वा असकौ दिवा अपि संस्मृतये भवतु, इति जयदेवगिरा निरेति स्म ।

अर्थ : सभी लोग हमारे संघटनको देखें और विघटन या विरोधको न देखें । अथवा आजका यह दिन भी स्मरणीय बन जाय । इस प्रकार जयकुमारने अर्ककीर्तिसे कहा ॥ ४८ ॥

अन्वय : इति अवसरोचितम् अनुवादिना मृदुनादिना करिपुरप्रभुणा इह निशम् अतीत्य विकाशिनि रविहृदब्जे भृङ्गवत् नवं पदम् आपि ।

अर्थ : इस प्रकार अवसरोचित बात कहनेवाले, मधुरभाषी करिपुरके राजा जयकुमारने रात बिताकर विकाशको प्राप्त अर्ककीर्तिके हृदयरूप कमलमें भौंरेके समान नवीन स्थान प्राप्त कर लिया ॥ ४९ ॥

अन्वय : अथ अनयोः सुजनयोः पारदसारदं हृत् द्रुतम् ऐक्यम् उपासदत् । अत्र पुनः (यत्) स्फुटितकुम्भवत् कर्हि मिलनम् न अर्हति, नः तत् धिग् अस्तु ।

अर्थ : इस प्रकार पारेके सार-स्वभाववाले इन दोनों सज्जनोंके हृदय

पारदं पृथक्-पृथग्भूतापि पुनः संयोजितं सत् परस्परमेकीभवति तथाऽभूत् । यत्पुनः स्फुटितकुम्भवद् कदाचिन्न मिलनं नार्हति, तन्नो दुरभिमानिनां मनो धिगस्तु । उपमालङ्कार ॥ ५० ॥

भरतबाहुबलिस्मरयोर्यथा　　रवियशःसुदृगीश्वरयोस्तथा ।
मिलनमेतदभूत् किल नन्दनं कुलभृतां परिकर्मनिबन्धनम् ॥ ५१ ॥

भरतेति । भरतश्च बाहुबलिस्मरश्च कामदेवस्तयोर्यथा पुरा मिलनमभूत्, तथा रवियशा अर्ककीर्तिश्च सुदृगीश्वरो जयकुमारश्च तयोरेतन्मिलनं किल । कुलभृतां कुलीनानां नन्दनमानन्ददायकं परिकर्मनिबन्धनम् उदाहरणरूपमभूत् ॥ ५१ ॥

भरतपुत्रममुत्र सुखाशया स पुनरभ्रमुवल्लभके रयात् ।
प्रगतवानधिकृत्य नरैः समं यतिचरित्रपवित्रजिनाश्रमम् ॥ ५२ ॥

भरतेति । अमुत्र उत्तरजन्मन्यपि सुखं स्यादित्याशया स जयकुमारः पुनरनन्तरं भरतस्य पुत्रमर्ककीर्तिम् अभ्रमोर्हस्तिन्या यो वल्लभस्तस्य के शिरसि, अधिकृत्य उपस्थाप्य रयाच्छीघ्रमेव नरैरपरैर्लोकैः समं यतिचरित्रपवित्रं यतीनां चरित्रमाचरणं तदिव पवित्रमिति सार्थनाम, जिनस्याश्रमं मन्दिरं प्रगतवान् । 'अभ्रमुवल्लभकमिमति' वा, 'अधिकृत्ये'ति अधियोगे सप्तमी ॥ ५२ ॥

बातकी बातमें एक हो गये । यहाँ हम लोगोंके उस हृदयको धिक्कार है जो फूटे घड़ेके समान एकबार टूट जानेपर फिर मिल नहीं पाता ॥ ५० ॥

अन्वय : यथा भरतबाहुबलिस्मरयोः तथा रवियशःसुदृगीश्वरयोः एतत् मिलनं कुलभृतां नन्दनं परिकर्मनिबन्धनम् अभूत् किल ।

अर्थ : जैसे कुछ काल पहले भरत और बाहुबलिका परस्पर विरोध हुआ तो मिनिटोंमें पुनः मेल हो गया, वैसे ही अर्ककीर्ति और जयकुमारका यह मिलन भी हितैषी कुलीन लोगोंके लिए आनन्द देनेवाला और एक अनुकरणीय दृष्टान्तरूप हो गया ॥ ५१ ॥

अन्वय : अमुत्र सुखाशया सः पुनः रयात् भरतपुत्रम् अभ्रमुवल्लभके अधिकृत्य नरैः समं यतिचरित्रपवित्रजिनाश्रमं प्रगतवान् ।

अर्थ : इसके बाद उत्तर जन्म या जीवनमें सुखकी आशावाला जयकुमार अर्ककीर्तिको हाथीपर बैठाकर सब लोगोंके साथ यतिचरित्रोंसे पवित्र 'यतिचरित्र' नामक जिनमन्दिरमें पहुँचा ॥ ५२ ॥

यदिह लोकजितो गुणतो धृतौ खलु नृणां करकौ च समाहृतौ ।
जय जयेति गिरा न विलम्बितं पदयुगं शिरसा त्ववलम्बितम् ॥ ५३ ॥

यदिहेति । नृणां करावेव करकौ हस्तौ तौ समाहृतौ सन्तौ यद्यस्मात् कारणाद् इहावसरे लोकजितः श्रीजिनदेवस्य गुणतो निर्दोषत्वादितो रज्ज्वा वा धृतौ बद्धौ जातौ । तत एव खलु जयजयेति गिरा वाचापि न विलम्बितं शीघ्रमेव निर्गतम्, पलायितुमिव भयात् जयकारशब्दो विष्वगभ्युच्चरितोऽभूदित्यर्थः । नृणां शिरसा तु तस्य जिनदेवस्य पदयुगमवलम्बितमाश्रितम् । सर्वे जिनभक्तिरता जाता इत्याशयः । खलु इत्युत्प्रेक्षायाम् । श्लेषोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ५३ ॥

नहि तर्कैर्जितकैतव एव स स्नपनभावमितः प्रभुरेकशः ।
मुदुदिताश्रुजलैरनुभावितं वपुरपीह निजं शुचिताश्रितम् ॥ ५४ ॥

नहीति । तैरेव तर्कैर्लोकैः स जितं कैतवं छद्म येन स निष्कपटप्रभुरेव केवलं स्नपनभावमितः स्नापित इत्यर्थः । इति नहि, अपि तु तैरिह शुचिताश्रितं शुद्धं निजं वपुः अपि शरीरमपि एकशः सार्धमेव मुदो हर्षातिरेकाद् उदितानि जातानि यान्यश्रुजलानि तैरनुभावितं समभिषिक्तमित्याशयः । सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ५४ ॥

चरितमष्टदिनावधि पूजनं भगवतोऽखिलकर्मनिषूदनम् ।
हृदयदृक्श्रवसामभिनन्दनं स्वशिरसीष्टजिनाङ्घ्रिजचन्दनम् ॥ ५५ ॥

चरितमिति । अखिलकर्मनिषूदनम् अशेषकृतिनाशकं भगवतो जिनस्य पूजनमर्चन-

---

अन्वय : यत् खलु इह नृणां करकौ समाहृतौ लोकजितः गुणतः धृतौ (ततः एव) जय-जय इति गिरा च न विलम्बितम् । शिरसा तु पदयुगम् अवलम्बितं खलु ।

अर्थ : इस अवसरपर लोगोंके हाथ भगवान् जिनेन्द्रके निर्दोषता आदि गुणों द्वारा मिलाकर बाँध दिये गये । फलतः वाणी भी डरकर मानो जय-जयके रूपमें निकल भागी और लोगोंके सिर भगवान्के चरणोंमें आ गिरे ॥ ५३ ॥

अन्वय : तर्कैः एकशः जितकैतवः प्रभुः एव स्नपनभावं नहि इतः । किन्तु इह शुचिताश्रितं निजं वपुः अपि मुदुदिताश्रुजलैः अनुभावितम् ।

अर्थ : उस समय उन लोगोंने न केवल निष्कपट भावसे भगवान्का अभिषेक ही किया, प्रत्युत हर्षातिरेकसे बहनेवाले अश्रुजलसे अपने शरीरोंको भी अभिषिक्त कर लिया ॥ ५४ ॥

अन्वय : (तैः) अखिलकर्मनिषूदनं हृदयदृक्श्रवसाम् अभिनन्दनं स्वशिरसि इष्टजिनाङ्घ्रिजचन्दनं भगवतः अष्टदिनावधि पूजनं चरितम् ।

अर्थ : उन लोगोंने लगातार आठ दिनों तक बड़े ठाठ-बाटके साथ भगवान्की

महदिनावधि चरितमनुष्ठितम् । कथम्भूतम् ? हृदयदृक्श्रवसां मनश्चक्षुःकर्णानामभिनन्दनमानन्दकरम्, पुनः स्वशिरसि निजमस्तके इष्टमभिलषितं जिनाङ्घ्रिजं चन्दनं यस्मिंस्तथाभूतमद्भुतं पूजनमभूत् ॥ ५५ ॥

अयमयच्छदधीत्य हृदा जिनं तदनुजां तनुजाय रथाङ्गिनः ।
सुनयनाजनकोऽयनकोविदः परहिताय वपुर्हि सतामिदम् ॥ ५६ ॥

अयमिति । सुनयनायाः सुलोचनाया जनकोऽकम्पनः अयनस्य सन्मार्गस्य कोविदो विद्वान् आसीदित्यर्थः । अनुभवप्राप्तः स जिनं भगवन्तं हृदा मनसाऽधीत्य संस्मृत्य रथाङ्गिनश्चक्रवर्तिनस्तनुजाय तस्याः सुलोचनाया अनुजामयच्छत् ददौ । यतः सतामिदं वपुः शरीरं परहिताय परोपकारायैव भवति । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५६ ॥

मनसि तेन सुकार्यमधार्यतः प्रतिनिवृत्त्य यथोदितकार्यतः ।
हृदनुकम्पनमीशतुजः सता क्रमविचारकरी खलु वृद्धता ॥ ५७ ॥

मनसीति । अतो यथोदितात्कार्यतोऽक्षमालाया विवाहतः प्रतिनिवृत्य तेन सताऽकम्पनेन मनसि हृदये, ईशस्यादिपुरुषस्य तुग् भरतस्तस्य हृदश्चित्तस्य अनुकम्पनमनुकूलकरणं

पूजा की, जो निखिल कर्मोंका नाश करनेवाली, हृदय, लोचन और कानोंको प्रसन्न करनेवाली तथा जो अपने सिरपर अभिलषित जिनेन्द्रके चरणरजोरूप चन्दनसे चर्चित थी । अर्थात् उन लोगोंने भगवान्‌की पूजाकर उनकी चरणरज अपने मस्तकोंपर लगायी ॥ ५५ ॥

अन्वय : अयनकोविदः अयं सुनयनाजनकः हृदा जिनम् अधीत्य तदनुजां रथाङ्गिनः तनुजाय अयच्छत् । हि सताम् इदं वपुः परहिताय (भवति) ।

अर्थ : भगवान्‌की आराधनाके पश्चात् सन्मार्गके जाननेवाले महाराज अकम्पनने सुलोचनाकी छोटी बहन, अपनी पुत्री अक्षमालाका विवाह अर्ककीर्तिके साथ कर दिया । ठीक ही है, क्योंकि सज्जनोंका शरीर परोपकारके लिए ही होता है ॥ ५६ ॥

अन्वय : अतः यथोदितकार्यतः प्रतिनिवृत्य तेन सता मनसि ईशतुजः हृदनुकम्पनं सुकार्यम् अधारि । वृद्धता क्रमविचारकरी (भवति) खलु ।

अर्थ : तदनन्तर यथोचित कार्यसे निवृत्त हो उन महाराज अकम्पनने आदिनाथके पुत्र भरत चक्रवर्तीके हृदयको अपने अनुकूल बनाना ही उचित

सुकार्यमथापि निर्धारितं खलु निश्चयेन । वृद्धता क्रमविचारकरी खलु भवति । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५७ ॥

हृदयवद् गुणदोषविचारकं प्रवरवद्विपदां विनिवारकम् ।
सुमुखनाम चरं निदिदेश स भुवि सतां सहजा हि दिशा दृशः ॥५८॥

हृदयेति । सोऽकम्पनभूपो हृदयेन तुल्यं हृदयवत्, गुणाश्च दोषाश्च तेषां विचारकस्तं तथा प्रवरवद् भाग्यवद्विपदां विनिवारकं परिहारकं सुमुखनामकं चरं दूतं निदिदेशादिष्टवान् । हि यस्मात् कारणाद् भुवि सतां दृशो दृष्टेर्दिशा सहजा स्वाभाविकी सदाऽनुकूला भवति । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५८ ॥

निगद नस्तु नमोऽर्कयशःपितुस्त्वरितमन्तिकमेत्य महीशितुः ।
भवितुमर्हति भूवलयेऽपरः सुमुख कार्यचणः कतमो नरः ॥ ५९ ॥

निगदेति । हे सुमुख, त्वरितमहं महीशितुर्नृपस्य अर्कयशःपितुरन्तिकमेत्य नोऽस्माकं नमः प्रणतिं निगद । अस्मिन् भूवलये परो द्वितीयः कतमो नरः कार्ये वित्तः कार्यचणः कार्यसाधने प्रसिद्धः कार्यचणः, कार्यसम्पादनप्रसिद्धः कतमो मनुष्यः कर्तव्यपालको भवति ? न कोऽपीति, भवान् एव कार्यं सम्पादयेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

माना । निश्चय ही वृद्धता सदैव क्रमिक कर्तव्यताका उचित विचार किया करती है ॥ ५७ ॥

अन्वय : सः हृदयवत् गुणदोषविचारकं प्रवरवत् विपदां विनिवारकं सुमुखनाम चरं निदिदेश । हि भुवि सतां दृशः दिशा सहजा ।

अर्थ : फिर महाराज अकम्पनने चक्रवर्तीके पास सुमुख नामक दूतको भेजा जो हृदयकी तरह गुण-दोषका विचारक एवं भाग्य यानी भाग्यवान् अथवा वीर पुरुषके समान आगत विपत्तियोंका निराकरण करनेवाला था । ठीक है, सन्तोंकी दृष्टिकी दिशा स्वभावतः सदैव अनुकूल ही हुआ करती है ॥ ५८ ॥

अन्वय : सुमुख त्वं (तु) त्वरितं महीशितुः अर्कयशःपितुः अन्तिकम् एत्य नः नमः निगद । भूवलये कतमः अपरः नरः कार्यचणः भवितुम् अर्हति ।

अर्थ : महाराजने उससे कहा कि हे सुमुख ! तुम अर्ककीर्तिके पिता चक्रवर्तीके पास जाओ और उनसे मेरा नमस्कार कहो । इस भूमण्डलपर तुम्हारे समान कार्य साधनमें चतुर दूसरा कौन पुरुष हो सकता है ? ॥ ५९ ॥

मम मनोरथकल्पलताफलं वदति शुक्तिजलक्ष्म स वोपलम् ।
समभिपश्य नृपस्य मनीषितं नृवर साधय तस्य मयीहितम् ॥ ६० ॥

ममेति । हे नृवर हे मनुष्योत्तम, स नृपो मम मनोरथ एव कल्पलता तस्याः फलमिव मम मनोरथं कांक्षितं शुक्तिजलक्ष्म शुक्तेर्जातं शुक्तिजं मौक्तिकं तस्य लक्ष्मास्यास्तीति शुक्तिजलक्ष्म मौक्तिकरूपं वदति, अथवा उपलं पाषाणरूपं वदति, इति नृपस्य मनीषितं निश्चितं समभिपश्य, तस्य चेष्टितं मयीहितं मदनुकूलं साधय ॥ ६० ॥

रविपराजयतः स रुषः स्थलं यदि तदा भुवि नः क्व कलादलम् ।
मकरतोऽवरतस्य सरस्वति भवितुमर्हति नासुमतो गतिः ॥ ६१ ॥

रविपराजयत इति । यदि स रविपराजयतो रुषः क्रोधस्य स्थलं क्रुद्धो भवेत् तदा नोऽस्माकं भुवि कलादलं गुणसमूहोपयोगः क्व कुतः स्यादित्यर्थः । मकरतो नक्रादवरतस्य विरतस्य सरस्वति सागरे कथं गतिर्निर्वाहो भवितुमर्हति, न भवतीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

सफलयन्नमनेन निजं तदा तरुरिवोत्तमपत्रकसम्पदा ।
इति स लेखहरः समुपेत्य ना विनतवागभवत् प्रभवेऽमनाक् ॥ ६२ ॥

सफलेति । इति स लेखहरो दूत उत्तमपत्रकसंपदा श्रेष्ठदलसम्पत्त्या उपलक्षितस्तरु-

---

अन्वय : नृवर ! सः मम मनोरथकल्पलताफलं शुक्तिजलक्ष्म वदति, वा उपलं वदति, (इति) नृपस्य मनीषितं समभिपश्य । तस्य मयि ईहितं (च) साधय ।

अर्थ : हे नृवर ! पहले उनके मनकी परीक्षा करो कि वे चक्रवर्ती मेरे मनोरथ रूपी कल्पलताके फलरूप इस कार्यको मोती बताते हैं या पत्थर, अर्थात् इसे उचित मानते हैं या अनुचित ? बादमें उनकी चेष्टाओंको, यदि वे मेरे प्रतिकूल हों तो, अनुकूल बना दो ॥ ६० ॥

अन्वय : यदि सः रविपराजयतः रुषः स्थलम् तदा नः भुवि क्व कलादलम् ? सरस्वति मकरतः अवरतस्य असुमतः गतिः भवितुं न अर्हति ।

अर्थ : कारण, यदि अर्ककीर्तिकी पराजयसे वे क्रुद्ध हो गये हों तो उस हालतमें हम लोगोंके गुणोंका मूल्य ही क्या ? तब हमारे लिए गुजारा कहाँ ? समुद्रमें रहकर मगरसे बैर करनेवाला व्यक्ति क्या कभी अपना निर्वाह कर सकता है ? ॥ ६१ ॥

अन्वय : इति सः लेखहरः ना उत्तमपत्रकसम्पदा तरुः इव समुपेत्य तदा नमनेन निजं सफलयन् प्रभवे अमनाक् विनतवाक् अभवत् ।

रिव समुपेत्य तदा नमनेन प्रणतया निजमात्मानं सफलयन् कृतार्थयन् प्रभवे स्वामिने अमनागतिशयेन विनतवाङ् नम्रवचनोऽभवत् । वक्ष्यमाणप्रकारेण नम्रवचनमुवाचेत्यर्थः ॥६२॥

जयतमां नृषु राजसुराज ते यशसि नो शशिनो मधु राजते ।
चरणयोर्मणयोऽरितिरीटजाः प्रतिवदन्तु रुजां पुरुजात्मजाम् ॥ ६३ ॥

जयतमामिति । हे राजसुराज हे नृपश्रेष्ठ, पुरुज, भवान् नृषु मनुष्येषु जयतमां विजयताम् । ते यशसि वर्तमाने शशिनो मधु माधुर्यं नो राजते । तव चरणयोः पादयोः अरितिरीटजाः शत्रुभूपकिरीटजा मणय आत्मजामात्मनि जातां रुजां पीडां प्रतिवदन्तु निवारयन्तु । पादप्रणामेन आत्मदुःखं नाशयन्त्वित्यर्थः ॥ ६३ ॥

चरमुखेऽमृतगाविव भूभृतः किल चकोरसमा दृगगादतः ।
वदनतो निरगाच्छशिकान्ततः शुचितमापि च वाक्सरिता ततः ॥ ६४ ॥

चरमुख इति । अतः परं भूभृतश्चक्रवर्तिनश्चकोरसमा दृक् चक्षुरमृतगौ चन्द्रे इव चरमुखे दूताननेऽगात् किल । ततो वदनतो मुखतः शशिकान्त इव शुद्धतमाऽतिस्वच्छा वागेव सरिता वाणीरूपा नदी निरगात्, वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुमारेभ इत्याशयः ॥ ६४ ॥

अर्थ : इस प्रकार विपुल पत्र-पुष्पादिसे संपन्न किसी वृक्षकी तरह वह पत्रवाहक चक्रवर्तीके निकट पहुँचा और उन्हें नमनकर स्वयंको कृतार्थ मानता हुआ अत्यन्त विनम्रवाणीसे कहने लगा। वृक्षपक्षमें 'विनतवाग्' का अर्थ होग पक्षीकी वाणी ॥ ६२ ॥

अन्वय : राजसुराज (भवान्) नृषु जयतमाम् । ते यशसि (सति) शशिनः मधु नो राजते । (ते) चरणयोः अरितिरीटजाः मणयः पुरुजामजां रुजां प्रतिवदन्तु ।

अर्थ : हे चक्रवर्तिन् पुरुज ! आप मनुष्योंके बीच सदैव विजयी रहें । आपका यश सर्वत्र प्रसृत रहते चन्द्रमाका माधुर्य शोभित ही नहीं हो पाता, फीका पड़ जाता है। शत्रुनरेशोंके मुकुटोंकी मणियाँ आपके चरणोंमें लगकर अपनी आत्मामें होनेवाली पराजयजन्य पीड़ा दूर करें ॥ ६३ ॥

अन्वय : अतः भूभृतः चकोरसमा दृक् अमृतगौ इव चरमुखे अगात् । अपि च ततः वदनतः शशिकान्ततः इव शुचितमा वाक्सरिता निरगात् ।

अर्थ : इतना सुननेके बाद उस चक्रवर्तीकी चकोरसदृश दृष्टि चन्द्रकी तरह दूतके मुखकी ओर मुड़ी, अर्थात् दूतके मुखचन्द्रको देखने लगी । फलतः चन्द्रकान्तमणिकी तरह उस चक्रवर्तीके मुँहसे अतिस्वच्छ वचनरूपा नदीकी धारा बहने लगी । अर्थात् वक्ष्यमाण प्रकारसे वह कहने लगा ॥ ६४ ॥

परिचयोऽरिचयोदयहारिणे शुभवतो भवतोऽस्तु सुधारिणे ।
क्व निलयोऽनिलयोग्यविहारिणः किमथ नाम समर्थविचारिणः ॥ ६५ ॥

परिचय इति । हे दूत, अनिलयोग्यविहारिणः पवनतुल्यगमनशीलस्य, समर्थविचारिणः सम्यग्विचारवतः शुभवतः कल्याणयुक्तस्य भवतः क्व निलयः स्थानमस्ति । किञ्च नामेति परिचय इत्यरिचयोदयहारिणे शत्रुसमूहोत्पत्तिनाशकाय, सुधारिणे प्रजोन्नतिविधायकाय मह्यमस्तु । स्वनाम-स्थानपरिचयो दीयतामित्यर्थः ॥ ६५ ॥

हृदयसिन्धुरभूदुपलालित इति सदीशगवा प्रतिपालितः ।
रयमयः सुतरामुदगादयं चरनरस्य च वारिसमुन्नयः ॥ ६६ ॥

हृदयेति । इति उक्तप्रकारेण सदीशस्य श्रेष्ठचक्रवर्तिनो गोर्वाणी तया प्रतिपालितो वाक्चन्द्रकिरणसमुल्लासितः चरनरस्य दूतस्य हृदयं सिन्धुरिवेति हृत्समुद्र उपलालितस्तरलितोऽभूत् । ततोऽयं रसमय आनन्दवेगप्रचुरो वारिसमुन्नयो वचनरूपो जलप्रवाहः सुतरामतिशयेन उदगादुदगिरत् ॥ ६६ ॥

लसति काशि उदारतरङ्गिणी वसतिरप्सरसामुत रङ्गिणी ।
भवति तत्र निवासकृदेषकः स शकुलार्भक ईश विशेषकः ॥ ६७ ॥

अन्वय : (दूत !) अनिलयोग्यविहारिणः समर्थविचारिणः शुभवतः भवतः क्व निलयः ? अथ किं नाम परिचयः (इति) अरिचयोदयहारिणे सुधारिणे (मह्यम्) अस्तु ।

अर्थ : हे दूत ! पवनतुल्य गतिशील और भलीभाँति विचारमें निपुण, कल्याणशील आपका निवासस्थान कहाँ है ? साथ ही शत्रुसमूहकी उत्पत्तिके निरोधक और प्रजाकी उन्नतिमें तत्पर मुझे आपका नाम क्या है, इसका परिचय प्राप्त हो । अर्थात् बतायें कि आपका क्या नाम है और कहाँसे पधार रहे हैं ? ॥ ६५ ॥

अन्वय : इति सदीशगवा प्रतिपालितः चरनरस्य हृदयसिन्धुः उपलालितः अभूत् । अयं रयमयः वारिसमुन्नयः च सुतराम् उदगात् ।

अर्थ : इस प्रकार चक्रवर्तीकी वाणीरूप चन्द्रमाकी किरणोंसे समुल्लासित दूतका हृदय-समुद्र उमड़ पड़ा, जिसके वेगसे भरा निम्नलिखित वचनरूप जलका विशाल स्रोत उसके मुखसे बह निकला । अर्थात् दूत आगे लिखे अनुसार बोलने लगा ॥ ६६ ॥

लसतीति। हे ईश हे प्रभो, उदारा विशाला तरङ्गिणी नदी भागीरथी यस्यां सा काशीनगरी लसति शोभते, या जलसुखवाचिन्यस्ति। उत अन्यच्च याऽप्सरसां रङ्गिणी मनोरञ्जिका वसतिः आश्रयभूता वर्तते। तत्र निवासकृत्, एषकः शकुलार्भकविशेषको मत्स्यडिम्भरूपो जनो भवति। यद्वा श्रेष्ठकुलोत्पन्नबालक एव काशीनिवासी अस्तीति भावः ॥ ६७ ॥

विनयतो विहरञ्जगदीक्षण तव भवन्नगरक्षणवीक्षणः।
क्षणमिहाश्रमितोऽस्मि यदृच्छया नहि पुरेक्षितमीदृगहो मया ॥ ६८ ॥

विनयत इति। हे जगदीक्षण हे विश्वदर्शक, विनयतो विहरन्नहं भवन्नगरक्षण-वीक्षणो भवन्, श्रीमत्पुरावलोकनेच्छुः सन् यदृच्छया स्वेच्छया क्षणमिह आश्रमितोऽस्मि स्थितोऽस्मि। अहो मया पुरा पूर्वमीदृशम् एतादृशं नगरं नेक्षितमासीत् ॥ ६८ ॥

अवनिनाथ तमां त्वयि वीक्षिते क्व दृगुदेति पुनर्वलये क्षितेः।
सुरभिताखिलदिश्युपकानने द्युतिरुताम्रतरुस्थपिकानने ॥ ६९ ॥

अवनिनाथेति। हे अवनिनाथ हे धराधीश, त्वयि वीक्षिते सति पुनः क्षितेर्वलये

अन्वय : ईश ! उदारतरङ्गिणी काशि लसति, उत अप्सरसां रङ्गिणी वसतिः। तत्र निवासकृत् एषकः सः विशेषकः शकुलार्भकः भवति।

अर्थ : हे नाथ ! विशाल भागीरथी नदीसे सम्पन्न यह काशी नामक नगरी शोभित हो रही है (कः = जल या सुख, उसकी आशी = आशावाली यह नगरी है)। साथ ही यह परमसुन्दरी स्त्रियों और अप्सराओंकी मनोरंजक बस्ती है। वहीं रहनेवाला यह एक शकुलार्भक यानी मछलीका बच्चा है। दूसरे पक्षमें कल्याण-मय कुलका बालक है, भगवान् और आपका नाम जपनेवाला है ॥ ६७ ॥

अन्वय : जगदीक्षण ! विनयतः विहरन् (अहम्) भवन्नगरक्षणवीक्षणः यदृच्छया क्षणम् इह आश्रमितः अस्मि। अहो मया पुरा ईदृग् नहि ईक्षितम्।

अर्थ : हे विश्वदर्शक ! विनयपूर्वक विहार करता हुआ मैं आपके नगरको देखनेकी अभिलाषासे यहाँ आ गया और इच्छानुसार क्षणभर अर्थात् एक-आध दिनके लिए यहाँ ठहरा हूँ। अहो ! ऐसा नगर मैंने आजतक और कहीं नहीं देखा ॥ ६८ ॥

अन्वय : अवनिनाथ ! त्वयि वीक्षिते पुनः क्षितेः वलये दृक् क्व उदेतितमाम्। सुरभिताखिलदिशि उपकानने उत आम्रतरुस्थपिकानने द्युतिः (भवति)।

मण्डले दृक् नेत्रं क्वोदेति कुत्र गच्छति ? न क्वापीत्यर्थः । यथा—सुरभिताः सौरभयुक्ताः कृता अखिला दिशो यस्मिन् तथाभूते, उपकानने उपवने द्युतिर्भवति, उत अथवा आम्रतरुस्थपिककानने भवति । यथा वसंकदृष्टिः सकलमुपवनं विहाय आम्रतरुस्थपिकानन एव रज्यति तथा त्वयि दृष्टे सति भूमण्डले किमपि द्रष्टव्यं न रोचत इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

जगति तेऽलमुदेति तु साधुता स्तुतिषु मे चिदपैति च सा धुता ।
परहिताय जयेज्जनता नवं विरम भो विरमेति सुमानव ॥ ७० ॥

जगतीति । हे सुमानव साधुपुरुष, जगति ते साधुता सज्जनता अलं पर्याप्तमुदेति प्रकटीभवति । स्तुतिषु स्तवेषु तव प्रशंसासु मे सा चिद् बुद्धिर्धुता कम्पिता सति अपैति दूरीभवति, असमर्था जायत इत्यर्थः । हे प्रभो, जनता जनसमूहः परहिताय परोपकारार्थं नवं नूतनं जयेत् प्रशंसेत् । भो देव, त्वं विरम विरम चिरं स्थिरो भवेत्यर्थः ॥ ७० ॥

मृदुलदुग्धकलाक्षरिणी स्वतः किमिति गोपतिगौरुदिता यतः ।
समभवत् खलु वत्सकवत् सकश्चरवरोऽप्युपकल्पधरोऽनकः ॥ ७१ ॥

मृदुलेति । यतः चरवचनश्रवणाद् गोपतेश्चक्रवर्तिनो गौरेव गीर्वाणीरूपा धेनुः

अर्थ : हे धराधीश ! आपका देख लेनेपर तो इस पृथ्वीमंडलपर मनुष्यकी आँखें कहीं और जाती ही नहीं । सभी दिशाओंको सुगंधित कर देनेवाले सारे उपवनकी ओर मनुष्यकी दृष्टि रंजित होती है, अथवा सारे वृक्षोंको छोड़ आम्रवृक्षस्थित कोयलके मुखमें अनुरक्त होती है : अर्थात् आपको देखनेपर अब अखिल भूमण्डलमें मुझे कोई भी नहीं सुहाता ॥ ६९ ॥

अन्वय : सुमानव ! जगति ते साधुता तु अलम् उदेति । स्तुतिषु मे सा चित् धुता अपैति । जनता परहिताय नवं जयेत् । भो विरम विरम इति ।

अर्थ : हे साधुपुरुष ! इस पृथ्वीमंडलपर आपकी साधुता (सज्जनता) तो पर्याप्त रूपमें प्रकट हो रही है । इसलिए मेरी बुद्धि भी आपकी स्तुति करनेमें काँप रही है, अर्थात् असमर्थ है । प्रभो ! सारी जनता परोपकार करनेके लिए आपसरीखे नवीन महानुभावकी प्रशंसा करेगी । देव ! आप सदैव चिरकालतक सुस्थिर हो जायँ ॥ ७० ॥

अन्वय : यतः गोपतिगौः स्वतः मृदुलदुग्धकलाक्षरिणी किम् इति उदिता । अनकः सकः चरवरः अपि खलु वत्सकवत् उपकल्पधरः समभवत् ।

स्वत आत्मना मृदुलदुग्धस्य कलायाः क्षरिणी प्रस्नविणी उदिता प्रकटीभूता, किमिति उत्प्रेक्षायाम् । अनको निर्दोषः सकश्चरवरो वत्सकवत् तर्णकतुल्य उपकल्पधरः सहायकरः समभवत् खलु । चरवचनमाकर्ण्य चक्रवर्ती नृपो धेनुवद् वाग्रूपं दुग्धमुदगिरदित्यर्थः । उत्प्रेक्षा-रूपकयोः सङ्करालङ्कारः ॥ ७१ ॥

अमुखितास्तु न यूयमिह क्षितावपि च काशिनरेशनिरीक्षिताः ।
नृवर कच्चिदसौ जरसाञ्चित इतरकार्यकथास्वथ वञ्चितः ॥ ७२ ॥

असुखिता इति । हे नृवर पुरुषश्रेष्ठ, यूयमिह क्षितौ काशिनरेशनिरीक्षिता वाराणसीनृपसंरक्षिता अपि, असुखिता दुःखितास्तु न स्थ ? अथ जरसाञ्चिता वार्धक्य-विभूषितोऽसौ काशीपतिः इतरकार्यकथासु प्रजापालनादि-व्यापारवार्तासु कच्चिद् वञ्चितोऽसमर्थस्तु नास्तीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

शुचिरिहास्मदधीड् धरणीधर सति पुनस्त्वयि कोऽयमुपद्रवः ।
तपति भूमितले तपने तमः परिहृतौ किमु दीपपरिश्रमः ॥ ७३ ॥

शुचिरिति । हे धरणीधर हे चक्रवर्तिन्, इह लोकेऽस्मदधीड् अधीश्वरः शुचिः शुद्ध-विवेकशीलः स्वस्थश्च, अस्तीति शेषः । अतः प्रजापालनादिकार्येषु तत्परोऽस्ति । पुनस्त्वयि चक्रवर्तिनि विद्यमाने सति अयमस्माकमसुखितारूपद्रवः कः ? कथं भवितुमर्हतीत्याशयः । तदेवार्थान्तरेण समर्थयति—भूमितले क्षितौ तपने सूर्ये तपति सति तमःपरिहृतौ अन्धकारनाशे दीपपरिश्रमः किमु किमर्थं भवेन्न स्यादित्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७३ ॥

अर्थ : इसके बाद चक्रवर्तीकी वाणीरूपी गाय मानो स्वयं ही मृदुल मीठा दूध प्रवाहित करनेवाली बनकर प्रकट हुई, जिसमें वह निर्दोष दूत निश्चय ही बछड़ेके समान सहायक सिद्ध हुआ ॥ ७१ ॥

अन्वय : नृवर ! यूयम् इह क्षितौ काशिनरेशनिरीक्षिता अपि असुखिताः तु न ? अथ च जरसाञ्चितः असौ इतरकार्यकथासु कच्चित् वञ्चितः ।

अर्थ : चक्रवर्तीने कहा : हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप लोग इस भूमण्डलपर संरक्षित होते हुए किसी तरहका कष्ट तो नहीं पा रहे हैं ? यह काशीपति अकम्पन बूढ़ा हो गया है, अतः प्रजापालनादि किन्हीं कार्योंको करनेमें असमर्थ तो नहीं हो गया है ? ॥ ७२ ॥

अन्वय : धरणीधर ! इह अस्मदधीट् शुचिः । पुनः त्वयि सति अयं कः उपद्रवः ? भूमितले तपने तपति तमःपरिहृतौ दीपपरिश्रमः किमु ?

अर्थ : (दूतने कहा) हे चक्रवर्तिन् ! इस लोकमें हमारे पवित्र महाराज परम विवेकशील स्वस्थ एवं प्रजापालनकार्यमें तत्पर हैं । ऐसे आपके रहते हमें

दुहितरं परिणाययितुं स्वयंवरसमाख्ययनं कृतवानयम् ।
भवतु यत्र वरः स जगत्पितः स्वयमलज्जतया सुतयाञ्चितः ॥ ७४ ॥

दुहितरमिति । हे जगत्पितः संसारजनक, सोऽयं काशीपतिः अकम्पनो दुहितरं सुतां सुलोचनां परिणाययितुं विवाहयितुं स्वयंवरसमाख्ययनं स्वयंवरमहोत्सवं कृतवान् । यत्र स्वयमलज्जतया त्रपारहिततया सुतया कन्यया अञ्चितोऽभिलषितो वरो भवतु ॥ ७४ ॥

तदिदमश्रुतपूर्वमथ स्त्रियां स्ववशतां दधदेवमपह्रियाम् ।
इतरनुस्त्वितरो हि समस्यते मनसि मे जनशीर्ष न शस्यते ॥ ७५ ॥

तदिदमिति । हे जनशीर्ष हे नरशिरोमणे, अपह्रियां निर्लज्जायां स्त्रियां स्ववशतां स्वच्छन्दतां दधदेवमश्रुतपूर्वं तदिदमाचरणमस्ति । हि यस्मात् इतरनुस्त्वितरः समस्यते, अन्यपुरुषस्य त्वितरः समस्यते समाधीयते, परं मम मनसि त्विदं न शस्यते ॥ ७५ ॥

अनुचितं प्रतिपद्य भवत्तुजा परिकृता प्रतिरोद्धुमहो भुजा ।
न कलितं किल गर्ववतावता तदपि तेन कुतो धिषणा हृता ॥ ७६ ॥

कोई उपद्रव, कोई कष्ट क्या हो सकता है ? पृथ्वीपर सूर्यके अपने पूर्णतेजसे तपते रहते अन्धकार मिटानेके लिए क्या दीपकको थोड़ा भी श्रम करना पड़ता है ? ॥ ७३ ॥

अन्वय : हे जगत्पितः ! अयं सः दुहितरं परिणाययितुं स्वयंवरसमाख्ययनं कृतवान्, यत्र स्वयम् अलज्जतया सुतया अञ्चितः वरः भवतु ।

अर्थ : हे जगत्-पिता ! उन काशीपति महाराज अकम्पनने अपनी कन्या सुलोचनाको परणानेके लिए स्वयंवर नामक समारोह किया है जहाँ लज्जाका आवरण हटाकर कन्या स्वयं मनोवाञ्छित वर चुन लिया करती है ॥ ७४ ॥

अन्वय : जनशीर्ष ! अपह्रियां स्त्रियां स्ववशतां दधत् एव तत् इदम् अश्रुतपूर्वम् । हि अथ इतरनुः, तु इतरः समस्यते, मे मनसि तु न शस्यते ।

अर्थ : हे नरशिरोमणि ! ऐसी स्वयंवर-सभा आजतक कहीं हुई हो, यह मैंने कभी नहीं सुना गया, जो स्त्रीको निर्लज्जताके साथ स्वतंत्रता देती है । इसके विषयमें औरोंकी तो और लोग जानें, किन्तु मेरे विचारमें वह प्रशस्त नहीं दीखता ॥ ७५ ॥

अन्वय : अहो भवत्तुजा अनुचितं प्रतिपद्य प्रतिरोद्धुं भुजा परिकृता । तेन अवता तद् अपि गर्ववता किल बत न कलितम् कुतः धिषणा हृता ।

अनुचितमिति । अहो, भवत्सुजा इदमनुचितं प्रतिपद्य प्रतिरोद्धुं निवारयितुं भुजा परिकृता समुद्धृता, प्रतिवादः कृत आसीत् । किन्तु तेन अवता रक्षकेण अकम्पनेन तदपि तथापि गर्वता न कलितम्, बत इति खेदे । कुतः कस्मात्तस्य धिषणा हृतेति न ज्ञायते ॥७६॥

जयमुपैति सुभीरुमतल्लिकाऽखिलजनीजनमस्तकमल्लिका ।
बहुषु भूपवरेषु महीपते मणिरहो चरणे प्रतिबद्ध्यते ॥ ७७ ॥

जयेति । हे महीपते, बहुषु भूपवरेषु नृपश्रेष्ठेषु सत्स्वपि अखिलजनीजनमस्तकमल्लिका, निखिलयुवतिसमूहशिरोमल्लिका मालास्वरूपा, सुभीरुमतल्लिका प्रशस्ता तरुणी सुलोचना जयमुपैति प्राप्नोति । अहो मणिश्चरणे बद्ध्यते । सुलोचनाया जयवरणं मणेश्चरणबन्धनमिव इत्यर्थसाम्यात् निदर्शनालङ्कारः ॥ ७७ ॥

भरतभूमिपतेरपि भारती सपदि दूतवराय तरामिति ।
श्रवणपूरमुपेत्य विलासिनी हृदयमाशु ददावकनाशिनी ॥ ७८ ॥

भरतेति । भरतभूमिपतेश्चक्रवर्तिनो भारती वागपि विलासिनी वरवर्णिनीव अकनाशिनी दुःखहारिणी सती श्रवणपूरं कर्णपथमुपेत्य दूतवराय आशु, हृन्मनोहरो योऽयः सौभाग्यं ददौतराम् अतिशयेन चित्तोल्लासं दत्तवतीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अर्थ : आश्चर्य है कि आपके पुत्रने भी इसे अनुचित जानकर उसे रोकनेहेतु हाथ उठाया, प्रतिवाद किया । किन्तु खेद है कि रक्षक महाराज अकम्पनने निश्चय ही उसपर भी कुछ नहीं सोचा-विचारा । न जाने क्योंकर महाराजकी अक्ल मारी गयी ? ॥ ७६ ॥

अन्वय : महीपते बहुषु भूपवरेषु (सत्सु अपि) अखिलजनीजनमस्तकमल्लिका सुभीरुमतल्लिका जयम् उपैति । अहो मणिः चरणे प्रतिबद्ध्यते ।

अर्थ : राजन् ! अनेक बड़े-बड़े राजाओंके होनेपर भी समस्त स्त्रीसमाजकी शिरोमाला, श्रेष्ठतम तरुणी सुलोचना जयकुमारको प्राप्त हो जाती है । अहो आश्चर्य है कि (गले और मस्तक स्थित होनेवाली) मणि पैरोंमें बाँध दी जाती है ॥ ७७ ॥

अन्वय : सपदि भरतभूमिपतेः भारती अपि विलासिनी अकनाशिनी इति श्रवणपूरम् उपेत्य दूतवराय आशु हृद् अयः ददौतराम् ।

अर्थ : उसी समय महाराज भरतकी वाणी भी, जो विलासिनीके समान विलासप्रदा और दुःखका नाश करनेवाली थी, कानों द्वारा हृदयमें पहुँचकर दूतके लिए हार्दिक सौभाग्यप्रद एवं चित्तोल्लासकारिणी बन गयी ॥ ७८ ॥

जयकुमारमुपेत्य सुलक्षणा सुदृगतः प्रतिभाति विचक्षणा ।
मम महीवलयेऽपि वदापरः सपदि तत्सदृशः कतमो नरः ॥ ७९ ॥

जयेति । हे दूत, सुदृक् सुलोचना, जयकुमारमुपेत्य प्राप्य सुलक्षणा शोभन-सौभाग्यवती स्यादिति शेषः । अतः सा तादृगुत्तमानुकूलवरचयने विचक्षणा बुद्धिमती प्रतिभाति ज्ञायते त्वमेव वद, मम महीवलये पृथ्वीमण्डले, तत्सदृशोऽपरः कतमो नरः स्यात् न कोऽपीत्यर्थः ॥ ७९ ॥

रवियशा दुरितेन मुरीकृतः स भवता बत शीघ्रमुरीकृतः ।
सदरिरप्यसदादरिवन्नरो भवतु सम्भवतुष्टिमतां परः ॥ ८० ॥

रवियशा इति । रवियशा अर्ककीर्तिः दुरितेन दुर्भाग्येण मुरीकृतः, अमुरो मुरः सम्पद्यमानः कृत इति मुरीकृतो मुराख्यराक्षससदृशीकृतः सन् जयप्रतिवादमकरोत् । स एव भवता भवत्स्वामिना शीघ्रमुरीकृतः, बतेति खेदे । सम्भवन्ती तुष्टिरस्ति येषां ते तेषां सन्तोषिणां सज्जनानां सँश्चासौ अरिः शोभनशत्रुः नरः, असँश्चासौ आदरीति, असदादरी, तेन तुल्यं तद्वत् परो भवतु ? न भवत्वित्यर्थः । सन्तोषिणः स्व-परयोः समभावा भवन्तीत्यर्थः ॥ ८० ॥

अन्वय : (दूत !) सुदृग् जयकुमारम् उपेत्य सुलक्षणा (स्यात्) । अतः (सा) विचक्षणा प्रतिभाति । सपदि मम महीवलये अपि तत्सदृशः कतमः नरः (इति त्वम् एव) वद ।

अर्थ : (महाराज भरत बोले :) हे दूत ! तुम ही मुझे बताओ कि जयकुमारके समान मेरे इस भूमण्डलपर कौन है ? अतः सुलोचनाने जयकुमारको जो वरा, तो निश्चय ही वह सौभाग्यशालिनी होगी । वह अत्यन्त विचक्षणा, बुद्धिमती है उसने यह बहुत ही अच्छा काम किया है ॥ ७९ ॥

अन्वय : रवियशाः दुरितेन मुरीकृतः । सः एव भवता उरीकृतः बत । सम्भव-तुष्टिमतां सदरिः अपि नरः असदादरिवत् परः भवतु ।

अर्थ : अर्ककीर्तिने जो जयकुमारका प्रतिवाद किया, वह मुरनामक राक्षसका-सा काम किया । फिर भी आपके महाराजने उसे स्वीकार किया, यह बड़े खेदकी बात है । किन्तु महाराज तो महाराज हैं, संतोषी हैं । संतोषी लोग तो शत्रु और मित्रको समानभावसे ही मानते हैं ॥ ८० ॥

अहमहो हृदयाश्रयवत्प्रजः स्वजनवैरकरः पुनरङ्गजः ।
भवति दीपकतोऽञ्जनवत् कृतिर्न नियमा खलु कार्यकपद्धतिः ॥ ८१ ॥

अहमिति । अहो इत्याश्चर्ये, अहं तु हृदयमाश्रयो यस्याः सा हृदयाश्रयवती प्रजा यस्य स स्वहृदयस्थितलोकः, अस्मीति शेषः । पुनः किन्तु ममाङ्गजः सुतः स्वजनेषु वैरं करोतीति स्वजनवैरकर आत्मीयजनशत्रुत्वविधायको जात इत्याश्चर्यम् । तदेव समर्थयति—दीपकतः प्रदीपाद् अञ्जनवत् कृतिः कार्यं भवति । अतः कार्यकपद्धतिः कार्य-कारणमार्गः नियमा नियतपरिणामा नास्तीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ८१ ॥

वृषधरेषु महानृषभो गणी यदिव चक्रधरेषु सतामृणी ।
जयपितृव्यजनः श्रणनेऽनृणी सुनयनाजनकः प्रकृतेऽग्रणीः ॥ ८२ ॥

वृषधरेष्विति । यदिव यथा वृषधरेषु तीर्थङ्करेषु महान् सर्वश्रेष्ठ ऋषभो गण्यस्ति, चक्रधरेषु महान् सतामृणी अहमस्मि, तथैव श्रणने दानेऽनृणी जयपितृव्यजनः श्रेयांसकुमारोऽस्ति । एवमेव प्रकृते स्वयंवरेऽग्रणीः अग्रगण्यः सुनयनाजनकोऽकम्पनो-ऽस्तीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

सुमुख मर्त्यशिरोमणिनाऽधुना सुगुणवंशवयोगुरुणाऽमुना ।
बहुकृतं प्रकृतं गुणराशिना पुरुनिभेन धरातलवासिनाम् ॥ ८३ ॥

अन्वय : अहो अहं (तु) हृदयाश्रयवत्प्रजः, पुनः अङ्गजः स्वजनवैरकरः । दीपकतः अञ्जनवत् कृतिः । कार्यकपद्धतिः नियमा न खलु ।

अर्थ : (चक्रवर्ती बोले :) आश्चर्य है कि मैं तो प्रजाको हृदयमें स्थान देता हूँ और यह मेरा पुत्र होकर भी अपने कुटुम्बियोंसे ही वैर-विरोध करनेवाला हो गया ! यह ऐसी ही बात हुई जैसे दीपकसे कज्जल । अतः कारणके अनुसार ही कार्य हुआ करता है, ऐसा सर्वथा ऐकान्तिक नियम नहीं है ॥ ८१ ॥

अन्वय : यद् इव वृषधरेषु महान् ऋषभः गणी, चक्रधरेषु महान् सताम् ऋणी (अहम्, तथैव) श्रणने अनृणी जयपितृव्यजनः प्रकृते । अग्रणीः सुनयनाजनकः ।

अर्थ : हे सुमुख ! जैसे तीर्थंकरोंमें शिरोमणि भगवान् ऋषभदेव हैं, वैसे ही चक्रवर्तियोंमें महान् मैं सत्पुरुषोंका ऋणी हूँ । दान देनेमें जयकुमारका चाचा श्रेयांसकुमार जैसा आदरणीय है, वैसे ही प्रकृतकार्य स्वयंवरमें सुलोचनाका पिता अकम्पन अग्रणी है ॥ ८२ ॥

अन्वय : सुमुख ! अधुना सुगुणवंशवयोगुरुणा मर्त्यशिरोमणिना धरातलवासिनां पुरुनिभेन गुणराशिना अमुना (यत्) प्रकृतं (तद्) बहु कृतम् ।

सुमुखेति । हे सुमुख, अधुना सम्प्रति, मर्त्यशिरोमणिना मानवरत्नेन, सुगुणाश्च वंशश्च वयश्च शौर्यादिगुण-सत्कुल-वार्धक्यानि तैर्गुरुस्तेन शौर्यादिगुण-कुलावस्थागरिमान्वितेन, गुणानां राशिस्तेन विविधगुणसमूहेन, धरातलवासिनां प्राणिनां पुरुनिभेन, ऋषभदेवतुल्येन अमुना अकम्पननृपेण यत् प्रकृतं स्वयंवराख्यं कर्म प्रस्तुतं तद् बहु कृतं महान् पुरुषार्थः सम्पादित इत्याशयः ॥ ८३ ॥

भुवि सुवस्तु समस्तु सुलोचनाजनक एप जयश्च महामनाः ।
अयि विचक्षण लक्षणतः परं कटुकमर्कमिमं समुदाहर ॥ ८४ ॥

भुवीति । अयि विचक्षण बुद्धिमन्, लक्षणतः स्वरूपतः भुवि लोके, एष सुलोचनाजनकः सुवस्तु शोभनपदार्थः समस्तु भवतु । एष जयकुमारोऽपि महामना उदारचित्तो भवतु, परं केवलमर्कमर्ककीर्तिमेव कटुकं तीक्ष्णप्रकृतिमुदाहर कथय ॥ ८४ ॥

समयनान्यपि तानि किल ध्रुवाण्युपहितान्यपि भोगभुवा तु वा ।
प्रकटयन्ति जयन्ति नरोत्तमाः स्वपरयोः प्रतिबोधविधौ क्षमाः ॥ ८५ ॥

समयनान्यपीति । तानि प्रसिद्धानि समयनानि सन्मार्गा अपि ध्रुवाणि स्थिराणि किल । यानि भोगभुवा भोगभूम्या उपहितानि तिरोभूतानि वाऽऽसन् । स्वपरयो आत्मेतरयोः प्रतिबोधे ज्ञाने क्षमा नरोत्तमाः पुरुषपुङ्गवास्तानि प्रकटयन्ति, अतस्ते जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते ॥ ८५ ॥

अर्थ : हे सुमुख ! इस समय गुण, वंश और वयमें वृद्ध तथा मनुष्योंमें शिरोमणि, पृथ्वीतलवासियोंके लिए ऋषभदेवके समान गुणराशि इन महाराज अकम्पनने यह जो किया, वह बहुत अच्छा काम किया है ॥ ८३ ॥

अन्वय : अयि विचक्षण ! लक्षणतः भुवि एषः सुलोचनाजनकः सुवस्तु समस्तु । एषः जयः च महामनाः भवतु । परं इमम् अर्कं कटुकं समुदाहर ।

अर्थ : हे विचक्षण ! विचार करनेपर सुलोचनाका जनक तो उत्तम पुरुष है । इसी प्रकार जयकुमार भी महामना उदारचेता है । केवल अर्ककीर्तिको ही कड़वा यानी तीक्ष्णप्रकृतिवाला कहना होगा ॥ ८४ ॥

अन्वय : तानि समयनानि अपि ध्रुवाणि किल (यानि) भोगभुवा तु उपहितानि वा आसन् । स्वपरयोः प्रतिबोधविधौ क्षमाः नरोत्तमाः तानि (अतः) प्रकटयन्ति । (अतः) जयन्ति ।

अर्थ : ये सब सन्मार्ग सदासे चले आये हुए हैं जो अपने इस क्षेत्रमें भोगभूमि द्वारा तिरोहित हो गये थे । उन्हें नरोत्तम, श्रेष्ठ पुरुष ही प्रकट करते हैं जो अपने और दूसरेके प्रतिबोधनमें कुशल होते हैं । इसीलिए उनका जयजयकार हुआ करता है ॥ ८५ ॥

पवनवद्धविनामयि सज्जन प्रचलितं ह्युररीकुरुते मनः ।
स्फटिकवत्परिशुद्धहृदाशयः स विरलो लभतेऽन्तरितं च यः ॥ ८६ ॥

पवनवदिति । अयि सज्जन, भविनां संसारिणां मनः प्रचलितं प्रवर्तमानं वस्तु ह्युररीकुरुते स्वीकरोति । कथमिव, पवनवत् वायुतुल्यम् । किन्तु स्फटिकवत् परिशुद्ध-हृदाशयः स्फटिकमणिरिव विशुद्धान्तःकरणः, योऽन्तरितमन्तर्हितं गुप्तरहस्यं लभते स विरल एव भवति ॥ ८६ ॥

इति कौशरधरवाचमुत्तमां विनिशम्याथ समेत्य मुत्तमाम् ।
इह जवनाशनविप्रियस्य वागपि सहसाऽभ्युदियाय सुश्रवाः ॥ ८७ ॥

इतीति । इत्येवं रलयोरभेदात् कौशलधरां चातुर्यधारिकामुत्तमां वाचं निशम्य, अथमुत्तमाञ्च समेत्य प्राप्य, इह जवनाशनविप्रियस्य दूतस्य सुश्रवाः श्रवणमनोहरा वाग् वाणी, अभ्युदियाय प्रकटीबभूव ॥ ८७ ॥

तेजस्ते जयतादपि मित्रं महिमा तव महिमानविचित्रः ।
यद्यपि चक्र समाहृयवस्तु भवति सतां प्रतिपाल इतस्तु ॥ ८८ ॥

तेज इति । हे चक्र हे सुदर्शन, ते तेजो मित्रं सूर्यमपि जयतात् जयतु । तव महिमा महत्त्वं, महिमानविचित्रः पृथ्वीपरिमाणः, अद्भुतश्च । यद्यपि चक्रं समाहृयवस्तु दुर्जनसंहारकं वस्तु, तथापि इतश्चक्रात् सतां सज्जनानां प्रतिपालः पालनमपि भवति । अतस्तस्य स्तुतिर्विधीयते ॥ ८८ ॥

अन्वय : अयि सज्जन भविनां मनः पवनवत् प्रचलितं हि उररीकुरुते । च स्फटिकवत् परिशुद्धहृदाशयः यः अन्तरितं लभते सः विरलः ।

अर्थ : हे सज्जन ! सर्वसाधारण संसारी जीवोंका मन तो वर्तमान वस्तु-का ही ग्रहण करता है । किन्तु स्फटिकके समान शुद्ध हृदयवाले तो विरले ही होते हैं, जो भीतर छिपे गुप्तरहस्यको भी प्राप्तकर जान लेते हैं ॥ ८६ ॥

अन्वय : इति उत्तमां कौशरधरवाचं विनिशम्य अथ मुत्तमां समेत्य इह जवनाशन-विप्रियस्य सुश्रवाः वाक् सहसा अभ्युदियाय ।

अर्थ : इस प्रकार कुशलताको धारण करनेवाले चक्रवर्तीके उत्तम वचन सुनकर एवं प्रसन्न होकर दूतने बोलना प्रारंभ किया, जो सुननेमें बहुत अच्छा था ॥ ८७ ॥

अन्वय : चक्र ! ते तेजः मित्रम् अपि जयतात् । तव महिमा महिमानपवित्रः । यद्यपि (त्वम्) समाहृयवस्तु, (तथापि) इतः तु सतां प्रतिपालः भवति ।

अर्थ : हे सुदर्शन ! आपका तेज मित्र यानी सूर्यको भी जीते । आपकी महिमा भी पृथ्वीके मापवाली और अद्भुत है । यद्यपि आप यानी चक्र दुर्जनसंहारक

वीरत्वमानन्दभुवामवीरो मीरो गुणानां जगताममीरः ।
एकोऽपि सम्पातितमामनेकलोकाननेकान्तमतेन नैकः ॥ ८९ ॥

वीरत्वमिति । हे चक्रवर्तिन्, भवान् एकोऽप्यनेकान्तमतेन नैकोऽनेकरूपः सन्, अवीरोऽपि आनन्दभुवां गुणानां मीरः शेवधिः, जगतां संसाराणाममीरः प्रशस्तैश्वर्यशाली, अनेकलोकान् प्रति वीरत्वं शौर्यं सम्पातितमाम् ॥ ८९ ॥

समन्तभद्रो गुणिसंस्तवाय किलाकलङ्को यशसीति वा यः ।
त्वमिन्द्रनन्दी भुवि संहितार्थः प्रसत्तये संभवसीति नाथ ॥ ९० ॥

समन्तभद्रेति । हे नाथ, यो भवान् गुणिनां संस्तवस्तस्मै गुणिसंस्तवाय गुणवज्जनपरिचयाय समन्तभद्रो जिनोऽस्ति, वा यशसि कीर्तौ किल अकलङ्कः कलङ्करहितोऽस्ति । संहितार्थं पवित्रितार्थो लोकानां प्रसत्तये प्रसन्नतायै भुवि इन्द्रनन्दी संभवसि ॥ ९० ॥

मानसस्थितिमुपेयुषः पद-पद्मयुग्ममधिगत्य तेऽप्यदः ।
ईश्वरान्तरलिरेष मे सतः सौरभावगमनेन सन्धृतः ॥ ९१ ॥

मानसेति । हे ईश्वर, ते तव अदः पदपद्मयुग्मं चरणकमलयुगलमधिगत्य, मानसस्थितिं चित्तैकाग्र्यमुपेयुषः प्राप्तवतः सतो मेऽन्तरलिश्चित्तभ्रमरः ते सौरभावगमनेन सन्धृतः सन् अन्यतो गन्तुं नेच्छतीति शेषः ॥ ९१ ॥

वस्तु है, फिर भी उससे सज्जनोंका प्रतिपालन भी होता है। अतएव उसकी स्तुति की जाती है ॥ ८८ ॥

अन्वय : (चक्रवर्तिन्! भवान्) एकः अपि अनेकान्तमतेन नैकः, अवीरः (अपि) आनन्दभुवां गुणानां मीरः, जगताम् अमीरः अनेकलोकान् वीरत्वं सम्पातितमाम् ।

अर्थ : हे चक्रवर्ति ! आप एक होकर भी अनेकान्तमतसे एक नहीं, अनेकरूप हैं। अवीर होकर भी आनन्ददायक गुणोंकी निधि हैं, जगतोंके प्रशस्त ऐश्वर्यशाली और अनेक लोकोंके प्रति शौर्यका भलीभाँति पालन करते हैं ॥ ८९ ॥

अन्वय : नाथ यः त्वं गुणिस्तवाय समन्तभद्रः वा यशसि अकलङ्कः, इति संहितार्थः प्रसत्तये भुवि इन्द्रनन्दी संभवसि किल ।

अर्थ : हे नाथ ! आप गुणीजनोंका परिचय करनेके लिए समन्तभद्र यानी सब तरहसे योग्य हैं। अथवा यशमें कलंकरहित, अकलंक हैं। पवित्रितार्थ आप सब लोकोंकी प्रसन्नताके लिए निश्चय ही इन्द्रके समान प्रसन्न होनेवाले हैं। इस तरह इस श्लोकमें कविने खूबीसे प्राचीन आचार्योंके नाम भी संगृहीत कर लिए हैं ॥ ९० ॥

अन्वय : ईश्वर ! अदः पदपद्मयुग्मम् अधिगत्य मानसस्थितिम् उपेयुषः सतः मे एषः अन्तरलिः ते सौरभावगमेन सन्धृतः (गन्तुं नेच्छति) ।

कार्तिके सति मयात्र या दशा मत्कुलस्य परिवेद्यते प्रभो ।
तेन किञ्चन लतान्तमिच्छतः श्रीसमर्तुक ममात्ययो बत ॥ ९२ ॥

कार्तिकेति । हे समर्तुक, अत्र कार्तिकमासागमने, मत्कुलस्य मम वंशस्य या दशा सा मया परिवेद्यते । तेन किञ्चन लतान्तं पुष्पान्तरमिच्छतो ममात्ययो नाशः स्यात् इति, बतेति खेदोऽनुभूयते ॥ ९२ ॥

इत्युपेत्य पदपद्मयो रजो लिम्पितुं हि निजधाम सत्प्रजः ।
तस्य पार्थिवशिरोमणेरगादेष सोऽप्यनुचरन्ति यं खगाः ॥ ९३ ॥

इतीति । इत्येवंप्रकारेण यं खगा विद्याधरा अनुचरन्ति, पक्षिणो वा, स सत्प्रजः निजधाम गृहं लिम्पितुं पार्थिवशिरोमणेः राजरत्नस्य तस्य चक्रवर्तिनः पादपद्मयो रजो धूलिमुपेत्य प्राप्य स्वस्थानमगात् जगाम ॥ ९३ ॥

अभ्रान्तरमितमुपेत्य वारिभरं समुद्रात् स्वघटे हारि ।
स्वामिकर्णदेशेऽप्यपूरयद् गत्वा लघिममयस्तरामयम् ॥ ९४ ॥

अभ्रान्तरमिति । लघिममयः प्रचुरक्षिप्रतायुक्तोऽयं चरः यथा कश्चित्पुरुषो-ऽभ्रान्तरादमितं मेघमध्यादमितं यथेष्टं पतितं हारि मनोहरं वारिभरं जलसमूहं स्वघटे

अर्थ : हे प्रभो ! आपके इन दोनों चरणकमलोंको पाकर चित्तकी एकाग्रताको प्राप्त मेरा यह चित्त-भ्रमर आपके सौगन्ध्यके बोधसे भलीभाँति बँध गया है। वह कहीं अन्यतः जाना नहीं चाहता ॥ ९१ ॥

अन्वय : श्रीसमर्तुक प्रभो ! अत्र कार्तिके सति मत्कुलस्य या दशा (सा) मया न परिवेद्यते । तेन किञ्चन लतान्तम् इच्छतः मम अत्ययः इति बत ।

अर्थ : हे सुन्दरकान्तिके धारक या शरद् जैसे अच्छे ऋतुरूप प्रभो ! यहाँ कार्तिक महीना आनेपर मेरे वंशकी (भ्रमर-वंशकी) क्या दशा होगी, इसे मैं नहीं जान पाता । इस कारण किसी दूसरे फूलको चाहनेवाले मेरा नाश हो जायगा, इस प्रकार खेदका अनुभव करता हूँ ॥ ९२ ॥

अन्वय : इति यं खगाः अनुचरन्ति, सः एषः सत्प्रजः निजधाम लिम्पितुं पार्थिवशिरोमणेः तस्य पदपद्मयोः रजः उपेत्य अगात् ।

अर्थ : इस दूतने, जिसका कि विद्याधर या पक्षी भी अनुकरण करते हैं, अपना घर लीपकर पवित्र करनेके लिए पार्थिवशिरोमणि महाराजके चरणोंकी धूलि लेकर वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

अन्वय : लघिममयः अयम् अभ्रान्तरमितं हारि वारिभरं समुद्रात् स्वघटे उपेत्य गत्वा स्वामिकर्णदेशे अपि अपूरयत्तराम् ।

अर्थ : जैसे मेघ द्वारा बरसाये जलको समुद्रसे घड़ेमें भरकर कोई ले

उपेत्य तेन स्वकार्यं साधयति तथैव स समुद्रात् मुद्राधिकारिणश्चक्रवर्तिनोऽभ्रान्तरं भ्रमरहितं हारि मनोहरं वचनसमूहं स्वघटे निजहृदये प्राप्य तेन तत्र गत्वा स्वस्वामिनः कर्णदेशमपूरयत्; तद्वचनसमूहं स्वामिनमश्रावयदित्यर्थः ॥ ९४ ॥

भर्तुश्चित्तमवेत्य सुन्दरतमं काशीविशामीश्वरो
रङ्गत्तुङ्गतरङ्ग-वारिरचिता-ऽम्भोराशितुल्यस्तवः ।
तत्रासीच्छशलाञ्छनस्य रसनात् प्रारब्धपूर्णात्मनो-
नर्मारम्भविचारणे तत इतो लक्ष्यं बबन्धात्मनः ॥ ९५ ॥

भर्तुरिति । काशीविशामीश्वरः काशीपतिरकम्पनो भर्तुः स्वामिनो भरतचक्रवर्तिनश्चित्तमवेत्य स्वानुकूलं प्रसन्नमभिज्ञाय, तत्र शशलाञ्छनस्य चन्द्रमसो रसनादवलोकनाद् रङ्गन्तः समुच्छलन्तो ये तुङ्गा उन्नतास्तरङ्गा वीचयो यस्यैवंभूतं यद्वारि जलं तेन रचितः शोभितो योऽम्भसां राशिः समुद्रस्तेन तुल्यस्तवः प्रशंसा हर्षो वा यस्य तथाभूतः सन्, प्रारब्धेन सुलोचनाविवाहकार्येण पूर्णस्यात्मनः स्वस्य नर्मारम्भस्य विवाहसम्बन्धिशेषकौतुकचिन्तने ततस्तदनन्तरमितो लक्ष्यं बबन्ध समुद्यतोऽभूदित्यर्थः । इदं पद्यं भरतरवननाम चक्रबन्धप्रयोजकं सम्पद्यते ॥ ९५ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरीदेवी च यं धीचयम् ।
तेनास्मिन् रचिते जयोदयमहाकाव्ये मनोहारिणि
सर्गोऽयं नवमः सुदृक्परिणयप्रख्यः समाप्तिं गतः ॥ ९ ॥

॥ इति जयोदयमहाकाव्ये नवमः सर्गः ॥

जाय, वैसे ही मुद्राओंके अधिकारी चक्रवर्ती द्वारा कथित भ्रमरहित मनोहर वचन-समूहको अपने अंतरमें धारणकर वह अत्यन्त क्षिप्रगामी दूत अपने स्वामीके पास पहुँचा और उसने उसे उनके कानोंमें उंडेल दिया ॥ ९४ ॥

अन्वय : काशीविशाम् ईश्वरः भर्तुः चित्तं सुन्दरतमम् अवेत्य तत्र प्रारब्धपूर्णात्मनः शशलाञ्छनस्य रसनात् रङ्गत्तुङ्गतरङ्गवारिरचिताम्भोराशितुल्यस्तवः आसीत् । ततः इतः नर्मारम्भविचारणे आत्मनः लक्ष्यं बबन्ध ।

अर्थ : काशीदेशके स्वामी महाराज अकम्पनने तो अपने स्वामी भरत चक्रवर्तीके मनको अपने अनुकूल समझकर चन्द्रमाको देखनेसे उमड़ते समुद्रके समान प्रसन्नता प्रकट की । उसके बाद वह प्रारम्भ किये अपने कार्यमें जुट गया, अर्थात् सुलोचनाके विवाहके शेष समारोहको सम्पन्न करनेके विषयमें विचार करने लगा । यह भरतरवन नामक चक्रबन्ध है ॥ ९५ ॥

दशमः सर्गः

नृपधाम्नि सुदाम्नि सुन्दरप्रतिसारः खलु कार्यविस्तरः ।
शयसन्नयनोचितोक्तिभृद् रचितोऽथान्तमितोऽपि तोषकृत् ॥ १ ॥

नृपधाम्नीति । अथ सुदाम्नि सुन्दरपुष्पहारशोभिते नृपधाम्नि राजप्रासादे, सुन्दरो मनोहरः प्रतिसारः समारम्भो यस्य सः, शयसन्नयनोचितोक्तिभृत्, पाणिग्रहणयोग्या या उक्तयो मन्त्रोच्चार-मङ्गलगायन-वाद्यध्वन्यादयस्ता बिभर्ति सः, तोषं मनस्तुष्टिं करोत्येवं-भूतः कार्याणां शास्त्रोक्तविधीनां विस्तरः समूहो रचितो विहितः खलु । स च निष्प्रत्यूह-मन्तमपि इतः समाप्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

समवेत्य तदात्ययान्तकं मृदु मौहूर्तिकसंसदोंऽशकम् ।
रसना रसनालिकाऽत्र मे स सुतां दातुमथ प्रचक्रमे ॥ २ ॥

समवेत्येति । सोऽकम्पनो नृपो मौहूर्तिकानां ज्योतिर्विदां संसदः समित्या मुहूर्तांशकं शुभलग्नमत्ययान्तकं विघ्ननाशकं समवेत्य खलु, अयं स्वसुतां दातुमुपचक्रमे । अथात्र मे रसना जिह्वा रसनालिका विवाहवर्णनात्मक-काव्यरसस्य कुल्यायते ॥ २ ॥

अवरोधमितोऽवदत् परं स तु जामातरमुज्ज्वलान्तरम् ।
स्वयमाप्तनयं रुचामयं दयिते सोदयमीक्षतां जयम् ॥ ३ ॥

अन्वय : अथ सुदाम्नि नृपधाम्नि सुन्दरप्रतिसारः शयसन्नयनोचितोक्तिभृत् तोषकृत् कार्यविस्तारः रचितः खलु, (सः) अन्तम् अपि इतः ।

अर्थ : इसके अनन्तर सुन्दर पुष्पहारोंसे सुशोभित राजप्रासादमें महान् समारम्भवाले पाणिग्रहणके लिए जो समुचित मन्त्रोच्चारण, मंगल-गायन एवं वाद्यादिका आयोजन किया गया था वह भी पूर्ण हो गया ॥ १ ॥

अन्वय : अथ सः मौहूर्तिकसंसदः मृदु अंशकम् अत्ययान्तकम् समवेत्य तदा सुतां दातुं प्रचक्रमे । अत्र मे रसना रसनालिका ।

अर्थ : अनन्तर वे राजा अकम्पन ज्योतिषियोंकी गोष्ठीसे निर्दोष शुभ मुहूर्त प्राप्तकर अपनी पुत्रीका विवाह करनेके लिए प्रस्तुत हो गये। यहाँ मेरी यह रसना (जिह्वा) इस विषयके वर्णनात्मक काव्यरसकी नहर-सी बन रही है ॥२॥

अन्वय : स तु अवरोधम् इतः परम् अवदत् (यत्) दयिते ! स्वयम् आप्तनयम् रुचाम् अयम् उज्ज्वलान्तरं सोदयं जयं तु ईक्षताम् ।

अवरोधमिति । सोऽकम्पनस्तु अवरोधमन्तःपुरमितः परमवदत्—अयि दयिते, स्वयमासनयं प्राप्तराजनीतिं, रुचां कान्तीनामयं स्थानमुज्ज्वलं निर्मलमन्तरमन्तःकरणं यस्य तं, सोदयं विजयसम्पन्नं जयं जयकुमारमीक्षतामिति ॥ ३ ॥

चतुराः प्रचरन्तु भो श्रिया प्रचुराः स्त्रीसमयप्रियाः क्रियाः ।
ग्रहणग्रहमङ्गलोचिता वयमातन्म पुनः श्रुताश्रिताः ॥ ४ ॥

चतुरा इति । भो या याऽन्तःपुरे चतुराः स्त्रियस्ताः स्त्रीसमयप्रियाः श्रिया शोभया प्रचुराः पूर्णाः क्रिया मङ्गलगान-चतुष्कमण्डलपूरणादिकाः प्रचरन्तु । वयं पुनर्ग्रहणग्रहस्य पाणिग्रहणस्य मङ्गलस्योचिताः श्रुताश्रिताः शास्त्रोक्ताः क्रिया आतन्म विदध्म इत्यर्थः ॥ ४ ॥

समयात् स महायशाः स्थितिं करसंयोजनकालिकीमिति ।
उपयुज्य पुनर्नृपासनं मुनिरन्तःपुरतो यथा वनम् ॥ ५ ॥

समयादिति । महद् यशो यस्य स महायशा विपुलकीर्तिः सोऽकम्पन इत्येवं करसंयोजनकालिकीं पाणिग्रहणसमयोचितां स्थितिं मर्यादा मुपयुज्य विधाय, अन्तःपुरतः पुनर्नृपासनं समयाद् प्राप्तवान् । यथा मुनिरन्तःपुरतो वनं प्रतियातीत्युपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

अर्थ : इसके बाद वे महाराज अकम्पन अन्तःपुरमें जा अपनी महिषीसे बोले कि प्रिये ! स्वयम् राजनीतिज्ञ, सौन्दर्यके एकमात्र अधिष्ठान, निर्मल अन्तःकरण-वाले तथा विजयी जयकुमारको तो देखो ॥ ३ ॥

अन्वय : भोः (याः अन्तपुरे) चतुराः (स्त्रियः ताः) स्त्रीसमयप्रियाः श्रिया प्रचुराः क्रियाः प्रचरन्तु । वयं पुनः ग्रहणग्रहमङ्गलोचिताः श्रुताश्रिताः (क्रियाः) आतन्म ।

अर्थ : अरी ! अन्तःपुरमें जो चतुर स्त्रियाँ हैं वे स्त्रियोंके प्रिय, सौन्दर्ययुक्त गीत आदि क्रियाओंको प्रारम्भ कर दें । इधर हम लोग विवाहसम्बन्धी मङ्गल-के योग्य, शास्त्रोक्त क्रियाओंको सम्पन्न कर रहे हैं ॥ ४ ॥

अन्वय : महायशाः सः इति करसंयोजनकालिकीं स्थितिम् उपयुज्य मुनिः वनं यथ अन्तःपुरतः पुनः नृपासनं समयात् ।

अर्थ : इस तरह विवाहकालिक समस्त कृत्य सम्पन्न कर महान् यशवाले महाराज अकम्पन, वनको मुनिकी तरह, अन्तःपुरसे पुनः लौटकर राज्यसिंहा-सनपर आ बैठ गये ॥ ५ ॥

जयमाह स दूतवाग् गुरुर्मम बालां कुलमप्यलङ्कुरु ।
स च पल्लवतान्मनोरथाङ्कुरकस्त्वच्चरणोदकैस्तथा ॥ ६ ॥

जयमिति । दूत एव वाग् यस्य स दूतवाग् - सोऽकम्पनो दूतद्वारा जयं जयकुमारमाह—हे जय त्वं मम बालामात्मजां कुलञ्च अलङ्कुरु विभूषय । तथा त्वच्चरणोदकैः पयोधारभिर्मम मनोरथः अङ्कुर इवेति मनोरथाङ्कुरकः पल्लव इव आचरतु पल्लवतात् वृद्धिं यात्वित्यर्थः ॥ ६ ॥

स निशम्य च तत्प्रतिध्वनिं मृदु दूताननगह्वराद् गुणी ।
प्रजिघाय तमादराद् वदन् समये दास्यमये गुरोरदः ॥ ७ ॥

स निशम्येति । गुणी गुणवान् स जयो दूतस्य आननमेव गह्वरं तस्माद् दूतमुखकुहरान्मृदु मनोहरं तत्प्रतिध्वनिं निशम्य श्रुत्वा, अहं समये गुरोर्भवतो दास्यं सेवकभावमये प्राप्नोमीत्यदो वदन् तं चरमादरात् प्रजिघाय प्रैषयत् ॥ ७ ॥

श्रुतदूतवचाः स चाप्यतः प्रभुरत्रागमयाम्बभूव तम् ।
श्रुतकुक्कुटवाक् प्रगेतरां शकटाङ्गस्तरणिं यथादरात् ॥ ८ ॥

श्रुतेति । यथाऽत्र लोके, अतिशयेन प्रगे इति प्रगेतरामुषःकाले: श्रुता कुक्कुटस्य ताम्रचूडस्य वाग् येन स शकटाङ्गश्चक्रवाकस्तरणिं सूर्यं प्रतीक्षत इति शेषः, तथा श्रुतं दूतस्य वचो येन स प्रभुरपि आदरात् तमागमयाम्बभूव प्रतीक्षाञ्चक्रे ॥ ८ ॥

अन्वय : दूतवाक् गुरुः सः जयम् आह—मम बालां कुलम् अपि अलङ्कुरु । तथा त्वच्चरणोदकैः सः च मनोरथाङ्कुरकः पल्लवतात् ।

अर्थ : महाराज अकम्पनने दूतों द्वारा जयकुमारको सन्देश भिजवाया कि आप मेरी पुत्री और कुलको भी सुशोभित करें तथा आपके चरणोदकसे मेरा मनोरथाङ्कुर पल्लवित हो ॥ ६ ॥

अन्वय : गुणी सः दूताननगह्वरात् मृदु तत्प्रतिध्वनिं च निशम्य (अहम्) समये गुरोः दास्यम् अये, अदः आदरात् वदन् तं प्रजिघाय ।

अर्थ : गुणवान् जयकुमारने दूतके मुखकुहरसे उनकी प्रतिध्वनि सुनकर "मैं यथासमय आप गुरुकी सेवामें पहुँचता हूँ" ऐसा आदरपूर्वक कहते हुए दूतको लौटा दिया ॥ ७ ॥

अन्वय : यथा अत्र प्रगेतरां श्रुतकुक्कुटवाक् शकटाङ्गः आदरात् तरणिम् (आगमयति , तथा) श्रुतदूतवचाः सः प्रभुः अपि तम् (आदरात्) आगमयाम्बभूव ।

अर्थ : जैसे संसारमें प्रायः मुर्गेकी बाँग सुनकर चक्रवाक पक्षी सूर्यकी प्रतीक्षा करने लगता है, वैसे ही दूतके वचनको सुन महाराज अकम्पन सादर जयकुमारकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ८ ॥

नगरी च गरीयसा सुधासुरसेनैवमलङ्कृता बुधाः ।
शिशिरांशुसितेन वाससा समिताभूदधुना म्रदीयसा ॥ ९ ॥

नगरीति । हे बुधाः, अधुना विवाहावसरे नगरी च गरीयसाऽतिगाढेन सुधारसेन चूर्णकद्रवेणैवमलङ्कृता यथा म्रदीयसाऽतिकोमलेन शिशिरांशुश्चन्द्रः स इव सितं यद्वासो वस्त्रं तेन समिता वेष्टितेव अतिनिर्मलाऽभूत् ॥ ९ ॥

चरितैरिव भाविभिस्तदाऽऽश्रमभित्तिः शुचिचित्रकैस्तदा ।
उचिता खचिता विदग्धया वरवध्वोरनुभाविभिस्तया ॥ १० ॥

चरितैरिति । तदा तस्मिन्समये विदग्धया चतुरया कयाचित्स्त्रिया तदाश्रमभित्ति-र्नृपप्रासादकुड्यं वरवध्वोर्भाविभिरनुभाविभिरनुभविष्यद्भिः शुचीनि चरित्राणि येषां तैः चरित्रै रुचिता दर्शनीया खचिताऽलङ्कृतेत्यर्थः ॥ १० ॥

मणिपूर्णसुतोरणोत्थितैः किरणैः कर्बुरिताम्बरैर्हितैः ।
धनुरैन्द्रमियं पुरी यदेन्द्रपुरीं जेतुमहो उपाददे ॥ ११ ॥

मणीति । यदा यस्मिन् विवाहोत्सवे, इयं काशीपुरी, मणिभिः पूर्णानि यानि तोरणानि तेभ्य उत्थितैराविर्भूतैः कर्बुरितं शबलितमम्बरम् आकाशं यैस्तैः हितैर्मनोहरैः किरणै रश्मिभिरैन्द्रं धनुः शक्रचापं इन्द्रपुरीं जेतुमिव उपाददे उद्यताऽभूदित्यर्थः । उत्प्रेक्षा-लङ्कारः ॥ ११ ॥

अन्वय : बुधाः अधुना नगरी च गरीयसा सुधासुरसेन एव अलङ्कृता (यथा) म्रदीयसा शिशिरांशुसितेन वाससा समिता अभूत् ।

अर्थ : पण्डितो ! विवाहके अवसरपर अत्यन्त गाढ़े चूनेसे लिपी वह नगरी अत्यधिक कोमल चन्द्रकिरणकी तरह धवल-वस्त्रसे वेष्टित-सी प्रतीत होने लगी ॥ ९ ॥

अन्वय : तदा विदग्धया तया तदाश्रमभित्तिः वरवध्वोः अनुभाविभिः शुचिचित्रकैः चरितैः उचिता खचिता इव ।

अर्थ : उस समय किसी चतुर स्त्रीने राजप्रासादकी भित्तिको वर और वधू-के अत्युत्तम चरित्र-चित्रणों द्वारा देखने-योग्य अलंकृत-सा कर दिया ॥ १० ॥

अन्वय : अहो यदा इयं पुरी मणिपूर्णसुतोरणोत्थितैः कर्बुरिताम्बरैः हितैः किरणैः ऐन्द्रं धनुः इन्द्रपुरीं जेतुम् इव उपाददे ।

अर्थ : आश्चर्य है कि तब यह पुरी मणिमय सुशोभन तोरणोंसे उत्पन्न, आकाशको रंग-बिरंगे बनानेवाली, मनोहर किरणोंसे इस तरह उपस्थित हो गयी मानो इन्द्रधनुष, इन्द्रपुरी अमरावतीको जितनेके लिए खड़ा हो गया है ॥ ११ ॥

अपरा परमादरेण तान् समपूपांस्तनुते स्म तावता ॥
विबुधैरपि खाद्यतामितानमृतप्रायतया प्रसाधितान् ॥ १२ ॥

अपरेति । अपरा काचिद्वनिता परमादरेण तावता कालेन, अमृतप्रायतया पीयूषतुल्यतया प्रसाधितान् निर्मितान् विबुधैः देवैरपि खाद्यतामितान् भक्ष्यताप्राप्तियोग्यान् अपूपान् घृतपाचितान् पिष्टशर्करामधुरान् पक्वान्नविशेषान् तनुते स्म निर्ममे ॥ १२ ॥

अवदत् सवदर्शने पुरः सदनानाञ्च मुखानि सर्वतः ॥
अवलम्बितमौक्तिकस्रजां रुचिभिर्हास्यमयानि सा प्रजा ॥ १३ ॥

अवदविति । सा प्रजा, सवदर्शने विवाहोत्सवालोकने पुरः काशीनगर्याः सदनानां भवनानां मुखानि द्वाराणि सर्वतः परितः, अवलम्बिता या मौलिकानां स्रजो हारास्तासां रुचिभिः कान्तिभिर्हास्यमयानि हसिताञ्चितानि, अवदत् ॥ १३ ॥

प्रसरन्मृदुपल्लवेष्टया सुलताङ्गीकृतचित्रचेष्टया ॥
बहुविभ्रमपूरिताशया नृपसद्मोपवनोपमं तया ॥ १४ ॥

प्रसरदिति । तया, सुलताङ्ग्या वल्लीतुल्याङ्ग्या कृता या चित्रस्य युवतिप्रतिमूर्तेश्चेष्टा तया व्यापारेण नृपसद्म नृपभवनमुपवनोपममुद्यानसदृशं दृश्यते स्मेति शेषः । कथम्भूतया ? प्रसरन्तो ये मृदुपल्लवाः किसलयास्तैरिष्टा मनोहरा तया, पुनर्बहवो ये विभ्रमा विलासास्तैः पूरिताः सम्भृता आशा दिशस्तया ॥ १४ ॥

अन्वय : अपरा परमादरेण तावता अमृतप्रायतया प्रसाधितान् विबुधैः अपि खाद्यताम् इतान् तान् समपूपान् तनुते स्म ।

अर्थ : किसी स्त्रीने अत्यन्त आदरके साथ अमृतकी तरह स्वादिष्ट एवं देवताओंके लिए भी भक्षणयोग्य पूओंको बनाया ॥ १२ ॥

अन्वय : सा प्रजा सवदर्शने पुरः सदनानां च मुखानि अवलम्बितमौक्तिकस्रजां रुचिभिः हास्यमयानि अवदत् ।

अर्थ : विवाहोत्सवके समय नगरीके भवनों के मुख्यद्वार मोतियोंकी मालाओं से सुशोभित किये गये थे, जिनकी प्रभा से वे हँसते हुए-से जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

अन्वय : प्रसरन्मृदुपल्लवेष्टया बहुविभ्रमपूरिताशया सुलताङ्गीकृतचित्रचेष्टया तया नृपसद्म उपवनोपमम् अभूत् ।

अर्थ : फैलते हुए कोमल पल्लवोंसे मनोहर और अनेक विलासोंसे दिशाओंको पूरित करनेवाली सुन्दर लताकी तरह अंगोंवाली स्त्री द्वारा की गयी चित्रों, की रचनासे वह राजभवन उपवनके सदृश हो गया ॥ १४ ॥

मृदुमोदमहोदधिश्रिया　　नवनीतोत्तमभावमन्वयगात् ।
अमृतस्थितिगोतमावृतेः　सुरभिस्थानमिदं स्म राजते ॥ १५ ॥

मृदुमोदेति । अथवेदं राजभवनं सुरभिस्थानं गोकुलस्थानमिव राजते स्म । तदेवाह—मृदुमोदस्य मधुरहर्षस्य महोदधिर्महासागरस्तस्य श्रिया शोभया । गोकुलस्थानपक्षे, मृदुमोदस्य हर्षस्य मह एव दधि तस्य श्रिया कान्त्या, नवनीतं हैयङ्गवीनं तस्योत्तमा या भावना तामन्वगादनुययौ । पक्षे दध्यपि नवनीतभावमनुगच्छति । पुनः कथम्भूतम्—अमृतमिव स्थितिर्यस्याः सा, अतिशयेन गौर्मङ्गलगीतादिवाणी तयाऽऽवृतेः समावृतत्वाद् राजसदनस्य । गोकुलपक्षे—अमृतरूपस्य दुग्धस्य स्थितिर्यासु ताः प्रशस्ता गाव इति गोतमास्ताभिरावृतेः वेष्टितत्वाद् राजसदनं गोकुलस्थानं सुरभिस्थानमिव राजते स्म इति श्लेषानुप्राणितोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १५ ॥

सघनं घनमेतदास्वनत् सुषिरं चाशु शिरोऽकरोत्स्वनम् ॥
स ततेन ततः कृतो ध्वनिः सममानद्धममानमध्वनीत् ॥ १६ ॥

सघनमिति । वाद्यभेदाश्चत्वार इत्यमरकोशानुसारं तत्र घन-सुषिर-तत-आनद्धरूपाणि चतुर्विधवाद्यान्यवाद्यन्त इत्याह—तत्र राजप्रासादे घनमेतन्नामकं वाद्यं सघनमतिगम्भीरध्वनिमास्वनत् अशब्दायत । सुषिरमाशु शिरःस्वनमत्युच्चध्वनिमुच्चचार । ततेन वाद्येन ततः परिव्याप्तो ध्वनिः कृतः । आनद्धाख्यं वाद्यं समं तुल्यरूपेण अमानमपरिमितमध्वनीद् दध्वान । अनेकक्रियाणां समुच्चयात् समुच्चयालङ्कृतिः ॥ १६ ॥

अन्वय : इदं मृदुमोदमहोदधिश्रिया नवनीतोत्तमभावनाम् अन्वगात् इदम् अमृतस्थितिगोतमावृतेः सुरभिस्थानम् (इव) राजते स्म ।

अर्थ : यह राजभवन मधुर हर्षरूप महासागरकी कान्तिसे मक्खनके उत्तमभावको प्राप्त हो गया । अमृततुल्य मङ्गलगीतादि वाणियोंसे युक्त होनेके कारण गोकुलकी तरह सुशोभित हो रहा था । गोकुलमें भी सुन्दर दधि-मक्खन तथा दूध देनेवाली गायें होती ही है ॥ १५ ॥

अन्वय : घनम् एतत् सघनम् आस्वनत् सुषिरं च आशु शिरःस्वनम् अकरोत् । ततः ततेन सः ध्वनिः कृतः । आनद्धं समम् अमानम् अध्वनीत् ।

अर्थ : घन नामक वाद्य (बाजा) जोरसे बजने लगा । सुषिर नामक वाद्यने भी बड़े वेग से शब्द किया । अनन्तर तत-वाद्य ध्वनि करने लगा तथा साथ

प्रभवन्मृदुलाङ्कुरोदयं स्वयमित्यत्र तदानको ह्ययम् ॥
स सं धरणीतलं यदप्यकरोच्छब्दमयं जगद्वदन् ॥ १७ ॥

प्रभवन्निति । तदा स्वयं वदन् वाद्यमानः सन् अयमानक इत्यत्र राजप्रासादे धरणीतलं प्रभवन्तो ये मृदुला अङ्कुरास्तेषामुदयो यस्मिन्, प्ररोहत्कोमलशष्पं सरसमकरोत् । किञ्च सहैव जगत्संसारं शब्दमय-प्रचुररवमेरवञ्च अकरोत् । कार्यद्वयस्य युगपत्सम्पादनात् सहोक्त्यलङ्कारः ॥ १७ ॥

तदुदात्तनिनादतो भयादपि सा सम्प्रति वल्लकीत्ययात् ॥
विनिलेतुमिवाशु तादृशि पृथुले श्रीयुवतेरिहोरसि ॥ १८ ॥

तदुदात्तेति । इह तदुदात्तनिनादत आनकप्रचण्डध्वानतः, भयात् सम्प्रति सा वल्लकी वीणापि, आशु तादृशे पृथुले विशाले, श्रीयुवतेः कस्याश्चिन्मुग्धतरुण्या उरसि हृदये विनिलेतुमिव अयाद् ययौ । क्रियोत्प्रेक्षातिशयोक्त्योः सङ्करः ॥ १८ ॥

प्रणनाद यदानकस्तरामपि वीणा लसति स्म सापरा ॥
प्रसरद्रससारनिर्झरः स निसस्वान वरं हि झर्झरः ॥ १९ ॥

प्रणनादेति । यदाऽऽनकः प्रणनाद अतिशयमनदत् तदा साऽपरा वीणापि लसति स्म वाद्यमानाऽऽसीदित्यर्थः । पुनः स प्रसरन् रससारस्य निर्झरः प्रवाहो यस्माद् वरं मनोहरं निसस्वानशब्दमकरोत् । हीति वाक्यपूरणार्थः ॥ १९ ॥

अन्वय : तदा हि स्वयं वदन् अयम् आनकः इति अत्र धरणीतलं प्रभवन्मृदुलाङ्कुरोदयं सरसम् अकरोत् । (सहैव) यत् जगत् (तत्) अपि शब्दमयम् (अकरोत्) ।

अर्थ : उस समय स्वयं बजते इस दुन्दुभिने राजभवनमें भूतल को नये अंङ्कुरोंसे युक्त करते हुए सरस कर दिया (जैसे कि मेघ पृथ्वीतल को जलसे अङ्कुरित कर देता है) । साथ ही इसने संसारको भी शब्दायमान कर दिया, संसार भी इसकी ध्वनिसे गूँज उठा ॥ १७ ॥

अन्वय : इह तदुदात्तनिनादतः भयात् सम्प्रति सा वल्लकी अपि आशु तादृशि पृथुले श्रीयुवतेः उरसि विनिलेतुम् इव अयात् ।

अर्थ : भेरीकी गम्भीरध्वनिके भयसे इस समय वह वीणा भी अविलम्ब मानो छिपनेके लिए किसी युवतीके विशाल वक्षःस्थलमें जा पहुँची ॥ १८ ॥

अन्वय : यदा आनकः प्रणनादतरां सा अपरा वीणा अपि लसति स्म । (पुनः) प्रसरद्रससारनिर्झरः स झर्झरः हि वरं निसस्वान ।

अर्थ : जब भेरी जोरोंसे बजने लगी, तो वीणा भी अपनी मधुर ध्वनिसे सुशोभित होने लगी । साथ ही आनन्दका सार-प्रसार करती झांझ भी बजने लगी ॥ १९ ॥

युवतेरुरसीति रागतः स तु कोलम्बकमेवमागतम् ।
समुदीक्ष्य तदेर्ष्ययाऽधरं खलु वेणुः सुचुचुम्ब सत्वरम् ॥ २० ॥

युवतेरिति । कस्याश्चिद्युवत्या उरसि वक्षःस्थले रागतः श्रीकल्याण-दीपकादि-रागाद्धेतोः कोलम्बकं वीणादण्डमागतं समुदीक्ष्य वेणुर्वाद्यभेदस्तदा ईर्ष्यया सत्वरं तस्या अधरं सुचुचुम्ब निर्निश ।' अतिशयोक्त्यनुप्राणितं पर्यायोक्तम् । वस्तुतः सा वेणुवादनमारेभे, इति तात्पर्यम् । 'वीणादण्डस्तु कोलम्ब' इत्यमरः ॥ २० ॥

शुचिवंशभवच्च वेणुकं बहुसम्भावनया करेऽणुकम् ।
विवरैः किमु नाङ्कितं विदुर्हुडकश्चेति चुकूज सन्मृदुः ॥ २१ ॥

शुचीति । शुचिवंशाद् भवतीति शुद्धवेणुभवेच्छुर्वेणूत्पन्नमणुकमपि वेणुकं यद्युवति-करे बहुसम्भावनयाऽत्यादरेण स्थितमस्तीति शेषः । तद्विवरैश्छिद्रै दोषैर्वाऽङ्कितमिति जना न विदुर्न जानन्ति, इति मृदुपरिहसन् हुडको वाद्यभेदश्च चुकूजाऽकूजदित्यर्थः । उत्प्रेक्षा-लङ्कारः ॥ २१ ॥

परिचारिजनास्यनिःस्वनः पटहादीच्छितनादतो घनः ।
अभवत् प्रतिनादमेदुरः स्विदमेयो गगनोदरे चरन् ॥ २२ ॥

परिचारीति । यः परिचारिजनानामास्यानां मुखानां निःस्वनः कोलाहलः पटहा-

---

अन्वय : युवतेः उरसि रागतः एवं कोलम्बकम् आगतम् इति समुद्वीक्ष्य वेणुः तदा खलु ईर्ष्यया सत्वरम् अधरं सुचुचुम्ब ।

अर्थ : युवतीके वक्षःस्थलपर अनुरागसे आये वीणादण्डको देख बाँस (वेणु) ने उस समय ईर्ष्यासे तुरत (किसी दूसरी) युवतीके अधरका चुम्बन कर लिया ॥ २० ॥

अन्वय : शुचिवंशभवम् अणुकम् (अपि) वेणुकं (यत्) करे बहुसम्भावनया (स्थितम् अस्ति तत्), विवरैः अङ्कितम् इति न विदुः (इति) सन् मृदुः हुडुकः चुकूज ।

अर्थ : उत्तम कुलमें उत्पन्न, छोटा भी वेणुवाद्य यद्यपि युवतीके हाथमें ससम्मान है, फिर भी क्या वह छिद्रों (दोषों) से युक्त नहीं है, इस प्रकार मन्द-हास्य करता हुआ हुडुक वाद्य भी बजने लगा ॥ २१ ॥

अन्वय : (यः) परिचारिजनास्यनिस्वनः (सः) पटहादीच्छितनादतः (अपि) घनः (आसीत्) । प्रतिनादमेदुरः गगनोदरे चरन् स्वित् अमेयः अभवत् ।

अर्थ : सेवकजनोंके मुखकी ध्वनि नगाड़ेकी आवाजसे भी बढ़कर थी

वोच्छलनादलोऽपि घनो मेदुर आसीत् । पुनः प्रतिनादेन प्रतिध्वनिना मेदुरो बहुलो गगने चरम् समयेयोऽभवत् स्विविरयुत्प्रेक्षा ॥ २२ ॥

स्मर तैरयि पीलनस्य मे सुहृदोऽनन्यतमे गुणक्षमे ।
मुहुरेव लगत्तदाप्यदः खलु तैलं हृदि सुभ्रुवोऽवदत् ॥ २३ ॥

स्मरेति । तदापि, अनन्यतमेऽभिन्ने गुणक्षमे मार्यमार्दवादिगुणयोग्ये सुभ्रुवोः सुलोचनाया हृदि मुहुर्भूयोभूयो लगत्सङ्गतं सद् अदस्तैलमवदत्—अयि सुलोचने, सुहृदो मे तैर्मे निपीडनस्य स्मर ॥ २३ ॥

उपयुज्य वियोजितं नमत्तममुद्वर्तनमिष्टसङ्गमम् ।
पदयोः सदयोपयोगयोर्निपपातापि नतभ्रुवस्तयोः ॥ २४ ॥

उपयुज्येति । अपि यदुद्वर्तनमुपयुज्य वियोजितं तदिष्टसङ्गममभीष्टसंयोगं, अतिशयेन नमत् नमतमं नतभ्रुवस्तयोः सदयोपयोगयोः पदयोः निपपात ॥ २४ ॥

कलशीकलशीकलाम्भसाभिषिषेचाऽथ धरामिहाशिषाम् ।
सुकृतांशुकृताश्रयेन वा कुलकान्ताकुलमाप्तसंस्तवाम् ॥ २५ ॥

कलशीति । अथ इह कुलकान्ताकुलं सद्वंशस्त्रीसमूह आशिषां शुभाशंसानां धरां

तथा इन सबकी प्रतिध्वनि आकाशमण्डलमें व्याप्त हो मानो अपरिमित बन गयी ॥ २२ ॥

अन्वय : तदा अपि अनन्यतमे गुणक्षमे सुभ्रुवः हृदि मुहुः एव लगत् । अदः खलु तैलम् अवदत्—अयि सुहृदः मे तैः पीडनस्य स्मर ।

अर्थ : विवाहके समय अभिन्न, कोमलतादि गुणयोग्य सुलोचनाके हृदयमें बार-बार लगाया जा रहा तैल मानो कह रहा था कि अरी सुलोचने ! अपने मित्र मेरी करुण-पीड़ाका तो जरा स्मरण कर ॥ २३ ॥

अन्वय : अपि (यत्) उद्वर्तनम् उपयुज्य वियोजितं तत् इष्टसङ्गमं नमत्तमं नतभ्रुवः तयोः सदयोपयोगयोः पदयोः निपपात ।

अर्थ : सुलोचनाके शरीरमें लेप करके उतारा गया उबटन, पुनः शरीरके साहचर्यका इच्छुक हो अत्यधिक विनम्रतापूर्वक मानो उसके दयालु दोनों चरण-में गिर पड़ा ॥ २४ ॥

अन्वय : अथ इह कुलकान्ताकुलम् आशिषां धाराम् आप्तसंस्तवां सुकृतांशुकृताश्रयेन कलशीकलशीकलाम्भसा अभिषिषेच ।

अर्थ : अनन्तर कुलीन स्त्रियोंने सौभाग्यवती तथा प्रशंसित सुलोचनाको स्वच्छवस्त्रसे आवृत, शीतोष्ण जलवाले कलशोंसे स्नान कराया ॥ २५ ॥

वारयिषीम् आसः प्रासः स्तवः स्तुतिः परिचयो वा यस्याः सा तां सुलोचनां सुकृतांशुना स्वच्छवस्त्रेण कृत आशय आवरणं यस्य तेन कलशीकलशीकलाम्भसा शीतोष्णकलशजलेन अभिषिषेच सिक्तवत् ॥ २५ ॥

तदुरोजयुगेन निर्जिता इव नीता भुवि वारिहारिताम् ॥
त्रपयेव नतैर्मुखैर्नवाभिदधुस्ताः सहकारपल्लवान् ॥ २६ ॥

तदुरोजेति । ताः कलश्यस्तदुरोजयुगेन सुलोचनाकुचयुगलेन निर्जिता तिरस्कृता इव भुवि लोके वारिहारितां जलाहरणतां नीता इव प्राप्ता इव त्रपयेव लज्जयेव निजमुखैः सहकारपल्लवान्, आम्रकिसलयान् निदधुर्दधुरिति क्रियोत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

जरतीजरतीष्टिहेतुना छिदिभृच्चामरमेव चाधुना ॥
सुपशोर्हसति स्म संकचः पतदम्भःकणमुच्चलद्रुचः ॥ २७ ॥

जरतीति । अधुना, उच्चलन्त्यो रुचो यस्य स चलद्युतिस्तस्याः संकचः कर्ता सुष्टु-केशपाशः, सुपशोश्चमरस्य जरतीजरतीष्टिहेतुना वार्धक्यपलितत्वेन, छिदिभृत् सच्छिद्रं च तच्चामरं बालव्यजनं पतन्ति निर्गलन्ति अम्भःकणाः यस्मात् तत् पतदम्भःकणं यथा स्यात् तथा हसति स्म, क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २७ ॥

सुतनुः समभाच्छ्रियाश्रिता मृदुना प्रोञ्छनकेन मार्जिताः।
कनकप्रतिमेव साऽशिताप्यनुशाणोत्कषणप्रकाशिता ॥ २८ ॥

सुतनुरिति । श्रिया कान्त्याऽऽश्रिता सेवितापि सा सुतनुर्दिव्यदेहा सुलोचना, मृदुना

अन्वय : ताः तदुरोजयुगेन निर्जिताः इव भुवि वारिहारितां नीताः त्रपया इव नतैः मुखैः नवान् सहकारपल्लवान् निदधुः ।

अर्थ : उन कलशोंने सुलोचनाके दोनों स्तनोंसे मानो परास्त होकर जल भरनेका कार्य करते हुए झुके मुखोंसे आम्रपल्लवोंको धारण कर लिया ॥ २६ ॥

अन्वय : अधुना उच्चलद्रुचः संकचः सुपशोः जरतीजरतीष्टिहेतुना छिदिभृत् चामरम् एव पतदम्भःकणं हसति स्म ।

अर्थ : इस समय झरते हुए जलसे युक्त सुलोचनाका केशपाश वृद्धा स्त्रीके बालोंकी तरह श्वेत चमरी गौके बालोंकी हँसी उड़ाता था ॥ २७ ॥

अन्वय : श्रिया आश्रिता (अपि) सा सुतनुः मृदुना प्रोञ्छनकेन मार्जिता अशिता अपि अनुशाणोत्कषणप्रकाशिता कनकप्रतिमा इव समभात् ।

अर्थ । स्नानके बाद स्वयम् अत्यन्त सुन्दरी वह सुलोचना कोमल तौलिये-

कोमलेन प्रोञ्छनकेन मार्जिता मृष्टा सती, अशिताऽपि गौरवर्णाऽपि अनुशाणोत्कर्षणेन शाणोत्कर्षणेन प्रकाशिता भासमाना कनकप्रतिमेव समभाच्छुशुभे । उपमालङ्कारः ॥२८॥

मुहुराप्तजलाभिषेचना प्रथमं प्रावृडभूत् सुलोचना ॥
तदनन्तरमुज्ज्वलाम्बरा समवापापि शरच्छ्रियं तराम् ॥ २९ ॥

मुहुरिति । मुहुः पुनःपुनराप्तं जलाभिषेचनं यया सा सुलोचना प्रावृड् वर्षर्तुरभूत् । तत्तुल्याऽजायतेत्यर्थः । तदनन्तरमुज्ज्वलानि अम्बराणि वस्त्राणि यस्याः सा तथाभूता सती शरदः शरदृतोः श्रियमपि समवापतरामतिशयेन प्राप्तवती ॥ २९ ॥

किमिहास्तु विभूषया सुता यदि भूषा जगतामसौ स्तुता ॥
अपि तत्र तदायतां हितादियमालीभिरितीव भूषिता ॥ ३० ॥

किमिहेति । यद्यसौ सुता राजपुत्री सुलोचना जगतां स्तुता प्रशंसिता भूषाऽलङ्काररूपा विद्यत इति शेषः । तदा इहास्यां विभूषया भूषणेन किम्प्रयोजनमस्ति ? न किमपीत्यर्थः । तथापि तदाभूषणं तत्र हिताद्धारणादायतां विशिष्टशोभामाप्नोत्विति हेतोरालीभिः सखीभिरियमितीव भूषिता भूषणैरित्यर्थः ॥ ३० ॥

प्रतिमाविषयेऽनुयोगकृत् सुतनोर्भ्रुयुगमक्षरं सकृत् ॥
इति कापि नकारमुत्तरं तिलकस्य च्छलतो ददौ परम् ॥ ३१ ॥

प्रतिमेति । सुतनोः सुलोचनायाः प्रतिमाया उपमाया विषये तस्या भ्रूयुगमनुयोग-

---

से पोंछी गयी, जिससे उसका सौन्दर्य, सानपर चढ़ायी गयी सोनेकी प्रतिमाकी तरह और भी निखर उठा ॥ २८ ॥

अन्वय : मुहुः आप्तजलाभिषेचना सुलोचना प्रावृड् अभूत् । तदनन्तरम् उज्ज्वलाम्बरा (सती) शरच्छ्रियम् अपि समवापतराम् ।

अर्थ : बार-बार स्नान करती हुई सुलोचना पहले वर्षाके सदृश प्रतीत होती थी। पश्चात् उसने श्वेतवस्त्र धारण कर शरदृतुके सौन्दर्यको प्राप्त कर लिया ॥ २९ ॥

अन्वय : यदि असौ सुता जगतां स्तुता भूषा (अस्ति), तदा इह विभूषया किम् अस्तु ? अपि तत्र हितात् आयताम् (प्राप्नोतु), इति इव इयम् आलिभिः भूषिता ।

अर्थ : यदि वह सुलोचना जगत्-प्रशंसित आभूषणरूपिणी है तो इसे अलङ्कृत करनेसे क्या प्रयोजन ? किन्तु स्वयं इन आभूषणकी शोभा बढ़ेगी, मानो इसीलिए सखियोंने उसे आभूषणोंसे अलङ्कृत किया ॥ ३० ॥

कृत् प्रश्नकारकं सकृद् एकं प्रश्नाक्षरमस्तीति मत्वा कापि सखी तस्या ललाटे तिलकस्य छलेन गोलबिन्दुकनिर्माणेन परमुत्कृष्टं यथार्थमुत्तरं ददौ । वर्तुलतिलकव्याजेन शून्यार्थः सूच्यते । तेनास्याः प्रतिमा नास्त्येवेति व्यज्यते ॥ ३१ ॥

सकलासु कलासु पण्डिताः सुतनोरालय इत्यखण्डिताः ।
न मनागपि तत्र शश्रमुः प्रतिदेशं प्रतिकर्म निर्ममुः ॥ ३२ ॥

सकलास्विति । सुतनोः सुलोचनाया आलयः सख्यः सकलासु कलासु, अखण्डिताः पूर्णाः पण्डिता आसन्निति शेष इत्यतस्ताः प्रतिदेशं प्रतिशरीरावयवं प्रतिकर्म प्रसाधनं निर्ममुः व्यरचयन्त । तथापि तत्र ता मनागीषदपि न शश्रमुः परिश्रान्ताः, इत्यर्थः । अनेनालीनां कौशलं ध्वन्यते ॥ ३२ ॥

अलिकोचितसीम्नि कुन्तला विबभूवुः सुतनोरनाकुलाः ।
सुविशेषकदीपसम्भवा विलसन्त्योऽञ्जनराजयो न वा ॥ ३३ ॥

अलिकेति । सुतनोरलिकोचितसीम्नि ललाटप्रान्तेऽनाकुलाः प्रसाधनीप्रसाधिता ये कुन्तलाः कचास्ते सुविशेषक शुभतिलकमेव दीपकस्ततः सम्भवा विलसन्त्यः शोभमाना अञ्जनराजयः कज्जलपङ्क्तयः सन्ति किंवा केशा इति सन्देहो जायते । तेन कज्जलकृष्णास्तस्याः कचा आसन्निति ध्वन्यते । सन्देहालङ्कारः ॥ ३३ ॥

अन्वय : सुतनोः प्रतिमाविषये भ्रूयुगम् अनुयोगकृत् सकृत् अक्षरम् (अस्ति), इति (मत्वा) कापि तिलकच्छलेन परं नकारम् उत्तरम् ददौ ।

अर्थ : सुन्दर शरीरवाली सुलोचनाकी बराबरीमें उसकी दोनों भौंहें एक प्रश्नाक्षर हैं, ऐसा मानकर किसी सखीने उसके मस्तक पर तिलकके कपटसे मानो उत्कृष्ट निषेधात्मक उत्तर दे दिया ॥ ३१ ॥

अन्वय : सुतनोः आलयः सकलासु कलासु अखण्डिताः पण्डिताः (आसन्), इति (ताः) प्रतिदेशं प्रतिकर्म निर्ममुः । (किन्तु) तत्र मनाक् अपि न शश्रमुः ।

अर्थ : उस सुलोचनाकी सखियाँ सम्पूर्ण कलाओंमें पूर्ण पण्डित थीं, इसलिए उन्होंने प्रत्येक अंगोंको भलीभाँति अलंकृत किया, परन्तु उसमें थोड़ा भी परिश्रम उन्हें नहीं हुआ ॥ ३२ ॥

अन्वय : सुतनोः अलिकोचितसीम्नि अनाकुलाः कुन्तलाः सुविशेषदीपसम्भवाः विलसन्त्यः अञ्जनराजयः न वा (इति) विबभुवुः ।

अर्थ : नताङ्गी (सुलोचना)के ललाट प्रदेशमें सँवारे गये केशोंने लोगोंको संशय में डाल दिया कि यह तिलकरूपी दीपकसे उत्पन्न कहीं कज्जलका समूह तो नहीं है ॥ ३३ ॥

निबबन्ध मृगीदृशः कचान् जगतो यौवतकीर्तये रुचा ।
विधवत्वविधानवाससः समयान् कापि गुणानिवेदृशः ॥ ३४ ॥

निबबन्धेति । काप्याली मृगीदृशस्तस्याः कचान् रुचा कान्त्या जगतः संसारस्य यौवतस्य युवतिसमूहस्य कीर्तये विधवत्वविधानवाससो वैधव्याचरणवस्त्रस्य समयान् सदृशानीदृशो गुणानिव निबबन्ध नितरामबध्नात् ॥ ३४ ॥

स्फुटहाटकपट्टिकाश्रिया दिनराज्यन्तरसायसत्क्रिया ।
अलिकालकयोरिहान्तरा सममेवेति समद्युतत्तराम् ॥ ३५ ॥

स्फुटेति । इह सुदृशो ललाटेऽलिकालकयोरन्तरा मध्ये स्फुटा दीप्ता या हाटकपट्टिका नाम विभूषा बद्धेति शेषः । तस्याः श्रिया कान्त्या, दिनराज्यन्तरे सायसत्क्रिया सन्ध्याकाल-शोभा जातेति भावः । सा च; ललाटकचयोः सममेव सार्धमेवाद्युतत्तराम् अतिशयेना-द्योतिष्ट ॥ ३५ ॥

न दृगन्तसमर्थिनी रसादिह लेखा खलु कज्जलस्य सा ।
समपूरि तु सूत्रणक्रिया नयने वर्धयितुं वयःश्रिया ॥ ३६ ॥

न दृगन्तेति । रसाद्धर्षात्खलु दृगन्तं नेत्रमर्यादां कटाक्षं वा समर्थयति सा या कज्जल-रेखा समपूरि, सा नयने वर्द्धयितुं वयःश्रिया तारुण्यलक्ष्म्या सूत्रणक्रिया इव समपूरीत्यर्थः । उपमा ॥ ३६ ॥

अन्वय : कापि मृगीदृशः कचान् रुचा जगतः यौवतकीर्त्तये विधवत्वविधानवाससः समयान् ईदृशः गुणान् इव निबबन्ध ।

अर्थ : किसी सखीने हरिणाक्षी सुलोचनाके बालोंको उसकी कान्तिसे संसारकी स्त्रियोंकी कीर्त्तिके लिए विधवापनमें धारण करने योग्य वस्त्रकी तरह धागोंसे बाँध दिया ॥ ३४ ॥

अन्वय : इह अलिकालकयोः अन्तरा स्फुटहाटकपट्टिकाश्रिया दिनराज्यन्तरसाय-सत्क्रिया (जाता), इति समम् एव समद्युतत्तराम् ।

अर्थ : सुलोचनाके ललाट और बालके मध्य श्वेत हाटकपट्टिका नामक आभूषणके सौन्दर्यसे दिन और रातके बीच सायंकालकी शोभा प्राप्त होती थी, जो ललाट और बालके साथ ही अत्यन्त चमक रही थी ॥ ३५ ॥

अन्वय : रसात् खलु दृगन्तसमर्थिनी (या) कज्जलस्य रेखा समपूरि, सा नयने वर्धयितुं वयश्रिया सूत्रणक्रिया (समपूरि) ।

अर्थ : हर्ष-वश उस समय नेत्रके कोने तक खींची गयी कज्जलकी रेखा, मानो नेत्रोंको बढ़ानेके लिए यौवनश्री द्वारा सूत्रित की गयी थी ॥ ३६ ॥

भुवि वंशमसौ क्षमो गलः स्वरमात्रेण विजेतुमुज्ज्वलः ।
ननु तेन हि सन्धयेऽर्पिता कुवलाली स्वकुलक्रमेहिता ॥ ३७ ॥

भुवीति । भुवि लोके सुदृशोऽसौ, उज्ज्वलो गलः कण्ठो वंशं वाद्यविशेषं स्वरमात्रेण विजेतुं क्षमः समर्थोऽस्तीति हेतुना ननु तेन स्वकुलक्रमेणेहिता वाञ्छिता कुवलाली मौक्तिकमाला सन्धयेऽर्पिता इत्युत्प्रेक्ष्यते । सखीभिस्तस्याः कण्ठे मौक्तिकमाला परिधापितेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३७ ॥

तकयोः प्रतिमल्लताहिते नयनाभ्यामतिमात्रपीडिते ।
अपि तत्समरूपिणीं श्रुती व्रजतः स्मोत्पलकद्वयीं सतीम् ॥ ३८ ॥

तकयोरिति । सुदृशो नयनाभ्यामतिमात्रपीडिते श्रुती कर्णौ तकयोस्तन्नेत्रयोः प्रतिमल्लताहिते धृतप्रतिद्वन्द्विभावे सत्यौ तत्समरूपिणीं नयनोपमस्वरूपिणीं सतीं शोभनामुत्पलद्वयीं कुवलययुग्ममपि व्रजतः स्म प्राप्नुताम् । नेत्रोत्पीडनवारणाय कुवलययुगलमाश्रयतामित्यर्थः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३८ ॥

सुषमाप महर्घतां परैर्भुवि भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैः ।
सुतनोस्तु विभूषणैर्यका खलु लोकैरवलोकनीयका ॥ ३९ ॥

सुषमेति । सुतनोः सुलोचनायाः सुषमा परमशोभा तु यैव यका खलु लोकैर्जनैरवलोकनीयका दर्शनार्हाऽऽसीत् सा भुवि लोके परैरुत्कृष्टैर्भाग्यैर्विष्टैर्नीतिरिव, उज्ज्वलैर्विभूषणैर्महर्घताममूल्यतामतिरामणीयकमाप प्रापत् । अत्र वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयत्वान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ३९ ॥

अन्वय : भुवि असौ उज्ज्वलः गलः वंशं स्वरमात्रेण विजेतुं क्षमः (अस्ति) । ननु तेन हि स्वकुलक्रमेहिता कुवलाली सन्धये अर्पिता ।

अर्थ : लोकमें उस सुलोचनाका कण्ठ स्वरमात्रसे बाँसको जीतनेमें समर्थ है, इसीलिए मानो सखियों द्वारा कुलक्रमागत मोतीकी माला सन्धि करनेके लिए (गलेमें) अर्पित कर दी गयी ॥ ३७ ॥

अन्वय : नयनाभ्याम् अतिमात्रपीडिते श्रुती तकयोः प्रतिमल्लताहिते तत्समरूपिणीं सतीम् उत्पलकद्वयीम् अपि व्रजतः स्म ।

अर्थ : उसके दोनों नेत्रों द्वारा अत्यधिक दबाये गये दोनों कानोंने नेत्रोंकी प्रतिद्वन्द्विताके लिए कटिबद्ध हो मानो दो कर्णफूल धारण कर लिये ॥ ३८ ॥

अन्वय : सुतनोः सुषमा तु यका खलु, लोकैः अवलोकनीयका (आसीत्) । (सा) भुवि परैः भाग्यैः नीतिः इव उज्ज्वलैः विभूषणैः महर्घताम् आप ।

अर्थ : सुलोचनाका जो सौन्दर्य लोगों द्वारा दर्शनीय था, वह ऊँचे भाग्यके कारण नीतिकी तरह श्वेत आभूषणोंसे अत्यन्त शोभाको प्राप्त हो गया ॥ ३९ ॥

मुकुरे च्छविदर्शिनी रसान्मुखमिन्दोः सविधं विधाय सा ।
कियदन्तरमेतयोश्च तद्विचरन्तीव तरामराजत ॥ ४० ॥

मुकुर इति । सा सुदृङ् मुखमिन्दोः सविधं विधाय रसात्प्रमदान्मुकुरे दर्पणे छविं रयति तच्छीला छविदर्शिनी कान्त्यवलोकिनी सती, एतयोराननेन्द्वो कियदन्तरमस्तीति तद् विचरन्ती चिन्तयन्तीवाराजततराम् । उत्प्रेक्षालङ्कृतिः ॥ ४० ॥

सुतनोर्निदधत्सु चारुतां स्वयमेवावयवेषु विश्रुताम् ।
उचितां बहुशस्यवृत्तितामधुनाऽलङ्करणान्यगुर्हिताम् ॥ ४१ ॥

सुतनोरिति । स्वयमेवात्मनैव विश्रुतां प्रसिद्धां चारुतां निदधत्सु धारयत्सु सुतनोऽवयवेषु करचरणादिषु, अधुना यानि अलङ्करणानि तानि हितामुचितां बहुशस्यवृत्तितां, बहुशस्यानि, वृत्तिर्यस्य तस्य भावतां पशुभावं जडभावं वाऽगु प्राप्नुवन्निति शब्दार्थः । यद्वा, बहुशस्यशब्देन बहुव्रीहिरित्यर्थो गृह्यते । तस्य वृत्तिर्बहुव्रीहिसमासतामगुरित्यर्थः । एवञ्च, अलङ्क्रियन्ते यया यैर्वा सुतन्ववयवैरित्यलङ्करणानीत्यर्थः सम्पद्यते फलतस्तदवयवैस्तान्यलङ्कृतानि, न तु तैस्तदवयवा इत्यर्थेऽलङ्करणापेक्षया तदवयवा एव रमणीयतरा इति व्यज्यते ॥ ४१ ॥

गुरुमभ्युपगम्य पादयोः प्रणमन्त्याः सुषमाशये श्रियाः ।
शिरसः खलु नागसम्भवं भवमत्राप तु यावकाख्यया ॥ ४२ ॥

गुरुमिति । सुषमायाः परमशोभाया आशये सारभूते स्वचेतसि; आत्मनोऽप्यधिक-

---

अन्वय सा मुखम् इन्दोः सविधं विधाय रसात् मुकुरे छविदर्शिनी (सती) एतयोः कियत् अन्तरम् (अस्ति इति) तद्विचरन्ती इव अराजततराम् ।

अर्थ आभूषणोंसे अलंकृत वह मृगनयना सुलोचना अपने मुखको चन्द्रके समक्ष कर हर्षसे दर्पणमें देखती हुई चन्द्र और मुखमें कितना अन्तर है, मानो इसीका विचार करती हुई-सी अत्यन्त सुशोभित हुई ॥ ४०॥

अन्वय स्वयम् एव विश्रुताम् चारुतां निदधत्सु सुतनोः अवयवेषु अधुना (यानि) एलङ्करणानि, (तानि) हिताम् उचिताम् बहुशस्यवृत्तिताम् अगुः ।

अर्थ स्वयं प्रसिद्ध सौन्दर्यको धारण करनेवाले सुलोचनाके अंगोंमें जो इस समय अलङ्करण (आभूषण) थे, वे समुचित जडताको प्राप्त हो गये, अथवा बहुव्रीहि समासको प्राप्त हो गये। अर्थात् सुन्दर हैं आभूषण जिनके द्वारा ऐसे अंग यानी अंगोंसे आभूषण सुशोभित हुए, आभूषणोंसे अंग सुशोत्तिभ नहीं ॥ ४१ ॥

अन्वय : सुषमाशये गुरुम् अभ्युपगम्य पादयोः प्रणमन्त्या श्रिया शिरस खलु (त्) यनागसम्भवम् (अपतत्) । (तत्) अत्र तु यावकाख्यया भवम् आप ।

शोभमानां तां सुलोचनां गुरुमभ्युपगम्य स्वीकृत्य तस्या पादयो प्रणमन्त्या श्रियाप लक्ष्म्या शिरसो यन्नागसम्भवं सिन्दूरमपतदिति शेष । तदेवात्र लोके तु यावकाख्यया भवं जन्म आप प्रापत् । तस्या पावणतं यावकं न अपितु सिन्दूरमित्यर्थ । इत्थं चात्रापह्नु त्यालङ्कार ॥ ४२ ॥

तरुणस्य च तद्वदुच्छ्रिता भुवि पाणिग्रहणक्षणोचिता ।
अनुजीविजनैः प्रसाधनाऽभिजनैस्तावदमण्डि मण्डना ॥ ४३ ॥

तरुणस्येति । यथा राजप्रासादे सुवृशोऽलङ्करणमभूत् तथैव भुवि विवाहस्थले, प्रसाधनाभिजनैरलङ्करणपटुभिरनुजीविजनै सेवकैस्तरुणस्य जयकुमारस्यापि पाणिग्रहणक्षाणोचिता विवाहसमययोग्या, उच्छ्रिता परमोत्तमा मण्डनाऽमण्डि व्यरचि तावत् ॥ ४३ ॥

त्रिजगत्तिलकायतामिति कृतवान् यन्त्रिकमङ्कमङ्कतिः ।
मिषतो सनभोभ्रुवोव्रतिन्तिलकेनाचरितं तदोमिति ॥ ४४ ॥

त्रिजगदिति । हे व्रतिन्, अङ्कतिर्विधाता, अयं जयकुमारस्त्रिजगतां तिलकमिवचरत्वित्यालोच्य सोऽस्य सनभोभ्रुवो नासिकायुक्तं भ्रुवोर्मिषतो व्याजेन यन्त्रिकमङ्कं चिह्नं कृतवान् तदेव तिलकेन, ओमित्याकारमाचरितम्, मण्डनकारकजनैरिति शेष: ॥ ४४ ॥

समवाप मनोभुवस्तुतां रथसञ्चारुचतुष्कचक्रताम् ।
ननु गण्डगतावतारयोर्द्वितयं कुण्डलयोस्तदीययोः ॥ ४५ ॥

अर्थ सौन्दर्यके विषयमें गुरु (सुलोचना)के समीप जाकर पैरोंमें प्रणाम करती हुई लक्ष्मीके मस्तकसे जो सिन्दूर गिरा, उसीने सुलोचनाके पैरमें यावक (महावर) नाम प्राप्त कर लिया ॥ ४२ ॥

अन्वय तद्वत् भुवि प्रसाधनाऽभिजनैः अनुजीविजनैः तरुणस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता उच्छ्रिता मण्डना तावत् अमण्डि ।

अर्थ जिस प्रकार राजमहलमें सुलोचनाको अलंकृत किया गया, उसी प्रकार सजानेमें दक्ष सेवकोंने तरुण वर जयकुमारको विवाहस्थलमें योग्य अत्युत्तम आभूषणोंसे अलंकृत किया ॥ ४३ ॥

अन्वय हे व्रतिन् ! अङ्कति त्रिजगत्तिलकायताम् इति सनभोभ्रुवो मिषत यत् यन्त्रिकम् अङ्कम् कृतवान् तत् तिलकेन ओम् इति (मण्डनकारैः) आचरितम् ।

अर्थ ब्रह्मा ने, 'यह जयकुमार तीनों लोकोंमें तिलक (श्रेष्ठ)के सदृश, आचरण करनेवाला हो जाय' इस प्रकार नासिकायुक्त भौंहके व्याजसे जो तीन अंकका चि किया, वही तिलक द्वारा (सजानेवालों)को अपना समर्थन-सा प्रतीत हुआ ॥ ४४ ॥

समवापेति । गण्डयोर्गताववतारो ययोस्तयोस्तदीयकुण्डलयोर्द्वितयं युग्मं ननु मनोभुवो मदनस्य रथसञ्चारचतुष्कचक्रतां स्यन्दनस्थमनोहरचतुश्चक्रभावमवाप प्राप्तम् । गण्डस्थलप्रतिबिम्बितं कुण्डलयुगलं चतुःसंख्यं सत्कामरथचक्रत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४५ ॥

जगतीजयवान् भुजोरसी समवर्षत्सुयशःसुतेजसी ।
सितशोणमणित्विषां मिषात्स्वविभूषाग्रजुषां प्रभोर्विशाम् ॥ ४६ ॥

जगतीति । विशां प्रभोर्नृपजयकुमारस्य भुजो बाहुर्यो जगतीजयवान् बभूव, रसी बलवान् स स्वविभूषाग्रजुषां निजाङ्गदकङ्कणाद्यलङ्कारस्थितानां सितशोणमणित्विषां श्वेतरक्तरत्नकान्तीनां मिषाच्छलात्सुयशःसुतेजसी समवर्षत् प्रादुश्चकारेति भावः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४६ ॥

श्रियमेति यतोऽर्थिसार्थकः खलु शङ्खादिकमानवान् सकः ।
स्विदपां शुचिराशयः शयो वरराजस्य समुद्रतां ययौ ॥ ४७ ॥

श्रियमिति । सको वरराजस्य जयस्य शयः करः खलु शङ्खादिकमानवान् कम्बुकादिचिह्नवान् आसीद्, यतोऽर्थिसार्थको याचकसमूहः श्रियं सम्पत्तिमेति प्राप्नोति, किञ्च अपां शुचिराशयो निर्मलकान्तियुक्तः, यद्वा अपां जलानां दानसंकल्पप्रयुक्तजलानामाशयः स्थानमासीत्, अतएव शब्दशक्तिसामर्थ्येन समुद्रतामर्णवभावं ययौ । तथा च मुद्राभिरङ्गुलीयकैः सहितः समुद्रस्तस्य भावतां ययौ । अत्र श्लेषानुप्राणितो रूपकालङ्कारः ॥ ४७ ॥

अन्वय : गण्डगतावतारयोः तदीययोः कुण्डलयोः द्वितयं ननु मनोभुवः स्तुतां रथसञ्चारुचतुष्कचक्रताम् अवाप ।

अर्थ : जयकुमारने दोनों कपोलोंपर लटकनेवाले कुण्डल और उनका प्रतिबिम्ब, कामदेवके रथके चार चक्रोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ४५ ॥

अन्वय : विशां प्रभोः भुजः (यः) जगतीजयवान् (बभूव), रसी (सः) स्वविभूषाग्रजुषां सितशोणमणित्विषां मिषात् सुयशःसुतेजसी समवर्षत् ।

अर्थ : जगतीपति जयकुमारकी भुजाओंने सारे संसारपर विजय प्राप्त कर ली थी, इसलिए मानो अपने आभूषणोंके अग्रभागमें विद्यमान, श्वेत और लाल मणियोंकी प्रभाके व्याजसे वे सुयश और प्रतापकी वर्षा कर रही थीं ॥ ४६ ॥

अन्वय : सकः वरराजस्य शयः खलु शङ्खादिकमानवान् आसीत् यतः अर्थिसार्थकः श्रियमेति, अपां शुचिराशयः (अतएव) समुद्रताम् ययौ ।

अर्थ : जयकुमारका हाथ शङ्खादि चिह्नोंसे युक्त था, जिससे याचकगण सम्पत्ति प्राप्त करते थे। वह निर्मलकान्ति युक्त था (दानसंकल्पके लिए प्रयुक्त जलका स्थान था), इसीलिए समुद्रभाव को प्राप्त हुआ अर्थात्

स्वसदोदयतामनाकुलामिह नक्षत्रकमालिकाऽमला ।
उपलब्धुमिवार्थिनी हिता वदनेन्दोः पदसीमनि स्थिता ॥ ४८ ॥

स्वसदोदयतामिति । इह जयकुमारस्य कण्ठेऽमला स्वच्छा हिता शोभाकारिका नक्षत्रकमालिका मौक्तिकमाला परिधापितेति शेषः । याऽनाकुलामविनाशिनीं स्वसदोदयितां सततदीप्यमानतामुपलब्धुं प्राप्तुमर्थिनी सती तस्य वदनेन्दोर्मुखचन्द्रस्य पदसीमनि स्थानसीमायां स्थिता बभूवेत्यर्थः । सदा प्रकाशमानतां लब्धुमिवेति क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४८ ॥

प्रतिदेशमवाङ्क्रिनामलङ्करणानां मणिमण्डले परम् ।
निजरूपनिरूपिणे घृणाकरि अस्मै खलु दर्पणार्पणा ॥ ४९ ॥

प्रतिदेशमिति । प्रतिदेशं प्रत्यवयवमवाङ्क्रिना परिहितानामलङ्करणानां मणिमण्डले रत्नराशौ परमत्यन्तं निजरूपं निरूपयति तस्मै स्वरूपदर्शिनेऽस्मै परिजनविहिता दर्पणस्यार्पणा मुकुरदानं घृणाकरी निरपेक्षा गर्ह्याऽभवदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

ननु तस्य तनुर्विभूषणैः सहजप्रश्रयभूरदूषणैः ।
लसति स्म गुणैरिवोज्ज्वलैरधुनासौ परिणामकोमलैः ॥ ५० ॥

नन्विति । या तस्य जयस्य तनुः शरीरं सहजप्रश्रयभूः प्राकृतिकमार्दवाश्रयाऽभवत्, असावधुनाऽदूषणैर्दोषरहितैर्विभूषणैरलङ्कारैः, उज्ज्वलैः प्रभासमानैः परिणामकोमलैर्गुणैर्दयादाक्षिण्यादिसद्गुणैरिव लसति स्म शोभते स्म । उपमालङ्कारः ॥ ५० ॥

(अँगूठीवाला) बना ॥ ४७ ॥

अन्वय : इह अमला हिता च नक्षत्रमालिका (परिधापिता), (या) अनाकुलां स्वसदोदयताम् उपलब्धुम् अर्थिनी इव सती वदनेन्दोः पदसीमनि स्थिता ।

अर्थ : जयकुमारके गलेमें स्वच्छ एवं अतिसुन्दर नक्षत्रमाला (मोतीकी माला) पहना दी गयी जो कभी नष्ट न होनेवाली दीप्तिको प्राप्तिकी याचक हो मानो चन्द्रसदृश मुखके घेरेमें आकर खड़ी हो गयी ॥ ४८ ॥

अन्वय : प्रतिदेशम् अवाङ्क्रिनाम् अलङ्करणानां मणिमण्डले परं निजरूपनिरूपिणे अस्मै खलु दर्पणार्पणा घृणाकरि (अभूत्) ।

अर्थ : प्रत्येक अङ्गमें धारण किये गये आभूषणोंकी रत्नराशिमें अपने स्वरूपको देखनेवाले जयकुमारके लिए दर्पणप्रदान निरर्थक ही रहा ॥ ४९ ॥

अन्वय : तस्य तनुः सहजप्रश्रयभूः (अभवत्) असौ अधुना अदूषणैः विभूषणैः उज्ज्वलैः परिणामकोमलैः गुणैः इव लसति स्म ।

अर्थ : जयकुमारका शरीर स्वभावतः कोमल था । इस समय वह निर्दोष अलङ्कारोंसे उज्ज्वल एवं परिणामतः मृदु गुणोंके समान सुशोभित होने लगा ॥ ५० ॥

रथमेवमथोपढौकितः किमु पद्माङ्कमुदेन सोऽङ्कितः ।
रविवच्च विभासुरच्छविर्वदतीदं विभवाश्रयः कविः ॥ ५१ ॥

रथमेवमिति । अथ पद्माया लक्ष्मीरूपाया सुलोचनाया अङ्कं शरीरं तस्य मुदेन तदवलोकनहर्षेणाङ्कित उपलक्षितः, पुनर्विशेषरूपेण वरनेपथ्येन भासुरा दीप्यमाना छविः कान्तिर्यस्य स जयकुमारः, रविवत्सूर्यतुल्यः सूर्योऽपि पद्मानां कमलानामङ्कस्य मुदेन विकासरूपेणोपलक्षितः, भासुरच्छवि प्रकाशमानकान्तिश्च भवति, रथं स्यन्दनमेवोपढौकित आरूढः किमु ? सूर्योऽपि रथारूढः सन्नेवोदयत इति प्रसिद्धिः । विभवस्य काव्यरचनोपयिकाप्रतिमप्रतिभापाटवरूपैश्वर्यस्य आश्रयः कविरिदं वदति । श्लेषानुप्राणितोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५१ ॥

स पवित्र इतीव सत्क्रियासहितः सम्महितो वरश्रिया ।
शुचिवेषधरैः पुरस्सरैश्च सुनाशीर इवाभवन्नरैः ॥ ५२ ॥

स इति । इह वरस्य श्रिया शोभया सम्महितः शोभमानः, सत्क्रिया पापत्यागादिदेवार्चनसहितः, पवित्रः शुचिः स जय इतीवैवम्भूतः, शुचिवेशधारिभिः पुरस्सरैर्नरैः सुनाशीर इन्द्र इवाभवत् । उपमालङ्कारः ॥ ५२ ॥

नरपोऽनुचराननुक्षणं समयासन्नतरत्वशिक्षणम् ।
निदिदेश समुल्लसन्मतेः पथि सार्थं पृथुचक्रिरेऽस्य ते ॥ ५३ ॥

नरप इति । नरपो राजाऽकम्पनोऽनुचरान् सेवकान् अनुक्षण वारं वारं समयासन्न-

---

अन्वय : अथ पद्माङ्कमुदेन अङ्कितः विभासुरच्छविः सः रविवत् रथम् एव उपढौकितः किमु, विभवाश्रयः कविः इदं वदति ।

अर्थ : पश्चात् 'लक्ष्मीरूपिणी सुलोचनाके देखनेके हर्षसे चिह्नित, अत्यन्त प्रकाशमान कान्तिवाले महाराज जयकुमार सूर्यकी तरह रथपर चढ़े' ऐसा काव्यरचनाचतुर कविका कहना है। (सूर्य भी कमलोंके विकासरूपमें उपलक्षित है) ॥ ५१ ॥

अन्वय : वरश्रिया सम्महितः सत्क्रियासहितः पवित्रः सः इति इव शुचिवेषधारिभिः पुरस्सरैः नरैः सुनाशीर इव अभवत् ।

अर्थ : अथवा सौन्दर्यसे सुशोभित, देवार्चनादिसत्क्रियायुक्त, पवित्र वह जयकुमार इस प्रकार स्वच्छ वेष धारण करनेवाले लोगोंसे युक्त हो साक्षात् इन्द्र-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ५२ ॥

अन्वय : नरपः अनुचरान् अनुक्षणं समयासन्नतरत्वशिक्षणं निदिदेश । ते समुल्लसन्मतेः अस्य पथि पृथु सार्थं चक्रिरे ।

रत्वरस्य समयस्य विवाहलग्नवेलायाः सामीप्यस्यानुशिक्षणं निदिदेश ददौ । ते समुल्ल-समस्तैः प्रसन्नमतेरस्य जयकुमारस्य पथि मार्गे पृथु विपुलसार्थं समूहं चक्रिरे चक्रुः ॥ ५३ ॥

अमुकस्य सुवर्गमागता नृपदूताः स्म लसन्ति तावता ।
पुलकावलिफुल्लितानानास्तटलग्ना इव वारिधेर्घनाः ॥ ५४ ॥

अमुकस्येति । तावताऽमुकस्य जयकुमारस्य सुवर्गं समूहमागताः, पुलकानां रोम्णा-मावलिभिः फुल्लितानना विकसितमुखा नृपदूता वारिधेर्जलधेस्तटलग्ना घना इव लसन्ति स्म । उपमालङ्कृतिः ॥ ५४ ॥

इति शृङ्खलिताह्वकारकैरवकृष्टो वरसन्नयस्तकैः ।
किल कण्टकिताङ्गको जनैः पृथुले पथ्यपि सोऽव्रजच्छनैः ॥ ५५ ॥

इतीति । इत्येवं शृङ्खलिताह्वकारकैर्निरन्तराह्वानविधायकैस्तकैर्नृपदूतैरवकृष्ट आक-र्षितोऽपि कण्टकिताङ्गकोऽपि स वरसन्नयो वरयात्रिकसमूहो जनैः पृथुले विस्तृते पथ्यपि शनैरव्रजद् ययौ ॥ ५५ ॥

गुणकृष्ट इवाधिकारकः सुदृशः कण्टकिताङ्गधारकः ।
स न कैः शनकैर्व्रजन् क्षिताविह दृष्टो नितरां महीक्षिता ॥ ५६ ॥

अर्थ : महाराज अकम्पनने बार-बार विवाह समयकी समीपताका निर्देश किया । किन्तु उन सेवकोंने प्रसन्न चित्तवाले जयकुमारके मार्गमें बहुत बड़े जन-समूह बना डाले । (अकम्पनके सेवकोंके जयकुमारकी सेनामें मिल जानेसे अपार भीड़ हो गयी) ॥ ५३ ॥

अन्वय : तावता अमुकस्य सुवर्गम् आगताः पुलकावलिफुल्लिताननाः नृपदूताः वारिधेः तटलग्नाः घनाः इव लसन्ति स्म ।

अर्थ : उस समय महाराज जयकुमारके समूहमें आये, रोमराजिसे प्रफुल्लित मुखवाले राजदूत लोग, समुद्र तटपर लगे बादलोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ५४ ॥

अन्वय : इति शृङ्खलिताह्वकारकैः तकैः अवकृष्टः (अपि) कण्टकिताङ्गकः स वरसन्नयः जनैः पृथुले पथि अपि शनैः अव्रजत् ।

अर्थ : इस प्रकार पंक्तिबद्ध नृपदूतों द्वारा आहूत भी वह वरयानसमूह लम्बे-चौड़े मार्गपर अत्यन्त धीरे-धीरे चल रहा था ॥ ५५ ॥

अन्वय : कण्टकिताङ्गधारकः सुदृशः गुणकृष्टः इव अधिकारकः महीक्षिता इह क्षितौ शनकैः व्रजन् कैः नितराम् न दृष्टः ।

गुणकृष्ट इति । कण्टकिताङ्गधारको रोमाञ्चितदेहः, सुदृशः सुलोचनाया गुणकृष्टः सौन्दर्यसद्गुणाकर्षित इव, अधिकारकः स्वामी, महीमीक्षत इति महीक्षिता पृथ्वीदर्शकः, इह क्षितौ शनकैर्व्रजन् स जयः कैर्जनैर्न दृष्टः ॥ ५६ ॥

अयि रूपममुष्य भूषिणः सुषमाभिश्च सुधांशुदूषिणः ।
द्रुतमेत च पश्यतेति वाऽमृतकुल्येव ससार सारवाक् ॥ ५७ ॥

अयीति । अयि द्रुतमेत, आगच्छत, सुषमाभिः सुधांशुदूषिणश्चन्द्रमपि तिरस्कुर्वतः, भूषिणोऽलङ्कृतस्यास्य रूपं पश्यत-इत्यमृतकुल्येव सारवाङ् मनोहरा स्त्रीणां वाक् ससार प्रसृता । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ५७ ॥

अथ राजपथान् जनीजनः सविभूषोऽरमभूषयद् घनः ।
सदनान्मदनादनात्मको वरमागत्य निरीक्षितुं सकः ॥ ५८ ॥

अथेति । अथ विभूषाभिः सहितः सविभूषः सालङ्कारः घनो विपुलः, मदनमात्मा यस्य स प्रमोदसम्भृतः, सको जनीजनः प्रमदासमूहः, वरं जयकुमारं निरीक्षितुं सदनाद्वासगृहाद् आगत्य, राजपथान् नृपमार्गानभूषयदलञ्चकार । प्रमदाजनस्य कौतुकप्रियत्वाद्वरयात्राव-लोकनं स्वभावः । अतएवात्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

दृशि चैणमदः कपोलकेऽञ्जनकं हारलतावलग्नके ।
रशना तु गलेऽबलास्विति रयसम्बोधकरी परिस्थितिः ॥ ५९ ॥

अर्थ : सुलोचनाके गुणोंसे आकृष्टकी तरह पृथ्वीको देखनेवाले और धीरे-धीरे जाते हुए रोमाञ्चित अङ्गोंवाले महाराज जयकुमारको किसने भली-भाँति नहीं देखा ? ॥ ५६ ॥

अन्वय : अयि द्रुतम् एत सुषमाभिः सुधांशुदूषिणः भूषिणः अमुष्य रूपं पश्यत इति अमृतकुल्या इव सारवाक् ससार ।

अर्थ : अरे ! जल्दी आइये, अपने सौन्दर्यसे चन्द्रको तिरस्कृत करनेवाले अलंकृत इसके रूपको देखिये, इस प्रकार अमृतकी नहरकी तरह मनोहर वाणी चारों तरफ फैल गयी ॥ ५७ ॥

अन्वय : अथ सविभूषः घनः मदनात् अनात्मकः सकः जनीजनः वरं निरीक्षितुं सदनात् आगत्य राजपथान् अभूषयत् ।

अर्थ : अनन्तर, बहुत बड़ा तथा कामवशीभूत, अलंकृत स्त्रियोंके उस समूहने वरको देखनेके लिए वासगृहोंसे निकलकर राजमार्गको व्याप्त कर लिया ॥ ५८ ॥

अन्वय : अबलासु इति रयसम्बोधकरी परिस्थितिः (अभूत्) । (काचित्) दृशि

इत्थीति। अबलासु कामिनीषु तदेत्येवं रयसम्बोधककरी शीघ्र्यस्यावबोधकारिणी परिस्थितिरभूदजायत। तदेवाह—काचिद् युवतिरैणमदं ललाटापेक्षया दृशि न्यक्षिपदिति शेषः। अपरा, अञ्जनकं नेत्रापेक्षया कपोलके दधार। काचिद् हारलतां कण्ठापेक्षयाऽवलग्नके कटिभागे बबन्ध। अपरा रशनां कट्यपेक्षया गलेऽक्षिपदित्येवंभूताऽव्यवस्थाऽभूदित्याशयः॥ ५९॥

अयने जनसंकुले रयादुपयान्त्याः कथमप्यहन्तया।
सहसा दयितोपसङ्गतात् परिपुष्टं वपुराह विघ्नताम्॥ ६०॥

अयन इति। जनैर्मानवैः संकुले व्याप्तेऽयने पथि रयाद्वेगात् कथमप्यहन्तया हठादुपयान्त्या व्रजन्त्या नायिकायाः सहसाऽकस्माद् दयितस्योपसंगतं सम्मेलनं तस्मात्परिपुष्टं रोमोद्गमेनोच्छ्वसितं वपुः शरीरमेव विघ्नतां पुरोगमनप्रत्यूहतामाह; अग्रे गन्तुमशक्तमभूदित्यर्थः॥ ६०॥

निषिषेच पृथुस्तनी स्तनन्धयमुत्तार्य समागता पुनः।
वलभीतलमेव भूयसा पयसा संस्रवता स्फुरद्यशाः॥ ६१॥

निषिषेचेति। काचित् स्फुरद्यशा विकसिततारुण्यकीर्तिः पृथुस्तनी विशालकुचा तरुणी स्तनन्धयं शिशुमुत्तार्य पुनः समागता संस्रवता प्रच्यवता भूयसाऽतिशयेन पयसा दुग्धेन वलभीतलमेव निषिषेचासिञ्चत्॥ ६१॥

एणमदः, (अपरा) कपोलके अञ्जनकम्, (अन्या) अवलग्नके हारलता, (अन्या च) गले रशना (अक्षिपत्)।

अर्थ : उस समय स्त्रियोंमें शीघ्रता, (हड़बड़) प्रकट करनेवाली यह स्थिति पैदा हो गयी कि किसीने आँखोंमें कस्तूरी लगा ली, दूसरीने कपोलोंपर अञ्जन पोत लिया, किसीने कमरमें हार धारण कर लिया तो किसीने गलेमें करधनी पहन ली॥ ५९॥

अन्वय : जनसंकुले अयने रयात् कथमपि अहन्तया उपयान्त्याः सहसा दयितोपसङ्गतात् परिपुष्टं वपुः विघ्नताम् आह।

अर्थ : लोगोंसे संकीर्ण मार्गपर वेगसे बड़ी कठिनाईसे हठात् जाती किसी स्त्रीका शरीर अपने प्रियसे लगकर रोमांचयुक्त हो गया, जिससे स्वयं ही गमनमें विघ्न उत्पन्न हो गया॥ ६०॥

अन्वय : स्फुरद्यशाः पृथुस्तनी स्तनन्धयम् उत्तार्य पुनः समागता संस्रवता भूयसा पयसा वलभीतलमेव निषिषेच।

अर्थ : विपुल स्तनवाली किसी नवयुवतीने स्तन्यपान करनेवाले बच्चेको

उरसः स्फुरणेन सम्मदात् स्तनकाभ्यां स्खलितेंऽशुके तदा।
मृदुमङ्गलकुम्भसम्मतिमतनोत् तत्क्षणमागता सती ॥ ६२ ॥

उरस इति । सम्मदात् हर्षवशादुरसो वक्षःस्थलस्य स्फुरणेन स्पन्दनेन तदा स्तनकाभ्यामंशुके वस्त्रे स्खलिते प्रच्युते सति तत्क्षणमागता कापि सती स्त्री मृद्वोर्मङ्गलकुम्भयोः सम्मतिं स्मृतिमतनोदकरोत् ॥ ६२ ॥

मृदुमालुदलभ्रमान्मुखे दधति केलिकुशेशयं तु खे ।
वरवीक्षणदीक्षणेऽप्यदात् तदसूयाफलमस्य सद्रदा ॥ ६३ ॥

मृद्विति । कापि सद्रदा समीचीना रदा दन्ता यस्याः सा स्त्री वरस्य वीक्षणेऽवलोकने दीक्षणं यस्य तस्मिन् खेऽवकाशे तु पुनर्मृदुनो मालुदलस्य नागवल्लीपत्रस्य भ्रमात्सन्देह केलिकुशेशयं क्रीडाकमलं ताम्बूलमिदमिति बुद्ध्या मुखे दधती प्रक्षिप्तवती सती साऽस्य कमलस्य तस्मिन्मुखे याऽसूया स्पर्द्धा तस्या यत्फलं तददादृत्तवती, कमलं यन्मुखेन सह स्पर्द्धामवाप तत एव तयेदं चर्वितमिति ॥ ६३ ॥

परयोपपतिं समीक्ष्य तत्परिरम्भाभिगमोत्कया तयोः ।
समियद्वरसन्दिदृक्षया स्फुटमेकैकमदायि नेत्रयोः ॥ ६४ ॥

परयेति । परया कयाचित् स्त्रियोपपतिमकस्मादागतं स्वकीयं जारं सम्मा पुरस्थितमवलोक्य तस्य परिरम्भः समालिङ्गनं तस्याभिगमे सम्प्राप्तावुत्काऽभिलाषा यया सा तया तथैव समियतः समागच्छतो वरस्य विवृक्षा द्रष्टुमिच्छा यस्यास्तया समवेवी

गोदसे उतारकर फिर लौटती हुई, झरनेवाले अपने अत्यधिक दुग्धसे छज्जे कह सींच दिया ॥ ६१ ॥

अन्वय : तदा सम्मदात् उरसः स्फुरणेन स्तनकाभ्याम् अंशुके स्खलिते तत्क्षणम् आगता (कापि) सती मृदुमङ्गलकुम्भसम्मतिम् अतनोत् ।

अर्थ : उस समय हर्षसे हृदयके फड़कनेके कारण जिसके स्तनोंसे वस्त्र खिसक गये, इस तरह आयी हुई किसी स्त्रीको देख दो मंगलकलशका स्मरण ही आया ॥ ६२ ॥

अन्वय : सद्रदा (काचित्) वरवीक्षणदीक्षणे खे तु मृदुमालुदलभ्रमात् केलिकुशेशयम् मुखे दधती अस्य तदसूयाफलम् अदात् ।

अर्थ : सुन्दर दाँतोवाली किसी स्त्रीने वर देखनेके समय क्रीडाकमलको ताम्बूलके भ्रमसे मुखमें डाल उसकी ईर्ष्याका फल दे दिया ॥ ६३ ॥

अन्वय : परया उपपतिम् समीक्ष्य तत्परिरम्भाभिगमोत्कया (तथा) समियद्वरसन्दिदृक्षया तयोः नेत्रयोः स्फुटम् एकैकम् अदायि ।

नेत्रयोर्मध्यात् स्फुटं स्पष्टमेवैकमेकमित्येकैकमवायि वत्तम् । एकं वर-वीक्षणेऽपरं जारेक्षणे चेति ॥ ६४ ॥

वरसान्नयने तु तन्निभे नवतंसोत्पलके पुनः शुभे ।
भवतां सुदृशां विचित्यणमिति नो शुश्रुवतुः श्रुतीक्षणम् ॥ ६५ ॥

वरसादिति । नयने नेत्रे तु तावद्वरसादुद्भूलंभदर्शनपरायसेऽभूतां तथैव कश्चिदेतेऽवतंसोत्पलके नाम कर्णभूषणे तन्निभे नेत्रतुल्याकारे शुभे सुन्दरलक्षणे ते च पुनर्वरसादेव न भवेतामिति चिवश्चेतसो यत्पणं मूल्यं विगतं चित्पणं यथा स्यात्तथा तद्बुद्ध्यधीनतामाश्रित्य क्षणं किञ्चित्कालं श्रुती श्रवणावपि सुदृशां सुलोचनानां नो शुश्रुवतुरिति ॥ ६५ ॥

त्वरितार्पितयावशादयोरभियान्त्या द्वितयेन पादयोः ।
रचितानि पदानि रामयाथतदातिथ्यकृतेऽभिरामया ॥ ६६ ॥

त्वरितेति । त्वरितमेव तत्कालमेवार्पितो यो यावशावो लाक्षाकर्दमो यत्र तयोः पादयोश्चरणयोर्द्वितयेन, अभियान्त्या गच्छन्त्याऽभिरामया मनोहरया रामया तदातिथ्यकृते तस्य समागच्छतो वरस्यातिथ्यं तस्य कृते पदानि तावद् रचितानि । अथेति शुभसंवादकरणे ॥ ६६ ॥

असमाप्तविभूषणं सतीरघ्रिभित्तिस्खलदम्बरं यतीः ।
पटहप्रतिनादसंवशा खलु हर्म्यावलिरुज्जहास सा ॥ ६७ ॥

अर्थ : किसी दूसरी स्त्रीने अपने उपपतिको देखकर उसके साथ आलिंगनादिकी उत्कण्ठासे तथा आ रहे वरको देखनेकी इच्छामें एक-एक नेत्रको एक-एक तरफ लगाया ॥ ६४ ॥

अन्वय : नयने तु वरसात् नवतंसोत्पलके तन्निभे शुभे च पुनः (वरसात् न) भवताम् इति विचित्पणम् (आश्रित्य) क्षणम् श्रुती सुदृशाम् नो शुश्रुवतुः ।

अर्थ : स्त्रियोंके दोनों नेत्र तो वरके देखनेमें ही तल्लीन हो गये, ऐसा सोचकर नेत्रोंके सदृश सुन्दर दोनों कर्णफूलोंने 'कहीं हम भी वरकी तरफ न आकृष्ट हो जायें, इस भयसे स्त्रियोंके फेरमें न पड़कर क्षणभरके लिए दोनों कानोंका भी सेवन नहीं किया । अर्थात् वे दोनों वरकी बात सुननेमें लग गये ॥ ६५ ॥

अन्वय : अथ त्वरितार्पितयावशादयोः पादयोः द्वितयेन अभियान्त्या अभिरामया रामया तदातिथ्यकृते पदानि रचितानि ।

अर्थ : ताजे यावक (महावर)को दोनों पैरोंमें लगाकर जाती हुई किसी सुन्दर स्त्रीने वरके अतिथि सत्कारमें मानो पैरोंका चित्र बना दिया ॥ ६६ ॥

असमाप्तेति । हर्म्याणामावलिः पङ्क्तिः, पटहस्य यः प्रतिनादः प्रतिध्वनिस्तस्य संवशा तदधीना सम्भवन्ती न समाप्तानि विभूषणानि यत्र तद्यथा स्यात्तथा, अतएव च स्खलन्ति सम्पतन्त्यम्बराणि यत्र तद्यथा स्यात्तथा, अधिभित्ति भित्तिमधिकृत्य यतीर्गच्छन्तीः सतीरुज्जहास हसितवती । उत्प्रेक्षा ध्वन्यते ॥ ६७ ॥

अभिवाञ्छितमग्रतो रयादभिवीक्ष्याशयसूचनाशया ।
निदधावधरेऽथ तर्जनीं वररूपस्मयिनीव सा जनी ॥ ६८ ॥

अभिवाञ्छितमिति । अग्रतोऽभिवाञ्छितं प्रियजनं रयाद्वेगादेवाभिवीक्ष्य, अथ पुनर्वरस्य रूपं सौन्दर्यं तेन तदवलोकनेनेत्यर्थः । स्मयिनी विस्मयमाना सा जनी स्त्री आशयस्य, अधरपानरूपाभिप्रायस्य या सूचना तस्या आशया वाञ्छयाऽधरे स्वकीयेऽधरोष्ठे तर्जनीमङ्गुलिं निदधौ न्यधात् ॥ ६८ ॥

गुणगौरसुवर्णसूत्रकं कलयन्ती करतो नरं तकम् ।
नयनान्तशरेण सा पृषत्परकोदण्डधराऽपराऽस्पृशत् ॥ ६९ ॥

गुणगौरेति । अपरा काचित्स्त्री करतः स्वकीयेन पाणिना गुणैर्गौरं पवित्रं यत्सुवर्णस्य सूत्रकं काञ्चीतिनामकं कटिभूषणं कलयन्ती दधती सती पृषति बाणे परं परायणं कोदण्डं धनुर्धरन्तीति स्त्री पृषत्परकोदण्डधरा भूत्वेव खलु सा नयनान्तशरेण कटाक्षबाणेनास्पृशत् । तमेव तकमभिवाञ्छितं नरं तावत्, धनुर्ज्यास्थानीयाऽत्र काञ्ची जाता ॥ ६९ ॥

अन्वय : सा हर्म्यावलिः पटहप्रतिनादसंवशा असमाप्तविभूषणम् (अतएव) स्खलदम्बरम् अधिभित्ति यतीः सतीः उज्जहास ।

अर्थ : प्रासादोंकी वह पंक्ति नगाड़ोंकी प्रतिध्वनिके वश हो, अधूरे ही आभूषणको धारण कर वस्त्रोंके गिर जानेसे नग्नवत् प्रतीत होनेवाली तथा विभक्तिका आश्रय कर जानेवाली स्त्रियोंकी मानों हँसी उड़ा रही थी ॥ ६७ ॥

अन्वय : अग्रतः अभिवाञ्छितम् रयात् अभिवीक्ष्य अथ वररूपस्मयिनीव सा जनी आशयसूचनाशया अधरे तर्जनीम् निदधौ ।

अर्थ : आगे आये हुए प्रियजनको सहसा देखकर फिर मानो वररूपसे आश्चर्य-चकित हुई-सी किसी स्त्रीने हार्दिक इच्छा सूचित करनेकी आशासे अधरोष्ठ पर तर्जनी अंगुलि रख दी ॥ ६८ ॥

अन्वय : परा करतः गुणगौरसुवर्णसूत्रकम् कलयन्ती पृषत्परकोदण्डधरा सा नयनान्तशरेण तकम् नरम् अस्पृशत् ।

अर्थ : किसी दूसरी स्त्रीने गुणोंसे गौरवर्ण वाली स्वर्णिमकाञ्ची (करधनी) धारण कर, धनुष पर बाण रखनेवाली-सी होकर मानो नेत्रके कोण रूपी बाणसे उस प्रियजनका स्पर्श किया ॥ ६९ ॥

श्वशुरालयवर्तिनो निजे पतितां दृग्भ्रमरीं मुखाम्बुजे ।
अवरोद्धुमिवावगुण्ठतः सुदृगाच्छादयदप्यकुण्ठतः ॥ ७० ॥

श्वशुरेति । शोभने दृशौ लोचने यस्याः सा सुदृक् कापि स्त्री श्वशुरालयवर्तिनो वल्लभपक्षीयस्य दृगेव भ्रमरी दृग्भ्रमरी तां निजे मुखाम्बुजे वक्त्रपङ्कजे पतितां निबद्धां तामकुण्ठतोऽनल्पपरिणामभृतोऽवगुण्ठतो वस्त्राच्छादनतोऽवरोद्धुमिवाच्छादयत् । वरपक्षीयपुरुषावलोकने सति मुखाच्छादननाम स्त्रीणामाचारः । तत्रैवमुत्प्रेक्ष्यते । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ७० ॥

प्रतिदेशमशेषवेशिनः स्वयमप्युज्ज्वलसन्निवेशिनः ।
प्रवरस्य वरस्य वीक्षणात् पुरनार्यः स्म भणन्त्यतः क्षणात् ॥ ७१ ॥

प्रतिवेशमिति । प्रतिदेशमशेषः समाप्तिं गतो यो वेशः शृङ्गारस्तद्वतः स्वयं स्वभावेनाप्युज्ज्वलो निर्मलो यः सन्निवेशस्तद्वतश्चैवं प्रवरस्य विचक्षणस्य वरस्य तस्य जयकुमारस्य वीक्षणादवलोकनाद् अतोऽनन्तरं पुरनार्यः पुरन्ध्र्यः क्षणात्तत्कालादेवं भणन्ति स्म आहुः ॥ ७१ ॥

सुदृशो भुवि वृत्तसत्तमैर्नृपवृत्तैः कविवृत्तकैः समैः ।
जगतां त्रितयस्य सत्कृतं चितमूहेऽमुकमालिके सितम् ॥ ७२ ॥

सुदृश इति । हे आलिके, सखि, पृथिव्यां सुदृशः सुलोचनाया वृत्तान्याचरणानि, एव सत्तमानि प्रशंसनीयानि तैरेवं च नृपस्य अकम्पनस्य वृत्तेश्चेष्टितैस्तथा च कवेर्यशोगायकस्य वृत्तैरेव वृत्तकैश्छन्दोभिः समैर्मनोहरैर्यज्जगतां त्रितयस्य सत्कृतं पुण्यजातं सर्वमेवामुकं पवित्रमिति चितं संगृहीतमेवाहमूहे ॥ ७२ ॥

अन्वय : सुदृक् (काऽपि) श्वसुरालयवर्तिनीम् दृग्भ्रमरीम् निजे मुखाम्बुजे पतिताम् अकुण्ठतः अवगुण्ठतः अवरोद्धुम् इव आच्छादयत् ।

अर्थ : सुन्दर नेत्रोंवाली किसी स्त्रीने वर देखनेकी अभिलाषा की, इसी बीच ससुरालके किसी पुरुषने उसकी ओर देखा तो उसने अपना घूँघट आगे कर लिया, मानों उसकी दृष्टिने भौरोंको दबा रखनेके लिए ही ऐसा किया ॥ ७० ॥

अन्वय : प्रतिदेशम् अशेषवेशिनः स्वयमपि उज्ज्वलसन्निवेशिनः प्रवरस्य वरस्य वीक्षणात् अतः पुरनार्यः क्षणात् भणन्ति स्म ।

अर्थ : प्रत्येक अंगोंमें आभूषणोंसे अलंकृत, स्वयं भी स्वच्छ शरीरवाले योग्य वरके देखनेसे नगरकी स्त्रियाँ आपसमें इस प्रकार बातचीत करने लगीं ॥ ७१ ॥

अन्वय : हे आलिके ! भुवि सुदृशः वृत्तसत्तमैः नृपवृत्तैः कविवृत्तकैः समैः जगताम् त्रितयस्य सत्कृतम् अमुकम् सितम् चित्तम् ऊहे ।

सुमनस्सु मनोहरंस्तरामिह मानुष्यकमेव देवराट् ।
परमोऽपरमोहिविग्रहादयते कौतुकतोऽप्यनुग्रहात् ।। ७३ ।।

सुमनस्स्विति । देवराट् सुमनस्सु, देवेषु सज्जनेषु च मनोहरं मानुष्यकमयते तराम् । योऽपरमोहित्रिग्रहात् परमः कौतुकतो विनोदादनुग्रहाच्च ।। ७३ ।।

परमङ्गमनङ्ग एति तत्सुदृशा योगवशादसावितः ।
भुवि नान्वभिधातुमीश्वरः खलु रूपं परमीदृशं नरः ।। ७४ ।।

परमिति । यद्वा, हे सखि, असावितो वर्तमानो महानुभावः सुदृशा सह योगवशात् सम्बन्धात् परं केवलमनङ्गोऽङ्गवर्जितः काम एवाङ्गं शरीरमेतदीयमेति । अयं साक्षाद नङ्ग एवेति भावः । यतः कारणात् कोऽपि नरो भुवि पृथिव्यामीदृशं रूपमन्वभिधातुं वर्णयितुं धर्तुं वा ईश्वरः समर्थो नास्तीति ।। ७४ ।।

सखि चैनमतीत्य सुन्दरं जगदाह्लादकरं कलाधरम् ।
स्पृहयालुरहो कुमुद्वती स्वयमर्काय भवेत् कुतः सती ।। ७५ ।।

सखीति । हे सखि, जगतामाह्लादकरं प्रसादविधायकं कलाधरं बुद्धिमन्तमथवा सुन्दरं चन्द्रमसं विहाय सा सती कुमुद्वती यद्वा पृथ्वीमण्डलहर्षवती, अर्काय नाम कटुस्वभावाय परस्मै पुरुषाय सूर्याय कुतः स्वयं स्पृहयालुर्वाञ्छावती भवेदिति विस्मयः ।। ७५ ।।

अर्थ : हे सखि ! पृथ्वीतल पर सुलोचनाके प्रशंसनीय आचरण, राजा अकम्पनके चरित्र तथा कवियोंके गुणगानसे त्रिलोकका पुण्य इस वरके व्याजसे एकत्रित हो गया, ऐसी मैं कल्पना करती हूँ ।। ७२ ।।

अन्वय : इह परमः देवराट् एव कौतुकतः अपि अनुग्रहात् परमोहिविग्रहात् सुमनःसु मनोहरम् मानुष्यकम् अयतेतराम् ।

अर्थ : देवश्रेष्ठ इन्द्र ही कौतुकवश होकर मनुष्यका रूप धारण किये हैं, क्योंकि यह रूप अद्वितीय है ।। ७३ ।।

अन्वय : असौ इः सुदृशा सह योगवशात् अनङ्ग एव तदङ्गम् एति । भुवि नर. खलु ईदृशम् रूपम् विधातुम् ईश्वरः न (अस्ति) ।

अर्थ : अथवा हे सखि ! ये महानुभाव सुलोचनाके साथ सम्बन्धकी कामनासे कामदेव ही मानो उसके अंगोंको प्राप्त कर रहे हैं, भूतलपर इस प्रकारके रूपको बनानेमें मनुष्य समर्थ नहीं है ।। ७४ ।।

अन्वय : हे सखि ! जगताम् आह्लादकरम् सुन्दरम् एनम् कलाधरम् अतीत्य सती कुमुद्वती अर्काय कुतः स्वयम् स्पृहयालुः भवेत् (इति) अहो ।

अर्थ : (दूसरी स्त्री बोली—) हे सखि, संसारको आनन्द-प्रदान करनेवाले

प्रथमं परिभूष्य काशिकामियमेतस्य सतो हृदाशिका ।
पृथुपुण्यविधेरुपासिकाऽस्ति यतः श्रीश्च यदङ्घ्रिदासिका ॥ ७६ ॥

प्रथममिति । इयं सुलोचना प्रथमं काशिकां परिभूष्य, स्वजन्मनालङ्कृत्य पुनरधु-नैतस्य सतो जयकुमारस्य हृद आशिकाऽस्ति, या पृथुपुण्यविधेः परमधर्मानुष्ठानस्योपासि-काऽऽराधयित्री वर्तते । यतः कारणाच्छ्रीर्लक्ष्मीः स्वयं यस्या अङ्घ्र्योश्चरणयोर्दासिका सेवमाना दासीव भवतीति शेषः ॥ ७६ ॥

घटकं तु विधिं तयोः सतोरनुजानामि वरं विचारिणाम् ।
जडमित्यनुजानतां वचः शुचि तावद्धरणौ विरागिणाम् ॥ ७७ ॥

घटकमिति । हे सखि, सतोः सुन्दरयोः तयोः सुलोचनाजयकुमारयोर्घटकं निर्मापकं विधिं विधातारं विचारिणां मनस्विनां मध्ये सर्वश्रेष्ठमनुजानामि, तं पुनर्जडमनुजानतां विरागिणामार्हतानां वचः कथनं यद्भवति तद्धरणौ शुचि पवित्रमेवास्ति । अयं भावः :— प्राणिनां शुभाशुभविधिविधायकमदृष्टं तत्पौद्गलिकं निर्जीवमेव वस्तु भवतीति जैनसिद्धान्तः । किन्त्वीदृशोर्योग्यस्वभावयोः प्राणिनोः संयोजकमदृष्टं चैतन्यमेव प्रतिभाति, इति नश्चित्तम् इति परमताश्रितामाशङ्कामनुवदाह ॥ ७७ ॥

अथ सोमजवाहिनीत्यतः खलु पद्मालयमालिनी ततः ।
अनयोर्मिलनं श्रियं श्रयज्जनतासिद्धवरं न्यभावयत् ॥ ७८ ॥

सुन्दर इस चन्द्रमाको छोड़कर सती कुमुदिनी सूर्यके लिये कैसे इच्छा कर सकती है। (अथवा चन्द्र सदृश सुन्दर इस राजाको छोड़, सुलोचना दूसरे राजाको कैसे वरण कर सकती है ?) ॥ ७५ ॥

अन्वय : इयम् प्रथमम् काशिकाम् परिभूष्य एतस्य सतः हृदाशिका (अस्ति) । पृथुपुण्यविधेः उपासिका अस्ति, यतः श्रीः यदङ्घ्रिदासिका ।

अर्थ : इस सुलोचनाने सर्वप्रथम काशीको अपने जन्मसे अलंकृत किया, फिर इस जयकुमारके हृदयकी आशा बन बैठी, क्योंकि यह श्रेष्ठ धर्मका उपासना करने वाली है। इसीलिए लक्ष्मी भी इसके चरणोंकी सेवा करती है ॥ ७६ ॥

अन्वय : सतोः तयोः घटकम् विधिम् विचारिणाम् (मध्ये) वरम् अनुजानामि जडम् इति अनुजानताम् विरागिणाम् वचः तावत् धरणौ शुचि ।

अर्थ : सुन्दर उन दोनों (सुलोचना व जयकुमार)को बनानेवाले विधाता-को बुद्धिमानोंके बीच में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। 'विधाता जड़ है' ऐसा कहनेवाले विरागियोंका वचन तो पृथ्वीपर पवित्र ही है ॥ ७७ ॥

अन्वय : अथ खलु सोमजवाहिनी ततः पद्मालयमालिनी अनयोः मिलनम् श्रियम्

अथेति । अथानन्तरं वलित्वतः सोमजस्य जयकुमारस्य वाहिनी सेना, वरयात्रा वा ततः पद्मायाः आलयः पद्मालयो राजभवनं तस्य माला, प्रसङ्गप्राप्ता जनपङ्क्तिः साऽस्यास्तीति पद्मालयमालिनी सुलोचनाप्रासादलोकसमुदायश्रेणीत्यर्थः । अनयोरुभयोर्मिलनं सम्मेलनं तस्य श्रीः शोभा तां श्रयन्ती सेवमाना या जनता मानवसमूहः स तदा सिद्धः ख्यातश्चासौ वरः प्रकृष्टसौन्दर्यशाली यो जयकुमारस्तं व्यभावयत् विशिष्टरूपेण भावयाञ्चकार ॥ ७८ ॥

किमनन्य इवाश्विनीसुतः स्विदनङ्गोल्लसदङ्गवानुत ।
नहि किन्नर एष विन्नरो भवतां येन सतामिहादरः ॥ ७९ ॥

किमनन्य इति । तं वरमवलोक्य लोकास्तर्कयन्ति—किम् एष वरोऽनन्योऽद्वितीयोऽश्विनीसुतोऽश्विनीकुमार इवास्ति, स्वित् अथवा, उल्लसदङ्गमस्यास्तीत्युल्लसदङ्गवान्, मनोज्ञशरीरधारी, अनङ्गः कामो विद्यते, उतेव किन्नरः कुत्सी पुरुषः किन्नरो गन्धर्वोऽस्ति एव किन्नरोऽपि न यतो विन्नरोऽयं यतश्च सतां भवतामिहादरः । सन्देहालङ्कारः ॥ ७९ ॥

मखभस्मधृताङ्गलाञ्छनः पतिरार्ये किमु यज्वनां स न ।
मुखमस्य समञ्चितुं सतः प्रभवेदाशु सुवृत्ततां गतः ॥ ८० ॥

मखेति । हे आर्ये, मखस्य यज्ञस्य भस्मना विभूत्या धृतं समुद्भासितमङ्गस्य लाञ्छनं येन स यज्वनां पतिश्चन्द्रमा आशु शीघ्रमेव सुवृत्ततां शोभनवर्तुलाकारत्वमेव सदाचारवत्तां गतोऽङ्गीकारकः सन्नस्य सतः प्रशस्तस्य मुखमाननं समञ्चितुं किमु न प्रभवेदपि तु प्रभवेदिति यतोऽयमपि सुवृत्तो यागविभूतिभूषितशिराश्चेति ॥ ८० ॥

श्रयज्जनतासिद्धवरम् व्यभावयत् ।

अर्थ : पश्चात्, एक ओर जयकुमारकी सेना तो दूसरी ओर सुलोचनाके प्रासादोंके जनसमूहका आपसमें मिलना लोगोंको सिद्धवर ऐसा प्रतीत हुआ ॥ ७८ ॥

अन्वय : किम् एष अनन्यः अश्विनीसुतः इव (अस्ति) स्वित् लसदङ्गवान् अनङ्गः, उत (एष) विन्नरः किन्नरः नहि येन भवताम् सताम् इह आदरः ।

अर्थ : क्या यह एकाकी अश्विनीकुमारकी तरह है, अथवा सुन्दर अंगोंवाला कामदेव है, यह विद्वान् है इसलिए किन्नर नहीं हैं, क्योंकि सज्जन आप लोगोंका इसमें आदरभाव है ॥ ७९ ॥

अन्वय : आर्ये ! मखभस्मधृताङ्गलाञ्छनः यज्वनाम् पतिः सः आशु सुवृत्तताम् गतः (अपि) अस्य सतः मुखम् समञ्चितुम् किमु न प्रभवेत् ?

अर्थ : हे आर्ये ! यज्ञकी भस्मसे अंगोंमें लांछन (धूम) धारण करनेवाला,

समुपात्तमुदश्रुभिः पुनर्दृशि मुक्ताफलता किमस्तु न ।
इममङ्ग जगत्त्रयोदरेऽमृतरूपं परिपीय सोदरे ॥ ८१ ॥

समुपात्तेति । अङ्ग सोदरे भगिनि, इमममृतं निर्दोषं रूपं स्वरूपं यस्य तं, यद्वाऽमृतस्य पीयूषस्य रूपमिव रूपं यस्य तं परिपीय समाकलय्यास्मिन् जगत्त्रयस्योदरे गर्भे पुनः सम्यगुपात्तैः स्वीकृतैर्मुदः प्रमोदस्याश्रुभिर्दृशि चक्षुषि मुक्ताफलता, मुक्ता परित्यक्ताऽफलता निरर्थकता यद्वा मुक्ताफलता मौक्तिकरूपा किन्नास्तु, अस्त्वेव तावत् ॥ ८१ ॥

सद्भिराशासितः प्राप भूमिभृद्भवनं पुनः ।
एधयन्मोदपाथोधिं स राजा विशदांशुकः ॥ ८२ ॥

सद्भिरिति । पुनरनन्तरं स राजा वरराजश्चन्द्रमा वा विशदान्यंशुकानि वस्त्राणि यस्य सः, पक्षे विशदा अंशुकाः किरणा यस्य स विशदांशुकः सद्भिः सभ्यैः पक्षे नक्षत्रैराशासितः परिवारितः मोदस्य हर्षस्य पाथोधिं समुद्रमेधयन् वर्धयन् समुद्वेलयन्नित्यर्थः भूमिभृतो राज्ञोऽकम्पनस्य, पक्षे, उदयगिरेर्भवनं स्थानं प्राप । श्लेषानुप्राणितोपमालङ्कारः ॥ ८२ ॥

स वरोऽभीष्टसिद्ध्यर्थं समाचक्राम तोरणम् ।
तत्त्वार्थाभिमुखो ज्ञानी यथा दृङ्मोहकर्म तत् ॥ ८३ ॥

यज्ञपति चन्द्रमा शीघ्र ही सुन्दर गोलाई (चरित्रवत्ता)को प्राप्त होकर भी क्या इस जयकुमारके मुखकी तुलना नहीं प्राप्त कर सकता ? ॥ ८० ॥

अन्वय : अङ्ग सोदरे ! इमं अमृतरूपम् परिपीय जगत्त्रयोदरे पुनः समुपात्तमुदश्रुभिः दृशि मुक्ताफलता किम् न अस्तु ?

अर्थ : हे बहन ! अमृततुल्य इस जयकुमारको आँखोंसे देख तीनों लोकोंके मध्य हर्षकी अश्रुओंसे नेत्रमें मुक्ताफलता (सफलता अथवा मुक्तायुक्तता) क्यों न हो ॥ ८१ ॥

अन्वय : पुनः सः राजा विशदांशुकः सद्भिः आशासितः मोदपाथोधिम् एधयन् भूमिभृद्भवनम् प्राप ।

अर्थ : फिर राजा जयकुमार, स्वच्छ वस्त्रवाले, सभ्यों सहित हर्षरूपी समुद्रको बढ़ाते हुए महाराज अकम्पनके महलको प्राप्त हुए—जैसे कि चन्द्रमा, स्वच्छ किरणों वाला हो, नक्षत्रोंसे वेष्टित, समुद्रको उद्वेलित करता हुआ उदयाचल पर आता है ॥ ८२ ॥

अन्वय : सः वरः अभीष्टसिद्ध्यर्थम् तोरणम् समाचक्राम । यथा तत्त्वार्थाभिमुखः ज्ञानी तत् दृङ्मोहकर्म (समाक्रामति) ।

स वर इति। स वरो जयकुमारोऽभीष्टस्य या सिद्धिर्निष्पत्तिस्तदर्थम्, पक्षेऽभीष्टा या सिद्धिर्निर्वृतिस्तदर्थं तोरणं प्रधानद्वारं समाचक्रामोल्ललङ्घे। यथा तत्त्वार्थस्याभिमुखो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरार्हतो महाशयः स तत्[illegible] दृङ्मोहकर्मातत्त्वश्रद्धानाख्यं समाक्रमति ॥ ८३ ॥

सम्यग्दृगञ्चितस्तावद्राजद्वारं समेत्य सः ।
प्रापच्चरणचारित्वं सिद्धिमिच्छन्निजोचिताम् ॥ ८४ ॥

सम्यगिति। सम्यग्दृशाञ्चितस्तावत्तदानीं राजद्वारं प्रधानतोरणं, यद्वा, राजंश्चासौ वारः समयस्तं शुभलग्नसमयं समेत्य प्राप्य सः निजोचितामात्मानुरूपां, सिद्धिं कार्यनिष्पत्तिं, संसारबन्धमोक्षरूपाञ्चेच्छन् वाञ्छन् सन् चरणाभ्यां पादाभ्यां चरतीति पादचारी चरणचारी यद्वा, आचरणं चारित्रमिन्द्रियनिरोधादिलक्षणं चरतीति चरणचारी तस्य भावं प्रापत् प्राप ॥ ८४ ॥

बन्धुभिर्बहुधाऽऽदृत्य मृदुमङ्गलमण्डपम् ।
उपनीतः पुनर्भव्यो गुरुस्थानमिवालिभिः ॥ ८५ ॥

बन्धुभिरिति। पुनर्भव्यो मनोहरः स बन्धुभिः कन्याबान्धवैरालिभिः सखीभिरिव बहुधा नानाप्रकारेणादृत्य सत्कृत्य, मृदु कोमलं यन्मङ्गलमण्डपं विवाहस्थानं तद् गुरुस्थानं मञ्चाद्यलङ्कृतमुन्नतस्थानमुपनीत. ॥ ८५ ॥

अर्थ : वर जयकुमारने विवाहकी सिद्धिके लिए प्रधान द्वारपर उस प्रकार चढाई कर दी जैसे तत्त्वार्थके अभिमुख ज्ञानवान् अभीष्ट सिद्धिके लिए दर्शनमोह कर्मपर आक्रमण करता है। ८३ ॥

अन्वय : सम्यग्दृशाञ्चितः स तावत् राजद्वारम् समेत्य निजोचिताम् सिद्धिम् इच्छन् चरणचारित्वम् प्रापत् ।

अर्थ : सम्यग्द्रष्टा (सम्यग्दर्शनसे युक्त) वह जयकुमार महाराज अकम्पनके मुख्यद्वारको प्राप्त कर अपने योग्य कार्यसिद्धिके पानेकी इच्छासे चरणचारिताको प्राप्त हुआ। अर्थात् सिद्धि (मुक्ति)के पक्षमें चारित्रका धारक हुआ और प्रकृतमें चरणचारिता—पैदल गमन करने लगा ॥ ८४ ॥

अन्वय : पुनः भव्यः बहुभिः आलिभिः इव बहुधा आदृत्य मृदुमङ्गलमण्डपम् गुरुस्थानम् उपनीतः ।

अर्थ : पुनः वह मनोहर जयकुमार बहुतसे कन्याबान्धवों द्वारा नानाप्रकारसे सम्मानित हो मृदुल विवाह मण्डपमें उच्च स्थानपर लाये गये—जैसे कन्या अपनी सखियों द्वारा विवाह मण्डपमें लायी जाती है ॥ ८५ ॥

विशालं शिखरप्रोतवसुसञ्चयशोचिषाम् ।
निचयैस्तु सुनाशीर-व्योमयानं जहास यत् ॥ ८६ ॥

विशालमिति । यद्विशालमसंकटं मण्डपं शिखरेषु शृङ्गेषु प्रोतानामङ्कितानां वसूनां रत्नानां पद्मरागवैडूर्यादीनां सञ्चयस्य शोचिषां कान्तीनां सञ्चये राशिभिः समुज्ज्वलाकारतया सुनाशीरस्येन्द्रस्य व्योमयानं विमानमपि जहास । इन्द्रयानादपि तन्मण्डपं रमणीयतरमासीदित्याशयः । भङ्ग्यन्तरेण प्रोक्तत्वात् पर्यायोक्तमलङ्कारः ॥ ८६ ॥

वाहिनीव यतो रेजे सुगन्धिनलिनान्तरा ।
ऊर्मिकाङ्कितसन्तानां मत्तवारणराजिका ॥ ८७ ॥

वाहिनीति । यत्र स्थितानां मत्तवारणानां वन्दनमालिकानां राजिका परम्परा सुगन्धीनि नलिनानि अन्तरे यस्याः सा यन्मध्यभागे कमलानि निचितान्येवं भूताभिरूर्मिकाभिः शाखाप्रशाखाभिः, पक्षे लहरीभिरङ्कितः सन्तानो विस्तारो यस्याः सा वाहिनीव नदीसदृशी रेजे शुशुभे ॥ ८७ ॥

हीरवीरचिताः स्तम्भा अदम्भास्तत्र मण्डपे ।
बभुः कन्दा इवामन्दाः पुण्यपादपसम्भवाः ॥ ८८ ॥

हीरेति । तत्र मण्डपे हीरेषु वज्रकेषु ये वीराः प्रधानास्तैश्चिता व्याप्ता ये अदम्भा विशालाः स्तम्भास्ते पुण्यमेव पादपः पुण्यपादपस्तस्मात्सम्भवन्तीति पुण्यपादपसम्भवाः सुकृततरूत्पन्नाः अमन्दाः प्रकाशमानाः कन्दा मूलाङ्कुरा इव बभुः । उपमालङ्कारः ॥ ८८ ॥

अन्वय : यत् विशालम् शिखरप्रोतवसुसञ्चयशोचिषाम् निचयैः सुनाशीर-व्योमयानम् जहास ।

अर्थ : जो मण्डप अत्यन्त विशाल था तथा ऊपर भागमें जड़े हुए रत्नोंकी राशिकी कान्तिके समूहसे इन्द्रके विमानकी हँसी उड़ा रहा था ॥ ८६ ॥

अन्वय : यतः मत्तवारणराजिका सुगन्धिनलिनान्तरा ऊर्मिकाङ्कितसन्ताना वाहिनी इव रेजे ।

अर्थ : जहाँ पर वन्दनवारोंकी पंक्ति जिनके बीचमें सुगन्धित कमल थे। तथा शाखा-प्रशाखाओंसे जो विस्तृत थीं वे नदीकी तरह सुशोभित हो रही थीं। नदीमें भी बीचमें कमल होते हैं तथा लहरें उठती हैं ॥ ८७ ॥

अन्वय : तत्र मण्डपे हीरवीरचिताः अदम्भाः स्तम्भाः पुण्यपादपसम्भवाः अमन्दाः कन्दा इव बभुः ।

अर्थ : उस मण्डपमें हीरेसे बने हुए विशाल खम्भे, पुण्यरूपी वृक्ष से उत्पन्न चमकने वाले अङ्कुरकी तरह प्रतीत होते थे ॥ ८८ ॥

अर्कसंस्कृतकुड्येषु संक्रान्तप्रतिमा नराः ।
विलोक्यन्ते स्फुटं यत्र चित्राङ्का इव मञ्जुलाः ।। ८९ ।।

अर्केति । यत्र मण्डपे, अर्केण संस्कृतानि यानि कुड्यानि तेषु भास्करभासितभित्तिषु सङ्क्रान्ताः प्रतिमा मूर्तिर्येषां ते प्रतिबिम्बितदेहा नरा मञ्जुला मनोहराश्चित्राङ्का इव स्फुटं विलोक्यन्ते ।। ८९ ।।

पद्मरागकृतारम्भं सदालिविदितस्थिति ।
यद् बिभर्ति स्थण्डिलञ्च ललाटे तिलकायितम् ।। ९० ।।

पद्मरागेति । यन्मण्डपं पद्मरागैरक्तमणिभिः कृत आरम्भो यस्य तत्, पुनः कीदृशं सतां सज्जनानामालिः पंङ्क्तिस्तया विदिता प्रसिद्धा स्थितिर्यस्मिंस्तत्, यद्वा, सतीभिरालीभिः सुलोचनासखीभिर्विदिता विज्ञाता स्थितिर्यस्य तत्, स्थण्डिलं मध्यस्तूपं ललाटे तिलकमिवाचरतीति तिलकायितं बिभर्ति धारयति ।। ९० ।।

प्रणयस्यैव बीजानि मौक्तिकानि विरेजिरे ।
चतुष्कपूरणे स्त्रीभिः प्रयुक्तानि यदङ्गणे ।। ९१ ।।

प्रणयस्येति । यदङ्गणे मण्डपस्थले स्त्रीभिः सौभाग्यवतीभिश्चतुष्कस्य पूरणे माङ्गलिके प्रयुक्तान्युपयुक्तानि मौक्तिकानि प्रणयस्यानुरागस्य बीजानीव विरेजिरे ।। ९१ ।।

बिम्बितानि तु नेत्राणि स्वच्छे यस्याङ्गणेऽधुना ।
प्रीत्यार्पितानि निस्वापैः पुष्पाणीव भृशं बभुः ।। ९२ ।।

अन्वय : यत्र अर्कसंस्कृतकुड्येषु सङ्क्रान्तप्रतिमाः नराः मञ्जुलाः चित्राङ्का इव स्फुटं विलोक्यन्ते ।

अर्थ : जिस मण्डपमें, सूर्यसे चमकने वाली दीवालोंमें प्रतिबिम्बित होने वाले मनुष्य मनोहर चित्रोंके समान स्पष्ट दिखाई पड़ते थे ।। ८९ ।।

अन्वय : यत् पद्मरागकृतारम्भम् सदालिविदितस्थिति स्थण्डिलम् ललाटे तिलकायितम् बिभर्ति ।

अर्थ : जो मण्डप, पद्मरागमणियोंसे विनिर्मित तथा सज्जनोंकी पंक्तिसे विज्ञात मध्यखम्भेको मस्तक पर तिलकके समान धारण करता था ।। ९० ।।

अन्वय : यदङ्गणे स्त्रीभिः चतुष्कपूरणे प्रयुक्तानि मौक्तिकानि प्रणयस्य बीजानि इव विरेजिरे ।

अर्थ : मण्डपस्थलमें स्त्रियों द्वारा चौक पूरनेमें प्रयुक्त मोतीके दाने प्रेमके बीजकी तरह सुशोभित होते थे ।। ९१ ।।

बिम्बितानीति । अधुना यस्य मण्डपस्य स्वच्छेऽङ्गणे पारदर्शकप्रस्तररचितेऽङ्गणे, बिम्बितानि लाञ्छितानि यानि समागतलोकानां नेत्राणि तानि निस्वापैर्देवलोकैः प्रीत्यार्पितानि पुष्पाणीव दत्तोपहारकुसुमानि यथा भृशं बभुः शुशुभिरे ॥ ९२ ॥

रम्भोचितोरुकस्तम्भा पयोधरघटोच्छ्रिता ।
गोमयोपहितास्या च वेदी नेदीयसी स्त्रियाः ॥ ९३ ॥

रम्भोचितेति । रम्भाभिः कदलीभिरुचिताः सम्पादिता उरुकाः सुदीर्घाः स्तम्भा यस्याः सा, पक्षे रम्भा नाम स्वर्वेश्या तस्या उचितौ सदृशावूरुकौ जङ्घास्तम्भौ यस्याः सा, पयोधरैर्जलपरिपूर्णैर्घटैः कुम्भैरुच्छ्रिता समुन्नता, पक्षे पयोधरावेव घटौ ताभ्यामुच्छ्रिता, गोमयेन धेनुशकृतोपहितमाच्छादितमास्यं मुखं यस्याः सा, पक्षे गौश्चन्द्रमास्तस्य मया लक्ष्म्या, उपहितमास्यं यस्याः सा, वेदी देवाधिकरणभूता परिष्कृता भूमिः स्त्रिया नेदीयसी पार्श्ववर्तिनी तुल्यस्वरूपेति यावद् बभूवेति शेषः । श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥ ९३ ॥

वेदीं मनोहरतमां समगान्नवीना-
मालोकितुं दृगमुकस्य मुदामधीना ।
तावद्विचारचतुरापि सुवाक् कपाटं
स्मोद्घाटयत्ययि पवित्रितचक्रवाट ॥ ९४ ॥

अन्वय : अधुना यस्य स्वच्छे अङ्गणे बिम्बितानि नेत्राणि निस्वापैः प्रीत्या अर्पितानि पुष्पाणि इव भृशम् बभुः ।

अर्थ : इस समय मण्डपके अत्यन्त निर्मल आँगनमेंमें प्रतिबिम्बित लोगोंके नेत्र, देवलोकसे प्रेमपूर्वक समर्पित पुष्पोंकी तरह अत्यधिक सुशोभित होते थे ॥ ९२ ॥

अन्वय : रम्भोचितोरुकस्तम्भा पयोधरघटोच्छ्रिता गोमयोपहितास्या वेदी स्त्रियाः नेदीयसी (बभूव)

अर्थ : कदलीके स्तम्भोंसे बनी हुई, जलपूर्ण कलशोंसे समुन्नत तथा गोबर-से मुख्य भागमें लिपी हुई वेदी स्त्रीके समान रूप वाली हो गई। क्योंकि स्त्री भी कदली स्तम्भ सदृश जंघे वाली, कलश सदृश स्तनोंसे युक्त तथा सुन्दर मुख वाली होती है ॥ ९३ ॥

अन्वय : अयि पवित्रितचक्रवाट ! अमुकस्य मुदाम् अधीना दृक् मनोहरतमाम् नवीनाम् वेदीम् आलोकितुम् समगात् तावत् विचारचतुरा सुवाक् अपि कपाटम् उद्घाटयति स्म ।

वेदीमिति । पवित्रितश्चक्रवाटः क्रियासमारम्भो येन तस्य सम्बोधनं हे पवित्रित-चक्रवाट, हे भगवन्, आरम्भे भगवन्नामस्मरणत्वात् किल हे प्रभो, अमुकस्य दुर्लभस्य मुदामानन्दसम्पदामधीना दृग्दृष्टिर्मनोहरतमां सर्वश्रेष्ठां नवीनां सद्यः सम्पन्नां तां वेदीमाराध्य भुवमालोकितुं द्रष्टुमगात्, तावत्तदानीमेव विचारे या चतुरा विचक्षणा भवति सा वाग्वाणी सापि पुनः कवाटं कस्यात्मनो वाटं कवाटं मुखमुद्घाटयति स्म ॥ ९४ ॥

विश्वम्भरस्य तव विश्वसनेन लोकः
संशर्म नर्म भुवि भर्म समेत्य शोकः ।
विघ्नश्च निघ्न इह भाति पुनर्विमोह:
क्वाहंकरो जिनदिनङ्कर संवरोह ॥ ९५ ॥

विश्वम्भरस्येति । हे जिनदिनङ्कर, जिनवररवे, हे संवरोह, संवराय पापावरोधाय, ऊहो वितर्को यस्य स तत्सम्बोधने, हे पापापहारक, विघ्नस्यान्तरायस्य निघ्नकर-संहारक, संकटहरण, हे विमोह मोहवर्जित, सर्वज्ञ, तव विश्वम्भरस्य, त्रिलोकनाथस्य विश्वसनेन, अयं लोको मादृशः पुनरिह भुवि पृथिव्यामशोकः शोकरहितः सन् संशर्म शान्तिसौख्यं, भर्म कनकलाभं तेन पुष्टिं नर्म विनोदवृत्तिं तुष्टिञ्च समेत्य प्राप्य तावदहंकर आश्चर्यकारकः क्व भाति ? न क्वचिदपीति भावः ॥ ९५ ॥

हे छिन्नमोह जनमोदनमोदनाय
तुभ्यं नमोऽशमनसंशमनोदमाय ।
निर्वृत्यपेक्षितनिर्वेदनवेदनाय
सूर्याय मे हृदरविन्दविनोदनाय ॥ ९६ ॥

अर्थ : हे भगवन् ! इस जयकुमारकी हर्षित दृष्टि जब अत्यधिक सुन्दर एवं नवीनतम वेदीकी तरफ पड़ी तो उसी समय विचार चतुर उसकी वाणीने भी मुख खोल दिया, अर्थात् वह बोल उठी ॥ ९४ ॥

अन्वय : (हे) जिनदिनङ्कर ! हे संवरोह । विश्वम्भरस्य तव विश्वसनेन लोकः पुनः इह भुवि अशोकः संशर्म भर्म नर्म च समेति अहङ्कारः क्व: विघ्नः च निघ्न भाति ।

अर्थ : हे जिन सूर्य ! हे पापापहारक !· संसारका पालन करने वाले आपके ऊपर विश्वास रखने वालेको पृथ्वी पर, सुख-शान्ति, सम्पत्ति, तथा आनन्द प्राप्त होता है एवं वह व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है फिर उसके पास अहंभाव कैसे रह सकता है ? विघ्न तो हमेशाके लिए नष्ट ही हो जाता है ॥ ९५ ॥

अन्वय : हे छिन्नमोह ! जनमोदन ! अशमनसंशमनोदमाय मोदनाय निर्वृत्यपेक्षित निर्वेदनवेदनाय मे हृदरविन्दविनोदनाय सूर्याय तुभ्यं नमः ।

हे छिन्नमोहेति । छिन्नः प्रणष्टो मोहो मुग्धभावो येषां ते तेषां मोदनं प्रहर्षणं येन स तत्सम्बोधने, तुभ्यं मोदनाय प्रसत्तिकर्त्रे नमोऽस्तु । अथवा छिन्नमोहजनमोद, देवबुद्धि-परिणामेन नः पूज्याय तुभ्यं नमः । न शमनमशमनं रोषस्तस्य शंसा प्रख्यापना यत्र तस्य मनसोऽवनं भक्षणं प्रणाशनं येन तस्मै तुभ्यं नमः । निर्वृत्या मुक्तिलक्ष्म्याऽपेक्षितं यन्नि-वेदनं प्रार्थनं तस्य वेदनं परिज्ञानं यस्य तस्मै तुभ्यं नमः । ये हृदेवारविन्दं मम चित्तकमलं तस्य विनोदनं विकासो येन तस्मै सूर्याय रविरूपाय नमः ॥ ९६ ॥

मातःस्तवस्तु पदयोस्तव मे स एष
यस्या अपाङ्गशरसंकलितो जिनेशः ।
प्राप्नोति तेऽत्र सुभगो वरदर्शनन्ना-
मय्यप्यहो विभवकृद्भव सुप्रसन्ना ॥ ९७ ॥

मातरिति । हे लक्ष्मि, हे मातस्तव चरणयोर्मे मम स एव स्तवः स्तुतिसंदेशस्तु पुन-रस्ति यस्या जगन्मातुरपाङ्गशरेण कटाक्षवाणेन संकलितः संगृहीतो जिनानामीशो-ऽर्हन्प्रभुः, किञ्च, यत्ते वरदर्शनं ना मनुष्यमात्रोऽपि, ईहते वाञ्छति, सा त्वं विभवकृत्सर्व-सम्पत्तिकर्त्री, मयि तव स्तावकेऽपि सुप्रसन्ना भव । इह भूतले, अहो इति समनु-रोधे ॥ ९७ ॥ ।

हे धर्मचक्र तव संस्तव एष पातु
पश्चाद् भुवि क्व परचक्रकथास्तु जातु ।
दुष्कर्मचक्रमपि यत्प्रलयं प्रयातु
सिद्धिः समृद्धिसहिता स्वयमेव भातु ॥ ९८ ॥

अर्थ : हे मोह-रहित ! लोकों को आनन्द प्रदान करने वाले प्रभो ! शांतिके शमनके लिए प्रेरक, स्वयं आनन्दस्वरूप, मुक्तिके लिए आवश्यक निवेदन के ज्ञाता, तथा मेरे हृत्कमलके विनोदहेतु सूर्यरूप आपको नमस्कार है ॥ ९६ ॥

अन्वय : हे मातः ! तव पदयोः मे सः एषः स्तवः तु यस्याः अपाङ्गशरसङ्कलितः जिनेशः यत् ते वरदर्शनम् ना अपि ईहते । मयि अपि सुप्रसन्ना विभवकृद् भव ।

अर्थ : हे माता ! तुम्हारे चरणमें मेरी वह यह स्तुति है जिसके अपाङ्गशर-से जिनेश भगवान् भी परवश हो जाते हैं, तुम्हारे सुन्दर दर्शनको मनुष्य भी चाहता है, आज मेरे पर भी प्रसन्न हो धन सम्पत्ति प्रदाता बनो ॥ ९७ ॥

अन्वय : (हे) धर्मचक्र ! एष तव संस्तवः पातु पश्चात् भुवि परचक्र-कथा जातु क्व अस्तु । यत् दुष्कर्मचक्रम् (तत्) अपि प्रलयम् प्रयातु, समृद्धिसहिता सिद्धिः स्वयम्

हे धर्मचक्रेति । हे धर्मचक्र, एव ते स्तवः सोऽस्मान् पातु रक्षतु । ततः पश्चादनन्तरमिह भुवि परचक्रस्य वैरिसमूहस्य कथा जातुचिदपि क्वास्तु, न क्वापीत्यर्थः । चेत्तव कृपा तवाऽस्य शरीरिणो न कोऽपि परो भवेदिति । यतो यद् दुष्कर्मणां दुरितानां चक्रं समुदायस्तदपि प्रलयं प्रयातु प्राप्नोतु, तव कृपया समृद्धया सहिता सिद्धिः सफलता च स्वयमेवानायासेनैव भातु शोभतामिति ॥ ९८ ॥

नित्यातपत्र, परमत्र तव प्रतिष्ठा
सत्यागमाश्रयभृतामसकौ सुनिष्ठा ।
छायां सुशीतलतलां भवतो घनिष्ठा-
मप्याश्रितस्य किमु तप्तिरिहास्त्वरिष्टात् ॥ ९९ ॥

नित्यातपत्रेति । हे नित्यातपत्र, छत्रत्रय, तवापि परमत्र भूतले प्रतिष्ठा पूजा वर्तते । सत्यागमाश्रयभृतां जैनानामसकौ सुनिष्ठा श्रद्धाऽस्तीति यावत् । भवतस्तव सुशीतलतलामतिशयशान्तिदायिनीं घनिष्ठां निबिडां छायामाश्रितस्य जनस्येह संसारेऽरिष्टादुपद्रवात् तप्तिः सन्तापः किमुतास्तु, न स्यादित्यर्थः ॥ ९९ ॥

हे शारदे सपदि संस्तवनं वदामः
सज्जाङ्गलाय जगतां तव वारि नाम ।
नैकान्तनिष्ठवचनाय तु सम्पदासि
धीर्नः पुनर्भवति तेऽपि पदान्तदासी ॥ १०० ॥

एव भातु ।

अर्थ : हे धर्मचक्र ! यह आपकी स्तुति रक्षा करे, फिर पृथ्वीपर शत्रुओंकी कथा भी कहाँ संभव है ? दुष्कर्मोंका समूह भी नष्ट हो जाय तथा समृद्धियुक्त सफलता बिना किसी श्रमके ही सुशोभित हो जावे ॥ ९८ ॥

अन्वय : (हे) नित्यातपत्र ! अत्र तव परम् प्रतिष्ठा (अस्ति) सत्यागमाश्रयभृताम् असकौ सुनिष्ठा (अस्ति) भवतः सुशीतलतलाम् घनिष्ठाम् छायाम् आश्रितस्य अपि इह अरिष्टात् तप्तिः किमु अस्तु ।

अर्थ : हे छत्रत्रय ! भूतल पर तुम्हारी बड़ी प्रतिष्ठा है सत्य, आगम का आश्रय लेने वाले जैनोंकी अच्छी निष्ठा है । तब आपकी सुशीतल एवं घनी छायाका आश्रय करने वाले व्यक्तिको संसारमें उपद्रवोंसे सन्ताप कैसे हो सकता है ॥ ९९ ॥

अन्वय : (हे) शारदे ! सपदि तव संस्तवनम् वदामः सज्जाङ्गलाय तव वारि नाम

हे शारद इति । हे शारदे, सरस्वति, अधुना वयं तव संस्तवनं स्तुतिप्रस्तावं वदामः कुर्म इत्यर्थः । तत्र तावत्सज्जं सर्वलक्षणसम्पन्नमङ्गं शरीरं लातीति तस्मै सज्जाङ्गलाय, सुलक्षणशरीरभृते जनाय, अथ च सत्प्रशस्तं आङ्गलं नाम निर्जलस्थानं यस्य तस्मै सज्जाङ्गलाय जनाय तव वारि नाम जलमित्यर्थकरं नाम वदामः । जगतां लोकानां मध्ये वारि नाम सरस्वत्याः प्रसिद्धमेव । एकस्मिन्नन्ते कस्मिंश्चिदपि स्थाने निष्ठा स्थितिर्नास्ति यस्य तन्नैकान्तनिष्ठं तादृशं वचनं यस्य तस्मै नैकान्तनिष्ठ-वचनाय स्थानभ्रष्टाय त्वं सम्यक्पदं स्थानं यस्यामितीदृशी, यद्वा, नैकान्ते स्याद्वादाख्ये वर्त्मनि निष्ठा श्रद्धा यस्यैतादृशं वचनं यस्य तस्मै सम्यक् पदं शब्दनियमनं यत्र सा सम्पदा किञ्च सम्पत्तिकर्त्री चासि सम्भवसि । अत एव पुनर्नोऽस्माकं धीर्बुद्धिस्ते पदयोश्च-रणयोरन्तस्य प्रान्तभागस्य दासी सेविका भवति ॥ १०० ॥

पूज्याङ्घ्रिभूमिति संस्तुवता जयेन
श्रीलोचनाप्रणयपुण्यपिपासितेन ।
पूतोत्सवोत्थितसुधारसमेव पातुं
बद्धोऽञ्जलिश्च शुचिचित्तभृता तदा तु ॥ १०१ ॥

पूज्याङ्घ्रीति । इत्युक्तप्रकारेण पूज्यानां श्रीमदर्हत्परमेश्वरादीनामङ्घ्रिभूमिं श्रीचरणस्थितिं संस्तुवता प्रार्थयता, शुचिचित्तभृता पवित्रहृदयभृता, श्रीलोचनाया अकम्पन-सुताया यत्प्रणयपुण्यं पाणिग्रहणलक्षणं तस्य पिपासितेनाभिलाषुकेन जयेन वरराजेन तदा तु तस्मिन् समये पूतात्पवित्रादुत्सवादुत्थितं सञ्जातं सुधारसमानन्ददायकं पातुमेव किलाञ्जलिः करयुगसंयोगो बद्धः समुपरचितोऽभूत् ॥ १०१ ॥

(वदामः) जगताम् नैकान्तनिष्ठवचनाय तु सम्पदा असि, पुनः नः धीः ते पदान्तदासी भवति ।

अर्थ : हे शारदे ! मैं शीघ्र ही तुम्हारी स्तुति करता हूँ । सुन्दर लक्षणोंसे युक्त शरीर धारण करने वाले जन के लिए तुम्हारा नाम जल ऐसा कहता हूँ । अनेकान्त वचनवादियोंको तुम सम्पदा प्रदान करने वाली हो फिर हमारी बुद्धि तुम्हारे चरणों की दासी हो रही है ॥ १०० ॥

अन्वय : इति पूज्याङ्घ्रिभूमिम् संस्तुवता शुचिचित्तभृता श्रीलोचनाप्रणयपुण्यपि-पासितेन तदा तु पूतोत्सवोत्थितसुधारसम् एव पातुम् अञ्जलिः बद्धः ।

अर्थ : इस प्रकार पूज्योंके श्रीचरणकी स्तुति करने वाले तथा पवित्र हृदय वाले, सुलोचनाके प्रणयपिपासु जयकुमारने उस समय पवित्र उत्सवसे उत्थित अमृतरसको मानो पीनेके ही लिए अञ्जलि बाँध ली ॥ १०१ ॥

सम्पूततामतति तां वरराजपादै-
स्तस्मिन् सदम्बरवितान इतः प्रसादैः ।
तत्कालकार्यपरदारतरङ्गचारः
शुद्धान्तसिन्धुरभवत्समुदीर्णसारः ॥ १०२ ॥

सम्पूततामिति । वरराजस्य श्रीजयकुमारस्य पादैश्चरणैर्हेतुभूतैः संपूतता पवित्रभावमतति गच्छति तस्मिन् समीचीनस्याम्बरस्य वस्त्रस्य विताने मण्डपदेशे तावदितोऽनन्तरं प्रसादैः प्रसत्तिभिस्तत्काले यानि कानिचित्कार्याणि तेषु परायणा ये दाराः स्त्रियस्तएवां त एव वा तरङ्गास्तरलरूपत्वात्तेषां चारः प्रचारो यत्र सः, समुदीर्णं उद्वेलभावं गतः सारोऽन्तर्भागो यस्य स शुद्धान्तोऽन्तःपुरमेव सिन्धुः समुद्रोऽभवत्, अन्तःपुराङ्गनासमूहे कार्यत्वरताभूदित्याशयः ॥ १०२ ॥

काचन स्मितसमन्वितवक्त्रतुल्यतामनुभवत् स्वयमत्र ।
लाजभाजनमदोऽप्युपयोक्त्री सम्बभौ तरुणिमोदयभोक्त्री । १०३ ॥

काचनेति । काचन स्त्री, अत्र प्रसङ्गे स्मितेनेषद्धास्येन समन्वितं यद्वक्त्रं मुखं तस्य तुल्यतामनुभवत् स्वयमनायासेनैव, अनुभवदङ्गीकुर्वददोऽनुकूलं लाजानां भ्रष्टधान्यानां भाजनं पात्रमुपयोक्त्री या तरुणिम्नो यौवनस्योदयस्तस्य भोक्त्री सम्बभौ ॥ १०३ ॥

शातकुम्भकृतकुम्भमनल्पदुग्धमुग्धकमुरोरुहकल्पम् ।
जानती तमपि चाञ्चलकेनाच्छादयत् स्वमुपपद्य निरेनाः ॥१०४॥

अन्वय : वरराजपादैः सम्पूतताम् अतति तस्मिन् सदम्बरविताने इतः प्रसादैः तत्कालकार्यपरदारतरङ्गचारः समुदीर्णसारः शुद्धान्तसिन्धुः अभवत् ।

अर्थ : श्रीजयकुमारके चरणोंसे पवित्रताको प्राप्त, सुन्दरवस्त्रों वाले मण्डपप्रान्तके हो जाने पर, इधर प्रसादोंसे तत्कालकार्यमें तल्लीन स्त्री रूपिणी तरङ्गोंका प्रसार, भीतरी भागमें उद्वेल्लित हुआ अन्तःपुर ही समुद्र जैसा प्रतीत होता था ॥ १०२ ॥

अन्वय : काचन अत्र स्मितसमन्वितवक्त्रतुल्यताम् स्वयम् अनुभवत् अदः लाजभाजनम् उपयोक्त्री तरुणिमोदयभोक्त्री सम्बभौ ।

अर्थ : कोई स्त्री इस प्रसङ्गमें स्मितयुक्त मुखकी बराबरी स्वयं ही करती हुई लाजाके पात्रका उपयोग करनेवाली यौवनारम्भका उपभोग करनेवाली तरुणिमाकी तरह सुशोभित हुई ॥ १०३ ॥

अन्वय : निरेनाः शातकुम्भकृतकुम्भम् अनल्पदुग्धमोहकम् स्वयम् उरोरुहकल्पम् जानती तम् अपि उपपद्य अञ्चलकेन आच्छादयत् ।

शातकुम्भेति । निरेना निर्गतमेनो यस्याः सा पापवर्जिता काचित्स्त्री शातकुम्भेन सुवर्णेन कृतं निर्मितं कुम्भमनल्पेन बहुतरेण दुग्धेन मुग्धं मनोमोहकमत एव स्वमात्मीय-मुरोरुहकल्पं स्तनमण्डलं जानती पश्यन्ती तमप्युपपद्य लब्ध्वाऽञ्चलकेन वस्त्रपल्लवेनाच्छा-दयत् ॥ १०४ ॥

कुक्षिरोपितकफोणितयाऽरं प्राप्य सा दधिशरावमुदारम् ।
गण्डमण्डलमतोलयदेवानेन पिच्छिलतमेन सुरेवा ॥ १०५ ॥

कुक्षीति । शोभना रतिरिवेति सा सुरेवा कापि स्त्री कुक्षौ रोपितः कफोणिर्यया तस्या भावस्तेनोदारं दधिशरावं प्राप्यारं शीघ्रमेव, अनेन पिच्छिलतमेन, अतिस्निग्धेन गण्डमण्डलमतोलयत् किल ॥ १०५ ॥

सर्पिरर्पितमुखप्रतिमानं सेन्दुकेन्दुदयितप्रणिधानम् ।
पाणिपद्म मृदु सद्म सुवेशाऽपूर्वमाप्य कुमुदे मुमुदे सा ॥ १०६ ॥

सर्पिरिति । सुवेशा शोभनवेशवती, अर्पितं मुखस्य प्रतिमानं प्रतिबिम्बं यत्र तत् सर्पिर्घृतामित्यनेन घृतस्य पात्रं तावदिन्दुकेन चन्द्रेण सहितः सेन्दुकः स चासाविन्दुः सेन्दुकेन्दुस्तस्य दयितः प्रियजनकः समुद्रस्तस्य प्रणिधानं विचारो यत्र तत् । चन्द्रस्थाने मुखप्रतिबिम्बं यत्र तत्, समुद्रस्थाने च सर्पिष्पात्रं तावत् । तत्र कुमुदे पृथ्वीप्रमोदाय, पाणिः स्वहस्त एव पद्मं कमलं तदेव मृदु सद्म स्थानं यस्य तदेवमपूर्वमद्यावध्यप्रश्च तमपि किलाप्यलब्ध्वा मुमुदे, मोदमवाप सा ॥ १०६ ॥

उद्धृता न कदली लसदूर्वा पाणिनैव खलु सम्प्रति दूर्वाः ।
किन्तु मङ्गलमुदञ्च पदेन गात्रतोऽपि चिदयं हृदये नः ॥ १०७ ॥

अर्थ : निष्पाप किसी स्त्रीने स्वर्णनिर्मित व दूधसे भरे हुए घड़ेको स्वयं ही अपने स्तनके सदृश समझकर उसे अपने अञ्चलसे ढक लिया ॥ १०४ ॥

अन्वय : सुरेवा सा कुक्षिरोपितकफोणितया उदारम् दधिशरावम् प्राप्य अरम् अनेन पिच्छिलतमेन गण्डमण्डलम् एव अतोलयत् ।

अर्थ : कोई सुन्दर स्त्री, कुक्षिमें कफोणि (केहुनाठ) को लगाकर, सुन्दर दधिके पात्रको प्राप्त करके शीघ्र ही इसके द्वारा अपने कपोलोंकी तुलना करने लगी ॥ १०५ ॥

अन्वय : सुवेशा अर्पितमुखप्रतिमानम् सर्पिः सेन्दुकेन्दुदयितप्रणिधानम् पाणिपद्म-मृदुसद्म, अपूर्वम् अपि आप्य मुमुदे ।

अर्थ : सुन्दर वेषवाली किसी स्त्रीने, जिसमें अपने मुखकी प्रतिमा दीख रही है ऐसे घृतपात्रको, चन्द्रसहित समुद्र की कल्पना कर और हस्तकमलरूपी गृहमें रखकर अपूर्व आनन्दको प्राप्त किया ॥ १०६ ॥

उद्धृतेति । कदलीव लसन्ती शोभमाना तावदूरुर्यस्याः सा तया रम्भोरुकया कयाचित्स्त्रिया सम्प्रति पाणिनैव केवलेन हस्तेनैव दूर्वा नोद्धृता, किन्त्वपितु मङ्गलस्य पाणिग्रहणस्य या मुत्तयाऽञ्चो रोमाञ्चस्तस्य पदेन व्याजेन गात्रतोऽपि शरीरेणाऽप्यखिलेनोद्धृता, इतीयं चिद्बुद्धिर्नोऽस्माकं हृदये वर्तत इति यावत् ॥ १०७ ॥

शार्करं तदपि काचिदिहाली प्रोद्धार मधुराधरपाली ।
पश्यताधरमिदं न मदीयमौष्ठमित्थमधुनोक्तवतीयम् ॥ १०८ ॥

शार्करमिति । मधुरा मनोहराऽधरपाली रदच्छदकला यस्याः सा काचिदाली सखीह प्रसङ्गे शर्कराया इदं शार्करं तत् पात्रं प्रोद्दधार यत्, हे लोका यूयं पश्यताधुनेदमेव तावधरं धरावर्जितमस्मद्धस्ते वर्तमानं तथैवाधरं गुणहीनं न तु मदीयमोष्ठमधरं पश्यतेत्थमियदुक्तवतीवेत्युत्प्रेक्ष्येत ॥ १०८ ॥

सञ्चकार समिधोऽप्यबला का संगुणौघगणनाय शलाकाः ।
ताः सुयज्ञसदसो ह्यविलम्बादङ्गुलीरिव निजा बहुलम्बा ॥ १०९ ॥

संचकारेति । काप्यबलाऽविलम्बाद्वेतोर्निजाः स्वकीया अङ्गुलीरिव बहुलम्बाः सुदीर्घास्ताः समिधो यज्ञार्थं चन्दनादीनां काष्ठखण्डाः सुयज्ञसदसः सत्यार्थयज्ञशालाया यः संगुणौघः पापध्वंसनलक्षणस्तस्य गणनाय परिसंख्यानाय शलाका हि किल सञ्चकार ॥ १०९ ॥

अन्वय : कदलीलसदूर्वा सम्प्रति पाणिनैव दूर्वाः न उद्धृताः किन्तु मङ्गलमुदञ्चपदेन गात्रतः अपि (उद्धृताः) इयम् चिद् नः हृदये वर्त्तते ।

अर्थ : कदलीस्तम्भके सदृश उरुवाली किसी स्त्रीने अपने हाथसे ही दूब (घास) नहीं उठायो, प्रत्युत विवाहके हर्षसे उत्पन्न रोमाञ्च होनेसे ही उठायी गयी, ऐसा मेरा अपना विचार है ॥ १०७ ॥

अन्वय : मधुराधरपाली काचित् आली इह शार्करम् प्रोद्दधार (इति) पश्यत्, अधुना इदम् अधरम्, मदीयम् ओष्ठम् न इति उक्तवती ।

अर्थ : मधुर ओष्ठवाली किसी स्त्रीने शक्करके पात्रको उठाया और मानो यह कहा कि "यह शक्कर पात्र ही गुणहीन है, मेरा अधरोष्ठ नहीं" ॥ १०८ ॥

अन्वय : कापि अबला अविलम्बात् ताः निजाः अङ्गुलीः इव बहुलम्बाः समिधः सुयज्ञसदसः संगुणौघगणनाय शलाकाः हि सञ्चकार ।

अर्थ : किसी स्त्रीने तत्काल ही अपनी अंगुलीकी तरह, बहुत लम्बी चन्दनादिकी लड़कियोंको सुन्दर यज्ञभवनके पापध्वसस्वरूप गुणोंको गिननेके लिए ही मानो शलाकाएं बनायी हैं ॥ १०९ ॥

तामृतिं द्रुतमनङ्गमयेऽस्तुं सम्बभूव सुसमग्रनये तु ।
श्रीपुरोहितवरस्य च देहीत्युक्तिमुक्तिरुदयद्विभवेही ॥ ११० ॥

तामृतिमिति । उदयमानो विभव आनन्दो यत्र तस्मिन् पक्षे उदयमानविभवो भवाभावश्च यत्र तस्मिन्, अनङ्गमये कामपुरुषार्थरूपे, पक्षे शरीराभावरूपे शोभनं समग्रं पदार्थसंग्रहो यस्मिन्, पक्षे, शोभनं समग्रमन्तः परिणामो यस्मिन्, संश्चासौ अग्रनयः सुसमग्रनयस्तस्मिन् श्रीपुरोहितवरस्य याजकस्य च देहि प्रयच्छेत्युक्तेः, पक्षे देही शरीरधारीत्येवमुक्तेर्वचनस्यापि मुक्तिः परित्यागो सम्बभूव, होति निश्चये । तामृतिममङ्गलवृत्तिमस्तु दूरीकर्तुवा रा 'ऋतिर्गतौ जुगुप्सायां स्पर्धायामप्यमङ्गले' इति विश्वः ॥ ११० ॥

स्रक्करीत्यनुचरी स्मरसाया ख्यातिजातिदरमादरदायाः ।
सूचिसूचितशिखां विनिखायाऽशोधयत्सु मनसां समुदायात् ॥ १११ ॥

स्रक्करीति । आदरं ददाति वृद्धेभ्यो या तस्या आदरदायाः सुलोचनायाः स्रक्करी मालाकारिणी, अनुचरी किङ्करी सा पुनः सूचिसूचितां शिखां सूच्याः सञ्जातमग्रभागं विनिखाय समारोप्य सुमनसां पुष्पाणां समुदायात् समूहात् तावत्स्मरस्य साया बाणा एत इत्याख्यातेः प्रसिद्धेर्जातिः प्रसूतिर्यस्य तद् दरं भयमेवाऽशोधयत् किल ॥ १११ ॥

प्रावृषेव सरसा वयस्यथा निर्ययौ घनघटासुदृक्तया ।
चातकेन च वरेण केकितापन्नजन्यमनुना प्रतीक्षिता ॥ ११२ ॥

प्रावृषेति । सरसा शृङ्गाररसवती, पक्षे सजला सुदृक् सुलोचनाघनघटा मेघमा-

---

अन्वय : उदयद्-विभवे हि अनङ्गमये सुसमग्रनये श्रीपुरोहितवरस्य देहि इति उक्ति-मुक्तिः सम्बभूव । ताम् ऋतिम् द्रुतम् अस्तुम् वा ।

अर्थ : जहाँ आनन्द उदित हो रहा है ऐसे काम पुरुषार्थरूप, अच्छी नीतियोंसे युक्त उस समयमें पुरोहितको (दो) इस प्रकारकी उक्तिका अभाव हो गया ? अथवा उस अमंगल वृत्तिको दूर करनेके लिए 'दो' इस उक्तिका अभाव हो गया ॥ ११० ॥

अन्वय : आदरदायाः स्रक्करी अनुचरी सुमनसाम् समुदायात् सूचिसूचितशिखाम् विनिखाय स्मरसायाख्यातिजातिदरम् इति अशोधयत् ।

अर्थ : सुलोचनाकी माला बनानेवाली दासीने फूलोंके समूहमें सूई वेधकर पार कर दिया, मानो वह कामदेवके बाणभूत उन फूलोंके भयको निकालकर दूर कर रही थी ॥ १११ ॥

अन्वय : प्रावृषा सह घनघटा इव तया वयस्यया सह सरसा सुदृक् निर्ययौ (या) केकितापन्नजन्यमनुना चातकेन च वरेण प्रतीक्षिता ।

लेव प्रावृषा वृष्ट्येव वयस्यया सख्या समं केकितया वह्नौ निरततया, पक्षे मयूररूपेणा-पन्ना प्राप्ता अन्या आनन्दसत्ता येन स चातौ मनुः प्रधानो यस्य तेन चातकेनेव वरेण प्रतीक्षिता निर्ययौ निर्जगाम ॥ ११२ ॥

कुसुमगुणितदाम निर्मलं सा
मधुकररावनिपूरितं सदंसा ।
गुणमिव धनुषः स्मरस्य हस्त-
कलितं संदधती तदा प्रशस्तम् ॥ ११३ ।

कुसुमेति । सा सदंसा शोभनस्कन्धवती सुलोचना मधुकराणामलीनां रावैः शब्दैर्निपूरितं निर्मलं सुन्दरं कुसुमैर्गुणितं प्रारब्धं यद्दाम माल्यं तदा तस्मिन् काले प्रशस्तं प्रशंसायोग्यं स्मरस्य कामदेवस्य धनुषो गुणं ज्यांशमिव हस्ते स्वकरे कलितं स्वीकृतं संदधती धृतवती सती ॥ ११३ ॥

तरलायतवर्तिरागता साऽभव-
दत्रस्मरदीपिका स्वभासा ।
अभिभूततमाः समा जनानां
किमिव स्नेहमिति स्वयं दधाना ॥ ११४ ॥

तरलेति । अत्र मण्डपदेशे तरला चञ्चला आयता च वर्तिर्नेत्रवृत्तिः पक्षे दशा यस्याः सा, वर्तिर्दशालोचनयोरित्यादिकोषात् । ततः स्वभासा देहदीप्त्याऽभिभूतं परास्तं तमो यया साऽभिभूततमा इत्यत एव समा शोभावती लक्ष्मी कर्त्री वा जनानां दर्शक-लोकानां, स्वयमपि किमिव स्नेहं प्रेम तैलादि च दधानाऽङ्गीकुर्वाणा स्मरस्य कामस्य दीपिकोद्दीपनकर्त्री साऽभवत् ॥ ११४ ॥

अर्थ : वर्षाकालके साथ घन-घटाकी तरह सखीके साथ मुस्कराती हुई सुलोचना आयी तथा चिर पिपासित चातकके समान उसे वर जयकुमारने देखा ॥ ११२ ॥

अन्वय : सदंसा सा मधुकररावनिपूरितम् निर्मलम् कुसुमगुणितदाम तदा प्रशस्तम् स्मरस्य धनुषः गुणम् इव हस्तकलितम् सन्दधती ।

अर्थ : सुन्दर कन्धे वाली सुलोचना भ्रमरोंके शब्दोंसे पूरित व स्वच्छ फूलोंकी मालाको कामदेवके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी तरह हाथमें लेकर सुशोभित हुई ॥ ११३ ॥

अन्वय : अत्र तरलायतनेत्रवर्तिः आगता स्वभासा अभिभूततमा (अतएव) समा जनानाम् स्वयम् किमिव स्नेहम् दधाना स्मरदीपिका अभवत् ।

दृक् तस्य चायात्स्मरदीपिकायां
समन्ततः सम्प्रति भासुरायाम् ।
द्रुतं पतङ्गावलिवत्तदङ्गा-
नुयोगिनी नूनमनङ्गसङ्गात् ॥ ११५ ॥

दृगिति । यस्य वरराजस्य दृक् चक्षुः सम्प्रति भासुरायां, स्मरस्य मदनस्य दीपिकायां प्रदीपरूपायां सुलोचनायामयादुपजगाम । साऽनङ्गसङ्गात्कामव्यतिकराद् द्रुतं पतङ्गावलिवच्छलभपंक्तिवत्तस्याः सुदृशोऽङ्गेनानुयोगोऽस्या अस्तीत्यनुयोगिनी तदङ्गसङ्गतं बभूवेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

अभवदपि परस्परप्रसादः पुनरुभयोरिह तोषपोषवादः ।
उषसि दिगनुरागिणीति पूर्वा रविरपि हृष्टवपुर्विदो विदुर्वा ॥ ११६ ॥

अभवदिति । पुनरिह पाणिग्रहणपूर्वक्षणेऽप्युभयोर्द्वयोर्वरवध्वोस्तोषस्सन्तोषलक्षणस्य पोषस्य च वादः सम्वादो यत्र स परस्परस्यान्योऽन्यस्य प्रसादो दृष्टिदानलक्षणः सोऽप्यभवत् । यथा, उषसि प्रातःकाले पूर्वा दिग् अनुरागिणी, रक्तवर्णा स्नेहयुक्ता वा भवति तथैव रविर्दिनकरोऽपि हृष्टवपुः प्रसन्नशरीरः स्यादित्येवं विदोविद्वांसो जना अस्माकं बुद्धयो वा विदुः ॥ ११६ ॥

अर्थ : चञ्चल एवं विशाल नेत्रों के व्यापार (लपलपाती लम्बी वर्तिका—बत्ती) से युक्त सुलोचना ज्यों ही मण्डपमें प्रवेश करती है त्यों ही उसने अपनी कान्तिसे वहाँके अन्धकारको दूर कर दिया—प्रकाश फैला दिया, अतएव सुषमा-सम्पन्न वह सुलोचना दर्शकोंके लिए स्वयं ही स्नेह (तेल) को धारण करती हुई, कामदेवकी दीपिका (उद्दीपन करनेवाली) सिद्ध हुई ॥ ११४ ॥

अन्वय : तस्य च दृक् सम्प्रति समन्ततः भासुरायाम् स्मरदीपिकायाम् अयात् अनङ्गसङ्गात् द्रुतम् पतङ्गावलिवत् तदङ्गानुयोगिनी नूनम् बभूव ।

अर्थ : जयकुमारकी दृष्टि भी इस समय चारों तरफ चमकने वाली, कामदेवकी दीपिका रूप सुलोचना पर पड़ी जो कि कामके साहचर्यके कारण शीघ्र ही पतङ्गोंके समूहकी तरह उसके अङ्गोंमें लिपट गई ॥ ११५ ॥

अन्वय : पुनः इह उभयोः तोषपोषवादः परस्परप्रसादः अपि अभवत् । उषसि पूर्वा दिक् अनुरागिणी रविः अपि हृष्टवपुः इति विदः विदुः ।

अर्थ : फिर दोनोंका सन्तोषप्रद वार्त्तालाप तथा आपसमें अवलोकन भी हुआ । जैसे प्रातः पूर्व दिशा लालवर्ण (प्रेमयुक्त) होती है वैसे ही सूर्य भी प्रसन्नशरीर वाला होता है ॥ ११६ ॥

नन्दीश्वरं सम्प्रति देवदेव पिकाङ्गना चूतकसूतमेव ।
वस्वौकसारार्कमिवात्र साक्षीकृत्याशु सन्तं मुमुदे मृगाक्षी ॥ ११७ ॥

नन्दीश्वरमिति । सम्प्रत्यधुना मृगाक्षी हरिणनयना सुलोचना, आशु सन्तं तं जयकुमारं साक्षीकृत्य समलोक्य मुमुदे जहर्ष । यथा नन्दीश्वरं नामाष्टमं द्वीपं दृष्ट्वा, चूतकस्याम्रवृक्षस्य सूतं प्रसूतं दृष्ट्वा पिकाङ्गना कोकिला, अर्कं सूर्यं दृष्ट्वा, वस्वौकसारा कमलिनी प्रसन्ना भवति । 'वस्वौकसारा श्रीदस्य नलिन्यामलकापुरि' इति विश्वलोचनः ॥ ११७ ॥

अध्यात्मविद्यामिव भव्यवृन्दः
सरोजराजिं मधुरां मिलिन्दः ।
प्रीत्या ययौ सोऽपि तकां सुगौर-
गात्रीं यथा चन्द्रकलां चकोरः ॥ ११८ ॥

अध्यात्मेति । सोऽपि जयकुमारोऽपि तामेव तकां सुगौरगात्रीं सुन्दराङ्गीं सुलोचनां प्रीत्या मुदा पपौ सादरमपिबत् । ददर्श इत्यर्थः । तदेवोदाहरति–यथा भव्यानां मुमुक्षूणां वृन्दः समूहोऽध्यात्मविद्यामात्मानुभवशास्त्रवृत्तमिव, मिलिन्दो भ्रमरः सरोजानां कमलानां मधुरां मनोहरां राजिमिव पङ्क्तिमिव यथा च चकोरश्चन्द्र[illegible] कलामिव तां ददर्श ॥ ११८ ॥

अन्वय : अत्र सम्प्रति मृगाक्षी आशु सन्तम् साक्षीकृत्य मुमुदे यथा नन्दीश्वरम् साक्षीकृत्य देवता, चूतकसूतम् साक्षीकृत्य पिकाङ्गना, अर्कम् वस्वौकसारा ।

अर्थ : यहाँ सुलोचना शीघ्र सज्जन जयकुमारको देकर उस प्रकार प्रसन्न हुई जैसे नन्दीश्वरको देखकर इन्द्र, आम्रमञ्जरी देख कोयल तथा सूर्यको देखकर कमलिनी प्रसन्न होती है ॥ ११७ ॥

अन्वय : भव्यवृन्दः अध्यात्मविद्याम् इव मिलिन्दः सरोजराजिम् इव चकोरः चन्द्रकलाम् यथा सः अपि तकाम् सुगौरगात्रीम् प्रीत्या पपौ ।

अर्थ : मुक्तिके इच्छुक भव्यजीवोंका समूह जैसे अध्यात्मविद्याको, भ्रमर जैसे कमल पंक्ति प्राप्त करके, तथा चकोर पक्षी जैसे चन्द्रमाकी कला पाकर प्रेमसे पीता है वैसे ही उस जयकुमारने भी उस सुन्दराङ्गी सुलोचनाको प्रेमसे पिया (अत्यधिक आदरपूर्वक देखा) ॥ ११८ ॥

कमलामुखीमयमात्मरश्मिभिः श्रीपरिफुल्लदेहां,
रसति स्मेयमिमं खलु रमणीधामनिधिं स्वाधारम् ।
ग्रहणग्रहणस्यादौ परमो भविनोरभिविश्रम्भं
भवतु कवीश्वरलोकाग्रहतो हावपरश्चारम्भः ॥ ११९ ॥

कमलेति । अयं जयकुमार् आत्मनः स्वस्य रश्मिभिरक्षिकिरणैः श्रिया लक्ष्म्या परिफुल्लदेहां सम्पुष्यत्कायां समलङ्कृतशरीरामित्यर्थः, कमलं पद्मं तद्वन्मुखं वदनं यस्याः सा, तां सुलोचनां, खलु निश्चयेन रसति स्म प्रीत्या पश्यति स्म । इयं रमणी सुलोचना धाम्नां तेजसां निधिमतितेजस्विनमिति यावत्, स्वाधारं स्वप्राणाधारम्, इमं अयं रसति स्म प्रेम्णावलोकयति स्म । भविनो भविष्यतो ग्रहण-ग्रहणस्य पाणिग्रहस्य, आदौ प्रारम्भे, अभिविश्रम्भं विश्वासपूर्वकं (जायमानः) हावपरः सविलासः, आरम्भः प्रारम्भः कवीश्वराणां कवीन्द्राणां लोकस्य वृन्दस्याऽऽग्रहतो वर्णनाग्रहवशात् परमः श्रेष्ठो भवतु ॥ ११९ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तस्योक्तिः प्रतिपर्वसद्रसमयीयं चेक्षुयष्टिर्यथा–
मुं सम्व्येति मनोहरं च दशमं सर्गोत्तमं संकथा ॥१२०॥

अन्वय : अयम् आत्मरश्मिभिः श्रीपरिफुल्ल देहाम् कमलमुखीम् रसतिस्म खलु । इयम् रमणी धामनिधिम् स्वाधारम् इमम् (रसतिस्म ग्रहण ग्रहणस्य आदौभविन अभि-विश्रम्भम् कवीश्वरलोकाग्रहतः परमः हावपरः आरम्भः भवतु ।

अर्थ : जयकुमारने अपनी आँखोंसे, अलङ्कारोंसे सुशोभित कमलमुखी सुलोचनाको देखा, और सुलोचनाने अत्यन्त तेजस्वी एवं अपने जीवनके आधारभूत जयकुमारको देखा । निकट भविष्यमें होनेवाले पाणिग्रहण संस्कार-के प्रारम्भमें उसका हाव-भाव भरा जो उपक्रम हो, वह उत्तम कवियोंकी आग्रहगर्भा लेखनीसे प्रसूत होकर चारुतर—अधिक सुन्दर बने ॥ ११९ ॥

इति श्रीवाणीभूषण-महाकवि-ब्रह्मचारि-भूरामलशास्त्रि-रचिते
जयोदयापरनामसुलोचनास्वयम्बरमहाकाव्ये
दशमः सर्गः समाप्तः

एकादशः सर्गः

रूपामृतस्रोतस एव कुल्यामिमामतुल्यामनुबन्धमूल्याम् ।
लब्ध्वाऽक्षिमीनद्वितयी नृपस्य सलालसा खेलति सा स्म तस्य ॥ १ ॥

रूपेत्यादि । नृपस्य जयकुमारस्याक्षिणी एव मीनौ तयोर्द्वितयी युग्मं, रूपमेवामृतं जलं पीयूषं वा तस्य स्रोतसः प्रवाहस्य कुल्यां कृत्रिमां नदीं, यद्वा, कुले सञ्जाता कुल्या सहोदरी ताम्, न विद्यते तुला यस्याः सा तामनन्यसदृशीम्, तथा, अनुबन्धः प्रणयस्तत्-परिणामश्च मूल्यं यस्याः सा ताम्, इमां सुलोचनां लब्ध्वा लालसया सहिता सलालसा सोत्कण्ठा खेलति स्म । श्लेषरूपकयोः सङ्करः ॥ १ ॥

प्रेम्णाऽऽस्यपीयूषमयूखवन्तं समुज्ज्वलं कौमुदमेधयन्तम् ।
पुरा तु राजीवदृशः किलोरीचकार राज्ञो दृगियं चकोरी ॥ २ ॥

प्रेम्णेत्यादि । राज्ञो जयस्य दृग्दृष्टिरेव चकोरी खञ्जनिका किल सा पुरा तु प्रथमं तु, प्रेम्णा-प्रीत्या, राजीव इव दृशौ यस्याः सा तस्याः सुलोचनाया आस्यं मुखमेव पीयूष-मयूखश्चन्द्रोऽस्यास्तीति तम्, समुज्ज्वलं सम्यक् प्रकाशयुक्तं •को पृथिव्यां मुदं हर्षं, पक्षे कुमुदानां समूहं कौमुदमेधयन्तं वर्धयन्तमुरीचकाराङ्गीकृतवती । श्लेषरूपकयोः सङ्करः ॥ २ ॥

विलोकनेनास्यनिशीथनेतुः समुल्वणे सद्रससागरे तु ।
द्रुतं पुनः सेति पदंवदोऽहमुच्चैःस्तनं पर्वतमारुरोह ॥ ३ ॥

अन्वय : तस्य नृपस्य सा अक्षिमीनद्वितयी रूपामृतस्रोतसः एव कुल्याम् अतुल्याम् अनुबन्धमूल्याम् इमां लब्ध्वा सलालसा (सती) खेलति स्म ।

अर्थ : जयकुमारके लोचनरूप मीनयुगल अनुपम रूपामृतवाहिनी प्रेमानु-बन्धिनी सुलोचनाको पाकर उसमें उत्कण्ठापूर्वक क्रीडा करने लगा ॥ १ ॥

अन्वय : राज्ञः इयं दृक् चकोरी पुरा तु प्रेम्णा राजीवदृशः समुज्ज्वलं कौमुदम् एध-यन्तम् आस्यपीयूषमयूखवन्तं किल उरीचकार ।

अर्थ : जयकुमारकी यह दृष्टिरूपी चकोरी सबसे पहले सुलोचनाके मुखरूपी चन्द्रमापर गयी; क्योंकि (दोनों—मुख और चन्द्रमामें एक विशेषता है कि) चन्द्रमा कुमुदवृन्दको प्रसन्न (विकसित) करता है और सुलोचनाका मुख पृथ्वी-पर प्रसन्नताका प्रसार करता है ॥ २ ॥

विलोकनेनेति । सा जयस्य दृष्टिः सुलोचनाया आस्यमेव निशीथनेता चन्द्रमास्त-स्यावलोकनेन कृत्वा सद्रसस्य शृङ्गारस्य सागरे समुल्वणे वृद्धिं गते सति, पुनरनन्तरं तस्या उच्चैःस्तनं पीनतमं पयोधरमेव पर्वतं, समुन्नतार्थे तनागमो वा, तमारुरोहेति, एवं वदामीति एवंवदोऽहं भवामि । चन्द्रोदये समुद्रवर्द्धनं स्वाभाविकम्, जलोद्वेलनायान्तु पुनरुच्चैः स्थानारोहणं जातिः । रूपकालङ्कारः ॥ ३ ॥

कालागुरोर्लेपनपङ्किलत्वाद् दृष्टिः स्खलन्तीव च स स्पृहत्वात् ।
उरोजसम्भूतिमगान्मुहुर्वा तनुं चरिष्णुः सदृशोऽप्यपूर्वाम् ॥ ४ ॥

कालागुरोरिति । सुदृशः सुलोचनाया अपूर्वामद्वितीयां तनुं देहं चरिष्णुः सञ्चरितुं विवृक्षुः सा जयकुमारस्य दृष्टिस्तस्या उरोजावन्यत्र गन्तुं यत्नवतीव च तत्र कालागुरोर्लेपनेन कृत्वा पङ्किलत्वात्कर्दमबाहुल्यात् स्खलन्ति सतीव किल सस्पृहत्वाद्धेतोर्मुहुर्मुहुरनेकवारमुरोजसम्भूतिमेवागात् । गमनशीलो जनः कर्दमे स्खलित्वा पूर्वमेव स्थानं यथाऽऽप्नोति तथा सापि मुहुरतृप्तत्वात्कुचस्थानमेवागात् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४ ॥

पुनश्च निःश्रेणिमिवैणशावदृशोऽवलम्ब्य त्रिवलिं यथावत् ।
सतृष्णया नाभिसरस्य वापि किलावतारः शनकैस्तयापि ॥ ५ ॥

पुनरित्यादि । पुनरनन्तरं तृष्णया सहिता तया सतृष्णया पिपासितया जयकुमार-दृशा, एणशावस्य दृशाविव दृशौ यस्यास्तस्यास्त्रिवलिं वलित्रयं निःश्रेणिमिवावतरणपद्धति-

---

अन्वय : आस्यनिशीथनेतुः विलोकनेन सद्रससागरे समुल्वणे तु सा पुनः द्रुतम् उच्चैस्तनं पर्वतम् आरुरोह —इति पदं वदः अहं (भवामि) ।

अर्थ : सुलोचनाके मुख-चन्द्रके अवलोकनसे ज्योंही शृङ्गार-रसके सागरमें ज्वार आया त्योंही वह (जयकुमारकी दृष्टि) शीघ्र ही समुन्नत स्तनरूपी पर्वत-पर जा पहुँची—ऐसा मैं कहता हूँ ॥ ३ ॥

अन्वय : सुदृशः अपूर्वां तनुं चरिष्णुः अपि कालागुरोः लेपनपङ्किलत्वात् स्खलन्ती इव च दृष्टिः सस्पृहत्वात् मुहुः उरोजसम्भूतिम् अगात् ।

अर्थ : जयकुमारकी दृष्टि सुलोचनाके अपूर्व—अत्यन्त सुन्दर शरीरपर सर्वत्र संचार करना चाह रही थी, परन्तु चन्दनके लेपने उसपर फिसलन उत्पन्न कर दी—इस कारणसे मानो लड़खड़ाती-सी वह (दृष्टि) स्पृहावश पुनः स्तनों पर पहुँच गयी ॥ ४ ॥

अन्वय : पुनः च एणशावदृशः त्रिवलिं निःश्रेणिम् इव यथावत् अवलम्ब्य सतृष्णया किल तया शनैः नाभिसरसि अवतारः अवापि ।

मिव यथावदवलम्ब्य शनकैर्नाभिसरसि तुण्डीरूप-जलाशयेऽवतारः समागममवापि किलेति सम्भावनायायाम् । स्तनाभ्यां पुनस्त्रिवलिमवलोकयन्तो नाभिमापरूपकोटरप्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ५ ॥

सुवर्णसूत्राभ्युपलम्भनेन समारुरोहाथ ततः सुखेन ।
तुङ्गं पुनः सा परिधाय कायमहार्यमार्यप्रकृतेः समायम् ॥ ६ ॥

सुवर्णेति । अथ पुनर्नाभ्युपभोगानन्तरं सा जयदृष्टिरार्या वर्णाश्रमरूपा प्रकृतिर्यस्यास्तस्या आर्यप्रकृतेः सुलोचनायाः सुवर्णसूत्रस्य काञ्चीदाम्नोऽभ्युपलम्भनेन सम्प्रापणेन कृत्वा परिधायो नितम्ब एव कायो यस्य तं, अहार्यं पर्वतं तुङ्गमत्युन्नतं, समः श्रेष्ठो यो विधिर्यस्य तम्, यद्वा, मायया सहितं समायं गोपनशीलमिति तम् । ततो नाभिस्थानात्सुखेनानायासेनैव समारुरोह । कूपादिगभीरस्थानाद्रज्ज्वाद्यवलम्बनेनैव निर्गच्छति लोकोऽपीति । 'परिधायो जलस्थाने नितम्बे च परिच्छेद' इति, 'अहार्यः पर्वते पुंसि' इति च विश्वलोचनः ॥ ६ ॥

कलत्रचक्रे गुरुवर्तुले दृक्, भ्रान्त्वा स्खलन्तीव परिश्रमस्पृक् ।
स्थिरा बभूवाथ किलोरुहेमस्तम्भन्तु धृत्वा स्वकरेण सेमम् ॥ ७ ॥

कलत्रेत्यादि । सा जयस्य दृक् दृष्टिर्गुरु च वर्तुलञ्च गुरुवर्तुलं तस्मिन् प्रशस्तगोलाकारे कलत्रमेव चक्रं तस्मिन् श्रोणिबिम्बे 'कलत्रं भूभुजां दुर्गस्थानेऽपि श्रोणिभार्ययोः' इति विश्वलोचनः । भ्रान्त्वा परिभ्रम्य, परिश्रमं स्पृशतीति परिश्रमस्पृक् परिश्रान्ता सती ततः

अर्थ : और फिर मृगलोचना–सुलोचनाकी त्रिवलीरूपी सीढीको मजबूतीसे पकड़कर जयकुमारकी उस सतृष्ण (प्यासी) दृष्टिने धीरेसे (सुलोचनाके) नाभिरूपी सरोवरमें अवतरण किया ॥ ५ ॥

अन्वय : अथ सा सुवर्णसूत्राभ्युपलम्भनेन ततः पुनः सुखेन आर्यप्रकृतेः परिधायकायं समायं तुङ्गम् अहार्यं समारुरोह ।

अर्थ : तत्पश्चात् जयकुमारकी वह दृष्टि सुलोचनाकी करधनीका सहारा मिल जानेसे उस नाभिरूप-सरोवरसे निकलकर सुखपूर्वक उत्तम स्वभाववाली सुलोचनाके नितम्बरूपी सुन्दर समुन्नत पर्वतपर आरूढ़ हो गयी ॥ ६ ॥

अन्वय : अथ सा दृक् गुरुवर्तुले कलत्रचक्रे भ्रान्त्वा परिश्रमस्पृक् स्खलन्ती इव किल स्वकरेण इमम् उरुहेमस्तम्भं धृत्वा तु स्थिरा बभूव ।

अर्थ : तत्पश्चात् जयकुमारकी वह दृष्टि सुलोचनाके श्रेष्ठ वर्तुलाकार (गोल) नितम्बरूपी चक्रपर घूमकर थकानका अनुभव करने लगी और नीचे

स्खलन्ती, ऊरुरेव हेमस्तम्भो जघनस्वर्णस्तम्भस्तं स्वकरेण किरणेनैव करेण हस्तेन धृत्वा तु पुनः खलु स्थिरा निश्चला बभूव । रूपकश्लेषयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

भृङ्गीवदृग्घस्तिपुराधिपस्यावगाह्य सद्गात्रलतां च तस्याः ।
प्रसन्नयोः पादसरोजयोः सा गत्वा स्थिराभूद्धुना सुतोषा ॥ ८ ॥

भृङ्गीवेति । हस्तिपुराधिपस्य जयकुमारस्य दृग्दृष्टिर्भृङ्गीव भ्रमरीव तस्याः सुलोचनाया गात्रस्य शरीरस्य लतां, यद्वा गात्रमेव लता तामवगाह्य तस्याः प्रसन्नयोः सुन्दरयोः, पादावेव सरोजे तयोर्गत्वा शोभनस्तोषः सुखभावो यस्याः सा तथाभूत्वाऽधुना स्थिराऽभूत् । रूपकालङ्कारः ॥ ८ ॥

समागतां वामपरम्परायाः पीत्वा स्रुतिं कोमलरूपकायाम् ।
तरङ्गभङ्गीतरलाभिनेतुर्जगाम जन्माथ च मानसे तु ॥ ९ ॥

समागतायामिति । वामा मनोहरा परम्परा यस्याः सा वामपरम्परा, यद्वा, वामस्य कामदेवस्य परम्परा यस्यां सा तस्याः कोमलं स्निग्धं च तद्रूपं तदेव कायो यस्यास्तां स्रुतिं सन्ततिं, यद्वा, कोमलं रूपं यस्यैवम्भूतः कायो यस्यास्तां स्रुतिं समागतां पीत्वाऽऽस्वाद्य दृष्ट्वा नेतुर्नायकस्य जयस्य मानसे हृदये तरला चपला, तरङ्गाणां विचाराणां भङ्गो छटा जन्म जगाम । किञ्च, वामस्य मेघस्य परम्पराया आगतां कोमलरूपो जलरूप एव कामो यस्या एवम्भूतां स्रुतिं प्रवाहरूपां पीत्वा संगृह्य मानसे नाम सरोवरे तरङ्गाणां भङ्गी जन्म जगामेति । तरला मनोहरा सा तरङ्गभङ्गी । अथ चेति प्रकरणारम्भे । तु निश्चये, प्रशंसायां वा । श्लेषालङ्कारः ॥ ९ ॥

गिरती-सी प्रतीत हुई, फलतः अपने कर (किरणरूपी हाथ) से सुलोचनाके जघनस्वरूप स्वर्णस्तम्भको पकड़ कर स्थिर हो गयी ॥ ७ ॥

अन्वय : हस्तिपुराधिपस्य सा दृक् भृङ्गी इव तस्याः सद्गात्रलताम् अवगाह्य प्रसन्नयोः पादसरोजयोः गत्वा च सुतोषा अधुना स्थिरा अभूत् ।

अर्थ : हस्तिनापुरके राजा जयकुमारकी वह दृष्टि भँवरीकी भाँति उस सुलोचनाकी सुन्दर कायारूपी लतामें अवगाहन कर और उसके प्रसन्न (विकसित) चरण-कमलोंमें जाकर सन्तुष्ट होती हुई तत्काल उन्हींमें स्थिर (लीन) हो गयी ॥ ८ ॥

अन्वय : अथ च वामपरम्परायाः समागतां कोमलरूपकायां स्रुतिं पीत्वा अभिनेतुः मानसे तु तरला तरङ्गभङ्गी जन्म जगाम ।

अर्थ : मनोहर परम्परावाली सुलोचनाकी सामने आयी रुचिर कायास्वरूप स्रुति (धारा) को पीकर (प्रेमपूर्वक देखकर) जयकुमारके मनमें नाना प्रकारके

सुवर्णमूर्ती रचितापि यावत्समेति सैषा निरवद्यभावम् ।
तेजस्तरैः सङ्कुणिता प्रदृश्या न सस्पृहं कस्य मनोऽत्र च स्यात् ॥ १० ॥

सुवर्णेत्यादि । सैषा सुलोचना नाम सुवर्णस्य हेम्नो मूर्तिरिव सुवर्णमूर्तिः शोभनरूपा रचिता सती तेजस्तरैर्यौवनरूपैर्वह्निलक्षणैर्वा सङ्गुणिता पूर्वापेक्षया गुणवत्तां नीता प्रदृश्या भवन्ती यावन्निरवद्यभावं समेति तावदत्र कस्य जनस्य मनः सस्पृहं साभिलाषं न स्यात् । सुवर्णघटिता मूर्तिर्वह्निसन्तापनेन स्पृहणीया स्यात्, असौ च यौवनारम्भादिति भावः ॥ १० ॥

नतभ्रुवो भोगभुजाऽभिभूतः समेत्यसौ श्रीवयसा निपूतः ।
अथोरगो गूढपदोऽपि सत्याः पयोधरत्वं युवतेर्भवत्याः ॥ ११ ॥

नतभ्रुव इत्यादि । अथ प्रकरणे योऽसावुरग उरसा गच्छति वक्षसा चलति स स्तनः सर्पश्च स गूढपदः, बाल्यकालतया गूढस्वरूपः, पक्षे त्वस्पष्टचरणः, स एव सत्या भवत्या नतभ्रुवः सुचारुनेत्राया भोगभुजा भोगा इन्द्रियविषया भुज्यन्ते यत्र तेन, पक्षे सर्पभक्षकेण श्रीवयसा यौवनेन 'पक्षे गरुडेन निपूतः सम्भावितो यतः खल्वभिभूतस्ततः पयोधरत्वं पीनस्तनभावं पक्षे गरपरिणतिं त्यक्त्वा दुग्धवद्गुणकारित्वं समेति ॥ ११ ॥

विचार उत्पन्न हुए । जैसे वर्षा ऋतुमें जलधाराओंको पाकर मानस सरोवरमें तरल तरङ्ग उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

अन्वय : सा एषा सुवर्णमूर्तिः रचिता अपि तेजस्तरैः संगुणिता प्रदृश्या यावत् निरवद्यभावं समेति (तावत्) च अत्र कस्य मनः सस्पृहं न स्यात् ।

अर्थ : वह सुलोचना यों तो पहलेसे रची हुई सुवर्ण मूर्ति हैं, पर यौवनके तीव्र तेजसे निखार पाकर पहलेसे भी कहीं अधिक सौन्दर्य पानेसे दर्शनीय होकर ज्योंही निर्दोष अवस्थामें पहुँची त्योंही इसके बारेमें ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जिसके मनमें स्पृहा न हुई हो । जैसे स्वर्णमूर्ति अग्निके सम्पर्कसे स्पृहणीय हो जाती है वैसे ही यह सुलोचना यौवनके प्रादुर्भावसे स्पृहणीय हो गयी ॥ १० ॥

अन्वय : अथ यः उरगः गूढपदः अपि सत्याः युवतेः भवत्याः नतभ्रुवः भोगभुजा श्रीवयसा अभिभूतः निपूतः असौ पयोधरत्वं समेति ।

अर्थ : इसके पश्चात् जयकुमारने अपने मनमें यह सोचा—कि सुलोचनाका जो स्तन उसके बाल्यकालके कारण गूढ़-अदृश्य रहा, तो भी वह सतीत्व, यौवन और दोनों ओरसे नीचेकी ओर झुकी हुई भौंहोंसे विभूषित उस (सुलोचना) के भोग भोगने योग्य यौवन (श्रीवयसा) से आक्रान्त एवं प्रभावित हुआ तो पयोधर—प्रौढ़ स्तनकी अवस्थाको प्राप्त हो गया । दूसरा अर्थ—सर्प जबतक

प्रजापतेर्यः शिशुभावमाप्तोऽस्याविग्रहात्स प्रथमोऽपि भावः ।
पलायते पुष्पशरस्य कर्मकरेण लब्धो वयसा यथावत् ॥ १२ ॥

प्रजापतेरित्यादि । योऽस्याः सुलोचनायाः प्रथमो भावः पर्यायः प्रजापतेः सृष्टि-सम्पादकाच्छिशुभावं बालरूपतामाप्तः स एव पुष्पशरस्य कर्मकरेण कामस्यादेशकारकेण वयसा यौवनेन लब्ध आक्रान्तः सन् विग्रहात् पलायते शरीरान्निर्गच्छति । तथा च राज्ञो ज्येष्ठपुत्रतां गतश्च कश्चित् कुसुमबाणवतोऽपि किङ्करेण लब्धः प्रतिकारितः सन् विग्रहाद् युद्धस्थलात् पलायते—इति यथावन्नः प्रतिभाति । बाल्यमतिक्रम्य यौवनमुपढौकते असाविति ॥ १२ ॥

पादैकदेशच्छविभाक् प्रसत्तिभृतः स्वतः पल्लवतां व्यनक्ति ।
समस्ति यः स्वयस्य तु वाच्यतातत्परः प्रवालोऽपि स चाभिजातः ॥१३॥

पादैकेत्यादि । यः प्रसत्तिभृतः प्रसादयुक्ताया अमुष्या पादस्यैकदेशां छविं शोभां बिभर्ति, एवं कृत्वा पल्लवतां पदोर्लव एकदेशः पल्लव इति तद्भावं व्यनक्ति प्रकटीकरोति किसलयः स स्वस्य वाच्यतातत्परः सार्थकतापरायणः प्रवालः कुपलाख्यो भूत्वाऽ-

---

छोटा रहता है तबतक उसके पैर सर्वथा गूढ़ रहते हैं, पर तरुण होने पर वे गूढ नहीं रहते । यदि वही तरुण सर्प, सर्पभोजी गरुड़ (श्रीवयसा) से आक्रान्त हो तो वह विषकी परिणतिको छोड़कर दूधकी भाँति गुणकारिताको प्राप्त हो जाता है । सर्प का भक्षण करके भी गरुड़ मरता नहीं है, प्रत्युत पुष्ट हो जाता है, जैसे दुग्ध पीनेवाला व्यक्ति पुष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

अन्वय : अस्याः यः प्रथमः अपि भावः प्रजापतेः शिशुभावम् आप्तः सः पुष्पशरस्य कर्मकरेण वयसा लब्धः विग्रहात् पलायते (इति) यथावत् (प्रतिभाति) ।

अर्थ : इस सुलोचनाकी जो पहली अवस्था विधातासे 'शैशव' संज्ञाको प्राप्त हुई थी वही कामदेवकी आज्ञापालक अवस्था (यौवन) से आक्रान्त होकर उस (सुलोचना) के शरीरसे भाग गयी—यह बात वास्तविक मालूम पड़ती है । आशय यह कि सुलोचनाका बाल्यकाल चला गया और उसके स्थानमें यौवन आ गया ।

ध्वन्यर्थ : राजाका ज्येष्ठ पुत्र भी यदि भीरु हो तो वह युद्ध क्षेत्रमें साधारण प्रतिपक्षी राजाके भी कर्मचारीसे आक्रान्त होकर वहाँसे भाग निकलता है । भीरु राजकुमारकी यह स्थिति भी यथावत्—वास्तविक है ॥ १२ ॥

अन्वय : यः प्रसत्तिभृतः पादैकदेशच्छविभाक् (सः) पल्लवतां व्यनक्ति, यः तु स्वस्य वाच्यतातत्परः स प्रवालः अपि अभिजातः समस्ति ।

प्यभिजातस्तत्कालभव एवात्मनिन्दापरायणतया बालिशोऽप्यभिजात उच्चकुलसम्पन्न एवातिप्रशस्तः ॥ १३ ॥

पादद्वयाग्रे नखलाभिधानोऽनुरञ्जितः सन्नधुना सुजानोः ।
विधेर्वशत्साधुदशत्वशंसः सोमः समस्त्वेष सतां वतंसः ॥ १४ ॥

पादद्वयेत्यादि । एष नखलाभिधानः खलो न भवतीत्यभिधावान् नखपर्यायोऽधुना सुजानोः शोभनजानुमत्याः पादद्वयाग्रेऽनुरञ्जितः सन् गुणानुरागी भवन्, किञ्च यथोचित-शोणितभावं व्रजन् विधेर्वशात् साधु शोभनञ्च यद्दशत्वं तच्छंसो नखानां दशात्मकत्वात्, तथा साधोः सज्जनस्य दशेव दशाऽवस्था यस्य तत्त्वं शंसतीत्येवमेष सतां नक्षत्राणां प्रशस्त-जनानां वा वतंसः शिरोमणिः सोम एव समस्तु इति सम्भावनाख्यानम् । श्लेषोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ १४ ॥

अर्थ : जो पल्लव (कोंपल) प्रसन्नचित्त सुलोचनाके चरणोंकी आंशिक छवि-को धारण करता है वह पल्लवता (अपने नामकी सार्थकता) को प्रकट करता है, (क्योंकि वह सुलोचनाके पद-चरणका लव—एक अंश है), किन्तु सद्योजात प्रवाल (मूँगा) छोटा (प्रवाल) होकर भी (सुलोचनाके चरणोंकी तुलनामें) अपनी निन्दा कर रहा है, अतः वह कुलीन है ।

विशेषार्थ : पल्लवका अर्थ कोंपल है और प्रवालका अर्थ मूँगा । ये दोनों (पल्लव और प्रवाल) चरणोंके उपमान हैं । कवि संसारमें यह प्रसिद्ध है । सुलोचनाके चरण अत्यधिक लाल है और कोमल भी । पल्लवमें आंशिक लालिमा और कोमलता है, अतः वह सुलोचनाके चरणोंके समक्ष उनका एक 'अंश' मात्र है, अतएव उसका 'पल्लव' नाम सार्थक है । तुरन्त उत्पन्न हुआ मूँगा लाल तो होता है पर कोमल नहीं होता—इस दृष्टिसे उसके चरणोंकी तुलनामें बच्चा (प्रबाल) है, पर वह स्वयं ही चरणोंके समक्ष आत्मनिन्दा करता है सो ठीक ही है; क्योंकि कुलीन (अभिजात) है ॥ १३ ॥

अन्वय : एषः नखलाभिधानः अधुना सुजानोः पादद्वयाग्रे अनुरञ्जितः सन् विधेः वशात् साधुदशत्वशंसः सतां वतंसः सोमः समस्तु ।

अर्थ : यह नख खल-दुर्जन नहीं है; क्योंकि इस समय सुलोचनाके, जिसके जानु अत्यन्त सुन्दर है, चरणोंके अगले भागमें अनुरक्त (माहुरसे रंगा हुआ, अथ च गुणोंमें आसक्त) है; तथा भाग्यवश सुन्दर अवस्था (दश संख्या एवं सज्जनों सरीखी अवस्था) का सूचक है एवं सज्जनों (नक्षत्रों) का आभूषण है । अतएव ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा हो ॥ १४ ॥

हैमं तुलाकोटियुगं च कस्मान्ममाप्यमूल्यस्य निबद्धमस्मात् ।
रुषारुणं श्रीचरणारविन्दद्वयं सुदत्या विभवन्तु विन्दत् ॥ १५ ॥

हैमंमिति । विभवं कान्तिमत्वं विन्दल्लभमानं सुदत्याः शोभनरदायाः सुलोचनायाः श्रीयुक्तं चरणारविन्दयोर्द्वयं रुषा कोपेन अरुणं शोणमभवदिति शेषः । कस्मात्कारणादि-त्युत्प्रेक्ष्यते—अमूल्यस्यातिमनोहरस्य मम हेम्न इदं हैमं स्वर्णमयं तुलाकोट्योर्युगं मञ्जीरयुगलं कस्मात्कारणान्निबद्धमितीर्ष्ययेति । अस्मादेव हेतोस्तवचरणमभूदित्युत्प्रेक्षा ऽलङ्कारः ॥ १५ ॥

शिरस्सु धत्तौ सुषमाभिमानजुषां रुषा सम्वपुषा धिया नः ।
तत्रत्यसिन्दूरकलासमस्यावशेन पादावरुणौ स्विदस्याः ॥ १६ ॥

शिरस्स्विति । स्विदथवा, अस्याः पादौ यतः सुषमाभिमानजुषां शोभाविषयकगर्ववतीनां शिरस्सु रुषा क्रोधेन धत्तौ नोऽस्माकं विचारेण (धिया) ततस्तत्रभवा तत्रत्या या सिन्दूरकला तस्याः समस्या संग्रहणं तद्वशेनैवारुणौ जातौ कोपस्य सिन्दूरस्य राग-परिणामकारणत्वात् ॥ १६ ॥

विशुद्धपार्ष्णीजयतः प्रयाणे श्रीराजहंसान्नलतुल्यपाणेः ।
पादाब्जराजौ नहि चित्रमेतत्सेव्यावहो भूमिभृतोऽपि मे तत् ॥ १७ ॥

अन्वय : सुदत्याः विभवं विन्दत् श्रीचरणारविन्दद्वयं तु अमूल्यस्य अपि मम हैमं तुलाकोटियुगं च कस्मात् निबद्धम् अस्मात् रुषा अरुणम् (अभवत्) ।

अर्थ : सुन्दर दन्तावलीसे विभूषित सुलोचनाका कान्तिसम्पन्न अत्यन्त सुन्दर चरण-युगल मानो (यह सोचकर) कोपसे लाल हो गया कि 'मैं स्वयं ही अमूल्य अति सुन्दर हूँ तो मुझे यह स्वर्णरचित पायजेबकी जोड़ी क्यों बाँधी—पहनायी गयो है ?' ॥ १५ ॥

अन्वय : स्वित् नः धिया अस्याः पादौ संवपुषा रुषा सुषमाभिमानजुषां शिरस्सु धत्तौ तत्रत्यसिन्दूरकलासमस्यावशेन अरुणौ जातौ ।

अर्थ : अथवा मेरे विचारसे इस सुलोचनाके पैर मूर्तिमान क्रोधके द्वारा, सौन्दर्यका गर्व करने वाली नायिकाओंके मस्तकों पर रखे गये, फ़लतः उनका सिन्दूर (जो उनकी माँगोंमें भरा था) लग जानेसे लाल हो गये हैं ॥ १६ ॥

अन्वय : नलतुल्यपाणेः पादाब्जराजौ विशुद्धपार्ष्णी प्रयाणे श्रीराजहंसान् जयतः एतत् चित्रं न भूमिभृतः अपि मे सेव्यौ तत् अहो ।

विशुद्धेत्यादि । नलेन कमलेन 'नलं तु सरसीरुहे' इति विश्वः, तुल्यौ पाणी हस्तौ यस्यास्तस्या अमुष्याः पादाब्जराजौ, पादावेवाब्जानां राजानौ तौ विशुद्धौ निर्दोषौ पार्ष्णी चरणपृष्ठदेशौ, सेनापृष्ठभागौ वा ययोस्तौ प्रयाणे गमनसमये समाक्रमणे वा, श्रीराजहंसान्मरालश्रेष्ठान् भूपतीन्वापि च जयतो जितवन्तौ, इत्येतच्चित्रमाश्चर्यकारणं न हि, किन्तु मे भूमिभृतोऽपि सेव्यावेतौ, तदहो विस्मयप्रकरणम्, हीति निश्चये ॥ १७ ॥

जङ्घे सुवृत्ते अपि बुद्धिमत्याः स्वयं सुवर्णानुगते च सत्याः ।
मनोजनानां हरतोयदीमे विलोमतैवात्र तु सेमुषी मे ॥ १८ ॥

जङ्घे इति । सत्याः पतिव्रताया अस्या जङ्घे सुवृत्ते वर्तुलाकारे, यद्वा, सदाचारधारिके, अपि च स्वयं सुवर्णानुगते हेमघटितानुसारिण्यौ, किञ्च, उत्तमगोत्रसम्भूते अपीमे यदि जनानां मनो हरतश्चित्तं गृह्णीतोऽत्र विलोमता, लोमाभावता यद्वा वैपरीत्यमेवास्तीति मे शेमुषी बुद्धिर्भवति, परधनहरणस्य हीनकार्यत्वात् ॥ १८ ॥

धात्रा कृतास्याः प्रसृताच्छलेन प्रेङ्खाभरुस्तम्भमयीत्यनेन ।
स्फुरत्पदाङ्गुष्ठनखांशुराजिरन्तो रतेश्चानुवदेत्समाजी ॥ १९ ॥

धात्रेत्यादि । अस्याः प्रसृतयोर्जङ्घयोश्छलेनानेन धात्रा विरञ्चिना रतेः कामदेव-

---

अर्थ : जिसके हाथ कमल सरीखे कोमल और लाल हैं, उस सुलोचनाके चरणरूपी अब्जराज (कमलोंसे श्रेष्ठ अथ च साक्षात् राजा) विशुद्धपार्ष्णी (सामुद्रिक शास्त्रकी दृष्टिसे निर्दोष एड़ियोंसे युक्त अथ च राजनीतिकी दृष्टिसे निर्दोष सेनाके पृष्ठ भागसे युक्त) हैं, इसीलिए वे प्रयाण (गमन अथ च आक्रमण) के अवसर पर श्रीसम्पन्न राजहंसों (राजहंस पक्षी अथ च विशिष्ट राजाओं) को जीत लेते हैं—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, आश्चर्यकी बात तो यह है कि मुझ भूमिभृत् (पर्वत अथ च राजा) के लिए भी वे (सुलोचना के चरण) सेव्य हैं ॥ १७ ॥

अन्वय : बुद्धिमत्याः सत्याः च जङ्घे सुवृत्ते स्वयं सुवर्णानुगते अपि यदि इमे जनानां मनः हरतः, अत्र तु विलोमता एव (हेतुः इति) मे शेमुषी ।

अर्थ : बुद्धिमती और शीलवती सुलोचनाकी जङ्घाएँ गोल (सदाचारयुक्त) तथा स्वयं श्रेष्ठ वर्ण एवं स्वर्णसे युक्त (उत्तम गोत्रमें उत्पन्न) हैं, तो भी यदि ये दर्शक जनोंके मनका हरण-आकर्षण करती (चित्तको चुराती) हैं तो इस विषयमें उनकी निर्लोमता (विपरीत वृत्ति) ही कारण है—ऐसा मैं समझता हूँ ॥ १८ ॥

अन्वय : अनेन धात्रा अस्याः प्रसृताच्छलेन भरुस्तम्भमयी अन्तःस्फुरत्पदाङ्गुष्ठनखांशुराजिः च रतेः प्रेङ्खाकृता—इति समाजी अनुवदेत् ।

स्थितः श्रीकमार्थं भरोः सुवर्णस्य स्तम्भमयी, अन्तः स्फुरन्त्यौ पदाङ्गुष्ठयोर्नखांशूनां नखो-द्भूतरश्मीनां राजी पङ्क्ती यत्र सा, प्रेङ्खा दोलेव चेति समाजीजनोऽनुवदेत्, मुहुरुच्चरेत् प्रीत्येत्यर्थः ॥ १९ ॥

जाड्यात्गुरुर्वङ्गमधो विधायासकौ तपोभिः स्विदनिष्टतायाः ।
सहेत निस्सारतया समस्यां मोचोरुचारुर्भवितुं तु यस्याः ॥ २० ॥

जाड्यादिति । स्विदथवा सकौ मोचा नाम कदली तु पुनर्यस्या विदुष्या ऊरुवच्चारु भवितुं अंक्यासदृशी सम्भवितुं जाड्यादेतोर्गुर्वङ्गं स्वकीयं स्थूलभागमुत मस्तकमधो विधाय निःसारतयाऽनिष्टतायाः समस्यां घटनां सहेत खलु ॥ २० ॥

रम्भाजिता श्रीतरुणी यतः सामुष्याः किलोर्वोः कलिता प्रशंसा ।
ममात्मने श्रीघनसारवस्तु रम्भातरः सम्प्रति दूरमस्तु ॥ २१ ॥

रम्भेति । यतः किलामुष्या ऊर्वोः प्रशंसा कलिता श्रुता ततः तरुणी रम्भा तरुण-वयस्का रम्भा नाम स्वर्वेश्यापि जिता पराजिता साऽथवा तरुं नयतीति तरुणीर्भ्रमणीवत् । ततश्च काष्ठसंवाहिका जाता । सम्प्रति पुना रम्भातरुर्दूरमेवास्तु, यदा तरुणी स्वयमेव

अर्थ : इस विधाता ने इस सुलोचनाकी जङ्घाओं के बहाने दो स्वर्णस्तम्भ और उनके बीचमें उसके पैरोंके चमचमाते अंगूठोंकी किरणोंको रस्सी बनाकर रति—कामदेवकी पत्नीके झूलनेके लिए एक झूला तैयार कर दिया है—इसे सामाजिक व्यक्ति भी कहें कि यह रतिका अनोखा झूला है ॥ १९ ॥

अन्वय : स्वित् असकौ मोचा तु यस्याः ऊरुचारुः भवितुं जाड्यात् गुरु अङ्गम् अधः विधाय तपोभिः निस्सारतया अनिष्टतायाः समस्यां सहेत ।

अर्थ : क्या यह कदलीस्तम्भ सुलोचनाके ऊरुके समान होनेके लिए अपनी जड़ताके कारण बोझिल अङ्गको नीचे करके अर्थात् उलटा होकर तपश्चरणके द्वारा निस्सारता-जनित अनिष्टताकी समस्याको सुलझा सकता है ? आशय यह कि कदलीस्तम्भ नीचे मोटा और ऊपर पतला होता है, जड़ होता है और निस्सार भी । किन्तु सुलोचनाके ऊरुओंमें ये तीनों दोष नहीं हैं ऐसी स्थितिमें कदलीस्तम्भ उन ऊरुओंकी समानता पानेके लिए क्या उन्मस्तक होकर तपश्चरण कर सकता है ? यदि नहीं कर सकता तो वह सुलोचनाके ऊरुओंके समान भी नहीं हो सकता ॥ २० ॥

अन्वय : यतः किल अमुष्याः ऊर्वोः प्रशंसा कलिता (ततः) श्रीतरुणी रम्भा जिता सम्प्रति रम्भातरुः दूरम् अस्तु (यत्) मम आत्मने श्रीघनसारवस्तु ।

अर्थ : जबसे इस सुलोचनाके ऊरुयुगलकी प्रशंसा सुनी तभीसे श्रीसम्पन्न

पराजीयते तदा तरुर्नाम किम् । यत्किल ममात्मने घनसारः कर्पूर एव वस्तुसमुत्पत्तिस्थानं समुत्पाद्य घनसारकरणमेव योग्यं, न तु निरीक्षणमिति यावत् ॥ २१ ॥

अन्यातिशायी रथ एकचक्रो रवेरविश्रान्त इतीभशक्रः ।
तमेकचक्रं च नितम्बमेनं जगज्जयी संलभते मुदे नः ॥ २२ ॥

अन्येत्यादि । रवेः सूर्यस्य रथो योऽन्यातिशायी, अन्येभ्यो रथेभ्योऽतिशयवान् यतोऽसावविश्रान्तः कदाचिदपि विश्रामं नैति, स एकचक्र एवैकं चक्रं रथाङ्गं यस्येति श्रुतेरितीव किलेभशक्रो मदनमघवा यो जगज्जयी विश्वविजेता स च नोऽस्माकं मुदे, तं सुप्रसिद्धमेकं चक्रं परिमण्डलं यस्यैवंभूतमेनं नितम्बं संलभते ॥ २२ ॥

स्मरार्थमेकः परदर्पलोपी दुर्गः पुनर्दुर्लभदर्शनोऽपि ।
नितम्बनामा रसनाकलापच्छलेन शालः परितस्तमाप ॥ २३ ॥

स्मरार्थमिति । स्मरार्थं कामदेवायायं नितम्बनामा दुर्गो दुर्गमस्थानविशेषः, दुर्लभं दर्शनं च यस्य, किं पुनर्गमनं, परेषां प्रति पक्षिणां दर्पलोपी मदमर्दनकर एक एव विद्यते । तत एव तं परितो रसनाकलापच्छलेन काञ्चीदामभिषेण शालोऽपि प्राकारोऽप्याप प्रापत् ॥ २३ ॥

युवती रम्भा नामक अप्सरा पराजित हुई। अब रहा रम्भातरु—कदलीवृक्ष, सो वह तो दूर ही रहे; क्योंकि रम्भा—अप्सरा तरुणी (तरुं नयतीति तरुणी'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार लकड़ी ढोने वाली) होनेके कारण जीत ली गयी तो तरु वृक्ष पर विजय पानेमें क्या रखा है ? मेरे लिए कपूरका उत्पादक स्थान प्राप्त हो जाये तो कपूर मिलनेमें क्या कठिनाई हो सकती है ? ॥ २१ ॥

अन्वय : रवेः एक चक्रः रथः अन्यातिशायी अविश्रान्तः इति जगज्जयी इभशक्रः च नः मुदे तम् एकचक्रम् एनं नितम्बं संलभते ।

अर्थ : सूर्यका केवल एक पहियेका रथ अन्य रथोंसे बढ़कर है; क्योंकि वह कहीं विश्राम नहीं करता—निरन्तर चलता ही रहता है। मानो यही सोचकर लोकविजेता कामदेवरूपी इन्द्रने मुझे प्रसन्न करनेके लिए प्रसिद्ध गोल (एक पहिये वाले) इस, सुलोचनाके नितम्ब (नितम्बरूपी रथ) को प्राप्त किया है ॥ २२ ॥

अन्वय : स्मरार्थं नितम्बनामा दुर्गः पुनः दुर्लभदर्शनः अपि परदर्पलोपी एकः रसनाकलापच्छलेन शालः तं परितः आप ।

अर्थ : कामदेवके लिए नितम्ब नामका दुर्ग (दुर्गम स्थान-किला) दुर्लभ-दर्शन (जिसका दर्शन भी कठिन हो) है फिर भी प्रतिपक्षियोंके अहङ्कारको चूर कर

गुरुर्नितम्बः स्विदुरोजबिम्बस्तस्मात्कृशीयानयमाप्तडिम्बः ।
माभूत्क्षमाभूर्लभतेऽवलग्नं सैषा सुकाञ्चीगुणतो ह्यविघ्नम् ।। २४ ।।

गुरुरिति । इतो गुरुः स्थूलतरो नितम्बः स्विततः उरोजबिम्बोऽपि गुरुरस्ति, तस्मादयं कृशीयान्, अतिकृशरूपोऽयोऽवलग्नस्तयोर्मध्यगतस्तस्मादाप्तडिम्बो लब्धप्रणाशो माभूदेवं सैषा सुन्दरी काञ्ची गुणतो रसनासूत्रेणावेष्टितं कृत्वा किलाविघ्नं निर्बाधं लभते क्षमाभूः सहिष्णुस्वभावा ।। २४ ।।

वक्त्रं विनिर्माय पुरारमस्मिञ्चन्द्रभ्रमात्सङ्कुचतीह तस्मिन् ।
निजासने चाकुलतां प्रयाता चक्रे न वै मध्यमितीव धाता ।। २५ ।।

रहा है। यह दुर्ग अपने ढंगका एक ही है, अतः सुलोचनाकी करधनीके बहाने प्राकारने उसे चारों ओरसे प्राप्त कर लिया। अभिप्राय यह कि सुलोचनाका नितम्ब कामदेवका अजेय एवं परदर्पलोपी दुर्ग है और करधनी उसका परकोटा है ।। २३ ।।

अन्वय : (इतः) गुरुः नितम्बः स्वित् (?) (ततः) उरोजबिम्बः तस्मात् कृशीयान् अयम् आप्तडिम्बः माभूत् (इति) हि क्षमाभूः सा एषा सुकाञ्चीगुणतः अवलग्नम् अविघ्नं लभते ।

अर्थ : इधर स्थूल (गुरु) नितम्ब स्थित है और उधर-ऊपरकी ओर स्थूल (गुरु) स्तन, इसी कारणसे यह अवलग्न अर्थात् कटि नष्ट न हो जाये इसीलिए क्षमाशीला इस सुलोचनाने अपनी करधनीसे लपेट कर कटिको निर्विघ्न कर पाया है।

प्रस्तुत महाकाव्यकी संस्कृत टीकाके आधार पर यह अर्थ किया गया है। टीकामें 'स्वित्' का 'ततः' पर्याय दिया जान पड़ता है। मेरी दृष्टिसे 'स्वित्' का प्रचलित अर्थ 'अथवा' किया जाये तो भी कोई हानि नहीं। 'अथवा' अर्थ मानने पर अनुवाद इस प्रकार होगा—मेरे एक ओर नितम्ब है तो दूसरी ओर स्तन हैं। इन दोनोंमेंसे मेरा गुरु कौन है ? नितम्ब अथवा स्तन ? यों तो दोनों ही गुरु (विशाल) हैं, पर एकको गुरु मानने पर तो मुझे दूसरेका कोप-भाजन बनना पड़ेगा—ऐसी स्थितिमें मेरी रक्षा कौन करेगा ? 'शिवजी रुष्ट हों तो गुरु रक्षा करता है, पर गुरु रुष्ट हो तो कोई भी रक्षा नहीं कर सकता—'शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन'। इसी द्विविधामें अवलग्न (कटि-कमर) अत्यन्त कृश हो गया। कृश होते-होते कहीं नष्ट न हो जाये या भाग न जाये मानो यही सोचकर सहनशीला सुलोचनाने उसे अपनी तगड़ी (करधनी) से वेष्टित कर दिया और उसके विघ्नका निवारण किया ।। २४ ।।

वक्त्रमिति । पुराऽस्या वक्त्रं मुखं विनिर्माय पुनरस्मिन् मुखे, आह्लादकत्वाच्चन्द्रोऽयमिति भ्रमान्निजस्यासने कमले सङ्कुचति सङ्कोचमञ्चति सति, आकुलतां प्रयातागन्ता धाता विरञ्चिररभूदितीव वै सोऽस्या मध्यं न चक्रे विदधे, इत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ २५ ॥

गुरोर्नितम्बाद्वलिपर्वणां तत्त्रयीमधीत्याखिलकर्मणांतः ।
जुहोति यूनां च मनांसि मध्यस्तारुण्यतेजस्यथ सन्निबध्यः ॥ २६ ॥

गुरोरिति । अस्या मध्यो नामावयवो गुरोः स्थूलरूपात्, शिक्षकाच्च नितम्बात् पुरतो बलिपर्वणामुदरत्रिवलिरेखाणां तथा बलिप्रदानमेव यज्ञकरणमेव पर्व येषु प्रतिपादितं तेषां त्रयीमधीत्य समेत्य, पठित्वा च पुनरखिलकर्मणां कर्मकाण्डप्रयोगाणांतः समर्थकः, यूनां जनानां मनांसि तारुण्यतेजसि वह्नौ जुहोति । अथ तत एव सन्निबध्यो बन्धनयोग्योऽसौ यथार्थतो जीवहिंसाकरस्यापराधित्वान्मध्यश्च वस्त्रेण बध्यते, एव सदेति । सश्लेष उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २६ ॥

अन्वय : इह पुरा वक्त्रं विनिर्माय तस्मिन् चन्द्रभ्रमात् अस्मिन् निजासने अरं सङ्कुचति (सति) धाता आकुलतां प्रयाता इतीव वै मध्यं न चक्रे ।

अर्थ : सुलोचनाके शरीरमें सबसे पहले मुखका निर्माण करके 'उसमें चन्द्रमाके भ्रमसे अपने इस आसन--कमलके नितरां संकुचित होने पर विधाता व्याकुल हो जायगा' मानो यही सोचकर उस (विधाता) ने इस (सुलोचनाकी कमर नहीं बनाई ।

विधाता-ब्रह्माका आसन कमल माना गया है—यह प्रसिद्ध है। कवि संसारमें नायिकाओंकी कटिकी कृशताका वर्णन भी प्रचलित है। 'चम्पूभारतम्' के प्रारम्भमें हस्तिनापुरका वर्णन करते हुए उसके रचयिताने लिखा है कि वहाँ एक आश्चर्यकी बात है कि नायिकाओंका अधोभाग जिस ओर जाता है उसी ओर उनका ऊर्ध्वभाग भी। इससे यही ध्वनि निकलती है कि उनके शरीरमें कटि थी ही नहीं ।

प्रस्तुत पद्यमें भ्रान्तिमान् और हेतूत्प्रेक्षाके साथ अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है जो प्रायः सभी अलङ्कारोंका आधार है ॥ २५ ॥

अन्वय : गुरोः नितम्बात् वलिपर्वणा तत्त्रयीम् अधीत्य (अस्याः) मध्यः तारुण्यतेजसि यूनां मनांसि जुहोति अथ च (सः) सन्निबध्यः ।

अर्थ : स्थूल (शिक्षक) नितम्बसे उदर-प्रदेशमें स्थित त्रिवलीको पाकर (बलिदान को जिनमें पर्वके रूपमें स्थान दिया गया है उनकी त्रयी अर्थात् वेदत्रयीको पढ़कर) इस सुलोचनाका मध्यभाग (कटि) यौवनकी अग्निमें युवकों-

नौद्धत्ययुक् चापि कुतो जघन्यः पुरो नितम्बस्य गुरोर्भवन्यः ।
सदोरुवृत्ताभ्युदयीत्यशेषे विलोमता किन्न पुनः कुदेशे ॥२७॥

नौद्धत्ययुगिति । यः कश्चिदपि गुरोः सर्वश्रेष्ठस्याचार्यस्य पुरोऽग्रे, औद्धत्यमुद्दण्ड-भावो न भवति तद्युग् विनयी भवन् सदोरुवृत्ते चारुजङ्घलेऽभ्युदयवान्, अथवा उरु गुरु गुरुतरं वृत्तं चरित्रं तस्य तेन वाभ्युदयः कीर्तिभावस्तद्वान्स्यास्तीति चापि जघन्यो हीनाचरणकरो निन्दायोग्यः कुतः ? किन्तु नैव । तथापि जघने भवं जघन्यमिति यन्निगद्यते, तत्रात्राशेषेऽपि कुदेशे पृथ्वीतले विलोमता वैपरीत्यमेव, हीनाचारिणो महत्तराभिधानवत् किमुत नास्ति ? यद्वास्य विलोमता लोमाभावता किमुत नास्ति, किन्तस्त्येव । अलोमशां स्फुरद्रूपामिति सामुद्रिकशास्त्रसद्भावात् विषमालङ्कारः श्लेषानुप्राणितः ॥२७॥

जगज्जिगीषाभृदनङ्गजिष्णुः रथस्तथैतस्य वरं चरिष्णुः ।
परिस्फुरन्ती पथपद्धतिर्वाऽस्मिन्विग्रहेऽस्यास्त्रिवलीति गीर्वा ॥ २८ ॥

जगदिति । अस्या अस्मिन् विग्रहे शरीर एव रणस्थलेऽनङ्गजिष्णुर्मदनमहेन्द्रः स जगतो जिगीषां बिभर्ति, इति जगज्जिगीषाभृत्तथा चैतस्य रथो वरं चरिष्णुः सततमेव पर्यटनशीलोऽतएव परिस्फुरन्ती स्फुटतरतामनुयान्ती पथपद्धतिर्मार्गपदव्येव सा त्रिवलिरित्येवं गीर्वाग् यस्याः सा रथगमनचिह्नस्य त्रिवलिसदृशाकारत्वात् सरूपक उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥२८॥

के मनकी आहुति दे रहा है, इसीलिए वह (वस्त्रसे) बाँधने योग्य है। हिंसक जिस प्रकार बन्धन योग्य होता है उसी प्रकार सुलोचनाका मध्यभाग भी, इसीलिये तो वह वस्त्रसे बाँधने योग्य है ॥ २६ ॥

अन्वय : गुरोः नितम्बस्य पुरः भवन् यः औद्धत्ययुक् न सदा अरुवृत्ताभ्युदयी च (सः) जघन्यः इति कुतः, अवशेषे कुदेशे पुनः किं विलोमता न (विलोक्यते)।

अर्थ : सुलोचनाका जो जघनभाग स्थूल (सर्वश्रेष्ठ आचार्य) नितम्बके आगे विद्यमान है, उद्दण्डतासे मुक्त है और सदा ऊरु युगलके वर्तुलाकारके अभ्युदय (श्रेष्ठ चारित्रके अभ्युदय) से युक्त है, तो फिर वह 'जघन्य' क्यों कहा जाता है ? सही बात तो यह है कि समस्त कुदेश (भूमण्डल खोटा देश) में क्या विलोमता (रोमोंका अभाव) प्रतिकूलता नहीं देखी जाती ? आचरणहीन व्यक्तिको लोग महत्तर (महत्तर) कहा करते हैं ॥ २७ ॥

अन्वय : अस्मिन् विग्रहे अनङ्गजिष्णुः जगज्जिगीषाभृत् तथा एतस्य रथः वरं चरिष्णुः अतः परिस्फुरन्ती पथपद्धतिः वा त्रिवलीति गीः ।

अर्थ : सुलोचनाके इस शरीर (रणस्थली) में कामदेवरूपी राजा सारे जगत्को जीतने का अभिलाषी है, और इस (कामराज) का रथ निरन्तर

सरस्वती या प्रथमा द्वितीया लक्ष्मीश्च सृष्टौ सुदृशां सती या ।
सर्गस्तृतीयोऽयमितीव सृष्टा चकार लेखास्त्रिवलीति कृष्टा ॥ २९ ॥

सरस्वतीति । सुदृशां सुलोचनीनां सृष्टौ विनिर्माणे या सरस्वती सा प्रथमा, लक्ष्मीश्च द्वितीया, ततः सुन्दरतरा, द्वितीयसर्गस्य प्रथमापेक्षया कौशलपूर्णत्वात् । तथा च सा सती सर्वजनश्लाघ्या, यश्च पुनः सुलोचनाख्यः सर्गः स तृतीयः, तृतीयसर्गस्य सर्वथा निर्दोषरूपत्वाच्चेयं सुन्दरतमा वर्तते, इतीव वक्तुं सृष्टा, ब्रह्मा त्रिवलीति कृष्टा तन्नामतः संकृष्टा तिस्रो लेखाश्चकारेति यावत् उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥२९॥

अस्या विनिर्माणविधावद्धुण्डं रसस्थलं यत्सहकारिकुण्डम् ।
सुचक्षुषः कल्पितवान् विधाता तदेव नाभिः समभूत्सुजाता ॥ ३० ॥

अस्या इति । विधाताऽस्या निर्माणविधौ सर्गसमये यदद्धुण्डं मनोहरं रसस्य स्थलं जलस्थानं सहकारिकुण्डं कल्पितवांस्तदेव पुनरधुना सुचक्षुषोऽस्या नाभिः सुजाता समभूदिति मन्येऽहमिति शेषः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥३०॥

उचित रीति से घूम रहा है। अतएव इसके रथका मार्ग ही (वा) 'त्रिवली' शब्दसे अभिहित है ॥ २८ ॥

अन्वय : सुदृशा सृष्टौ या सरस्वती सा प्रथमा या सती लक्ष्मीः च द्वितीया अयं तृतीयः सर्गः, इतीव स्रष्टा त्रिवली इति कृष्टाः लेखाः चकार ।

अर्थ : नायिकाओंके निर्माणमें सबसे पहली सृष्टि सरस्वती है, इससे भी कहीं अच्छी दूसरी सृष्टि लक्ष्मी है और लक्ष्मीसे भी सुन्दर तीसरी सृष्टि यह सुलोचना है—इन तीनोंमें पहली सृष्टि सुन्दर है, दूसरी सुन्दरतर और तीसरी सुन्दरतम। मानों इसी बातको बतलानेके लिए विधाताने सुलोचनाकी त्रिवली के रूपमें तीन रेखायें खींच दीं ॥ २९ ॥

अन्वय · विधाता अस्याः निर्माणविधौ यत् अद्धुण्डं रसस्थलं सहकारि कुण्डं कल्पितवान् तदेव सुचक्षुषः नाभिः सुजाता समभूत् ।

अर्थ : विधाता-ब्रह्माने इस सुलोचनाके निर्माण करनेमें जो सुन्दर जलका स्थान सहकारी कुण्ड बनाया था वही सुलोचनाकी नाभिके रूपमें परिणत हो गया है। मकान बनानेके लिए जल आवश्यक होता है और उसके लिए एक कुण्ड बनाकर उसमें जल भरा जाता है। इसी प्रकारसे सुलोचनाके शरीरका निर्माण करते समय विधाताने एक सुन्दर जलपूरित कुण्ड बनाया था, जो बादमें सुलोचनाकी नाभि बन गया। इससे नाभिकी गहराई ध्वनित की गई है ॥ ३० ॥

सुदक्षिणावर्तकनाभिकूपपदाद्वदाम्युत्तमकुण्डरूपम् ।
स्मरस्य सन्तर्पणभृत्तदीयधूमोच्छ्रितिर्लोमततिः सतीयम् ॥ ३१ ॥

सुदक्षिणेत्यादि । शोभनो दक्षिणतयावर्तो यस्मिन् यद्वा शोभनां दक्षिणां वर्तयतीति सुदक्षिणावर्तको यजमपूजनसम्पत्करस्तस्य नाभिकूपस्य पदाच्छलात् स्मरस्य कामदेवस्य सन्तर्पणभृत् प्रसादनकरमुत्तमकुण्डस्य रूपमस्ति तथेयं सती लोमततिर्लोम्नां राजिश्च तत्सम्बन्धिनस्तदीयस्य धूमस्योच्छ्रितिः समुन्नतिरेवास्तीति शेषः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥३१॥

लोमोत्थितिः सौष्ठववैजयन्त्यां सुमेषु साम्राज्यपदं लिखन्त्याः ।
तारुण्यलक्ष्म्या गलिताथ नाभिगोलान्मषेः सन्ततिरेव भाभिः ॥ ३२ ॥

लोमोत्थितिरिति । येयं लोमोत्थितिर्लोमावलिः सा सौष्ठवस्य सौन्दर्यस्य वैजयन्त्यां पताकायां सुमेषोः कामदेवस्य साम्राज्यपदं सर्वविजयित्वप्रतिपादकलेखं लिखन्त्यास्तारुण्यलक्ष्म्या नाभिगोला तुण्डी नाम मषीपात्राद् गलिता निर्गता मषेः सन्ततिरेव भाभिः स्वकीयाभिः प्रभाभिः सम्भवतीति यावत् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥३२॥

पयोधरोऽभ्युन्नमतीह वृष्टिः रसस्य भूयादिति लोमसृष्टिः ।
पिपीलिकालीक्रमकृत्प्रशस्तिर्विनिर्गता नाभिबिलात्समस्ति ॥ ३३ ॥

अन्वय : सुदक्षिणावर्तकनाभिकूपपदात् स्मरस्य सन्तर्पणभृत् उत्तमकुण्डरूपं वदामि तदीयधूमोच्छ्रितिः इयं सती लोमततिः (अस्ति) ।

अर्थ : मनोहर, दक्षिणावर्तक चिह्नसे युक्त नाभिकूपके बहाने कामदेवका सन्तर्पक यह उत्तम प्रशस्त कुण्ड है—ऐसा मैं कहता हूँ । जिस प्रशस्त अग्निका धूम (सुलोचनाकी नाभिसे ऊपरकी ओर विद्यमान) सुन्दर रोमराजीके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ ३१ ॥

अन्वय : अथ लोमोत्थितिः सौष्ठववैजयन्त्यां सुमेषु साम्राज्यपदं लिखन्त्याः तारुण्यलक्ष्म्याः नाभिगोलात् गलिता मषेः सन्ततिः एव भाभिः (सम्भवति) ।

अर्थ : और ऊपरकी ओर गयी, सुलोचनाकी रोमावलि ऐसी जान पड़ती है मानों सौन्दर्यकी पताका (सुलोचना) पर कामदेवकी विजय प्रशस्ति लिखती हुई तारुण्यलक्ष्मी (की अनवधानतासे सुलोचनाके शरीरमें स्थित) नाभिरूपी गोल दावातसे गिरी हुई सूक्ष्म धारा हो, जैसा कि उसके काले रंगसे प्रतीत हो रहा है और सम्भव भी है ॥ ३२ ॥

अन्वय : इह पयोधरः अभ्युन्नमति इति रसस्य वृष्टिः भूयात् नाभिबिलात् निर्गता क्रमकृत्प्रशस्तिः पिपीलिकाली लोमसृष्टिः (सम्भूता) ।

पयोधर इति । पयोधरः स्तनप्रदेशो यद्वा मेघः स इहाभ्युन्नमति, ततो रसस्य प्रसादस्य पक्षे जलस्य वृष्टिर्भूयादित्येवमिह या नाभिबिलाद्विनिर्गता क्रमतः किलानुक्रमकर्मी प्रशस्तिर्यस्याः सा पिपीलिकानामाली सन्ततिः सैव लोमसृष्टिः सम्भूता समस्तीति । घनाभ्युदये पिपीलिकानिर्गमनमिति निसर्गः ॥३३॥

बृहत्स्तनाभोगवशाद्विलग्नः कच्चिद्विभग्नोऽस्त्विति भावमग्नः ।
विधिर्ददावेनमिहोदरे तु लोमालिदण्डं तदुदात्तहेतुम् ॥ ३४ ॥

बृहदित्यादि । बृहतः स्तनाभोगस्य वशादयं विलग्नो मध्यदेशः कच्चिद्विभग्नोऽस्तु, स्तनयोरत्यधिकतोऽत्र त्रुट्यत्विति सम्भावना । इत्येवं भावमग्नः सन् विधिर्विधाता, इहोदरे तु पुनस्तस्योदात्तहेतुं स्तम्भनकारणमेनं लोमालिरूपं दण्डं ददौ, यतः कस्याप्युच्चैः प्रलम्बमानवस्तुनो वृक्षादेरुपरितनभारवशेनावनमनसम्भावनायां तस्यैवाश्रयभूतं स्थूणादिवस्तु दीयत इति जातिः । सानुमान उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥३४॥

अस्याः स्फुरद्यौवनभानुतेजः शुष्यद्बृहद्बाल्यजलान्तरायाः ।
विभात एतावधुनान्तरीपौ स्तनच्छलेनापि तु नर्मदायाः ॥ ३५ ॥

अस्या इति । स्फुरन् प्रकाशमानो यो यौवनभानुस्तरुणिमसूर्यस्तस्य तेजसा प्रभावेण शुष्यच्छोषं व्रजद् यद् बृहद् बहुलं बाल्यमेव जलं यदेवमन्तरं यस्यास्तस्या वयःसन्धिस्थितायाः

अर्थ : सुलोचनाके उरस्थलपर पयोधर स्तन (बादल) उन्नत हो रहे हैं (घुमड़ रहे हैं) इसलिए प्रसन्नता (जल) की वृष्टि होनी चाहिए, क्योंकि नाभि-रूपी बिलसे निकली हुई और एक पंक्तिमें चलनेके लिए प्रशंसित चींटियों-की पंक्ति (सुलोचनाकी) रोम राजिके रूपमें प्रकट हुई है। पावसमें चींटियाँ अपने-अपने बिलोंसे निकलकर एक पंक्तिमें चलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। जो वृष्टिकी सूचक होती है। इसी प्रकार सुलोचनाकी रोमराजि यह सूचित कर रही है कि उसके स्तनोंकी वृद्धि हो जानेसे प्रसन्नता की वृष्टि होगी ॥ ३३॥

अन्वय : कच्चित् बृहत्स्तनाभोगवशात् विलग्नः विभग्नः अस्तु इति भावमग्नः विधिः तदुदात्तहेतुम् इह उदरे तु एवं लोमालिदण्डं ददौ ।

अर्थ : बड़े-बड़े स्तनोंके विस्तारके कारण क्या सुलोचनाका मध्यभाग टूट ही जायगा, इस विचारमें मग्न विधाताने उसके स्तम्भनके लिए पेटके बीचमें इस रोमराजिरूपी दण्डको लगा दिया है ॥ ३४ ॥

अन्वय : अपितु स्फुरद्यौवनभानुतेजः शुष्यद्बृहद्बाल्यजलान्तराया अस्याः नर्मदायाः स्तनच्छलेन अधुना एतौ अन्तरीपौ विभातः ।

अर्थ : प्रकाशमान यौवनरूपी सूर्यके तेजसे जिसके बाल्यकालरूपी जलका

अस्या नर्म-प्रसादनं ददातीति तस्या नर्मदाया एव नद्या एतौ स्तनच्छलेनान्तरीपौ द्वीपौ विभातः शोभेते । श्लेषरूपक-उत्प्रेक्षालङ्काराणां संसृष्टिः ॥ ३५ ॥

यद्वाऽवशिष्टं तदिहास्ति निष्ठं स्फुटस्तनाभोगमिषादभीष्टम् ।
संगृह्य सारं जगतोऽङ्गसृष्टावस्या यदारम्भपरस्तु स्रष्टा ॥ ३६ ॥

यद्वेति । यद्वेति कल्पनान्तरे । अस्या सुलोचनाया अङ्गसृष्टौ तनुनिर्माणे, आरम्भपरः स्रष्टा विधाता तु पुनर्जगतः संसाराद् यत्किञ्चिदभीष्टं सारं तत्त्वांशं संगृह्याऽऽदाय एना-मरचयदिति शेषः । पुनर्यदवशिष्टं निर्माणादुद्धरितं तत् स्फुटस्य प्रकटीभूतस्य स्तनाभोगस्य मिषादिह संरक्षितमस्ति ॥ ३६ ॥

अस्याः स्तनस्पर्धितया घटस्य शिल्पादिवाल्पादिह पश्य तस्य ।
स चक्रभर्ता मणिकादिभारकर्तापि देवाऽकथि कुम्भकारः ॥ ३७ ॥

अस्या इति । हे देव, स्वामिन्, पश्य, तावदिह लोके मणिकादीनां भारस्यं कर्ता स प्रसिद्धश्चक्रस्य भर्ता कुलालोऽपि खल्वस्याः सुदृश. स्तनस्य स्पर्धितया कुचाभोगस्य तुल्य-तयैव तावत्तस्य घटस्य शिल्पान्निर्माणादल्पादप्यन्येषां कुशूलादिवस्तूनामपेक्षया न्यूनादपि कुम्भकारोऽकथि ॥ ३७ ॥

व्यवधान हट गया है तथा जो प्रसन्नता प्रदान करती (स्वयं नर्मदा नदी) है, उसके स्तनों के बहाने इस समय ये दो टापू सुशोभित हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

अन्वय : यद्वा अस्याः अङ्गसृष्टौ आरम्भपरः तु स्रष्टा जगतः अभीष्टं सारं संगृह्य (एनाम् अरचयत्) यत् अवशिष्टं तत् स्फुटस्तनाभोगमिषात् इह निष्ठम् अस्ति ।

अर्थ : अथवा इस सुलोचनाकी कायाकी रचनाके प्रारम्भ करनेमें विधाता तत्पर हुआ तो उसने सारे संसारसे सारभूत अंशका संग्रह करके उसे सम्पन्न किया, तत्पश्चात् जो कुछ बचा रहा उसे उभारको प्राप्त स्तनोंके विस्तारके बहाने यहींपर सुरक्षित कर दिया ॥ ३६ ॥

अन्वय : हे देव ! पश्य इह स चक्रभर्ता मणिकादिभारकर्ता अपि अस्याः स्तन-स्पर्द्धितया घटस्य अल्पात् अपि शिल्पात् इव कुम्भकारः अकथि ।

अर्थ : हे स्वामिन् ! देखिये, यहाँ वह चक्रका मालिक, मणिका अर्थात् कलश आदि अनेक पात्रों (बरतनों) का निर्माता होनेके बावजूद मानों इस सुलोचनाके स्तनोंकी स्पर्द्धामें घड़ेके शिल्पसे, जो अन्य पात्रोंके निर्माणकी तुलनामें मामूली है, कुम्भकार (कुम्हार) कहा जाने लगा ॥ ३७ ॥

अस्याः किमूचे कुचगौरवन्तु श्रियोऽप्यपूर्वा इह सञ्जयन्तु ।
करं परं दास्यति मादृशोऽपि यत्राखिलक्ष्मापतिदर्पलोपी ॥ ३८ ॥

अस्या इति । अस्याः कुचयोर्गौरवं समुन्नतभावं किं पुनरुच्येऽनिर्वचनीयं तदिति यावत् । यत इहापूर्वा अभूतपूर्वाः श्रियः सञ्जयन्तु । अखिलानां क्ष्मापतीनां राज्ञां दर्पलोपी मदमर्दनकरः खलु मादृशोऽपि नरः परं करं दास्यति, आलिङ्गनं करिष्यति आयवष्ठांशं वा समर्पयिष्यतीति ततो गौरवं प्रभुत्वञ्च ॥ ३८ ॥

हारावलीयं तरलाबलाया उत्तुङ्गयोः श्रीस्तनयोश्च भायात् ।
मध्यादिदानीं यमकस्तुभाजोः सीतेव सम्यक् परिपूरिताजौ ॥ ३९ ॥

हारावलीत्यादि । इयमबलायास्तरला हारावली, उत्तुङ्गयो श्रीस्तनयोर्मध्य इदानीं तादृशी भायात् । यमकयोः स्तुभाजोः पर्वतयोर्मध्यात् सम्यक् परिपूरिताजौ पृथिव्यां सीतानाम नदी वेति । उपमालङ्कारः ॥ ३९ ॥

हृद्याप वैदग्ध्यमभूतपूर्वममान्तमस्मत्प्रणयं च तेन ।
समुत्सहाहारवरप्रभाविन्युच्छूनतामेति कुचच्छलेन ॥ ४० ॥

हृद्यापेति । इयं समुत् सदा सम्यगुत्साहवती हारस्य मुक्तामाल्यस्य वरः प्रभाव-स्तद्वति, यद्वा, हेत्याश्चर्योक्तौ, वरस्य वर्द्धनशीलपदार्थस्य प्रभाववति स्वकीये हृदन्तरङ्ग

अन्वय : अस्याः कुचगौरवं तु किम् ऊचे इह अपूर्वाः सियः सञ्जयन्तु यत्र परम् अखिलक्ष्मापतिदर्पलोपी मादृशः अपि करं दास्यति ।

अर्थ : इस सुलोचनाके स्तनोंके गौरवके बारेमें क्या कहा जाये, जो अनिर्वचनीय है—शब्दोंके माध्यमसे प्रकट करने योग्य नहीं है । इन स्तनोंपर अभूतपूर्व श्री (सर्वोत्कृष्ट छवि)को प्राप्त करे, जहाँ केवल समस्त राजाओंके गर्वको नष्ट करनेवाला मुझ जैसा राजा भी कर (टैक्स) देगा ? हाथसे मर्दन करेगा ॥ ३८ ॥

अन्वय : अबलायाः इयं तरला हारावली इदानीम् उत्तुङ्गयोः श्रीस्तनयोः भायात् यमकस्तुभाजोः मध्यात् सम्यक् परिपूरिताजौ सीता इव ।

अर्थ : सुलोचनाकी यह हिलती-डुलती या चमचमाती हुई हारावली इस समय (इसके-) उन्नत स्तनोंपर ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे दो पर्वतोंके मध्यवर्ती समतल भूमिपर 'सीता' नदी सुशोभित होती है ॥ ३९ ॥

अन्वय : समुत्सहाहारवरप्रभाविनि हृदि अभूतपूर्वम् अमान्तंवैदग्ध्यं मत्प्रणयं च आप तेन कुचच्छलेन उच्छूनताम् एति ।

न पूर्वं बभूवेत्यभूतपूर्वं वैदग्ध्यं चातुर्यं तदमेव पुनर्नमातुमर्हति, तस्मात्तमस्माकं प्रणयं प्रेम चापि प्राप्तवती। तेनैव कारणेनेमामुच्छूनतां प्रफुल्लभावं कुचयोश्छलेनेति प्राप्नोति, यतो वातादिसम्पूरणेनोच्छूनताङ्गीकरणं वरस्य प्रभावः खलु ॥ ४० ॥

दधत्प्रवालोऽपि तु पत्रतां यः विज्ञैरभीष्टः कुपलाख्यया यः।
निर्भीकलोकस्य गिरेति तु स्याच्छयस्य सोऽप्यस्तु समोऽप्यमुष्याः ॥४१॥

दधदित्यादि। यः पत्रतां दलपरिणतिं, पदत्राणताञ्च दधत्, अपि तु प्रवालो बालस्वभावः किशलयो विज्ञैर्जनैः कुपलाख्ययाभीष्टः प्रमाणितः, कुत्सितं निन्दितं पलमुन्मानं यत्रेति तन्नाम्ना ख्यातः सोऽपि पुनरमुष्याः सुन्दर्याः शयस्य हस्तस्य समः सदृशताकरोऽप्यस्त्विति तु निर्भीकलोकस्योच्छृङ्खलभाषिणः कविजनस्यैव गिरा वाणी स्यान्न पुनस्तात्त्विकी ति यावत् ॥ ४१ ॥

विघ्नो न पद्मोऽर्हति यत्र पाणेस्तुलां तु लावण्यगुणार्णवाणेः।
वृत्तिं पुनर्वाञ्छति पल्लवस्तु तत्रेति वान्यं परमस्तु वस्तु ॥ ४२ ॥

अर्थ : सुलोचना सदा उत्साह सम्पन्न रहती है। आश्चर्य है कि इसने श्रेष्ठहारके प्रभावसे युक्त, तथा रबरकी भाँति प्रभावशाली फूलनेवाले अपने हृदयमें अभूतपूर्व एवं न समाने योग्य चातुर्यको और मेरे प्रेमको भी एक ही साथ धारण कर लिया है। इसी कारणसे यह स्तनोंके बहाने उच्छूनता (प्रफुल्लता अर्थात् फूलनेकी स्थितिको; क्योंकि हवा भरनेसे रबरका फूलना स्वभाविक है) को धारण कर रही है।

प्रस्तुत पद्यके तृतीय चरणमें सभङ्गश्लेषकी महिमासे 'हारवरप्रभाविनि' पद दो प्रकारसे पढ़ा जा सकता है—१. 'हारवरप्रभाविनि' के रूप में और २. हा + रबर प्रभाविनि। पहलेका अर्थ है—श्रेष्ठहारके प्रभावसे युक्त और दूसरेका अर्थ है, हा ! आश्चर्य है कि रबरकी भाँति प्रभावशाली। 'रबर' शब्द संस्कृतेतर भाषाका है, पर यहाँ सभङ्ग श्लेषके कारण व्यक्त हुआ है ॥ ४० ॥

अन्वय : यः पत्रतां दधत् अपि तु प्रवालः विज्ञैः कुपलाख्यया अभीष्टः सः अपि अमुष्याः शयस्यः समः अस्तु इति तु निर्भीकलोकस्य गिरा स्यात्।

अर्थ : जो पत्तेकी (एवं पदत्राणकी अवस्थाको धारण करनेवाला है और बालस्वभाव है तथा विज्ञजनोंने जिसे 'कुपल'—कोंपल (अथ च, कु = कुत्सित अर्थात् बुरा, पल = उन्मान जहाँ हो) कहना उचित समझा, वह भी इस सुलोचनाके हाथकी तुलना प्राप्त करे—यह कथन निरङ्कुश कविका ही हो सकता है, जो वास्तविकतासे दूर है। अभिप्राय यह है कि प्रवालको सुलोचना-

विद्य इति । लावण्यगुणार्णवस्य सौन्दर्यपरिणामसमुद्रस्याणेर्वेलाया अमुष्याः पद्मः पदोर्मा यत्र स चरणसादृश्यधरः पङ्कजपदार्थः सोऽपि पाणेर्हस्तस्य तदपेक्षयाधिककोमलस्य तुलां नार्हति न प्राप्नोति । तत्र पुनर्यः पल्लवः पर्णात्मकः किसलयः स च वृत्तिं तुल्यतां वाञ्छतीत्यत्र परं केवलं बाल्यमेव भद्रत्वमेव वस्त्वस्तु न पुनरन्यत् । बालकास्परोऽनधिकारचर्चा न करोतीति यावत् ॥ ४२ ॥

भुजो रुजोऽङ्कोऽम्बुजकोषकाय करं त्वमुष्याः कमलं विधाय ।
कन्दप्रकारो जगदेकदृश्यः समुत्करः शेष इहास्तु यस्य ॥ ४३ ॥

भुज इति । अस्याः सुकेश्या भुजो हस्तबन्धः कमलं कोषाप्रसम्भवं फुल्लमस्याः करं हस्तमुत विधाय कृत्वा बलात्कारेण शुल्करूपतया गृहीत्वा, अम्बुजकोषकाय जलजाताय रुजोऽङ्को जातः किलास्वास्थ्यकरो बभूव । यस्य समुत्कर उच्छिष्टांशो जगतामेकदृश्यः कन्दस्य प्रकारोऽङ्कुरमात्रक इह शेषः समवशिष्टो नागराजो वास्तु, इत्येवं सकं सुखं ददातीति तत्प्रकारः केन बर्हिणा दृश्योऽसएव मुत्करः सर्वस्यापि प्रसन्नतादायकः शेषो नाम सर्पराजः स्वयं जगदे तेनेति यावत् ॥ ४३ ॥

के हाथका उपमान नहीं माना जा सकता ॥ ४१ ॥

अन्वय : लावण्यगुणार्णवाणेः पाणेः यत्र तु पद्मः तुलां न अर्हति तत्र पुनः पल्लवः वृत्ति वाञ्छति इति तु परं बाल्यं वस्तु अस्तु (इति) विद्यः ।

अर्थ : सुलोचना लावण्य-('लावण्य' का सरल अर्थ सौन्दर्य है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाये तो इसका अर्थ शरीरकी वह चमक है जिसमें सामने स्थित वस्तु प्रतिबिम्बित हो) गुणकी अन्तिम सीमा है। इसके हाथकी बराबरी जहाँ पद्म, जिसमें पैरोंकी शोभा हो, नहीं कर सकता, वहाँ पल्लव-कोमल उसकी बराबरीकी इच्छा करे तो यह उसकी नादानी या भोलापन है; क्योंकि उसमें तो केवल पद = पैरका, लव – अंश पाया जाता है—ऐसी स्थिति-में वह उसके हाथकी तुलनाको कैसे प्राप्त कर सकता है। पैरोंकी अपेक्षा हाथोंकी कोमलता अधिक होती है—ऐसे हम समझते है ॥ ४२ ॥

अन्वय : अमुष्या भुजः कमलं करं विधाय अम्बुजकोषकाय रुजः अङ्कः (जातः) यस्य समुत्करः जगदेकदृश्यः कन्दप्रकारः इह शेषः अस्तु ।

अर्थ : इस सुलोचनाका भुज (बाँह), कमलको हाथ (हथेली) बनाकर जलसे उत्पन्न अन्य वस्तुओंके लिए अस्वास्थ्यकर हो गया। करका 'टैक्स' अर्थ भी होता है, अतः एक अर्थ यह भी है कि कमलसे टैक्स ले लिया तो अन्य जलोत्पन्न वस्तुओंको चिन्ता हो गई कि उन्हें भी टैक्स देना पड़ेगा, फलतः उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा। कमलको हाथ बनानेके बाद

करः स्मरैरावतहस्तिनस्तु शेषावतारो जगते समस्तु ।
सौन्दर्यसिन्धोः कमलैककन्दोपमो भुजोऽसौ विशदाननेन्दो ॥ ४४ ॥

कर इति । इदम् सुस्पष्टम् ॥ ४४ ॥

अस्यैव सर्गाय कृतः प्रयासः पुरा सरोजेषु मयेत्युपाशः ।
विधिश्च सौन्दर्यनिधेरुदारः करे च रेखात्रितयं चकार ॥ ४५ ॥

अस्यैवेति । मयाऽस्यैव सौन्दर्यनिधे रामणीयकशेवधेः सुलोचनायाः करस्य सर्गाय निर्माणाय पुरा सरोजेषु पङ्कजरचनास्वित्यर्थः । प्रयास उद्यमः कृत इत्युपाशः प्राप्ताभिलाष उदारो विधिस्तस्याः करे पाणौ रेखात्रितयञ्चकार । कमलनिर्माणेऽभ्यासं कृत्वा तत्करमरचयदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

उसका जो उच्छिष्ट भी भाँति, जिसे सारा जगत् देख सकता है, बचा हुआ केवल अङ्कुर ही रहा ॥ ४३ ॥

अन्वय : स्मरैरावतहस्तिनः करः जगते शेषावतारः समस्तु सौन्दर्यसिन्धोः विशदाननेन्दोः असौ भुजः तु कमलैककन्दोपमः (समस्ति) ।

अर्थ : कामदेवरूपी ऐरावत हाथीका सुण्डादण्ड जगत्के लिए भले ही अनुभव शेषनागका अवतार हो, पर जो (सुलोचना) सौन्दर्यका सागर है और जिसका मुखचन्द्र सदा स्वच्छ या निर्मल रहता है, उसकी यह भुजा कमलकी जड़ (लक्षण या मृणाल) की ही उपमाको धारण कर सकती है ।

कवि-संसारमें (पुरुषों) के भुजका उपमान हाथीका सुण्डादण्ड है, पर सुलोचना अनिन्द्य सुन्दरी,अनुपम नायिका है, अतः इसकी भुजाकी उपमा जिस किसी हाथीकी सूँड़से नहीं दी जा सकती—ऐसी स्थितिमें कोई सुझाव दे कि कामदेवरूपी ऐरावतकी सूँड़की उपमा दी जाये, तो कविका कहना है कि नहीं दो जा सकती; क्योंकि वह बहुत लम्बी है और कठोर भी, अतः वह तो शेषनागके अभिनव अवतार-सी प्रतीत होगी । सुलोचनाकी बाँह गौर है और कोमल, अतः उसकी उपमा केवल कमलकी जड़ या मृणाल से ही दी जा सकती है ॥ ४४ ॥

अन्वय : अस्य सौन्दर्यनिधेः एव सर्गाय मया पुरा सरोजेषु प्रयासः कृत इति उपाशः उदारः विधिः च करे च रेखात्रितयं चकार ।

अर्थ : इस सुन्दरताके भंडार (अर्थात् सुलोचना) के ही निर्माणके लिए मैंने (ब्रह्माने) पहले कमलोंके निर्माणका अभ्यास किया । इससे सफलताकी आशा पाकर उदार ब्रह्माने (इस सुलोचनाके शरीका निर्माण किया) और

स्फुरन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्यापदेशतोऽस्याश्च करे प्रदृश्या ।
सहेमपुङ्खा बहुपर्वसत्त्वाऽनङ्गस्य वै पञ्चशरीति तत्त्वात् ॥ ४६ ॥

स्फुरन्नित्यादि । स्फुरन्तः प्रकाशमाना नखा यत्र तस्य, अस्या सुदृशोऽङ्गुलीनां पञ्चकस्यापदेशतश्छलात् करे हस्ते प्रदृश्या दर्शनार्हा हेम्ना सुवर्णेन कृतैः पुङ्खैः सुतीक्ष्ण-भागैः सा हिता सहेमपुङ्खा बहूनां पर्वणां ग्रन्थीनां सत्त्वं यत्र साऽनङ्गस्य कामदेवस्य पञ्चशरी तत्त्वाद्वस्तुतोऽस्तीत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

पराजितास्या गलकन्दलेन मन्ये मुहुः पूत्करणस्य रीणा ।
मिषान्निषादर्षभमात्रगम्या मता विपञ्चीति जनैस्तु वीणा ॥ ४७ ॥

पराजितेति । अस्या मञ्जुभाषिण्या गलकन्दलेन कण्ठनालेन सुस्वरकरेण पराजिता वीणा पुना रीणात्युदासीना सती मुहुः पूत्करणस्य मिषाद् व्याजात् षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादनामकेषु सप्तस्वरेषु मध्यान्निषादर्षभमात्रगम्यात्येभ्यः स्वरेभ्यो विहीना जाता सेत्यत एव जनैः सर्वसाधारणैर्विपञ्चो मता । पञ्चभ्यो विहीना विपञ्चीति यावत् ॥ ४७ ॥

गानं कवित्वं मृदुता च सत्यमेतच्चतुष्कं सुदृशोऽधिकृत्य ।
गलेऽथ लेखात्रितयेण चागः प्रहाणये किन्नु कृतो विभागः ॥ ४८ ॥

उसके हाथमें तीन रेखाएँ खींच दीं ॥ ४५ ॥

अन्वय : स्फुरन्नखस्य अङ्गुलिपञ्चकस्य अपदेशतः अस्याः करे प्रदृश्या सहेमपुङ्खा बहुपर्वसत्त्वा अनङ्गस्य वै तत्त्वात् पञ्चशरी इति ।

अर्थ : चमकते हुए नखोंसे युक्त पाँच अङ्गुलियोंके बहाने सुलोचनाके हाथमें देखने योग्य सुवर्णपुङ्खमय और अनेक पोरोंवाली, कामदेवकी निश्चय ही यह वास्तविक पञ्चशरी (पाँच बाण) है ॥ ४६ ॥

अन्वय : अस्याः गलकन्दलेन पराजिता वीणा रीणा (सती) मुहुः पूत्करणस्य मिषात् निषादर्षभमात्रगम्या जनैः 'विपञ्ची'—इति मता (अहं) तु इति मन्ये ।

अर्थ : सुलोचनाके गले अर्थात् स्वरसे पराजित वीणा रीणा (उदास) होती हुई बार-बार पूत्कार (दुःखभरी आवाज) करने लगी । उसके बहाने श्रोता लोग जान गये कि अब केवल दो—निषाद और ऋषभ नामक स्वर ही बचे है, शेष पाँच—षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम और धैवत लुप्त हो गये हैं । फलतः उन्होंने उसे 'विपञ्ची' माना—मैं तो ऐसा ही समझता हूँ । आशय यह कि वीणा की अपेक्षा सुलोचनाका स्वर मधुर था । उसके स्वरकी तुलना में वीणा रोती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ४७ ॥

गानमिति । सुदृशो गानं गीतचातुर्यं कवित्वं काव्यमाधुर्यत्वं, मृदुता, माधुर्यं, सत्य मित्येतच्चतुष्कमधिकृत्याथ तेषामेकत्र निवसतां भागः-प्रहाणये पारस्परिककलहनि-वारणाय लेखात्रितयेन गले विभाग एव कृतः, किन्तु खलु, तेषां निवाससौकर्यार्थमिति यावत् ॥ ४८ ॥

वदाम्यथो सौधनिधीश्वरन्तत्सहासमास्यं शुचिरश्मिवन्तम् ।
छन्ना किलोच्चैः स्तनशैलमूले छाया तु लोमावलिकानुकूले ॥ ४९ ॥

वदामीति । हास्येन सहितं सहास्यं मन्दस्मितयुक्तमास्यं मुखमेव शुचिरश्मिवन्तं चन्द्रमसं, तत एव सौधनिधीश्वरं निधिषु प्रशस्तेषु स्वामिनं निधीश्वरं, सौधस्य रङ्गप्रासा-दस्य निधीश्वरं, पक्षे सुधाया इमं सौधममृतमयं निधीश्वरमहं वदामि, यतः किलानुकूले सहजसहायके, उच्चैस्तन एव समुन्नतकुच एव वातिशयोन्नतत्वासौ शैलस्तस्य मूले तल-भागे प्रशंसायां तनप्रत्ययः । तु पुनश्छाया तमोरूपा सा छन्ना प्रलुप्ता भवति लोमावली जायते ॥ ४९ ॥

कुशेशयं वेद्मि निशासु मौनं दधानमेकं सुतरामघोनम् ।
मुखस्य यत्साम्यमवाप्तुमस्या विशुद्धदृष्टेः कुरुते तपस्याम् ॥ ५० ॥

कुशेशयमिति । विशुद्धदृष्टेः शोभननेत्राया अस्या मुखस्य यत्साम्यं तुल्यत्वं तदवाप्तुं

अन्वय : सुदृशः गानं कवित्वं मृदुता सत्यं च एतत् चतुष्कम् अधिकृत्य अथ (तेषाम्) आगःप्रहाणये किं नु गले लेखात्रितयेन विभागः कृतः ।

अर्थ : सुलोचनाके गान, कवित्व, मृदुता और सत्य—इन चार गुणोंको (सुलोचना के गलेमें निवास करनेके लिए) अधिकार देकर और फिर उनके पारस्परिक अपराध एवं तज्जन्य कलहको दूर करनेके लिए ही क्या गले में तीन रेखाओंके द्वारा विभाजन किया गया है, जिससे उन्हें एकत्र निवासमें सुविधा हो ॥ ४८ ॥

अन्वय : अथो सहासम् आस्यं (अहं) शुचिरश्मिवन्तं सौधनिधीश्वरं वदामि (यतः) किल अनुकूले उच्चैस्तनशैलमूले छाया छन्ना लोमावलिका (जाता) ।

अर्थ : और मन्दहासयुक्त, सुलोचनाके मुखको मैं चन्द्रमा एवं सौधनिधिश्वर कहता हूँ; क्योंकि सहज सहायक समुन्नत स्तनरूपी पर्वतके मूलभागमें जो छाया (अन्धकार) रही वह लुप्त हो गयी और उसके स्थानमें रोमराजि उत्पन्न हो गयी है ॥ ४९ ॥

अन्वय : विशुद्धदृष्टेः अस्याः मुखस्य यत् साम्यं (तत्) अवाप्तुं कुशेशयं निशाः मौनं दधानम् एकं तपस्यां कुरुते (अतः) सुतराम् अघोनं वेद्मि ।

तत्कुशेशयं कमलं दर्भे शयानं निशासु रात्रिषु मौनं मुखमुद्रणात्मकं, उत मूकीभावं दधान-मेकमनन्यं तपस्यां कुरुते अतः सुतरामेव, अघोनं पापवर्जितं वेद्मि जानामि । काव्यलिङ्ग-मलंकारः ॥ ५० ॥

मुखं तु सौन्दर्यसुधासमष्टेः सुखं पुनर्विश्वजनैकदृष्टेः ।
रुखं श्रियः सम्भवति ह्रियश्चाशुखं च मे स्याद्विरहो न पश्चात् ॥ ५१ ॥

मुखमिति । सौन्दर्यसुधायाः समष्टेरमुष्या मुखं लपनं तदेव पुनर्विश्वजनानां समस्त-लोकानामेका निरन्तरदर्शना या दृष्टिस्तस्याः सुखं, तत एव श्रियः शोभाया रुखं, रोर्भयस्य खं शून्यं नाशरूपं निर्भयनिवासस्थानं सम्भवति । पुनरत्र ह्रियस्त्रपाया आशु शीघ्रमेव खमस्तु, यतो निःसंकोचतया मालाक्षेपण–पाणिग्रहणादि भूत्वा पश्चान्मेऽस्या विरहो न स्यादिति ॥ ५१ ॥

मुखं तदेतत्समुदारमाया रुखं न कस्मात्पुरुषः समायात् ।
सुखं पुनः स्याद्वसुधातिवर्ति तुषाररुक् किन्तु खमाबिभर्ति ॥ ५२ ॥

मुखमिति । समुदारा 'मा' जननी यस्यास्तस्यास्तदेतन्मुखं लपनं तावन्मुकारस्य खं नाशोऽस्तस्मात्सदारमाया नित्यलक्ष्मीरूपाया इति । अत्र पुरुषो रुखं दृग्व्यापारं कस्मान्न

अर्थ : सुन्दर नेत्रोंवाली इस सुलोचनाके मुखकी समानताको प्राप्त करनेके लिए कमल (दर्भ पर सोने वाले) को, रात्रिके समय मौन (संकोच) धारण करके अकेला (अपने ढंगका एक ही) रहकर तपश्चरण करता है, उसे मैं सुतरां निष्पाप मानता हूँ ॥ ५० ॥

अन्वय : सौन्दर्यसुधासमष्टेः (अमुष्याः) मुखं तु पुनः विश्वजनैकदृष्टेः सुखं श्रियः रुखं सम्भवति ह्रियः च आशु खं स्यात् मे च पश्चात् विरहः न स्यात् ।

अर्थ : सुलोचना सुन्दरतारूपी सुधाकी समग्र राशि है, इसका मुख समस्त विश्वके लोगोंकी अपलक दृष्टिके लिए सुखकर है, या साक्षात् सुख है । यही (मुख) श्री (शोभा या लक्ष्मी) का निर्भय निवास स्थान हो सकता है । (मैं चाहता हूँ कि इसकी) लज्जा का शीघ्र ही (खं) विनाश हो (जिससे यह स्वयंवरमें माला पहनाकर मेरा वरण कर सके, और विवाहके पश्चात्-) मेरा विरह न हो ॥ ५१ ॥

अन्वय : समुदारमायाः (अस्याः) तत् एतत् मुखं (अत्र) पुरुषः रुखं कस्मात् न समायात् (यतः) पुनः वसुधातिवर्ति सुखं स्यात् किन्तु तुषाररुक् खम् आबिभर्ति ।

अर्थ : जिसकी माँ उदार है और जो स्वयं सदैव लक्ष्मीस्वरूपा है, उसका यह मुख अनुपम सौन्दर्य सम्पन्न (तत्) है, + तो इस ओर पुरुष दृष्टिपात क्यों

समायात् । यद्वा खलं खवर्णाभावस्तस्माद् पुष: पोषणामि वा कथं न लभेत, यतो वसुधा-मतीत्य वर्तते तद्वसुधातिवर्ति स्वर्गीयं सुखं स्यात्, तथा सुकारप्रणाशः स्यात्तेन वधातिवर्ति नित्यरूपं तदिति चार्थः । तुषारस्य रुगिव रुक् कान्तिर्यस्य स हिमकरश्चन्द्रमाः स किमा-बिभर्ति तु, तुकाराभावमाप्नोति, आरः शनिस्तस्य या महती रुगिव रुग्यस्य स श्यामलो भवति । स मातुर इति पाठान्तरे रुणः प्रसङ्गात् वलैव्यसम्पन्नः स पुनस्तु समाबिभर्ति, स मारः कामातुरो भवति यन्मुखं दृष्ट्वेति ॥ ५२ ॥

स्मितामृतांशोरपि कौमुदीयं रुचिः शुचिर्वाक्यमिदं मदीयम् ।
वेलातिगानन्दपयोधिवृद्धिर्लोकस्य नो कस्य पुनः समृद्धिः ॥ ५३ ॥

स्मितेत्यादि । इयमस्याः सुलोचनायाः स्मितमेवामृतांशुश्चन्द्रस्तस्य स्मितामृतांशो-रीषद्धास्यरूपेन्दोः कौमुदी चन्द्रिका रुचिर्मनोहरा, शुचिरवदाता चेति मदीयमिदं वाक्य-मस्तीति शेषः । यस्यावलोकनेन कस्य लोकस्य पुरुषस्य वेलामतिगच्छतीति वेलातिगाऽति-क्रान्ततटा, आनन्द एव पयोधिर्हर्षसागरस्तस्य वृद्धिः पुनः समृद्धिर्हर्षसम्पत्तिश्च नो भवति ? सर्वस्यैव भवतीति भावः ॥ ५३ ॥

न करे तथा उस (मुख) की पुष्टि क्यों न हो ? जिससे भूतलका सर्वातिशायी एवं स्थायी सुख प्राप्त हो। किन्तु (उसे देखकर) चन्द्रमा क्या धारण करता है ? वह तो (सुलोचनाके मुखका अवलोकन करके) शनिग्रह-सरीखी कान्तिको प्राप्त करता है (आरसक्) काला पड़ जाता है। तुषाररुक्के स्थानमें 'समातुरः' पाठ रहे तो 'तु' का लोप होनेपर 'स मारः' शेष रहेगा, जिसका अर्थ होगा वह प्रसिद्ध कामदेव जिसे देखकर कामातुर हो जाता है।

प्रस्तुत पद्यके चारों चरणोंके जिन (मुखं, रुखं, सुखं, तुखम्) वर्णोंके आगे 'खं' है उनका लोप विवक्षित है। जैसे 'मुखं' में 'मु' का लोप इत्यादि। ऊपरके अर्थमें इसका भी ध्यान रखा गया है ॥ ५२ ॥

अन्वय : अपि (च) मदीयम् इदं वाक्यम्—इयं कौमुदी (अस्याः) स्मितामृतांशोः शुचिः रुचिः (यस्यावलोकनेन) पुनः कस्य लोकस्य वेलातिगानन्दपयोधिवृद्धिः समृद्धिः (च) नो (भवति)।

अर्थ : **और मेरा यह कहना है कि यह ज्योत्स्ना-चाँदनी इस सुलोचनाके मन्दहासरूपी चन्द्रमाकी धवल तथा मनोहर कान्ति है, (सत्य है; क्योंकि) इस (स्मितचन्द्र) के अवलोकनसे किस व्यक्तिका सीमातीत आनन्दका सागर वृद्धि-गत नहीं होता, एवं किसे हर्ष सम्पदा नहीं मिलती अर्थात् किसे अपार हर्ष नहीं होता ? (सभीको होता है) ॥ ५३ ॥**

नहीनभाया वदनद्विजन्मा नवोदयं याति सदैव तन्मा ।
रदच्छदाभोगमिषादवन्ध्या समग्रतोऽसौ समुदेति सन्ध्या ।। ५४ ।।

नहीनेत्यादि । यस्या भा कान्तिर्हीना न भवति सा नहीनभा, तस्या अक्षीणकान्तिमत्याः, तथा नहि-इनस्य सूर्यस्य कान्तिर्यस्यां सा तस्या वदनमेव द्विजन्मा चन्द्रः स नित्यं नवोदयं नूतनमुदयं याति प्राप्नोति, तन्मा तज्जन्मदात्री या सन्ध्याऽसौ समग्रतः सम्पूर्णतया तदादावेव रदच्छदाभोगस्याधरप्रदेशस्य मिषाच्छलादवन्ध्या फलवती सती समुदेति ।। ५४ ।।

अद्वैतवाग्यद्विजराजतश्चाधिकप्रभाव्यास्यमदोऽस्त्यपश्चात् ।
दिदेश वाणान्मदनस्य शुद्धया पिकद्विजोऽभ्यस्यतु तान्सुबुद्धया ।। ५५ ।।

अद्वैतेत्यादि । अद आस्यं द्विजराजतश्चन्द्रादेप्यधिकप्रभावि, पुनरद्वैताऽनन्यसदृशी वाग्वाणी यस्य तदस्ति । तत एव चापश्चात् सर्वप्रथममादरयोग्यं च, तथैवाद्वैतस्यैकं ब्रह्म द्वितीयो नास्तीत्यादि–इत्यादिसम्प्रदायस्य वाक्यस्य, अतएव द्विजानां राजा, द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायन्ते ते द्विजास्त्रैवर्णिकास्तेषु राजा द्विजराजस्ततोऽप्यधिकप्रभावि, तच्च मदनवाणान् दिदेश । तानेव पुनः पिकद्विजः कोकिलो नामपक्षी, ब्राह्मणश्च सुबुद्धया शुद्धया चाभ्यस्यतु ।। ५५ ।।

अन्वय : नहीनभायाः वदनद्विजन्मा सदैव नवोदयं याति तन्मा असौ सन्ध्या समग्रतः रदच्छदाभोगमिषात् समुदेति ।

अर्थ : जिसकी कायाकी कान्ति कभी हीन नहीं होती—सदा अक्षीण रहती है तथा जिसपर कभी सूर्यकी कान्ति नहीं पड़ती, उस सुलोचनाका मुखचन्द्र प्रतिदिन नवीन उदयको प्राप्त होता है, जिस (मुखचन्द्र) की माँ सन्ध्या सम्पूर्णतया (सुलोचनाके) अधरोष्ठके व्याजसे अपनेको अवन्ध्य सिद्ध करती हुई प्रकट होती है ।। ५४ ।।

अन्वय : अदः आस्यं च द्विजराजतः अधिकप्रभावि अद्वैतवाक् अस्ति (अतः) अपश्चात् यत् मदनस्य बाणान् दिदेश पिकद्विजः तान् सुबुद्धया शुद्धया अभ्यस्यतु ।

अर्थ : और यह सुलोचनाका मुख, चन्द्रमा (श्रेष्ठ द्विज) से भी कहीं अधिक प्रभावशाली है तथा अनुपम वाणी (सारे जगत्‌में एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—इस वचन) से सम्पन्न है, अतएव सर्वप्रथम है एवं समादरणीय है । जिस (मुख) ने कामदेवके बाणोंको उपदेश दिया, उन्हीं (बाण और उपदेश) का कोकिल (ब्राह्मण) सद्‌बुद्धिसे शुद्धिपूर्वक अभ्यास करे ।। ५५ ।।

खण्डं गिरः पौंड्रविजित्पदायाश्चेदाश्रयिष्यत्कथमप्युपायात् ।
सुपर्वधामाभिभवामकान्तां किमाश्रयिष्यत्सुमना सुधां ताम् ॥५६॥

खण्डमिति । पौंड्रविजिन्ति पदानि, इक्षुजयकराणि वाक्यानि मधुराणि यस्याः सा तस्या गिरः खण्डं वांशमपि यद्वा, गिर एव खण्डं शर्करां चेदाश्रयिष्यदास्वादयिष्यत् खलु कथमप्युपायात्केनापि मार्गेण स्ववर्णपुटगतमकरिष्यद्; तदा पुनः सुपर्वधामाभिभवां स्वर्गसञ्जातां, यद्वा सुपर्वधाम पौड्र ततोऽभिभवो जन्म यस्यास्तां तथा चाकान्तामकस्य दुःखस्यान्तकरीमकान्तां, किञ्चाकान्तामशोभनीयां तां सुधाञ्चापि सुमना मनस्वी जनो देवगणश्च किमग्रहीष्यत् ? न कथमपीत्यर्थः ॥५६ ॥

मन्येऽमुकं रागसुभागसत्त्वं बिम्बन्तु बिम्बस्य किलाधरत्वम् ।
हेतुः सुसम्वादपथीह देव-मिथोऽस्तु नामव्यतिहार एव ॥ ५७ ॥

मन्य इति । अस्या अमुकमधरं रागस्य लोहितत्वस्य गान्धारादिगीतस्य प्रीतिभावस्य च सुभागस्य सत्वं यत्र तमेव बिम्बं जानामि । बिम्बस्य बिम्बीफलस्य पुनरस्माधरत्वम् नीचत्वम् अस्ति किल हे देव स्वामिन् ननु कथमेतदुपर्युक्तं सम्वादपदमुपढौकतामितिचेन्नाम व्यतिहारं संज्ञापरिवर्तनमेवेह हेतुं वदामो वयमिति मिथः परस्परस्य ॥ ५७ ॥

अव्यक्तलेखाङ्कितमेति शस्तं नतभ्रुवश्चाधरपल्लवस्तम् ।
यन्त्रं जगन्मोहकरं स्वभावात्समङ्कितं मन्मथमन्त्रिणा वा ॥ ५८ ॥

अन्वय : पौण्ड्रविजित्पदायाः गिरः खण्डं चेत् उपायात् कथम् अपि आश्रयिष्यत् सुपर्वधामाभिभवां अकान्तां तां सुधां सुमनाः किम् आश्रयिष्यत् !

अर्थ : सुलोचनाके मुखसे निकले सुबन्त या तिङन्त पद गन्नेको मात करने वाले हैं, अर्थात् उससे भी अधिक मधुर हैं। उस (सुलोचना) की वाणीके एक अंश को भी यदि किसी उपायसे जिस किसी प्रकार प्राप्त करले, अर्थात् सुनले तो स्वर्गमें होने वाली एवं दुःखको मिटाने वाली (अशोभनीय) उस सुधा-अमृतको मनस्वी मानव या देववृन्द ग्रहण करेगा ? ॥ ५६ ॥

अन्वय : (अहम्) राग-सुभागसत्त्वम् अमुकं बिम्बं मन्ये बिम्बस्य तु किल अधरत्वं देव ! मिथः नामव्यतिहार एव इह सुसंवादपथि अस्तु ।

अर्थ : मैं सुलोचनाके लालिमा, गान्धार आदि राग एवं प्रीतिके अंशोंके अस्तित्वसे युक्त अधर (नीचे के होंठ) को बिम्ब मानता हूँ; बिम्बाफल (कुंदरू) तो इसकी तुलनामें अधर (निष्कृष्ट) है, फलतः इसके नीचेके ओष्ठको 'बिम्ब' कुंदरूको 'अधरबिम्ब' कहा जाना चाहिए। हे देव ! यह कैसे ? इसका सङ्गत उत्तर यह है कि दोनोंके नामोंमें अदला-बदली हो गई है ॥ ५७ ॥

अव्यक्तेत्यादि । एव नतभ्रुवोऽधरपल्लवः स्वभावादेव मन्मथ एव मन्त्री कार्मणकरस्तेन वा समङ्कितं लिखितं यतोऽव्यक्तलेखेनाङ्कितं तथा व्यक्ताभिर्लेखाभिरङ्कितं ततो जगन्मोहकरं नाम यन्त्रमेव शस्तं प्रशंसायोग्यमित्यवाप्नोति तावत् ॥ ५८ ॥

स्वयं सदा सैकतलक्षणायाः श्रीविद्रुमच्छायतया रमायाः ।
मरोस्तुलामेत्यधरोऽथवाऽस्या यतः पिपासाकुलितश्च ना स्यात् ॥५९॥

स्वयमिति । अथवाऽस्या रमायाः शोभनायाः स्वयमेव सती थाऽऽशाऽभिलाषा तस्या एकं तलं तस्य क्षण उत्सवो यस्या उत्तमाभिलाषवत्या इति । किञ्च सदा सिकताया इवं सैकतं धूलिप्रायं लक्षणं यस्या इति यतो ना मनुष्यः पिपासाकुलितोऽभिलाषावानुत जलाभावात्तृष्णावान् स्यात्, स एषोऽधरो रदच्छदभागो विद्रुमस्य प्रवालस्य च्छायेव च्छाया शोभा यस्य तद्भावतया तथैव विगता द्रुमाणां वृक्षाणां च्छाया यस्मात्तद्भावतया मरोर्निर्जलदेशस्य तुलामेति ॥ ५९ ॥

अन्वय : नतभ्रुवः अधरपल्लवः स्वभावात् मन्मथमन्त्रिणा वा समङ्कितं (यतः) अव्यक्तलेखाङ्कितं (तथा) जगन्मोहकरं यन्त्रं शस्तम् (इति व्यवहारम्) एति ।

अर्थ : दोनों ओर झुकी हुई—कमानीदार भोहोंसे युक्त सुलोचनाका अधरोष्ठ—नीचेका होठ स्वभावतः अथवा कामदेवरूपी मन्त्रीके द्वारा लिखा गया (यन्त्र) प्रतीत होता है : क्योंकि यह अव्यक्त-अस्पष्ट लेखसे अङ्कित है, अतएव जगत्को मोह उत्पन्न करने वाला यह यन्त्र प्रशंसाके योग्य है—'बहुत अच्छा है' इस व्यवहारको प्राप्त हो रहा है ॥ ५८ ॥

अन्वय : अथवा स्वयं सदासैकतलक्षणायाः अस्याः रमायाः यतः ना पिपासाकुलितः स्यात् (सः) अधरः विद्रुमच्छायतया मरोः तुलाम् एति ।

अर्थ : अथवा स्वतः उत्तम अभिलाषाओंसे युक्त (स्वतः सदा बालुकामय प्रदेश-टापू सरीखे (नितम्ब आदि चिह्नोंसे युक्त) इस शोभासम्पन्न सुलोचनाके जिस (ओष्ठ) से दर्शक पानकी अभिलाषा (प्यास) से आकुल—बेचैन हो उठता है, वह (ओष्ठ) मूंगेकी शोभा (वृक्षोंकी छायाके अभाव) से मरुस्थल (रेगिस्तान)की समानताको प्राप्त कर रहा है ।

अभिप्राय यह कि सुलोचना बालुकामय टापू जैसे नितम्ब आदि चिह्नोंसे चिह्नित है, और उसका लालरंगका अधर रेगिस्तानके समकक्ष हैं, क्योंकि जिस प्रकार रेगिस्तानमें, जो वृक्षोंकी छायासे रहित होता है, मनुष्य प्याससे व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार सुलोचनाके अधरोष्ठको देखकर मानव उसके पान करनेकी आशासे आकुल हो जाता है ॥ ५९ ॥

सुनासिका चञ्चु बृहच्छरीरः-यदीष्यते सम्प्रति मारकीरः ।
दन्तावली दाडिमबीजभुक्तिः प्रबालशुक्तिः प्रथिताधरोक्तिः ॥ ६० ॥

सुनासिकेति । सम्प्रति मारकीरः कामदेवशुको यदि सुनासिका एव चञ्चू यस्यैवं भूतं बृहच्छोभनीयं शरीरं यस्य स इष्यते तदा दन्तावल्येव दाडिमबीजानि तेषां भुक्तिर्भोजनस्थितिर्यत्र साऽधर इत्येवं प्रकारोक्तिर्नाम विशेषो यस्याः सा प्रबालकृता शुक्तिर्मुक्तास्फोटाभिव्यक्तिः प्रथिता सुप्रसिद्धाऽस्ति ॥ ६० ॥

जित्वा त्रिलोकीं स्विदमोघवाणस्तूणीं द्विवाणीं विफलां विजानन् ।
तत्याज मारोऽथ सुगन्धगम्या नासेति धात्रा रचिता सुरम्या ॥६१॥

जित्वेति । स्विदथवा, अमोघवाणः सफलशरसाधनः स मारः कामस्त्रिभिर्वाणैस्त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तां जित्वा पुनर्द्वौ वाणौ यस्यां सा द्विवाणी तां स्वकीयां तूणीं विफलां निष्फलां ।विजानन्, तत्याज मुक्तवान् । अथ सा पुष्पकृपत्वात्सुगन्धेन गम्येति कृत्वा धात्रा विरञ्चिनाऽस्या सुरम्या नासा नासिका रचितेति समुत्प्रेक्ष्यते । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ६१ ॥

अपूर्वरूपाममुकीं विधातुं श्रीमङ्गलोक्ती रुचितैव धातुः ।
अत्रत्यविस्मापनदैवतायार्पितापि नासा खलु गुल्गुलाया ॥६२॥

अन्वय : सम्प्रति मारकीरः यदि सुनासिकाचञ्चुबृहच्छरीरः इष्यते (तदा) दन्तावलीदाडिमबीजभुक्तिः अधरोक्तिः प्रबालशुक्तिः प्रथिता ।

अर्थ : इस समय कामदेवरूपी तोतेको यदि सुन्दरनाकरूपी चोंचसे युक्त बड़े शरीरका मान लिया जाये तो दन्तपङ्क्तिरूप अनारदानोंका भोजन जहाँ हो वह अधर नामक मूंगेकी शीप सुप्रसिद्ध हो जाती है (?) ॥ ६० ॥

अन्वय : स्वित् अमोघबाणः मारः त्रिलोकीं जित्वा द्विवाणीं तूणीं विफकां विजानन् तत्याज अथ धात्रा (अस्याः) सुगन्धगम्या रम्या नासिका रचिता इति ।

अर्थ : अथवा लक्ष्यवेध करनेमें जिसके बाण सफल है, उस कामदेवने तीनों लोकोंको (केवल एक-एक बाणसे) जीत लिया; तो उसने शेष दो बाणों से युक्त तूणी (तरकस) को व्यर्थ समझते हुए छोड़ दिया । इसके पश्चात् ब्रह्माने उस तूणी से इस सुलोचनाकी, सुगन्धिके माध्यमसे जानने योग्य (क्योंकि कामदेवके बाण, जो फूलोंके थे, उस तूणी-तरकसमें रखे हुए थे) सुन्दर नासिका बना दी ॥ ६१ ॥

अन्वय : अपूर्वरूपाम् अमुकीं विधातु धातुः श्रीमंगलोक्तिः रुचिता एव अपि (च) अत्रत्यविस्मापनदैवताय अर्पिता या गुल्गुला खलु सा नासा (सञ्जाता) ।

अपूर्वरूपामिति । अपूर्वरूपामनन्यसुन्दरीममुकीं विधातुं धातुर्ब्रह्मणः श्रीमङ्गलोक्तिः समुचितैव । अभीष्टकार्यादौ निर्विघ्नतासिद्धये स्तुत्यर्चनादेः शिष्टाचारत्वात् । तस्मात्खलु अत्रत्यस्य प्रसङ्गस्य सौन्दर्याधिष्ठातृतया प्रसिद्धाय विस्मापनदैवताय कामदेवाय, विस्मापनो हरिश्चन्द्रपुरे ना कुहके स्मरः', इत्यभिधानात् । अर्पिता नैवेद्यरूपा या गुल्गुला सैवास्या नासा सञ्जातेत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

सारं सुधांशोः समवाप्यमध्यात् कृतौ कपोलौ सुषुमैकसिद्धयाः ।
तज्जम्भपीयूषलवोपलम्भाद् व्रणः पुनस्तत्र कलङ्कदम्भात् ॥ ६३ ॥

सारमिति । सुधांशोश्चन्द्रस्य मध्यात्सारं समवाप्य पुनस्तेन सुषुमायाः शोभाया एका सिद्धिर्यस्यां सा तस्याः कपोलौ कृतौ । यतस्तयोः कपोलयोर्ये जम्भा दन्तास्त एव पीयूषलवा निर्झरन्तोऽमृतांशास्तेषामुपलम्भात् सत्त्वात् । पुनश्च तत्र चन्द्रमसि कलङ्कस्य लक्ष्मणो दम्भाद् व्रणोऽपि दृश्यते । यतो यदि चन्द्रसारतः कपोलौ न कृतौ भवेतां तर्हि कथं तत्र पीयूषांशा भवेयुः, कुतश्च चन्द्रे व्रणसद्भावः स्यादिति । अनुमानालङ्कारः ॥६३॥

कृत्वा ललाटेऽर्द्धमिहोडुशक्रं घनीभवत्सौधरसौघनक्रम् ।
स्फुरद्रदव्याजसुधांशयोः सत्पदावथादात्तु कपोलयोः सः ॥ ६४ ॥

अर्थ : अपूर्व रूप-सौन्दर्य से युक्त इस सुलोचनाका निर्माण करनेके लिए ब्रह्माने 'श्री' इस मङ्गलकारी शब्दका उच्चारण किया, या मङ्गलपाठ किया वह उचित ही है; और इसी प्रसङ्गमें सौन्दर्यके अधिष्ठाता कामदेवके लिए जो गुल्गुला (नैवेद्यविशेष) अर्पित की गई–चढ़ाई गई मानों वही उस (सुलोचना) की नाक बन गई ॥ ६२ ॥

अन्वय : सुधांशोः मध्यात् सारं समवाप्य सुषमैकसिद्धयाः कपोलौ कृतौ (यतः) तज्जम्भपीयूषलवोपलम्भात् पुनः तत्र कलङ्कदम्भात् व्रणः ।

अर्थ : चन्द्रमा के मध्यभागसे सार प्राप्तकर, सौन्दर्यकी अद्वितीय सिद्धिसे युक्त सुलोचनाके दोनों कपोल (गाल) रचे गये; क्योंकि दोनों कपोलोंके अन्दर दांतरूपी अमृतके अंश पाये जाते हैं, और चन्द्रमामें कलङ्कके छलसे व्रण (घाव) दृष्टिगोचर हो रहा है। यदि चन्द्रमाके सारसे उसके कपोल न रचे गये होते तो उनके अन्दर दांतोंके रूपमें अमृतके अंश कैसे पाये जाते, तथा चन्द्रमाके बीचमें काला-काला धब्बा कैसे होता ॥ ६३ ॥

अन्वय : इह सः घनीभवत्सौधरसौघनक्रमं अर्द्धम् उडुशक्रं ललाटे कृत्वा अथ सत्पदौ तु स्फुरद्रदव्याजसुधांशयोः कपोलयोः अदात् ।

कृत्वेत्यादि। इह धनीभवंश्चासौ सुधासम्बन्धी सोऽयो रसौघः स एव नक्रं घ्राण-नाम, यत्र तमुडुनाथं चन्द्रमसमर्द्धं ललाटे कृत्वा, पुनरर्द्धस्य यौ द्वौ खण्डौ तौ तु पुनः स्फुरन्तौ रदानां दन्तानां व्याजाच्छलात् सुधांशा यत्र तयोः कपोलयोरदात्। स विधाता पूर्वोक्तप्रकारेण पूर्णचन्द्रेणास्या मुखं चक्र इति ॥ ६४ ॥

जगन्ति जित्वा त्रिभिरेव शेषावुपायनीकृत्य पुनर्विशेषात् ।
दृग्भ्यामितः पञ्चशरः स्मरोऽतिशेते विधिं तौ सफलीकरोति ॥ ६५ ॥

जगन्तीति। पञ्चशरा यस्य स स्मरः कामस्त्रिभिः शरैर्जगन्ति त्रिलोकीं जित्वा वशीकृत्य पुनः शेषौ द्वौ शरौ विशेषात् विशिष्टरूपत्वाद्धेतोरितोऽस्तस्याः सुदृशो दृग्भ्यां नेत्राभ्यां नेत्रे रचयितुमित्यर्थः। तस्यै उपायनीकृत्य तौ सफलीकरोति, विधिं विधातारं चातिशेतेऽतिक्रामति ॥ ६५ ॥

सकज्जले रम्यदृशौ तु तत्त्वावलोचिके अप्यतिचञ्चलत्वात् ।
सुदूरदर्शित्वमिवोपहर्तुं श्रुती तदन्ते निहिते च कर्तुः ॥ ६६ ॥

सकज्जले इति। तत्त्वावलोचिके यथार्थसंवेदनकारिण्यौ, अपि तु, अतिशयेन चलत्वात्, कज्जलेनाञ्जनेन सहिते सकज्जलेऽस्या रम्यदृशावास्तामिति शेषः। एव-

---

अर्थ : सुलोचनाके शरीरके निर्माणमें ब्रह्माने एक चन्द्रमाका उपयोग किया। कैसे ? इस तरह कि आधे चन्द्रमासे उसके ललाटका निर्माण, जिस (ललाट) से बहा हुआ कुछ अमृत रस (घी की तरह) जमकर नाक बन गया। शेष आधे चन्द्रमाको दो भागोंमें विभक्त करके, दोनों कपोलोंमें लगा दिया जिनके अन्दर दाँतोंके छलसे अमृतके अंश विद्यमान हैं ॥६४॥

अन्वय : पञ्चशरः स्मरः त्रिभिः एव शरैः जगन्ति जित्वा शेषौ पुनः विशेषात् इतः दृग्भ्याम् उपायनीकृत्य तौ सफलीकरोति विधिं (च) अतिशेते।

अर्थ : अरविन्द आदि पाँच बाणों वाले कामदेवने केवल तीन बाणोंसे तीनों लोकोंको जीतकर शेष दो बाणों को, विशिष्ट रूपसे सुलोचनाके नेत्रोंका निर्माण करनेके लिए उसे उपहारमें देकर, सफल कर दिया और ब्रह्मासे बाजी मार ली; (क्योंकि ब्रह्माने जो वस्तु नहीं दी उसे उस (कामदेव) ने प्रस्तुत कर दिया ॥ ६५ ॥

अन्वय : तत्त्वावलोचिके अपि तु अतिचञ्चलत्वात् सकज्जले रम्यदृशौ सुदूरदर्शित्वम् उपहर्तुम् इव च कर्तुः श्रुती तदन्ते निहिते।

अर्थ : सुलोचनाके सुन्दर लोचन यथार्थज्ञान कराने वाले हैं और अत्यधिक

मिहानयोः सुदूरदर्शित्वमुपहर्तुं प्रदातुमिव कर्तुर्विधातुः श्रुती कर्णौ, द्रव्यभावरूपे शास्त्रे च तयोश्चक्षुषोरन्ते समीपे निहिते स्थापिते स्त इत्युत्प्रेक्षाश्लेषयोः सङ्करः ॥ ६६ ॥

दग्धं क्रुधा कामधनुर्हरेण पुनर्जनिं तद्विधिनादरेण ।
प्राप्य भ्रुवोर्युग्ममिषेण सत्याः सुबालभावं लभते सुदत्याः ॥ ६७ ॥

दग्धमिति । यत्खलु कामस्य धनुस्तत्क्रुधा कोपेन हेतुना हरेण रुद्रेण दग्धं भस्मीकृतं, तदेव विधिना भाग्येनादरेण योग्यरूपेण पुनर्जनिं द्वितीयं जन्म प्राप्य सत्या अमुष्याः सुदत्या भ्रुवोर्युग्ममिषेण शोभनं बालभावं शिशुत्वं केशत्वञ्च लभते, इत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ६७ ॥

सत्कर्तुमुच्चैः स्तनहेमकुम्भौ भ्रातर्विधाता यतते स्वयम्भोः ।
तेजांसि तूत्तेजयितुं हि नासामिषेण भस्त्रा रचिता तथा सा ॥ ६८ ॥

सत्कर्तुमिति । भो भ्रातः, उच्चैरूपौ स्तनौ कुचावेवातिशयेनोच्चैः स्तनौ तौ हेमकुम्भौ सुवर्णकलशौ सत्कर्तुं समुज्ज्वलयितुं किल तेजांसि कान्तिरूपाणि वह्निलक्षणानि च चोत्तेजयितुं संवर्द्धयितुं स्वयं विधाता यतते । तथा च नासाया मिषेण भस्त्रा वायुसंवर्द्धिनी रचिताऽस्ति सेति यावत् ॥ ६८ ॥

चञ्चल होनेसे कज्जल-युक्त हैं। इन्हें मानों दूरदर्शित्व प्रदान करनेके लिए आदि विधाताकी (द्रव्य और भाव) श्रुतियों (कानों) को उनके (नेत्रों) के निकट स्थापित किया गया ॥ ६६ ॥

अन्वय : (यत्) कामधेनुः हरेण क्रुधा दग्धं पुनः तत् विधिना आदरेण जनिं प्राप्य भ्रुवोः युग्ममिषेण सत्याः सुदत्याः सुबालभावं लभते ।

अर्थ : जो कामदेवका धनुष भगवान् शङ्करके द्वारा क्रुद्ध होकर जला दिया गया था, वही भाग्यवश योग्यरूपसे पुनर्जन्म लेकर शीलसम्पन्न एवं सुन्दर दाँतों से सुशोभित इस सुलोचनाके दोनों भौंहोंके बहाने सुन्दर बालभाव (शैशव, भौंहोंके बाल) को प्राप्त कर रहा है ॥ ६७ ॥

अन्वय : भोः भ्रातः ! उच्चैःस्तन हेमकुम्भौ सत्कर्तुं तेजांसि च उत्तेजयितुं हि स्वयं विधाता यतते तथा नासामिषेण सा भस्त्रां रचिता ।

अर्थ : हे भाई ! सुलोचनाके समुन्नत स्तनरूपी स्वर्णकलशोंको और अच्छा करनेके लिए तथा उनकी चमक (अग्नि) को और तेज (प्रज्वलित) करनेके लिए—पालिश चढ़ाने के लिए निश्चय ही विधाता-ब्रह्मा स्वयं यत्न कर रहा है और (उसने अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए सुलोचना को) नासिकाके बहाने वह धोंकनी बना दी है ॥ ६८ ॥

काला हि बालाः खलु कज्जलस्य रूपे स्वरूपे गतिमज्जलस्य ।
स्पर्शे मृदुत्वादुत मृक्षणस्य तुल्या स्मरारेर्गललक्षणस्य ।। ६९ ।।

कालाहीति । अमी बालाः केशा हीति निश्चयेन कालाः श्यामलास्ते अमी रूपे कज्जलस्य तुल्याः, स्वरूपे प्रसरणे गतिमतो जलस्य तुल्याः, स्पर्शे मृदुलत्वात्कोमलत्वादुत हेतोर्मृक्षणस्य नवनीतस्य तुल्याः । एवञ्च दृशां चक्षुषामुत्सवस्य रूपे स्मरारेर्महादेवस्य गलस्य लक्षणं कृष्णत्वं नीलत्वं वा तस्य तुल्या नीलकान्तयश्चासन् ।। ६९ ।।

वेणीयमेणीदृश एव भायाच्छ्रेणी सदा मेकलकन्यकायाः ।
हरस्य हाराकृतिमादधाना यूनां मनोमोहकरी विधानात् ।। ७० ।।

वेणीयमिति । इयमेणीदृशो मृगीसदृशनेत्राया एव वेणी भायात्, या मेकलकन्यकाया नर्मदाया नद्याः श्रेणी प्रवाह-तुल्या वर्तते । यथा नर्मदाया जलप्रवाहः श्यामलो गतिश्च कुटिला तथैव तस्या वेण्यपीति भावः । पुनः कथम्भूता ? हरस्य महादेवस्य हारो गलालङ्कारः सर्पस्तस्याकृतिमादधाना धारयन्ती, अत एव यूनां तरुणानां मनोमोहकरी सम्मोहिनी ।। ७० ।।

विराजमाना ह्यमुना मुखेन सुधाकरेणापि तथा नखेन ।
अवर्णनीयोत्तमभास्करा वा निशा यथा ध्वस्यतमस्स्वभावा ।। ७१ ।।

अन्वय : (सुलोचनायाः) बालाः कालाः हि रूपे खलु कज्जलस्य तुल्याः स्वरूपे गतिमज्जलस्य तुलाः उत स्पर्शे मृदुत्वत् मृक्षणस्य तुल्याः (दृगुत्सवे च) स्मरारेः गल-लक्षणस्य तुल्याः (सन्ति) ।

अर्थ : सुलोचनाके सिरके बाल काले हैं, जो निश्चय ही रूप (रंग) में काजलके समान हैं; स्वरूप (फैलाव) में बहते पानीके समान हैं; स्पर्शमें कोमलताके कारण मक्खनके समान हैं और दृष्टिको सुख देनेमें कामारि नीलकण्ठ भगवान् शङ्करके गलेके चिह्नके समान हैं ।। ६९ ।।

अन्वय : इयम् एणीदृशः एव वेणी भायात् (या) सदा मेकलकन्यकायाः श्रेणी हरस्य हाराकृतिम् आदधाना विधानात् यूनां मनोमोहकरी (वर्तते) ।

अर्थ : यह, मृगनयनी सुलोचनाकी ही चोटी सुशोभित हो, जो सर्वदा नर्मदानदीकी धाराकी भाँति (काली तथा कुटिल (घुंघराली)) है, और भगवान् शङ्करके हार-सर्पकी आकृतिको धारण करती हुई अपनी निराली रचनासे तरुणोंके मनको मोह उत्पन्न करने वाली है ।। ७० ।।

विराजमानेति । इयममुना मुखेन सुधाकरेण चन्द्रतुल्येन मनोहरेण तथा नखेनापि सुधाकरेण विराजमाना, तथा मुकाररहितेनामुना मुखेन, तथा न विद्यते खकारोऽपि यत्र तेन मुकार-खकाररहितेन मुखेन सुधाकरेण विराजमाना, राजवन्मध्यगत विनामकेन वर्णेन सहिता सुविधाकरा, अत एव वर्णैर्न नीयते गम्यते भासः कान्तयः कला यस्याः साप्युत्तमा यस्याः सा वचनागोचरकान्तिमतीत्यर्थः । ततः शस्यतमः सर्वेभ्योऽपि जनेभ्यः प्रशंसायोग्यः स्वभावो यस्याः सा निशेवास्ति । निशापि सुधाकरेण चन्द्रेण सहिता तथा च, अवर्णनीयोऽकथनीयो भास्करो रविर्यस्यां सा, अत एव शस्यं कामिभिः प्रशंसनीयं तम एव स्वभावो यस्याः सा, तादृशी भवति ॥ ७१ ॥

वामामिमां वेद्मि तथाभिरामां नामापि यस्याः किल भातु सा मा ।
यद्वा पदोरेव मदोज्झितासाऽमुष्याः स्थितैवं च ममाभिलाषा ॥ ७२ ॥

वामामिति । तथाभिरामां तादृशीं मनोहारिणीमिमां वामां स्त्रियं वेद्मि । कीदृशी-मिति चेद्, यस्या नामापि सर्वजनेभ्यो भातु सा मा लक्ष्मीरपि मदोज्झिता निरभिमाना भवन्ती यस्याश्चरणयोरेव स्थिता वर्तते । एवंविधा ममाभिलाषास्तीति यावत् ॥ ७२ ॥

पुन्नागपुत्रीयमहोपवित्रीकृतावनिः काऽत्र तुला भवित्री ।
सा नागकन्यापि यतो जघन्या क्व किन्नरीणान्तु तुलैव धन्या ॥७३॥

अन्वय : अमुना सुधाकरेण मुखेन तथा नखेन अपि विराजमाना अवर्णनीयोत्तम-भास्करा शस्यतमस्वभावा (इयं) निशा यथा (समस्ति) ।

अर्थ : इस, चन्द्रमाकी भाँति मनोहर मुख तथा नख (जात्यर्थमें एकवचन) से भी सुशोभित, वचनागोचर कान्तिसे तथा अत्यन्त प्रशंसनीय स्वभावसे युक्त होनेसे यह सुलोचना रात्रिके समान है, जो चन्द्रमासे अलङ्कृत होती है, वर्ण-नीय उत्तम सूर्यसे मुक्त रहती है और कामियोंके द्वारा प्रशंसनीय तमस्वभावसे युक्त होती है ॥ ७१ ॥

अन्वय : इमां वामां तथा अभिरामां वेद्मि, यस्याः नाम अपि किल (सर्वजनेभ्यः) भातु सा सा मात्रमदोज्झिता अमुष्याः पदोः एव स्थिता (स्यात्) एवं मम अभिलाषः (अस्ति) ।

अर्थ : इस सुलोचनाको मैं अत्यन्त सुन्दर समझता हूँ। जिसका नाम भी निश्चय ही सभी लोगोंको अच्छा लगे, और लोकविख्यात वह लक्ष्मी निर्मद होकर इसके चरणकमलोंमें ही स्थित रहे—इस प्रकारकी मेरी अभिलाषा है। 'अभिलाष' शब्द हिन्दीमें स्त्रीलिङ्ग है ॥ ७२ ॥

अन्वय : सा नागकन्या अपि यतः जघन्या इयं पुन्नागपुत्री पवित्रीकृतावनिः अहो

पुन्नागेत्यादि । सा नागकन्या जगत्प्रसिद्धरूपवत्यपि यतो यस्या अपेक्षया जघन्या हीनैव स्यादेतादृशीयमस्ति । यस्मादियं पुन्सु नागस्य पुरुषश्रेष्ठस्य पुत्रीति वर्णाधिकापि ततोऽसौ पवित्री कृताऽवनिः पृथ्वी यया सा पवित्रीकृतावनिः, इति हेतोरहो अत्र पुनरस्याः का तुला तुलना भवित्री, किन्तु नैव भवित्रीत्यर्थः । यतश्च, किन्नरीणान्तु नुमैव संज्ञैव धन्या प्रशंसायोग्या ? क्व यतस्ताः कुत्सिता नरी, किन्नरीति संज्ञां गताः सन्ति, किं पुना रूपमिति ॥ ७३ ॥

ये येऽनिमेषा विचरन्तु ते तेऽप्सरस्सु नो मे तु मनोऽतिशेते ।
इमामिदानीं मम सौमनस्यं सुधाधुनी मेतितरामवश्यम् ॥ ७४ ॥

ये य इति । ये ये केऽपि, अनिमेषा निमेषरहिता देवा झषाश्च ते ते पुनरप्सरस्सु स्वर्वेश्यासु, अपां जलानां सरस्सु स्थानेषु विचरन्तु, पर्यटन्तोऽमी सुखमनुभवन्तु, किन्तु मे मनस्तत्र नातिशेते, नातिशयं स्वीकरोति । मम तु सौमनस्यं सज्जनत्वं देवत्वमिव न वश्यमवश्यं चञ्चलं भवदिदानीमिमां सुधाधुनीममृतनदीमेवैति तरामिति ॥ ७४ ॥

अत्र का तुला भवित्री किन्नरीणां तु नुमा एव धन्या क्व (तुला) ।

अर्थ : वह प्रसिद्ध नागकन्या भी सौन्दर्यकी दृष्टिसे सुलोचनाकी अपेक्षा जघन्य है; क्योंकि यह पुन्नाग–श्रेष्ठ पुरुषकी पुत्री है, पर नागकन्या, नागकी। तथा इसने समस्त पृथ्वीको पवित्र किया है (पर नागकन्याने केवल नागलोकको) । ओह ! सुलोचनाका सौन्दर्य जब नागकन्यासे भी बढकर है तो इस संसारमें इसके रूपकी क्या तुलना हो सकती है ? अब रही किन्नरियोंकी बात, सो उनका तो नाम (नुमा) ही धन्य है ! (कुत्सिता नरी किन्नरी), फिर उनके रूपकी तुलना कहाँ ?

नैषधके टीकाकार नारायणने लिखा है कि पाताल, स्वर्गसे भी कहीं अधिक सुन्दर हैं—'स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि' । नागकन्याका निवास पातालमें माना गया है । कवि संसारमें नागकन्याकी सुन्दरता प्रसिद्ध है । पर सुलोचनाकी सुन्दरता तो सर्वथा अनुपम है ॥ ७३ ॥

अन्वय : ये ये अनिमेषाः ते ते अप्सरस्सु विचरन्तु मे तु मनः नो अतिशेते मम अवश्यं सौमनस्यम् इदानीम् इमां सुधाधुनीम् एतितराम् ।

अर्थ : जो भी कोई अनिमेष–देव (मत्स्य) हों वे अप्सराओं (जलाशयों) में भले ही विचरण करें, पर मेरा मन तो उन्हें (अप्सराओं व जलाशयोंको) तनिक भी महत्त्व नहीं देता । मेरा उदात्त मन (देवत्व) किसीके भी वशमें नहीं आ सकता । इस समय वह (सौमनस्य) केवल इस अमृतकी नदी अर्थात् सुलोचनाको ही प्राप्त कर रहा है—चाह रहा है ॥ ७४ ॥

निर्माणकाले पदयोरुतात्राऽमुष्या यदुच्छिष्टमहो विधात्रा ।
प्रयत्नतः प्राप्य ततः कृतानि जातानि पद्मानि तु पङ्कजानि ॥ ७५॥

निर्माणेत्यादि । उतात्राऽमुष्याः पदयोर्निर्माणकाले संघटनसमये विधात्रा यत्किञ्चिदप्युच्छिष्टं निस्सारमिति मत्वा समुज्झितं तदेव पुनः प्राप्य तत एव पङ्काज्जायन्त इति पङ्कजानि कमलानि कृतानि विहितानि, तान्येव पदयोर्मा येषु तानि, इति व्युत्पत्त्या पद्मानि पद्माख्यानि जातानि, इत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ७५ ॥

सुमेषुशुम्भत्सरकैकदेव्याः कादम्बरीमुज्ज्वलवर्णसेव्याम् ।
स्तवीमि या कर्णपुटेन गत्वा मदप्रदा मन्मनसीष्टसत्त्वा ॥ ७६ ॥

सुमेष्विति । सुमेषोः कामदेवस्य शुम्भतः शोभमानस्य सरकस्य मद्यस्यैका याऽधिष्ठात्री देवी तस्या अमुष्या उज्ज्वलैर्निर्मलैर्वर्णैरक्षरैः सेव्यां, तथोज्ज्वलः पवित्रो वर्णः कुलसमन्वयो येषां तैरपि सेव्यां कादम्बरीं वाणीमेव मदिरां स्तवीमि, या कर्णपुटेन मन्मनसि गत्वा, इष्टसत्त्वा भवन्ती मदप्रदा मत्तमावदात्री भवति ॥ ७६ ॥

इतः परा सम्प्रति मे न कापि समुद्धिधा नाम तिलोत्तमापि ।
सदापरम्भादरमित्यतस्तु जानेऽप्सरः स्नेहविधानवस्तु ॥ ७७ ॥

अन्वय : उत अत्र अमुष्याः पदयोः निर्माणकाले विधात्रा यत् उच्छिष्टम् अहो तत् प्रयत्नतः प्राप्य ततः पङ्कजानि कृतानि पद्मानि तु जातानि ।

अर्थ : अथवा सुलोचनाके चरणोंकी रचनाके समय विधाताने उससे बचे-खुचे जितने अंशको जूठनकी भाँति निःसार समझ कर छोड़ दिया था, आश्चर्य है कि उसीको बड़ी सावधानीसे ले लिया, और फिर उससे कमलोंकी रचना की, जो कमल बादमें पद्म कहे जाने लगे; क्योंकि उनमें सुलोचनाके चरणों जैसी कुछ शोभा थी ॥ ७५ ॥

अन्वय : सुमेषुशुम्भत्सरकैकदेव्याः उज्ज्वलवर्णसेव्यां कादम्बरीं स्तवीमि या कर्णपुटेन मन्मनसि गत्वा इष्टसत्त्वा मदप्रदा भवति ।

अर्थ : सुलोचना कामदेवकी सुन्दर मद्यकी एक मात्र अधिष्ठात्री देवी है, मैं इसकी, निर्दोष उज्ज्वल अक्षरोंसे युक्त तथा पवित्र उत्तम वर्णमें उत्पन्न—कुलीन व्यक्तियोंके द्वारा सेवनीय अर्थात् श्रोतव्य वाणी (कादम्बरी) की स्तुति-प्रशंसा करता हूँ, जो कर्णमार्गसे मेरे हृदयमें पहुँचकर इष्ट सत्त्व-सत्ता अथवा अच्छाई वाली होती हुई मद-हर्ष (नशा) को देने वाली हो जाती है । निष्कर्ष यह कि मैं इसकी वाणीको सुनकर झूम उठता हूँ और अपनेको भूल-सा जाता हूँ ॥ ७६ ॥

इत इत्यादि । सम्प्रति मुदो हर्षस्य विधा प्रकारस्तेन सहितानां हर्षकारिणीनां स्त्रीणां मध्ये मे मह्यं मतिलस्वनानल्पत्वेन, उत्तमा श्रेष्ठा, इतः सुलोचनायाः परान्या कापि नास्ति । यत इत्यतो भा प्रभा सदा सर्वदैव परमुत्कृष्टमादरमाप । अनयैव कृत्वा प्रभाया अपि समादरणमस्ति । या परा समुत्कृष्टा मेनकाभिधानाऽप्सरसोऽपि पुनर्मुद्विधा हर्षस्य प्रकारविशेषस्तेन सहिता, तिलोत्तमापि रम्भा चाप्सरसः सम्प्रति, इतोऽमुष्यां सदादरमाप । अत एवाहमिमामप्सरसां स्नेहविधानस्य वस्तु पात्रं जाने । श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ७७ ॥

सदूष्मणान्तस्स्थसदंशुकेन स्तनेन साध्वी मुकुलोपमेन ।
चेतश्चुरा या पटुतातुलापि स्वरङ्गनामानमिता रुचापि ॥ ७८ ॥

सदूष्मणेत्यादि । शोभन ऊष्मा यौवनतेजो यत्र तेन सदंशुकस्यान्तर्मध्ये तिष्ठतीति तेन, यद्वा, अन्ते प्रान्तभागे तिष्ठति शोभनमंशुकं यत्र तेन मुकुलोपमेन कुड्मलसदृशेन स्तनेन कुचेन या साध्वी चेतश्चुरा मनोहरा या पटुताया चतुरतायास्तुला, अत एव रुचा कान्त्या स्वरङ्गनासु, अप्सरःप्रभृतिषु मानं सम्मानमिता प्राप्ता, किञ्च सन्त ऊष्माणो नाम वर्णाः श-ष-स-हा यत्र तेनान्तःस्थानां य-र-ल-वानां सन्नंशुको लेशो यत्र तेन तथा मुं च कुं च लातीति सैवोपमा मानं यस्य तेन मवर्ग-कवर्गसहितेनेत्यर्थः । स्तनेन टुता टवर्गस्य प्रतिपालनकर्त्री तुला तवर्गयुक्ता चुरा चवर्ग एव रा धनं यस्याः सा चुरा, तथा

अन्वय : सम्प्रति समुद्विधानाम् अतिलोत्तमा मे इतः परा का अपि न (अस्ति, यतः) इत्यतः भा सदा परम् आदरम् आप (अतः अहम्) अप्सरःस्नेहविधानवस्तु जाने ।

अर्थ : इस समय हर्ष उत्पन्न करानेवाली नायिकाओंमें अत्यधिक उत्तम, मेरे लिए इस सुलोचनासे बढ़कर और कोई भी नहीं है; क्योंकि इस (सुलोचना को आश्रय बनानेसे) भा-प्रभा हमेशाके लिए उत्कृष्ट आदरको प्राप्त कर चुकी है—कान्तिका आदर केवल सुलोचनाके निमित्तसे हुआ है तथा श्रेष्ठ मेनका, तिलोत्तमा और रम्भा नामक अप्सराएँ भी इस समय इस (सुलोचना) के बारेमें आदरभाव रखती है—अतः इस सर्वातिशायिनी अप्सरा (सुलोचना) को मै अपने स्नेहका पात्र समझता हूँ ॥ ७७ ॥

अन्वय : सदूष्मणा अन्तस्स्थसदंशुकेन मुकुलोपमेन स्तनेन साध्वी अपि चेतश्चुरा या पटुतातुला रुचा अपि स्वरङ्गनामानम् इता ।

अर्थ : यौवनकी ऊष्मासे युक्त, कांचली या चोलीसे आवृत और कलीसरीखे स्तन युगलसे उपलक्षित, साध्वी-सुचरिता होती हुई भी दूसरोंके मनको चुरानेवाली (मनोहर) जो सुलोचना चतुरताके लिये आदर्श है, उसने कान्तिसे भी देवाङ्गनाओंमें सम्मान प्राप्त किया ।

स्वरमकारादि वर्णं गच्छति तन्नामाभिधानं तेना नमिता समुन्नता सती रुचा कान्त्या साध्वी सम्पूर्णवर्णमात्रिकाधिकारिणीयं मम चेतोऽन्तःकरणमाप प्रापत् ॥ ७८ ॥

नवालकेनाधरता प्रवाले मुखेन याऽमानि सुदन्तपालेः ।
सुपा (धा) किने मे मधुलेन सालेख्यतः सुधालेन विधौ सुधाले ॥७९॥

नवालकेनेत्यादि । शोभना दन्तानां पालिः पङ्क्तिर्यस्यास्तस्या अमुष्या मुखेन, कीदृशेन नवालकेन, नवा नवीना अलकाः केशा यस्य तेन, अथ च बालको न भवतीति तेन नबालकेन तेन प्रवाले विद्रुमे पल्लवे च वा प्रकर्षेण बालकरूपे तस्मिन्नधरोष्ठरूपता रदच्छदतुल्यताऽथवा ततोऽप्यपकर्षगुणताऽमानि स्वीकृता । कीदृशेन सुष्ठु धाकः प्रभावो यस्य तस्मै, किं वा सुधयाऽप्यकं दुःखं यस्य तस्मै सुधाकिने मे मह्यमथ मधुलेन लिष्टन मधुयुक्तेनापि पुनरसुधालेन सुधां मुखोत्पाटनकारिणीं प्रस्तरविकाररूपां चूर्णेत्यपराभिधानां न लाति स्वीकरोतीति तेनासुधालेन, अत एवासूनां प्राणानां धारा परम्परा यत्र तेन पुनः सुधालेऽमृतकिरणे, एव चूर्णपूर्णे विधौ चन्द्रेऽप्यधरता न्यूनगुणवत्ताऽलेखि समुल्लेखिता ॥ ७९ ॥

प्रस्तुत पद्यका दूसरा अर्थ—समोचीन ऊष्मवर्ण–श ष स ह, एवं अन्तःस्थ-वर्ण–य र ल व से उपलक्षित मु–म वर्ग अर्थात् पवर्ग–प फ ब भ म एवं कु–क वर्ग अर्थात् क ख ग घ ङ इन वर्णों से विभूषित स्तनोंसे टवर्ग—ट ठ ड ढ ण की रक्षिका, तवर्ग—त थ द ध न से युक्त, चवर्ग–च छ ज झ ञ को अपनी सम्पदा समझने वाली (चुरा) तथा अकार आदि समस्त स्वर और उनके अङ्गोंके नामके अपूर्व ज्ञानसे समुन्नत होती हुई, कान्तिसे साध्वी सुलोचना सभी वर्णों एवं मात्राओंकी अधिकारिणी है उसने मेरे मनको अपने अधिकार क्षेत्रमें ले लिया है ॥ ७८ ॥

अन्वय : सुदन्तपालेः नवालकेन मुखेन प्रवाले या अधरता अमानि सुपा (धा) किने मे मधुलेन असुधालेन सुधाले सा अलेखि ।

अर्थ : सुन्दर दन्तपंक्तिवाली सुलोचनाके अभिनव केशपाशसे विभूषित मुखने मुंगे और पल्लवमें जो अधरता–ओष्ठता या गुणोंकी अपकर्षता मानी वह ठीक ही है; क्योंकि मुख बालक नहीं, प्रौढ़ है और प्रबाल अभी शिशु है यहाँ श्लेषके कारण व और ब अभेद है, अतः नवालकेनके स्थानमें नबालकेन और प्रवालेके स्थानमें प्रबाले मानकर यह भी अर्थ किया गया है तथा अनुकूल कर्मपाक एवं प्रभावसे युक्त तथा सुधा-अमृत भी जिसे दुःखप्रद है—ऐसे मेरे लिए मधुर एवं सुधा-चूनेको अस्वीकार करनेवाले (सुलोचनाके) मुखने अमृत-गर्भकिरणों (चूनेके चूर्ण) से युक्त चन्द्रमाके विषयमें भी उसी अधरताका

अवर्णनीयप्रभयान्विता मेहवर्णनीयाङ्कमिताभिरामे ।
स्वान्ते विवर्णातिशयैकजातिः प्रत्याहृता भाति सुवर्णतातिः ॥८०॥

अवर्णनीयेत्यादि । अवर्णनीयाऽनिर्वचनयोग्या या प्रभा तयाऽन्वितापि वर्णनीयं च तदङ्कमितेति विरोधः, वर्णैर्गुणैर्नीयं संवाहनयोग्यमङ्कमिता गुणवदङ्कसहितेति परिहारः । विवर्णस्य रजतस्यातिशयस्यैकजातिस्तुल्यरूपापि, सुवर्णस्य काञ्चनस्य तातिः पङ्क्तिरिति विरोधः । सुवर्णस्य शोभनरूपस्य तातिरपि विविधं वर्णनं कथनमेव विवर्णस्तस्यातिशयैकजातिरिति परिहारः । अभिरामे स्वान्ते प्रसन्ने मनसि प्रत्याहृताऽसौ मा लक्ष्मीर्भाति । तथा चाकारेण वर्णनीयया प्रभयाऽन्विता, पुनर्हकारेण वर्णनीयाङ्कमिता मेऽभिरामे स्वान्ते विवर्णातिशयस्य कथनविशेषस्यैकजातिरियं सुवर्णताति रहा—इत्येवं साश्चर्यानन्दस्वरूपा प्रत्याहृता भाति । तथा चाकारेण हकारपर्यन्ता समस्ता वर्णमाला प्रत्याहृता प्रत्याहारीकृता, तेन सा सरस्वतीव भातीति भावः ॥ ८० ॥

या पक्षिणी मञ्जुलतासु नाभिव्यक्त्या मुदालम्बितरङ्गभाभिः ।
दृष्टिः सदाचारसमष्टिनावमधिष्ठिताऽगादनिमेषभावम् ॥ ८१ ॥

येति । या मञ्जुलतासु सुन्दरतासु पक्षिणी पक्षपातवती दृष्टिः सा मुदालम्बिताभि-

---

उल्लेख किया अर्थात् अधर-निष्ठ माना ॥ ७९ ॥

अन्वय : अवर्णनीयप्रभया अन्विता (अपि) वर्णनीयाङ्कम् इता विवर्णातिशयैकजातिः (अपि) सुवर्णतातिः अभिरामे मे इह स्वान्ते प्रत्याहृता मा भाति ।

अर्थ : अनिर्वचनीय प्रभासे युक्त होती हुई भी वर्णनीय शरीरको प्राप्त है—यह तो विरुद्ध बात है। इसका परिहार यह है कि अनिर्वचनीय प्रभासे युक्त होकर गुणोंके द्वारा आश्रय लेने योग्य शरीरसे युक्त है। तथा उच्चकोटिकी चाँदीके समान है, फिर भी सुवर्णकी पंक्ति है—यह तो परस्पर विरुद्ध है। इसका परिहार यह है कि विविध प्रकारके वर्णनके प्रकर्ष की जाति है और अच्छे वर्णकी परम्परासे युक्त है ऐसी यह सुलोचना मेरे प्रसन्न मनमें लाई गयी साक्षात् लक्ष्मी है।

अन्य अर्थ : यह सुलोचना 'अ' अक्षरसे, वर्णनीय प्रभासे, और 'ह्' अक्षरसे वर्णनीय शरीरसे युक्त होकर आश्चर्य-गर्भ आनन्दमय स्वरूपसे युक्त है। इसने 'अ' से 'ह्' तककी पूरी-की-पूरी वर्णमालाको प्रत्याहार बना लिया है, अतः सरस्वती सरीखी मालूम पड़ती है ॥ ८० ॥

अन्वय : या दृष्टिः मञ्जुलतासु पक्षिणी (सा) मुदालम्बितरङ्गभाभिः सदाचारसमष्टिनावम् अधिष्ठिता नाभिव्यक्त्या अनिमेषभावम् अगात् ।

हर्षप्रयुक्ताभिः, रङ्गभाभिः प्रसङ्गभावनाभिः सदाचारस्य प्रशस्ताचरणस्य समष्टिरेव नौ त्रुलिस्तामधिष्ठिता सत्यनिमेषभावं निमेषराहित्यमविच्छिन्नावलोकनकरत्वमगात् । नाभि-व्यक्त्याऽभिव्यक्तिरहितरूपेण मानसिकभावेन, यद्वा, या दृष्टिमङ्गुषु च तासु लतासु वल्लीषु पक्षिणी पक्षिस्त्री जाता सैव नाभिव्यक्त्यां नाभिनामकेऽवयवे, उदे जले, आलम्बनशीला, उदालम्बिनश्च ते तरङ्गाश्च तेषां भाभिः शोभाभिः सदा सततमेव चारस्य पर्यटनस्य समष्टिर्यया ता नावमधिष्ठिता सत्यनिमेषभाव मीनरूपतामगात् ॥ ८१ ॥

अजानुलोमस्थितिरिष्टवस्तु गौरीदृशीयं महिषी समस्तु ।
यथोत्तरारब्धसमृद्धिसत्त्वाऽपि मे सदैवामृतरूपतत्त्वा ॥ ८२ ॥

अजान्वित्यादि । इयमीक्षणपथगता नास्ति जान्वोर्जङ्घयोर्लोम्नां स्थितिर्यस्याः सा निर्लोमजङ्घावति, पक्षेऽजायाश्छाल्या अनुलोमाऽनुकूला स्थितिर्यस्याः सा । गौरीदृशी गौरीसदृशी पार्वतीतुल्या, पक्षे, गोर्धेनुः पुनर्मे महिषी पट्टराज्ञी, पक्षे रक्ताक्षिका समस्तु । पुनः कीदृशी, यथोत्तरमुत्तरोत्तरमारब्धं समृद्धीनां गुणसम्पत्तीनां सत्त्वं यस्यां सा, पक्षे समृद्धिः शरीरादिगौरवरूपा । अपि पुनः सदैव दैवेन भाग्येन सहिताऽथ चामृतरूपं दुग्धात्मकं तत्त्वं यस्याः सा ॥ ८२ ॥

न वाच्यताऽथापि सदक्षलावा तन्वी किलानल्पगुणप्रभावा ।
समुन्नतं वृत्तमुपैम्यमुष्या मुग्धोत्तमायाश्च सदा विदुष्याः ॥ ८३ ॥

अर्थ : जयकुमारकी जो दृष्टि सुन्दरतामें पक्षपात करती है—अनुरक्त है वह हर्षसे प्रेरित प्रासङ्गिक भावनाओंसे सदाचारकी समष्टिरूप नौकामें बैठकर अभिव्यक्ति-रहित मानसिक विचारसे निर्निमेष-अपलक हो गयी।

अन्य अर्थ—जयकुमारकी दृष्टि सुन्दर लताओंमें पक्षिणी बन गयी, उन्हींमें रम गयी और फिर सुलोचनाकी नाभि (सरोवर) की अभिव्यक्ति होनेपर उसकी जलक-ल्लोलोंकी छविसे आकृष्ट होकर निरन्तर वहीं विचरणमें सहायक नौकापर सवार होकर मीन हो गयी ॥ ८१ ॥

अन्वय : इयम् अजानुलोमस्थितिः गौरीदृशी अपि मे महिषी समस्तु यथोत्तरारब्ध-समृद्धिसत्त्वा सदैवा अमृतरूपतत्त्वा इष्टवस्तु (अस्ति) ।

अर्थ : दृष्टिके सामने स्थित यह सुलोचना निर्लोम जङ्घाओंसे युक्त है (इसकी स्थिति बकरीके अनुकूल है), पार्वती सरीखी है (ऐसी गाय है)। यह बकरी-सी, गाय-सी या भैंस सरीखी है, तो रहे, पर मेरी पट्टरानी हो। यह उत्तरोत्तर आत्मीय व शारीरिक गुणोंकी सम्पदाओंके अस्तित्वसे एवं अनुकूल भाग्यसे सम्पन्न रहेगी, अतएव यह अमृततत्त्व है, और इसीलिए मेरे लिए इष्ट वस्तु है ॥ ८२ ॥

नवाच्यतेति । वाऽथवा, असौ सन्ति समीचीनान्यक्षाणि कालीति सदक्षला निर्दोषेन्द्रियवती, किन्तु र–लयोरभेदात् समीचीनाक्षरवती च भवति । तथाप्यस्या वाच्यता वचनयोग्यता नास्तीति विरोधे, वाच्यता निन्दा नास्तीत्यर्थः । इयं तन्वी स्वल्परूपापि किलानल्पगुणप्रभावेति च विरोधे तन्वी नाम सूक्ष्माङ्गी अनल्पगुणप्रभावा च सदाऽमुष्या मुग्धोत्तमाया मूर्खशिरोमणिरूपाया अपि विदुष्या इति विरोधः । अतो मुग्धाया अतिसुन्दर्या इत्यर्थे परिहारः । वृत्तं वर्तुलाकारं च समुन्नतमूर्ध्वोत्थितञ्चेति विरोधे समुन्नतं सर्वोत्कृष्टं वृत्तं चरित्रमुपैमि प्राप्नोमि ॥ ८३ ॥

अस्या हि सर्गाय पुरा प्रयासः परः प्रणामाय विधेर्विलासः ।
स्त्रीमात्रसृष्टावियमेव गुर्वी समीक्ष्यते श्रीपदसम्पदुर्वी ॥ ८४ ॥

अस्या इति । अस्याः सुलोचनायाः सर्गाय निर्माणाय हि विधेर्विधातुः पुरा पूर्वकाले निर्मितासु स्त्रीषु प्रयासः कृतस्ततः कौशलमुपेत्य, अधुनैतादृशीमनन्यरूपामेनां सम्पादितवान् । अथ च परः प्रयास उत्तरकाले स्त्रीनिर्माणरूपश्च यः प्रयासो भविष्यति सोऽमुष्या विषये प्रणामाय चरणवन्दनाय वास्यकर्महेतव एव विलासः स्यात् । यदियं श्रीपदयोश्चरणश्रेष्ठयोरथवा श्रिया लक्ष्म्याः पदस्य प्रतिष्ठायाः सम्पदः शोभया उर्वी भूमिः । स्त्रीमात्रस्य सृष्टौ सम्पूर्णस्त्रीणां मध्ये, इयमेव गुर्वी समीक्ष्यते समनुभव्यते ॥ ८४ ॥

अन्वय : वा सदक्षला अथापि वाच्यता न तन्वी (अपि) किल अनल्पगुणप्रभावा सदा मुग्धोत्तमायाः (अपि) विदुष्याः अमुष्याः समुन्नतं वृत्तम् उपैमि ।

अर्थ : अथवा सुलोचना समीचीन निर्दोष इन्द्रियों एवं तज्जन्य ज्ञानसे युक्त है तो भी बोलनेकी योग्यता (परिहार पक्षमें, बदनामी) से रहित है; तन्वी—गुणोंके विकासकी दृष्टिसे कृश है (दूसरा अर्थ-कृशाङ्गी) है तो भी गुणोंके अत्यधिक प्रभावसे युक्त है, सदा मूर्खोंकी शिरोमणि है—सबसे बड़ी मूर्ख (परिहार पक्षमें अत्यन्त सुन्दर) है तो भी विदुषी है । अतएव मैं ऐसके ऊँचे (उदात्त) फिर भी गोल (परिहार पक्षमें चरित्रका प्राप्त कर रहा हूँ ॥ ८३ ॥

अन्वय : अस्याः सर्गाय हि पुरा विधेः प्रयासः प्राणामाय विलासः श्रीपदसम्पदुर्वी इयम् एव स्त्रीमात्रसृष्टौ गुर्वी समीक्ष्यते ।

अर्थ : इस सुलोचनाके निर्माणके लिए निश्चय ही पूर्वकालमें निर्मित स्त्रियोंकी सृष्टिमें ब्रह्माको महान् प्रयास करना पड़ा, उसी प्रयाससे दक्षताको प्राप्तकर इस अनुपम (सुलोचना) की रचना की । सुलोचनाको प्रणाम करनेके लिए भविष्यमें स्त्री सृष्टिके लिए अगला प्रयास उस (ब्रह्मा) का विलासमात्र होगा, विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ेगा । यह सुलोचना लक्ष्मीपदकी शोभाके

करौ विधेस्तस्त्ववरौ धियापि सवेदनस्येयमहो कदापि ।
नमोऽस्त्वनङ्गाय रतेस्तु भर्त्रे स्मृत्येव लोकोत्तररूपकर्त्रे ॥ ८५ ॥

करावीति । विधेः करौ हस्तौ यौ तौ क एव रा द्रव्यं ययोस्तौ आत्ममात्रसाधनौ तस्मादवरौ, साधनान्तरहीनतया स्वत एव निर्बलौ स्तः किन्तु तस्य सवेदनस्य वेदनायुक्तस्य सज्जतया विलष्टस्य ज्ञानवतोऽपि तस्य धियापि विकृतया तावदीदं कदा कस्मिन् काले, अपि प्राप्ता ? नैवापि । अस्या निर्माणं तु दूरमास्ताम्, एतन्निर्माणविषयकचिन्तनमपि कर्तुं न शक्नोति सः । किन्तु रतेर्भर्त्रे कामदेवाय, अनङ्गाय शरीररहितायापि स्मृत्यैव स्मरणमात्रेणैव, अनायासेन लोकोत्तररूपस्य कर्त्रे सम्पादयित्रे नमो नमस्कारोऽस्तु, स एव सर्वश्रेष्ठाधिकारीति । अहो आश्चर्ये ॥ ८५ ॥

यदेतदङ्गं नवनीतमस्ति श्रीकामधेनोरमृतप्रशस्तिः ।
कुतोऽन्यथा स्वेदपदाद् द्रवत्वं प्रयाति लब्ध्वा खलु घर्मसत्त्वम् ॥८६॥

यदेतदिति । श्रीकामधेनोः कामस्य सुरभ्या वाञ्छितकर्त्र्या यदेतदङ्गं शरीरममृतस्य सर्वश्रेष्ठा प्रशस्तिः यस्येदृशं नवनीतं नवीनतया नीतं संघटितं सुन्दरतममस्ति । अमृतं

लिए आश्रयभूमि है और यही स्त्रीमात्रकी सृष्टिमें सर्वोत्तम प्रतीत हो रही है ॥ ८४ ॥

अन्वय : सवेदनस्य विधेः करौ तु अवरौ स्तः धिया अपि इयं कदा अपि अनङ्गाय स्मृत्या एव लोकोत्तररूपकर्त्रे रतेः भर्त्रे तु नमः अस्तु अहो ।

अर्थ : ज्ञान (वेदना) से युक्त विधाताके दोनों हाथ तो निर्बल हैं; क्योंकि वे साधन-हीन है, आत्ममात्र सापेक्ष हैं, अतः उनसे सुलोचनाके सलौनेरूपकी रचना सम्भव नहीं और वेदनायुक्त होनेसे उस (विधाता) की बुद्धिके द्वारा भी इस (सुलोचना) की रचनाका कब चिन्तन किया गया ? सच तो यह है कि विधाता इसके निर्माणकी तो जाने दीजिये उसके विचार करनेमें भी असमर्थ है । अङ्गरहित होनेपर भी केवल स्मरणमात्रसे बिना किसी अभ्यासके लोकातिशायी रूपको उत्पन्न करनेवाले रतिपति कामदेवको नमस्कार हो । रचनाका सर्वश्रेष्ठ अधिकारी कामदेव ही हैं । यदि वह न हो तो सृष्टि ही बन्द हो जाये । यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥ ८५ ॥

अन्वय : श्रीकामधेनोः यत् एतत् अंग (तत्) अमृतप्रशस्ति नवनीतम् अस्ति अन्यथा खलु घर्मसत्त्वं लब्ध्वा स्वेदपदात् द्रवत्वं कुतः प्रयाति ।

अर्थ : कामधेनु (कामदेवकी गाय) का जो मनोरथकी पूर्ति करती है, यह शरीर नवनीत-(नवीनतासे संघटित एवं अत्यन्त सुन्दर) मक्खनमय है । नवनीत

दुग्धमेवप्रशस्तिः सम्पत्तिर्यस्य तन्नवनीतं नाम म्रक्षणमेवास्ति । अन्यथा यद्येवं न स्यात्तदा खलु घर्मसत्त्वं लब्ध्वा स्वेदपयाञ्छ्रमजलव्याजाद् द्रवत्वं विगलनं कुतः प्रयाति, घृतमेव घर्मसत्त्वं लब्ध्वा विगलतीति यावत् ॥ ८६ ॥

एनां विधायानुपमां भविष्यत्स्तनस्मरोऽस्या विधिरप्यशिष्यः ।
मध्यादतोऽध्यात्तदंशभागस्तदङ्गुलीनां त्रिवलीति भागः ॥८७॥

एनामित्यादि । एनामनुपमामनन्यसदृशीं विधाय कृत्वापुनरस्या भविष्यतो: स्तनयोः स्मरः स्मरणं यस्य स विधिर्विधाता नामकर्मरूपो यः खल्वशिष्यः केनापि शिक्षा-योग्यो न भवति स निरङ्कुशः स्वयं स्फूर्तिकरःस्यातोऽमुष्या मध्यान्नाभिस्थानादध्यात्तः सदंशभागः समुपात्तः प्रशस्तलेशो येन सोऽभूत् । स्तननिर्माणार्थं मध्यप्रदेशादेवोत्तमंमंशं हस्तेनोत्थापितवान्, इति तस्याङ्गुलीनां यत्किञ्चिदागोऽपराधकरणमभूत् सैव त्रिवलीति भा त्रिवलिनामकाऽवयवप्रभाऽभूत् ॥ ८७ ॥

समुद्रतान्ताप्यधिकक्षभावा सुरीतिकर्त्री च सुवर्णभावात् ।
समस्ति संख्यातिगतानुभावापि या समुक्ताङ्कविधिः स्वभावात् ॥८८॥

समुद्रेत्यादि । मुत्सहितं रतान्तं, रल्योरभेदाल्लतान्तं पुष्पं यत्र सापि, पुनः कक्ष-मरण्यं शून्याटवीस्थानमधिकृत्य मा लक्ष्मीर्यस्या इति विरोधे, मुत्सहितो रतान्तः सुरत-

---

के लिए दूध ही सर्वस्व है । अन्यथा यदि ऐसा न हो, अर्थात् कामधेनुका शरीर नवनीतरूप न हो तो धूपके अस्तित्वको पाकर वह पसीनाके व्याजसे द्रव अवस्थाको कैसे प्राप्त करता ? नवनीत या घी ही तो धूपके संसर्गसे पिघलता है ॥ ८६ ॥

अन्वय : अनुपमाम् एनां विधाय अस्याः भविष्यत्स्तनस्मरः अशिष्यः अपि विधिः अतः मध्यात्तदंशभागः तदङ्गुलीनाम् आगः त्रिवली इति भा ।

अर्थ : इस अनुपम सुलोचनाके शरीरका निर्माण करके भविष्यमें प्रकट होनेवाले इसके स्तनोंकी याद आते ही, विधाताने, जो किसीसे भी शिक्षा पाने योग्य नहीं है—निरङ्कुश है, जिसका अपर नाम 'नामकर्म' है, सुलोचनाकी नाभिसे स्तनोंके निर्माण योग्य अंश निकाल लिया—इस कारण उसकी चारों अङ्गुलियोंसे जो अपराध (आगः) हुआ वह 'त्रिवली' के नामसे अपनी छाप छोड गया है ॥ ८७ ॥

अन्वय : या समुद्रतान्ता अपि अधिकक्षमा वा सुवर्णभावात् सुरीतिकर्त्री सङ्ख्याति-गतानुभावा अपि समुक्ताङ्कविधिः च स्वभावात् समस्ति ।

अर्थ : जो सुलोचना विकसित पुष्पोंसे युक्त है तो भी शून्य वनसे सुशोभित

परिणामो यस्याः सापि याविका क्षमा सहिष्णुता यस्याः सा, समुद्रेण तान्ता व्याप्ता कथ-ञ्चित्क्षमा पृथ्वी यस्याः सा जलसहितपृथ्वीमती। सुवर्णभावाद् सद्भावस्य सुरीतेः शोभनस्य पित्तलस्य कर्त्रीति विरोधे, सुवर्णभावाच्छोभनरूपत्वात् सुरीणां स्वर्नारीणामपि कर्त्री दौर्गत्यकारिणी। तथैवोच्चवर्णभवत्वात्सुरीतेः सदाचारवृत्तेः कर्त्री। सङ्ख्यां गणनामतिगच्छतो त्येवंभूतोऽनुभावो यस्याः सा पि पुनः समुक्तः सम्यग्वर्णितोऽङ्कविधि-द्वित्र्यादिगणनाप्रकारो यस्याः सा, इति विरोधे सङ्ख्यातिं प्रसिद्धिं गतोऽनुभावो यस्याः सा, एवम्भूता सती मुक्ताभिर्मौक्तिकैः सहितोऽङ्कानामाभूषणानां विधिर्यस्याः सा, अथवा संख्याति सम्यङ्नामगतोऽनुभावो मङ्गलकरीति प्रकारो यस्या सा, मुक्तैः संसारातीतैः सहितोऽङ्कस्य स्थानस्य विधिर्यस्या सैवम्भूता या स्वभावादेव समस्ति ॥ ८८ ॥

स्फुरत्कराग्रा मृदुपल्लवा चाधरश्रिया नाधिकलम्बवाचा ।
समस्ति सद्यःस्मितपुष्पिताऽऽभ्यां नवा लतेयं फलिता स्तनाभ्याम् ॥८९॥

स्फुरदित्यादि। इयं न विद्यते बालता यस्याः सा न बालता नवयौवनवती, सैव नवा लता नवीनवल्लरी, यतः स्फुरन्ति कराग्राणि नखा यस्याः सा, पक्षे स्फुरन्ति कलं मनोहरमग्रं पुरस्ताद्भागो यस्याः सा, मृदवः सुकोमलाः पदोश्चरणयोर्लवा विलासा यस्याः सा, पक्षे, किसलया यस्याः सा। नाधिकोलम्बोदीर्घोऽसाविति वाक्, यस्या-स्तयाऽधरश्रिया शोभया, पक्षे नास्त्याधिर्नाम बाधा यस्य स चासौ कलम्बो नाम लता-

---

होती है—यह तो परस्पर विरुद्ध है, अतः इसका परिहार भी है—कि सुलोचना समुद्रसे अर्थात् मुद्रा-अंगूठी प्रभृति भूषणवृन्दसे व्याप्त है और अति सहनशील है; सुवर्णके सद्भावसे पीतलका निर्माण करती है—यह विरुद्ध है, इसका परि-हार है—उच्चवर्णमें उत्पन्न होनेसे सदाचारका वातावरण बनाती है; सौन्दर्य के सद्भावसे दिव्याङ्गनाओंका पराभव करती है; सुलोचनाका प्रभाव गणनातीत है फिर भी वह दो-तीन आदि अङ्कोंकी विधिसे गणनाद्वारा गिना जाता है-- यह तो विरोध हुआ, इसका परिहार—कि इसका प्रभाव प्रसिद्ध है और आभू-षण मोतियोंसे जड़ा हुआ है—इन विरोधाभासगर्भ विशेषताओंसे वह स्वभावतः विभूषित है ॥ ८८ ॥

अन्वय : स्फुरत्कराग्रा मृदुपल्लवा नाधिकलम्बवाचा अधरश्रिया च (उपलक्षिता) स्मितपुष्पिता इयं नवालता आभ्यां स्तनाभ्यां सद्यः फलिता समस्ति ।

अर्थ : सुन्दर नखों (मनोहर अग्रभाग) से युक्त; कोमल पैरोंकी सुषमा (कोमल कोंपलों) से सम्पन्न; और अधिक वचनोंके प्रयोग (व्याधि) से रहित अधरोष्ठ (कोमल पत्तों) की छविसे उपलक्षित; मुस्कानरूप पुष्प (खिले फूलों)

दीनां स्फुरणे शाखायमानः कोमलवर्णस्तद्वाचा । स्मितेन मन्दहास्येन पुष्पिता सा एवाभ्यां स्तनाभ्यां फलिता फलवती च समस्ति ॥ ८९ ॥

कणीचिमेनां कुसुमेषुमान्यां समन्ततः कौतुकधृक् सुमान्याम् ।
नखाच्छिखान्तं सुमनोभिरेतु चक्रेऽतिशस्ते स्तनकुड्मले तु ॥ ९० ॥

कणीचिमित्यादि । यः कोऽपि कौतुकधृक् विनोदवान् कुसुमप्रेमी च जनः स एनां स्त्रियं नखाच्छिखान्तं समन्ततः सुमनोऽभिर्मनस्विजनैर्देवैश्च सुमान्यां माननीयां, तथा सुमनोभिः पुष्पैः सुमान्यां समर्चितां, तत एव पुनः सुमेषुणा पुष्पबाणेन कामेनापि मान्यां कणीचिं पुष्पलतारूपां शकटीमेतु पश्यतु, स्तनकुड्मले तु पुनरतिशस्ते चक्रे भवतु इति दिक् ॥ ९० ॥

कायादितो याऽप्युचिताशिवाय समस्ति मे कौ च नरोत्तमाय ।
जगुः स्वयं राजगणस्त्वपूर्वामिमां लसन्मङ्गलमञ्जु दूर्वाम् ॥ ९१ ॥

कायादितइत्यादि । या कायादितः कायः शरीरमादिर्येषां वचनमानसादीनां तानि कायादीनि तेभ्य इति ततो मे नरोत्तमाय, कौ पृथिव्यां शिवाय कुशलायोचिता समस्ति । यामिमां स्वयं लसन्ति मङ्गलस्य मञ्जवो दूर्वा मङ्गलोक्तिपूर्वकनिक्षिप्ता दूर्वा यस्यास्ता-मिमामपूर्वामपूर्वसञ्जातामतिमनोहरां जगुः । अथवा, यादित एव कायशब्दे, का नाम पञ्चमी विभक्ती रूपा माया तथा शिवाय कल्याणोचिता । उकारेण चिता सहिता उमा नाम, या च नरोत्तमाय विष्णवे कौ, सम्बुद्ध्येकवचने मे, इत्येवं सगदिता, तामिमां राज-गणश्चमत्कुटुम्बस्तु, अकारोऽस्ति पूर्वस्मिन् यस्यास्तामिमां माङ्गलिकदूर्वाप्रयोक्त्रीं स्वयं

से युक्त यह (सुलोचना) बाल्य अवस्थासे मुक्त (नबालता) अभिनवलता है, जो इन दोनों स्तनोंसे शीघ्र ही फल-युक्त हो गयी है ॥ ८९ ॥

अन्वय : कौतुकधृक् नखात् शिखान्तं (यावत्) सुमनोभिः सुमान्यां कुसुमेषुमान्याम् एनां कणीचिं समन्ततः एतु (यत्र) तु स्तनकुड्मले अतिशस्ते चक्रे (स्तः) ।

अर्थ : जिसे कौतूहल (फूलोंसे प्रेम) हो, वह नखसे शिखा-चोटी तक, मनस्वी पुरुषों एवं देवों (फूलों) के द्वारा मान्य और इसीलिए कामदेवके द्वारा माननीय इस पुष्पलता (सुलोचना) रूपगाड़ीको सभी ओरसे देखे—समझे (एतु), जिसमें स्तनकुड्मलोंके अत्यन्त सुन्दर पहिये लगे हुए हैं ॥ ९० ॥

अन्वय : या कायादितः मे नरोत्तमाय अपि च कौ शिवाय उचिता याम् इमां स्वयं लसन्मङ्गलमञ्जुदूर्वां राजगणः तु अपूर्वां जगुः ।

अर्थ : जो सुलोचना शरीर आदिकी दृष्टिसे मुझ श्रेष्ठ पुरुषके लिए और भूतल पर कल्याणके लिए योग्य है—इस तरह इसे, जो स्वयं ही मङ्गलोच्चारण-

जगौ, नूतनजन्मदात्रीमिति, यद्वा परोऽपि भूपवर्ग इमामुमामिव पूजनीयामेव जगौ न तु भोग्यामिति ॥ ९१ ॥

चारुर्विधोः कारुरुतामृतात्मा स्वारुक् सदा रूपनिधेरुतात्मा ।
पद्मोदरादात्ततनुः शुभाभ्यां विभ्राजते मार्दवसौष्ठवाभ्याम् ॥ ९२ ॥

चारुरित्यादि । उताथवाऽसौ चारुर्मनोहराऽमृतात्माऽमृतवदानन्ददायिनी विधोश्चन्द्रमसः कारुः क्रिया विभ्राजते । उताथ स्वारुक् स्वर्गीयरूपवती देवीव सदा भवति, यासौ रूपनिधेः सौन्दर्यसिन्धोरात्मा, शुभाभ्यां मार्दवसौष्ठवाभ्यां कोमलता सुन्दरताभ्यां वशात् पद्मोदरात्पद्ममध्यादात्ततनुर्लब्धशरीरा सम्भवति ॥ ९२ ॥

शशिनस्त्वास्ये रदेषु भानां कचनिचयेऽपि च तमसो भानाम् ।
समुदितभावं गता शर्वरीयं समस्ति मदनैकमञ्जरी ॥ ९३ ॥

शशिनइत्यादि । इयं तरुणी सुलोचना शर्वरीरूपा वर्तते इति शेषः । तदेवोपपादयति–इयमास्ये मुखे शशिनश्चन्द्रमसः, रदेषु दन्तेषु भानां नक्षत्राणाम्, अपि च कचनिचये केशसमूहे, तमसोऽन्धकारस्य भानां शोभानां समुदिताभावं समवायरूपतामाप्ताऽस्ति । किञ्चेयं मदनस्य कामस्यैका मञ्जरी पुष्पकलिका, बाणरूपा वा वर्तते इति शेषः ॥ ९३ ॥

साम्प्रत मम तु कामदारताङ्गीयमप्यततु कामदारताम् ।
प्राप्य यामपि तु तामसारतां संसृतिस्त्यजति तामसारताम् ॥९४॥

पूर्वक निक्षिप्त दूर्वा-युक्त है, राजगण—अनेक वर्गोंमें स्थित राजा-महराजाओं-ने अपूर्व अर्थात् अभूतपूर्व सौन्दर्यमय कहा है ॥ ९१ ॥

अन्वय : उत (असौ) विधोः अमृतात्मा चारुः कारुः उत सदा स्वारुक् रूपनिधेः आत्मा शुभाभ्यां मार्दव सौष्ठवाभ्यां पद्मोदरात् आत्ततनुः विभ्राजते ।

अर्थ : अथवा यह सुलोचना चन्द्रमाकी, अमृतकी भाँति आनन्द प्रदान करनेवाली मनोहारिणी शिल्पक्रिया है; अथवा सदा दिव्यरूपवाली देवी है, या सौन्दर्यरूपी समुद्रकी आत्मा है, जो शुभ-सूचक कोमलता तथा सुन्दरताके कारण ऐसी प्रतीत हो रही है मानों इसने कमलके उदरसे अपना शरीर प्राप्त किया हो ॥ ९२ ॥

अन्वय : आस्ये शशिनः रदेषु भानाम् अपि च कचनिचये तमसः भानां समुदितभावं गता इयं शर्वरी समस्ति (किंवा) मदनैकमञ्जरी (वर्तते) ।

अर्थ : मुखमें चन्द्रमाकी, दाँतोंमें नक्षत्रोंकी और केशपाशमें अन्धकारकी इस तरह इन तीनोंकी सम्मिलित शोभाको पाकर यह सुलोचना साक्षात् रात्रि है, या फिर कामदेवकी पुष्प-कलिका है ॥ ९३ ॥

साम्प्रतमिति । इयं लताङ्गी लतावत्सुकोमलशरीरा साम्प्रतमिदानीं मम कामदा वाञ्छितदायिनी कामस्य मदनस्य दारतां रतिरूपतामततु प्राप्नोतु । यां तामसे तमोगुणे तावदरतां कोपरहितामिति प्राप्य समुपलभ्य संसृतिरियं तां स्वकीयां सहजसम्भवामसारतां निस्सारपरिणतिमपि तु त्यजति सारवती भवति ॥ ९४ ॥

स्वच्छदरक्षणावलग्नायाप्युच्चैः स्तनफलोदयप्राया ।
सत्सुलता ख्यातास्त्विति जाने सौरभार्थमपि सुमनःस्थाने ॥ ९५ ॥

स्वच्छेत्यादि । इयं सत्सु सभ्येषु लता ख्याता वल्लरी प्रसिद्धा, कथम्भूता—सत्सुरता प्रशंसनीयाऽमरता, सौरभं यशः लतापक्षे परिमलः, स्वर्गपक्षे सुराणां भा तदर्थमस्तु, इत्यहं जाने । यतो यासौ स्वच्छस्य दरस्य नाभिगामगर्तस्य क्षण उत्सवो यत्रेदृशोऽवलग्नो मध्यदेशो यस्याः, लतापक्षे स्वच्छानां दराणां निजपत्राणां । स्वर्गपक्षे स्वच्छस्य निर्दोषस्य दरस्य द्वारस्य यद्वा समूहस्य रक्षणेऽवलग्ना तत्परा । उच्चैः स्तनरूपफलयोरुदय–प्रायो यस्याः; लता पक्षे उच्चैःस्तनानां पृथुलानां फलानामुदयप्रायो यस्याः, स्वर्गपक्षे उच्चैः-स्तन उपरिप्रदेशे वर्तमानः फलोदयः स्वर्गस्तत्प्राया तद्वतीत्यर्थः । सुमनसां सज्जनानां पुष्पाणां देवानां च । स्थाने सापीति यावत् ॥ ९५ ॥

अन्वय : साम्प्रतं मम तु कामदा इयं लताङ्गी कामदारताम् अततु अपितु यां तामसारतां प्राप्य संसृतिः ताम् असारतां त्यजति ।

अर्थ : इस समय मेरे मनोरथोंको पूरा करनेवाली और लताकी भाँति कोमलाङ्गी यह सुलोचना कामदेवकी पत्नी-रतिके रूपको प्राप्त करे, जिसे तमोगुणमें कोपरहित पाकर संसृति (संसार) अपनी सहज असारताको छोड़ रही है—सारवती हो रही है ॥ ९४ ॥

अन्वय : (इयं) सत्सुलता ख्याता सौरभार्थम् अस्तु इति जाने अपि च या स्वच्छ-दरक्षणावलग्ना उच्चैःस्तनफलोदयप्राया सुमनःस्थाने अपि (वर्तते) इति जाने ।

अर्थ : यह सुलोचना सत्पुरुषोंमें लताके रूपसे प्रसिद्ध है, जो अमरता, यश (लता पक्षमें सुगन्धि और स्वर्गपक्षमें दिव्य आभा) प्राप्त करे । प्राप्त करेगी—ऐसा मैं जानता हूँ, क्योंकि इसकी कायाके मध्यभागमें स्वच्छ नाभि-गर्तका उत्सव विद्यमान है (लता पक्षमें स्वच्छ पत्तों और स्वर्गपक्षमें स्वच्छ-निर्दोष समुदायके) रक्षण करनेमें उद्यत है । इसके अतिरिक्त यह उन्नत स्तनरूपफलों (लतापक्षमें ऊँचाईपर लगे हुए बड़े-बड़े फलों और स्वर्गपक्षमें अत्यधिक ऊँचाई पर विद्यमान दिव्य सुख) के उदयके सन्निकट है । फलतः यह सत्पुरुष, पुष्प और देव—इन तीनोंमें प्रख्यात है (?) ॥ ९५ ॥

मृक्षणं म्रदिमलक्षणे रणे काद्रवेयमपि वक्रिमक्षणे ।
अञ्जनं जयति रूपसम्पदि एतदीयकबरीति नाम दिक् ॥ ९६ ॥

मृक्षणमिति । एतदीया कबरी नाम वेणी म्रदिमलक्षणे मार्दवरूपे रणे मृक्षणं नवनीतम्, वक्रिमक्षणे वक्रतावस्थे रणे काद्रवेयं सर्पम्, रूपसम्पदि वर्णचेष्टायामञ्जनं कज्जलमपि जयति । तेभ्योऽप्यतिश्रेष्ठगुणवतीयमिति दिक् ॥ ९६ ॥

इयं नाभिवापी रसोत्सारिणी लोमलाजी जलाजीव चञ्चूयते ।
स्मरः सिञ्चकस्तत्पदन्यासहेतोर्वलिव्याजतः पद्धतिः स्तूयते ॥ ९७ ॥

इयमित्यादि । इयं नाभिनामवापी दीर्घिका सा रसोत्कारिणी सौन्दर्यधारिणी, जलसम्वाहिका च भवति । तत्रैव लोमलाजी रोमावली सा जलाजीवनार्थं चञ्चूयते, चञ्चूवदाचरति । स्मरः कामदेवः सिञ्चकोऽस्ति । तस्य पदन्यासहेतोश्चरणप्रदानकारणाद् वलिव्याजतस्त्रिवलिनामावयवच्छलात् पद्धतिः स्तूयते, पदवी विलोक्यते ॥ ९७ ॥

असौ यौवनारामसिद्धिस्ततः श्रीफलाभ्यामिदानीमिहोद्भूयते ।
महाबाहुवल्लीमतल्लीतले यद्विलोक्यैव लोकोऽपि मोमुह्यते ॥ ९८ ॥

असाविति । असौ यौवनारामस्य तरुणिमोद्यानस्य सिद्धिर्निष्पत्तिरेव, तत इहेदानीं

अन्वय : एतदीयकबरी नाम मद्रिमलक्षणे रणे मृक्षणं वक्रिमक्षणे रणे काद्रवेयं रूपसम्पदि अञ्जनम् अपि जयति इति दिक् ।

अर्थ : सुलोचनाकी विशेष प्रकारकी केशरचना कोमलताकी प्रतियोगितामें मक्खनको, वक्रताकी प्रतियोगितामें सर्पको और रूप-(रंग) सम्पत्तिकी प्रतियोगितामें कज्जलको भी पराजित कर रही है—इस तरह यह उसकी केश रचनाके श्रेष्ठगुणोंका दिग्दर्शनमात्र है ॥ ९६ ॥

अन्वय : इयं नाभिवापी रसोत्सारिणी लोमलाजी जलाजीवचञ्चूयते स्मरः सिञ्चकः तत्पदन्यासहेतोः वलिव्याजतः पद्धतिः स्तूयते ।

अर्थ : (यौवनरूपी उद्यानमें पानी देनेके लिए) सुलोचनाकी नाभि सुषमा सम्पन्न नाभिवापिका जल देनेका साधन है, इसकी रोमावली जल खींचनेकी चञ्चु-सूक्ष्म पोली लकड़ी है और सिञ्चन करनेवाला कामदेव है, जिसके पैर रखनेके लिए त्रिवलिके बहाने स्तुत्य तीन पंक्तियाँ बनी हुई हैं ॥ ९७ ॥

अन्वय : असौ यौवनारामसिद्धिः ततः इह इदानीं महाबाहुवल्लीमतल्लीतले श्री फलाभ्यान् उद्भूयते यद् विलोक्य लोकः अपि मोमुह्यते ।

महाबाहुवल्लीमतल्लीतले श्रीफलाभ्यां स्तनाभिधानाभ्यामुद्भूयते, यद्विलोक्यैव लोकेन जन-समूहेन मोमुह्यतेऽतिशयेन भूयो भूयो मुग्धीभूयते ॥ ९८ ॥

कर्मकरीति नाम्नास्यास्तुण्डिकेरी महौजसः ।
समाख्याता फलं लब्धुं बिम्बन्तु रदवाससः ॥ ९९ ॥

कर्मकरीत्यादि । तुण्डिकेरी नाम बिम्बिका साऽस्याः शोभनाया महौजसो रदवासस ओष्ठस्य, ओष्ठाद्वा बिम्बं प्रतिच्छायरूपं फलं परिणामं प्रसवञ्च लब्धुं कर्मकरी किंक-रिणीत्येवं नाम्ना समाख्याताऽभूत् । कर्मकरीत्येतन्नाम तुण्डिकेर्या लोकप्रसिद्धिमाश्रि-त्योक्तिः । बिम्बं तु तस्याः फलस्य नामास्ति ॥ ९९ ॥

सुष्ठु श्रीसुदृशः स्वरूपकथनं कर्तुं समुन्नायकं-
दृप्तोऽनङ्गगुणोचितं सक इतोऽस्त्यङ्गस्फुरत्संकथः ।
शस्तेनापि किमायुधेन कलितं व्योम्नः पुनः खण्डनं
नर्मेष्टि सुमुखेदृगेतु शशभृत्कल्पे कथं नाथ नः ॥ १०० ॥

सुष्ठ्वित्यादि । इतोऽस्मिन् भूतले, अङ्गेन शरीरेण स्फुरति सम्यक् कथाकथन-शक्तिर्यस्य सप्रशस्तशरीरोऽपि जनो विद्वान् सकोऽस्ति, योऽनङ्गगुणेन मदनजनितेङ्गितेन, उचितं युक्तं, यद्वा, अङ्गातीतगुणैरञ्चितं मुदा सहितं समुच्च तन्नाम च तत्समुन्नामकं यस्य नामापि प्रशस्तिकरं तदित्यर्थः । यद्वा, उन्नतत्वसम्पादकं यस्या वर्णनेन पुण्यपात्रं

अर्थ : यह, यौवनरूपी उद्यानकी सिद्धि है, इसीलिए इस उद्यानमें इस समय लम्बी-लम्बी श्रेष्ठ बाहुलताओंके नीचे (स्तन नामक) सुन्दर फल लग गये है, जिन्हें देखकर लोग भी अत्यन्त मोहित हो रहे हैं ॥ ९८ ॥

अन्वय : तुण्डिकेरी अस्याः महौजसः रदवाससः बिम्बं फलं लब्धुं कर्मकरी इति नाम्ना समाख्याता (अस्ति) ।

अर्थ : तुण्डिकेरी लता, जिसमें बिम्ब (कुनरू) फल लगते हैं, इस सुलोचना-के अत्यधिक कान्ति सम्पन्न नीचेके ओष्ठ (होठ) सरीखे फलको प्राप्त करनेके लिए 'कर्मकरी' (कर्मचारिणी-नौकरानी) इस नामसे प्रसिद्ध है ॥ ९९ ॥

अन्वय : इतः अङ्गस्फुरत्संकथः सकः अस्ति यः श्री सुदृशः अनङ्गगुणोचितं समुन्नाशकं सुष्ठु स्वरूपकथनं कर्तुं दृप्तः (भवेत्) किं शस्तेन अपि आयुधेन व्योम्नः, खण्डनं कलितम् अथ पुनः नः दृक् शशभृत्कल्पे मुखे नर्मेष्टि कथं न एतु ।

अर्थ : इस भूतलपर, जिसके केवल शरीरसे ही श्रेष्ठ कथा कहनेकी शक्ति प्रकट हो जाती है ऐसा प्रशस्त शरीर विद्वान् वह है, जो सुलोचनाके अङ्गातीत-

जनः स्यादिति । यतस्तच्छ्रीसुदृशः सुलोचनायाः स्वरूपस्य कथनं कर्तुं दृप्तः समर्थो भवेत् । सुष्ठु यथा स्यात्तथा, किन्तु न कोऽप्यस्तीत्यर्थः । शस्तेनापि वज्रभेदकेन किं पुनरप्रशस्तेनायुधेन शस्त्रेण व्योम्न आकाशस्य खण्डनं भवति किम् ? न भवतीत्यर्थः । यथा तथैव । तथापि नोऽस्माकं दृग् दृष्टिरथ पुनः शशभृत् कल्पे चन्द्रतुल्येऽस्याः सुमुखे नर्मोद्दिष्टं विनोदवृत्तिं कथं नैतु लभेतैव । एतच्चक्रमबन्धस्या राक्षरैः सुदृशः कथन मिति सर्गसूची । सु दृशः कथनं नाम चक्रबन्धः ॥ १०० ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरीदेवी च यं धीचयम् ॥
तस्येयं कृति रात्मसौष्ठवतया श्रीमन्मनोरञ्जनी,
सर्गं साधु दशोत्तरं विदधती जीयादिवेत्थं जनी ॥ ११ ॥

इति श्रीवाणीभूषण-महाकवि-ब्रह्मचारि-भूरामलशास्त्रि-रचिते
जयोदयापरनामसुलोचनास्वयम्बरमहाकाव्ये
एकादशः सर्गः समाप्तः ॥११॥

आत्मीय गुणोंके योग्य एवं उन्नति-सम्पादक स्वरूपको अच्छी तरह कहनेके लिए समर्थ हो । पर ऐसा है कोई ? क्या वज्रभेदी आयुधके द्वारा भी आकाश खण्डित हुआ है या हो सकता है ? तो भी मेरी दृष्टि (सुलोचनाके) चन्द्रमा सरीखे मुखके विषयमें क्यों न विनोदवृत्तिको प्राप्त करे ?

आशय यह कि जैसे वज्रका भेदन करनेवाला भी अस्त्र आकाशको खण्डित नहीं कर सकता वैसे ही कोई विशिष्ट विद्वान् भी सुलोचनाके स्वरूपका निरूपण नहीं कर सकता है—यह मैं जानता हूँ, पहन्तु केवल मनोविनोदके लिए ही मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥ १०० ॥

जयकुमार-सुलोचनाका वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

शिवमों शिवमों नमोऽर्हमद्य शिवमोंह्रीमृषिवन्दितं तु सद्यः ।
वशिवं शिवरैः श्रितं हितं च वृषिबोध्यञ्च सुधाशिबोध्यमञ्चत् ॥१॥

शिवमित्यादि । हितं सर्वेषां प्राणिनां कल्याणमञ्चत् प्रकुर्वत्, यदों तच्छिवं मङ्गलरूपमों नमोऽर्हमित्यपि शिवं मङ्गलमों ह्रीमित्येतदपि शिवं मङ्गलम् यत्तावदृषिभिः कुन्दकुन्दादिभिस्तु पुनरद्य सद्य एव वन्दितमाराधितं भवति, वशिनो जितेन्द्रियाश्च ते वंशिवरा गृहस्थाश्च तैः श्रितं सेवितं, वृषिभिर्धर्मात्मभिः सज्जनैर्बोध्यमनुमननीयम्, सुधाशिभिर्देवैरपि बोध्यमस्तीति यावत् ॥ १ ॥

शशिवन्निशि वर्तते महस्ते दिशि बन्धुर्मषिवर्तिनां नमस्ते ।
तृषि वारि शिवारिधारिणे वा शिवमेवासि वचोऽधिदेवतेऽम्बा ॥२॥

शशिवदिति । हे वचोऽधिदेवते, सरस्वति, ते महस्तेजः, निशि रात्रौ शशिवच्चन्द्रमण्डलमिव, मषिवर्तिनां तमसि स्थितानां बन्धुर्भवति, तथा शिवारिः कामः तद्धारिणे सकामाय जनाय तृषि वारि, पिपासायां जलवच्छिवं मङ्गलकरमत एवाम्बासि ततस्ते नमोऽस्तु ॥ २ ॥

अन्वय : अद्य ऋषिवंदितं वशिवंशिवरैरुपासितं च वृषिबोध्यं च सुधाशिबोध्यं च तु सद्यः अञ्चत् ओं शिवं ओं नमो अर्हं शिवं ओं ह्रीं शिवम् ।

अर्थ : 'ओं' यह शिव है (कल्याणकारी) मंगलरूप है, ओं नमो अर्हन् यह भी शिवरूप है, 'ओं ह्रीं' यह भी शिव है जो कि सदा ऋषियोंके द्वारा वन्दनीय है, इन्द्रिय-विजयी लोगोंके द्वारा उपासना करनेके योग्य है और धर्मात्माओंके द्वारा जानने योग्य है। तथा देवताओंके द्वारा भी जानने योग्य है, क्योंकि वह निर्दोष है ॥ १ ॥

अन्वय : हे वचोऽधिदेवते ! निशि ते महः शशिवत् वर्तते मषिवर्तिनां ते महः दिशि बन्धुः वर्तते, अतस्ते नमः, त्वं तृषिवारि असि शिवारिधारिणे वा अम्बा असि ।

अर्थ : हे माता सरस्वती देवि ! तेरा तेज रात्रिमें चन्द्रमाके समान है। अन्धकारमें पड़े हुए लोगोंको दिग्दर्शन करानेके लिए बन्धुके समान (हितकर) है, तृषातुरके लिए जलके समान हैं। शिवजीका बैरी जो कामदेव उसके धारक व्यक्तिके लिए भी तेरा महत्त्व कल्याणकारक है, अतः हे देवते ! आपको नमस्कार है ॥ २ ॥

ऋषयोऽस्मि शयोभयोपयोक्त्री शिवमुर्वी खलु वः पदोपभोक्त्री ।
वरदं वरदर्शनञ्च येषां चरदन्तश्चरदम्भदुष्टलेशान् ॥ ३ ॥

ऋषय इति । हे ऋषयः, अहं शययोरुभयस्य हस्तद्वयस्य, उपयोक्त्री भवामि । यतः कारणाद्वः पदोपभोक्त्री, उर्वी भवतां चरणमही खलु शिवं मङ्गलं, येषां वरं दर्शनमन्तश्चरस्य दम्भस्य पापाचारस्य दुष्टान् लेशान्, चरद् भक्षयद् विनाशयदित्यर्थः । वरदमभीष्टदायकं भवति, तस्मात्कारणात् ॥ ३ ॥

वृषचक्रमपक्रमप्रभाव-प्रतियोगि प्रतियोगि च प्रभावत् ।
प्रवलेऽत्र कलेर्दले खलेनः शिवमेवासिवदस्तु मेऽतुमेनः ॥ ४ ॥

वृषचक्रमिति । अत्र कलेः कलहस्य खले दुष्टरूपे दले प्रबले बलशालिन्यपि, यद्वा कलेरिति दुःषमकालस्य, नोऽस्माकमेनः पापं भेत्तुमसिवत् खड्गतुल्यं यत्खलु वृषचक्रं धर्मचक्राख्यं रत्नं यत् किलापक्रमप्रभावस्य दुर्मतप्रसारस्य प्रतियोगि प्रतिपक्षस्वरूपं यच्च योगिनं योगिनं प्रति प्रभावद् भवति, तच्छिवं मङ्गलमस्तु ॥ ४ ॥

कलशः कलशर्मवागनून दलसङ्कल्पलसत्फलप्रसूनः ।
वसुधामसुधावशात्समुद्रः शिवतातिं कुरुतात्तरामरुद्रः ॥ ५ ॥

कलश इति । अनूनेनानल्पेन दलसङ्कल्पेन पल्लवप्रपञ्चेन लसन्ति शोभमानि फल-

---

अन्वय : हे ऋषयः ! अहं शयोभयोपयोक्त्री अस्मि खलु वः पदोपभोक्त्री उर्वी शिवं अस्तु, अन्तश्चरदम्भदुष्टलेशान् चरत् एषां वरदर्शनं च वरदं अस्ति ।

अर्थ : हे ऋषि लोगो ! मैं आप लोगोंके सन्मुख दोनों हाथ जोड़े खड़ी हूँ, अतः आपके चरणोंसे छूई हुई जो यह पृथ्वी है वह कल्याणकारी हो, जिसका सुन्दर दर्शन मनके भीतर होनेवाले दंभ व मायाचारके दुष्ट अंशोंको नष्ट करनेवाला होते हुए भी वरदायक होता है ॥ ३ ॥

अन्वय : वृषचक्रं अपक्रमप्रभावप्रतियोगि प्रतियोगि च प्रभावत् तत् न एनः भेत्तुं असिवत् अत्र कलेः प्रवले दले शिवं अस्तु ।

अर्थ : जो वृषचक्र (धर्मचक्र) दुष्क्रमके (दुर्मतोंके) प्रभावको नष्ट करनेवाला है, योगियोंके प्रति प्रभाव दिखानेवाला है वह धर्मचक्र प्रबल एवं दुष्ट इस कलिकालके दलमें हमारे पापोंको नष्ट करनेके लिए तलवारके समान होकर कल्याणकारी हो ॥ ४ ॥

अन्वय : अनूनदलसङ्कल्पलसत्फलप्रसूनः कलशर्मवाक् अरुद्रः वसुधाम सुधावशात् समुद्रः स कलशः शिवतातिं कुरुतात्तराम् ।

प्रसूनानि यत्र स मुखलसद्बीजपूराद्यफलपल्लवपुष्पसहितः कलशर्मवाङ् मङ्गलोपपदः कलशः सकलं मनोहरं शं शर्म यस्मादिति, वसूनां रत्नानां धाम स्थानभूता या सुधा अमृतप्रवाहस्तस्या वशात् समुद्रो मुद्रया सहितः सलिलपूर्णकुम्भो योऽव्यः सौम्याकृतिः स वितनोति कल्याणपरम्परां कुशलाभ्युदयोत्सर्गाविना इति यावत् ॥ ५ ॥

शशिवद् दृशि वल्लभं प्रजायाः शिशिरच्छायतयाध्वनीह भायात् ।
गणनैकसमाश्रयात्समेतं त्रितयं चातपवारणोक्तमेतत् ॥ ६ ॥

शशिवदिति । यदेतत् किलातपवारणोक्तत्रितयं गणनैवैकः समाश्रयो यत्र गणस्य धार्मिकसमूहस्य नः पूज्यो यो जिनराट् तस्य समाश्रयात् समेतं शिशिरानुष्णच्छाया यस्यास्तस्य भावतया प्रजाया दृशि वल्लभं मनोमोहकं तच्चेहाध्वनि भायात् ॥ ६ ॥

परमेष्ठिरसेष्टितत्पराणीतिसतां श्रीरसतारतम्यफाणिः ।
किल सन्ति लसन्ति मङ्गलानि सुतरां स्वस्तिकमञ्जुवाङ्मुखानि ॥७॥

परमेष्ठीत्यादि । स्वस्तिकमिति मञ्जुर्मनोज्ञा वाग्वाणी मुखे प्रथमत एव येषां तानि किल सन्ति शोभनानि मङ्गलानि तानि चैतानि परमेष्ठिनो जिनदेवस्य रसः शरीरं तस्येष्टौ पूजायां तत्पराणि सज्जानि, 'रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे । पारदे धातुवीर्याम्बु-रागे गन्धरसे तनौ' इति विश्वलोचनः । लसन्ति शोभन्ते, सुतरामेवेत्येवं रूपः सतां सभ्यानां श्रीरसस्य तारतम्यफाणिर्गुड इव मधुरः ॥ ७ ॥

अर्थ : यह मंगलकलश, सुन्दर सुखको देनेवाले वचनयुक्त है, महान् पत्रों के संकल्पसे युक्त जो फल और फूल उनसे संयुक्त है। रत्नोंसे युक्त सुधाजलके होनेसे समुद्र सरीखा है और जो शान्ति देने वाला है वह कलश हम लोगोंका कल्याण करे ॥ ५ ॥

अन्वय : एतत् च आतपवारणोक्तं त्रितयं गणनैकसमाश्रयात्समेतं सत् इह अध्वनि शिशिरच्छायतया भायात्, यत् प्रजायाः दृशि शशिवत् वल्लभम् ।

अर्थ : (छत्रत्रय) चन्द्रमाके समान देखनेवाले लोगोंके नेत्रोंको प्रसन्न करने वाला है, ठंडी छाया देनेके कारण मार्गमें चलने वालोंके लिये उपयोगी है और गणनाकी दृष्टिसे तीन संख्याको धारण करता है ॥ ६ ॥

अन्वय : स्वस्तिकमञ्जुवाङ्मुखानि सुतरां मङ्गलानि किल सन्ति लसन्ति तानि परमेष्ठिरसेष्टि-तत्पराणि इति सतां श्रीरसतारतम्यफाणिः अस्ति ।

अर्थ : स्वस्तिकादि जो अष्ट मंगल द्रव्य हैं वे पंचपरमेष्ठीकी पूजामें उपयोगी है, अतः वे मिष्ट मधुर रसवाले गुड़के समान है, ऐसा सत्पुरुषोंके कथनका तात्पर्य है ॥ ७ ॥

दृशि वः शिवमस्तु हे सुरेशा मृदुवेशा कुलदेवतापि मे सा ।
शिवमाशिषि वर्तते च येषां गुरवः श्रीपुरवर्तिनोऽपि शेषाः ॥ ८ ॥

दृशीत्यादि । हे सुरेशाः सुपर्वाणः, वो युष्माकं दृशि दृष्टौ शिवमस्तु, सा मृदुवेशा प्रसन्नवेशवती कुलदेवतापि शिवमस्तु, कल्याणकरी भवतु । तथा येषामाशिषि वंदनायां शिवं मङ्गलं वर्तते ते गुरवो वृद्धा अपि शेषाः पुरवर्तिनोऽपि लोकाः शिवमस्तु कल्याणाय भवन्तु ॥ ८ ॥

शिवपौरुषदोरुशर्म शक्तिमनुगन्तुं मनुभिस्त्रिवर्गभक्तिः ।
कथिता पथि तावदस्मि गौरी शिवमास्तां भगवाञ्जयोक्तिमौरिः ॥९॥

शिवेत्यादि । शिवपौरुषं चरमपुरुषार्थस्तं ददाति या सा चासावुरुशर्मशक्तिश्चानन्त-सुखगुणरूपा, तामनुगन्तुं मनुभिर्महापुरुषैः पथि लोकमार्गे त्रिवर्गभक्तिर्धर्मार्थकामसमन्वय-रूपा विनतिः कथिता, सा मया यथौचित्येन कृतेति किलाहं गौरी बालस्वभावा अस्मि जय जयेति किलैवं मुक्तिमौला वाऽऽर्वौ यस्मै स भगवान् जिनदेवः शिवमास्ताम्, भद्रं भवत्विति-त्यर्थः ॥ ९ ॥

सुचिराच्छुचिरागतोऽधुनाथ न वियुज्येत पुनर्ममात्मनाथः ।
बलिनं नलिनस्रजानुबन्धवशगेत्थं दयितं तु सा बबन्ध ॥ १० ॥

अन्वय : हे सुरेशा वः दृशि शिवं अस्तु मृदुवेशा सा कुलदेवताऽपि मे शिवमस्तु येषां च आशिषि शिवं वर्तते ते गुरवः श्रीपूरवर्त्तिनो शेषाः अपि जनाः सन्तु ।

अर्थ : हे देवता लोगो। आपकी दृष्टिमें भी हमारे प्रति कल्याणमयी भावना हो ! हे कुल देवताओ ! आपकी भी मुझ पर सौम्यदृष्टि रहे। जिनके आशीर्वादमें कल्याण सुनिहित रहता है ऐसे गुरु लोग और शेष सभी नगरवासी लोग भी हमारे लिये मंगलकारक हों ॥ ८ ॥

अन्वय : मनुभिः शिवपौरुषदोरुशर्मशक्ति अनुगन्तुं त्रिवर्गभक्तिः कथिता, अहं तु तावत् पथि गौरी अस्मि जयोक्तिमौरिः भगवान् शिवं आस्ताम् ।

अर्थ : हमारे कुलकरोंने त्रिवर्गकी भक्तिको (धर्म, अर्थ, कामकी) मोक्ष पुरुषार्थके प्रति शक्ति प्राप्त करनेके लिए उपयोगी बताया है, मैं तो इस विषयमें बिलकुल भोली हूँ, किन्तु जयकार शब्दका ही मुकुट रूपसे धारण करनेवाले भगवान् मंगलकारक हों ॥ ९ ॥

अन्वय : अथ ममात्मनाथः शुचि सुचिरात् आगतः अधुना पुनः न वियुज्येत इत्थ सा अनुबन्धवशगा तु त बलिनं दयितं नलिनस्रजा बबन्ध ।

शुचिरादिति । यः शुचि हृदयस्य पवित्रो ममात्मनाथः प्राणश्वरः सुचिरात् कालात् प्रतीक्षितः सम्प्रति अधुना किलागतः सम्प्राप्तः सोऽथ पुनर्न वियुज्येत, इति विचारत एव किलानुबन्धवशगा प्रणयवशीकृता सा सुलोचना बलिनं बलवन्तं दयितं स्वामिनं तु जयकुमारं नलिनानां कमलानां स्रजा मालया बबन्ध गृहीतवती ॥ १० ॥

स्रगहो सुदृशः शयोपचिद्या द्विषते स्तम्भकरीव भाति विद्या ।
जयवक्षसि सा पुनः प्रगत्या जनिवेणीव तदाश्रियो जरत्याः ॥११॥

स्रगिति । द्विषते वैरिणे स्तम्भकरी स्तम्भनकारिणी विद्या कार्मणक्रियेव भाति स्म, या सुदृशोऽकम्पनदुहितुः शयोपचित् करगता स्रक् कुसुममाला सैव पुनर्जयस्य नाम वरराजस्य वक्षसि, उरोदेशे प्रगत्या साद्य तदा जरत्या वृद्धिं गतायाः श्रियो लक्ष्म्या वेणी कबरीवाऽजनि सञ्जाता ॥ ११ ॥

सुममाल्यमिदं वितीर्य चेहाऽतुलसम्मोदभरातिपीनदेहा ।
उपनीतवती प्रसादमेषा स्वयमन्तः शयमीशितुर्विशेषात् ॥ १२ ॥

सुममाल्यमिति । अतुलस्यानन्यसदृशस्य सम्मोदस्य भरेण रोमहर्षलक्षणेनातिपीनो देहो यस्याः सा सुलोचना चेह पाणिग्रहणावसरे इदं सुममाल्यं कुसुमदाम वितीर्य गले निक्षिप्य, ईशितुः प्राणप्रियस्य अन्तः शयं हृदि वर्तमानं कामदेवं स्वयं सुतरामेव विशेषादतिशयतया प्रसादं प्रसन्नतामुपनीतवती । स्वामिनो हृदयजं पुष्पमालया पूजयामास ॥१२॥

अर्थ : इस प्रकार मंगल-कामना करके सुलोचनाने विचार किया कि यह प्राणपति जो चिरकालसे प्राप्त हुआ है वह फिर बिछुड़ न जाय, इस विचारसे परम प्रेमवश होती हुई उसने उस बलवान् जयकुमारको कमलोंकी मालासे बाँध लिया अर्थात् उसके गलेमें जयमाला (वरमाला) डाल दी ॥ १० ॥

अन्वय : अहो ! या स्रक् सुदृशः शयोपचित् तत्र द्विषते स्तम्भकरी विद्या इव पुनः सा जयवक्षसि प्रगत्य तदा जरत्याश्रियो वेणीव अजनि ।

अर्थ : वह माला सुलोचनाके हाथमें जब तक रही तब तक तो वैरियोंको स्तम्भन करनेवाली विद्या सरीखी प्रतीत हुई, किन्तु वही माला जब जयकुमारके वक्षस्थलपर पहुंच गई तो वहाँ बूढ़ी लक्ष्मीकी वेणीके समान दीखने लगी ॥ ११ ॥

अन्वय : एषा इह इदं सुममाल्यं वितीर्य अतुलसम्मोदभरा अतिपीनदेहा सती ईशितुः अन्तःशयं विशेषात् स्वयं प्रसादं उपनीतवती ।

अर्थ : इस प्रकार पुष्पमालाको पहिनाकर प्रसन्नतासे रोमांचित हो गया है शरीर जिसका ऐसी उस सुलोचनाने स्वामीके अन्तरंगमें होनेवाले काम-

सुखतो हृदि गिःश्रियोः प्रणेतुरियमास्थातुमथान्तरा घने तु ।
प्रमुमोच सुमोच्चयोत्थमालामिषसीमोचितसूत्रमेव बाला ॥ १३ ॥

सुखत इति । गीश्च श्रीश्च गिःश्रियौ तयोः प्रणेतुरधिकारिणो हृदि वक्षः स्थलेऽत-एव घने तयोर्व्याप्तत्वात् परिसंकीर्णेऽथ तयोर्द्वयोरन्तरा मध्ये, आस्थातुं निवस्तुमियं बाला सुमोच्चयेनोत्थोत्पत्तिर्यस्यास्तस्या मालाया मिषश्छद्म यत्र तादृक् सीमोचितसूत्रं विभाग-कारकं रज्जुगुणमेव प्रमुमोच किल । मालाक्षेपात्त्रिभागी कृते हृदि, इतस्ततोगिश्रियौ मध्ये च सेति सुखतः स्थातुमर्हतीति स्मेत्यर्थः ॥ १३ ॥

सुमदामभरेण कण्ठकम्बुश्रितमस्याधरजेयराजजम्बूः ।
विनताननवारिजाजवेन स्वयमासीदियमेव किन्तु तेन ॥ १४ ॥

सुमदामेत्यादि । सुमदामभरेण पुष्पमाल्यप्रक्षेपणगौरवेण, अस्य जयकुमारस्य कण्ठ-कम्बुश्रितमलङ्कृतमभूत् । किन्तु तेनैव हेतुना स्वयमनायासेनैवेयं सुलोचना विनतं नति-मागतमाननमेव वारिजं यस्याः साऽऽसीत् । यदा जयकुमारस्य गले मालां क्षिप्तवती तावतैव लज्जानुभावेन विनम्राऽभूदित्याशयः ॥ १४ ॥

किमसौ मम सौहृदाय भायादिति काकूत्थमनङ्गमङ्गलायाः ।
अतिलम्बितनायकप्रसूनस्तवकं माल्यमुदीक्ष्य सोऽथ नूनम् ॥१५॥

देवको विशेषतासे प्रसन्न किया अर्थात् जयकुमारकी भावनाके अनुसार ही उसने कार्य कर दिया ॥ १२ ॥

अन्वय : अथ गिःश्रियोः तुणे तु हृदि घने तु अन्तरा सुखतः आस्थातुं इय बाला सुमोच्चयोत्थमालामिषसीमोचितसूत्रमेव प्रमुमोच ।

अर्थ : जिस प्राणपतिके हृदयमें लक्ष्मी और सरस्वती विराजमान हैं उसमें स्वयं भी स्थान पानेके लिए सुलोचनाने मालाके बहानेसे सीमाकारक सूत्र ही अर्पण किया । अर्थात् मालाके अर्पण करनेसे हृदयके तीन विभाग हो गये जिसमें तीनों पृथक् पृथक् रह सकें ॥ १३ ॥

अन्वय सुयदामभरेण अस्य कण्ठकम्बुश्रितं अभूत् किन्तु तेन इयमेव अधरजेयराज-जम्बूजवेन विनताननवारिजा स्वयं आसीत् ।

अर्थ : यद्यपि उस समय फूलोंकी मालाके भारसे तो जयकुमारका कण्ठ अलंकृत हुआ, किन्तु अपने अधरसे लाल जामुनोंको जीतनेवाली सुलोचना स्वयं उस समय (लज्जासे) विनम्र हो गयी ॥ १४ ॥

अन्वय : असौ मम सौहृदाय भायात् किम् इति अनङ्गमङ्गलायाः काकुत्थं अति-लम्बितनायक प्रसूनस्तवकंमाल्य उदीक्ष्य अथ पुनः नूनं स आह ।

नृप आह ससाहसन्तु मे या तनया साम्प्रतमस्ति चेत्प्रदेया ।
भवताद्भवतां प्रसन्नपादपरिणेत्रीति वरं ममानुवादः ॥ १६ ॥

किमसाविति । किमसौ जयकुमारः, प्रलम्बमानोऽतिलम्बितो यो नायकस्य नाम मध्यस्यमुख्यगुणैः स्थानीयः प्रसूनस्तबको यत्र तन्माल्यमनङ्गमङ्गलायाः कामदेवस्य कल्याण-रूपाया मम सौहृदाय भायात् सौभाग्यार्थं भवविति काकूक्त्यं प्रश्नवाचकमक्षरमुद्वीक्ष्य समनुमन्य, अथात्र स नृपोऽकम्पनो नूनमित्येतदाह—यत्किल हे वरराज, या मे तनया साम्प्रतं प्रदेयास्ति तदा भवतामेव प्रसन्नपादयोः परिणेत्री सेविका भवताविति ससाहसं ममानुवादः समर्थनरूपो वरः शुभाशीरस्तीति शेषः ॥ १५-१६ ॥

किमु सोऽस्ति विचारकृत्पयोदः परियच्छन्निह चातकाय नोदम् ।
अभिलाषभृतेऽथ पर्वताय प्रतिनिष्कासयते ददाति वा यः ॥ १७ ॥

किम्विति । हे वरराज, यः पयोदो मेघोऽभिलाषभृते वाञ्छयते चातकाय जलं न परियच्छन् न समुत्सृजन्, अथ च प्रतिनिष्कासयते तिरस्कुर्वते, पर्वताय वा ददाति स किमु विचारकृदुपयुक्तकारो, अपि तु नैव, यतो यत्रोपयोगस्तत्रैव दातव्यं बुद्धिमतेति ॥१७॥

हृदयेन दयेन धारकोऽसि त्वमुष्या यदनुग्रहैकपोषी ।
असमञ्जसवार्धिराशुभावात्परितीर्येत किलेति बुद्धिनावा ॥ १८ ॥

अर्थ : सुलोचनाने जो जयकुमारके वक्षःस्थलपर माला डाली वह अत्यन्त लम्बे नायक फूलसे युक्त थी अतः वह ऐसी प्रतीत हुई कि मानों मंगल चाहनेवाली सुलोचनाने प्रश्नवाचक चिह्न ही अंकित किया हो कि ये मेरे पति बनें ॥ १५ ॥

अन्वय : नृपः ससाहसं आह या मे तनया तु साम्प्रतं चेत् प्रदेया अस्ति तदा भवता प्रसन्नपादपरिणेत्री भवतात् इति ममानुवादः वरम् !

अर्थ . इस प्रसंगको देखकर महाराज अकम्पन साहसपूर्वक बोले कि यह मेरी पुत्री इस समय देने योग्य है तो यह आपके प्रसन्न चरणोंकी सेवा करने योग्य बनें, यही मेरा दृढ़ संकल्प है ॥ १६ ॥

अन्वय : इह यः पयोदः अभिलाषभृते चातकाय उदं न परियच्छन् अथ प्रतिनिष्कासयते पर्वताय ददाति स किमु विचारकृत् अस्ति वा ।

अर्थ : (हे वरराज), जो मेघ पानी चाहने वाले चातकको तो पानी नहीं देता, किन्तु पर्वतको पानी देता है जो कि उसे बाहर निकाल देता है, अतः वह मेघ विचारशील नहीं है । (कहनेका आशय यह है कि जब आपका इस कन्याके साथ अनुराग है तो आपको ही देना चाहिये) ॥ १७ ॥

हृदयेनेति । हे दयेन, दयाया इनः स्वामी, तत्सम्बोधने, हे अतिशयदयालो, त्वमनुग्रहं पुष्णासीत्यनुग्रहपोषी, विशेषानुग्रहपोषकोऽसीत्यर्थः तस्मादमुष्या हृदयेन धारकोऽसीति वयं जानीमहे । इत्यतः किल बुद्धिनावाऽऽशुभावाच्छीघ्रतयाऽसमञ्जसवार्धिस्तीर्येत, विसम्वादसमुद्रः परितीर्येत तावत् ॥ १८ ॥

सुमदामसमङ्कितैकनाम्ना किमिवाधारि रुचिर्मदीयधाम्ना ।
वरवागिति निर्जगाम द्रष्टु फलवत्तामथवोत्सवस्य स्रष्टुम् ॥ १९ ॥

सुमदामेत्यादि । सुमदाम्ना पुष्पमालया समङ्कितमलङ्कृतमित्येकं नाम तेन मदीयधाम्ना स्थानेन वक्षःस्थलेन कण्ठदेशेन वा किमिव नामाऽनिर्वचनीया रुचिरधारि शोभा समपादि । तद् द्रष्टुमथवोत्सवस्य पाणिग्रहणलक्षणस्य फलवत्तां साफल्यं स्रष्टुं रचयितुं वरस्य जयकुमारस्य वाग्वाणी निम्नाङ्कितरीत्या निर्जगाम ॥ १९ ॥

मम धीर्यदुपेयधारिणीवा भवतोऽस्मद्भवतोषकारिणीवाक् ।
श्वशुराश्वसुराजिरेषका मे मनसे किन्न भवेद् भसद्यवामे ॥ २० ॥

ममधीरिति । हे श्वशुर, मम धीर्बुद्धिर्यस्योपेयस्य प्राप्य वस्तुनो धारिणी वाञ्छिका वा पुनस्तदुपरि भवतः श्रीमतोऽपि वाक् किलास्माकं भवस्य जन्मनस्तोषकारिणीत्यत आशु शीघ्रमेवैषकाऽस्मिन्नवामे भसदि समयेऽसुराजिः प्राणपङ्क्तिरिव मे मनसे हृदयाय किन्न भवेद्, भवत्वेव तावदित्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वय : हे दयेन ! त्वं अमुष्या हृदयेन धारकः असि यत् अनुग्रहैकपोषी चासि अतः इति बुद्धिनावा किल असमञ्जसवार्धिः आशुभावात् परितीर्येत ।

अर्थ : किन्तु हे दयालो ! आप इसको हृदयसे धारण करनेवाले बनें जो कि कि इसके अनुग्रहको पुष्ट करनेवाले है और इस प्रकार बुद्धिरूपी नावके द्वारा विसवादरूपी समुद्र शीघ्र ही पार कर दिया जावे ॥ १८ ॥

अन्वय : मदीयधाम्ना सुमदामसमङ्कितैकनाम्ना किमिव रुचि अधारि इति द्रष्टुं अथवा उत्सवस्य फलवत्तां स्रष्टुं वरवाग् निर्जगाम ।

अर्थ : (यह बात अकम्पनने वरसे कही, तब वर बोला—इस पर कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि) मेरा स्थान जो हृदय वह फूलोंकी बनी हुई वरमालाके द्वारा अलंकृत है उससे उसकी कैसी शोभा है इस बातको देखनेके लिए ही और उत्सवको सफल बनानेके लिए वरकी इस प्रकार वाणी निकली ॥ १९ ॥

अन्वय : हे श्वसुर ! मम धीः यदुपेयधारिणा भवतो वाक् वा अस्मद् भव तोषकारिणी एव कामे मनसि अतः अवामे भसदि आशु असुराजि किं न भवेत् ?

अर्थ : मेरी बुद्धि सुलोचनाको चाहती है और आपका कथन भी हमारे

अहहाग्रहहावभावधात्री मम च प्रेमनिबन्धनैकपात्री ।
भवतां भुवि लब्धशुद्धजन्मा वर आहेति समेतु माम तन्माम् ॥२१॥

अहहेति । अहह, मामेयं सुन्दरी, आग्रहश्च हावश्च भावश्च तेषां धात्री जन्मभूमिर्मम च पुनः प्रेमनिबन्धनस्यैका प्रधानभूता पात्री भवतां भुवि त्वदीयवंशे लब्धं शुद्धं जन्म यया साऽसौ तत्तस्मात्कारणात्, मां समेतु सङ्गच्छताम्, तावदित्येवं वाचमाह वरो जयकुमारः ॥ २१ ॥

इयमभ्यधिका ममास्त्यसुभ्यस्तुलनीयापि न साम्प्रतं वसुभ्यः ।
भवते नवतेजसे प्रसाद इति वाक्यं खलु सुप्रभा जगाद ॥ २२ ॥

इयमिति । इयं ममाङ्गजाऽसुभ्यः प्राणेभ्योऽप्यधिका, अतएव साम्प्रतं वसुभ्यो रत्नेभ्यो हीरकादिभ्योऽपि किं पुनरन्येभ्यो न तुलनीया, रत्नेभ्योऽप्यधिकमूल्यशालिनीयमित्याशय. । भवते नवतेजसे नूतनप्रभाववते प्रसादोऽस्ति, तुभ्यं प्रसादरूपेण वितीर्णेयमिति वाक्यं सुप्रभा सुलोचनामातापि जगाद ॥ २२ ॥

सुरभिर्नुरभीष्टदर्शना मे मनसीयं सुमनस्यथास्त्ववामे ।
परितश्चरितं मयैतदर्थं मम सर्वस्वमिहैतया समर्थम् ॥ २३ ॥

विचारोंके अनुसार है अतः हे श्वसुर महोदय ! यह मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है अतएव इस सुन्दर अवसरमें यह मेरी मनभावती बनें अर्थात् मैं आपके कथनको स्वीकार करता हूँ ॥ २० ॥

अन्वय : अहह माम ! आग्रह हाव-भावधात्री मम च प्रेमनिबन्धनैकपात्री भवतां भुवि लब्धशुद्धजन्मा इयं तत् तस्मात् माम् समेतु इति वर आह ।

अहह !!! यह सुलोचना हावभावको धारण करनेवाली है और प्रेम-सम्बन्ध की एक मात्र पात्र है क्योंकि इसने आपके उत्तम कुलमें जन्म लिया है अतएव हे माम ! यह मुझे प्राप्त हो अर्थात् यह मेरी अर्द्धांगिनी बने । इस प्रकार वर राज जयकुमारने कहा ॥ २१ ॥

अन्वय : इयं मम असुभ्यः अधिका अस्ति साम्प्रतं वसुभ्योऽपि तुलनीया नास्ति सा भवते नवतेजसे प्रसाद इति वाक्यं खलु सुप्रभाजगाद ।

अर्थ : हे वरराज ! यह सुलोचना मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारी है, जिसकी तुलना रत्नोंसे भी नहीं की जा सकती है ऐसी यह सुलोचना नवीन तेजके धारक आपके लिए भी प्रसाद रूपमें है अर्थात् आपको दी जा रही है इस प्रकार सुलोचनाकी माता सुप्रभाने अपने पतिकी बातका समर्थन किया ॥२२॥

अनुकर्तुमधीश्वरस्य वारां समुपन्यस्तलसत्पदामिवारात् ।
प्रवरस्य वरस्य निर्जगाम सुगिरा मङ्गलदर्शनेति नाम ॥ २४ ॥

सुरभिरिति । इयं सुन्दरी, अभीष्टं मङ्गलकरं दर्शनं यस्याः सा शोभनाकारा मे ममाबाधेऽनुकूलाचरणवति मनस्येव सुमनसि कुसुम इव प्रसन्ने सुरभि सुवासनेवास्तु । इत्येवमभिप्रायवता मया, एतदर्थं परितश्चरितं, यत इह नुः पुरुषस्वरूपस्य मम सर्वस्वमपि तवेतया समर्थं भवति । भुवि पृथिव्यां समुपन्यस्ते लसतो शोभने च ते पदे चरणौ यस्यास्तां, पक्षे, समुपन्यस्तानि लसन्ति च पदानि सुप्तिङन्तानि यस्यामिति मङ्गलमानन्दकरं विघ्नहरं च दर्शनं यस्यास्तामधीश्वरस्य राज्ञोऽकम्पनस्य वारां सुलोचनामनुकर्तुमिव प्रवरस्य विचक्षणस्य वरस्य नाम दुर्लभस्य सुगिरा वाणी च निर्जगामाभिव्यक्ताऽभूत् ॥ २३–२४ ॥

किल कामितदायिनी च यागावनिरित्यत्र पवित्रमध्यभागा ।
तिलकायितमञ्जुदीपकासावथ रम्भारुचितोरुशर्मभासा ॥ २५ ॥
वनितेव विभातु निष्कलङ्का सफलोच्चैः स्तनकुम्भशुम्भदङ्का ।
विलसत्त्रिवलीष्टनाभिकुण्डा शुचिपुष्पाभिमतप्रसन्नतुण्डा ॥२६॥
द्विजराजतिरस्क्रियार्थमेतल्लपनश्रीरितिशिक्षणाय वेतः ।
द्रुतमक्षतमुष्टिनाथ यागगुरुणाडेनमताडयद्विरागः ॥ २७ ॥

अन्वय : मया एतदर्थं परितश्चरितं मम सर्वस्वं इह एतया समर्थं अथ अवामे मे नुः मनसि अभीष्टदर्शना इयं सुरभिः सुमनसि अस्तु । इति अधीश्वरस्य वारां समुपन्यस्तलसत्पदां इव आरात् अनुकर्तुं मङ्गलदर्शनेति नाम प्रवरस्य वरस्य सुगिरा निर्जगाम ।

अर्थ : मैंने इसे प्राप्त करनेके लिए पूर्ण प्रयत्न किया है और इसके द्वारा ही मेरा सर्वस्व समर्थ होगा, अर्थात् मेरा जीवन सफल होगा, इसलिए मंगलकारक दर्शन वाली यह सुलोचना सुन्दर फूलके समान मेरे मनमें सुगन्ध होकर रहे। इसप्रकार अकम्पन महाराजकी जो बाला सुलोचना है सुन्दर चरणोंको धारण करनेवाली है उसका अनुकरण करती हुई मंगलरूप है वपु जिसका ऐसी उत्तम वर राजाकी वाणी निकली। (जयकुमारकी वाणी उत्तम पदयुक्त थी और सुलोचना उत्तम चरणोंसे युक्त थी) ॥ २३-२४ ॥

अन्वय : अथ इत्यत्र किल यागावनिः च कामितदायिनी पवित्रमध्यभागा तिलकायतमञ्जुदीपका रम्भारुचितोरुशर्मभासा असौ वनितेव विभातु । विलसत्त्रिवलीष्टनाभिकुण्डा शुचिपुष्पाभिमतप्रसन्नतुण्डा सफलोच्चैस्तनकुम्भशुम्भदङ्का निष्कलङ्का वनिता इव विभातु । किन्तु एतल्लपनश्रीद्विजराजतिरस्क्रियार्थं इति शिक्षणाय वा इतः याग-

किलेत्यादि । इयं यागावनिर्यज्ञभूमिरित्यत्र विशेषणम् पवित्रो विमलो भागो यस्याः, वनितापक्षे पवित्रो वज्राकारोऽतिकृशो मध्यभागः कटिदेशो यस्याः सा, तिलकमिवाचरतीति तिलकायितो यो मङ्गुदीपको यस्याः, स्त्रीपक्षे तिलकमेव मञ्जुदीपकस्यामोयो यस्याः सा, रम्भाश्चतुष्कोणस्थ-कदलीस्तम्भस्तैः सूचिता प्रकाशिता, उरुशर्मणो मङ्गलस्य भाः शोभा यस्याः सा, स्त्रीपक्षे रम्भे इव रुचिते शोभने ऊरू अङ्गे ताभ्यां शर्मभा यस्याः सा, सफलौ फलसहितौ यावुच्चैः स्तनौ इव उन्नतौ कुम्भौ मङ्गलकलशौ ताभ्यां शुम्भच्छोभमानो-ऽङ्को भूदेशो यस्याः सा, स्त्रीपक्षे सफलौ पतिसंयोगशालिनौ, उच्चैः स्पौ स्तनौ पयोधरावेव कुम्भौ ताभ्यां शुम्भमनङ्को वक्षो यस्याः सा, विलसन्ती त्रिवलीना मेखलानाभिष्टिनाभिरेव कुण्डं यस्याः सा, स्त्रीपक्षे त्रिवलीनामुदरस्थितानामिष्टिरर्चा यत्रैतादृङ्नाभिरेव कुण्डं यस्याः सा, शुचिभिः पुष्पैरभिमतमलङ्कृतमत एव प्रसन्नं तुण्डं तल स्थानं यस्याः सा, पक्षे शुचिना पुष्पेणाभिमतं तुल्यमत एव प्रसन्नं तुण्डं मुखं यस्याः सा, द्विजराजानां शेषादिनागानां तिरस्क्रिया निवारणं विघ्नहरणमर्थो यत्र तत्, पक्षे द्विजराजस्येन्दोस्तिर-स्क्रियार्थमेतस्या लपनश्रीर्मुखशोभा किलेत्येवं शिक्षणाय संज्ञापनायैव चेतो यागगुरुराट् पुरोहितो यो विरागः सांसारिकप्रयोजननिःस्पृहः सोऽय द्रुतमेवाक्षतमुष्टिना वरराज-मताडयत् मङ्गलाक्षतारोपणं चकारेत्यर्थः ॥ २५–२७ ॥

यदभूद्वचसा त्रिपूरुषीति भुवि रत्नत्रयवच्छ्रियः प्रतीतिः ।
द्वयतः स्थितिकारणैकरीतिर्मृदुनिश्रेयसके यशः प्रणीतिः ॥ २८ ॥

यदभूदिति । इह परस्परमुभयतो वरयात्रिक-माण्डपिकयोर्वचसा त्रिपूरुषी गोत्र-

---

गुरुराट् विरागः सन् अथ द्रुतं अक्षतमुष्ठिना एतत् (एतल्लपनं) अताडयत् ।

अर्थ : यह यज्ञभूमिरूपीका नायिका पवित्र मध्यभाग वाली और मनो-वांछित सिद्ध करनेवाली है, तिलकके स्थानपर इसमें दीपक जल रहा है और कदलीके स्तम्भ ही जिसके ऊरुभाग (जंघाएँ) है। अतएव यह यज्ञभूमि वनिताके समान सुशोभित हो रही है ॥ २५ ॥ विलसित होती हुई त्रिवलीके साथ जो नाभि उसका अनुकरण करनेवाला कुण्ड है और जिसका मुखभाग फूलोंसे सुहावना है, कलंकरहित एवं निर्मल है और फल-सहित जो मंगल-कुम्भ वही जिनका स्तन सरीखा है ऐसी यह यागावनि वनिताके समान शोभित हो रही है ॥ २६ ॥ किन्तु जिसके मुखकी शोभा द्विजराज (चन्द्रमा और ब्राह्मण) के तिरस्कारके लिए है इसलिए उसको शिक्षण देनेके लिए ही मानों राग-रहित होते हुए यज्ञके पुरोहितने अक्षतोंकी मुष्ठिसे इसके मुखको ताड़ना दी । अर्थात् यज्ञभूमिपर अक्षताञ्जलि क्षेपण की ॥ २७ ॥

अन्वय : भुवि रत्नत्रयवत् श्रियः प्रतीतिः द्वयतः स्थितिकारणैकरीतिः मृदुनिःश्रेयसके यशः प्रणीतिः इति वचसा त्रिपुरुषी अभूत् ।

शाखोच्चारो यवभूत्, यथा, अमुकगोत्रोत्पन्नस्य, अमुकनाम्नः प्रपौत्राय, अमुकस्य पौत्राय, अमुकस्य पुत्राय, अमुकनाम्ने वराय, अमुकगोत्रस्य, अमुकनाम्नः प्रपौत्रीं, अमुकनाम्नः पौत्रीम्, अमुकनाम्नः पुत्रीम्, अमुकनाम्नीमर्पयामि—इत्येवं सासौ भुवि रत्नत्रयवत्सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रवच्छ्रियः सम्पत्त्याः प्रतीतिर्ह्यत एव स्थितिकारणेकरीतिर्वंशशुद्धिप्रख्यापन-रूपतया सा मृदुनिश्रेयसकेऽपवर्गरूपे यशसः प्रणीतिरासीत् ॥ २८ ॥

गुणिनो गुणिने त्रयीधराय मृदुवंशाय तु दीयते वराय ।
त्रिविशुद्धिमता मया जयाय ह्यसकौ कर्मकरी शरीव या यत् ॥२९॥
तनया विनयान्वितेति राज्ञः नयमाकर्ण्य समर्थनैकभाग्यः ।
कृतवांस्तदिति प्रमाणमेव वरपक्षो गुणकारि सम्पदेऽवन् ॥ ३० ॥

गुणिन इति । तत्र त्रिपुरुषी-व्याख्यानावसरेऽकम्पनेनोक्तं यत्किल हे गुणिनः, त्रयी-धराय श्रेष्ठबुद्धिधारकाय पक्षे नतिमते गुणिने सुशीलाय, पक्षे प्रत्यञ्चायुक्ताय मृदुवंशाय, मृदुः प्रशंसनीयो वंशो गोत्रं यस्य तस्मै, पक्षे मृदुर्वेणुर्यस्य तस्मै चापायेव वराय जयाय त्रिविशुद्धिमता, मनोवाक्कायशुद्धेन तथैव जाति गोत्रात्मशुद्धेन, मयाऽकम्पनेन, असकौ सुलोचना नामतनया शरीव दीयते या विनयान्विता शरीव कर्मकरीव प्रदीयते । कथम्भूता तनयेत्याह—विनयान्वितादरशालिनी, शरीपक्षे वीनां पक्षिणां नयेन नीत्या गगनगत्यान्विता, शरीव कर्मकरी कार्यसाधिका तनया मया जयाय दीयत इति राज्ञोऽकम्पनस्य नयं कथन-माकर्ण्य समर्थनैकभाग्यः समर्थनमेवैकं भजतीति समर्थनैकभाग् वरपक्षस्तदुक्तं सम्पदे सम्पत्तये गुणकार्यवन् पश्यन् प्रमाणं कृतवान्, स्वीचकारेति यावत् ॥ २९-३० ॥

अर्थ : इसके पश्चात् त्रिपुरुषी अर्थात् दोनों पक्षोंकी तीन पीढ़ियोंके नामादि-का गोत्रोच्चारण हुआ, वह रत्नत्रयके समान संपत्तिका प्रतीति-कारक और वर-वधू इन दोनों पक्षोंका स्थिरीकरण करनेवाला तथा मोक्षमार्गके लिए यश-का प्रणेता अर्थात् प्रसार करनेवाला प्रतीत हुआ ॥ २८ ॥

अन्वय : हे गुणिनः ! गुणिने त्रयीधराय मृदुवंशाय वराय जयाय त्रिविशुद्धिमता मया असकौ या शरीव कर्मकरी विनयान्विता तनया यत् किल दीयते इति राज्ञः नयं आकर्ण्य वरपक्षः गुणकार्यसम्पदे अवन् समर्थनैकभाग्य. तदिति प्रमाणमेव कृतवान् ।

अर्थ : हे सज्जनो ! त्रयी विद्याके जाननेवाले और उत्तम वंशवाले ऐसे इस (धनुष) गुणवान् वर (जयकुमार) के लिए तीन पीढ़ियोंमें विशुद्धि वाले मेरे द्वारा यह कन्या जो कि बाणका काम करनेवाली है वह दी जा रही है, अर्थात् धनुष-की सफलता जिस प्रकार बाणके द्वारा होती है उसी प्रकार इस जयकुमारका त्रिवर्ग-जीवन इस सुलोचनाके द्वारा सफल होगा । यह पुत्री विनययुक्त है

सुजना नु मनाक् समर्थनं च रवये दीप इवात्र नार्थमञ्चत् ।
उररीक्रियते न किं पिकाय कलिकाम्रस्य शुचिस्तु सम्प्रदायः ॥३१॥

सुजना इति । वरपक्षः कथमिव स्वीचकार तदेव कथ्यते—हे सुजनाः, अत्र प्रसङ्गे यत् समर्थनं कथनस्यानुकथनं तत्किल रवये सूर्याय दीप इव मनाग् आतुचिदपि, अर्थमञ्चदुपयोगि न भवति यतः खल्वाम्रस्य कलिका मञ्जरी सा पिकाय कोकिलाय किन्नोररीक्रियते ? किन्तु क्रियत एव, यतस्तस्मै तस्याः प्रयोगस्तु शुचिरेव सम्प्रदायस्तथात्रापीति ॥ ३१ ॥

मृदुषट्पदसम्मताय मान्या विलसत्सौरभविग्रहाय कान्या ।
शुचिवारिभुवः समुद्भवायाः परमस्याः स्विदमुष्मकै तु भायात् ॥३२॥

मृदुषट्पदेत्यादि । मृदुभिः सुशोभनैः षड्भिः पदैरित्यस्मात्पूर्वमपि पुरुषपरम्पराक्रमैस्तथैव षड्भिः पदैर्गृहस्थोचितैरावश्यकैर्देवपूजागुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपो दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने—इति, भ्रमरपक्षे, षड्भिः पदैरङ्घ्रिभिः सम्मताय सम्मानिताय, सुराणां सम्बन्धी सौरश्चासौ भवश्च स यस्यास्तीति, एतादृशो ग्रह आग्रहो यस्य तस्मै, पक्षे विलसति सौरभे सुगन्धे विग्रहः शरीरं यस्य तस्मै, शुचिवारेः पुनीतवाचः, पक्षे वारिणो जलस्य भूः स्थानं सत्कुलं, पक्षे: सरः प्रभृति ततः समुद्भवाया लब्धसम्भूतेरत एव परमस्याः समुचिताया अस्या अन्या स्वित्तु पुनः का भायात् ॥ ३२ ॥

इसप्रकार राजाकी वाणीको सुनकर उसीका समर्थन करते हुए वरपक्षके लोगोंने अपने समाजके अभ्युदयके लिए स्वीकार किया ॥ २९-३० ॥

अन्वय : हे सुजनाः ! अत्र नु मनाक् समर्थनं च रवेर्दीप इव न अर्थमञ्चत् यतः आम्रस्य कलिका पिकाय किं न उररीक्रियते ? अयं तु सम्प्रदायः शुचिरेव ।

अर्थ : वर पक्षके लोगोंने इसप्रकार कह कर समर्थन किया कि हे सज्जनो ! आपकी इस बातका हम थोड़ा सा भी समर्थन क्या करें ? क्योंकि वह तो रविको दीपकके समान कोई भी प्रयोजन रखनेवाला नहीं है । अभिप्राय यह है कि आमकी मंजरी कोयलके लिए क्या अंगीकार नहीं की जाती ? अपितु अवश्य स्वीकार की जाती है यह निर्दोष सम्प्रदाय सदासे ही चला आया है ॥ ३१ ॥

अन्वय : विलसत्सौरभविग्रहाय मृदु षट्पद्-सम्मताय शुचिवारिभुवः समुद्भवायाः अस्याः स्फुटं अन्या का मान्या स्वित् अमुष्यकै तु इयं भावात् ।

अर्थ : जो षट्पद (भौंरा) के नामसे प्रसिद्ध है और सुगन्ध को चाहा करता है उसके लिए निर्मल जलमें उत्पन्न हुई कमलिनीके सिवाय और दूसरी कौन मान्य होगी ? इसी प्रकार गृहस्थोचित देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह आवश्यकरूप पदवाले जयकुमारके लिए आम्र-

समभूत्क्रमभूमिरेकधा चाखिलकानीनजनो मनोज्ञवाचा ।
कुशलैः समवर्षि सम्यगेवाऽस्मदभीष्टं परवारि-सम्पदे वा ॥ ३३ ॥

समभूदिति । एकधा च पुनस्तत्राऽखिलः कानीनजनो मातृपक्षिकोऽपि लोको मनोज्ञवाचा मृदुगिरा नीचैःकथया क्रमभूमिः परिपाटीपरायणः समभूत् । यत् किल कुशलैर्जयकुमारादिभिः कुशं जलं लान्ति गृह्णन्तीति तैर्जलदैरिति परिवारिणां कुटुम्बिनां परां समुत्कृष्टजलानां सम्पदे वैभवायास्मदभीष्टमस्माकं वाञ्छितं सम्यगेव समवर्षि ॥ ३३ ॥

किमुधीवरतोऽमुतः परस्य वशगा वारिचरी ह्यसौ नरस्य ।
भवतादवतादभीष्टमेव सुजनेभ्यो भुवि भावि दिष्टदेवः ॥३४॥

किमित्विति । असौ वारौ सरस्वत्यां चरतीति वारिचरी बुद्धिमती वारिचरी मत्स्यकेव धीवरतो बुद्धिमतो मीनग्राहिणोऽपरस्य नरस्य वशगा किमु भवतात् ? किन्तु नैवेति । भाविदिष्टदेवो भविष्यद्भाग्यरूपो भगवान् भुवि पृथिव्यां सुजनेभ्यः पुण्यशालिभ्योऽभीष्टमेवावतात् संरक्षेदिति यावत् ॥ ३४ ॥

कुसुमानि सुमानिनीभिरेतत्फलवद्वक्तुमिव क्षणं तदेतत् ।
रदरश्मिमिषाद्विमुञ्चितानि सुतरां सूक्तिपराभिरुज्ज्वलानि ॥ ३५ ॥

कुसुमानीति । तदेतत्क्षणं पाणिग्रहणलक्षणं फलवद्वक्तुमिव किल सुमानिनीभिः

मंजरीके समान यह सुलोचना भी अवश्य ही मान्य होगी ॥ ३२ ॥

अन्वय : अखिलकानीनजनः एकधा च मनोज्ञवाचा क्रमभूमिः समभूत् यत्किल कुशलैः परवारि-सम्पदे वा अस्मत् अभीष्टं सम्यक् एव समवर्षि ।

अर्थ : तत्पश्चात् एक साथ सारे कन्या पक्षने मनोहर शब्दोंमें उपर्युक्त बातका समर्थन किया कि आप चतुर लोगोंने यह बात बहुत सुन्दर कही, यह हम लोगोंको अपनी गृहस्थ-संपत्तिके लिए अभीष्ट (मान्य) ही है ॥ ३३ ॥

अन्वय : असौ हि वारिचरी अमुतः धीवरतः परस्य नरस्य किमु वशगा भवतात् सुजनेभ्यो भुवि भाविदिष्टदेवः अभीष्टमेव अवतात् ।

अर्थ : यह सुलोचना जो बुद्धिमती है एवं मछलीके समान चपल स्वभाव वाली है वह इस धीवर (बुद्धिमान्) जयकुमारके अतिरिक्त और किसके अधीन हो सकती है ? अतएव इस भूमण्डल पर होनहार भाग्यदेवता, सज्जन लोगोंके लिए अभीष्टका कर्त्ता हों ॥ ३४ ॥

अन्वय : तदा मुदे एतत् क्षणं फलवत् वक्तुं इव सुमानिनीभिः सुतरां सूक्तिपराभिः उज्ज्वलानि कुसुमानि रदरश्मिमिषात् विमुञ्चितानि ।

सौभाग्यवतीभिः पुनरां स्वयमेव पृणीर्ज्वं पृणीज्वलितस्याविकपतया सूक्तिवराभिर्मङ्गलवचन-
परायणाभिस्तासामबलानां रदनयो दन्तज्योत्स्नास्तासां विस्तारव्याजतः खलु कुसुमानि पुष्पाण्येव
विमुक्तितानि । पुष्पपतनं च कलापमावसरलक्षणं भवतीति भावत् ॥ ३५ ॥

तनुजा यमुरीचकार राज्ञः प्रतिभास्फूर्त्युपलब्धिपूर्णभाग्यः ।
प्रकृतेर्थ्यतयेव चास्यजा वाक् समुपारब्धुमगात्तमेव सा वा ॥ ३६ ॥
यदपि त्वमिह प्रमाणभूरित्यभिवृद्धैरनुमानितोऽसि भूरि ।
इयमाश्रयणेन वर्णशाला जय ते नामविधायिकास्तु बाला ॥ ३७ ॥

यदपीति । यः प्रतिभायाः स्फूर्तेरुपलब्धिस्तया पूर्णो भाग्यो यतोऽयं च राज्ञोऽकम्प-
नस्य तनुजाऽङ्गसम्भवा, उरीचकार स्वीकृतवती तमेव वा वरराजं समुपारब्धुं स्वीकर्तुं
प्रकृतेर्थ्यतया सम्बद्धस्पर्द्धरूपत्वेन तस्याऽकम्पनस्य, आस्यजा वाग्वाणी चागात् निरगच्छ-
देवेत्यनुप्रेक्षायाम् । तदेव स्पष्टयति—हे वरराज, यदपीह सुलोचनायाः प्राणिग्रहणलक्षणे
कार्ये त्वं सोमराजपुत्रः प्रमाणभूरित्येवमभिवृद्धैर्वयसा ज्ञानेन च ज्येष्ठैर्भूरि वारम्बार-
मनुमानितोऽसि । हे जय, इयं पुरः स्थिता बाला सुलोचनाऽऽश्रयणेन ते नाम विधायिका
प्रख्यातिभर्त्री वर्णशाला रूपसौन्दर्यवती वर्णमातृकेवास्तु ॥ ३६-३७ ॥

वर एव भवानियन्तु वारास्त्युभयोर्विग्रहलक्षणं सदारात् ।
जय एतु इमां पराजये स्यादथवेयं वरमेव सन्निधे स्यात् ॥ ३८ ।

अर्थ : यह कहते हुए सौभाग्यवती स्त्रियोंने इस उत्सवको सफल बनानेके लिए अपने दांतों की पंक्तिके बहानेसे फूल बरसाये । अर्थात् सब स्त्रियोंने समर्थन किया कि यह सम्बन्ध बहुत अच्छा है ॥ ३५ ॥

अन्वय : राज्ञः तनुजा यं उरीचकार यश्च स्फूर्त्युपलब्धिपूर्णभाग्यः तमेव वा प्रकृतेर्थतयेव च राज्ञः आस्यजा वाक् सा समुपालब्धुं अगात् । यदपि हे जय ! त्वं इह प्रमाणभूः इति अभिवृद्धैः भूरि अनुमानितः असि, इयं बाला वर्णशाला ते आश्रयणेन नामविधायिका अस्तु ।

अर्थ : अकम्पन राजाकी पुत्री सुलोचनाने जिसे वरा, वह प्रतिभा एवं स्फूर्तिकी उपलब्धिसे पूर्ण भाग्य वाला है, अतः प्रकृत अर्थकी स्पर्धासे ही मानों उस अकम्पन राजाकी वाणी भी उसे प्राप्त करनेके लिए प्रकट हुई ॥ ३६ ॥ यद्यपि हे जयकुमार ! तुम यहाँ प्रमाणभूत वृद्धोंके द्वारा भरपूर सम्मानित हुए हो, पर यह मेरी पुत्री वर्णशाला है (सुन्दरी है), अब आपका आश्रय लेकर आपके नामको प्रख्यात करने वाली हो ॥ ३७ ॥

वर इत्यादि । हे दुर्लभ, भवान् वरः श्रेष्ठ एव, इयं तु सुरोचना वारा बालवयोऽस्या-ऽस्तएवोभयोर्युवयोर्विग्रहस्य शरीरस्य नाम समरस्य लक्षणं सत्प्रशस्तमस्ति । तस्माद् भवान्, जय इमामेतु प्राप्नोतु, अथवा, इयं जये भवति परायणा स्यादुभयोः परस्परं प्रेमसम्बन्धो भवेत्, तव जयोऽस्याश्च पराजय एव च वरं श्रेष्ठं स्यात् सन्निधे सुविधालक्षणे लक्षणे वर्त्मनि ॥ ३८ ॥

अजरोऽस्तु भवान् स्मरेण तुल्यं मुखमस्या अवलोकयन्नमूल्यम् ।
तव भूमिमुपेत्य साम्यसूया जरतीयं रतिरूपिणी च भूयात् ॥३९॥

अजर इति । हे जय, अस्याः सुलोचनाया मुखमास्यमथ च शब्दापेक्षया मुखमन्त्या-क्षरं नाकारमवलोकयन् स्वीकुर्वन्, कीदृशं तदवमूल्यं भवति तद् भवान् स्मरेण कामदेवेन तुल्यः सन्, अजरो जरारहितस्तथा, न अकारं लातीत्यजरस्तु किञ्चेयं च रतिरूपिणी कामदेवस्य स्त्रीतुल्या तव भूमिं वंशपरम्परामुपेत्य, अथ च नाम्नोऽपि प्रथमाक्षरं जकार-माप्त्वा जरती भूयाद्, भवानजरो ना च भूयादियं च भवता समं जरती चिरसौभाग्यवती भूयादिति । कीदृशीयं साम्यां लक्ष्म्यामभ्यसूया स्पर्द्धा यस्या इति यावत् ॥ ३९ ॥

हृदयं सदयं दधानि विद्धं स्मर-वाणैरनया नयात्सुसिद्धम् ।
समभूदिति साक्षिणीव तस्य सुममाल्येन करद्वयी वरस्य ॥ ४० ॥

हृदयमिति । अयं जयकुमारः स्वस्य हृदयं मनोऽनया सुलोचनया हेतुभूतया स्मर-

---

अन्वय : भवान् वर एव इयं तु पुनः वाराः इति उभयोः सदा आरात् विग्रह-लक्षणं, किन्तु इमां जय एतु अथवा इयं पराजये वरमेव सन्निधे स्यात् ।

अर्थ : महाराज अकम्पन पुनः बोले—आप तो वर (श्रेष्ठ) हैं, किन्तु यह बाला (भोली) है, यह आप दोनों में बड़ा भारी अन्तर सदाका है, अब चाहे इसे जय प्राप्त हो (जयकुमार प्राप्त हो) या भले ही यह पराजयमें अर्थात् जयमें तत्पर हो, दोनों अवस्थाओंमें यह बात सारे संसारके लिये सुहावनी है ॥ ३८ ॥

अन्वय : भवान् अस्याः अमूल्यं मुखं अवलोकयन् स्मरेण तुल्यः अजरोऽस्तु इयं च रतिरूपिणी साम्यसूया तव भूमिं उपेत्य जरती भूयात् ।

अर्थ : अब आप इसके अमूल्य मुखका अवलोकन करते हुए कामदेवके समान अजर, अमर बनें, और यह बाला आपके घरको प्राप्त होकर आपसे स्पर्धा प्राप्त करती हुई 'जरती' वृद्धा और रति बने । अर्थात् यह मेरी पुत्री सदा सुहागिनी बनी रहे ॥ ३९ ॥

अन्वय : तस्य वरस्य करद्वयी सुममाल्येन इति साक्षिणीव समभूत् यत् किल अयं अनया स्मरबाणैः विद्धं सदयं हृदयं दधाति इति नयात् सुसिद्धं ।

वार्णैर्विद्धं विभिन्नं बभाति । एतन्नयात् सुसिद्धमस्ति, तावदिति तस्य वरस्य जयकुमारस्य करद्वयी हस्तद्वितयी सा सुममालयेन प्रतिक्षेपणार्थं गृहीतेन पुष्पदाम्ना तस्य पूर्वोक्तसंज्ञापनस्य साक्षिणीव किल समभूदिति ॥ ४० ॥

वरदोर्द्वितयेन तद्धृदाजावुदितेनार्पयितुं सुमाल्यभाजा ।
ग्रहणाग्रगतस्रगंशकेन रुचिरोमित्युदपादि किन्न तेन ॥ ४१ ॥

वरदोरिति । सुमाल्यभाजा वरस्य दोर्द्वितयेन भुजयुगेन तस्याः सुलोचनाया हृदआजौ वक्षोभूमौ तदर्पयितुमुदितेन तेन ग्रहणयोः करयोरग्रगतो बहिः प्राप्तः स्रजोंऽशको यत्र तेन तत्रोमित्येवंरूपा रुचिः प्रतीतिः किन्नोदपादि ? अपि तूदपाद्येवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सुमदाममिषात्सतां पतिर्यः सकुटुम्बं हृदयाम्बुजं वितीर्य ।
निजमम्बुजचक्षुषोऽधिकारं हृदये सप्रतिपत्तिकं चकार ॥ ४२ ॥

सुमदामेत्यादि । यः सतां सज्जनानां पतिर्वरः स सुमदाम्नो मिषाच्छलात् सकुटुम्बं परिवारसहितं निजं हृदयाम्बुजमेव वितीर्य अम्बुजचक्षुषः कमलनयनाया हृदये सप्रतिपत्तिकं प्रतिपत्त्या सहितं विश्वासमुत्पाद्य निजमधिकारं चकार, यदालोक्षेपणं कृतवान् ॥ ४२ ॥

अर्थ : उस जयकुमारके हाथोंमें सुलोचनाको पहिनानेके लिए रखी हुई पुष्पमाला मानों इस बातकी साक्षिणी (गवाह) हुई कि इस जयकुमारका हृदय इस बाला सुलोचनाके द्वारा कामबाणोंसे बिद्ध होते हुए भी दयाशील है, यह बात अनायास ही स्वतः सिद्ध है ॥ ४० ॥

अन्वय : तद्धृदाजौ अर्पयितुं उदितेन ग्रहणाग्रगतस्रगंशकेन सुममाल्यभाजा वरदोर्द्वितयेन तेन ओम् इति रुचिः किं न उदपादि ।

अर्थ : सुलोचनाके वक्षःस्थलपर अर्पण करनेके लिए मालाको धारण किये हुए दोनों हाथोंके अग्रभागमें स्थित मालाके अंश द्वारा सुन्दर 'ओंकार' की रुचि धारण की गई । अर्थात् जयकुमारने अपनी स्वीकृति प्रकट की ॥ ४२ ॥

अन्वय : यः सतां पतिः स सुमदाममिषात् सकुटुम्बं हृदयाम्बुजं वितीर्य अम्बुजचक्षुषः हृदये सप्रतिपत्तिकं निजं अधिकारं चकार ।

अर्थ : फूलोंकी मालाके बहानेसे जयकुमारने कुटुम्ब सहित अपने हृदय कमलको अर्पण करके सुलोचनाके हृदयमें उसने स्पष्टतापूर्वक विश्वास उत्पन्न कर अधिकार प्राप्त कर लिया । अर्थात् जयकुमारने सुलोचनाके गलेमें माला पहिना दी ॥ ४२ ॥

करपल्लवयोः सतो विभान्ती सुममाला पुनरुत्सवेन यान्ती ।
सुतनोः स्तनविल्वयोः सुमित्रात्रसुसाफल्यमगादियं पवित्रा ॥ ४३ ॥

करपल्लवयोरिति । सतो वरस्य करपल्लवयोर्मध्ये विभान्ती शोभमाना प्रथमं, पुनरनन्तरमुत्सवेन मङ्गलनादात्मकेन यान्ती गच्छन्तीयं पवित्रा पवालीति नाम मालाऽत्रावसरे हे सुमित्र, पाठक, सुतनोः सुन्दरशरीरायाः सुलोचनायाः स्तनावेव विल्वे श्रीफले तयोर्मध्ये सुसाफल्यं फलवत्तामगात् । कुसुमेषु फलमपि भवत्येव, तत्स्थानीयौ स्तनाविति भावः ॥ ४३ ॥

जयहस्तगतापि या परेषां कथितान्तःकरणप्रयोगवेशा ।
स्मरसौधसुभासि कामकेतुहृदि माला किलतोरणश्रिये तु ॥४४॥

जयहस्तेत्यादि । या माला जयस्य वल्लभस्य हस्तगतापि सती परेषां द्विषामन्तःकरणानां मनसां प्रयोगः संग्रहणं तस्य वेशो यस्याः सा स्मरसौधस्य कामदेवप्रासादस्य सुभा इव भा यस्य तस्मिन् कामकेतो रतिपतिध्वजाया हृदि वक्षसि गत्वा किल निश्चयेन तोरणश्रिये मुख्यद्वारशोभायै प्राप्ता ॥ ४४ ॥

जगदेकविलोकनीयमाराद्रमणं द्रष्टुमिवात्तसद्विचारा ।
निरियाय बहिर्गुणानुमानिन्नरनाथस्य सरस्वती तदानीम् ॥४५॥

जगदित्यादि । तदानिं तस्मिन् काले, हे गुणानुमानिन् पाठक ! जगतां सर्वेषामपि

अन्वय : हे सुमित्र ! इयं पवित्रा सुममाला सतः करपल्लवयोः विभान्ती सती पुनः उत्सवेन सुतनोः स्तनबिल्वयोः अत्र सुसाफल्यं अगात् ।

अर्थ : हे सुमित्र ! जयकुमारके दोनों कर पल्लवोंमें सुशोभित होनेवाली यह पवित्र फूलमाला फिर उत्सवके साथ सुलोचनाके स्तनरूपी बिल्वफलोंके ऊपर जाकर अब सफलताको प्राप्त हो गई। अर्थात् पल्लव पुष्प एवं फलका योग सार्थक हुआ ॥ ४३ ॥

अन्वय : या माला किल जयहस्तगता सती परेषां अन्तःकरण-प्रयोगवेशा कथिता अपि सा स्मरसौधसुभासि कामकेतु-हृदि किल तोरणश्रिये तु कथिता ।

अर्थ : वह पुष्पमाला जबतक जयके हाथमें रही, तबतक वैरियोंके मनोंको दबानेवाली रही, किन्तु वही पुष्पमाला कामदेवके महलरूपी सुलोचनाके हृदयमें जाकर तोरणकी शोभाको प्राप्त हुई ॥ ४४ ॥

अन्वय : हे गुणानुमानिन् ! तदानीं जगदेकविलोकनीयं रमणं द्रष्टुमिव आत्तसद्विचारा नरनाथस्य सरस्वती आरात् बहिः निर्जगाम ।

लोकानामेकमेव विलोकनीयं सर्वेषु दर्शनीयतमं रमणं द्रष्टुमिव किलासः सम्प्राप्तः सम्यग् विचारो यया सा नरनाथस्याकम्पनस्य सरस्वती वाग्बर्हिर्निरियाय निरगच्छत् ॥ ४५ ॥

भवता भवता प्रणायकेन तनयासौ विनयान्विता मुदे नः ।
शुभलक्षण रक्षणक्रियाया रसतोऽरं वृषतोऽधिकात्र भायात् ॥ ४६ ॥

भवतेति । हे शुभलक्षण, भवता त्वया प्रणायकेन भवता सता विनयान्विताऽसौ तनया समाचरणशीला पुत्री या नोऽस्माकं मुदे प्रसत्त्यर्थं सा रक्षणक्रियाया रसतोऽनुभावेन वृषतो धर्मेणानुविनमधिका भायात्, असौ भवता धर्मेण सस्नेहं पालनीयेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

शुचिसूत्रमुपेत्य ना कृतार्थः-वरितत्वाच्चरितस्य मापनार्थम् ।
शुशुभे सुशुभेऽङ्गणेऽत्र वस्तु त्रिगुणीकृत्य समर्थयन्नदस्तु ॥ ४७ ॥

शुचित्यादि । शुचिसूत्रमिवोपर्युक्तं धर्मेण पालनीयेत्येतदुपेत्य समुपलभ्य कृतार्थः सफलप्रयत्नो ना जयकुमारो वरितत्वाद्धेतोश्चरितस्य मापनार्थं परिमातुमेव किलात्र सुशुभेऽङ्गणे मण्डपलक्षणे तु पुनरद एव वस्तु त्रिगुणीकृत्य समर्पयन् शुशुभे रराज ॥४७॥

अर्थ : हे सुननेवाले पाठक ! जगत् भरमें एकमात्र अवलोकनीय अद्वितीय ऐसे वरराजको देखनेके विचारसे ही मानों उस समय अकम्पनकी वाणी भी अपने मुखरूप घरसे बाहर निकली । अर्थात् वक्ष्यमाण प्रकारसे प्रकट हुई ॥ ४५ ॥

अन्वय । हे शुभलक्षण ! भवता प्रणायकेन भवता असौ विनयान्विता तनया या नः मुदे सा रक्षणक्रियाया रसतो ऽत्र वृषतोऽधिका अरं भायात् ।

अर्थ : हे उत्तम शुभलक्षणवाले वरराज ! आप इस सुलोचनाके नायक हैं यह विनयवती है, और जो हम लोगोंकी प्रसन्नताके लिए है अब वह आपके द्वारा सदा सुरक्षित रहे, जिससे कि वह सुख भोगती हुई धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करे । आशय यह है कि आप धर्मपूर्वक स्नेहके साथ इसकी सदा रक्षा करते रहें ॥ ४६ ॥

अन्वय : सुशुभे अङ्गणे शुचिसूत्रं उपेत्य कृतार्थः ना (जयकुमारः) वरितत्वात् चरितस्य मापनार्थं अदस्तु वस्तु त्रिगुणीकृत्य समर्पयन् शुशुभे ।

अर्थ : उस शुभ आँगनमें महाराज अकम्पनके 'इसकी धर्मसे रक्षा करना' इस सूत्र वाक्यको पाकर कृतार्थ होता हुआ जयकुमार वरपनेकी श्रेष्ठतासे अपने चरित्रको नापनेके कारण ही मानो उसे तिगुणा करके वापिस समर्पण

मम दोहृदि वाचि कर्मणीव किमु धर्मं हि च नर्मशर्मणी वः ।
लभतामियमङ्गजा जगन्ति पुरुपर्वाभिनयात् स्वयं जयन्ती ॥ ४८ ॥

ममेति । हे महानुभाव, वाचीव कर्मणीव वा मम हृदि मनस्यपि दः शुद्धिभावो वर्तते, मनसा, वचसा, कर्मणा शुद्धो भवन् वदामीति यावत्, पुरोरादिदेवस्य पर्वाभिनयात् कृपानुभावात् स्वयमपि जगन्ति भुवनानि जयन्तीयं वोऽङ्गजा भवतां तनुसम्भवा केवलं धर्मं हि किमु, अपि तु नर्मशर्मणी, अर्थकामपुरुषार्थौ—अपि लभताम् । अहं त्रिवर्ग-सम्पादन-पुरस्सरमिमां सम्भालयिष्यामीति भावः ॥ ४८ ॥

मुदिरस्य हि गर्जनं गभीरमुदियायोचितमेव यत्सुवीर ।
धरणीधरवक्त्रतः पुनस्तत् प्रतिशब्दायितमित्यभूत्प्रशस्तम् ॥४९॥

मुदिरस्येति । मुदः प्रसन्नताया इरा स्थानं यत्र तस्य मुदिरस्य वरस्यैव मेघस्य गर्जनं स्पष्टपरिभाषणं गभीरमतिशयगर्भपूर्णं यत्किलोचितं समयानुसारमुदियाय प्रकटी-बभूव । तदेवाश्रित्य हे सुवीर, भ्रातः, धरणीधरस्याकम्पनस्य हि पर्वतस्य वक्त्रतो मुखात् पुनरित्येवं वक्ष्यमाण-प्रकारं प्रशस्तं प्रतिशब्दायितमिवाभूत् । यथा मेघगर्जनेन पर्वतात्प्रति-ध्वनिर्भवति तथैव प्रतिशब्दायितमिवाभूत् ॥ ४९ ॥

नयतो जय तोषयेरुपेतां प्रणयाधीनतया नितान्तमेताम् ।
तनयां विनयाश्रयां ममाथानुनयाख्यानकरीति रीति-गाथा ॥ ५० ॥

अन्वय : मम हृदि वाचि कर्मणीव दः वः इयं अङ्गजा पुरुपर्वाभिनयात् स्वयं जगन्ति जयन्ती धर्मं हि किम्, अपि च नर्मशर्मणी लभताम् ।

अर्थ : मेरे हृदयमें, वचन और कर्ममें शुद्धि है (मैं मन वचनकायसे कहता हूँ) कि यह आपकी तनया धर्मको ही क्या, बल्कि पुरुदेव (ऋषभनाथ) की कृपासे स्वयं तीनों जगतोंको जीतती हुई धर्म, नर्म (अर्थ) और शर्म (सुख) इन तीनोंको प्राप्त होगी ॥ ४८ ॥

अन्वय : हे सुवीर ! यत् मुदिरस्य हि गभीरं गर्जनं उदियाय, पुनः धरणीधर-वक्त्रतः प्रतिशब्दायितं इत्येवं प्रशस्तं अभूत् ।

अर्थ : हे सुवीर ! (पाठक) इस प्रकार मेघ (हर्षित) जयकुमारकी गम्भीर गर्जनाको सुनकर सुन्दर प्रतिध्वनिके समान अकम्पन महाराजरूपी धरणीधर अर्थात् पर्वतके मुखद्वारा वक्ष्यमाण प्रकारसे प्रतिध्वनि निकली ॥ ४९ ॥

अन्वय : हे जय ! एतां विनयाश्रितां तनयां नितान्तं प्रणयाधीनतया उपेतां नयतो तोषयेः, अथेति अनुनयाख्यानकरी मम रीति-गाथा अस्ति ।

नयत इति । हे जय, एतां विनयाश्रयां मम तनयां नितान्तमथोपेतां संगृहीतां प्रणयस्याधीनतया प्रीतिपूर्वकं स्वीकृतां नयतो नीतिमार्गेण तोषयेरचिरङ्गधर्माचारेण नर्म-व्यवहारेण पोषयेस्त्वमित्यनुनयाख्यानकरी प्रार्थनाकारिणी रीति-गाथा समस्तीति शेषः ॥ ५० ॥

नरपेण समीरितः कुमारः शिखिसम्प्रार्थितमेघवत्तथारम् ।
समुदङ्कुरधारणाय वारिमुगभूद् भूवलये विचारकारिन् ॥ ५१ ॥

नरपेणेत्यादि । पूर्वोक्तरीत्या नरपेणाकम्पनेन समीरितः प्रार्थितो योऽसौ कुमारो जय-नामा स शिखिना मयूरेण प्रार्थितो यो मेघस्तद्वत्तथा तस्मिन् समयेऽस्मिन् भूवलये धरातले हे विचारकारिन् भ्रातः, समुदङ्कुराणां रोमाञ्चानां पक्षे कन्दानां धारणाय वारिमुग् जलदोऽभूत् ॥ ५१ ॥

नयनेषु विमोहिनी स्वभावात्प्रणयप्रायतयाऽऽत्तयानुभावात् ।
अयि माम कलाधरोचितास्या किमुपायेन न मानिनी मया स्यात् ॥५२॥

नयनेष्विति । अयि माम, कलाधरेण चन्द्रसमोचितं तुल्याकारमास्यं मुखं यस्याः सा: स्वभावादेव नयनेषु नामावलोकनेषु विमोहिनी स्नेहसत्कर्त्रीत्यत एवात्तया स्वीकृतया प्रणयप्रायतया प्रीतिबाहुल्येनेत्यर्थोऽनुभावान्निश्चयान्मया किमुपायेन केन प्रकारेण माननीया न स्यात् ॥ ५२ ॥

अर्थ : हे जय ! 'इस पुत्रीकी न्यायपूर्वक स्नेहके साथ रक्षा करना', क्योंकि यह विनयशालिनी है' ऐसी आपसे हमारी अनुनय-पूर्ण प्रार्थना है ॥ ५० ॥

अन्वय : हे विचारकारिन् ! नरपेन समीरितः कुमारः भूवलये शिखिसम्प्रार्थित-मेघवत् तथा स मुदङ्कुर धारणाय अरं वारिमुग् अभूत् ।

अर्थ : हे विचारशील पाठक ! इस प्रकार अकम्पन महाराजके द्वारा प्रेरित किया हुआ जयकुमार लोगोंको रोमांचित करनेके लिए वक्ष्यमाण प्रकारसे फिर बोला, जैसे कि मयूरकी प्रार्थना पर मेघ जल बरसाने लगता है ॥ ५१ ॥

अन्वय : अयि माम ! या नयनेषु स्वभावात् विमोहिनी अनुभावात् आत्तया प्रणय-प्रायतया कलाधरोचितास्या मया किमुपायेन न मानिनी स्यात् ।

अर्थ : हे श्वसुर महोदय ! जो स्वभावसे ही (देखने मात्रसे ही) मोहित करनेवाली है और जिसका मैंने भावुकतापूर्वक पाणिग्रहण किया है और चन्द्रमाके समान जिसका सुन्दर मुख है ऐसी यह मानिनी मेरे द्वारा आदरणीय कैसे नहीं होगी ? अवश्य ही होगी ॥ ५२ ॥

निपपात हि पातकातिगाया हृदि पुष्टा स्रगनङ्गमङ्गलायाः ।
स करः सकरङ्कभावतस्तां फलवत्तां नृपतेः समाह शस्ताम् ।। ५३ ।।

निपपापेति । पातकादतिगाया दूरवर्तिन्या अनङ्गे कामपुरुषार्थे मङ्गलरूपायाः सुलोचनाया हृदि वक्षःस्थले पुष्पस्रङ् निपपात यदा तदा हि नृपतेरकम्पनस्य स दक्षिणः करः करङ्केन भृङ्गारकेण सहितः सकरङ्कस्तद्भावतः शस्तां प्रशंसनीयां फलवत्तां समाह । कन्याप्रदानार्थं करे भृङ्गारकं जग्राह इति यावत् ।। ५३ ।।

धरति श्रियमेष एवमुक्तः सुतरां सोऽद्य बभूव सार्थसूक्तः ।
उदितोदकवर्तनादरुद्रस्तनयारत्नसमर्पकः समुद्रः ।। ५४ ।।

धरतीति । श्रियं धरतीति श्रीधर इत्येवमुक्तः संज्ञप्तो राजाऽकम्पनः स एव चाद्य समुद्रो मुद्रया सहितो हस्ते मुद्राधारकोऽधुनोदितस्योदकस्य वर्तनाद् भाजनात् कारणभूता-दरुद्रः सौम्यमूर्तिस्तनयारत्नस्य समर्पकश्च, इत्येवं रूपतया सार्थसूक्तो यथार्थनामा अभूत् ।। ५४ ।।

खलु पल्लवितोऽभितोऽयमत्र फलतात् प्रेमलताङ्कुरः पवित्रः ।
करवारिरुहेऽभ्यसिञ्चदारादिति वारां नृपतेर्जयस्य धाराम् ।। ५५ ।।

खल्विति । अत्र प्रसङ्गे, एष प्रेमलताया अङ्कुरो यः पवित्रः सोऽयमभितः पल्लवितो वृद्धिं गतः सन् फलतात् सफलो भवेदिति किल जयस्य वरराजस्य कर एव वारिरुहं तस्मिन्

अन्वय : पातकातिगायाः अनङ्गमङ्गलायाः हृदि पुष्पस्रग् निपतात हि स नृपतेः करः सकरङ्कभावतः तां शस्तां फलवत्तां समाह ।

अर्थ : जब अनंगके लिये मंगलस्वरूप और पातकसे दूर रहनेवाली अर्थात् निष्पाप सुलोचनाके वक्षस्थलपर फूल माला आई, तभी अंकपन महाराजका हाथ झारी लिये हुए होनेसे फलवत्ताको प्राप्त हुआ। अर्थात् कन्या-दानके लिए महाराज अकम्पनने भृङ्गारको हाथमें लिया ।। ५३ ।।

अन्वय : एष श्रियं धरति एवम् उक्तः सः अद्य उदितोदकवर्तनात् अरुद्रः तनया-रत्नसमर्पकः सभुद्रः सार्थसूक्तः सुतरां बभूव ।

अर्थ : अकम्पन महाराज श्रीधर तो नामसे थे ही, किन्तु झारीमेंसे जल छोड़नेके कारण और तनयारत्नके समर्पण करनेके कारण स्पष्टरूपसे भद्र समुद्र बन गये ।। ५४ ।।

अन्वय : नृपतिः खलु अत्र पवित्रः प्रेमलताङ्कुरः अयम् अभितः पल्लवितः फलतात् इति जयस्य करवारिरुहे आरात् वाराम् धाराम् अभ्यसिञ्चत् ।

करकमले नृपतिरकम्पनः किल धारां धारां जलपरम्परामभ्यसिञ्चत् । जलसिञ्चनेनाङ्कुरो वर्धत एवेति भावार्थः ॥ ५५ ॥

जलमाप्य समुद्रतो नरेशाद् घनवत्प्रीतिकरोऽभवन्मुदे सा ।
उदियाय तडिद्वदुज्ज्वलारादनलार्चिश्च पुरोहिताधिकारात् ॥ ५६ ॥

जलमिति । पूर्वोक्तसमुद्रतो नरेशादकम्पनात् कन्यादानलक्षणं जलमाप्य प्रीतियुक्तः करो वरराजस्य हस्तो घनवन्मेघ इव मुदे प्रमोदायाभवत् । यथा वर्षाकाले लोकः प्रसीदति तथात्रापीत्यर्थः । तत एव तत्रोज्ज्वलानलार्चिर्वह्निज्वाला तडिदिव पुरोहितस्य होतुरधिकारादथ वा पुरोऽग्रत एव हितस्य शस्यसम्पत्तिलक्षणस्याधिकारात् ॥ ५६ ॥

कुसुमाञ्जलिभिर्धरा यवारैरुभयोर्मस्तकचूलिकाभ्युदारैः ।
जनता च मुदञ्चनैस्ततालमिति सम्यक् स करोपलब्धिकालः ॥५७॥

कुसुमेत्यादि । तदानीमभ्युदारैर्बहुलतरैः कुसुमाञ्जलिभिः समर्चनालक्षणतयार्पितैर्धरा मण्डपभूस्तावद्शोर्यवारैः शान्तिकोपत्यार्पितैरुभयोर्वरवध्वो र्मस्तकचूलिका, मुदञ्चनैर्हर्षभावोत्थितै रोमाञ्चैश्च पुनर्जनता सर्वसाधारणप्यलमत्यर्थं ततो व्याप्ताभूदित्येवं स करोपलब्धिकालो विवाहसमयः सम्यक् शोभनोऽभूत् ॥ ५७ ॥

अर्थ : इस विचारसे कि जयकुमारका सुलोचनामें जो प्रेमरूपी अंकुर है वह पल्लवित हो (सदा बना रहे) राजा अंकपनने जयकुमारके कर-कमलमें जलकी धारा समर्पण कर दी ॥ ५५ ॥

अन्वय : *एवम् स समुद्रतो नरेशात् जलं आप्य घनवत् अङ्गिनाम् मुदे अभवत् सा तडितवत् पुरोहिताधिकारात् अनलार्चिश्च आरात् उदियाय ।*

अर्थ : जब महाराज अकम्पनरूप समुद्रसे जलको प्राप्त होकर जयकुमार मेघके समान लोगोंकी प्रसन्नताके लिये हुआ। तभी पुरोहितके द्वारा वहाँ अग्निकी ज्वाला बिजलीके स्थानपर प्रयुक्त की गई। अर्थात् हवन-कार्य प्रारम्भ हुआ ॥ ५६ ॥

अन्वय : *धरा कुसुमाञ्जलिभिः उभयोः मस्तकचूलिकाभ्युदारैः यवारैः जनता च मुदञ्चनैः तता अलं अलंकृता इति स करोपलब्धिकालः सम्यक् ।*

अर्थ : उस समय सारी पृथ्वी तो कुसुमाञ्जलिसे परिपूर्ण हो गई और वर-बधुकी ललाट रेखा उदार जवारोंसे परिपूर्ण हो गई, तथा रोमाचोंके द्वारा सारी जनता व्याप्त हो गई। इस प्रकार वह करोपलब्धिका काल वास्तविक कलाकी उपलब्धिका अर्थात् प्रसन्नताका काल हो गया। भावार्थ—यह विवाहका समय परम शोभाको प्राप्त हुआ ॥ ५७ ॥

सुदृशः करमद्य वीरपाणेरुपरिस्थं खलु भाविनः प्रमाणे ।
पुरुषायितकस्य सूत्रमेनमनुमन्य स्मितमालिमण्डलेन ॥ ५८ ॥

सुदृश इति । सुदृशः सुलोचनायाः करमद्य करग्रहणसमये वीरस्य पाणेर्जयकुमार-करस्योपरिस्थं दृष्ट्वा खलु तमेनं भाविनो भविष्यतः पुरुषायितकस्य रतिविशेषस्य सूत्रं सूचनारूपमनुमन्य मत्वेव खलु तदानीमालिमण्डलेन सखीसमूहेन स्मितं हसितम् ॥५८॥

परिपुष्टगुणक्रमोऽयमास्तामनुयोगस्फुटमेवमेव शास्ता ।
प्रददौ वरपाणये शुभायाः करमङ्गुष्ठनिगूढमङ्गजायाः ॥ ५९ ॥

परिपुष्टेत्यादि । अयं करग्रहणलक्षणोऽनुयोगः प्रयोगः स परिपुष्ट उत्तरोत्तरमुन्नतो गुणः शीलादिर्यस्यैवम्भूतः क्रमो वंशपरम्परारूपो यस्मिन् स आस्तामेवमेव स्फुटं शास्ता स्पष्टवक्ता पुरोहितः शुभायाः प्रशस्ताया अङ्गजायास्तस्याः करं हस्तमङ्गुष्ठोऽपि निगूढो यस्मिन् इति तं साङ्गुष्ठमेवेत्यर्थो वरपाणये दुर्लभस्य हस्ताय दत्तवानिति ॥ ५९ ॥

उपघातमहो करस्य सोढुं क्व समर्थोऽसिपरिग्रहस्य वोढुः ।
नलकोमल एव पाणिरस्या अनवद्यद्रव एवमर्पितः स्यात् ॥ ६० ॥

उपघातमिति । असिरेव परिग्रहो ग्रहणविषयो यस्य तस्य खड्गग्राहिणो वोढुः करस्य प्रेयसो हस्तस्योपघातं सोढुमस्याः सुतनोरेष नलकोमलः कमलतुल्यो मृदुः पाणिः

अन्वय : अद्य सुदृशः करम् वीरपाणेः उपरिस्थं खलुः भाविनः पुरुषायितकस्य प्रमाणे एनं (करम्) सूत्रं अनुमन्य आलिमण्डलेन स्मितम् ।

अर्थ : आज वीर जयकुमारके हाथके ऊपर सुलोचनाका हाथ आया, यह आगामी होनेवाली पुरुषायित चेष्टाका द्योतक है, अतः उसे देखकर सखी-मंडल हँस पड़ा ॥ ५८ ॥

अन्वय : अयं अनुयोगः परिपुष्टगुणक्रमः आस्तां एवम् एव स्फुटं शास्ता शुभायाः अङ्गजाया अङ्गुष्ठनिगूढं करम् वरपाणये प्रददौ ।

अर्थ—गृहस्थाचार्यने जयकुमारके हाथमें उत्तम सुलोचनाका अगुष्ठसे निगूढ हाथ दिया कि यह इन दोनोंका सम्बन्ध सदाके लिये पुष्ट गुणक्रम-वाला हो ॥ ५९ ॥

अन्वय : अहो एष अस्या नलकोमलः पाणिः असिपरिग्रहस्य वोढुः करस्य उपघातम् सोढुं क्व समर्थः एवम् अनवद्यद्रवः अर्पितः स्यात् ।

अर्थ : जयकुमारका हाथ जो कि तलवारको ग्रहण करनेसे कठोर था और सुलोचनाका हाथ कमलके समान कोमल था, वह जयकुमारके हाथका उपघात

च समर्थः स्यात् । अहो इत्याश्चर्ये, तदेवं विचार्य, अम्लानवर्णो मङ्गुलरूपो नाशिष्ठो प्रबोऽर्पित इति ॥ ६० ॥

हृदयं यदयं प्रति प्रयाति सरलं सन्मम नाम मञ्जुजातिः ।
प्रतिदत्तवती सतीति शस्तं तनया तावदवाममेव हस्तम् ॥६१॥

हृदयमिति । यदस्मात्कारणान्मञ्जुर्मनोहरा जातिर्जन्म, यद्वा मातृपक्षो यस्य स मञ्जुजातिरयं महानुभावो मम सरलमतिशयजु हृदयं चित्तं प्रतिप्रयाति प्रतिगच्छति, तावदितीव सती तनया बाला सुलोचना शस्तमवामं दक्षिणमेव हस्तं प्रतिदत्तवती ॥६१॥

सहसोदितसिप्रसारतान्ता करसम्पर्कमुपेत्य चन्द्रकान्ता ।
तरुणस्य कलाधरस्य योगे स्वयमासीत् कुमुदाश्रयोपभोगे ॥ ६२ ॥

सहसेत्यादि । चन्द्रकान्ता चन्द्र इव मनोहरा सुलोचना सैव चन्द्रकान्तमणिः कुमुदाश्रयेण पृथिवीहर्षानुभावेनोपभोगो यस्य तस्मिन् योगेऽधुना तरुणस्य नववयस्कस्य कलाधरस्य बुद्धिमतश्चन्द्रस्येव करसम्पर्कं हस्तग्रहणं किरणसंसर्गं चोपेत्य गत्वा सहसैवोदितेन अभिव्यक्तिमितेन सिप्रप्रसा ण प्रस्वेदपूरेण तान्ता आसीत् ॥ ६२ ॥

उभयोः शुभयोगकृत्प्रबन्धः समभूदञ्चलवान्तभागबन्धः ।
न परं दृढ एव चानुबन्धो मनसोरप्यनसोः श्रियां स बन्धो ॥ ६३ ॥

सहन कर सकनेके लिए कहाँ समर्थ है, मानों इसीलिये उसे मेंहदीके निर्दोष लेपसे लिम्पित कर दिया ॥ ६० ॥

अन्वय : यत मञ्जुजातिः सन् अयं सरलं मम नाम हृदयं प्रति प्रयाति इति तावत् सती तनया अवामम् शस्तं हस्तं एव प्रतिदत्तवती ।

अर्थ : जब कि यह स्वामी जयकुमार मेरे लिये सरल हृदयको धारण कर रहा है, तो फिर मैं कुटिल कैसे रहूँ, यह बतानेके लिये ही मानों उसने अपना अवाम अर्थात् दाहिना हाथ जयकुमारके हाथमें दे दिया ॥ ६१ ॥

अन्वय : सा चन्द्रकान्ता कुमुदाश्रयोपभोगे तरुणस्य कलाधरस्य योगे स्वयम् करसम्पर्कम् उपेत्य सहसा उदित सिप्रसारतान्ता आसीत् ।

अर्थ : जैसे कुमुदों को आनन्दित करनेवाले चन्द्रमाके योगमें चन्द्रकान्तमणि द्रवित हो जाता है, उसी प्रकार जयकुमारके योग को पाकर सुलोचना भी भी सात्त्विक प्रस्वेद (पसीने) के पूरसे व्याप्त हो गई ॥ ६२ ॥

अन्वय : हे बन्धो ! श्रियां अनसो उभयोः शुभयोगकृतप्रबन्धः अञ्चलवान्तभागबन्धः एव परम् दृढ न समभूत, अपि मनसोः वा अनुबन्धः दृढः समभूत् ।

उभयोरिति । ये उभयोर्वधू-वरयोः शुभयोगकृत् प्रशस्तोऽसौ प्रबन्ध इत्येवं कृत्वा, अञ्चलवान्तभागस्य वस्त्रप्रान्तस्य बन्धो ग्रन्थिबन्धनाख्यो यः स एव परं केवलं नाभूत्, किन्तु हे वन्धो भ्रातः श्रिया मनसो शकटयोरपि तयोर्मनसो हृदययोश्चैषोऽनुबन्धः सम्बन्धः समभूत् ॥ ६३ ॥

परघातकरः करोऽस्य चास्या नलिनश्रीहर एवमेतदास्याः ।
द्वयमप्यतिकर्कशैः किलेतः किमु कार्पासकुशैः स्म वध्यतेऽतः ॥६४॥

परघातकर इति । अस्य वरस्य करः परेषां शत्रूणां घातकरः संहारकारकोऽस्यास्च वध्वा करो नलिनस्य कमलस्य श्रीहरः शोभापहारक इत्येव तयोर्द्वयोरास्या स्थितिरितः किल, अतएव तद्द्वयमप्यतिकर्कशैः कार्पासकुशैर्बध्यते स्म किमु साम्प्रतम् ? काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ६४ ॥

स्वकुले सति नाकुलेक्षणेन सुखतः सम्मुखतस्त्वशिक्षणेन ।
अनयोस्त्रपमाणयोः पयोऽपि स्मरजं शान्तिकवारिभिर्व्यलोपि ॥६५॥

स्वकुल इति । आकुलो न भवतीत्यनाकुलस्तस्मिन् व्याकुलतारहिते स्वकुले बन्धुवर्गे सति विद्यमाने तत्र सम्मुखतस्त्वस्य शिक्षणेन क्षणेन त्रपमाणयोर्लज्जमानयोरनयोर्वधूवरयोः स्मरजं प्रेम-वासनाजनितमपि पयो जलं तदेतत्तावच्छान्तिकवारिभिः श्रुतिविहित-

---

अर्थ : हे पाठको, सुलोचना और जयकुमारका यह जो पाणिग्रहण हुआ, वह जहाँ सबके लिये मंगल कारक हुआ, वहाँ उन दोनों का आपसमें वस्त्रका गठबन्धन भी दृढ़ किया गया। इतना ही नहीं, किन्तु सौभाग्य के भंडार रूप उन दोनों के हृदयोंका भी परस्पर गठबन्धन हो गया ॥ ६३ ॥

अन्वय : अस्य करः परघातकरः, अस्याः च नलिनश्रीहरः, एवम् एतदास्या अतः किल इतः किमु द्वयम् अपि अति कर्कशैः कार्पासकुशैः वध्यते स्म ।

अर्थ : इस जयकुमारका हाथ तो परका अर्थात् वैरियोंका घात करनेवाला है और सुलोचनाका हाथ कमलकी लक्ष्मीका हरण करनेवाला है, इस प्रकार ये दोनों ही अपराधी है इस अभिप्रायको लेकरके ही मानों उस समय उन दोनों के हाथोंको कठोर कपास और कुशके सूतोंसे बाँध दिया गया। अर्थात् कंकण-बन्धनका दस्तूर किया गया ॥ ६४ ॥

अन्वय : स्वकुले सति चाकुलेक्षणेन सुखतः सम्मुखतस्त्वशिक्षणेन त्रपमाणयोः अनयोः स्मरजं पयोपि शान्तिकवारिभिः व्यलोपि ।

अर्थ : प्रत्यक्षमें कुटम्बी जनोंका सान्निध्य होते हुए और उनके स्पष्ट देखते हुए लज्जित होने वाले उन वर-वधू दोनोंका प्रेमवासना-जनित प्रस्वेदरूप जल

मन्त्रैः, ॐ पुण्याहमित्यादिसूक्तैश्च संसिक्तानि यानि शान्तिवारीणि तैर्ध्वंसोपि लुप्तप्राय-मभूदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

वसुसारमुदारधारयाऽऽरादुपकाराय मुमोच काशिकाराट् ।
तमुदीक्ष्य मुदीरिते जने तु स तयोः सात्त्विकरोमहर्षहेतुः ॥ ६६ ॥

वसुसारमिति । काशिकाराट् अकम्पनमहाराजः उपकाराय प्रजानां हिताय, आरात्त्वरितमेव तावदुदारधारया, अत्यधिकतया वसुसारं रत्ननिकरं मुमोच व्यकिरत् । तमुदीक्ष्य जने लोकसमूहे मुदा प्रमोदेनेरिते प्रेर्यमाणे सति, स वसुसारस्तयोर्वधू-वरयोः सात्त्विकस्य सहजमिथः संश्लेषजन्यस्य रोमहर्षस्य रोमाञ्चस्य हेतुरभूत् ॥ ६६ ॥

हुतधूपजधूमधन्यधाम्नाऽनुतते व्योमनि मण्डपेऽपि नाम्ना ।
मनुजा अनुमेनिरे तदात्तमनयोः सात्त्विकमेतदश्रुजातम् ॥ ६७ ॥

हुतेत्यादि । हुताद्धूपाज्जातः सम्भूतो यो धूमस्तस्य धन्येन धाम्ना प्रभावेणाऽनुतते व्याप्ते सति व्योमन्याकाशे तत्र मण्डपेस्थिता नाम्ना मनुजा दर्शकाः परिचारकाश्च लोकास्तदानयोर्वधू-वरयोः सात्त्विकं स्वाभाविकं प्रसादसम्भवमेतदश्रुजातं तस्माद् धूमादात्तमेव मेनिरे । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥ ६७ ॥

ककुभामगुरूत्थलेपनानि शिखिनामम्बुदभांसि धूपजानि ।
खतमालतमांसि खे स्म भान्ति भविनां त्रुट्यदघच्छवीनि यान्ति ॥६८॥

है वह गृहस्थाचार्यके द्वारा छोड़ी गई शान्तिधारामें विलुप्त-सा हो गया ॥६५॥

अन्वय : काशिकाराट् आरात् उपकाराय उदारधारया वसुसारम् मुमोच तम् उदीक्ष्य मुदीरिते जने तु स तयोः सात्त्विकरोमहर्षहेतुः ।

अर्थ : उस समय अकम्पन महाराजने जनताके उपकारके लिये खूब उदार धारासे रत्नोंकी वर्षा की, अर्थात् रत्न-स्वर्णादिका खूब दान किया, उसे देखकर लोग प्रसन्नतासे फूल गये । अतः वह दोनों वर-वधूके सात्विक रोमांचका भी कारण हुआ ॥ ६६ ॥

अन्वय : हुतधूपजधूमधन्यधाम्ना अनुतते धामनि नाम्ना मण्डपेऽपि मनुजा अनयोः सात्त्विकम् एतत् अश्रुजातं तदात्तम् अनुमेनिरे ।

अर्थ : हवन-कुंडमें होमी गई धूपके धूम्रसे सारा राजभवन और मंडप व्याप्त हो गया, अतः उन दोनों वर-वधुओंके सात्त्विक प्रेमानन्दसे जनित आंसुओंको भी वहाँके लोगोंने उसे धूम्र-जनित ही समझा ॥ ६७ ॥

अन्वय : धूपजानि खतमालतमांसि खे यान्ति ककुभाम् अगुरूत्थलेपनानि शिखिनाम् अम्बुदभांसि भविनां त्रुटयदघच्छवीनि भान्ति स्म ।

ककुभामिति । धूपजानि हुतसम्भवानि खलमालानां धूमानां तमांसि खे गगने प्रसरन्ति, तानि ककुभां दिशामगुरुस्थलेपनामिव निविडश्यामरूपाणि, मयूराणां कुले अम्बुदानां मेघानां भा इव भा येषां तानि जलदतुल्यानि, भविनां शरीरिणां कुले पुनस्त्रुट्यतां नश्यतामघानां छविरिव यान्ति निर्गच्छन्ति भान्ति स्म । उल्लेखालङ्कार-ध्वनिः ॥ ६८ ॥

हविषा कविसाक्षिणा समर्चीरनुरागोऽप्यनयोर्दृगञ्चदर्ची ।
क्षणसादधिकाधिकं जजृम्भे जनताया मुदुपायनोपलम्भे ॥ ६९ ॥

हविषेति । समर्चीः समीचीनो यो हवनाग्निस्तथैव चानयोर्वधू-वरयोरनुरागोऽपि कविर्यजनाचार्यः साक्षी यत्र तेन हविषा घृतेन हुतेन सह जनताया मुदेवोपायनं मुत्पूर्वकं वोपायनं तस्योपलम्भे सम्प्राप्तौ वृथा दर्शनमात्रेणानायासेन स्वत एवाऽञ्चन्निर्गच्छदर्चिर्यस्य, यद्वा, दृशोरञ्चदर्चिर्यस्य स क्षणसादनुक्षणमधिकाधिकं यथा स्यात्तथा जजृम्भे वृद्धि-माप ॥ ६९ ॥

न सुधा वसुधालयैस्तु पीतोत्तममस्यास्तु हविः कवीन्द्रगीतौ ।
मखवह्निविदग्धगन्धिनेऽस्मायनुयान्तो हि सुधान्धसोऽपि तस्मात् ॥७०॥

न सुधेति । वसुधालयैर्धरानिवासिभिर्मनुजैस्तु पुनः सुधा न पीता तावदित्यत्र कारणं कवीन्द्रगीतौ प्रणीतौ किलानुपलब्धिरस्याः सुधायाः, किन्त्वेतदपेक्षया हविर्घृत-मुत्तममस्तीति कारणम्, यतो हि कारणान्मखवह्निना यज्ञाग्निना विदग्धो भस्मीभूतो गन्धो

अर्थ : उस समय धूपके धूम्रसे पैदा हुए और आकाशमें फैलनेवाले धूम्रके लेश दिशाओंमें तो अगुरुके विलेपनके समान प्रतीत हुए, मयूरोंके लिए मेघके समान प्रतीत हुए और भव्य जीवोंके लिये टूटते हुए अपने पापोंके आकारसे प्रतीत हुए ॥ ६८ ॥

अन्वय : जनताया मृदुपायनोपालम्भे कविसाक्षिणा हविषा समर्चीः अनयोः दृगञ्च-दर्ची अनुरागोऽपि क्षणसात् अधिकाधिकं जज्जृम्भे ।

अर्थ : गृहस्थाचार्यके द्वारा डाले हुए घी से इधर तो होमकी अग्निज्वाला और उधर वर-वधुओंके आँखोंमें परस्परका अनुराग क्षण-क्षणमें उत्तरोत्तर बढ़ता रहा जो कि देखनेवाली जनताको आनन्दका देने वाला हुआ ॥ ६९ ॥

अन्वय : वसुधालयैस्तु सुधा न पीता कवीन्द्रगीतौ अस्यास्तु उत्तमम् हविः सुधान्ध-सोऽपि मखवह्निविदग्धगन्धिने अस्मै हि अनुयान्तः तस्मात् ।

अर्थ : यद्यपि पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्योंके द्वारा अमृत नहीं पीया गया

यस्यास्तीति तस्मै सर्पिषे सुधान्धसो देवा अपि हि निश्चयेनानुधान्तोऽनुगच्छन्तः स्पृहयालवो भवन्तीति तस्मात् ॥ ७० ॥

ननु तत्करपल्लवे सुमत्वं पथि ते व्योमनि तारकोक्तिमत्वम् ।
जनयन्ति तदुज्झिताः स्म लाजा निपतन्तोऽग्निमुखे तु जम्भराजाः ॥७१॥

नन्विति । तयोज्झिता वधूपरित्यक्ता लाजास्तस्याः करपल्लवे सुमत्वं कुसुमरूपत्वं जनयन्ति स्म । पथि मार्गव्योमनि तारकोक्तिमत्वं नक्षत्ररूपत्वं जनयन्ति स्म । अग्निमुखे निपतन्तस्ते पुनर्जम्भराजाः प्रधानदन्ता इव जनयन्ति स्म चक्रुः । ननु नानाविकल्पने । उल्लेखो ध्वन्यते ॥ ७१ ॥

नम एतदभङ्गमङ्गलार्थमभवद्धोमरवश्च तृप्तिसार्थः ।
मुहुरेव मखे सकाम्यनादः यजमानाय जिनेशिनां प्रसादः ॥७२॥

नम इति । तत्र मखे हवनकर्मणि समुक्तं नम इत्येतद् ॐ सत्यजाताय नम इत्यादि, तदभङ्गस्याविच्छिन्नरूपस्य मङ्गलस्यार्थमभवत् । होमरवश्च, ॐ सत्यजाताय स्वाहा— इत्यादिमयः स तृप्तिसार्थः सन्तर्पणकारकः । एवमेव पुनः स काम्यनाद., ॐ षट् परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु—एवं रूपः स मुहुरुच्यमानो यजमानाय क्रतुकर्त्रे जिनेशिनां मङ्गललोकोत्तमशरण्यानां प्रसाद इवाभवत् ॥ ७२ ॥

है तो भी कोई बात नहीं, क्योंकि कवियोंके कहनेमें घी उस अमृतसे भी अधिक उत्तम है, देवता लोग मनुष्योंके द्वारा यज्ञमें होम किये जाने वाले घी की भी सुगन्ध लेकर प्रसन्न होते हैं ॥ ७० ॥

अन्वय : ननु तदुज्झिताः लाजा अग्निमुखे निपतन्तः तु जम्भराजाः ते तत्करपल्लवे सुमत्वं पथि व्योमनि तारकोक्तिमत्वम् जनयन्ति स्म ।

अर्थ : हवनमें जो लाजा क्षेपण की जा रही थीं, वे उन दोनों वर-वधुओंके करपल्लवोंमें तो फूल सरीखी प्रतीत होती थीं और डालते समय आकाशमें ताराओंके सदृश प्रतीत होती थीं, तथा अग्निमें पड़ते समय वे अग्निकी दन्त-पंक्ति-सी प्रतीत होती थीं ॥ ७१ ॥

अन्वय : मखे नम एतत् अभङ्गमङ्गलार्थम् होमरवश्च तृप्तिसार्थः मुहुरेव सकाम्यनादः यजमानाय जिनेशिनां प्रसादः अभवत् ।

अर्थ : हवनके समय जो 'सत्य जाताय नमः' इत्यादि मन्त्रोंमें 'नमः' बोला जाता था वह तो अभंग मंगलके लिए (अखंड सौभाग्यके लिए) बोला जाता था, जो 'ॐ सत्यजाताय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंके साथ स्वाहा शब्द बोला जाता था वह सन्तर्पण करनेवाला था, तथा जो 'ॐ षट् परमस्थानं भवतु'

विशदानि पदानि गेहिसानौ परमस्थानसमर्हणानिवानौ ।
गतवत्स्युरनागतानि ताभ्यां कलिताः सप्त परिक्रमाः क्रमाभ्याम् ।।७३।।

विशदानीति । नौ आवयोर्गेहिसानौ गृहस्थमार्गे परमस्थानीव समर्हणानि मान्यानि, विशदानि स्वच्छानि पदानि यान्यनागतानि भविष्यत्कालप्रभवाणि गतवत्प्राप्तानीव स्यु-रिति किल ताभ्यां वधू-वराभ्यां द्वाभ्यां क्रमाभ्यां चरणाभ्यामेव सप्त परिक्रमाः प्रदक्षिणाः कलिता दत्तास्तत्र सज्जातिः, सद्गृहस्थत्वं, पारिव्राज्यं, सुरेन्द्रता, चक्रित्वं तीर्थंकृत्वं, च परिनिर्वृतिरित्यपीति सप्त परमस्थानानि सन्ति ॥ ७३ ॥

परितः परितर्पितानलं तं कनकाद्रीन्द्रमिवाधुनोल्लसन्तम् ।
मिथुनं दिनरात्रिवज्जगाम सुखतोऽन्योन्यसमीक्षया वदामः ।। ७४ ।।

परित इति । परितर्पितश्चासावनलोऽग्निश्च तमतएव कनकाद्रीन्द्रं सुमेरुमिवोल्ल-सन्तं प्रकाशमानमधुना दिन-रात्रिवत्तन्मिथुनं वधू-वरयुगलमपि किलान्योन्यस्य परस्परस्य

इत्यादि काम्य मन्त्र बार-बार बोला जाता था वह यजमानके लिये जिनभगवान्-का प्रसाद स्वरूप था ।। ७२ ।।

अन्वय : गेहिसानौ नौ परमस्थानसमर्हणानि विशदानि पदानि गतवत् अनागतानि तानि स्युः वा ताभ्यां क्रमाभ्यां सप्त परिक्रमाः कलिताः ।

अर्थ : गृहस्थीरूपी पर्वतके शिखरपर ये सात परमस्थान पद भूतकालके समान हमारे लिए भविष्यकालमें भी निर्दोष बने रहें, इस बातकी सूचना देनेके लिए ही दोनों वर-वधुओंने अपने पदों-चरणोंसे घूमते हुए उस अग्निकी (सात) प्रदक्षिणाएँ कीं।

विशेषार्थ—विवाहके समय जो सात प्रदक्षिणाएँ दी जाती हैं उनको देनेका अभिप्राय यह है कि हम लोगोंको सात परम स्थानोंकी प्राप्ति हो। वे सात परमस्थान ये हैं—१. सज्जातित्व, २. सद्-गृहस्थत्व, ३. पारिव्रजत्व, ४ सुरेन्द्रत्व, ५. चक्रवर्तित्व, ६. तीर्थंकरत्व और ७. परिनिर्वाणत्व। छह प्रदक्षिणाओंके समय वधू आगे रहती है और वर उसके पीछे रहता है। अन्तिम सातवीं प्रदक्षिणाके समय वर आगे हो जाता है और वधू उसके पीछे रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि सातवाँ परमस्थान जो परिनिर्वाणत्व अर्थात् निर्वाण (मोक्ष) पदकी प्राप्तिका साक्षात् अधिकार उसी भवसे पुरुषको ही है, स्त्रीको नहीं। यह भाव ७४ वें श्लोकसे ध्वनित किया गया है ।। ७३ ।।

अन्वय : अधुना मिथुनं दिन-रात्रिवत् सुखतः अन्योन्यसमीक्षया परितः परि-तर्पितानलं तं कनकाद्रीन्द्रं इव उल्लसन्तं जगाम इति वदामः ।

–समीक्षया प्रेक्षणेन सुखतः स्वस्थरूपेण परितः समन्ततो जगाम परिचक्रामेति । तत्र सप्त-प्रदक्षिणासु मध्यात् प्रथमषट् प्रदक्षिणास्तावदग्रेसरी भूय वधूश्चरमां प्रदक्षिणामग्रेसरो वरो भवन् कृतवानिति षट् परमस्थानानि स्त्रीप्राप्यानि, परमनिर्वाणस्तु पुरुषेणैव लभ्य इत्याशयः ॥ ७४ ॥

प्रथमं भुवि सज्जनैर्वृत इति वामोऽपि सदक्षिणीकृतः ।
स्वयमाशु पुनः प्रदक्षिणीकृत आभ्यामधुनाशुशुक्षिणिः ॥७५॥

प्रथममिति । अधुना भुवि सज्जनैः वृतः अङ्गीकृतः इति हेतोः वामोऽपि सुन्दरोऽपि वक्रश्च स आशुशुक्षणिरग्निः प्रथमं दक्षिणीकृतः स्वयं पुनः पश्चात् आशु शीघ्रं आभ्याम् वधु-वराभ्याम् प्रदक्षिणीकृतश्च परिक्रान्त इति यावत् ॥ ७५ ॥

हिमसागविलिप्तहस्तसङ्गे मिथुने वेपथुमञ्चतीह रङ्गे ।
मुररीमुररीचकार काऽऽरान्मदनाग्नेरुत फूत्कृतेर्विचारात् ॥ ७६ ॥

हिमसारेत्यादि । इहास्मिन्नवसरे हिमसारेण कर्पूरादिद्रवेण विलिप्तयोर्हस्तयोः सङ्गः संसर्गो यस्य तस्मिन्, तत एवेह रङ्गे वेपथुमञ्चति कम्पमाने सति मिथुने काचिद-बला मदनाग्नेः कामपावकस्य फूत्कृतेर्विचारादुत किल मुररीं वंशीमुररीचकार, वादनार्थ-मिति शेषः ॥ ७६ ॥

स्फुटरागवशङ्कतोऽधरं स सुतनोः सम्प्रति चुम्बतीह वंशः ।
स्तनमण्डलमीर्ष्ययेति वाऽलङ्कृतवान् मञ्जुलवागसौ प्रवालः ॥७७॥

अर्थ : उस समय दिन और रात्रिके युगलके समान वर और वधुने सुमेरुके समान अग्निके चारों ओर सुख-पूर्वक एक दूसरेकी प्रतीक्षा करते हुए उल्लास-से गमन किया, अर्थात् प्रदक्षिणाएँ दीं ॥ ७४ ॥

अन्वय : आशुशुक्षिणिः भुवि सज्जनैर्वृतः इति वामः अपि स आभ्यां प्रथमं दक्षिणी-कृतः पुनः अधुना स्वयं आशु प्रदक्षिणीकृतः ।

:**अर्थ** : इस संसारमें जो अग्नि प्रथम तो सज्जनोंके द्वारा स्वीकार कर आदरणीय मंगलकारी मानी गयी, उसीको उन वर-वधूने अपने दक्षिण भागमें किया, फिर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की ॥ ७५ ॥

अन्वय : इह रंगे हिमसारविलिप्तहस्तसङ्गे मिथुने वेपथुम् अञ्चति अधुना मद-नाग्ने फूत्कृतेः विचारात् का (काचित् स्त्री) आरात् मुररीम् उररीचकार ।

अर्थ : जिनके हाथ कपूरसे लिप्त हैं अतः ठंडकके कारण काँपनेवाले वर-वधुके होनेपर उस मंडपमें कामरूपी अग्निको फूँककर जगानेके विचारसे ही मानों किसी स्त्रीने बजानेके लिए बाँसुरीको उठाया ॥ ७६ ॥

स्फुटरागेत्यादि । स्फुटस्य स्पष्टतामासस्य रागस्य गीतस्य प्रेम्णश्च वशङ्गतोऽधीनो यो वंशो वाद्यविशेषः सम्प्रति सुतनोरबलाया अधरमोष्ठं चुम्बति तावदिति वा किलेर्ष्यया स्पर्धावशेन मञ्जुर्मनोहरा वाग्वाणी यस्य स प्रवालो वीणादण्डश्चासौ स्तनमण्डलमलङ्कृत-वान् । यथा वंशो वदति स्म तथा वीणा । यस्य वंशो युवतिजनाधरचुम्बनपरायणो भवति तस्य शिशुरपि स्तनसंसक्तो भवत्येवेत्यर्थः ।। ७७ ।।

पटहोऽवददेवमङ्कशायी मुरजोऽसौ तु जडः सदाभ्यधायि ।
सदसीह वंशजो हरेणुरदवासः परिचुम्बको नु वेणुः ।। ७८ ।।

पटह इति । पटहस्तु तत्रैवमेवावदत् किलासौ मुरजो मृदङ्गः स तु इह सदसि सदैव हरेणोर्युवत्या अङ्कशायी तस्या उत्सङ्गवर्ती भवन्, जडो बुद्धिहीनः स्थूलतरश्चाभ्य-धायि । किञ्च वंशादुच्चकुलाद्य च वेणुतो जातो वंशजो वेणुरपि हरेणोर्नवयौवनायाः स्त्रिया रदवाससोऽधरस्य परिचुम्बकः समास्वादनं करोतीत्याश्चर्यम् । नु इति वितर्के ।।७८।।

बहिरेव गुणैर्य एष तान्तस्त्वनुरागस्थितिर्लाल्यते किलान्तः ।
पुनरस्ति विरिक्तको मृदङ्गः, स्फुटमाहेति स झर्झरोऽपि चङ्गः ।।७९।।

बहिरिति । य एष मृदङ्गो रागं गीतमनुकृत्य स्थितिर्यत्र, यद्वा, अनुरागस्य प्रेम्णः स्थितिर्यत्र तद्यथा स्यात्तथा लाल्यते समनुभाव्यते । किल स बहिरेव केवलं गुणैः सारैः

अन्वय : इह स वंशः सम्प्रति स्फुटरागवशङ्गतः सुतनोः अधरं चुम्बति इति ईर्षया जा मञ्जुलवाक् असौ प्रबालः स्तनमण्डलं अलङ्कृतवान् ।

अर्थ : वीणा-दंड इस प्रकार कहते हुए कि देखो कि यह वंशी-वाद्य स्पष्ट रूपमें राग (रागिनी, प्रेम) के वश होकर इस सुन्दरीके होठोंको चूम रहा है यह देखकर ईर्ष्यासे ही मानों सुन्दर बोलने वाला प्रवाल (वीणा-दंड) युवतिके स्तन-मंडलका आलिंगन करने लगा ।। ७७ ।।

अन्वय : अङ्कशायी असौ मुरजः तु सदा जडः अभ्यध्यायि नु वंशजः वेणुः च इह सदसि हरेणुरदवासः परिचुम्बकः एवं पटहः अवदत् ।

अर्थ : इस पर पटह (नगारा) बोलने लगा कि देखो यह मृदंग जो कि युवतीकी गोदमें लेट रहा है वह तो जड़ है यह तो सब जानते हैं किन्तु जो वेणु है वह तो वंशज है फिर भी युवतीके होठका इस भरी सभामें चुम्बन कर रहा है यह एक आश्चर्यकी बात है ।। ७८ ।।

अन्वय : चङ्गः झर्झरोऽपि, य एष मृदङ्गः अनुरागस्थितिः (यथा स्यात् तथा) लाल्यते किल स बहिरेव गुणैः तान्तः पुनः अन्तः विरिक्तकः अस्ति इति स्फुटं आह ।

सूत्रतन्तुभिश्च ताम्तो व्याप्तोऽस्ति, किन्तु स एवान्तरभ्यन्तरं विरिक्तकोऽस्तीति पुनः स वज्झो झर्झरोऽपि नाम वाद्यभेदः स्फुटमाह खलु ॥ ७९ ॥

निवहन्तमदाद्वरीयसे तु दशनौ जम्पतिकीर्तिपूर्तिहेतुः ।
मदबिन्दुपदेन कारणानि द्विषतां दुर्यशसे करेणुजानिम् ॥ ८० ॥

निवहन्तमिति । सोऽकम्पनो नाम महाराजो वरीयसे जयाय जम्पत्योर्वधू-वरयोः कीर्तेः पूर्तये हेतू कारणस्वरूपौ स्वच्छरूपौ दशनौ दन्तौ मदबिन्दूनां पदेनच्छलेन तु पुनर्द्विषतां वैरिणां दुर्यशसेऽपनाम्ने कारणानि निवहन्तं वधतं करेणुजानिं हस्तिनं अदाद्दत्तवान् ॥८०॥

सुहृदां भुवि शर्मलेखिनी वा द्विषदग्रे पुनरन्तकस्य जिह्वा
कबरीव जयश्रियोऽर्पितासि-लतिका पाणिपरिग्रहोचितासीत् ॥ ८१ ॥

सुहृदामिति । तथा तस्मै जयायासिलतिका खड्गयष्टिरर्पिता दत्तासीद् या खलु सुहृदां सज्जनानां भुवि स्थाने शर्मण आनन्दस्य लेखिनी समुल्लेखकर्त्री, वाऽथवा द्विषतां वैरिणामग्रे पुनरन्तकस्य जिह्वेव जयश्रियो विजयलक्ष्म्याः कबरीव वेणीवासीत् । या खलु पाणिग्रहोचिता विवहनयोग्याऽभवत् ॥ ८१ ॥

हयमाह यमात्मवानरं यान्विषमानुत्तरदक्षिणाध्वगम्यान् ।
गमिताङ्कमिताखिलप्रदेशोऽरुणदम्याञ्जितवान् धरातलेऽसौ ॥ ८२ ॥

अर्थ : तभी अच्छी जो झाँझ थी वह बोली—कि जो मृदंग बाहरमें गुणोंसे युक्त दीखता है इसीलिये वह अनुरागपूर्वक दुलारा जा रहा है, पर भीतरमें बिलकुल रीता है ॥ ७९ ॥

अन्वय : तु दशनौ जम्पति-कीर्तिपूर्तिहेतू मदबिन्दुपदेन द्विषतां दुर्यशसे कारणानि निवहन्तम् करेणुजानिम् वरीयसे अदात् ।

अर्थ : अब अकम्पन महाराजने वरराज जयकुमारको हाथी दिया जो कि दम्पत्तिकी कीर्त्तिके हेतुभूत, दोनों दाँतोंको धारण करनेवाला था और मदकी बूँदोंके बहानेसे दुष्टोंके लिये अपयशका भी कारण था ॥ ८० ॥

अन्वय : पाणिपरिग्रहे असि-लतिका अर्पिता आसीत् (या) भुवि सुहृदां शर्मलेखिनी वा द्विषदग्रे अन्तकस्य जिह्वा पुनः जयश्रियः कबरी इव मिता ।

अर्थ : अब इसके बाद अकम्पनने जयकुमारको तलवार दी जो कि सज्जनोंके लिए तो कल्याण करनेवाली थी, किन्तु वैरियोंके लिए यमकी जिह्वा सरीखी थी और विजयश्रीकी वेणी सरीखी थी ॥ ८१ ॥

अन्वय : आत्मवान् यम् हयम् आह असौ धरातले गमिताङ्कमिताखिलप्रदेशः अरं

हयमिति । आत्मवान् विचारशीलः काशिराट् यं हयमाह, सोऽस्मिन् गमिताङ्ग गमनरूपमिताः प्राप्ता अखिलाः प्रदेशा येन सोऽस्मिन् धरातले केवलमुत्तरश्च दक्षिणश्चोत्तरदक्षिणौ यावध्वानौ तयोर्गम्यान् गमनयोग्यान्, अरुणस्य सूर्यसारथेर्दम्यान् घोटकाञ्जितवान्, विषमान् कुटिलानपि जितवानिति ॥ ८२ ॥

समदायि जनेश्वरेण मह्यामपि पद्माप्रणयेश्वराय शय्या ।
यदहीनगुणैर्नरोत्तमाय विषदैः सङ्घटितेति सम्प्रदायः ॥ ८३ ॥

समदायीति । अपि पुनर्नरोत्तमाय विष्णव इव पुरुषश्रेष्ठाय तस्मै वराय, कीदृशाय, पद्माया लक्ष्म्या इव सुलोचनायाः प्रणयस्य प्रेम्ण ईश्वरायाधिकारिणे तस्मै जनेश्वरेणाकम्पनेन शय्या समदायि दत्ता, या खलु मह्यां पृथिव्यामहीनैरम्यूनैर्गुणैः सूत्रैरथ चाहीनां सर्पाणामिनः स्वामी शेषस्तस्य गुणैः अतएव विषदैः विषप्रदैः शुक्लैश्च सघटिता रचितेति, रचितेति सम्प्रदायो मार्गः ॥ ८३ ॥

नहि किं किमहो प्रदत्तमस्मै ददता तां तनुजामपीह तेन ।
मनुजातिसुजातिना त्रिवर्ग-प्रतिसर्गोऽस्य कृतो धराधवेन ॥ ८४ ॥

नहि किमिति । इह तावत्तनुजामपि स्वशरीरसम्भवां तां ददता प्रयच्छता धराधवेन स्वामिनाऽकम्पनेन मनूनां कुलप्रवर्तकाणां जातौ समन्वये सुजातिः प्रसूतिर्यस्य

यान् विषमान् उत्तर-दक्षिणाध्वगम्यान् अरुणदम्यान् जितवान् ।

अर्थ : महाराज अकम्पनने जयकुमारको घोड़ा दिया जो कि धरातलपर क्या उत्तर, क्या दक्षिण, सर्व ओर शीघ्र ही चलनेवाला था, इसलिये दक्षिण और उत्तरकी ओर ही चलनेवाले सूर्यके घोड़ोंको भी जीतनेवाला था ॥ ८२ ॥

अन्वय : मह्यामपि पद्मा प्रणयेश्वराय नरोत्तमाय जनेश्वरेण शय्या समदायि यत् अहीनगुणैः विषदैः सङ्घटिता इति सम्प्रदायः ।

अर्थ . इस अवसरपर महाराज अकम्पनने जयकुमारके लिये शय्या दी वह शय्या कैसी थी कि विशद (उज्ज्वल) या विषद (विषको देनेवाली), अहीन गुण, (सर्पके गुणसे रहित) अथवा अहि जो साँप उनके इन (स्वामी) शेष नागके द्वारा निर्मित थी, और उत्तम रस्सीसे बनी हुई थी । आशय यह कि वह विष्णुकी नागशय्याके समान सुन्दर थी ॥ ८३ ॥

अन्वय : अहो इह तान् तनुजाम् अपि अस्मै ददता तेन धराधवेन मनुजातिसुजातिना किं किं न हि प्रदत्तम् ? अस्य त्रिवर्ग-प्रतिसर्गः कृतः ।

अर्थ : उन अकम्पन महाराजने अपनी कन्या देकर जहाँ जयकुमारके

तेनाहर्निशं वराय किं किं वस्तु न प्रदत्तं, यतोऽस्य गार्हस्थ्यमुपढौकितो जयस्य त्रिवर्गप्रतिसर्गो धर्मार्थकामनिर्माणमपि कृतम् । अहो इत्याश्चर्ये ॥ ८४ ॥

मनुजैरनुविस्मयं तदानीमिह राजन्वति पत्तनेऽप्यमानि ।
करमुञ्चनमित्यनङ्गरम्यं वचनं स्पष्टतयाऽऽदरान्निशम्य ॥८५॥

मनुजैरिति । तदानीं तस्मिन् समये, इह राजन्वति पत्तने सम्यङ् नरपतिनगरेऽपि करं मुञ्चताविति करमुञ्चनविषयेऽभ्यर्थनात्मकं वचनमादरात्कृतं निशम्य मनुजैः सर्वसाधारणैरपि जनैस्तद्वचनमनुविस्मयमाश्चर्यपूर्वकमनङ्गरम्यमप्रासङ्गिकमुत कामपुरुषार्थमनोहरमित्यमानि सममुमतमिति यावत् ॥ ८५ ॥

नरपार्पितमादराद् गृहीतमतिना श्रीपतिनापि सङ्गृहीतम् ।
जगतां तृडुपायनोऽपि कूपः किमु नो वारिदवारिदक्षरूपः ॥८६॥

नरपेत्यादि । गृहीता मतिर्येन तेन गृहीतमतिना विचारशीलेन श्रीपतिना स्वयं सम्पत्तिशालिनापि तेन वरराजेन नरपेणाकम्पनेनार्पितं वस्तुजातं यत्किञ्चिदपि तत्सङ्गृहीतमेव, यत खलु जगतां समस्तप्राणिनां तृषि पिपासायामुपायन उपहारस्वरूपस्तृडुपहारकोऽपि सन् कूपो वारिदस्य मेघस्य वारि जले दक्षरूपोऽभिलाषी भवत्येव । दृष्टान्तालङ्कारः ॥८६॥

श्रणता प्रणतारिणापि जातु मखमार्गेण हुता दरिद्रता तु ।
वसुधैककुटुम्बिनाथ साऽऽरादुतचिन्तामणिमाश्रिता विचारात् ॥८७॥

त्रिवर्गकी पूर्ति कर दी, वहाँ उन्होंने और क्या-क्या नहीं दिया ? अर्थात् सभी कुछ दिया ॥ ८४ ॥

अन्वय : इह राजन्वति पत्तने अपि तदानीम् करमुञ्चनम् इति वचनं स्पष्टतया आदरात् अनुविस्मयं निशम्य मनुजैः अनङ्गरम्यं अमानि ।

अर्थ : उस अवसरपर उस सुदेशमें भी लोगोंने 'राज्य-कर छोड़ दिया गया' यह वचन सुना तो उन्हें अनंगरम्य (अप्रासंगिक) अथवा प्रसन्नताकारक होनेसे बहुत आश्चर्य हुआ ॥ ८५ ॥

अन्वय : गृहीतमतिना श्रीपतिना अपि नरपार्पितम् आदरात् सङ्गृहीतं जगतां तृडुपायनः अपि कूपः वारिदवारि किमु दक्षरूपः नो ?

अर्थ : अकम्पन महाराजकी दी हुई सभी दहेजकी वस्तुओंको अटूट लक्ष्मीके भंडारवाले बुद्धिमान जयकुमारने भी आदरसे ग्रहण (स्वीकार) किया । ठीक ही है यद्यपि कूप दुनियाँकी प्यासको मिटानेवाला होता है फिर भी वह बरसातके पानीको संग्रह करनेमें तो तत्पर रहता ही है ॥ ८६ ॥

श्रणतेति । प्रणताः प्रणता अरयो यस्य यस्मै वा तेन प्रणतारिणा तेनाकम्पनेन श्रणता मुक्तहस्तेन ददता तदा तु पुनर्मखमार्गे यज्ञकार्ये दरिद्रता जातुचिदपि न हता न भस्मीकृता, कौतुकेन, वसुधैककुटुम्बिना पृथ्वीमात्रस्य बन्धुना, किन्तु साथ, आरादेव विचारात् युक्तरूपतया चिन्तामणिमाश्रिता । सर्वेऽपि जना निर्वाञ्छकाः कृता, तदा पुनस्तत्प्रभावेण चिन्तामणिर्दानशीलताभावाद्दरिद्रोऽभूत् । यतश्च सर्वेभ्यः सर्वस्वदायकेन राज्ञा दरिद्रतायै चिन्तामणिर्दत्त इति भावः ॥ ८७ ॥

करपीडनमेष बालिकायाः कृतवानुद्धृतवाञ्छनोऽत्र भायात् ।
परमस्थितिसाधनैकबुद्धिश्चरणाङ्गुष्ठगृहीतिरेव शुद्धिः ॥ ८८ ॥

करपीडनमिति । एष वरराट् उद्धृता वाञ्छा यस्य सोऽत्र भवन् बालिकायाः करपीडनं कृतवान् । स्त्रीमात्रस्य पीडनमयुक्तं किमुत पुनर्बालिकाया इत्यत्र शुद्धिस्तस्य परिहारस्तावत् परमस्थितिसाधनानि, सप्तपरमस्थानसूक्तानि, तत्रैका प्रधाना बुद्धिर्यया सा तेन वरेण तस्या बालिकायाश्चरणाङ्गुष्ठस्य गृहीतिरेवाभूत् । कोऽपि कस्मैचिदप्यपराध्यति प्रमादेन स तस्य चरणग्राही तथाऽत्रापि—इति यावत् । सप्तपरमस्थानसूक्तोक्तिपुरस्सरं वध्वाश्चरणाङ्गुष्ठग्रहणपूर्वकं वरस्तां स्ववामपार्श्वे निवेशयते—इति समाम्नायाचारः ॥ ८८ ॥

पुरवो ननु पृष्ठरक्षिणो वाऽस्त्यरिहन्ता भुज एष दक्षिणो वा ।
प्रजया परिपूर्यते पुरस्तादिति वामे क्रियते स्म सा तु शस्ता ॥८९॥

अन्वय : अथ वसुधैककुटुम्बिना प्रणतारिणा अपि श्रणता मखमार्गे दरिद्रता तु जातु न हता विचारात् सा आरात् उत चिन्तामणिम् आश्रिता !

अर्थ : उस विवाह-यज्ञके समय इस प्रकार मुक्तहस्त होकर मुँह-माँगी वस्तुएँ देते हुए वसुधाके स्वामी अकम्पन महाराजके द्वारा कहीं दरिद्रता नष्ट न हो जाय; इस विचारसे ही मानों वह दरिद्रता स्वयं चिन्तामणिके पास चली गई। आशय यह है कि सब लोगोंको सभी कुछ देनेवाले राजाने मानों दरिद्रताके लिए चिन्तामणि रत्न ही दे दिया ॥ ८७ ॥

अन्वय : एष उद्धृतवाञ्छनोः बालिकायाः करपीडनम् कृतवान् । अत्र परमस्थितिसाधनैकबुद्धिः चरणाङ्गुष्ठगृहीतिः एव शुद्धिः भायात् ।

अर्थ : उद्धृत है वाञ्छा जिसकी ऐसे जयकुमारने उस समय उस भोली सुलोचनाका पाणि-पीडन किया (हाथको कष्ट दिया) इसलिये उस अपराधकी शुद्धिके लिये जयकुमारने प्रायश्चित्तके रूपमें उस सुलोचनाके पैरके अंगूठेको ग्रहण किया। आशय यह कि जयकुमारने सुलोचनाको अपने वाम पार्श्वमें बैठाया ॥ ८८ ॥

पुरव इत्यादि। पुरवः पूर्वपुरुषा बृषभाद्यास्तेऽस्माकं पृष्ठरक्षिणो रक्षका सन्ति, वाऽथवा पुनरेव दक्षिणो भुजो बाहुररिहन्ताऽस्ति परित्राणे प्रवर्तते, पुरस्ताद्भागश्च प्रजया सन्तत्या परिपूर्यते, इत्येवं कृत्वा सा तु शस्ता प्रशंसनीया। अवशिष्टो वामभागस्तत्र तेन क्रियते स्म खलु ॥ ८९ ॥

मिथुनस्य मिथो हृदर्पणस्य किमहो यच्च पदं न तर्पणस्य ।
प्रणयोत्तममन्दिराग्रवस्तुवदभूत्स्वस्थलपूरणे पणस्तु ॥ ९० ॥

मिथुनस्येति। मिथः परस्परं हृदोर्हृदयोरर्पणं प्रतिदानं यस्य तस्य मिथुनस्य वरवधूरूपस्य स्वस्थलस्य वामदक्षिणयोर्मध्ये स्वोचितस्य पूरणे स्वीकरणे यः पणः प्रतिज्ञानमभूत् तदेतत् प्रणयोत्तममेव मन्दिरं तस्याग्रवस्तु कलशस्तद्वत्, यच्च तर्पणस्य पदं स्थानं किन्न अभूत्? अहो इति विस्मये ॥ ९० ॥

छदिवत्सरलाम्बुमुक्क्षणेऽसि जडतायाः प्रतिकारिणी सुकेशि ।
गृहमाव्रजते सतेऽथ वामा क्रियते नाम मया सदाभिरामा ॥९१॥

छदिवदिति। हे सुकेशि, शोभनकचे, त्वं जडताया अम्बुभावस्यैव मूर्खत्वस्य प्रतिकारिणी निवारणकर्त्री, तत एव छदिवत्, गृहस्योपरिभागवत्सरला प्रगुणा, शरप्रकाण्डवतो

अन्वय : ननु पृष्ठरक्षिणो वा पुरवः एष दक्षिणो वा भुजः अरिहन्ता अस्ति पुरस्तात् प्रजया परिपूर्यते इति सा तु शस्ता वामे क्रियते स्म।

अर्थ : जयकुमारने सुलोचनाको अपनी बाईं ओर इसलिए बिठाया कि पीठपर तो पूर्वज (बड़े) लोगोंका हाथ है ही, दाहिना हाथ बैरियोंको परास्त करनेके लिए है और अग्रभाग बच्चोंके लिए है। अब केवल वाम भाग ही अवशिष्ट रहा, अतः उसे सुलोचनाको समर्पित कर दिया ॥ ८९ ॥

अन्वय : मिथुनस्य मिथो हृदर्पणस्य स्वस्थलपूरणे पणस्तु प्रणयोत्तममन्दिराग्रे वस्तुवत् अभूत्, अहो यच्च तर्पणस्य पदं किम् न?

अर्थ : आपसमें अपना हृदय एक दूसरेको देनेवाले एवं अपने पदका सन्तर्पण करनेवाले उस मिथुन (वर-वधू) की आपसमें जो वचन-बद्धता हुई, वह प्रेमरूपी उत्तम मन्दिरपर कलश चढ़ाने सरीखी हुई। अभिप्राय यह है कि सात फेरे (प्रदक्षिणा) करनेके पश्चात् सप्त पदी होनेपर उन दोनोंका अनुराग और भी दृढ़ हो गया ॥ ९० ॥

अन्वय : हे सुकेशि! अम्बुमुक्क्षणे जडतायाः प्रतिकारिणी छदिवत् सरला नाम सदा अभिरामा गृहमाव्रजते सते असि अथ मया वामा क्रियते।

वासि सम्भवसि, अतः पुनरम्बुमुक्क्षणे मेघस्य क्षणे वर्षाकालेऽस्मिन् क्षणे प्रवामावानलक्षण-जलोत्सर्जने मया वामा वामभागस्था वक्रा च क्रियते नाम, या गृहमाव्रजते स्वीकुर्वते सते सभ्याय सदाऽभिरामा मनोहरा गृहिणी भवेरित्यर्थः ॥ ९१ ॥

प्रतिकूलविधानकाय वामां स्थविरेभ्योऽतिथये तुजेऽथ वामाम् ।
गृहकर्मणि भाषणे न वामामनुकर्त्रीमनुकर्त्रीमनुभावयामि वामाम् ॥९२॥

प्रतिकूलेत्यादि । प्रतिकूलं विरुद्धं विधानं यस्य तस्मै प्रतिकूलविधानकाय वामां भयंकरां, १वृद्धेभ्यः पितृस्थानीयेभ्योऽतिथयेऽभ्यागताय, अथ तुजे सन्तानाय, स्वस्माल्लघुजनाय मां, २वृद्धेभ्यो मां स्वयमिवाचरणकर्त्रीं तेषां सेवाकारिणीमित्यर्थः । अभ्यागताय च मां लक्ष्मीमिवाभिलाषापूर्तिकर्त्रीं, ३ बालजनाय मां मातरमिव पुष्टिदां ४ गृहकर्मणि रन्धनादिकार्ये न वामां दक्षां ५, भाषणे च पुनर्नवामामवक्रां मञ्जुभाषिणीं ६, माऽन्वानुकर्त्रीं मदिच्छानुवर्तिनीं ७ त्वामनुभावयामि प्रतिकरोमीति वरवचनोच्चारणमेतत् ॥९२॥

सरलामनुमन्य वंशजां मां कुरुषे कान्त नितान्तमेव वामाम् ।
इह चापलतेव मम्वदामि सुगुणत्वं तव कर्मणेऽर्हयामि ॥ ९३ ॥

सरलामिति । हे कान्त, अहं चापलतेव, चपल एव चापलस्तस्य भावश्चापलता चाञ्चल्यं तदिव भूत्वा, चपलतां स्वीकृत्येत्यर्थः । यद्वा, चाप एव लता, सेव धनुर्यष्टिरिव

अर्थ : पहले जयकुमार बोला कि हे सुकेशि, तुम गृहके ऊपरी भागके समान सरल हो, जलके गिरनेके समय तथा जडता (शीतलता और मूर्खता) का प्रतीकार करनेवाली हो और घरपर आये हुए सत्पुरुषके लिए 'मा' (लक्ष्मी) के समान हो, इस प्रकार तुम सर्वथा अभिराम हो, अतः मैं तुम्हें वामा बना रहा हूँ ॥ ९१ ॥

अन्वय : प्रतिकूलविधानकाय वामां स्थविरेभ्यः अतिथये अथवा तुजे माम् गृहकर्मणि भाषणे च न वामाम् अनुकर्त्रीम् वामां अनुभावयामि ।

अर्थ : अथवा प्रतिकूल चलनेवालेके लिए तो तुम वाम (वक्र) हो, वृद्धोंके लिए तथा अतिथियोंके लिए और बच्चोंके लिए मा (माता और लक्ष्मी) हो, घरके कार्यमें तथा सम्भाषण करनेमें नवामा (दक्षिण चतुर) हो, इसलिए मैं तुम्हें मेरा अनुकरण करनेवाली वामा (इच्छानुवर्त्तिनी) अनुभव करता हूँ । इस प्रकारसे सप्तपदीके अन्तमें जयकुमारने वचनोच्चारण किया ॥ ९२ ॥

अन्वय : हे कान्त ! माम् सरलाम् वंशजां अनुमन्य नितान्तमेव वामां कुरुषे इह चापलता इव मम्वदामि तव कर्मणे सुगुणत्वं अर्हयामि ।

अर्थ : तब सुलोचना बोली—हे कान्त ! मुझे आप वंशज और सरल

भवन्ती सम्भवामि । यत् किल त्वं मां वंशजां पवित्रकुलोत्पन्नां, पक्षे शुद्धवेणुसम्भवामतएव सरलां प्रगुणामृज्वीमनुमन्य नितान्तमेव वामामवगच्छसि पक्षे वक्रां कुरुषे तदा पुनरिहाहं तव कर्मणे कर्तव्याय सुगुणत्वमानुकूल्यं, पक्षे सप्रत्यञ्चत्वमर्हामि ॥ ९३ ॥

मम सम्प्रति किं न दक्षिणोसि द्विषते दिग्धव एव दक्षिणोऽसि ।
अभिवह्नि कृतप्रदक्षिणोसि मम पित्रा बहुदत्तदक्षिणोऽसि ॥ ९४ ॥

स्वयशांसि च तावदक्षिणोषि सततं दीनजनाय दक्षिणोऽसि ।
प्रणयाय यथावदक्षिणोऽसि सकलानन्दविवेचनैकपोषी ॥ ९५ ॥

ममेति । हे कान्त, त्वमभिवह्नि यज्ञाग्निमभिव्याप्य कृता प्रदक्षिणा येनैतादृशोऽसि । मम पित्राऽकम्पनेन बहुदत्ता दक्षिणा यस्मै सोऽसि । द्विषतेऽरिवर्गाय दक्षिणो दिग्धवो दिक्पालो यम इवासि । दीनजनायापि दक्षिण उदारमना दानशीलोऽसि । सततमेव ततः स्वयशांसि च तावदक्षिणोषि न नाशयसि । प्रणयाय प्रेम्णे च यथावदक्षिण चक्षुषि णो निर्णयो विद्यते यस्य सोऽसि । एवं प्रकारेण सकलानन्दस्य विवेचनमेकं पुष्णासीति सकलानन्द-विवेचनैकपोषी भवन्, सम्प्रति मम दक्षिणो वामेतर-पार्श्वभाक् किन्नासि किन्न भवसीत्यर्थः ॥ ९४-९५ ॥

समझकर भी वामा (वक्र) बना रहे हो, इसलिए मैं चापलता (चंचलता या धनुर्लता) बनकर कहती हूँ कि मैं आपके योग्य गुण (प्रत्यञ्चा, क्षमा, विनयादि-युक्त) को धारण करनेवाली बनूँ ॥ ९३ ॥

अन्वय : सम्प्रति मम दक्षिणः किन्न असि द्विषते दक्षिणः दिग्धव एव असि, अभिवन्हि कृतप्रदक्षिणः असि, मम पित्रा बहुदत्त-दक्षिणः असि । स्वयशांसि तावत् न अक्षिणोषि, दीनजनाय सततं दक्षिणः असि, प्रणयाय यथावत् अक्षिणः असि सकलानन्द-विवेचनैकपोषी ।

अर्थ : इस समय आप मेरे दक्षिण भागवर्ती हुए हैं, इतना ही नहीं, किन्तु वैरियोंके लिए आप दक्षिण दिशाके पति (यम) भी हैं तथा आपने प्रणीताग्नि-की प्रदक्षिणा भी दी है और इसीके उपलक्ष्यमें मेरे पिताने आपको बहुत-सी दक्षिणा भी दी है ॥ ९४ ॥ इसी प्रकार आप अपने यशको कभी क्षीण नहीं होने देते हैं क्योंकि दीनजनोंके लिए दान देनेवाले हैं, और प्रेमके लिए नेत्रके निर्णायक हैं (कि अमुक व्यक्तिके लिए अमुकका प्रेम है यह बात आप देखते ही जान जाते हैं) इस प्रकार आप सर्वथा सर्वदा आनन्दरसका पोषण करनेवाले हैं ॥ ९५ ॥

सुलभीकृतदुर्लभेयमेका जगतां वर्णविशोधिनी निषेकात् ।
प्रवरोऽयमियानिमां कुमालीं कृतवानेव वधूं सुपुण्यशाली ॥९६॥

सुलभीत्यादि । सुलभीकृतः सहजं प्राप्तो दुर्लभो यया सा सुलभीकृतदुर्लभा सावदियं सुलोचना निषेकात् बुद्धिकौशलादेकैवास्ति वर्णस्य विशोधिनी संशोधनकर्त्री जगतां प्राणिनां मध्ये न पुनरन्यैतादृशी, किन्त्वयन्तु प्रवरोऽतिशयबलवान् शुभपुण्यशाली च भवति किल, इयानेतादृग् य इमां कुमालीं, र-लयोरभेदात् कुमारीमेतादृशीमत्यन्तपरावृत्या वधूमेव कृतवान् । सा त्वेकमेव वर्णंशोधितवती, जयस्तु पुनः कुमार्याः सर्वानेव वर्णान् परावृत्य तां वधूमेव चकार ॥ ९६ ॥

गुरवोऽभिवधूवरं ददुर्वा शुभसम्वादकरीः पवित्रदूर्वाः ।
ललिताः स्म लसन्ति हृन्निवेशा वचसा निम्नसमङ्कितेन येषाम् ॥९७॥

गुरव इति । येषां हृदश्चित्तस्य निवेशा विचारास्ते निम्नसमङ्कितेन असि जीवन-नायक इत्यादिना वचसा सूक्तेन ललिता श्लाघनीया लसन्ति स्मेति ते गुरवो वृद्धजना गृहस्थाचार्याश्च, वधूश्च वरश्च वधूवरौ तावभिव्याप्य वर्तते यत्तत् यथा स्यात्तथा शुभ-सम्वादकरीराशीर्वादसूचिनीः पवित्रदूर्वाः परमेष्ठिपदसंस्पृष्टा ददुः क्षिप्तवन्तो वेति निर्धारणे ॥ ९७ ॥

असि जीवननायकस्त्वमस्या असकौ ते हृदखण्डमण्डनं स्यात् ।
सरसः सुत तामृते कुतः श्रीः कमलिन्यै किल यत्पुनःसदस्ति ॥९८॥

अन्वय : सुलभीकृतदुर्लभा इयम् निषेकात् जगताम् वर्णविशोधिनी एका अयं सुपुण्यशाली इयान् प्रवरः इमाम् कुमालीम् एव वधूं कृतवान् ।

अर्थ : यह सुलोचना तो वर्णका विशोधन करनेवाली है जिसने दुर्लभको सुलभ बना लिया । किन्तु जयकुमार तो प्रवर हैं जिस पुण्यशालीने इस कुमारी-को ही बधू बना लिया । आशय यह कि सुयोग्य वरकी प्राप्ति दुर्लभ होती है, सो सुलोचनाने उसे सुलभ-सुखपूर्वक पा लिया । यहाँ दुर्लभसे सुलभमें एक ही वर्णका परिवर्तन करना पड़ा । पर जयकुमारने तो कुमारीको वधू बना करके सभी वर्णोंका परिवर्तन कर दिया ॥ ९६ ॥

अन्वय : येषां ललिताः हृन्निवेशाः लसन्ति स्म (ते) गुरवः वा अभिवधूवरं निम्नसमङ्कितेन वचसा शुभसम्वादकरीः पवित्रदूर्वाः ददुः ।

अर्थ : जिन गुरुजनोंका हृदय पवित्र था उन गुरुओंने उन दोनों वर-वधूको वक्ष्यमाण प्रकारसे आशीर्वाद-सूचक सुन्दर पवित्र दूर्वा (दूब) क्षेपण की ॥ ९७ ॥

असीति । हे सुत, जयकुमार, त्वमस्याः सुलोचनायाः, जीवननायकः प्राणाधार एवासि, तथासकौ सुलोचनापि पुनस्ते हृदो हृदयस्याखण्डमण्डनमलङ्करणं स्यात् । यथा किल यत् किञ्चिदपि सरः कमलिन्यै शोभमोऽत्रः कोणः स्थानं यत् तदस्ति भवति, तस्य सरसोऽपि पुनस्तां कमलिनीं विना श्रीः शोभा कुतः स्यात् ॥ ९८ ॥

सुपुलोमजयेव देवराजः सुदृशा ते जयदेव नामभाजः ।
त्रिबुधैः समितस्य जैनधर्मकृपया सम्भवताच्च नर्मशर्म ॥ ९९ ॥

सुपुलोमेत्यादि । जैनधर्मकृपया विबुधैर्देवैः पक्षे विद्वद्भिः समितस्य संयुक्तस्य देवराज इन्द्रस्य, पुलोमजा शची, शोभना पुलोमजा तया तथा नर्म शर्म च भवति, ते तव जयदेवस्यापि भूपालस्यानया सुदृशा वध्वा नर्म शारीरिकं वाचिकं च सुखं, शर्म मानसिकं च सुखं सम्भवतात् ॥ ९९ ॥

पठितं च पुरोधसा निशम्य शिरसोद्धर्तुमिवेदमत्र सम्यक् ।
नमतः स्म गुरूनुदारभावैर्विनयान्नास्त्यपरा गुणज्ञता वै ॥ १०० ॥

पठितमिति । तौ वधूवरौ पुरोधसा पठितं निशम्य, अत्रावसरे पुनस्तदिदं शिरसा मस्तकेनोद्धर्तुमिवोदारभावैरसंकीर्णैः विचारैर्गुरून् जनकप्रभृतीन् नमतः स्म । यतो वै निश्चयेन विनयादपराऽन्या काचिदपि गुणज्ञता नास्ति ॥ १०० ॥

अन्वय : हे सुत ! त्वम् अस्या जीवननायकः असि, असकौ ते हृदखण्डमण्डनं स्यात्, कमलिन्यै किल यत् पुनः सदस्मितामृते सरसः कुतः श्रीः ।

अर्थ : गुरुजन बोले कि हे वत्स जयकुमार ? तुम इस सुलोचनाके जीवनके अधिकारी (स्वामी) हो तो यह सुलोचना भी तुम्हारे हृदयको अखण्ड शोभाके लिए है। जैसे सरोवर कमलिनीकी रक्षा करता है तो कमलिनीके द्वारा सरोवरको भी शोभा होती है ॥ ९८ ॥

अन्वय : सुपुलोमजया देवराजः इव सुदृशा ते जयदेव नामभाजः विबुधैः समितस्य जैनधर्मकृपया नर्म च शर्म सम्भवतात् ।

अर्थ : जिस प्रकार देवताओं सहित देवराजको शचीके द्वारा जैनधर्मकी कृपासे लौकिक और पारमार्थिक सुख मिलता है उसी प्रकार विद्वानोंके साथ रहनेवाले तुम्हें भी इस सुलोचनाके द्वारा दोनों प्रकारके सुख प्राप्त हों ॥ ९९ ॥

अन्वय : अत्र पुरोधसा पठितं च सम्यक् निशम्य इदं शिरसा उद्धर्तुमिव (तौ वधू-वरौ) उदारभावैः गुरून् नमतः स्म । वै विनयाद् अपरा गुणज्ञता नास्ति ।

अर्थ : पुरोहितके द्वारा पढ़े गये उक्त आशीर्वादात्मक वचनको सम्यक्

अनयोः करकुड्मलेऽलिमालायितमेतन्मखधूमसन्प्रदिम्ना ।
अलिके तिलकायितं प्रतिज्ञाभिनयेनाभिनिबद्धतन्महिम्ना ॥ १०१ ॥

अनयोरिति । एतस्य मखधूमस्य यज्ञधूम्रस्य सता प्रदिम्ना कोमलतयाऽनयोर्वर-वध्वोः करकुड्मले मुकुलिते करयुगले प्रतिज्ञाया अभ्यनुज्ञाया अभिनयेन विचारणाभिनिबद्धस्तस्य यज्ञस्य महिमा यस्मिन् तेन मखधूमप्रदिम्नाऽलिमालायितम्, भ्रमरपङ्क्तिवदाचरितम्, अलिके ललाटे च तिलकायितं तिलकवदाचरितं तावदिति ॥ १०१ ॥

मम शान्ति-विवृद्धय'हसां तु प्रलयः सत्कृतशेमुषीति भान्तु ।
हृदये सदये समस्तु जैनमथवा शासनमर्हतां स्तवेन ॥ १०२ ॥
उचितामिति कामनां प्रपन्नौ खलु तौ सम्प्रति जम्पती प्रसन्नौ ।
कुसुमाञ्जलिमादरेण ताभ्यः सुतरामर्पयतः स्म देवताभ्यः ॥१०३॥

ममेत्यादि, उचितामिति । मम सदये दयान्विते हृदये शान्तिश्च विवृद्धिश्च अंहश्च तेषां शान्तिवृद्धिपापानां प्रलयः प्रणाशनं, सत्कृतस्य पुण्यपरिणामस्य च शेमुषी मतिरित्येवं प्रकारा भान्तु । अथवा, अर्हतां तीर्थङ्करपरमदेवानां स्तवेन स्तोत्रेण जैनशासनं समस्तु । इत्येवमुचितां कामनां मनोभावनां प्रपन्नौ सम्प्राप्तौ जम्पती वधूवरौ खलु तौ सम्प्रति प्रसन्नौ भवन्तौ च, आदरेण विनयभावेन ताभ्यो देवताभ्योऽर्हत्प्रतिमाविभ्यः कुसुमाञ्जलिमर्पयतः स्म तावत् ॥ १०२-१०३ ॥

प्रकारसे सुनकर उसे शिरसे उद्धार करते हुए के समान उन वर-वधूने उदार भावोंके साथ गुरुजनोंको नमस्कार किया। निश्चयतः विनयसे बढ़कर अन्य कोई गुण-ग्राहकता नहीं है ॥ १०० ॥

अन्वय : प्रतिज्ञाभिनयेन अभिनिबद्धतन्महिम्ना एतन्मखधूमसन्प्रदिम्ना अनयोः करकुड्मले अलिमालायितं अलिके तिलकायितम् ।

अर्थ : तत्पश्चात् प्रतिज्ञाके विचारसे मुकुलित उन दोनों वर-वधुओंके कर-कमलोंमें तो हवनके धूमने भौरोंकी पंक्तिका अनुकरण किया और ललाट-पर केशोंका अनुकरण किया ॥ १०१ ॥

अन्वय : अथ अर्हतां स्तवेन शान्तिविवृद्धिः, अहंसां तु प्रलयः, सत्कृतशेमुषी इति भान्तु, अथवा सुदये हृदये जैनं शासनं समस्तु, इति उचिताम् कामनां प्रपन्नौ सम्प्रति प्रसन्नौ खलु तौ दम्पती आदरेण ताभ्यः देवताभ्यः सुतराम् कुसुमाञ्जलिम् अर्पयतः स्म ।

अर्थ : तदनन्तर उन दोनों दम्पतियोंने ऐसी कामना की कि अरहन्त भगवानके स्तवनसे उत्तरोत्तर शान्तिकी वृद्धि हो; पापोंका नाश हो; पुण्यमय

अनयोः करकञ्जराजिसेवामिव कर्तुं सुकृतांशसम्पदे वा ।
मृदु पादभुवीष्टदेवतानां समभूत्सा कुसुमाञ्जलिः सुमाना ॥ १०४ ॥

अनयोरिति । सा कुसुमाञ्जलिः शोभनो मानः सम्मानो यस्याः सा, एवम्भूता सती, अनयोर्द्वयोः करकञ्जानां हस्तकमलानां राजेः सेवां परिचर्यामाराधनां गुणाधिकतयेव कर्तुं वाऽथवा पुनरिष्टदेवतानां पादभुवि चरणदेशे सुकृतांशस्य पुण्यसमयस्य सम्पदे सम्पादनार्थं मृदु यथा स्यात्तथा समभूत् ॥ १०४ ॥

प्रिययोः श्रिय ईक्षणक्षणेन शुचिनीराजनभाजनप्रणेन ।
मृदुलाञ्जनसंयुजा हितेन दिनरात्री भ्रमिमाश्रिते हितेन ॥ १०५ ॥

प्रिययोरिति । प्रिययोस्तयोर्वधूवरयोः श्रियोः शोभयोरीक्षणक्षणेन शुचिनीराजनस्य, आरातिकावतरणस्य छद्मद्वारा भाजनमेव प्रणो मूल्यं प्रतिज्ञानं वा तेन कीदृशेन, मृदुलमञ्जनं कज्जलादिमाङ्गलिकं संयुनक्ति तेन तादृशेन हितेन शुभसम्पादेन तत्र दिनश्च रात्रिश्च त एव भ्रमिमाश्रिते भ्रमणं प्रकाते । हीत्युत्प्रेक्षणे । सुन्दरवस्तुदर्शनाच्च प्रेक्षा घूर्णनं युक्तमेव । कज्जलं रात्रिस्थानीयं, भाजनञ्च दिनस्थानीयं; स्वकर्मणैव तावत् ॥ १०५ ॥

पिप्पलकुपलकलौ मृदुलाणी विलसत एतौ सुदृशः पाणी ।
सहजस्नेहवशादिह साक्षाद्वलयच्छलतः प्रमिलति लाक्षा ॥१०६॥

बुद्धि का प्रकाश हो और दयायुक्त हृदयमें जैनधर्म बना रहे। इस प्रकारकी कामनासे उन्होंने अर्हन्त आदि पंचपरमेष्ठी देवताओंके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि समर्पण की ॥ १०२–१०३ ॥

अन्वय : सा कुसुमाञ्जलिः इष्टदेवतानाम् मृदुपादभुवि सुकृतांशसम्पदे वा अनयोः करकञ्जराजिसेवाम् इव कर्तुम् सुमाना समभूत् ।

अर्थ : वह पुष्पाञ्जलि इष्ट देवताओंकी कोमल चरण-भूमिको प्राप्त होकर इन दोनोंके कर-कमलोंकी सेवा करके मानों विशेष पुण्यार्जन करनेके लिए ही आई हुई थी सो अधिक शोभाको प्राप्त हुई ॥ १०४ ॥

अन्वय : प्रिययोः श्रिय ईक्षणक्षणेन शुचिनीराजनभाजनप्रणेन तेन हि मृदुलाञ्जनसंयुजा दिन-रात्री हितेन भ्रमिमाश्रिते ।

अर्थ : इसके पश्चात् इन दोनों वर-वधूकी शोभाका निरीक्षण करनेके लिए पवित्र अंजन-सहित नीराजन-भाजन (आरतीके पात्र) के बहानेसे दिन और रात्रि ही आई हुई-सी प्रतीत हुई। (आरतीका पात्र श्वेत होनेसे दिन-सा और कज्जल रात्रि-सा लग रहा था) ॥ १०५ ॥

पिप्पलेत्यादि। अत्र मृदुला, आणिः सीमा ययोस्तौ मृदुलाणी सुकोमलौ सुदृशः सुलोचनायाः पाणी हस्तौ यैतौ पिप्पलकुपलस्याश्वत्थ-किसलयस्य कुलमिव कुलं जातिर्ययोस्तौ साक्षादिह सहजस्नेहवशाद् एकोदरजाततया प्रीतिभावाल्लाक्षा जतुपरिणतिः सा वलयानां कङ्कणानां छलतः प्रमिलति याभ्यां ताभ्यां सह सम्मेलनं करोतीत्यर्थः। अनुप्रासालङ्कारोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ १०६ ॥

अरिकरिकुलपरिहरणपराभ्यां नयरयमयजयनृपतिकराभ्याम् ।
योद्धुमिवास्या नवलरुचाभ्यां कञ्चुकमञ्चितमपि च कुचाभ्याम् ॥१०७॥

अरीत्यादि। नयरयमयो नीतिविचारवान् यो जयनृपतिस्तस्य कराभ्यां, कीदृशाभ्याम्, अरीणां वैरिणां करिकुलं हस्तिसमूहस्तस्य परिहरणे पराभ्यां तत्पराभ्यां ताभ्यां सह योद्धुमिव किलास्याः सुलोचनायाः कुचाभ्यां, कीदृशाभ्यां ताभ्यामिति चेन्नवला नवीना रुचा कान्तिर्ययोस्तौ ताभ्यां, कञ्चुकमावरणवस्त्रमेव कवचमञ्चितं परिहितं यत्र यथा स्यात्तथा। स्वरूपेण कुम्भस्थलसदृशाभ्यां करिसधर्मभ्यां कुचाभ्यां करिकुलहरणपरायणस्य जयकुमारस्य करयोर्युद्धाचरणं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ १०७ ॥

स्नेहनमुत्तारितमवतार्य त्रिवर्गवर्त्मनि गत्वोद्धार्यम् ।
अपवर्गं प्रतिवददिव ताभिः सुदृशः सुवासिनीमहिलाभिः ॥१०८॥

अन्वय : एतौ सुदृशः पाणी मृदुलाणी पिप्पलकुपलकुलौ विलसतः (इति) सहजस्नेहवशादिव लाक्षा वलयच्छलतः साक्षात् मिलति स्म।

अर्थ : इसके अनन्तर सुलोचनाको लाखके वलय (चूडा) पहनाये गये, इसपर (उत्प्रेक्षा) की गई है कि सुलोचनाके दोनों हाथ पीपलकी कूँपलके समान कोमल थे और लाख पीपलके लगती है अतः सहज स्नेहके वशसे ही मानों वह लाख उनके साथ आकर मिली ॥ १०६ ॥

अन्वय : अरिकरिकुलपरिहरणपराभ्यां नयरयमयजयनृपतिकराभ्याम् (सह) योद्धुम् इव अस्या नवलरुचाभ्याम् अपि च कुचाभ्याम् कञ्चुकम् अञ्चितम्।

अर्थ : न्याय नीतिके जानकार जयकुमारके हाथ जो कि अरियोंके गजकुलको पराजित करनेवाले थे, उनके साथ सुलोचनाके कुचोंको युद्ध करना पड़ेगा, इसी विचारको लेकर सुलोचनाके दोनों कुचोंने कंचुकरूपी कवच धारण कर लिया। अर्थात् सुलोचनाने अपने स्तनोंपर काँचली-वस्त्रके बहानेसे मानों कवच धारण किया ॥ १०७ ॥

अन्वय : सुदृशः सुवासिनीमहिलाभिः त्रिवर्गवर्त्मनि गत्वा अपवर्गम् उद्धार्य (इति) प्रतिवदद् इव ताभिः स्नेहनम् अवतार्य उत्तारितम्।

स्नेहनमिति । तत्र ताभिः सुवासिनीभिर्महिलाभिः सौभाग्यवतीस्त्रीभिः सुदृशः सुलोचनायास्त्रिवर्गापवर्गमिनि गार्हस्थ्यमार्गे तावद् गत्वा प्रविश्य तत्रोद्धार्यं प्रतिपादनीयं यत्खलु स्नेहनं तैलमवतार्य सुलोचनायाः शरीरे दत्त्वा, अधोभागादुपरिभागपर्यन्तं नीत्वा, पुनरधुनाऽपवर्गं यं सुखस्थानं प्रतिवदविव तत् तत उत्सारितमुपरिष्टादधः प्रदेशपर्यन्तं यावदुद्वर्तितमिति ॥ १०८ ॥

कुक्षिरमुष्याः फलतु सुनाभिः पुरुवरपुण्यकथाभिरथाभीः ।
मङ्गलमञ्जुलगानपराभिरित्येवमिहाभ्युदितं ताभिः ॥१०९॥

कुक्षिरिति । अथानन्तरं मङ्गलं पुण्यदायकं मञ्जुलं मनोहरञ्च यद् गानं तस्मिन् पराभिस्तल्लीनाभिस्ताभिः सुवासिनीभिरिहामुष्याः सुलोचनायाः सुनाभिः शोभना तुण्डी यस्यां सा कुक्षिः पुरुवरस्य श्रीऋषभदेववरस्य तीर्थंकरस्य पुण्यकथाभिः कारणभूताभिर्याऽभी भयरहिता सा फलतु, फलवती भवतु, इत्येवं रूपमभ्युदितं कथितं, पूर्वोक्तवाक्येन तस्या उत्सङ्गे श्रीफलं निक्षिप्तमिति ॥ १०९ ॥

अथ कश्चन नाथनामवंशसमयस्य स्म समीष्यते व्रतंसः ।
परिहासवचोभिरेव धन्यान्निजदासीभिरभोजयत्स जन्यान् ॥११०॥

अथेति । अथ यथाविधि पाणिग्रहणानन्तरं यः कश्चनापि नाथनामवंश एव समयः, यद्वा नाथनामवंशस्य समय आचारस्तस्य वतंसो मुकुटस्थानीयो मनुष्यः समीष्यते स्म । स धन्यान् जन्यान् वरपक्षीयान्, लोकान् परिहासवचोभिः श्लिष्टशब्दोच्चारणैर्हेतुभूतैर्निजदासीभिः स्वकीयचेटीभिरभोजयत् भोजनमकारयत् ॥ ११० ॥

अर्थ : सुलोचनाके शरीरमें तेलको चढ़ाकर बादमें सुवासिनी स्त्रियोंने यह कहते हुए तेल उतारा कि पहिले त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, कामपुरुषार्थ) मार्ग का पीछे अपवर्ग (मोक्ष) मार्गका अनुसरण करना होगा । अर्थात् गृहस्थाश्रममें रहकर अन्तमें त्यागी बनना होगा ॥ १०८ ॥

अन्वय : अमुष्याः सुनाभिः अथ अभीः कुक्षिः पुरुवरपुण्यकथाभिः फलतु इति एवं इह ताभिः मङ्गलमञ्जुलगानपराभिः अभ्युदितम् ।

अर्थ : फिर उन सुवासिनी स्त्रियोंने मंगल-गान करते हुए ऐसे कहा कि भगवान् ऋषभदेवकी पुण्य कथाओंके द्वारा इस सुलोचनाकी कूख जो सुन्दर नाभिवाली है वह फलवती हो, अर्थात् सन्तान प्रतिसन्तान प्राप्त करे । (ऐसा कहते हुए उसकी गोदीमें श्रीफल समर्पण किया) ॥ १०९ ॥

अन्वय : अथ कश्चन नाथनाम वंशसमयस्य वतंसः समीष्यते स्म स एव धन्यान् जन्यान् परिहासवचोभिः निजदासीभिः अभोजयत् ।

अर्थ : अब इसके बाद नाथ वंशके किसी एक शिरोमणि पुरुषने हास्य-

स कमप्यद् आह काश्चनारं रचयन्त्वत्र हि ते मनोपहारम् ।
सतृपः खलु सर्वतो मुखञ्च प्रतियच्छन्त्वथ काममोदनञ्च ॥१११॥

स कमपीति । स नाथवंशावतंसः कमपि जन्यजनमुद्दिश्यादो वचनमाह—यद् भो महाशय । काश्चन चेटिका अत्र हि ते मनोपहारं, तेमनं व्यञ्जनमेवोपहारं परितोषं रचयन्तु । सतृषः पिपासितस्य तव खलु सर्वतोमुखमुदकञ्च प्रतियच्छन्तु वितरन्तु । अथ च कामं परममनोहरं यथाभिलाषं चौदनमन्नञ्च प्रतियच्छन्तु । यद्वा, हिते सुखसम्पादने मनसोऽपहारं सतृतः साभिलाषस्य तव पुनः सर्वतः सर्वभावेन मुखं वक्त्रञ्च पुनः कामस्य रतपरिणामस्य मोदनं परिवर्द्धनञ्च प्रतियच्छन्तु । सतृष इति परिहासवचनत्वात्षष्ठी । काकुरूपञ्च वचनमिति ॥ १११ ॥

अपि गोत्रिगुणाश्च गोपधाम्नीति वृषसंयोजनकारणैकदाम्नि ।
सति वः समिताः सुपात्रनाम्नीति ददे भाजनकानि काप्यसक्नी ॥११२॥

अपीति । काप्यसक्नी, अन्तःपुरयुवतिस्तेभ्यो जन्यजनेभ्यो अपि महानुभावा भवन्तो गोत्रिगुणा गोत्रिषु कुलीनेषु सिद्धा ये गुणाः सौजन्यादयो येषां सन्ति ते वृषोऽतिथिसत्काररूपो धर्मस्तस्य संयोजने परिपूरणे कारणं यदेकं प्रसिद्धं दाम माल्यं यस्मिस्तस्मिन् सुपात्रनाम्नि मनोहररूपे सति पवित्रे गोपधाम्नि वो युष्माकं राजगृहे समिता भवन्तः सन्तीति निगद्य किञ्च गोत्रिगुणा धेनुभ्योऽपि त्रिगुणा भवन्तो वृषसंयोजनकारणैकदाम्नि

विनोद-मिश्रित वचनोंके द्वारा उन आये हुए बाराती लोगोंको अपनी दासियोंसे भोजन करानेके लिए कहा ॥ ११० ॥

अन्वय : स कं अपि अद आह—अत्र हि काश्चन अरं ते मनोपहारं सतृषः खलु सर्वतोमुखं च रचयन्तु अथ काममोदनञ्च प्रतियच्छन्तु ।

अर्थ : वह प्रमुख पुरुष किसी एक बारातीको लक्ष्यमें लेकर बोला—इन दासियोंमेंसे कुछ दासियाँ आपको 'तेमन' (शाक) परोसे या आपके मनका हरण करें । कुछ दासियाँ तृषावान् आपको सर्वतोमुख (जल) पिलावें या अपना आनन मुख देवें । कुछ दासियाँ आपको यथेष्ट ओदन परोसे या आपको कामोत्पादक हर्ष पैदा करें ॥ १११ ॥

अन्वय : का अपि असक्नी—गोत्रिगुणाश्च वः अपि वृषसंयोजन-कारणैकदाम्नि गोपधाम्नि सुपात्रनाम्नि सति समिताः इति भाजनकानि ददे ।

अर्थ : इसके बाद किसी एक युवतीने यह कहते हुए कि आप वृष (बैल और धर्म) के संयोजन करना ही जहाँ पर एक मात्र प्रधान कारण है ऐसे गोत्री गुण—भले गोत्रमें पैदा हुए हैं, अथवा त्रिगुणे बैल गोत्रमें पैदा हुए हैं ?

बलीवर्दसंयोगहेतुभूतरज्जुमति सुपाकमानिनि दुग्धादिकामवति गोपवाग्मिनि गोपालकगृहे समिताः सन्तीति परिहास्य भाजनकानि जेमनार्थं पात्राणि ददे दत्तवती ॥ ११२ ॥

अभवत्स तद्‌हृदङ्गसृष्टेः सुविधाता निखिले जनेऽपि हृष्टे ।
ननु भोजनभाजनेषु चाद्य सुजनीनां समयः स्वयं क्रमाद्यः ॥ ११३ ॥

अभवदिति । ननु चाद्यास्मिन् काले यः सुजनीनां भोजनार्पणार्थं नियुक्तानां स्त्रीणां समयः समाजः स निखिले जने हृष्टे सुसज्जे सति भोजनभाजनेषु जेमनपात्रेषु तदर्हाणा-मङ्गानां लड्डुकादीनां सृष्टेः शरीरे स्तनादीनामिव सुविधाता विधानकर्ताऽभवत् ॥११३॥

अनुविन्दति सुन्दरे नवीनां दररूपोच्चकुचामितः प्रवीणा ।
स्वमुरोऽम्बरमाददे श्रियेऽवच्युतमारात्पृथुलस्तनी ह्रिये वः ॥११४॥

अनुविन्दतीत्यादि । कस्मिंश्चिदपि सुन्दरे दररूपेणेषत्प्रकारेण, उच्चौ कुचौ यस्या-स्तां नवीनां कामपि वधूटीमनुविन्दति, पश्यति सति तत्रेतः प्रवीणा तस्याभिप्रायज्ञा प्रौढा परा काचिदपि पृथुलौ पीनतामाप्तौ स्तनौ यस्याः साऽऽरात्तत्कालमेव च्युतं स्खलितं स्वमुरोऽम्बरं स्वकीयमञ्चलं ह्रिया लज्जयेव खलु श्रिये स्वचारुत्वाभिव्यक्तिरूपशोभार्थ-माददे । एतदपेक्षयाहमधिकसुन्दरीति निवेदनार्थमिति भावः ॥ ११४ ॥

अयि चेतसि जेमनोतिचारः सकलव्यञ्जनमोदनाधिकारम् ।
शुचिपात्रमिदं कयेत्थमुक्ताः सहसा जग्धिविधौ तु ते नियुक्ताः ॥११५॥

इस प्रकार हास्य करती हुई किसी युवतीने बारातियोंको भाजन दिये । अर्थात् थाली-कटोरे आदि पात्र परोसे ॥ ११२ ॥

अन्वय : ननु चाद्य यः स्वयं सुजनीनाम् समयः स निखिले अपि जने हृष्टे भोजन-भाजनेषु क्रमात् तदर्हदङ्गसृष्टेः सुविधाता अभवत् ।

अर्थ : तत्पश्चात् परिचारिकाओंके समूहने हर्षित होते हुए बाराती जनों-को भोजन करने योग्य सभी वस्तुएँ उन भोजनके भाजनोंमें परोसीं ॥ ११३ ॥

अन्वय : दररूपोच्चकुचाम् नवीनां सुन्दरे अनुविन्दति (सति) इतः पृथुलस्तनी प्रवीणश्रिये अवच्युतम् स्वम् उरोम्बरम् आरात् ह्रियेव आददे ।

अर्थ : कोई एक युवा बाराती कुछ-कुछ उठे हुए हैं कुच जिसके ऐसी नवोढाकी ओर देखने लगा तो किसी प्रौढा स्त्री जिसके कि स्तन बहुत उन्नत थे उसने लज्जाके वश होकरके ही मानों अपने स्तनोंसे चिपके हुए अंचलको ठीक किया । आशय यह कि इस बहानेसे उसने अपनी सुन्दरता और कामा-भिलाषा प्रकट की ॥ ११४ ॥

अयीति । अयि महाशयाः, यदि भवतां चेतसि जेमनस्योतिः संरक्षणं, यद्वा, स्फूर्तिस्तस्यां चारुचरणं वर्तते तदेवमग्रगतं शुचिपात्रं सकलानि व्यञ्जनानि शाकादीनि यस्मिंस्तत् तथोदनस्याधिकारो यस्मिंस्तद् वर्तते भुज्यतां तावत् । किञ्च चेतसिजे रतप्रवृत्तौ मनसोऽतिचारोऽस्ति चेत्तदा शुचिपात्रं युवतिस्वरूपं सकलानां व्यञ्जनानां स्तनादीनां मोदने प्रसन्नतायामधिकारो यस्य तत् तावत्समस्त्येव । इत्युक्ताः कयाचिदित्थं गदितास्ते अन्यजनाः सहसा हास्ययुक्ताः सन्तस्तु पुनर्जग्धिविधौ भोजने नियुक्ता जाताः ॥ ११५ ॥

स्फटिकोचितभाजने जनेन फलितायाः युवतेः समादरेण ।
उरसि प्रणिधाय मोदकोक्तद्वितयं निर्दयमर्दितं करेण ॥ ११६ ॥

स्फटिकेत्यादि । स्फटिकेनाच्छपाषाणेनोचिते निर्मिते भाजने फलितायाः प्रतिबिम्बितायाः सम्मुखस्थाया उरसि स्तनप्रदेशे समादरेण प्रेमभावेन मोदकयोर्द्वितयं प्रणिधाय धृत्वा जनेन पुनस्तद् द्वितयं निर्दयं यथा स्यात्तथा करेणार्दितं परिमर्दितं यदहं स्तनमर्दनाभिलाषुक इति सूचनार्थमित्यर्थः ॥ ११६ ॥

यदमत्रगतं बुभुक्षुराज्यं प्रतिबिम्बगतेऽपि सम्विभाज्यम् ।
अनुनीवि निवेशयन्स्वहस्तं चक्रे तत्समुदञ्चितं ततस्तम् ॥ ११७ ॥

अन्वय : कया-अयि चेतसि जेमनोतिचारः सकलव्यञ्जनमोदनाधिकारं इदं शुचिपात्रम् इत्थम् उक्ताः ते तु सहसा जग्धि-विधौ नियुक्ताः ।

अर्थ : पात्रोंमें भोज्य पदार्थ परोसे जानेके बाद कोई स्त्री बोली कि हे महाशयो, यदि आपके मनमें भोजन करनेकी इच्छा है तो सभी व्यञ्जन और पक्वान्न पात्रोंमें परोस दिये गये हैं अतएव आप भोजन करना प्रारम्भ कीजिए । (दूसरा अर्थ) काम वासनाके प्रति यदि आपका भाव रहे तो सम्पूर्ण अगोंपांगोंमें सुन्दरता रखनेवाला यह पात्र विद्यमान है । उसका उपयोग कीजिए । (इस प्रकार कहे जानेपर हँसते हुए सभी बाराती लोग) भोजन करने लगे ॥ ११५ ॥

अन्वय : स्फटिकोचितभाजने समादरेण फलितायाः युवतेः उरसि मोदकोक्तद्वितीयं प्रणिधाय जनेन निर्दयम् (यथा स्यात् तथा) करेण अर्दितम् ।

अर्थ : भोजनका पात्र जो कि स्फटिकका बना हुआ था उसमें परोसने वाली की परछाँई पड़ रही थी, उसके उरस्थलपर दो मोदक रखकर किसी बारातीने उनको निर्दय होकर हाथसे मर्दन कर दिया ॥ ११६ ॥

अन्वय : अथ यत् अमत्रगतम् आज्यं बुभुक्षुः अत्रगते प्रतिबिम्बे अपि सम्विभाज्यं स्वहस्तं अनुनीवि निवेशयन् इदं समस्तं मुदञ्चितं आह ।

यदमत्रेत्यादि । यत् किलामत्रगतं पात्रस्थितमाज्यं घृतं बुभुक्षुर्भोक्तुमिच्छुः कश्चिदपि अन्यजनोऽत्रापि गते प्राप्ते प्रतिबिम्बे युवत्याः प्रतिमाने सन्निभमाज्यं विभागयोग्यं स्वहस्तमात्मकरं नीविमनु समीपमनुनीवि कटिवस्त्रबन्धनग्रन्थौ तस्मिन् स्थाने निवेशयन् सन्दधानः सन्, तत् प्रतिबिम्बं समुदञ्चितं चक्रे । नीविस्थाने तस्य करदानं दृष्ट्वा प्रतिबिम्बिता तरुणी हर्षवशाद्रोमाञ्चिताभूदतस्तत् प्रतिबिम्बमपि समुदञ्चितं बभूवेत्यर्थः । तद्रोमाञ्चितं प्रतिबिम्बं तं अन्यजनमपि समुदञ्चितं चक्र इति भावः ॥ ११७ ॥

तरुणेङ्गितविज्जगाद बाले क्रमदित्सां सहते न तेऽद्यकाले ।
अयमित्यवतर्पयेर्विलोममृदुलव्यञ्जनतोऽमुकं तु सोमम् ॥ ११८ ॥

तरुणेत्यादि । तरुणस्येङ्गितं चेष्टितं वेत्ति जानातीति तरुणेङ्गितवित् काचित्प्रौढवयस्का किशोरीं प्रति जगाद, यत् किल हे बाले, अद्यकाले, सम्प्रत्ययं मुग्धस्ते क्रमशो दित्सा क्रमदित्सा तां पङ्क्तिशो वितरणचेष्टां न सहते, ततोऽमुकं सोमं सुन्दराकारं विलोमेनैव सर्वाञ्जनांमुल्लंघ्य प्रथमत एव मृदुलव्यञ्जनतः शाकादिनाऽवतर्पय, यद्वा, अयं ते क्रमस्य चरणप्रहारस्य निरादरकरणस्योपेक्षाभावस्य दित्सां दातुमिच्छां, यद्वा, पुनः क्रमतो दित्सां कामशास्त्रविहितविधिना मृदुसम्भाषणाश्वासनचुम्बनादिनानन्तरं दानलक्षणां तव चेष्टां न सहते, तस्मादमुं यद्विलोम लोमवर्जितमत एव मृदुलमतिकोमलं यद्व्यञ्जनं मदनमन्दिरमङ्गमवतर्पयेर्वितरेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

तव सम्मुखमस्म्यहं पिपासुः सुदतीत्थं गदितापि मुग्धिकाशु ।
कलशीं समुपाहरत्तु यावत् स्मितपुष्पैरियमञ्चितापि तावत् ॥ ११९ ॥

अर्थ : पात्रमें प्राप्त घीको खानेकी इच्छावाले दूसरे बारातीने उसमें प्रतिबिम्बित युवतीके नोवि-बन्धन (नाडे) के स्थानपर अपना हाथ रखा, जिसे देखकर वह युवती रोमाञ्चित हो गई, और इससे वह प्रतिबिम्ब रोमांचित हो गया। फलतः वह बाराती भी रोमांचित हो गया ॥ ११७ ॥

अन्वय : तरुणेङ्गितवित् (काचित्) सखीं समुवाच—हे बाले, अयं ते क्रमदित्सां न सहते, (अतः) विलोममृदुलव्यञ्जनतो अमुकं सोमं अपवर्तय ।

अर्थ : कोई एक दूसरी युवती खाद्य पदार्थ परोसनेवाली सखीसे बोली कि क्रमसे जो तुम परोसती चली आ रही हो उसको यह महाशय सह नही रहे हैं अतः इन्हें तो तुम विलोम-प्रक्रिया द्वारा प्रसन्न करो ॥ ११८ ॥

अन्वय : (हे) सुदति ! तव सम्मुखम् अहम् पिपासुः अस्मि, इत्थम् गदितापि मुग्धिका तु यावत् आशु कलशीम् समुपाहरत् तावत् इयं स्मितपुष्पैः अपि अञ्चिता ।

तवेति । केनापि यूना स्नेहवता हे सुदति, शोभनदन्ति, अहं तव संमुखं कर्मभूतं त्वदाननं पिपासुरास्वादयितुमिच्छुरस्मि सम्भवामीति गदितापि मुग्धिका बालवयस्काऽसौ पानीयं पातुमिच्छतीति ज्ञात्वाऽऽशु शीघ्रमेव यावत्तु कलशीं समुपाहरद् उपाजहार ताव-देवेयं स्मितपुष्पैर्हास्यकुसुमैरञ्चिताऽभूत् ॥ ११९ ॥

निपपौ चषकार्पितं न नीरं जलदायाः प्रतिबिम्बितं शरीरम् ।
समुदीक्ष्य मुदीरितश्चकम्पे बहुशैत्यमितीरयँल्ललम्बे ॥१२०॥

निपपाविति । कश्चिदपि जनश्चषके पानपात्रेऽर्पितं नीरं न निपपौ न पीतवान्, किन्तु तत्रैव पानपात्रे प्रतिबिम्बितं निश्चल-निर्मलजले पतितं जलदायाः शरीरच्छायं समुदीक्ष्य दृष्ट्वा मुदीरितः प्रसन्नतया प्रेरितः सन्, चकम्पे कम्पमवाप । ततो बहुशैत्यमितीरयन् कथयंस्तज्जलपात्रं ललम्बे गृहीतवानित्यर्थः । जलस्यातिशीतत्वोक्त्या तदद्भुतसौन्दर्यावलोकनजं कम्पं गूहितवानित्याशयः ॥ १२० ॥

जलदा परिरब्धपूतवेषा च कियच्चारुकुचेति पश्यते सा ।
स्फुटमाह करद्वयीसमस्यामिह भृङ्गारधृतेर्मिषेण तस्याः ॥१२१॥

जलदेति । परितः समन्ताद्रब्धः प्राप्तः पूतो मञ्जुलो वेषो यया सा समुज्ज्वलाम्बरावृतशरीरा, चकियन्तौ चारू कुचौ यस्याः सा, कीदृशसुन्दरस्तनीति पश्यतेऽवलोकयते जना-येह जलोत्सर्जनावसरे तस्या जलदायाः करद्वयी भृङ्गारस्य धृतेर्मिषेण ग्रहणव्याजेन तां

अर्थ : किसी एक बारातीने कहा कि मैं तेरे सम्मुख पिपासु हूँ, तब उसके द्वारा ऐसा कहे जानेपर उसका अभिप्राय नहीं समझती हुई भोली स्त्री झटसे जलका कलशा उठाकर ले आई। यह देखकर वह युवा हँसा और हँसकर उस स्त्रीको रोमांचित कर दिया ॥ ११९ ॥

अन्वय : चषकार्पितं नीरं न निपपौ जलदाया प्रतिबिम्बितं शरीरं समुदीक्ष्य मुदीरितः चकम्पे ततः बहुशैत्यप्रतिवाक् ललम्बे ।

अर्थ : जलको परोसनेवाली जिस स्त्रीका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ रहा था अतः उस जलको बारातीने नहीं पिया, किन्तु उसके प्रतिबिम्बित शरीरको देखकर यह बहुत ठंडा है ऐसा कहते हुए उसके अद्भुत सौन्दर्यके देखनेके बहानेसे उस जल-पात्रको ही उसने हाथसे उठा लिया ॥ १२० ॥

अन्वय : जलदा परिरब्धपूतवेषा च कियच्चारुकुचा इति पश्यते इह भृङ्गारधृतेः मिषेण तस्याः सा करद्वयी समस्याम् स्फुटमाह ।

अर्थ : सुन्दर वेषको धारण किये हुए इस जल देनेवाली स्त्रीके कुच कैसे

समस्यां स्फुटमाह प्रकटीचकार । भृङ्गारतुल्यावायुन्नतौ तस्याः कुचावास्तामिति भावः ॥ १२१ ॥

अपि सात्त्विकसिप्रभागुदीक्ष्य व्यजनं कोऽपि विधुन्वतीं सहर्षः ।
कलितोष्ममिषोऽभ्युदस्तवक्त्रो ह्रियमुज्झित्य तदाननं ददर्श ॥१२२॥

अपीति । सात्त्विकं सहजस्वाभाविकं, यद्वा, सत्त्वाद्यौवनमदाज्जातं सात्त्विकभावं सिप्रं भजति स्वीकरोतीति सा सात्त्विकसिप्रभाग् अनस्तत्रौष्ण्यसम्भावनयापि, व्यजनं तालवृन्तं विधुन्वतीं युवतिमुदीक्ष्य तत्सौन्दर्यावलोकनात् सहर्षः सन्, कलितः स्वीकृत ऊष्मणो मिषः सन्तपनच्छलो येन सः, अत एवाभ्युदस्तं समुत्थापितं वक्त्रमाननं येन सः, ह्रियमुज्झित्य लज्जां त्यक्त्वा तस्या आननं मुखमपि ददर्श दृष्टवान् ॥ १२२ ॥

रसवत्यपि पायसस्मिता वा घृतवद्-व्यञ्जनशालिनी स्वभावात् ।
मृदुलड्डुकुचा प्रियेव शस्तैरुपभुक्ता बहु वारयात्रिकैस्तैः ॥१२३॥

रसवतीति । सा रसवती भोजनसामग्री सरसापि तैः शस्तैः समादृतैर्वारयात्रिकैर्जन्यजनैः प्रियेव वनितावद् बहुतिशयेन यथा स्यात्तथोपभुक्ता । कीदृशी सा रसवती, स्वभावादेव घृतवद्भिराज्यपरिपूर्णैर्व्यञ्जनैः शाकादिभिः, पक्षे, घृतवद्भिः कान्तिमद्भिर्व्यञ्जनैः कुचमुखादिभिरवयवैः शालिनी शोभमाना, पायसक्षीरान्नमेव स्मितं हसितं यत्र, पक्षे पायसमिवोज्ज्वलं स्मितं यस्याः सा मृदुलड्डुका एव कुचा यस्याः सा, पक्षे मृदुलड्डुकाविव कुचौ यस्याः सेति ॥ ११३ ॥

हैं इसको देखनेकी अभिलाषावाले बारातीको उस युवतीके हाथोंने भृङ्गारको उठानेके बहानेसे मानों उत्तर दिया ॥ १२१ ॥

अन्वय : कोऽपि सात्त्विकसिप्रभाग् अपि व्यजनं विधुन्वतीं उदीक्ष्य कलितोष्ममिषः अभ्युदस्तवक्त्रः ह्रियम् उज्झित्य सहर्षः तदाननं ददर्श ।

अर्थ : किसी बारातीके सात्त्विक (स्वाभाविक) पसीना आ गया उसे गर्मीसे उत्पन्न हुआ समझकर कोई युवती उसपर पंखा करने लगी तो उस समय वह भी गर्मीका बहाना करके अपने मुँहको ऊँचा उठाकर उस स्त्रीके मुखको सहर्ष देखने लगा ॥ १२२ ॥

अन्वय : रसवती अपि पायसस्मिता वा घृतवद् व्यञ्जनशालिनी स्वभावात् मृदुलड्डुकुचा शस्तैः तैः बहुवारयात्रिकैः प्रिया इव उपभुक्ता ।

अर्थ : रसवती (रसोई) कैसी है, इसे स्त्रीकी उपमा दी गई है, रसोई खीररूपीसे मन्द मुसकानसे और घृतवाले (कान्तिवाले) व्यंजनों (अवयवों

वितरापि तवामुना ममाशास्ति कलाकन्दमुखेन पूरिता सा ।
वटकं घटकल्पसुस्तनीतः कटकं सङ्कटकृद् दधामि पीत ! ॥१२४॥

वितरापीति । हे घटकल्पसुस्तनि, कुम्भोपमकुचवति, तवामुना कलाकन्दं नाम भोज्यविशेषस्तदेव मुखं प्रधानं यत्र तेन मिष्टान्नेन प्रतिवस्तेन सा ममाशाऽभिलाषा पूरितास्ति । इत्यत एव वटक नाम भोज्यमपि वितर, देहि । तथा तव कलानां कन्दवच्चन्द्रबिम्बवत् मुखं तेन मम वाञ्छा पूरिता, अतो वटकं चुम्बनमपि देहि । इत्युक्ते परिवेषिकयोक्तं हे पीत, साभिलाषतया पीतवर्ण, अहं कटकं लवण, यत्किल सङ्कटकृत् कष्टकारि, यद्वा, कटकं जनसमुदायं दधामि, अतएवात्र चुम्बनदानं लज्जाकरं स्यादतस्तवाभिलाषा पूरणेऽसमर्थास्मीति भावः ॥ १२४ ॥

किमु पश्यसि भोक्तुमारभेथा इति सूक्तोऽवददन्नसम्विदन्ते ।
लवणातिगतन्तु मण्डकन्ते किमिवार्ये समवायिनः क्रमन्ते ॥१२५॥

किम्विति । हे आर्य, किं पश्यसि, कथमुपेक्षसे ? भोक्तुमारभेथा भोजनमारभस्व, इत्येवं कयाचित् सूक्तः प्रेरितः कश्चिद अन्नस्य सम्वित् प्रतिज्ञा यस्यास्तस्या अन्ते समीपे, एवं व्यङ्गतयाऽवदत्—यद्-हे आर्ये, यत्त्वयोक्तं भोक्तुमारभेथाः सम्भोगं भजेथा इति तत्रास्माभिः कथ्यते—यत्किल लवणातिगतं कान्तिहीनं ते मण्डकमलङ्करणं समवायिनो बुद्धिमन्तो जनाः किमिव क्रमन्ते, नहि स्वाभाविकसौन्दर्यरहितमाभरणपूर्णमपि शरीरं सज्ज-

---

एवं खाद्य-पदार्थों) से युक्त थी; सुन्दर लड्डू ही जिसके कुच थे, ऐसी उस रसोईको प्रियाके समान समझकर उन बारातियोंने खूब दिल भरके उपभोग किया ॥ १२३ ॥

अन्वय : हे घटकल्प-सुस्तनि ! इतः तव अमुना कलाकन्दमुखेन मम सा आशा पूरिता अस्ति, इतः वटकं अपि वितर, (हे) पीत ! सङ्कटकृत् कटकं दधामि ।

अर्थ : हे घड़ेके समान सुन्दर, पृथुल स्तनवाली ! तेरे कलाकन्द मुख (मिठाई) के द्वारा मेरी आशा पूर्ण हो गई, (मैं अब नहीं खाना चाहता) अतः अब नमकीन वटक (बड़ा, चुम्बन) दे तब उसने उत्तर दिया कि मेरे पास तो वटक (बड़ा) नहीं है मेरे पास तो कष्टकारी कटक (नमक) है (सेनाका समूह है। अतः तुम्हारा अभीष्ट पदार्थ देनेमें असमर्थ हूं) ॥ १२४ ॥

अन्वय : अन्न संविदन्ते किमु पश्यसि, भोक्तुम् आरभेथा इति सूक्तः अवदत् (हे) आर्ये ते मण्डकं तु लवणातिगतम् समवायिनः किमिव क्रमन्ते ।

अर्थ : कोई युवती किसी बारातीसे बोली—क्या देखते हो, भोजन करना प्रारम्भ करो। इसपर वह युवा बोला कि इस अन्न-समुदायमें यह तुम्हारा

नेभ्यो रोचत इति, पक्षे, लवणातिगतं मण्डकं नाम भोज्यपदार्थोऽयं नीरसत्वान्न खादत इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

मसुरोचितमाह्वयामि बाले सरसं व्यञ्जनमत्र भुक्तिकाले ।
मधुरं रसतात् पयोधराङ्कमधुना हारमिमं न किं कलाङ्क ? ॥१२६॥

मसुरोचितमिति । हे बाले, अहमत्र भुक्तिकाले भोजनसमये सुरतावसरे वा, मसुरो नाम द्विदलान्नभेदः, पक्षे मसुरा नाम पण्याङ्गना, तदुचितं सरसं व्यञ्जनं शाकपदार्थं सूपम्, पक्षे व्यञ्जनं कोमलाङ्गमाह्वयामि, इति निगदिते सति तयोक्तम्, यत्किल हे कलाङ्क, हे कलाकलित, अधुना, इमं तव समक्षगतमस्माकमित्यर्थः । पयो दुग्धं ददातीति पयोधरोऽङ्कः स्थानं यस्य तं मधुरमाहारं क्षीरान्नं, पक्षे, पयोधरयोः स्तनयोर्मध्येऽङ्कः स्थानं यस्य तं मधुरं हारं नामाभूषणं किं न रसतादिति यावत् ॥ १२६ ॥

उपपीडनतोऽस्मि तन्वि भावादनुभूष्णुस्तवकाम्रकाम्रतां वा ।
वत वीक्षत चूषणेन भागिन्निति सा प्राह च चूतदा शुभाङ्गी ॥१२७॥

उपपीडनत इति । हे तन्वि, सूक्ष्माङ्गि, तवैव तवके ये आम्रे नाम फलेऽर्थात् स्तनौ, तयोः काम्रतां सरसतां भावादुत्कण्ठापरिणामाद् उत्पीडनतः सद्योदमालिङ्गनतोऽनुभूष्णुरस्मि, अनुभवकर्ता भवामीत्युक्ते सति सा शुभाङ्गी शोभनशरीरा, चूतदाऽऽम्रदायिनी प्राह जगाद—यत्किल हे भागिन्, भाग्यशालिन्, चूषणेनैव वीक्षते किन्तु मिष्टं किमुताम्लमिति समास्वादनेनैव पश्य, यद्वा, यथोपमर्दनं वाञ्छसि स्तनयोस्तथा तद्दुग्धपानेनापि वीक्षत, अहं तव मातुः सदृशा सम्भवामि, इत्यभिप्रायः । वतेति खेदे ॥ १२७ ॥

मण्डप (आभूषण और भोजन) अधिक लवणवाला है तो हम लोग उसे कैसे खावें ॥ १२५ ॥

अन्वय : (हे) बाले अत्र भुक्तिकाले मसुरोचितम् सरसं व्यञ्जनं आह्वयामि । (हे) कलाङ्क मधुरं पयोधराङ्कं इमं अधुना हारम् किं न रसतात् ।

अर्थ : एक बाराती बोला—हे बाले; मैं मसूरकी दाल चाहता हूँ उसके उत्तरमें वह बोली कि दूधवाली खीर खाओ जो कि मधुर है । यहाँ पर श्लेष है कि बारातीने मसुराका अर्थ वेश्या किया, किन्तु दासीने उत्तर दिया कि उसे क्या चाहते हो, हमारे स्तनोंकी ओर देखो ॥ १२६ ॥

अन्वय : (हे) तन्वि, तवकाम्रकाम्रताम् वा भावात् उपपीडनतः अनुभूष्णुः अस्मि सा चूतदा शुभाङ्गी च प्राह (हे) भागिन् चूषणेन च वीक्षत इति ।

अर्थ : जो स्त्री आम परोस रही थी उसे देखकर कोई बाराती कहने लगा कि तुम्हारे आमोंको मैं दबाकर देख लूँ कि ये कैसे कोमल हैं इस पर वह बोली

किं पश्यस्ययि संरसेऽपि न किं नो रोचकं व्यञ्जनम् ।
तन्वीदं लवणाधिकं खलु तृषाकारीति नो रोचकम् ॥१२८॥
तस्मात्सम्प्रति सर्वतोमुखमहं याचे पिपासाकुलः ।
सात्राभूत् स्मितवारिमुक् पुनरितः स्वेदेन स व्याकुलः ॥१२९॥

किं पश्यसीति । अयि महाशय, किं पश्यसि, नोऽस्माकं रोचकं रुचिकरं व्यञ्जनं शाकादि, यद्वा, अवयवं स्तनादि च किन्न संरसेऽपि तु रसत्वेव, इति कयाचिद् प्रेर्यमाणो जन्यजनः प्राह–हे तन्वि, तवेदं व्यञ्जनं लवणाधिकं लवणपूर्णमित्यत एव तृषाकारि पिपासादायकमस्ति, नो किन्तु रोचकं रञ्जकं किञ्च लवणाधिकं कान्तिपरिपूर्णमत एव तृषाकारि, अभिलाषाकारितया नोऽस्माकं रञ्जकमस्ति । तस्मात्कारणात् सम्प्रति पिपासाकुलोऽहं सर्वतोमुखं जलम्, अर्थाच्च सर्वभावेन तव मुखं याचे वाञ्छामि, इति श्रुत्वात्र सा स्मितमेव वारि मुञ्चतीति स्मितवारिमुगभूत् । ज्योत्स्नासमुदयो यदा स्यात् स एवानयोः सङ्केतकालो भवेदिति स्मितचेष्टया व्यज्यते । तेन च स जन्यजनः स्वेदेन व्याकुलो बभूव ॥ १२८-१२९ ॥

मालत्याः शाकमुदीक्षेऽहमेवं श्रुत्वाऽऽहान्या खिन्न !
वेशवारखचितं खलु रम्भा व्यञ्जनं ननु विलोकय किन्न ॥१३०॥

मालत्या इति । अहं मालत्या अग्निशिखायाः शाकमुदीक्षे, अर्थान्मालत्या युवत्याः

कि चूस कर ही देख लो न ? भाव यह है कि वह तो उसे पत्नी रूपमें बनाना चाहता है किन्तु वह उसे माताका भाव प्रकट कर निरुत्तर कर देती है ॥१२७॥

अन्वय : अयि किं पश्यसि नो रोचकं व्यञ्जनम् संरसेः अपि किं न (हे) तन्वि, इदं खलु लवणाधिकं तृषाकारि इति नो रञ्जनम् । तस्मात् अहं सम्प्रति पिपासाकुलः सर्वतोमुखं याचे अत्र सा स्मितवारिमुक् अभूत् इतः पुनः स स्वेदेन व्याकुलः ।

अर्थ : कोई स्त्री बोली कि हे भव्य; देखते क्या हो, स्वाद क्यों नहीं लेते हो ? हमारा शाक या अंग बड़ा (रोचक) और मन-भावता है ? इसके उत्तरमें उसने कहा कि वह लवणाधिक है इसलिये प्यास बढ़ाने वाला है । मेरी अभिलाषा थोड़े ही पूर्ण हो सकती है मैं तो प्यासा हूँ इसलिये तो सर्वतोमुख (जल या चुम्बन) मुझे दो, इतने पर वह स्त्री हँसी और बाराती पसीनेमें तर-बतर हो गया ॥ १२८-१२९॥

अन्वय : अहं मालत्याः शाकं उदीक्षे, एवं श्रुत्वा अन्या (काचिद्) आह—हे खिन्न, वेशवार-खचितं खलु रम्भा-व्यञ्जनं किं न विलोकय ननु ।

स्त्रियाः शाकं शाकिमहिमानमुदीक्षे, इत्येवं श्रुत्वा केनचिदुक्तं निशम्य, परिवेषिकाऽन्योक्तवती यत्किल हे खिन्न, उत्कण्ठित, वेशवारेण मरिचलवणादिना खचितं परिपूरितं रम्भाव्यञ्जनं कदलीशाकं, यद्वा, रम्भायाः स्ववेश्यायाः सदृश्यास्तावन्मम व्यञ्जनमङ्गं यद्वेशवारेण भूषणादिनाञ्चितमिदं खलु किन्न विलोक्य पश्य तावदिति । ननु च वितर्के ॥ १३० ॥

व्यवस्यतास्यं रसितुं जलत्यजः कृतावनत्या अपि सम्वयोभुजः ।
पतज्जले मन्दकलेन भूतलेऽपवृत्तिराप्तान्यदृशः किलामले ।।१३१।।

व्यवस्येत्यादि । जलत्यजोऽम्बुदात्र्या, अतएव कृताऽवनतिर्वहनामनं यया तस्याः, अपि च सं समानं वय आयुर्भुङ्क्ते या तस्यास्तुल्यावस्थायाः किन्त्वन्यतो दृग्दृष्टिर्यस्यास्तस्याः स्त्रियाः आस्यं मुखं रसितुमवलोकयितुं किल मन्दः सच्छिद्रः करोऽम्बुपूर्णहस्तस्तेन कारणेन पतज्जलं यत्र तस्मिन्नमले परिशुद्धे भूतले निश्चलामलजलवति, अपवृत्तिराप्ता जलपानरहिता स्वीकृतेति ॥ १३१ ॥

इङ्गितेषु विफलीकृतो युवान्ते पुनः करनिगालने तु वा ।
सत्वरं स कलिताञ्जलिस्तयाऽसेचि साचिविधुताम्बुधारया ।।१३२।।

इङ्गितेष्विति । इङ्गितेषु संज्ञासङ्केताविना कृतेषु प्रेमार्थं प्रार्थितेषु विफलीकृत उन्मनस्कतयोपेक्षितो युवा तरुणोऽपि जनो वा पुनरन्ते तु सत्वरमेव करयोर्निगालनं धावनं तस्मिन् सकलितः सम्पादितोऽञ्जलिः प्रार्थना-पराकाष्ठारूपो येन स एवं तया साचि

अर्थ : (किसी बारातीने किसी परोसनेवाली युवतीसे कहा—) मैं मालती-का शाक चाहता हूँ। यह सुनकर कोई दूसरी युवती बोली—हे उत्कण्ठित महानुभाव, नमक-मिर्च आदिसे परिभूरित केलेका शाक क्यों नहीं देखते हो ॥ १३० ॥

अन्वय : कृतावनत्या जलत्यजः संवयोभुजः आस्यं रसितुं व्यवस्यता मन्दकलेन पतज्जले अमले भूतले किल (तस्या) अन्यदृशः अपि अपवृत्तिः आप्ता ।

अर्थ : जल पिलानेवाली युवती जल पिलानेके लिए नीचे झुकी, तो उसके मुखको देखनेमें संलग्न बारातीने हाथके शिथिल हो जानेसे गिरते हुए जलवाले अपने हाथको मुखसे कुछ दूर कर लिया जिससे पानी भूतल पर गिरता रहे और उसको वियोग जल्दी नहीं हो ॥ १३१ ॥

अन्वय : इङ्गितेषु विफलीकृतः युवा पुनः अन्ते करनिगालने तु वा स सत्वरं कलिताञ्जलिः तया साचिविधुताम्बुधारया असेचि ।

अर्थ : जब युवकने देखा कि मैं इस युवतीसे बहुत अनुनय कर चुका हूँ

वक्रत्वेन विधुता सकम्पं तद्देहे, उत्सृष्टाम्बुधारा यया तया युवत्याऽसेचि, अभिषिक्तः सफलप्रार्थनत्वसूचनत्वेन सरसतां नीत इति यावत्। तदेतच्च रसिकयोर्जातिप्रकरणम् ॥ १३२ ॥

परमोदकगोलकावलिर्बहुशोमाण्डपिकैर्घनैस्तकैः।
समवर्षि चलत्करस्फुरन्मणिभूषांशुकृतेन्द्रचापकैः ॥१३३॥

परमेत्यादि। तैरेव तकैः माण्डपिकैः कन्यापक्षिलोकैर्घनैर्बहुभिर्मेघैः परा समुत्कृष्टा मोदकगोलकानां लड्डुकानां, करकोपलानामावलिः परम्परा बहुशोऽनल्परूपतया समवर्षि प्रतिवर्षिताऽभूत्। कीदृशैस्तैश्चलन्तो लड्डुकादिदानार्थं व्यापारवन्तो ये करा हस्तास्तेषु स्फुरतां मणीनां माणिक्यादीनां घटिता भूषास्तासामंशुभिः किरणैः कृताः सम्पादिता इन्द्रचापा यैस्तैरेव तकैश्चमत्कारकैरिति ॥ १३३ ॥

सुखादिरसमाराध्यं सौधसम्पद्दलं कया।
आत्महस्तोपमं प्रीत्या जन्यहस्तेऽर्पितं रयात् ॥१३४॥

सुखादीति। कयापि परिवेषिकया पुनर्भोजनानन्तरमेव दलं नागवल्लीसम्भवं रयाच्छीघ्रमेव जन्यानां वारयात्रिकाणां हस्तेष्वर्पितं प्रीत्या प्रेमभावेन। कीदृशं तद् आत्मनः स्वस्य हस्तोपमं करसमानं, यद्वा, आत्महस्तः स्वर्गस्तदुपमञ्च, यतः शोभनेन खादिरेण खदिरसारेण समाराध्यं आराधनीयं दलं, सुखादीनां रसो यत्र, यद्वा सुखस्यादिः प्रथमोऽपि रसो यत्र भवति स स्वर्गः करश्च। सुधायाश्चूर्णस्य सम्पद्यत्र तत्। स्वर्गपक्षे तु सुधाया अमृतस्य, हस्तपक्षे सौधस्य हर्म्यस्य, अर्थात् कार्ये कारणोपचाराद् गार्हस्थ्यजीवनस्य सम्पद् यत्रेति यावत् ॥ १३४ ॥

फिर भी यह अनुकूल नहीं हुई तो अन्त में हाथ धोने के बहाने से उसने उसके आगे अपने दोनों हाथ जोड़ लिए। फलतः उस युवतीने जलके छीटों के द्वारा अपनी अनुमति प्रकट की ॥ १३२ ॥

अन्वय : घनैः तकैः माण्डपिकैः चलत्करस्फुरन्-मणिभूषांशुकृतेन्द्रचापकैः परमोदकगोलकावलीः बहुशः समवर्षि।

अर्थ : अपने हाथोंमें रत्न-जड़ित-आभूषणोंकी किरणोंसे वधू पक्षके लोगोंरूपी मेघोंने इन्द्र-धनुष पैदा करते हुए बहुतसे लड्डू रूपी ओले बरसाये ॥ १३३ ॥

अन्वय : कया सुखादिरसं आराध्यं सौधसम्पद्दलं आत्महस्तोपमं रयात् प्रीत्या जन्यहस्ते अर्पितः।

अर्थ : उसके बाद किसी युवतीने वारातियोंको पान दिया, वह पान अपने हाथ सरीखा ही था क्योंकि पानमें कत्था और चूना था तो उसका हाथ

सुधारसमयं भूयो रागायास्वादितं तु यत् ।
प्रियाधरमिव प्रीत्या श्रयन्ति स्माधुना जनाः ॥१३५॥

सुधारसेत्यादि । अधुना सम्प्रति भोजनान्तसमये जनास्ते वारयात्रिका वलं नागवल्लीसम्भवं यत् सुधारसमयं चूर्णं खदिरसारयुक्तं, यच्च भूयः पुनः पुनरास्वादितं रागाय रक्तिमायं आस्यरञ्जनार्थं भवति, ततः प्रियाया अधरमिवोष्ठमिव जानन्ति स्म । यतः प्रियाधरश्च सुधारसमयोऽमृततुल्यरसवान् भवति, रागायानुरागार्थञ्च भवति । किञ्च, अधुना जनाः साम्प्रतिका लोका सुधारसमयाख्यं सुधारकनामसम्प्रदायं प्रियाधरमिव प्रीत्याऽऽश्रयन्ति । यः सुधारकसम्प्रदायोऽत्रास्वादितः सन् भूयो तदोत्तरमधिकाधिकं रागाय व्यभिचारादिरूपाय भवति । तत्र विधवादीनां लग्नविधेरपि समुचितत्वप्रतिपादनात् ॥ १३५ ॥

आतिथ्ये वस्त्रुटिरेव तु नः स्पष्टपयोधरमप्यस्ति पुनः ।
सुखपुरमिदमिति जन्यजनेभ्यः पथपथ्यवदासीद् गुणितेभ्यः ॥१३६॥

आतिथ्येत्यादि । भो महाशयाः, वो युष्माकमातिथ्येऽतिथि-सत्कारे नस्त्रुटिरेव,

---

भी सुखादिकका चाहनेवाला और स्वर्गकी सुधाका द्योतक था ॥ १३४ ॥

अन्वय : अधुना यत् तु सुधारसमयं आस्वादितं भूयो रागाय (तत्) जनाः प्रियाधरम् इव प्रीत्या आश्रयन्ति स्म ।

अर्थ : उस पानको बारातियोंने भी बड़े प्रेमसे लिया, क्योंकि वह सुधारस (चूना, कत्था और अमृत) से युक्त था और राग (लालिमा, स्नेह) को प्रकट करने वाला था ॥ १३५ ॥

विशेषार्थ—पद्यके प्रथम चरणमें पठित 'सुधारस मयं' पदका पदच्छेद 'सुधार + समयं' के रूपमें भी स्वोपज्ञ टीकामें करके यह अर्थ भी व्यक्त किया गया है कि आजके समयको सुधारक लोग सुधार अर्थात् उद्धारका युग कहते हैं । प्रस्तुत काव्यकी रचनाके समय कुछ सुधारक लोगोंने विधवा-विवाहको भी जाति-सुधार या विधवाओंके उद्धारार्थ समुचित बता करके उसके प्रसारका जोर-शोरसे प्रचार किया था । प्रस्तुत स्थल पर यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार ताम्बूल आस्वादन उत्तरोत्तर मुख-रागका कारण होता है उसी प्रकार ये विधवा-विवाह आदि कार्य भी आगे अधिकाधिक व्यभिचारादिरूप रागके वर्द्धक होंगे ॥ १३५ ॥

अन्वय : वः आतिथ्ये नः तु त्रुटिः एव, पुनः अपि स्पष्टपयोधरम् इदम् सुखपुरम् अस्तु इति गुणितेभ्यः जन्यजन्येभ्यः पथपथ्यवत् आसीत् ।

अस्माभिर्युष्माकमतिथिसत्कारो यथोचितरूपेण न कृतस्तावत्, किन्तु पुनरिदं स्पष्टपयोधरं सुखपुरं स्पष्टं पयो दुग्धमिष्टरसं धरतीति तच्छोभनं खपुरं क्रमुकं तथैव स्पष्टौ पयोधरौ यस्य तत्सुखस्य पुरं स्थानम्, कन्यारत्नमप्यस्ति, इत्येवमुदित्वा, गुणितेभ्यो गुणवद्भ्यो जनेभ्यो दत्तं क्रमुकं पूगीफलं प्रस्थानकालोचितं विविधमणि-मौक्तिकहिरण्यादि-इति लक्ष्यते। यौतुकपदार्थसमूहः पथो मार्गस्य पथ्यमन्नवस्त्रादिकं तद्वत्, मार्गस्य व्यय-स्तद्वद् अभूत् ॥ १३६ ॥

मृदुतमपल्लवगुणसमवेतै रवनेः कल्पाङ्घ्रिपैः स्विदेतैः।
शाखाचरणालम्बनभूतैः सहजायातविभवपरिपूतैः ॥१३७॥
जनुजः सफलत्वं निगदद्भिः कुसुमानीव मुहुश्च वहद्भिः।
उभयोरितरेतरमुक्तानि प्रसन्नभावादथ मुक्तानि ॥१३८॥

मृदुतमेत्यादि। अथ भोजनान्तरं ताम्बूलादिदानपुरस्सरमुभयोः पक्षयोः सम्बन्धिभि-र्जनैरेतैरवनेः कल्पाङ्घ्रिपैः भूलोककल्पवृक्षैरिव स्थितैः, शाखाया आचरणं स्वकुलाचारस्य निर्वहणं, पक्षे शाखानां वृक्षप्रततीनां चरणस्य प्रफुरणस्य, आलम्बनभूतैः, सहजेन स्वभावे-नायाता ये विभवा ऐश्वर्याण्वा धनानि च, पक्षे पक्षिशावकास्तैः परिपूतैः पवित्रैः, मृदु-तमानां पल्लवानां, पदांशानां, पक्षे पत्राणां गुणैः प्रस्फुरणादिभिरवसरोचितत्वादिभिश्च समवेतैरलङ्कृतैरेवं प्रसन्नभावात् प्रीतिपरिणामात्। इतरेतरमन्योऽन्यमुक्तानि सम्ववि-तानि यानि सूक्तानि, कुशल-प्रतिकुशलकथनात्मकानि, तान्येव कुसुमानि, पुष्परूपाणि मुहुः पुनः पुनः वहद्भिः सन्दधद्भिर्जनुषो जन्मनः सफलत्वं, फलवद्भावम् निगदद्भिरद्य भवतां समागमेनास्माकं, जन्म सफलं जातम्, इति वदद्भिः स्थिरनिवासः कृतोऽभूदिति

अर्थ : आप लोगोंका अतिथि-सत्कार करनेमें हमारी कमी ही रही है, किन्तु अन्तमें यह स्पष्ट पयोधरवाला (ऊँचे स्तनवाला, दूधवाला) सुखपुर सुन्दर—सुपारीका टुकड़ा अथवा सुखका स्थान, पथका पथ्य भी तो साथ लेते जाओ इस प्रकार कहकर उन सब बारातियोंको प्रस्थान करते समय सुपारी भेंट की ॥ १३६ ॥

अन्वय : अथ मृदुतमपल्लवगुणसमवेतैः अवनेः कल्पाङ्घ्रिपैः इव एतैः शाखा-चरणालम्बनभूतैः सहजायातविभवपरिपूतैः जनुषः सफलत्वं निगदद्भिः वहद्भिः मुहुश्च प्रसन्नभावात् उभयोः इतरेतरम् कुसुमानीव सूक्तानि उक्तानि।

अर्थ : अब दोनों वर-वधू पक्षके लोगोंमें अन्तिम प्रेम सम्भाषण हुआ। वे दोनों ही पक्षवाले कैसे हैं कि जिनके पल्लव (शब्द, पत्ते) कोमल हैं और शाखाचार (वृक्षकी शाखाओं एवं वंशकी पीढ़ियों) के कहनेवाले हैं। सहज

यावत् अत्र श्लेषमहिम्ना अन्यजनानां कल्पवृक्षैः सहोपमा प्रतिपादनेन श्लेषोपमयोः सङ्करः ॥ १३७-१३८ ॥

सुरभितसदनादुपेत्य सद्भिर्भुवि नीताश्च जडाशया महद्भिः ।
आश्विनसमये वयं मरुद्भिरिव नीताश्च कृतार्थतां भवद्भिः ॥१३९॥

सुरभीत्यादि । तत्र परस्परसंसूक्तकाले तावत्प्रथमं माण्डपिकैरुक्तं यत्किल भो महानुभावा भवद्भिर्महद्भिः सद्भिः सदाचारयुक्तैर्मरुद्भिः पवनैरिव सुरभितात्सदनात् यशस्विनः स्थानात्, पक्षे सुगन्धस्य सदनात् कमलादुपेत्य आगत्य वयं जडाशया निर्विवेका अपि, पक्षे जलप्रायप्रदेशा इव भुवि, इनसमये सूर्यावसरे, दिवसे इत्यर्थः आशु शीघ्रमेव कृतार्थतां नीताः, पक्षे आश्विनमासस्यावसरे, तस्मिन् मासे कमलानामुत्पत्तिसद्भावात्पवनस्य सुरभिता लक्ष्यते । अत्रापि श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥ १३९ ॥

निशेन्दुना श्रीतिलकेन भालं सरोऽब्जवृन्देन विभात्यथालम् ।
महोदया अस्ति सुसम्पदेवं युष्माभिरस्माकमहो सदैव ॥१४०॥

निशेन्दुनेति । पुनर्वरयात्रिभिः प्रयुक्तं यत् किल हे महोदयाः, यथा- इन्दुना चन्द्रमसा, निशा, अब्जवृन्देन कमलसमूहेन सरस्तडाकः, श्रीतिलकेन यथा भालं ललाटदेशो विभाति, अथ तथैव युष्माभिरस्माकं सदैव सुखसम्पदास्ति, अलं पर्याप्त्यर्थे । अहो आश्चर्ये । निदर्शनालङ्कृतिः ॥ १४० ॥

विभव (विशेषतायुक्त पक्षीसमूह) वाले हैं और अपने जन्मको सफल करनेवाले हैं अतः कल्पवृक्षके समान हैं ऐसे उन लोगोंने आपसमें फूलोंके समान प्रतीत होनेवाले कुछ सूक्त कहे ॥ १३७–१३८ ॥

अन्वय : वयं भुवि जडाशयाश्च नीता सुरभितसदनात् उपेत्य सद्भिः महद्भिः भवद्भिः मरुद्भिः इव आश्विनसमये कृतार्थताम् च नीताः ।

अर्थ : (माण्डपिक अर्थात् कन्यापक्षवालोंने कहा) हम लोग मूर्ख हैं; या जड़ाशय जलाशय हैं; और आप महान् सज्जन हैं; इस पृथ्वीपर सुरभित (कमल, शोभावान) सदन स्थानसे आये हुए हैं; आप लोगोंने हम लोगोंको यहाँ इस आश्विन समयमें कृतार्थ कर दिया जैसे कि पवन कमलपरसे आकर जलाशयको कृतार्थ कर देता है ॥ १३९ ॥

अन्वय : (हे) महोदयाः ! अथ इन्दुना निशा श्रीतिलकेन भालं अब्ज-वृन्देन सरः अलं विभाति एव अहो सदैव युष्माभिः अस्माकम् सुसम्पदा अस्ति ।

अर्थ : हे महोदयो बरातियो; जैसे चन्द्रमाके द्वारा रात्रि, तिलकके द्वारा

द्रागकिञ्चनगुणान्वयाद्वतेदृङ् न किञ्चिदिह सम्प्रतीयते ।
सत्कृतौ तु भवतां महामते कन्यका च कलशश्च दीयते ॥१४१॥

द्रागिति । भो महामते हे विशालबुद्धे, मद्रा महामते वृद्धमार्गे भवतां युष्माकं सत्कृतौ, अतिथिसत्कारे समुपहारवामार्थमस्माकं समीपे न विद्यते किञ्चनापि यत्र सोऽकिञ्चनो गुणस्तस्यान्वयाद्वृत्तेरिहास्माकं गृहे, ईदृक् किञ्चिदपि परं न प्रतीयते तदस्मात् सम्प्रत्यस्माभिर्भवद्भ्यो द्राक् शीघ्रमेवं किलेयं कन्यका कलशश्च दीयते । वतेति खेदे । माण्डपिकोक्तिरियम् ॥ १४१ ॥

सत्कन्यकां प्रददता भवता प्रपञ्चे दत्तस्त्रिवर्गसहितः सदनाश्रमश्चेत् ।
किं त्वावशिष्टमिह शिष्टसमीक्षणीयं श्रीमद्विचेष्टितमहो महतां महीयः॥१४२

सत्कन्यकामिति । भो शिष्टपुरुष, अस्मिन् प्रपञ्चे संसारे सत्कन्यकां प्रददता भवता त्रिवर्गसहितः सदनाश्रमो गृहस्थाश्रम एव दत्तश्चेत्तदा पुनरिह किं वाऽवशिष्टं समीक्षणीयं स्यात् ? तावत् । अतः श्रीमतो विचेष्टितं तदेतन्महतां मध्येऽपि महीयो महत्प्रशंसनीयं वरीवृत्यत इति अन्यजनोक्तिः ॥ १४२ ॥

स्वागतमिह भवतां खलु भाग्यान्निःस्वागतगणना अपि चाज्ञाः ।
किं कर्तुं सुशका अपि राज्ञां निवहामशिरसा वयमाज्ञाम् ॥१४३॥

ललाट और कमल-समूहके द्वारा सरोवर शोभित होता है उसी प्रकार आप लोगोंके द्वारा हम लोगोंकी सदा ही शोभा है ॥ १४० ॥

अन्वय : वत द्राक् अकिञ्चनगुणान्वयात् इह किञ्चित् ईदृग् न सम्प्रतीयते (यत्) नु भवता सत्कृतौ भवेत्, अतः कन्या च कलशश्च दीयते ।

अर्थ : (पुनः कन्यापक्ष वालोंने कहा—) हम लोग अकिञ्चन गुणके धारक हैं; इसमें हमारे पास आपका सत्कार करने योग्य कोई वस्तु नहीं है अतएव यह कन्या और कलश ये ही आपकी भेट है ॥ १४१ ॥

अन्वय : प्रपञ्चे सत्कन्यकां प्रददता भवता त्रिवर्गसहितं सदनाश्रमं दत्तं इह शिष्ट-समीक्षणीयं किं वा अवशिष्टम् अहो महतां श्रीमद्-विचेष्टितम् महीयः ।

अर्थ : (तब बराती लोग बोले कि) इस कन्याको देते हुए आपने इस धरातलपर जब कि त्रिवर्ग सहित गृहस्थाश्रम ही दे दिया, तब भला अत्र शेष क्या रहा, जिसको कि शिष्ट लोग देखें । किन्तु आप महापुरुष हैं अतः आपकी चेष्टा महान् है ॥ १४२ ॥

अन्वय : इह भवता स्वागतम् भाग्यात् खलु अपि न वयं निःस्वागतगणना अज्ञाः

स्वागतमिति । भो सज्जनाः, इह संसारे भवतां स्वागतं खलु भाग्यात् पुण्योदयाल्लभ्यते । किन्तु वयं तु निःस्वेभ्यो दरिद्रेभ्य आगता यथैव गणना येषां ते, पुनरज्ञाश्च भवामः । अपि केवलं राज्ञां भवतां किं कर्तुं दासतां निर्वाहयितुं सुशकाः स्मः शिरसा भवतामाज्ञामेव निवहामः । इति माण्डपिकोक्तिः ॥ १४३ ॥

यच्छन्ति कल्पफलिना अपि याचनाभि–
रावश्यकं प्रणयिभिश्च विनापि ताभिः ।
नीता वयं सपदि दर्पणमुत्सृजद्भिः–
हर्षस्तया तदधिकं बहुलं भवद्भिः ॥१४४॥

यच्छन्तीति । कल्पफलिनाः स्वर्गकल्पपादपा अपि, आवश्यकमात्रं तदपि याचनाभिरभ्यर्थनाभिर्यच्छन्ति, किन्तु भवद्भिर्युष्माभिः सपद्यधुना ताभिर्याचनाभिर्विनापि तस्मादावश्यकादधिकं बहुलमनल्पं वस्तुजातं हर्षस्तया नन्दितभावेन, उत्सृजद्भिर्वितरद्भिर्वयं तर्पणं तृप्तिं नीताः स्मेति अन्यजनानां प्रत्युक्तिः ॥ १४४ ॥

अस्मत्पदस्य परिवादहरो विभाति,
युष्मत्पदागमगुणेऽपि सदङ्कपाती ।
अन्यार्थसाधकतया विचरन् सुवंशे,
सम्यङ् मिथस्त्रिपुरुषीमधुना प्रशंसेत् ॥१४५॥

किं कर्तुं सुशका अपि राज्ञां आज्ञां शिरसा निवहामः ।

अर्थ : (पुनः कन्या पक्षवाले लोग बोले)—हमारे भाग्यसे आपका शुभागमन हुआ, किन्तु हम लोग तो कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ है, क्योंकि अज्ञानी हैं अनः क्या कर सकते है ? केवल आपकी आज्ञाको शिरोधार्य करते हैं ॥ १४३ ॥

अन्वय : कल्पफलिना अपि याचनाभिः आवश्यकं यच्छन्ति, सपदि भवद्भिः प्रणयिभिस्तु ताभिः विनापि हर्षस्तया तदधिकं बहुलं उत्सृजद्भिः वयं तर्पणम् नीता ।

अर्थ : (बरातियोंने कहा) कल्पवृक्ष भी याचना करनेसे देते हैं और वह भी आवश्यक वस्तु देते हैं किन्तु हमारे प्रति प्रेम दिखाकर आप लोगोंने तो बिना ही याचना किये हर्ष-पूर्वक आवश्यकतासे भी अधिक बहुत कुछ दिया है । इससे (हमलोग बहुत तृप्त हुए हैं) ॥ १४४ ॥

अन्वय : सदङ्कपाती युष्मत्पदागमगुणः अपि अन्यार्थसाधकतया सुवंशे विचरन् अस्मत्पदस्य परिवादहरः विभाति, अधुना मिथः सम्यक् त्रिपुरुषीम् प्रशंसेत् ।

अस्मदित्यादि । सतामङ्के महतां मध्ये पततीति सदङ्कपाती, पक्षे सत्सु प्रशंसा-योग्येष्वङ्केषु ककारादिषु पतति प्रकटीभवति, इति स युष्मत्पदानां भवच्चरणानामागम-गुणः समागमपरिणामः सोऽसौ, अन्यार्थस्य परोपकारस्यान्यपुरुष-वाच्यस्य साधकतया सुवंशे विचरन्नवतरन् सन्, अधुना अस्मत्पदस्य, अस्माकं स्थानस्य परिवादहरो निन्दा-पहरणकरोऽथवा स्वस्मत्पदस्य, उत्तमपुरुषवाचकस्य परिवादोऽसौ प्रतिपादकत्वं तद्धरो विभाति तावत् । इति स मिथो युष्माकमस्माकञ्च त्रिपुरुषीं प्रपितामह-पितामह-पितृ-लक्षणं प्रशंसेत् । एवा माण्डपिकोक्तिर्विद्यते ॥ १४५ ॥

सम्यक्त्वयाभिहितमस्मदुपक्रियार्थं,
युष्माभिरिङ्गितमिदं न पुनर्व्यपार्थम् ।
यत्कानि कानि न भवद्भिरिहार्पितानि,
हर्षत्तयाशु मुहुरस्मदभीप्सितानि ॥१४६॥

सम्यगिति । त्वया भवता, अस्मदुपक्रियार्थमस्मद्धितार्थं सम्यक् समीचीनमभिहितं प्रोक्तम् । युष्माभिर्भवद्भिर्विहितमिदमिङ्गितं चेष्टारूपं व्यपगतोऽर्थो यस्य तद्व्यपार्थं निष्प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः । यद्भवद्भिरिह मुहुः पौनःपुन्येन, अस्माकमभीप्सिता नीत्य-स्मदभीप्सितानि, अस्मदभिलषितानि हर्षत्तया प्रसन्नभावेन कानि कानि मणिरत्नगजाश्वा-दीनि वस्तूनि नार्पितानि न दत्तानि, अपितु सकलवस्तूनि दत्तानीति भावः । इयं जन्य-जनोक्तिः ॥ १४६ ॥

अर्थ : (कन्या पक्षवालोंने कहा) आपके चरणोंके समागमका गुण सज्जनों-का समर्थक है और वह परोपकारकी दृष्टिसे उत्तम वंशमें वितरण करता हुआ हमारे स्थानके अपवादको दूर करने वाला हो। (आपके पधारनेसे हम सौभाग्य-शाली हुए हैं) इस प्रकार कहकर उन्होंने आपसकी त्रिपुरुषीका—प्रपितामह, पितामह और पिता-सम्बन्धी तीन पीढ़ियोंका परिचय दिया ॥ १४५ ॥

अन्वय : त्वया सम्यक् अभिहितम्—युष्माकम् इङ्गितम् इदं अस्मत् उपक्रियार्थं न पुनर्व्यपार्थं यत् इह भवद्भिः हर्षत्तया आशु मुहुः अस्मद्-अभीप्सितानि कानि कानि न अर्पितानि ?

अर्थ : पुनः बराती बोले—आपने वास्तवमें यथार्थ कहा है, हम लोगोंके उपकारके लिए ही आप लोगोंकी यह चेष्टा हुई है इसमें कोई अन्यथा बात नहीं है, क्योंकि हमारी मनोवांछित कौन-कौनसी वस्तुएँ प्रसन्नतापूर्वक पुनः पुनः आपने नहीं दीं ? अर्थात् सब कुछ दिया है ॥ १४६ ॥

कर्तुं लग्नाः संस्तवं च तावदुदारं,
लोकाः श्रीजिनदेवविभोस्ते स्पष्टाभम् ।
पवित्रेण वै भावनासमाख्यानेन,
नन्दककलोक्तिपः सोऽरं संभर्ता नः ।।१४७।।

कर्तुमिति । अथ ते सर्वे लोकाः पवित्रेण शुभेन भावनायाः श्रद्धारूपायाः समाख्यानं प्रकथनं भावनासमाख्यानं तेन श्रीजिनदेवस्य, उदारं विस्तृतं, स्पष्टाभं स्पष्टोच्चारण-शोभितं सम्यक् स्तवस्तं सुन्दरस्तोत्रं कर्तुं लग्ना आरेभिरे । नन्दककलोक्तिप आनन्द-प्रदकलाकथनेशः स श्रीजिनदेवोऽरं शीघ्रं नोऽस्माकं संभर्ता सम्यक् पालको भवत्विति करोपलम्भनश्चक्रबन्धः ।। १४७ ।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरीदेवी च यं धीचयम् ।।
काव्ये तस्य गतोऽत्र सुन्दरतमः सर्गो ह्ययं द्वादश-
सङ्ख्याकः प्रणयप्रयोगविषयोऽस्मिन् सुप्रबन्धेऽधुना ।। ११ ।।

इति श्रीवाणीभूषण-महाकवि-ब्रह्मचारि-भूरामलशास्त्रि-रचिते
जयोदयमहाकाव्ये सुलोचनापाणिपीडनवर्णको
द्वादशः सर्गः समाप्तः ।।१२।।

अन्वय : ते लोकाः तावत् श्रीजिनदेव विभोः उदारं स्पष्टाभं संस्तवं च पवित्रेण भावना-समाख्यानेन वै कर्तुं लग्नाः स नन्दककलोक्तिपः अरं नः संभर्ता ।

अर्थ : तत्पश्चात् सब लोग मिलकर स्पष्ट रूपसे सद्भावनाके विचारपूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्तवन करने लगे, वह भगवान्का संस्तव हम लोगोंकी मनोवांछित सिद्धिका करने वाला हो ।। १४७ ।।

इति श्री वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्रिके द्वारा बनाये हुए जयोदय नामक महाकाव्यमें जयकुमारके साथ सुलोचनाके विवाहका वर्णन करनेवाला बारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

■

त्रयोदशः सर्गः

स्वजनानुविधानबुद्धिमाननुगन्तुं गजपत्तनं पुनः
स पयोदपतिस्त्वकम्पनं रुचया याचितवान्नयान्निजम् ॥१॥

स्वजनेत्यादि । पुनः पाणिग्रहणानन्तरं, पयोदानां मेघानां पतिर्जयकुमारः स्वजनानां पित्रादीनामनुविधानं सम्भालनं तस्य बुद्धिविचारस्तद्वान् भवन् रुचया प्रेम्णा, अकम्पनं स्वश्वशुरं निजमात्मानं गजपत्तनं हस्तिनापुरं अनुगन्तुं याचितवान् । नयादियं नीतिर्यद्विवाहानन्तरं वरः पत्नीमादाय स्वगृहं निवर्तेतेति ॥ १ ॥

न वदन्नपि काशिकापतिर्बलनेतुर्गुणिनो महामतिः ।
शिरसि स्फुटमक्षतान् ददौ ह्युपकुर्वन्नपनोदकैः पदौ ॥२॥

न वदन्निति । तदा महामतिः काशिकापतिरकम्पनो किञ्चिदपि न वदन्, किन्तु नयनोदकैर्वियोगजनितप्रेमाश्रुभिर्गुणिनो बलनेतुर्जामातुर्जयकुमारस्य पदौ चरणावुपकुर्वन्नभिषिञ्चन् तस्य शिरसि स्फुटं स्पष्टरूपेण, मङ्गलसूचकानक्षतान् ददौ, चिक्षेप । हीति निश्चये । सहोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

नगरी च वरीयसो विनिर्गमभेरीविवरस्य दम्भतः ।
भवतो भवतो वियोगतः खलु दूनेव तदाऽऽशु चुक्षुभे ॥३॥

अन्वय : पुनः स्वजनानुविधानबुद्धिमान् स पयोदपतिः (जयः) निजं गजपत्तनं अनुगन्तुं रुचया अकम्पनं याचितवान् ।

अर्थ : (विवाहके पश्चात्) अपने स्वजनोंके मिलनेकी इच्छासे अपने हस्तिनापुर नगरको जानेके लिए उस मेघोंके स्वामी जयकुमारने, सुलोचनाके पिता अकम्पन महाराजसे नीतिके अनुसार आज्ञा माँगी ॥ १ ॥

अन्वय : तदा न वदन् अपि महीपतिः काशिकापतिः नयनोदकैः बलनेतुः नयनोदकैः पदौ उपकुर्वन् स्पष्टं शिरसि अक्षतान् ददौ ।

अर्थ : काशिकापति अकम्पन महाराजने मुँहसे कुछ नहीं बोलकर जयकुमारके चरणोंको नेत्रोंके आसुओंसे अभिषिक्त करते हुए जयकुमारके मस्तकपर अक्षत अर्पण किये ॥ २ ॥

अन्वय : नगरी च वरीयसो विनिर्गम-भेरीविवरस्य दम्भतः भवतः भवतः वियोगतः खलु दूना इव तदा आशु चुक्षुभे ।

नगरीति । तदा भवतो जयकुमारस्य भवतः सम्भवतो वियोगतो विरहतो दूना क्षुब्धमापन्नैव खलु नगरी काशीपुरी वरीयसोऽत्युच्चैः प्रसरतो विनिर्गमस्य प्रयाणस्य सूचिका या भेरी तस्या विरवस्य विशिष्टशब्दस्य दम्भतो मिषेणाऽऽशु तत्कालमेव चुक्षुभे क्षोभमवाप । अनुप्रासोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ३ ॥

समुपेत्य नियानडिण्डिमं कृतसत्त्वः स्वजनः प्रचक्रमे ।
पथि सादिवरः कृतेक्षणः कृतवानास्तरणं तु वारणे ॥४॥

समुपेत्येति । नियानस्य प्रयाणस्य डिण्डिममानकं समुपेत्य श्रुत्वा कृतः शीघ्रभावो वा निश्चयो वा येन स स्वजनो जयकुमारस्य जनः प्रचक्रमे प्रक्रमं कृतवान् । तत्र पथि मार्गे कृतमीक्षणं चक्षुर्येन स सादिवरो हस्तिपकस्तु वारणे हस्तिनि, आस्तरणं कुथं कृतवान् ॥ ४ ॥

सुदृढां स धुरं रथाग्रणीर्धृतवांश्चक्रयुगे सुसंस्कृताम् ।
कविकामविकारगामिनां लपने सम्प्रति वाजिनामपि ॥५॥

सुदृढामिति । यो रथाग्रणीः सारथिः स चक्रयोर्युगे सुसंस्कृतां सुदृढां धुरं धृतवान् । तथा सम्प्रति तदानीमेवाविकारगामिनामनुकूलगतिमतां वाजिनां हयानां लपने मुखे कविकां खलीनमपि धृतवान् ॥ ५ ॥

विकसन्ति कशन्ति मध्यकं स्म तदानीं विनिशम्य भेरिकाम् ।
पथिकाः पथि कामनामया नहि कार्योऽस्तु मनाग्विलम्बनम् ॥६॥

अर्थ : उस समय सारी काशी नगरी प्रयाणकी भेरीके शब्दके बहानेसे जयकुमारके होनेवाले वियोगकी आशंकासे दुखी होती हुई; क्षोभको प्राप्त हुई ॥ ३ ॥

अन्वय : नियानडिडिमं समुपेत्य कृतसत्त्वः स्वजनः प्रचक्रमे पथि कृतेक्षणः सादिवरः तु वारणे आस्तरणं कृतवान् ।

अर्थ : प्रस्थानकी भेरीको सुनकर जयकुमारका जनसमूह शीघ्रता करनेवाला हुआ अर्थात् गमनकी तैयारी करने लगा । मार्गमें किया है दृष्टिपात जिसने ऐसे महावतने अपने हाथीपर आस्तरण (झूल) डाला ॥ ४ ॥

अन्वय : सम्प्रति स रथाग्रणीः चक्रयुगे सुसंस्कृतां सुदृढां धुरं अविकारगामिनां वाजिनां अपि लपने कविकां धृतवान् ।

अर्थ : तब सारथीने रथके चक्रमें तेलसे चुपड़ी हुई दृढ़ धुरा लगाई और अच्छी तरह चलनेवाले घोड़ोंके मुँहमें लगाम लगाई ॥ ५ ॥

विकसन्तीति । ये च पथिकाः पादचारिणस्ते पथि गमनविषये कामनामया अभिलाषवन्तस्तदानीं भेरिकां भेरीशब्दं श्रुत्वा विकसन्ति स्म, प्रसन्नतामन्वभवन् । एवं तदानीं मध्यक कटिप्रवेशं कशन्ति स्म । हि यतः कार्ये मनागपि विलम्बनं न ह्यस्त्विति विचार्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

सुवधूमियमस्ति सत्सती न परः स्प्रष्टुमिमामिहार्हति ।
सुरथं स्वयमध्यरूरुहन्निति स प्रांशुतरं सुखाशयः ॥७॥

सुवधूमिति । इयं सत्सती समीचीना साध्वी वर्तते, अत इमामिह परः कोऽपि स्प्रष्टुमालिङ्गितुं नार्हति किल । इति स महाशयः सुखाशयः सुखमस्त्वित्यभिप्रायवान् सुवधूं प्रांशुतरमत्युन्नतं सुरथं स्वयमेवाध्यरूरुहत् । अधियानारोपित् ॥ ७ ॥

नहि पीडनभीरुदोर्युगात्स्खलतात्स्निग्धतनुः प्रियादियम् ।
स्मर आशुमतिश्चकार तानिति रोमाञ्चभरेण कर्कशौ ॥८॥

नहीति । इयं स्निग्धतनुः श्लक्ष्णशरीरा पीडनेन हेतुना भीरु दोयुगं बाहुद्वयं यस्य तस्मात्तथाभूतात् प्रियान्न स्खलतादपसरतु इति किल विचार्य आशुमतिः शीघ्रविचारकारी स्मरः कामस्तौ द्वौ रोमाञ्चानां भरेण समूहेन कर्कशौ चकार ॥ ८ ॥

अन्वय : भेरिकां विनिशम्य तदानीं पथिकामनामया पथिकाः मध्यकं कशन्ति स्म विकशन्ति (स्म च) कार्ये मनाग्विलम्बनं न हि अस्तु ।

अर्थ : जो पैदल चलनेवाले लोग थे वे मार्गमें चलनेके उत्साहसे गमनकी भेरीको सुनकर उत्साहित हो उठे और अपनी अपनी कमर बाँधने लगे । सो ठीक ही है कि करने योग्य कार्यमें विलम्ब करना अच्छा नहीं होता है ॥ ६ ॥

अन्वय : इयं सत्सती अस्ति, इह परः इमां स्प्रष्टुम् न अर्हति, इति सुखाशयः स स्वयं सुवधूम् प्रांशुतरं सुरथं अध्यरूरुहत् ।

अर्थ : अब यह सुलोचना तो महासती हैं, दूसरा कोई इसे छूनेका अधिकारी नहीं है ऐसा सोचकर उसको तो स्वयं जयकुमारने ही उत्तम उच्च रथपर बैठाया ॥ ७ ॥

अन्वय : पीडनभीरुदोर्युगात् प्रियात् इयं स्निग्धतनुः न हि स्खलतात् इति आशुमतिः स्मरः तौ रोमाञ्चभरेण कर्कशौ चकार ।

अर्थ : तब रथमें बैठाते समय सुलोचनाको किसी प्रकारका कष्ट न हो इस विचारसे ढीली जयकुमारकी दोनों बाहोंसे चिकने गात्रवाली सुलोचना कहीं खिसक नहीं पड़े, इसलिए शीघ्र विचार करनेवाले कामदेवने उन दोनोंको

तनये मन एतदातुरं तव निर्योगविसर्जने परम् ।
ललनाकलनाम्नि किन्त्वसौ व्यवहारोऽव्यवहार एव भोः ॥९॥

अयि याहि च पूज्यपूजया स्वयमस्मानपि च प्रकाशय ।
जननीति परिस्रुताश्रुभिर्बहुलाजां स्तनुते स्म योजितान् । युग्मम् ॥१०॥

तनय इति । भो तनये, पुत्रि, तव निर्योगविसर्जनेऽयावि सर्वथा दूरीकरणे एतन्मम मन आतुरं कष्टानुभवि परमत्यन्तमेवास्ति. किन्तु ललनेतत्कलं मनोहरं नाम यस्य तस्मिन् स्त्रीवर्गेऽसौ व्यवहार : प्रक्रमः सोऽव्यवहारोऽनिवार्य एवास्ति, तत्र किं कार्यम् ? ततोऽपि पुत्रि, याहि, च किन्तु पूज्यानां गुरुस्थानीयानां श्वशुरादीनां पूजया समादरेण त्वं स्वयमात्मानमस्मान् बन्धुवर्गानपि च प्रकाशयेस्तथा सह परिस्रुतैर्विनिर्गतैरश्रुभिः सार्धं बहु लाजान् भ्रष्टव्रीहीन् योजितास्तस्याः शिरसि प्रक्षिप्तांस्तनुते स्म । सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ९-१० ॥

अथ कण्टकवण्टकादिकं दलयन्तः समुपादनङ्घ्रिभिः ।
त्वरितं स्म चरन्ति पत्तयस्तुरगेभ्योऽपि रथेभ्य एव वा ॥११॥

अथेति । अथ पत्तयः पादचारिणः समुपानह उपानद्युक्ता ये अङ्घ्रयस्तैः कण्टकवण्टकादिकं मार्गस्थशूल-गुल्म-ग्रन्थ्यादिकं दलयन्तश्चूर्णयन्तस्तुरगेभ्योऽश्वेभ्यो रथेभ्यः स्यन्दनेभ्योऽपि त्वरितं शीघ्रं चलन्ति स्म ॥ ११ ॥

रोमांचोंके भारसे कर्कश (कठोर, खरदरे) बना दिया ॥ ८ ॥

अन्वय : हे तनये ! तव निर्योगविसर्जने एतद् मनः परं आतुरं किन्तु भो ललनाकलनाम्नि असौ व्यवहारः अव्यवहार एव । अयि याहि च पूज्यपूजया च स्वयं अस्मानपि प्रकाशय इति परिश्रुताश्रुभिः जननी योजितान् बहुलाजान् तनुते स्म ।

अर्थ : तब सुलोचनाकी माता बिदाईके समय बोली—हे पुत्री; तुझे बिदा करते हुए मेरा मन बहुत खेद खिन्न हो रहा है, किन्तु किया क्या जाय, ललना-जातिके लिए यह व्यवहार तो अनिवार्य ही है। इसलिए हे तनये ! जाओ, और पूज्य पुरुषोंकी पूजा करके अपने आपको भी और हमें भी उज्ज्वल बनाओ। इस प्रकार कहते हुए आँखोंसे निकले आँसुओंसे मिश्रित लाजा (खील) सुलोचनाके मस्तकपर डाले ॥ ९–१० ॥

अन्वय : अथ पत्तयः समुपानदङ्घ्रिभिः कण्टकवण्टकादिकं दलयन्तः तुरगेभ्योऽपि रथेभ्य एव वा त्वरितं चरन्ति स्म ।

अर्थ : इसके पश्चात् पैदल सैनिक लोग, अपने पहिने हुए जूतोंवाले पैरोंसे

रथिनां पथि नायको जयः सविभावान् इव तेजसां चयः ।
निजया प्रजया समन्वितः पुरतो निर्गतवान् जनैः श्रितः ॥१२॥

रथनामिति । रथिनां रथेन गमनशीलानां पथि वर्त्मनि नायकं प्रथमो योऽसौ जयः सोमपुत्रः सविभावान् सूर्य इव तेजसां चयः समूहः स निजया स्वकीयया प्रजया समन्वित-स्तथाऽन्यैश्च जनैः साधारणैरपि श्रितः संयुक्तो भवन् पुरतो नगरतो निर्जगाम । उपमालङ्कारः ॥ १२ ॥

किमु वर्त्मविरोधिनो जना अधुना चापसरेत् चैकतः ।
गजपत्तननायको मतस्त्वरमायाति परिच्छिदान्वितः ॥१३॥
अपि निर्भयमास्थिताः कथं व्रजतीतः खलु वाजिनां व्रजः ।
गजराजिरितः समाव्रजत्यथवा स्यन्दनसञ्चयः पुनः ॥१४॥
किमु पश्यसि दृश्यते न किं जनसङ्घट्टनमेतदित्यतः ।
निजमङ्गजमङ्ग जङ्गमं सहसोत्थापय धृष्ट ! वर्त्मतः ॥१५॥
अपि पाणिपरीतयष्टिकः स्वयमग्रेतनमर्त्यसार्थकः ।
निजगाम गमं समुत्तरन् समुदारध्वनिमित्थमुच्चरन् ॥१६॥

मार्गमें पड़े हुए काँटे-कंकड़ों आदिको दलन करते हुए, तथा अन्य सैनिक एवं बाराती लोग घोड़ों और रथोंसे शीघ्र चल पड़े ॥ ११ ॥

अन्वय : रथिना पथि नायकः जयः च तेजसां चयः विभावान् इव स निजया प्रियया समन्वितः जनैः श्रितः पुरतः निर्गतवान् ।

अर्थ : तेजस्वी और कान्तिमान जयकुमार सूर्यके समान रथियों (रथवालों) के मार्गमें अपनी प्रियाके साथ अनेक मनुष्योंके समुदाय-सहित नगरसे बाहर निकला । जिस प्रकार कि सूर्य अपनी प्रिया प्रभाके साथ और सहस्रों किरणोंके साथ आकाश-मार्गमें उदयाचलसे प्रस्थान करता है ॥ १२ ॥

अन्वय : (हे) जना, अधुना च किमु वर्त्मविरोधिनः एकतः च अपसरेत, गजपत्तन-नायकः परिच्छदान्वितः मतः त्वरम् आयाति । निर्भयम् अपि कथं आस्थिताः इतः खलु वाजिना व्रजः व्रजति, इतः गजराजिः अथवा इतः स्यन्दनसञ्चयः तु समाव्रजति । अङ्ग धृष्ट किमु पश्यसि ? एतद् जनसङ्घट्टनम् न दृश्यते ? किं निजम् जङ्गमं अङ्गजम् सहसा इत्यतः वर्त्मनः उत्थापय । अपि पाणिपरीतयष्टिकः स्वयम् अग्रेतनमर्त्यसार्थकः इत्थं समुदार-ध्वनिम् उच्चरन् गमं समुत्तरन् निजगाम ।

किम्विति । हे जनाः, किमु वर्त्मविरोधिनो यूयमत्र स्थिताः ? अधुना चैकतोऽपसरेत, एकपार्श्वे स्थितो भवेत् । यतो गजपत्तननायकः श्रीजयकुमारो योऽस्माकं मतः सम्माननीय सपरिच्छदेन निजपरिकरेणान्वितः संस्वरं शीघ्रमेवायाति समभ्यागच्छति ॥ १३ ॥

अपीति । हे दर्शकजनाः, इतः खलु वाजिनामश्वानां व्रजः समूहो व्रजति । इतो गजराजिर्हस्तिपङ्क्तिः समाव्रजति, अथवा स्यन्दनानां रथानां सञ्चयः समाव्रजति, पुनर्यूयमपि निर्भयं कथमास्थिताः ॥ १४ ॥

किम्विति । हे अङ्ग धृष्ट, निर्लज्ज, किमु पश्यसि, न दृश्यते किं त्वया, एवेतज्जनानां संघट्टनं सम्मर्दोऽस्ति । अतो निजं जङ्गममितस्ततश्चरन्तमङ्गजं तनयं वर्त्मतो मार्गमध्यात् सहसा शीघ्रमेवोत्थापय ॥ १५ ॥

अपीति । पाणिना पाणौ वा परीता स्वीकृता यष्टिर्येन यस्य वा स पाणिपरीतयष्टिकोऽग्रेतनः पुरश्चारी यो मर्त्यानां मानवानां सार्थक इत्थमुक्तप्रकारमुदारध्वनिं स्पष्टशब्दमुच्चरन् सन्नेवं गमं मार्गं समुत्सरन् संशोधयन् निर्जगाम निर्गतवान् स्वयमात्मनैव ॥१६॥

उपकण्ठमकम्पनादयः प्रवरस्याश्रुतचारुवारयः ।
विरहाविरहाशया बभुरनुकुर्वन् स च तान् ययौ प्रभुः ॥१७॥

उपकण्ठमिति । तत्राकम्पनादयोऽतिनिकटसम्बन्धिनस्ते प्रवरजयकुमारस्योपकण्ठं समीपं सन्त आश्रुताऽऽकर्णिता चार्वी जयकुमारकथिता वारिर्वाणी यैस्ते, तथाऽऽश्रुतं चारु-स्नेहसूचकं वारिनेत्रजलं येषां ते विरहेण हेतुनाऽऽविरुद्भूतोऽहेतिशब्दो यत्र तादृगाशयोऽभि-

---

अर्थ : रथके आगे चलनेवाले लोगोंने मार्गमें खड़े लोगोंसे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—अरे तुम लोग रास्ता रोककर बिलकुल निर्भय कैसे खड़े हो। तुरन्त तुम एक ओर हो जाओ । देखो; हस्तिनागपुरके राजा अपने परिकर-सहित आ रहे हैं; अरे भाई तुम लोग बेखबर कैसे हो ? देखो—इस ओर घोड़ोंका समूह आ रहा है और इधर यह हाथियोंकी पंक्ति आ रही है। इधर यह रथोंका समूह आ रहा है। हे ढीठ ! क्या देख रहा है; क्या तुझे दिखता नहीं कि लोग चले आ रहे हैं इसलिए इस अपने छोटे बच्चेको रास्तमें-से जल्दी उठा ले। इस प्रकार उच्च स्वरसे कहता हुआ हाथमें बेंत लिए अग्रगामी व्यवस्थापक जन-समुदाय वाले मार्गको भीड़-रहित करता जा रहा था ॥ १३–१६ ॥

अन्वय : प्रवरस्य उपकण्ठम् आश्रुतचारुवारयः विरहाविरहाशयाः अकम्पनादयः बभुः स च प्रभुः तान् अनुकुर्वन् ययौ ।

अर्थ : जिनकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं ऐसे अकम्पनादि जयकुमारके समीप होकर चल रहे थे और विरहका खेद प्रकट करते जा रहे थे। परन्तु

प्रायो येषां ते तादृशा बभुः शुशुभिरे । स प्रभुर्जयकुमारश्च तान् सर्वान् अनुकुर्वन् नाहं भवद्भ्यो दूरमित्यादिसौहार्दसूचकं वाक्यमुच्चरन् ययौ ॥ १७ ॥

अनुगम्य जयं धृतानतिः प्रतियाति स्म स मण्डलावधेः ।
अनिलं हि निजात्तटात्सरोवरभङ्गश्चटुलापतां गतः ॥१८॥

अनुगम्येति । सोऽकम्पनादीनां वर्गश्चटुलापतां गतः प्रासङ्गिकमधुरवार्तालापं कुर्वन्, तथा धृता स्वीकृताऽऽनतिर्नमस्कारो येन तथाभूतः सन्, जयमनुगम्य मण्डलस्य देशस्य योऽवधिः सीमा ततः प्रतियाति स्म निवृत्तोऽभूत् । हि यथा सरोवरस्य भङ्गस्तरङ्गोऽनिलं वायुमनुगम्य निजात्तटान्निवर्तते तथा । उपमालङ्कारः ॥ १८ ॥

सुदृशा सहितस्ततो हितोऽनुगतोऽसौ नृपतेः सुतैरगात् ।
अनुवासनयाऽन्वितोऽनिलः सरसः सम्प्रति शीकरैरिव ॥१९॥

सुदृशेति । ततः पुनरसौ हितः स्व-परकुशलचिन्तको जयकुमारः सुदृशा सुलोचनया सहितो भूत्वा, नृपतेरकम्पनस्य सुतैर्हेमाङ्गदादिभिरनुगतोऽभूत् । अनुवासनया सुगन्धवत्तया-ऽन्वितो युक्तः सरसोऽनिलो वायुः शीकरैर्जलकणैरिव यथा दृश्यते युक्तस्तथेत्यर्थः उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

धवसम्भवसंश्रवादितो गुरुवर्गाश्रितमोहतस्ततः ।
नरराजवशादृशात्मसादपि दोलाचरणं कृतं तदा ॥२०॥

वर-राज जयकुमार उन्हें आश्वासन देते चले जा रहे थे (कि मैं आप लोगोंसे भिन्न या दूर नहीं हूँ) ॥ १७ ॥

अन्वय : चटुलापतां गतः सरोवरभंगः निजात्तटात् अनिलं हि स मण्डलावधेः जयं अनुगम्य धृतानतिः प्रतियाति स्म ।

अर्थ : मधुर आलाप करता हुआ जन-समुदाय जयकुमारका अनुगमन करता हुआ अपने देशकी सीमा तक जाकर वापिस लौट आया । जैसे कि सरोवरके जलकी तरंग पवनका अनुगमन करके अपने तटसे वापिस आ जाता है ॥ १८ ॥

अन्वय : सम्प्रति अनुवासनयान्वितः सरसः अनिलः शीकरैरिव असौ हितः ततः सुदृशा सहितः नृपतेः सुतैः अनुगतः अगात् ।

अर्थ : इसके बाद सुलोचना-सहित ओर राजा अकम्पनके पुत्रों सहित वह जयकुमार आगे बढ़ा जैसे कि पवन सरोवरपरसे कमलोंकी सुगन्धरूप वासना-को लेकर कुछ जलके कणोंको साथ लेकर आगे बढ़ता है ॥ १९ ॥

धवेत्यादि । धवः स्वामी ततः सम्भवो यस्य स चासौ संश्रवः प्रेम तस्मादित एकत-स्ततः पुनरन्यतो गुरुवर्गमाश्रितो जननी-जनकादिसम्भूतश्चासौ मोहः सम्पर्कभावस्ततो नरराजस्य अकम्पनस्य वशा कन्या सुलोचना, तस्या दृग्दृष्टिस्तस्यापि तदा दोलाया आचरणं, क्षणमितः क्षणं तत इत्येवं रूपमात्मसात्कृतम् । वशा स्त्रियां सुतायाञ्चेति विश्वलोचनः २० ॥

चिरतः प्रियचारुकारिभिः सुदृशः सम्वारिता पितुः स्मृतिः ।
प्रियनर्ममहाम्बुधावपि स्थितवान् मातृवियोगवाडवः ॥२१॥

चिरत इति । चिरतो दीर्घकालतः सुलोचनायाः प्रियस्य जयकुमारस्य याश्चारवोऽत्यन्तमनोहराः कारवः क्रिया नर्मसम्भावणाविरूपास्ताभिः कृत्वा पितुर्जनकस्य या स्मृतिः सा तु सम्वरिता निवृत्ता जाताऽपितु प्रियेण सम्पादितो योऽसौ नर्ममहाम्बुधिश्चाटुकारसमुद्रस्तस्मिन्नपि पुनर्मातुर्यो वियोगः स एव वाडवो जलाग्निः स तु स्थितवानेव, अवर्तत एव ॥ २१ ॥

पितरौ तु विषेदतुः सुतां न तथाऽऽजन्मनिजाङ्कवर्द्धिताम् ।
प्रविसृज्य तौ यथा दुहितुर्नायकमुल्लसद्गुणम् ॥२२॥

अन्वय : तदा नरराजवशादृशा इतः धवसम्भवसंश्रवात् ततः गुरुवर्गाश्रितमोहतः दोलाचरणं अपि आत्मसात् कृतम् ।

अर्थ : उस समय इधर तो पतिका प्रेम और उधर माता-पिता गुरुजनोंके वियोगका मोह होनेसे सुलोचनाको दृष्टिने उस समय हिंडोलेका अनुकरण किया । अर्थात् कभी उनकी दृष्टि पतिकी ओर जाती थी और कभी वापिस लौटते हुए गुरुजनोंकी ओर जाती थी ।। २० ।।

अन्वय : सुदृशः पितुः स्मृतिः प्रियचारुकारिभिः चिरतः सम्वरिता, (किन्तु) मातृवियोगवाडवः प्रियनर्ममहाम्बुधौ अपि स्थितवान् ।

अर्थ : अब जयकुमारके मधुर वचनालापसे बड़ी देरमें सुलोचनाको जो पितादिकी स्मृति हो रही थी वह तो दूर हो गई, फिर भी जयकुमारका विनोद पूर्ण वार्तालाप समुद्रके समान महान् होनेपर भी माताके वियोगकी बडवाग्निको शान्त नहीं कर सका । अर्थात् माताकी याद तो उसके हृदयमें आती ही रही ।। २१ ।।

अन्वय : पितरौ तु आजन्म निजाङ्कवर्द्धितां सुतां प्रविसृज्य न तथा विषेदतुः यथा उल्लसद्गुणं दुहितुः नायकम् विसृज्य तौ (विषेदतुः) ।

पितराविति । पितरौ सुलोचनाया जननी-जनकौ तु पुनर्यया यावृप्रीत्या, उल्लसन्ति प्रस्फुरन्ति गुणाः शौर्यादयो यस्मिंस्तमुल्लसद्गुणं दुहितुर्नायकं जयकुमारं विसृज्य विदां कृत्वा विवेदतुः विषादं जग्मतुस्तथा तावृप्रीत्याऽऽजन्मोत्पत्तिकालादद्यावधि निजेऽङ्के क्रोडे वर्द्धितां संल्लालितां सुतां प्रविसृज्य न विवेदतुः ॥ २२ ॥

विभवाद्भिवाजिराजिवान् जनताया घनतां श्रितो भवान् ।
महितो दयितो भुवः प्रिया-सहितोवासहितो ययौ धिया ॥२३॥

विभवादीति । भुवो दयितोऽत्यन्तप्रियो जयकुमारो भवान् स इभा गजाश्च वाजिनो हयाश्च तेषां राजयः पङ्क्तयस्तद्वानेव जनतायाः प्रजाया घनतामनल्पतां श्रितो बहुजनसहितस्तथा प्रियया सुलोचनया सहित:, किञ्च धिया बुद्ध्या वा सहितो वासो वासो जन्मभूतिस्तस्य हितः सुखकारक एवं महितः सर्वैः सम्मानितः सन् विभवात्समारोहाद् ययौ चचाल । अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ २३ ॥

कियती जगतीयती गतिर्नियतिर्नो वियति स्विदित्यतः ।
वियदिङ्गणरिङ्गणेन ते सुगमा जग्मुरितस्तुरङ्गमाः ॥२४॥

कियतीति । अहो इयती जगती भूमिरस्मभ्यं कियती ? किन्तु स्वल्पा, अन्ततो नोऽस्माकं गतिर्वियति गगन एव भवितेति स्विदतो विचारेण किल तुरङ्गमा हयास्ते वियति यदिङ्गणं समुद्गमनं तेन सहितं रिङ्गणं शनैर्गमनं तेन सुगमा सुष्ठु शोभनो गमा मार्गो येषां ते तथा सन्तः इतो जग्मुः । उत्प्रेक्षानुप्रासयोः सङ्करः ॥ २४ ॥

अर्थ : इधर सुलोचनाके माता-पिता जिन्होंने जन्मसे लेकर आज तक उसे गोदमें खिलाया था उसे विदा करनेपर इतने खेद-खिन्न नहीं हुए जितने कि गुणशाली जमाताको विदा करनेमें दुखी हुए ॥ २२ ॥

अन्वय : भुवः दयितः धिया महितः वासहितः प्रिया-सहितः जनताया घनतां श्रितः इभवाजिराजिवान् भवान् विभवात् ययौ ।

अर्थ : हाथी, और घोड़ोंकी पंक्तिवाला, और जनताके समूहवाला एवं सुलोचना सहित आदरणीय वह बुद्धिमान् जयकुमार भारी वैभवके साथ रवाना हुआ ॥ २३ ॥

अन्वय : इतः सुगमा तुरङ्गमाः—इयती जगती कियती नियतिः स्वित् नः गतिः वियति इत्यतः ते वियदङ्गणरिङ्गणेन जग्मुः ।

अर्थ : चलते समय वहाँ घोड़ोंने विचार किया कि यह पृथ्वी कितनी है ? अन्तमें तो हमको आकाशमें ही चलना होगा, ऐसा सोचकर ही मानों वे आकाशमें उछलते हुए गमन कर रहे थे ॥ २४ ॥

रजसि प्रबले बलोद्धते मदवारा गजराजसन्ततेः ।
शमिते गमितेच्छुभिः सुखादवबुद्धा पदवी पदातिभिः ॥२५॥

रजसीति । बलेन सेनासमूहेन गमनेनोद्धृतं गगनव्याप्तं तस्मिन् प्रबले रजसि रेणौ च गजराजानां सन्ततेः परम्पराया मदवाः कटजलं तेन शमिते शान्ते सति तत्र गमितेच्छुभिर्गमिषुभिः पदातिभिः पादचारिभिर्लोकैः पदवीमार्गरथ्या सुखादवबुद्धाऽवगताभूत् ॥ २५ ॥

खुरपातविदारिताङ्गणैर्जवि वाहैर्विषमीकृतेऽध्वनि ।
चलितं वलितं समुच्चलच्चरणत्वेन शताङ्गमालया ॥२६॥

खुरेत्यादि । खुराणां पातेन विदारितं विदीर्णमङ्गणं भूतलं यैस्तैः, जविभिरतिशीघ्रगामिभिर्वाहैर्घोटकैर्विषमीकृते नीचोच्चीकृतेऽध्वनि मार्गे तत्र शताङ्गानां रथानां मालया पङ्क्त्या समुच्चलन्ति चरणानि यत्र तथात्वेन वलितमरालतयेव चलितं गमनं कृतम् ॥२६॥

इतरस्य न वीरकुञ्जरः सहतेऽयं करपातमित्यसौ ।
रविराशु निरोहितोऽभवद् व्यनपायिध्वजचीवरान्तरे ॥२७॥

इतरस्येति । अयं वीरकुञ्जरः शूरशिरोमणिर्जयकुमार इतरस्य कस्यापि करपातं शुल्कसमादानं किरणक्षेपं वा न सहते किलेतीव संवदितुमसौ रविः सूर्यस्तदानीं व्यनपायीनि विच्छेदरहितानि ध्वजानां चीवराणि वस्त्राणि तेषामन्तरेऽभ्यन्तरस्तिरोहितोऽभवदभूत् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २७ ॥

अन्वय : प्रबले बलोद्धते रजसि गजराज-सन्ततेः मदवारा शमिते गमितेच्छुभिः पदातिभिः पदवी सुखात् अवबुद्धा ।

अर्थ : सेनाके जमघटसे भूमिकी रज बहुत उड़ी, किन्तु गजोंके झरते हुए मदके जलसे वह वापिस दब गई, अतः गमन करनेकी इच्छावाले पदाति लोगोंको मार्ग सुख-प्रद ज्ञात हो रहा था ॥ २५ ॥

अन्वय : खुरपातविदारिताङ्गणैः जविवाहैः विषमीकृते अध्वनि शताङ्गमालया समुच्चलच्चरणत्वेन वलितं चलितम् ।

अर्थ : वेगवाले घोड़ोंकी टापोंके पड़नेसे भूतल विदीर्ण हुआ मार्ग कुछ विषम (ऊबड़-खाबड़) होता जा रहा था उसमें रथोंकी पंक्ति तिरछी होकर चल चल रही थी ॥ २६ ॥

अन्वय : अयं वीरकुञ्जरः इतरस्य करपातम् न सहते इति असौ रविः व्यनपायिध्वजचीवरान्तरे आशु तिरोहितः अभवत् ।

अर्थ : यह वीरकुंजर जयकुमार दूसरेके कर (टैक्स-हासिल) को सहन नहीं

यदसङ्ख्यकरा नृपास्त्रपां भुवि नीता विभुनाऽमुना पुनः ।
क्व महस्तव तत्सहस्रिणो रविमश्वा ह्युदधूलयन् खुरैः ॥२८॥

यदसङ्ख्येत्यादि । यद् यस्मात्कारणाद् भुवि पृथिव्यां येऽसङ्ख्यकराः सङ्ख्यातीत-शुल्कवन्तोऽपि नृपा अपि, अमुना विभुना स्वामिना त्रपां नीताः पराजयमापितास्तदा पुनस्तेषां कराणां सहस्रिणः सहस्रकिरणस्य महस्तेजस्तत्तव क्व वर्तते ? इतीव किल ते घोटका रविं खुरैः स्वपादशफैरुदधूलमत् छादयन्ति स्म । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २८ ॥

द्विषतां हि मनांसि तद्ध्वजे शितशोणोज्ज्वललोलतां ययुः ।
त्रपया कृपयाऽथ वल्लभा विरहेणापि भयेन भूपतेः ॥२९॥

द्विषतामिति । तस्य जयकुमारस्य ध्वजे निःशाणाख्ये द्विषतां वैरिणां मनांसि हि किल समारोपितानि, जयकुमारेण पराजितत्वात् । त्रपया, अथ जयकुमारेणाभयदानं वस्वोन्मुक्तत्वात्कृपयाऽपि वल्लभानां स्वस्ववनितानां विरहेण भूपतेश्च भयेन कदाचिज्जय-कुमारस्य पुनरपि कोपो न स्यादित्याशङ्कया शितं श्यामं शोणमरुणमुज्ज्वलं धवलं लोलञ्चलञ्चैतेषां चतुर्णां धर्माणां समाहारस्तत्तां ययुः प्रापुः । अत्र यथासङ्ख्यसहेतुकालङ्कारयोः सङ्करः ॥ २९ ॥

कर सकता, ऐसा सोचकर ही अखण्डरूपसे फैलनेवाली ध्वजाओंके वस्त्रोंके बीचमें सूर्य अपने आप ही अन्तर्हित हो गया ॥ २७ ॥

अन्वय : यत् भुवि अमुना विभुना असङ्ख्यकरा नृपाः त्रपां नीता, पुनः तत्सहस्रिणः तव महः क्व हि अश्वाः खुरैः रविम् उदधूलयन् (ययुः)।

अर्थ : इस राजा जयकुमारने असंख्य करवाले राजाओंको भी नीचा दिखाया है—फिर सहस्रकर (किरण), वाले तुम्हारा तेज तो है ही क्या, यह कहते हुए ही मानों घोड़े सूर्य की ओर धूलिको उड़ाते हुए जा रहे थे ॥ २८ ॥

अन्वय : तद्ध्वजे हि द्विषतां मनांसि त्रपया अथ वल्लभाविरहेण अपि भूपतेः भयेन शितशोणेज्वललोलतां ययुः ।

अर्थ : उस राजा जयकुमारके ध्वजदंड (निशान) में चार बातें थी, काला लाल, सफेद तीन रंग और चंचलता । इसपर उत्प्रेक्षा है कि राजा जयकुमार-की ध्वजामें मानों शत्रु-राजाओंके मन ही निम्न प्रकारसे अंकित थे जो कि १. लज्जाके मारे तो काले पड़ गये थे, २. जयकुमारकी उनपर कृपा भी थी इसलिए अनुरागवश लाल भी थे, ३. अपनी वल्लभाओंसे दूर हो जानेसे सफेद पड़ गये थे और राजाके भयसे काँप भी रहे थे ॥ २९ ॥

किमनर्गलसर्पिणे स्थितिं क्षमता दातुमहो बलाय मे ।
त्रपयेव रजस्यथोद्धते मुखमेवं नभसा निगोपितम् ॥३०॥

किमनर्गलेत्यादि । अनर्गलसर्पिणेऽव्याहतं प्रसारं कुर्वतेऽमुष्य बलाय स्थितिं दातुं किं मे क्षमताऽस्ति ? अहो इत्याश्चर्ये । अथ एतावद्विशालायास्य बलाय स्थितिं दातुं मे सामर्थ्यं नेवास्तीति अपया ह्रियेव तदोद्धते समुत्थिते रजसि नभसा मुखं निगोपितमासीत् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३० ॥

अवरोधनभाञ्जि राजितो नरयानानि चलन्ति विस्तृते ।
अतिमात्रमनीकनीरधौ निदधुः सत्तरणिश्रियं तदा ॥३१॥

अवरोधनेत्यादि । अनीकं सैन्यमेव नीरधिः समुद्रस्तस्मिन् विस्तृतेऽतिविस्तारयुक्ते राजितः पङ्क्तिबद्धतया चलन्ति यान्यवरोधनभाञ्जि, अन्तःपुरसम्वाहकानि नरयानानि तानि तदा समीचीनानां तरणीनां नौकानां श्रियं शोभामतिमात्रं यथा स्यात्तथा निदधुः स्वीचक्रुः । रूपकम् ॥ ३१ ॥

प्रसृते खलु सैन्यसागरे मकराकारधरा हि सिन्धुराः ।
समुदञ्चितहस्तबन्धुराः क्रमशश्चेलुरुदीर्णवार्दरे ॥३२॥

प्रसृत इति । प्रसृते प्रसारं गते सैन्यमेव सागरस्तस्मिन् समुदञ्चिता उत्थापिता ये हस्तास्तैर्बन्धुरा मनोहरा ये सिन्धुराः करिणस्ते हि किलोदीर्णं वारां जलानां दरं यत्र तस्मिन् मकराकारधराः सन्तः क्रमशश्चेलुः । रूपकालङ्कारः ॥ ३२ ॥

अन्वय : अहो अनर्गलसर्पिणे बलाय स्थितिं दातुं किं मे क्षमता ? एवं त्रपयेव अथ उद्धते रजसि नभसा मुखं निगोपितम् ।

अर्थ : इस राजा जयकुमारका सेना दल जो बहुत तेजीके साथ फैल रहा है इसको स्थान देनेके लिए मेरेमें कहाँ सामर्थ्य है ? ऐसा सोचकर स्वयं आकाशने भी उठतीं हुई धूलिमें अपने आपके मुखको छिपा लिया ॥ ३० ॥

अन्वय : अतिमात्रं विस्तृते अनीकनीरधौ अवरोधनभाञ्जि राजितः चलन्ति नरयानानि तदा सत्तरणिश्रियं निदधुः ।

अर्थ : जिनमें अन्तःपुरकी स्त्रियाँ बैठी हुई हैं और जो पंक्ति बद्धरूपसे चल रहे हैं ऐसे नर-यान (पालकी-मियाने) उस विस्तृत सेनारूपी समुद्रमें उत्तम नौकाओंकी शोभाको धारण कर रहे थे ॥ ३१ ॥

अन्वय : उदीर्णवार्दरे खलु प्रसृते सैन्यसागरे समुदञ्चित-हस्तबन्धुराः सिन्धुराः हि मकराकारधराः क्रमशश्चेलुः ।

अयनं कियदेतदिष्यते यदि दीर्घाध्वगवाच्यताऽस्ति नः ।
इति गर्जनयान्वितः स्वतो मयवर्गो व्रजति स्म वेगतः ॥३३॥

अयनमिति । यदि लोकोऽस्माकं दीर्घमध्वानं गच्छन्तीत्येवं दीर्घाध्वगवाच्यतास्ति, तदैतदयनं वर्त्म कियदिष्यते ? न किमपीति स्वतोऽनायासेन गर्जनयान्वितः सन् मयानामुष्ट्राणां वर्गः समूहो वेगतो व्रजति स्म चचाल ॥ ३३ ॥

अनसां घनसारशालिनां जलयानोपमिनां समुच्चयः ।
बलवाजनिधौ सुविस्तृते स च वव्राज जवेन राजितः ॥३४॥

अनसामिति । सुविस्तृते परिणाहपूर्णे बलवाजनिधौ सैन्यसागरे जलयानानां पोतानामुपमा येषां ते तेषां घनसारशालिनां मार्गोपयोगिवस्तुसङ्ग्रहवतां अनसां शकटानां समुच्चयः स च राजितः पङ्क्तिबद्धतया जवेन वेगेन वव्राज । रूपकोपमयोः सङ्करः ॥३४॥

रथमण्डलनिस्वनैः समं करिणां बृंहितमानिजुह्नुवे ।
पुनरत्र तुरङ्गहेषितं स्वतितारं सुतरामराजत ॥३५॥

रथेत्यादि । रथानां मण्डलं समूहस्तस्य निस्वनैश्चीत्कारैः समं सार्धं करिणां बृंहितं गर्जितं तदानिजुह्नुवे व्यानशे । अत्रापि पुनस्तुरङ्गहेषितं तु स्वतितारमुच्चैःस्वरं सुतराम-राजत । अत्र रथादीनां शब्देन सम्मिश्रणेऽपि तुरङ्गहेषितस्य पृथक् प्रतिपादनात्तद्गुणो-ऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

अर्थ : फैलते हुए शोभित जलवाले सैन्य-सागरमें जो हाथी थे वे मकर सरीखे प्रतीत होते थे जिन्होंने अपनी सूँडोंको ऊपर उठा रखा था ॥ ३२ ॥

अन्वय : यदि नः दीर्घाध्वगवाच्यतास्ति (तदा) एतत् अयनं कियत् इष्यते ? इति स्वतः गर्जनयान्वितः मयवर्गः वेगतः व्रजति स्म ।

अर्थ : जब कि लोग हमको दीर्घाध्वग (लम्बे चलनेवाला) कहते हैं तो मार्ग फिर हमारे लिए कितना सा है ऐसा कहता हुआ ही मानों गर्जना करता ऊँटोंका समुदाय स्वयं ही प्रबल वेगसे दौड़ता हुआ चल रहा था ॥ ३३ ॥

अन्वय : सुविस्तृते बलवाजनिधौ घनसारशालिना जलयानोपमिनां अनसा समुच्चयः स च राजितः जवेन वव्राज ।

अर्थ : उस विस्तृत सेनारूपी समुद्रमें जहाजकी तुलना रखनेवाली धनसे भरी हुई गाड़ियोंका समूह पंक्तिबद्ध होकर बड़ी तेजीसे चल रहा था ॥ ३४ ॥

अन्वय : रथमण्डलनिस्स्वनैः समं करिणां तद् बृंहितं आनिजुह्नुवे । अत्र पुनः तुरङ्गहेषितं तु अतितारं सुतराम् अराजत ।

दधता सुसृणिं त्वरावता शिर ऊर्ध्वायतदन्तमण्डलम् ।
चलितोऽन्यगजं प्रतीभराड् बहु धुन्वन् कथमप्यरोधि सः ॥३६॥

दधतेति । ऊर्ध्वायतदन्तमण्डलमुच्चैर्लम्बमानरदचक्रं स्वशिरो बहु धुन्वन् सन्नन्यगजं प्रति चलित इभराड् मुख्यहस्ती सुसृणिं प्रशस्ताङ्कुशं दधता स्वीकुर्वता तथा त्वरावता शीघ्रकारिणा हस्तिपकेन कथमपि बहु परिश्रमेणारोधि निवारितः ॥ ३६ ॥

गगनाङ्गणमाशु चञ्चलैर्ध्वजिनी सम्प्रति केतनाञ्चलैः ।
सरजो विरजोऽभिवन्दितुं सहसा सा स्म विमर्ष्टि नन्दितुं ॥३७॥

गगनेत्यादि । ध्वजिनी सेना, सरजो धूलिधूसरितं गगनाङ्गणं रजसा रहितमाश्वभिवन्दितुमवलोकयितुमेवं स्वयं नन्दितुं प्रसादमाप्तुं सहसा सम्प्रति चञ्चलैः केतनानामञ्चलैः विमार्ष्टि स्म । उत्प्रेक्षालङ्कृतिः ॥ ३७ ॥

जयनं नयनं प्रसार्यतां स्खलतीतः पतदङ्गनाकुलम् ।
यदुदीक्ष्य जवेन सौविदो भवति स्तम्भयितुं स्म विक्लवः ॥३८॥

अर्थ : उस सेना-दलमें रथोंकी आवाजके साथ-साथ हाथियोंके चिंघाड़ भी यद्यपि बड़े जोरसे हो रही थी, फिर भी घोड़ोंकी हिनहिनाहट तो बहुत ही जोरदार थी जो कि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बतला रही थी ॥ ३५ ॥

अन्वय : ऊर्ध्वायतदन्तमण्डलं शिरः बहु धुन्वन् अन्य गजं प्रति चलितः इभराट् सुसृणिं दधता त्वरावता सः कथमप्यरोधि ।

अर्थ : जिसने ऊपरकी ओर दन्त-मण्डल वाले अपने शिरको ऊँचा उठाया है और जो दूसरे हाथीके सम्मुख जानेके लिए शिरको बार-बार हिला रहा है, ऐसा गजराज तीक्ष्ण अंकुश धारण करनेवाले महावतके द्वारा बड़ी कठिनाईसे रोका गया ॥ ३६ ॥

अन्वय : सम्प्रति सरजः गगनाङ्गणम् विरजः अभिवन्दितुं सा ध्वजिनी आशु चञ्चलैः केतनाञ्चलैः नन्दितुं सहसा विमार्ष्टि स्म ।

अर्थ : घोड़ोंकी टापोंकी धूलिसे धूसरित आकाशको निर्मल बनाने और प्रसन्न करनेके लिए सेना अपने हिलते हुए ध्वजाके वस्त्रों द्वारा बार-बार साफ करती आ रही थी ॥ ३७ ॥

अन्वय : नयनं प्रसारयतां इतः पतदङ्गनाकुलं जयनं स्खलति तत् उदीक्ष्य सौविदः

अयि पश्यत दृश्यमद्भुतं भरमुत्क्षिप्य मयोऽदयो द्रुतम् ।
अभिधावति चायताधरः स्विदितोऽयं नितरां भयङ्करः ॥३९॥

अवलोक्य ललामलञ्जिका-लपनं विस्मयमाप्तवान् युवा ।
नहि वेत्ति निजं स्मरादरस्तुरगाक्रान्तमपीत इत्यसौ ॥४०॥

इति वर्त्मविवर्तवार्तया सहसाप्तानि पदानि सेनया ।
पदवीह दवीयसी च या समभूत्सापि तनीयसी तया ॥४१॥

जघनमिति । भो भवनं प्रसार्यतामवलोक्यतामितः पतदङ्गनाकुलं स्खलत्स्त्रीसमूहो यस्मात्तत्जघनं वाजिकञ्चुकं स्खलति, इति केनचिदुक्ते सति, यदुदीक्ष्य सौविदः कञ्चुकी जवेन वेगेन तत्स्तम्भयितुं स्थिरीकर्तुं विकलवो व्याकुलो भवति स्म । 'जघनं तु जये वाजि गजप्रभृति कञ्चुके' इति विश्वलोचनः ॥ ३८ ॥

अयीति । अयि लोकाः अद्भुतं दृश्यं पश्यत, यन्मय उष्ट्रो भरं निजपृष्ठस्थं सम्बल-भारमुत्क्षिप्य द्रुतमदयो दयारहितः सन् नितरां भयङ्करो भवन्नयमायतो दीर्घो लम्बमानो-ऽधरो यस्य स एवम्भूतोऽभिधावति स्विदितः प्रवेशात् । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ३९ ॥

अवलोकयेति । अपीतोऽसौ युवा नरो लञ्जिकाया वेश्याया लपनं, यल्ललाम दर्शनीयं तदवलोक्य विस्मयमाश्चर्यमाप्तवान् इत्यतः स्मरे कामसेवने, आदरो यस्य स स्मरादरः सुरताभिलाषी भवन् निजं स्वं तुरगाक्रान्तमपि न वेत्ति जानाति ॥ ४० ॥

इतीति । इत्युक्तप्रकारेण वर्त्मायनमेव विवर्तोऽवस्थानं यस्याः सा वर्त्मविवर्ता, सा

जवेन स्तम्भयितुं प्रविक्लवः भवति । अयि अद्भुतं दृश्यम् पश्यत स्विदितः अयं नितरां भयङ्करः च आयताधरः अदयः मयः द्रुतं भरम् उत्क्षिप्य अभिधावति । ललामलञ्जिकालपनं अवलोक्य विस्मयम् आप्तवान् युवा इत्यसौ इतः स्मरादरः निजं तुरगाक्रान्तम् अपि न हि वेत्ति । इति वर्त्मविवर्तवार्तया सेनया सहसा पदानि आप्तानि तया इह या पदवी दवीयसी च सा अपि कनीयसी समभूत् ।

अर्थ : देखो, यह इधर वाहन परसे जवन (जीन) गिर रही है जिससे स्त्रियाँ नीचे गिरने वाली हैं, उसे देखकर थामनेके लिए कंचुकी (खोजा) अति व्याकुल हो रहा है ॥ ३८ ॥ इधर एक अद्भुत बात देखो, कि ऊँट दया-रहित होकर अपने ऊपर लदे हुए भारको नीचे जमीन पर पटक कर अपने होंठ को लम्बा करते हुए भाग रहा है जो कि बड़ा भयंकर प्रतीत हो रहा है ॥ ३९ ॥ इधर देखो, कि यह जवान आदमी वेश्याके सुन्दर मुखको देखकर आश्चर्यमें पड़ गया है जो कि कामके वशमें हुआ अपने पर आक्रमण करने वाले घोड़ेकी ओर भी नहीं देख रहा है, अर्थात् इतना काम-विह्वल है ॥ ४० ॥ इस प्रकारसे मार्गमें

वार्ता वार्ता तया पथिगतवार्तया हेतुभूतया सेनया सहसा पदान्याप्तानि, अतस्तस्याः सेनाया या किलैह दवीयसी दीर्घतरापि पदवी पद्धतिरासीत्सा तनीयसी स्वल्पतरा समभूत् । अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ४१ ॥

वनभूमिरुपागता गता जनभूमिर्ननु जानता नता ।
फलितैः फलिनैर्गताङ्गताऽप्युचितेन प्रभुणा सता सता ॥४२॥

वनभूमिरिति । उचितेनोपयुक्ताचारिणा जानता सताऽवलोकमानेन प्रभुणा जयकुमारेण सता भवता, सता सज्जनेन जनभूमिर्नगरभूर्गताऽतिलङ्घिता, तथा वनभूमिरुपागता सम्प्राप्ता, कीदृशी, फलितैः फलयुक्तैः फलिनैः पादपैर्नता नम्रीभूता, अतएव गताङ्गताऽनुकूलता यया सा गताङ्गता । अनुप्रासालङ्कृतिः ॥ ४२ ॥

ननु यस्य गुणैषणा मतिः सहसा छादयितुं महीपतिः ।
विवराणि भुवोऽनुचिन्तयन्निव दृष्टिं तनुते स्म स स्वयम् ॥४३॥

अथेति । अथ महीपतिर्जयकुमारो यस्य मतिर्गुणानन्विष्यतीति गुणैषणा सद्गुणान्वेषिणी, स स्वयमात्मना भुवो विवराणि छिद्राणि छादयितुं गोप्तुमनुचिन्तयन्निव सहसा दृष्टिं तनुते स्म विस्तारयामास । कथमपि भूमिर्निश्छिद्रा निर्दोषा स्यादितीव ददर्श । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४३ ॥

दृशमाशु दिशासु वीक्ष्य तं विकिरन्तं नृपमाह सारथिः ।
विषयातिशयं महाशयोऽभ्यनुगृह्णन्ननुषङ्गसम्भवम् ॥४४॥

अनेक प्रकारका वार्तालाप करते हुए सेनाने शीघ्रतापूर्वक गमन किया, जिससे कि वह बहुत लम्बा मार्ग भी छोटा-सा प्रतीत होने लगा ॥ ४१ ॥

अन्वय : ननु जानता मता सता प्रभुणा उचितेन अपि फलितैः फलिनैः गताङ्गनता वनभूमिरुपागता जनभूमिः गता ।

अर्थ : राजा होते हुए भी उत्तम भावनाओंको महत्त्व देनेवाले जयकुमार जन-भूमि (नगर-बस्ती) को छोड़कर वन-भूमिमें आ गये । वह वन-भूमि कैसी है ? जो कि फलवाले वृक्षोंसे विनम्र होकर बहुत सुन्दर है ॥ ४२ ॥

अन्वय : ननु यस्य गुणैषणा मतिः (स) महीपतिः भुवः विवराणि सहसा छादयितुं अनुचिन्तयन् इव स्वयं दृष्टिं तनुते स्म ।

अर्थ : निश्चयसे जिनकी बुद्धि सदा गुणोंको ही देखा करती है ऐसे महाराज जयकुमारने पृथ्वीके छिद्रोंको (दोषोंको और बिलोंको) अवलोकन करते हुए उन्हें ढकनेके लिए चारों ओर देखा ॥ ४३ ॥

दृशमिति । तदा सारथी रथवाहकस्तं दिशासु दृशं विकरन्तं नृपं वीक्ष्य, आशु अनुषङ्ग-सम्भवं प्रसङ्गप्राप्तं विषयस्य देशस्यातिशयं महत्त्वमभ्यनुगृह्णन् स महाशयो निम्नोक्त-रीत्याह जगाद ॥ ४४ ॥

अपि वालववालका अमी समवेता अवभान्ति भूपते ।
विपिनस्य परीतदुत्करा इव वृद्धस्य विनिर्गता इतः ॥४५॥

अपीति । भो भूपते, अमी तावदितो वालवस्याजगरस्य बालकाः समवेतास्तेऽस्य वृद्धस्यातिविस्तृतस्य जरिणो वा विपिनस्य वनस्य विनिर्गता बहिर्भूताः परीततामन्त्राणा-मुत्कराः समूहा इवावभान्ति दृश्यन्ते । उपमालङ्कारः ॥ ४५ ॥

स्फटयोत्कटया समुच्छ्वसन्नयि षट्खण्डिबलाधिराडितः ।
अधुनाऽऽयततां महीरुहामनुगच्छन्निव याति पन्नगः ॥४६॥

स्फटयेत्यादि । अयि षट्खण्डिनश्चक्राधिपतेर्बलस्याधिराट् इतोऽयं पन्नगः सर्प उत्कटयोच्चैः कृतया स्फटया फणया समुच्छ्वसन् सन्नधुना महीरुहां वृक्षाणामायततां दीर्घता-मनुगच्छन्निव याति गच्छति । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४६ ॥

अन्वय : दिशासु दृशं वितरन्तं नृपं वीक्ष्य महाशयः सारथिः अनुषङ्गसम्भवं विषया-तिशयं अभ्यनुगृह्णन् तं आशु आह ।

अर्थ : इस प्रकार दिशाओंमें अपनी दृष्टिको फैलाते हुए जयकुमार महा-राजको देखकर उत्तम आशयवाले सारथीने प्रसंग-संगत उस देशकी विशेषताको इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥ ४४ ॥

अन्वय : अपि भूपते ! अमी वालव-बालका समवेता वृद्धस्य विपिनस्य परीतदुत्करा विनिर्गता इव इतः अवभान्ति ।

अर्थ : सारथीने कहा कि हे राजन् ? इधर देखिये—ये अजगरके बच्चे यहाँ इकट्ठे हुए पड़े हैं, वे ऐसे प्रतीत होते हैं कि इस बूढ़े वनको निकली हुई आँते ही हों ॥ ४५ ॥

अन्वय : अपि षट्खण्डबलाधिराड् इतः पन्नगः उत्कटया स्फटया समुच्छ्वसन् अधुना महीरुहाम् आयततां अनुगच्छन् इव याति ।

अर्थ : हे षट्खण्डि-बलाधिराट् (चक्रवर्तीके सेनापति) जयकुमार ! इधर देखिये कि यह साँप जो अपनी फणाको ऊँचा किये हुए और उच्छ्वास लेते हुए जा रहा है वह ऐसा प्रतीत होता है कि यह यहाँके वृक्षोंकी लम्बाई को ही नापता हुआ जा रहा है ॥ ४६ ॥

दरिणो हरिणा बलादमी तव धावन्ति मुधा महीपते ।
करुणासुपरायणादपि क्व पशूनान्तु विचारणा ह्यपि ॥४७॥

दरिण इति । हे महीपते, अमी हरिणास्तव बलात्करुणासुपरायणादपि मुधा व्यर्थमेव दरिणो भीता भवन्तो धावन्ति पलायन्ते । अथवा तु युक्तमेवैतद्, यतः पशूनां तु विचारणाऽनुचिन्तनात्मिका बुद्धिः क्व भवति ? न भवत्यतः पलायन्त इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ४७ ॥

द्विपवृन्दपदाद्दिगम्बरः सघनीभूय वने चरत्ययम् ।
निकटे विकटेऽत्र भो विभो ननु भानोरपि निर्भयस्त्वयम् ॥४८॥

द्विपेत्यादि । भो विभो, अत्र विकटे निर्जने वनेऽस्माकं निकटे द्विपानां हस्तिनां वृन्दस्य पदाच्छलात्सघनीभूय गाढतां प्राप्य अयं दिगम्बरोऽन्धकारश्चरति । योऽयं दिगम्बरोऽन्धकार एव यः स्वयं भानोरपि निर्भयः शङ्कारहितोऽस्ति । ननु निर्धारणे । 'ननु प्रश्नेऽवधारणे इति ।' दिगम्बरस्तु क्षपणे नग्ने ध्वान्ते च शूलिनि' इति विश्वलोचनः । अपह्नुतिरलङ्कारः ॥ ४८ ॥

विततानि वनस्य भो विभो शिखिपत्राणि मनोहराण्यमुम् ।
भवतो विभवं विलोकितुं नयनानीव लसन्ति भूरिशः ॥४९॥

विततानीति । भो विभो, शिखिनां मयूराणां पत्राणि चन्द्रकाञ्चिताश्छदा इत्यर्थः ।

अन्वय : हे महीपते ! करुणासुपरायणात् तव बलात् अपि दरिणो अमी हरिण मुधा धावन्ति पशूनां तु विचारणा अपि क्व ।

अर्थ : हे प्रभो ! देखिये—ये हरिण करुणामें अति तत्पर रहनेवाली आपकी सेनाके दलसे भी डरकर इधर-उधर भाग रहे हैं । सो ठीक है क्योंकि पशुओंको विचार कहाँसे हो सकता है ॥ ४७ ॥

अन्वय : भो विभो ! अत्र वने अयं दिगम्बरः द्विपवृन्दपदात् सघनीभूय विकटे निकटे ननु भानोः अपि निर्भयः स्वयं चरति ।

अर्थ : यहाँ देखिये—यह अन्धकार हाथियोंके झुण्डके बहानेसे इकट्ठा होकर इस विकट वनमें भानुसे भी निर्भय होकर समीप ही विचरण कर रहा है । अर्थात् यह वन इतना सघन है कि दिनमें भी जहाँ पर अंधेरा दिख रहा है ॥ ४८ ॥

अन्वय : भो प्रभो ! मनोहराणि विततानि शिखिपत्राणि अमुं भवतो विभवं विलोकितुं भूरिशः वनस्य नयनानि इव विभान्ति ।

यानि मनोहराणि विततानि विस्तारितानि च भूरिशोऽनेकवारस्तानि भवतोऽमुं वर्णनीयं विभवमैश्वर्यं विलोकितुं वनस्य नयनानीव लसन्ति शोभन्ते । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४९ ॥

विजरतरुकोटरान्तराद्दववह्निर्विपिनस्य बृंहिणः ।
रसनेव निरेति भूपते रविपादाभिहतस्य नित्यशः ॥५०॥

विजरविति । हे भूपते, नित्यशः सर्वदा रवेः सूर्यस्य पादैरभिहतस्तस्य, भानुकिरणाभिभूतस्य, बृंहिणो विशालस्य विपिनस्य काननस्य विजरश्चासौ तरुस्तस्य कोटरावन्तर्भागाद् दवश्चासौ वह्निर्दावानलो रसनेव निरेति निःसरति । यद्वा, बृंहिणः स्थाने बृहण इति पाठः स्यात्तदा दववह्नेर्विशेषणं स्यात् ॥ ५० ॥

पृषदेष विषाणडम्बरं शिरसा नीरसदारुसम्भरम् ।
निवहन्नुपयाति कातरः शनकैः सैन्यभयान्महीश्वर ॥५१॥

पृषदिति । हे महीश्वर, एष पृषन्मृगविशेषः शिरसा मूर्ध्ना नीरसश्चासौ दारुसम्भरः काष्ठनिचयस्तमिवेति शेषः । विषाणानां डम्बरः समूहस्तं भृङ्गभारं निवहन् धारयन् सैन्यभयात्कातरो भीत इव शनकैर्मन्दगत्या, उपयात्यागच्छति । गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५१ ॥

सुफलस्तनशालिनी मुहुर्मुहुरङ्गानि तु विक्षिपन्त्यपि ।
नृप सूनवतीव राजते द्रुममाला खलु विप्रलापिनी ॥५२॥

अर्थ : हे प्रभो ! इधर देखिये—सर्वत्र फैली हुयी मयूरोंकी पाँखें देखनेमें बहुत मनोहर लग रही हैं, मानों वे पाँखे न होकर आपके वैभवको देखनेकी अभिलाषासे फैलाये हुए इस वनके नेत्र ही शोभित हो रहे हैं ॥ ४९ ॥

अन्वय : भूपते ! नित्यशः रविपादाभिहतस्य बृंहिणः विपिनस्य विजरतरुकोटरान्तरात् दववह्नि रसना इव निरेति ।

अर्थ : हे भूपते ! इधर देखिये—यह तरुके कोटरमेंसे वनाग्निकी ज्वाला निकल रही है वह ऐसी प्रतीत होती है कि सूर्यके पैरोंसे निरन्तर सताये गये इस बूढ़े वनकी जीभ ही मानों निकल रही है ॥ ५० ॥

अन्वय : हे महीश्वर, सम्प्रति एष पृषत् शिरसा विषाणडम्बरं नीरसदारुसम्भरं निवहन् कातरः शनकैः उपयाति ।

अर्थ : हे महीश्वर ! यह इधर बारहसिगा जा रहा है जो कि अपने सिरपर सूखी लकड़ियोंके भारके समान अपने सींगोंके बोझेको वहन करता हुआ बोझेसे दबकर (कायर बनकर) धीरे-धीरे चल रहा है ॥ ५१ ॥

अन्वय : ननु विप्रलापिनी द्रुममाला खलु सुफलस्तनशालिनी अङ्गानि तु मुहुर्मुहुः

सुफलेत्यादि । हे नृप, द्रुमाणां वृक्षाणां माला पङ्क्तिः सूनवतीव गर्भवती स्त्रीव राजते शोभते । तदेवाह—सुफलाभ्येव स्तनाः पयोधरा यस्याः सा, तैः शालिनी रमणीया, तथा, मुहुर्मुहुर्वारंवारमङ्गानि शाखावीनि भुजादीनि वा विक्षिपन्ती, प्रचालयन्ती अपि च, विप्रलापिनी, वीनां पक्षिणां प्रलापो यस्यां सा, पक्षे च विलपन्ती, गर्भभारादिति भावः । खलु वाक्यालङ्कारे । श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥ ५२ ॥

पलितेव पुनः प्रवेणिका विजरत्या गहनावने रतः ।
समवाप सुपर्ववाहिनी भरतानीकविनेतुरग्रतः ॥५३॥

पलितेवेति । अतः पुनर्भरतानीकविनेतु र्जयकुमारस्य अग्रतः सम्मुखं सुपर्ववाहिनी गगनगङ्गा समवाप समागताभूद् या विजरत्या अतिवृद्धाया गहनावनेर्वनभूमेः पलिता श्वैत्यं गता प्रवेणिका कबरीभाराजत, इति शेषः ॥ उपमालङ्कारः ॥ ५३ ॥

विधुदीधितिबन्धुरा धरा-वलये व्याप्तिमती मनोहरा ।
नृपतेस्तु मुदे नदी किण-स्थिरतेवाग्रिमवर्षपत्रिणः ॥५४॥

विध्वित्यादि । या नदी गङ्गा विधोश्चन्द्रस्य दीधितिर्नाम रश्मिस्तद्वद्बन्धुरा शोभमानाऽस्मिन् धरावलये भूमण्डले व्याप्तिमती सर्वत्र गमनशीला तथा मनोहरा, या चाग्रिमवर्षपत्रिणः प्रथमवर्षधरस्य हिमालयस्य किणस्य यशसः स्थिरतेव । सा तु पुनर्नृपतेर्जयकुमारस्य मुदे प्रसादायाभूत् । उपमालङ्कारः ॥ ५४ ॥

विक्षिपन्ती अपि सूनवती इव राजते ।

अर्थ : उत्तम फलरूपी स्तनोंको धारण करनेवाली और अपने अंगोंको बार-बार संचालन करनेवाली तथा विप्रलापिनी (व्यर्थ चिल्लानेवाली, अथवा पक्षियोंके शब्दवाली) यह वृक्षोंकी माला सद्यः प्रसव करनेवाली स्त्रीके समान दिखाई दे रही है ॥ ५२ ॥

अन्वय : अतः पुनः भरतानीकविनेतुः अग्रतः विजरत्याः गहनावनेः पलिता प्रवेणिका इव सुपर्ववाहिनी समवाप ।

अर्थ : इस प्रकारसे चलते हुए भरत चक्रवर्तीके सेनापति-जयकुमारके सामने गंगा नदी आ गई जो कि वृद्ध गहन वन-भूमिकी सफेद वेणीके समान प्रतीत हो रही थी ॥ ५३ ॥

अन्वय : धरावलये व्याप्तिमती विधुदीधितिबन्धुरा मनोहरा नदी अग्रिमवर्षपत्रिणः किण स्थिरता इव नृपतेः तु मुदे (बभूव) ।

अर्थ : भूमंडलपर फैलनेवाली वह गंगा नदी चन्द्रमाकी किरणके समान सफेद थी और देखनेमें मनको हरण करनेवाली थी । अतः वह नदी हिमवान्

गलितं निजतेजसा जयो हिमवत्सारमिव स्म मन्यते ।
अमुकं प्रवहन्तमग्रतो मनसाऽसौ गगनापगाभयम् ॥५५॥

गलितमिति । असौ जयकुमारोऽग्रतः प्रवहन्तममुकं गगनापगाभयं गङ्गाप्रवाहं, मनसा निजतेजसा स्वप्रतापेन गलितं द्रवीभूतं हिमवतस्तुषाराद्रेः सारमिव मन्यते स्म । उपमालङ्कारोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ५५ ॥

पुलिनद्वितयाग्रवर्तिनी स्फुटशाटीसमयानुवर्तिनी ।
सरितः परितोषसंस्कृतिः समभाच्छाद्वलसारसन्ततिः ॥५६॥

पुलिनेत्यादि । शाद्वलानां दूर्वाङ्कुराणां सारभूता या सन्ततिः परम्परा यासौ सरितो नद्याः पुलिनयोः पार्श्वभागयोर्द्वितयस्याग्रे वर्तत इति पुलिनद्वितयाग्रवर्तिनी या च स्फुटः शाट्या दुकूलस्य समयः सङ्केतस्तमनुवर्तयतीति सा परिधानदुकूलस्थानिकाऽत एव परितोषस्य सन्तोषभावस्य संस्कृतिर्यत्र सा समभात् प्रातीयत ॥ ५६ ॥

कलहंसततिः सरिद्वृति-प्रतिवर्तिन्यतिकोमलाकृतिः ।
परितः परिणामनिर्मला सरलेवाथ बभौ सुमेखला ॥५७॥

कलहंसेत्यादि । सरितो नद्या वृती चोभयपार्श्ववर्तती तत्र प्रतिवर्तिनी विद्यमाना तथाऽतिकोमला म्रदीयसी, आकृति र्यस्याः सा अतिकोमला कृतिः परितः सर्वत एव

पर्वतके यशकी स्थिरताके समान प्रतीत होती थी । वह जयकुमारकी प्रसन्नताके लिए हुई ॥ ५४ ॥

अन्वय : असौ जयः अग्रतः प्रवहन्तम् अमुक गगनापगाभयं मनसा निजतेजसा गलितं हिमवत्सारम् इव मन्यते स्म ।

अर्थ : उस जयकुमारने आगे बहते हुए उस गंगाके प्रवाहको अपने तेजके द्वारा पिघलकर आये हुए हिमवान् पर्वतके सारके समान समझा ॥ ५५ ॥

अन्वय : सरितः पुलिनद्वितयाग्रवर्तिनी शाड्वलसारसन्ततिः स्फुटशाटीसमयानुवर्तिनी परितोषसंस्कृतिः समभात् ।

अर्थ : उस गंगाके दोनों तटोंपर हरे अंकुरोंका मैदान शोभित हो रहा था वह ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों समयानुसार गंगा नदीने हरी साड़ी ही पहन रखी हो ॥ ५६ ॥

अन्वय : अथ सरिद्-वृत्ति-प्रतिवर्तिनी परितः परिणामनिर्मला अतिकोमला कृतिः कलहंसततिः सरला सुमेखला इव बभौ ।

अर्थ : इस गंगाके दोनों किनारोंपर कलहंसोंकी जो पंक्ति थी वह देखनेमें

परिणाहेन वर्णेन वा निर्मला स्वच्छा अथ च सरला पङ्क्तिबद्धा कलहंसानां वर्तकानां, राजहंसानां वा ततिः परम्परा, सुमेखलेव कोमलकाञ्चीव रराज शुशुभे । उपमा ॥ ५७ ॥

स्फुटहंसजनेन सेविता विरजा नीरजमेनयान्विता ।
सरिता परितापनाशिनी जिनवाणीव तरङ्गवासिनी ॥५८॥

स्फुटेत्यादि । सा सरिता जिनवाणीवाभूत् किल, यतस्तरङ्गानां कल्लोलानां वासिनी निलयभूता पक्षे तरङ्गाणां मनोविचाराणां वासिनी परिशोधकारिणी तथा परितापस्य शारीरिकस्य मानसिकस्य च सन्तापस्य नाशिनी तथा नीरजानां कमलानां सेनया समूहेनान्विता पक्षे नीरजसे रजसा पापेन रहिताय नयान्विता नीतियुक्ता तथा विगतं विनष्टं रजो मलं शारीरं मानसं च यत्र सा विरजा अतएव स्फुटेन प्रकटरूपेण हंसजनेन हंसानां पक्षिणां, पक्षे धार्मिकपरमहंसाना जनेन समूहेन सेविता बभौ । श्लिष्टोपमालङ्कृतिः ॥५८॥

अभिरामतया सलक्ष्मणा सरितासीज्जनकात्मजेव या ।
सहसा सलवाङ्कुशाश्रया दधती कञ्जगति स्थिराश्रयम् ॥५९॥

अभीत्यादि । या सरिता जनकात्मजा इव सीतेवासीत् किल । यतोऽभिरामतया मनोहरतया, सलक्ष्मणा, लक्ष्मणा नाम सारस्यस्ताभिः सहिता, पक्षे श्रीरामेण लक्ष्मणेन

बड़ी कोमल थी और स्वच्छ (सफेद) थी, अतः वह ऐसी प्रतीत हो रही है कि मानों गंगारूपी नायिकाकी सरल करधनी ही हो ॥ ५७ ॥

अन्वय : स्फुटहंसजनेन सेविता विरजा नीरजसे नयान्विता परितापनाशिनी तरङ्गवासिनी सरिता जिनवाणी इव आसीत् ।

अर्थ : वह गंगा नदी जिनवाणीका अनुकरण कर रही थी क्योंकि जिनवाणी सज्जनोंसे सेवित होती है और यह नदी हंसोंसे सेवित है । गंगा विरजा (निर्मल) है और जिनवाणी कर्मरजको नष्ट करनेवाली है । गंगा कमलोंके समूहसे युक्त है और जिनवाणी पाप-रहित मनुष्यके लिए नयकी प्ररूपणा करती है । नदी और जिनवाणी दोनों ही सन्तापका नाश करनेवाली हैं । तथा नदी और जिनवाणी दोनों ही तरंग-वासिनी हैं, अर्थात् गंगामें जलकी तरंगें हैं और जिनवाणीमें सप्तभंगीरूपी तरंगे हैं इस प्रकार वह गंगा नदी जयकुमारको जिनवाणी-सी प्रतीत हुई ॥ ५८ ॥

अन्वय : कञ्जगतिस्थिराश्रयं दधती अभिरामतया सलक्ष्मणा सहसा सलवाङ्कुशाश्रया या सरिता जनकात्मजा इव आसीत् ।

अर्थ : जयकुमारको वह गंगा नदी सीताके समान प्रतीत हुई, क्योंकि वह

च सहिता तथा सलवं विलाससहितं कुशानां दर्भाणामाशयः समूहो यस्यां सा, पक्षे लव-कुशाख्य-पुत्रयुगलेन सहिता, तथा सहता स्वभावेन कञ्जानां कमलानां गतिकल्पतिर्यस्यां सा, तथा स्थिर आशयः प्रवाहो यस्याः सा, पक्षे जगति भूतले स्थिराशयं निश्चलपातिव्रत्यरूप आशयोऽभिप्रायो यस्यैवम्भूतं कमात्मानं दधतीत्येवम्भूता जनकात्मजेवासीदित्यर्थः । ॥ श्लिष्टोपमा ॥ ५९ ॥

फलतां कलताभृतामिमे निपतन्तः कुरुहामुपाश्रमे ।
शुकसन्निचयाश्च यात्रिणां हृदि भान्ति स्म नियुक्तनेत्रिणाम् ॥६०॥

फलतामिति । इमे शुकानां कीराणां सन्निचयाः समूहा ये फलतां फलोत्पादकानामत एव कलताभृतां मनोहरतायुक्तानां कौ पृथिव्यां रोहन्ति समुद्भवन्तीति कुरुहास्तेषां तरूणामुपाश्रमे स्थाने निपतन्तः समागच्छन्तो नियुक्तनेत्रिणां दत्तदृष्टीनां यात्रिणां जनानां हृदि चित्ते भान्ति स्म ॥ ६० ॥

नलिनी स्थलिनी विकस्वरा विजिगीषोर्जगतां त्रयं तराम् ।
मदनस्य निवेशरूपिणी स्थितिरासीद्धि यशोनिरूपिणी ॥६१॥

नलिनीति । अत्र या विकस्वरा विकासमाना स्थलिनी नलिनी सा जगतां त्रयं तरामतिशयेन विजिगीषोर्जेतुमिच्छोर्मदनस्य कामदेवस्य यशसः कीर्तेर्निरूपिणी प्ररूपणाकारिणी निवेशरूपिणी मूर्तिमती स्थितिः, यद्वाऽऽस्थानशालिनी स्थितिरासीत् । हीति निश्चये ॥६१॥

गंगा देखनेमें (मनोहर) अभिराम और लक्ष्मण नामकी औषधिसे युक्त थी; सीता भी राम और लक्ष्मण सहित थी। गंगा तो विलास-सहित कुश (घास) वाली थी और सीता लव-कुश नामक पुत्र सहित प्रसिद्ध है ही, तथा (सीता भी तथा गंगा भी कमलको गति (शोभा) को धारण किये हुए थी) गंगा तो संसारमें स्थिर आशयवाले जलको धारण करती है और सीता जगतमें स्थिर आशयवाली अपनी आत्माको धारण करती थी ॥ ५९ ॥

अन्वय : कलताभृताम् फलतां कुरुहाम् उपाश्रमे निपतन्तः इमे शुकसन्निचयाः च नियुक्तनेत्रिणां यात्रिणां हृदि भान्ति स्म ।

अर्थ : सुन्दरताको स्वीकार करनेवाले और फलवाले इन वृक्षोंके उपाश्रममें ऊपरसे आकर गिरनेवाले ये शुकों (तोतों) के समूह देखनेवाले यात्रियोंके हृदयमें बड़े मनोहर प्रतीत होते थे ॥ ६० ॥

अन्वय : विकस्वरा स्थलिनी नलिनी जगतां त्रयं तरां विजगीषोः मदनस्य यशोनिरूपिणी एषा निवेशरूपिणी स्थितिः एव ।

अर्थ : यह खिली हुई स्थल-कमलिनी तीनों लोकोंको जीतनेकी इच्छावाले

मकरन्दरजःपिशङ्गिताः स्मरधूमेन्द्रकणा उदिङ्गिताः ।
स्थलपद्मभराः प्रवासिनां स्म मनः सम्प्रति तापयन्ति ते ॥६२॥

मकरन्देति । मकरन्दरजसा पुष्पपरागेण पिशङ्गिताः पीततामाप्तास्ते स्थलपद्मानां भराः समूहाः, स्मरः काम एव धूमेन्द्रोऽग्निस्तस्य कणा अंशा उदिङ्गिता ज्वलन्तस्ते सम्प्रति प्रवासिनां प्रोषितानां मनस्तापयन्ति स्म । तेषामुद्दीपनविभावत्वादिति भावः ॥६२॥

पुलिने चलनेन केवलं वलितग्रीवमुपस्थितो बकः ।
मनसि व्रजतां मनस्विनामतनोच्छ्वेतसरोजसम्भ्रमम् ॥६३॥

पुलिन इति । पुलिने नदीतीरे केवलमेकेन चलनेनाङ्घ्रिणा वलिता वक्रीकृता ग्रीवा गलकन्दलो येन स यथा स्यात्तथोपस्थितः सन्निविष्टो बकः कङ्कस्तत्र व्रजतां मनस्विनां विवेकिनामपि मनसि श्वेतसरोजस्य पुण्डरीकस्य सम्भ्रममतनोत् । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥ ६३ ॥

शिविराणि बभुश्च दूरतः कलहंसोपमितानि पूरतः ।
परितो रचितानि वाससा विशदेनात्मगुणेन भूयसा ॥६४॥

शिविराणीति । तत्र परित इतस्ततो वाससा वस्त्रेण रचितानि शिविराणि, उपसदनानि पूरतः प्रवाहरूपेण पङ्क्तिबद्धतया स्थितानि भूयसा विशदेन शौक्ल्यजरूपात्मगुणेन कलहंसोपमितानि दूरतो बभुरशोभन्त । उपमालङ्कारः ॥ ६४ ॥

कामदेवके यशका निरूपण करनेवाली उसके तम्बू (डेरा) की स्थिति सरीखी प्रतीत होती है ॥ ६१ ॥

अन्वय : सम्प्रति मकरन्दरजःपिशङ्गिताः स्थलपद्मगणाः ते स्मरधूमेन्द्रकणा उदिङ्गिताः मनस्विनां मनः तापयन्ति स्म ।

अर्थ : स्थल (भूमि) पर उगनेवाले स्थल-कमलोंके समूह जो मकरन्दकी रजसे पीले हो रहे थे वे कामाग्निके कणोंके समान विचारशील लोगोंके मनको सन्तापित कर रहे थे ॥ ६२ ॥

अन्वय : पुलिने केवलं चलनेन वलितग्रीवम् उपस्थितः बकः व्रजतां मनस्विनाम् मनसि श्वेतसरोजसम्भ्रमं अतनोत् ।

अर्थ : बगुला नदीके किनारेपर केवल एक पैरसे खड़ा हुआ है और इसने अपनी ग्रीवाको टेढ़ी कर रखी है वह यहाँपर विचारशील लोगोंके मनमें श्वेत कमलके भ्रमको पैदा कर रहा है ॥ ६३ ॥

अन्वय : पूरतः परितः वाससा रचितानि शिविराणि भूयसा विशदेन आत्मगुणेन दूरतः च कलहंसोपमितानि बभुः ।

अमितोन्नतिमन्ति निर्मलान्यभ्युचितायतविस्तराणि वा ।
शिविराणि हसन्ति च स्म तान्यथ सौधानि भुवि ध्रुवाण्यपि ॥६५॥

अमितेत्यादि । तत्र रचितानि शिविराणि पटभवनानि, अमितोन्नतिमन्ति पर्याप्तोच्चानि, तथाऽभ्युचिता आयतविस्तरा येषां तानि तथा निर्मलानि स्वच्छानि, भुवि ध्रुवाणि सदा स्थितिमन्ति सौधान्यपि हसन्ति स्म । उत्प्रेक्षाध्वनिः ॥ ६५ ॥

निजकीर्तिकुलानि कुल्यराट् सुगुणश्रेणिसमुत्थितान्यसौ ।
शिविराणि जनाश्रयोचितान्यवलोक्याप मुदं सुदर्शनी ॥६६॥

निजेत्यादि । कुल्येषु कुलीनेषु राजत इति कुल्यराट् तथा सुदर्शनो रम्यदर्शनोऽसौ जयकुमारः, सुगुणानां शोभनरज्जूनां पक्षे धैर्यादीनां श्रेणयस्ताभिः समुत्थितानि, ऊर्ध्वंगतानि, जनानामाश्रयो येषु तानि, निजकीर्तेः स्वयशसः कुलानि समूहानिव शिविराणि, अवलोक्य मुदं हर्षमाप । श्लिष्टोपमा ॥ ६६ ॥

शिविरप्रगुणस्य शुद्धताऽनुगतस्यानुगतेक्षणः क्षणम् ।
गुणकर्षणतत्परानसौ नहि शङ्कूनपि सेह ईश्वरः ॥६७॥

अर्थ : उस नदीके तीरपर पंक्ति-बद्ध लगे हुए श्वेत वस्त्रोंसे रचित तम्बू दूरसे अपने निर्मल श्वेत वर्णके कारण कलहंस सरीखे प्रतीत हो रहे थे ॥ ६४ ॥

अन्वय : अथ अमितोन्नतिमन्ति निर्मलानि उचितायातविस्तराणि वा शिविराणि तानि भुवि ध्रुवाणि अपि सौधानि हसंति स्म च ।

अर्थ : वे तम्बू निर्मल एवं बहुत ऊँचे थे तथा समुचित लम्बाई और चौड़ाई वाले थे, अतः वे चूनेसे बने श्वेत भवनोंको भी हँस रहे थे ॥ ६५ ॥

अन्वय : असौ सुदर्शनी कुल्यराट् निजकीर्तिकुलानि सुगुणश्रेणिसमुत्थितानि जनाश्रयोचितानि शिविराणि अवलोक्य मुदं आप ।

अर्थ : वह सुदर्शनी (सम्यग्दृष्टि) जयकुमार उन तम्बुओंको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि वह कुलीन था अतः उसने उन तम्बुओंको अपनी कीर्तिके कुल सरीखे समझा । तथा वे तम्बू गुण-श्रेणी-समुत्थित थे, अर्थात् लम्बी-लम्बी रस्सियोंसे कसकर उठाये हुए थे, कीर्तिवाले कुल भी उत्तम गुणोंके समूह द्वारा ही प्राप्त होते है और ये तम्बू भी उत्तम मनुष्योंके आश्रयके योग्य थे ॥ ६६ ॥

अन्वय : असौ ईश्वरः क्षणं अनुगतेक्षणः शुद्धतानुगतस्य शिविरप्रगुणस्य गुणकर्षणतत्परान् शङ्कून् अपि नहि सेहे ।

शिबिरेत्यादि । शुद्धतां स्वच्छतां निर्दोषतां चानुगतस्तस्य शिबिराणामुपकार्याणां प्रगुण उपचयस्तस्य, रज्जूबलस्य कौशलादेर्वा कर्षणे सम्बन्धने तथा कृशीकरणे व्याच्छादने वा तत्परान् संलग्नान् शङ्कूनपि क्षणं किञ्चित्कालमनुगतेक्षणस्तद्गतदृष्टिर्भवन् नहि सेहेऽसहत । यतः स ईश्वरः समर्थः । समासोक्तिः ॥ ६७ ॥

समवाप निवेशसन्निधौ नृवरो द्विप्रहरोक्तिमद्विधौ ।
तपने लपनेऽपि निष्ठिते मुखतः सम्मुखतः शिखावृते ॥६८॥

समवापेति । नृवरो जयकुमारो द्वयोः प्रहरयोर्यामयोरुक्तिर्यस्मिन् स द्विप्रहरोक्तिमान् मध्याह्नकालोक्तो विधिरनुष्ठानं तस्मिन्, तपने सूर्येऽपि लपने मुखोपरि निष्ठिते स्थिते सति, मुखतः सम्मुखत मुखस्य विलोत्यर्थः । शिखाभिवृ क्षशाखाभिर्वृते समाच्छादितं निवेशस्य निर्दिष्टस्यावासस्य सन्निधौ समीपे समवाप प्राप्तवान् ॥ ६८ ॥

पृतनापतिपार्श्वमागतः कथमप्यर्थिगणोऽथ रागतः ।
रथवेगवशेन विक्लवः समभूत्तत्र वरः समुत्सवः ॥६९॥

पृतनेत्यादि । अथ रथस्य जयकुमारालङ्कृतस्यन्दनस्य वेगवशेन विक्लवो विह्वलो भवन्नर्थिगणः किमपि प्रयोजनवान् मनुष्यवर्गो रागतः प्रेम्णा कथमप्यतिकाठिन्येन पृतनापतेर्जयकुमारस्य पार्श्वमागतः, तत्र समागते सति वरः समुत्सवः समभूत् ॥ ६९ ॥

अर्थ : उन तम्बुओंकी सरलताका और शुद्धताका अवलोकन करनेवाला वह जयकुमार उनके गुणों (रस्सियों) को खींच कर तंग करनेवाले कीलोंको नहीं सहन कर सका, क्योंकि वह समर्थ था ॥ ६७ ॥

अन्वय : नृवरः द्विप्रहरोक्तिमद्विधौ लपने निष्ठिते तपने अपि मुखतः सम्मुखतः शिखावृते निवेशसन्निधौ समवाप ।

अर्थ : जब कि सूर्य ललाटपर आ गया था किन्तु वृक्षोंकी शाखाओंसे आच्छादित होनेके कारण उसकी किरणें मस्तकके ऊपर नहीं पड़ रही थीं, ऐसे दोपहरके समयमें वह जयकुमार अपने निवासके योग्य तम्बू के समीप पहुँचा ॥ ६८ ॥

अन्वय : अथ रागतः अर्थिगणः कथम् अपि रथवेगवशेन विक्लवः पृतनापति—पार्श्व-मागतः तत्र वरः समुत्सवः समभूत् ।

अर्थ : उस समय जयकुमारके समीप उसके रथके वेगसे विह्वल हुआ-सा याचक लोगोंका समूह आया जो कि देखनेवालोंके लिए उत्सवका विषय हो गया ॥ ६९ ॥

किमु भो भवता त्वरावता द्रुतमग्रे गमनेच्छुना हताः ।
न कुतोऽपि पलायते स्थलं जगुरेवं मनुजाः सकलन्दम् ॥७०॥

किम्विति । भो श्रीमन्, भवता द्रुतमतिशीघ्रमेवाग्रे गमनेच्छुना, अतएव त्वरावता वेगशालिना किमु हता वयमिति शेषः । स्थलं गमनस्थानं कुतोऽपि न पलायते । एवं प्रकारेण मनुजाः परस्परं कन्दकेन कलहेन सहितं सकन्दलं यथा स्यात्तथा जगुरुक्तवन्तः । जनसङ्घट्टनमिदर्शनमिदम् ॥ ७० ॥

महिलाभिरलाभि दूष्यकं प्रसमीक्षासहिताभिरध्यकम् ।
कथमप्युदितालकालिभिः परिनिस्विन्नकपोलपालिभिः ॥७१॥

महिलाभिरिति । महिलाभिस्तु पुनः परिनिःस्विन्नाः श्रमजनितस्वेदपरिपूर्णा कपोलपालयो गण्डस्थलाग्रभागा यासां ताभिस्तयोदिताः प्रतिबिम्बिता अलकानां केशानामालिः पङ्क्तिर्यासां कपोलेषु ताभिः, अथवोदिता विकीर्णाऽलकानामालिर्यासां ताभिरेवं प्रसमीक्षासहिताभिः किमिदमस्माकमुतेदमिति गवेषणासहिताभिरध्यकं सकष्टं यथा स्यात्तथा कथमपि बहुयत्नेन दूष्यकं वस्त्रगृहमलाभ्यवापि ॥ ७१ ॥

अवधूय सटा समुन्नयन् श्रवसी प्रोथमपि स्वनं नयन् ।
तुरगो विरराम नामवान् कविकाचर्वणचारुहेषया ॥७२॥

अन्वय : भो भवता त्वरावता द्रुतं अग्रे गमनेच्छुना किमु हताः स्थलं कुतः अपि न पलायते एवं मनुजाः सकन्दलं जगुः ।

अर्थ : वे याचक लोग परस्पर इस प्रकार विह्वल होते हुए बोल रहे थे कि हे भाई ! तुम इतनी जल्दी क्यों कर रहे हो ? क्यों तुम सबसे आगे निकलनेकी इच्छासे दूसरे लोगोंको आघात पहुंचा रहे हो ? जरा सोचो तो सही कि डेरा कहीं भगा जा रहा है ॥ ७० ॥

अन्वय : उदितालकालिभिः परिनिस्विन्नकपोलकालिभिः प्रसमीक्षासहिताभिः महिलाभिः अध्यकं कथं अपि दूष्यकं अलाभि (अवापि) ।

अर्थ : जिनके कपोलोंपर पसीना आ गया था और सिरके बाल भी बिखर रहे थे ऐसी उन खेद-खिन्न अबला महिलाओंने इस तम्बूमें रहें या उस तम्बूमें रहें, ऐसी छान-बीन करते हुए बड़ी कठिनाईसे अपने योग्य तम्बूको प्राप्त कर पाया ॥ ७१ ॥

अन्वय : नामवान् तुरगः सटाः अवधूय श्रवसी समुन्नयन् प्रोथं अपि स्वनं नयन् कविकाचर्वणचारुहेषया विरराम ।

अवधूयेति । नामवान् प्रसिद्धतुरगः सटा केसरालीरवधूय चालयित्वा उन्नती कर्णौ समुन्नमयन्, प्रोथं नासामपि स्वनं नयन् कविकायाः खलीनस्य चर्वणेन चार्वी या हेषा स्ववाणी ताम् कृत्वा विरराम । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । प्रोथः पाण्येऽश्वघोणायामिति विश्वलोचनः ॥ ७२ ॥

अवकृष्य च नक्रलावलिं नमयन्नात्मवपुः पुरस्तराम् ।
उपवेशयति स्म तद्गतः सहसा सादिवरः क्रमेलकम् ॥७३॥

अवकृष्येत्यादि । सादिवर उष्ट्रारोही नरस्तद्गत एव च नक्रलावलिमवकृष्य लघूकृत्याऽऽत्मनो वपुः शरीरं पुरस्तादग्रे नमयंस्तरामतिशयेनावनम्य सहसा क्रमेलकमुपवेशयति स्म । स्वभावोक्तिः ॥ ७३ ॥

सुमनस्सु मनोहरं बलं स्वनिभं सत्तमनागसङ्कुलम् ।
बहुपत्ररथं ययौ मुदा तटसान्द्रं भटसन्मणेस्तदा ॥७४॥

सुमनस्विति । तदा भटसन्मणेर्जयकुमारस्य बलं सैन्यं कर्तृ तटस्य सान्द्रं वनमात्मतुल्यं स्वनिभमिति मुदा प्रसन्नतया ययौ प्राप्तवान् । यतस्तत् सत्तमैर्मनोरमैर्नागैश्चम्पकैः, पक्षे हस्तिभिः सङ्कुलं व्याप्तं तथा सुमनोभिः पुष्पैः, पक्षे मनस्विभिर्मनोहरं, तथा बहूनि पत्राणि येषां ते रथा वेतसा यत्र तत्, पक्षे बहूनि पत्राणि वाहनानि रथाश्च यत्र तदित्युपमा श्लेषश्च । रथस्तु स्यन्दने काये वेतसे चरणेऽपि चेति विश्वलोचनः ॥ ७४ ॥

अर्थ : प्रसिद्ध नामवाला घोड़ा अपनी गर्दनकी सटाओंको हिलाकर, दोनों कानोंको ऊँचा करके, नाकको बजाकर और लगाम चबानेके साथ हिनहिनाट (हेषा) करके विश्रामको प्राप्त हुआ ॥ ७२ ॥

अन्वय : तद्गतः सादिवरः आत्मवपुः पुरस्तरां नमयन् सहसा च नक्रलावलिं अवकृष्य क्रमेलकं उपवेशयति स्म ।

अर्थ : इधर ऊँटपर बैठे हुए सवारने उसकी नकेलको खींचकर और अपने शरीरको आगेकी ओर झुकाकर (बड़े परिश्रमसे) अपने ऊँटको बैठाया ॥ ७३ ॥

अन्वय : तदा भटसन्मणेः बलं सुमनःसुमनोहरं सत्तमनागसङ्कुलं बहुपत्ररथं तटसान्द्रं स्वनिभं मुदा ययौ ।

अर्थ : वह वन सुमनस्सुमनोहर था अर्थात् फूलोंसे आच्छादित था और सेनादल अच्छे सैनिकोंसे युक्त था । सेनादल तथा वन उत्तम नाग (हाथी व साँप) से युक्त था । सेना और वन दोनों ही पत्र अर्थात् घोड़ों और पत्तोंसे युक्त था । अतः जयकुमारके सेनादलने उस वनको अपने ही समान समझा ॥ ७४ ॥

बहिरेव जना महीस्थले सघनच्छायमहीरुहां तले ।
श्रमभारवशा हि पद्धतेः क्षणमेके विरमन्ति च स्म ते ॥७५॥

बहिरिति । एके जना ये पद्धतेर्मार्गस्य श्रमभारस्य वशा परिश्रमश्रान्ता आसन्, ते सघना छाया येषां तेषां महीरुहां वृक्षाणां तले अधोभागे क्षणं बहिरेव महीस्थले विरमन्ति स्म ॥ ७५ ॥

वसनाभरणैः समुद्धृतैरगमास्तत्र सुरद्रुमा हि तैः ।
अवभान्ति रमाः स्म सम्मिता जनताया वनतानितस्थिताः ॥७६॥

वसनेत्यादि । तत्र वनस्य तानिते विस्तारे स्थिता अगमा वृक्षास्ते जनतायाः समुद्धृतैरङ्गेभ्य उत्तार्य धृतैर्वसनानि चाभरणानि च तैः सम्मिता व्याप्ता अत एव रमा मनोहराः सुरद्रुमाः कल्पवृक्षा अवभान्ति स्म । उपमालङ्कारः ॥ ७६ ॥

विबभुः श्रमवारिवासितान्यनुकूलानि मुखानि सुभ्रुवाम् ।
सजलानि सरोजवीरुधां कमलानीव कलानि कानिचित् ॥७७॥

विबभुरिति । नद्याः कूलमनु स्थितानि, अनुकूलानि सुभ्रुवां शोभना भ्रुवो यासां तासां मुखानि, यानि श्रमवारिणा प्रस्वेदजलेन वासितानि युक्तानि तानि कानिचित् कलानि मनोहराणि सरोजवीरुधां कमलिनीनां सजलानि जलसहितानि कमलानीव विबभुः शुशुभिरे । उपमालङ्कारः ॥ ७७ ॥

अन्वय : पद्धतेः श्रमभारवशा हि एके जनाः क्षणम् बहिरेव महीस्थले सघनच्छायमहीरुहां तले च ते विरमन्ति स्म ।

अर्थ : मार्गकी थकावटके कारण कितने ही लोग कुछ देरके लिए तम्बुओंमें न जाकर सघन छायावाले वृक्षोंके तले बाहर भूमिमें ही विश्राम करने लगे ॥ ७५ ॥

अन्वय : तत्र वनतानितस्थिताः अगमा जनताया समुद्धृतैः तैः वसनाभरणैः सम्मिताः सुरद्रुमा हि रमाः अवभान्ति स्म ।

अर्थ : वनके क्षेत्रमें स्थित जो वृक्ष थे वे उस समय जनताके द्वारा उतार कर टाँगे गये सुन्दर वस्त्राभरणोंके द्वारा कल्पवृक्षोंके समान मनोहर प्रतीत होने लगे ॥ ७६ ॥

अन्वय : श्रमवारिवासितानि सुभ्रुवां अनुकूलानि मुखानि कानिचित् सजलानि सरोजवीरुधां कलानि कमलानि इव विबभुः ।

अर्थ : स्त्रियोंके मुखोंपर (मार्गके परिश्रमसे) पसीना आ रहा था अतः वे

वदनाच्छ्रमनीरनिर्झरो मदनोदारधनुर्निभभ्रुवाम् ।
सदनादधुना रुचो बभौ स च लावण्यझरो हि निर्गतः ॥७८॥

वदनेत्यादि । अधुना मदनस्य कामस्योदारं यद्धनुस्तन्निभे समाने भ्रुवौ यासां तासां रुचः सदनात्कान्तिस्थानाद्वदनान्मुखान्निर्गतो योऽसौ श्रमनीरस्य निर्झरः स्वेदजलपूरः स च लावण्यस्य झरः पूरो बभौ । हीत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ७८ ॥

भुजमूलसमुच्चयद्वये सुदृशां सिप्रशिवाशयान्वये ।
मुकुलोत्थरजांसि रेजिरे मलयोत्पन्नविलेपनानि रे ॥७९॥

भुजेत्यादि । सुदृशां सुन्दरनयनानां स्त्रीणां सिप्र-शिवस्य प्रस्वेदजलस्य य आशय आधारस्तस्यान्वयः सम्बन्धो यत्र तस्मिन् भुजमूले समुच्चयो सङ्ग्रहो तयोर्द्वये युगले कुच-युगल इत्यर्थः । मलयोत्पन्नस्य चन्दनस्य यानि विलेपनानि तानि मुकुलात् कुड्मलादुत्पा-न्यूद्भूतानि यानि रजांसि तथा रेजिरेऽशोभन्त । रे सम्बोधने । अद्भुतोपमा ॥ ७९ ॥

नदरोधसि वायुचञ्चलात्तुरगादेव तरङ्गतो बलात् ।
रुचिमानधुना जनस्तथाऽवततारामबुजसङ्ग्रहो यथा ॥८०॥

नदेत्यादि । अधुनाऽस्मिन्नदरोधसि तीरे वायोरिव चञ्चलात्तुरगाद् अश्वादेव तरङ्गतो

ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों जलके कणों सहित कमलिनियोंके कमल ही हों ॥ ७७ ॥

अन्वय : मदनोदारधनुर्निभभ्रुवां रुचः सदनात् वदनात् परं अधुना श्रमनीरनिर्झरः निर्गतः स च लावण्यझरः हि (निर्गतः) ।

अर्थ : कामदेवके धनुषके समान है भ्रकुटि जिनकी ऐसी स्त्रियोंके कान्तिके स्थानरूप मुखपरसे जो पसीनेकी धार बही वह सौन्दर्यकी धाराके समान प्रतीत हो रही थी ॥ ७८ ॥

अन्वय : रे (पाठक) ! सुदृशां सिप्रशिवाशयान्वये भुजमूलसमुच्चयद्वये मुकुलोत्थ-रजांसि मलयोत्पन्नविलेपनानि रेजिरे ।

अर्थ : स्त्रियोंके पसीनेसे व्याप्त कुचों पर कमलोंके ऊपरसे उड़के आकर लगी हुई रज उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों मलयचन्दनका विलेपन ही किया गया हो ॥ ७९ ॥

अन्वय : अधुना नदरोधसि रुचिमान् जनः वायुचञ्चलात् तुरगात् एव तरङ्गतः बलात् तथा अवततार यथा अम्बुजसङ्ग्रहः ।

अर्थ : उस नदीके तीरपर वायुके समान चंचल घोड़ोंपरसे जनसमूह उतरा,

बलाद् वेगात् स रुचिमान् स्वाभाविकशोभावान् इच्छावाचिव जनो यथाम्बुजानां कमलानां सङ्ग्रहस्तथाऽवततारावतरितवान् । इत्युपमालङ्कारः ॥ ८० ॥

अवरोधवधूर्नियोगवान् गलसंलग्नभुजोऽवतारयन् ।
तुरगादभिषस्वजे परं न पुनश्चारु चुचुम्ब तन्मुखम् ॥८१॥

अवरोधेत्यादि । तत्रावरणकाले नियोगवान् कोऽपि जनस्तुरगावश्वात्, सामान्येनैकवचनम् । अवरोधस्यान्तःपुरस्य वधूः स्त्रीरवतारयन् गले तासां कण्ठे संलग्नौ भुजौ यस्य स परं केवलमभिषस्वजे समालिलिङ्ग, किन्तु तासां मुखं यच्चारु मनोहरं तन्न चुचुम्ब । व्यवहारौचित्यमिह वर्णितम् ॥ ८१ ॥

द्रुतं पुराऽऽप्त्वा वसतिं मनोज्ञामापात्यकापाकरणाकुलेन ।
यान्तोऽन्यतोऽभ्युद्धतबाहुनाराद्धूताः प्लुतोक्त्या मुहुरात्मवर्ग्याः ॥८२॥

द्रुतमिति । स्थानाप्तिपटुना द्रुतं शीघ्रं पुरा प्रथमं मनोज्ञां मनोऽनुकूलां वसतिमाप्त्वोपलभ्य पुनरापात्यकानां तत्रागत्य निवासेच्छूनामपाकरणे निवारणे, 'नास्त्यत्रावकाशो भवद्भ्यः' इति परिहरण आकुलेन, अतएवाभ्युद्धतो बाहुर्येन तेनाऽऽराद् दूरतः प्लुतोक्त्याऽत्युच्चस्वरेण अन्यतोऽपरां दिशं यान्त आत्मवर्ग्याः स्वपक्षीया जना मुहुर्वारम्वारं हूता आकारिताः । स्वभावोक्तिः ॥ ८२ ॥

निक्षिप्तकिञ्चित्प्रकरं निवासं विस्मृत्य गच्छन्नितरेतरेषु ।
यूनामभूद्वासनिमित्तमेकोऽवशिष्टभारोद्वनाकुलः सन् ॥८३॥

वह ऐसा प्रतीत होता था कि मानों तरंगोंके द्वारा आये हुए कमलोंके समूह ही हों ॥ ८० ॥

अन्वय : नियोगवान् तुरगात् अवरोधवधूः गलसंलग्नभुजः अवतारयन् परं अभिषस्वजे पुनः चारु तन्मुखं न चुचुम्ब ।

अर्थ : नियोग वाला अधिकारी पुरुष घोड़ों परसे अन्तःपुरकी स्त्रियोंको उनके गलेमें बाँहें डालकर उतारता हुआ स्पर्शके सुखको प्राप्त हुआ, फिर भी उसने उनके मुखका चुम्बन नहीं किया ॥ ८१ ॥

अन्वय : पुरा द्रुतं मनोज्ञाम् वसतिं आप्त्वा आपात्यकापाकरणाकुलेन अन्यतः यान्तः आत्मवर्ग्याः अभ्युद्धतबाहुना मुहुः प्लुतोक्त्या आराद्धूताः ।

अर्थ : शीघ्रताके साथ सबसे पहले मनोज्ञ (सुन्दर) निवास स्थान को पा करके तदनन्तर आने और प्रवेश चाहने वाले अन्य लोगोंको दूर हटानेमें लगा हुआ कोई सैनिक अपने दूसरे साथियोंको जो दूसरी ओर जा रहे थे, उन्हें बार-बार उच्च स्वरसे बुला रहा था ॥ ८२ ॥

निक्षिप्तेत्यादि । तत्रैको जनो निवासः प्रस्थापितः किञ्चित् प्रकरो यत्र तं निवासं विस्मृत्य, इतरेतरेषु स्थानेषु गच्छन्नेवमवशिष्ट भारस्योद्वहनेन सन्धारणेनाकुलः सन् यूनां तरुणानां हासस्य निमित्तमभूत् ॥ ८३ ॥

प्रस्वेदनिस्विन्नतया निचोलमुत्सार्य सारं परमाददत्या ।
उरोजराजौ रसिकः सुदत्या कथञ्चिदालोक्य मुदं समाप ॥८४॥

प्रस्वेदेत्यादि । रसिकः कामातुरो जनः प्रस्वेदेन श्रमजलेन निस्विन्नतयाऽऽर्द्रताहेतुना निचोलं कुचवस्त्रमुत्सार्य परिहृत्य परमन्यत्सारं वस्त्रमाददत्याः स्वीकुर्वाणायाः शोभना-दन्ता यस्यास्तस्याः सुदत्याः उरोजराजौ कथञ्चिदतियत्नेनालोक्य मुदं हर्षं समाप प्रापत् ॥ ८४ ॥

उत्सार्य वासो वसिताऽध्वखेदापवेदनार्थं सहसा सखीभिः ।
समस्यते सस्मयमास्यभङ्ग्या स्मालोक्यमाना विजने जनेन ॥८५॥

उत्सार्येति । काचिद्युवतिरध्वखेदापवेदनार्थं मार्गश्रमनिराकरणार्थं विजने शून्य-प्रदेशे वासो वस्त्रमुत्सार्य परिहृत्य वसिता वसितुमिच्छावती जाता, सापि जनेन केनाप्या-लोक्यमाना सती सहसैव सस्मयं साश्चर्यं यथा स्यात्तथा सखीभिः सहचरीभिरास्यस्य भङ्ग्या विकारेण समस्यते स्म, सङ्क्षिप्यते स्म ॥ ८५ ॥

अन्वय : निक्षिप्तकिञ्चित्प्रकरं निवासं विस्मृत्य इतरेतरान् तान् गच्छन् अवशिष्ट-भारोद्वहनाकुलः सन् एकः यूनां हास-निमित्तं अभूत् ।

अर्थ : कोई एक आदमी किसी एक तम्बूमें अपना कुछ सामान्य रखकर और सामान लाया तो उस तम्बूको ढूँढते हुए बोझसे दुखी होकर इधर-उधर भटकने लगा, अतः वह जवान लोगोंके हँसीका निमित्त हुआ । अर्थात् उसे इस प्रकार भटकते हुए देखकर जवान लोग हँसने लगे ॥ ८३॥

अन्वय : प्रस्वेदनिःस्विन्नतया निचोलम् उत्सार्य परं सारं आददत्याः सुदत्याः उरोजराजौ कथञ्चित् अपि आलोक्य रसिकः मुदं समाप :

अर्थ : पसीनेसे व्याप्त कंचुकीको उतार कर दूसरी कंचुकी पहरने वाली स्त्रीके स्तनमण्डलको किसी प्रकार सावधनीसे देखकर कोई एक कामी पुरुष बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ८४ ॥

अन्वय : विजने अध्वरखेदापवेदनार्थं वासः उत्सार्य वसिता जनेन सहसा आलोक्य-माना सखीभिः सस्मयम् आस्यभङ्ग्या समस्यते स्म ।

अर्थ : मार्गके खेदको दूर करनेके लिए अपना दुपट्टा शरीरसे उतार

अधः स्थितायाः कमलेक्षणाया निरीक्षमाणो मृदुकेशपाशम् ।
भुजङ्गभुङ् निर्जितबर्हभारं द्रुतं द्रुमाग्रात्समदुद्रुवत्सः ॥८६॥

अध इति । आगत्य पादपाधःस्थितायाः कमलेक्षणायाः पद्मनेत्राया मृदु कोमलं केशपाशं, निर्जितः सुकोमलत्वेन पराजितो बर्हाणां भारो येन तं निरीक्षमाणो भुजङ्गभुक् केकी द्रुतमेव द्रुमस्य पादपस्याग्रात् समदुद्रुवत् पलायाञ्चक्रे । काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥८६॥

पर्यापतत् क्रेतृकुलामगण्यपण्यापणां ते विपणिं वितेनुः ।
वितत्य दूष्याण्यभितोऽभिरामां तत्कालमेवापणिकाः क्षणेन ॥८७॥

पर्यापतदिति । आपणिका वणिजो जना दूष्याणि वस्त्रगृहाणि, अभितः पर्यन्ततो वितत्य तत्कालमेव क्षणेनाविलम्बेनाभिरामां सर्वाङ्गसुन्दरीं विपणिं हट्टपङ्क्तिं वितेनु-र्विस्तारयामासुः । कीदृशीं विपणिं, अगण्यानां पण्यानां क्रय-विक्रययोग्यवस्तूनामापणः संव्यवहारो भवति यत्र तां, तथा पर्यापतति ग्राहकाणां क्रेतृणां कुलं यत्र ताम् ॥ ८७ ॥

खुरैस्तु नैसर्गिकचापलेन हता वताथानुनयन्त इत्थम् ।
अथवा धरित्रीं मृदुपादचारैर्जिघ्रन्त एते स्म च पर्यटन्ति ॥८८॥

कर एकान्तमें बैठी हुई किसी स्त्रीको कोई मनुष्य देख रहा था, तो उसकी सखियोंने हँसते हुए मुखकी भंगिमासे उसे संकेत किया । (कि मनुष्य देख रहा है, अतः चद्दर ओढ़ लो ॥ ८५ ॥

अन्वय : अधः स्थितायाः कमलेक्षणायाः मृदुकेशपाशं निरीक्षमाणः भुजङ्गभुक् सः निर्जितबर्हभारं (यथा स्यात् तथा) द्रुतं द्रुमाग्रात्समदुद्रुवत् ।

अर्थ : वृक्षके नीचे आकर खड़ी हुई किसी स्त्रीके कोमल केशपाशको देखने वाला मयूर उसकी शोभासे अपनी पांखोंके भारको परास्त हुआ मानकर शीघ्र ही उस वृक्ष परसे उड़ गया ॥ ८६ ॥

अन्वय : ते आपणिकाः दूष्यानि अभितः वितत्य क्षणेन तत्कालम् एव पर्यापतत्क्रेतृकुलाम् अगण्यपण्यापणां अभिरामा विपणिं वितेनुः ।

अर्थ : इतनेमें ही वहाँ आकर दुकानदारोंने तम्बुओंके चारों ओर अपनी-अपनी दुकानें लगा ली जिसमें सर्व प्रकारका पर्याप्त सामान था । तब खरीददार लोग पर्याप्त संख्यामें आकर आवश्यक वस्तुएँ खरीद करने लगे ॥ ८७ ॥

अन्वय : अथ अश्वाः तु वत खुरैः नैसर्गिकचापलेन हता इत्थं धरित्रीं अनुनयन्त मृदुपादचारैः जिघ्रन्त एते पर्यटन्ति स्म च ।

खुरैरिति । अश्वाः, हे धरित्रि, बलायं खेदोऽस्ति यदस्माभिर्नैसर्गिकचापलेन स्वाभाविकचाञ्चल्येन त्वं खुरैः शफैर्हताऽऽघातं नीतासीत्यं तामनुनयन्तः प्रसादयन्त इवैते तां जिघ्रन्तो घ्राणविषयां कुर्वन्तश्च मृदुभिर्मन्दमन्दैः पादचारैः पर्यटन्ति स्म । उत्प्रेक्षा-काव्यलिङ्गयोः सङ्करः ॥ ८८ ॥

आजिघ्रतिप्राणतमस्तकेऽश्वे नासासमीरोत्थरजश्छलेन ।
तदीयसंसर्गसुखोत्सुकाया बभूव सद्यः स्फुरणं धरायाः ॥८९॥

आजिघ्रतीति । प्रकर्षेणानतं मस्तकं यस्य तस्मिन्नश्वे घोटके भुवमाजिघ्रति सति नासाया नासिकायाः समीरेणोत्तिष्ठति यत्तन्नासासमीरोत्थं यच्च तद्रजस्तस्य छलेन, तस्याश्वस्यायं तदीयश्चासौ संसर्गः स्पर्शनादिरूपस्ततो यत्सुखं तस्मिन्नुत्सुकाया उत्कण्ठिताया धरायाः सद्य एव स्फुरणं रोमाञ्चनं बभूव । अपह्नुत्यलङ्कारः ॥ ८९ ॥

अङ्के मुहुर्वेल्लतिवाह्लिजाते तदास्यफेनप्रकराः पतन्तः ।
तदङ्गसङ्गेन विभिन्नहार-तारा इवामी विबभुर्धरित्र्याः ॥९०॥

अङ्क इति । वाह्लिजातेऽश्वे धरित्र्या अङ्के क्रोडे मुहुर्वारम्वारं वेल्लति क्रीडति सति, तस्याश्वस्य यदास्यं मुखं तस्य फेनप्रकरा डिण्डीरखण्डाः स्थाने स्थाने पतन्तस्तस्याङ्गस्य सङ्गेन संसर्गेण विभिन्ना ये धरित्र्या हारा मौक्तिकस्रजस्तेषां तारा मौक्तिकानीव विबभुर्विरेजुः । उत्प्रेक्षोपमयोः सङ्करः । 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके' इति विश्वलोचनः ॥ ९० ॥

अर्थ : (घोड़े पृथ्वी पर इधरसे उधर घूमने लगे सो क्यों ? इस पर उत्प्रेक्षा है कि) स्वाभाविक चपलताके द्वारा हमारे खुरोंके आघातसे पृथ्वीको चोट पहुँचती है ऐसा सोचकर उसे अब कोमल चरणोंसे आश्वासन देते हुए और उसे सूँघते हुए वे घोड़े इधर उधर घूमने लगे ॥ ८८ ॥

अन्वय : प्राणितमस्तके अश्वे आजिघ्रति नासासमीरोत्थरजश्छलेन तदीयसंसर्ग-सुखोत्सुकाया धरायाः सद्यः स्फुरणं बभूव ।

अर्थ : उस समय घूमते हुए घोड़ों ने पृथ्वीको सूँघा तो नासिकाकी हवासे जो रज ऊपरको उठी उसके बहानेसे उस घोड़ेके संसर्ग-सुखको चाहने वाली पृथ्वीको रोमांच हुआ-सा ही प्रतीत हो रहा था ॥ ८९ ॥

अन्वय : वाह्लिजाते धरित्र्याः अङ्के मुहुः वेल्लति पतन्तः तदास्यफेनप्रकराः अमी तदङ्गसङ्गेन विभिन्नहारतारा इव विबभुः ।

अर्थ : पृथ्वीकी गोदमें जब घोड़ा घूम रहा था तब उसके मुखसे फेनके कण यहाँ वहाँ गिर रहे थे, वे ऐसे प्रतीत होते थे कि इस घोड़ेके अंगके सम्पर्क-

वेल्लत्तुरङ्गास्यगलन्निफेन-प्रकारसारा धरिणी रराज ।
तत्सङ्गमोत्पन्नसुखानुभूत्या विकासिहासच्छुरितेव तावत् ॥९१॥

वेल्लदित्यादि । वेल्लतः प्रलुण्ठतस्तुरङ्गस्यास्यान्मुखाद् गलतां निफेनानां प्रकारा एव सारा यस्याः सा, एवम्भूता धरित्री तावत् कालं तत्सङ्गमेनोत्पन्नं यत्सुखमानन्दरूपं तस्यानुभूत्या विकासी प्रकटतामाप्तो यो हासस्तेनच्छुरिता शोभमाना रराज । उत्प्रेक्षा ॥ ९१ ॥

रजस्वलामर्ववरा धरित्रीमालिङ्गय दोषादनुषङ्गजातात् ।
ग्लानिं गताः स्नातुमितः स्म यान्ति प्रोत्थाय ते सम्प्रति सुस्रवन्तीम् ॥९२॥

रजस्वलामिति । अर्वतामश्वानां मध्ये वराः श्रेष्ठास्ते रजस्वलां धूलिबहुलां, मासिकधर्मयुक्तां वा धरित्रीं तन्नामस्त्रियं वाऽऽलिङ्गय परिष्वज्य, अनुषङ्गजातात् प्रासङ्गिकाद् दोषाद् ग्लानिं गता घृणामवाप्ताः सम्प्रति प्रोत्थायेतः स्नातुं सुस्रवन्तीं नदीं यान्ति स्म जग्मुः । 'अश्वेऽर्वन् कुत्सितेऽन्यवदिति' विश्वलोचन. । समासोक्तिः ॥ ९२ ॥

पिपासुरश्वः प्रतिमावतारं निजीयमम्भस्यमलेऽवलोक्य ।
स सम्प्रति स्म स्मरति प्रियाया द्रुतं विसस्मार पिपासितायाः ॥९३॥

पिपासुरिति । पातुमिच्छति पिपासति, पिपासतीति पिपासुर्जलपानेच्छुः सम्प्रत्यमले निर्मलेऽम्भसि तोये निजीयमात्मीयं प्रतिमाया अवतारस्तं प्रतिबिम्बमवलोक्य प्रियायाः

से टूटे हुए पृथ्वीके हारके तारे ही हों ॥ ९० ॥

अन्वय : तावत् वेल्लत्तुरङ्गास्य-गलन्निफेनप्रकारसारा धरिणी तत्सङ्गोत्पन्नसुखानुभूत्या विकासिहासच्छुरिता इव रराज ।

अर्थ : घूमते हुए घोड़ेके मुखसे गिरे हुए फेनोंके कणोंसे पृथ्वी व्याप्त हो गई तो वह ऐसी प्रतीत होने लगी कि घोड़ेके संगमसे उत्पन्न हुए सुखका अनुभव करती हुई वह हँस ही रही हो ॥ ९१ ॥

अन्वय : अर्ववरा रजस्वलां धरित्रीं आलिङ्ग्य अनुषङ्गजातात् दोषात् ग्लानिं गताः सम्प्रति ते स्नातुं इतः प्रोत्थाय सुस्रवन्तीम् यान्ति स्म ।

अर्थ : घोड़ोंने रजस्वला भूमिको आलिंगन किया, अतः आनुषंगिक दोषसे ग्लानिको प्राप्त होकर वे सब स्नान करनेके लिए गंगा नदीपर आ पहुँचे ॥९२॥

अन्वय : पिपासुः अश्वः अमले अम्भसि निजीयम् प्रतिमावतारं अवलोक्य स सम्प्रति द्रुतं प्रियायाः स्मरति स्म पिपासितायाः विसस्मार ।

अर्थ : कोई एक घोड़ा जो कि प्यासा था, गंगाके निर्मल जलमें अपने ही